ओ३म्

क सम्पदा

लेखकः-

पं० वीरसेन वेदश्रमी

ओ३म्

वैदिक सम्पदा

लेखक

पं० वीरसेन वेदश्रमी

वेदविज्ञानाचार्य

गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

आर्यसमाज स्थापना शताब्दी संस्करण
गोविन्दराम हासानन्द अर्धशताब्दी संस्करण

प्रकाशक :
गोविन्दराम हासानन्द
वैदिक साहित्य के प्रमुख प्रकाशक व विक्रेता
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६
फोन नं० २६४६४३

मूल्य : २०.००
राज संस्करण : ३०.००

मुद्रक :
राजस्थानी प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
एस० नारायण एण्ड सन्स (प्रिंटिंग प्रेस)
पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६

ओ३म्

मंगलाचरण एवं वन्दना

ओ३म् । यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।। (अथर्व. १०।७।२०)

जिस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद प्रकट हुए, उस सर्वाधार ब्रह्म को जानें और प्रवचनादि द्वारा प्रकट करें। वह ब्रह्म एवं उसकी वेदवाणी कैसी है ?

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधि तिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।। (अथर्व. १०।८।१)

जो परब्रह्म भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहार को जानने वाला है तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन करता तथा प्रलय करता है और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है। जिसका आनन्द ही केवल स्वरूप है। जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख को देने वाला है उस सब से महान् सामर्थ्ययुक्त परब्रह्म को अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रेम से हमारा नमस्कार हो।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्व स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेय ।। (यजुः ३२।६)

जिस परब्रह्म परमात्मा ने तीक्ष्ण स्वभाव वाले सूर्य आदि और भूमि का धारण किया है तथा जिस परब्रह्म परमात्मा ने सुख को धारण किया है और जिस परब्रह्म ने दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है, जो आकाश में सब लोक लोकान्तरों को विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस सुखदायक कामना करने योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिए सब सामर्थ्य से विशेष भक्ति करें।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।। (अथर्व० १९।७१।१)

मैंने वरदा वेदमाता की स्तुति की है जो कि द्विजों को पवित्र करने वाली है। वह मुझे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्त्ति, सांसारिक ऐश्वर्य एवं पारलौकिक ऐश्वर्य तथा ब्रह्मतेज को प्रदान कराती हुई परब्रह्म के परमानन्द स्वरूप मोक्ष को भी प्राप्त करावे।

उद्बोधन

यस्तित्याज सचिविदं सखायं, न तस्य वाच्यपि भागोस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति, न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ।। (ऋग्वेद १०।७१।६)

जो कोई मनुष्य अपने परमप्रिय मित्र परमात्मा की परमहितकारिणी वेद वाणी को त्याग देता है या उसे विस्मृत कर देता है अथवा उसकी उपेक्षा कर देता है—उस मनुष्य को उस परम कल्याण-कारिणी, सन्मार्ग-प्रदर्शिका वेदवाणी में भाग प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार वह अभागा पुरुष वेद वाणी के परमोपयोगी लाभ से वंचित ही हो जाता है।

ऐसी अवस्था में वह जो कुछ भी अपने ही सदृश अभागे पुरुष से सुनता, परामर्श प्राप्त करता या मार्गदर्शन प्राप्त करता है, वह सन्मार्गदर्शक न होने से निरर्थक या असत्य ही होता है। और वह व्यक्ति—"सुकृतस्य पन्थां न वेद"—उत्तम सत्कर्मयुक्त श्रेष्ठ धर्म के मार्ग को प्राप्त न करके अन्धे के समान भटकता ही रहता है।

इसलिए—ऐ संसार के लोगों ! आओ, और अपना सन्मार्ग प्राप्त करने के लिए, कल्याण पथ का पथिक बनने के लिए तथा मानव-जीवन की समस्याओं का हल प्राप्त करने के लिए सदा—

पश्य देवस्य काव्यम् (अथर्व १०।३२।३२)

अजर एवं अमर परमदेव परमात्मा के सर्वोत्तम काव्य,
वेद-वाणी का अवलोकन करो—
यह वेद-वाणी भी अजर और अमर होने से शाश्वत
पथ प्रदर्शिका है।

'ओ३म्'

समर्पण

"ओ३म् खं ब्रह्म"

पर-ब्रह्म एवं उसकी सुमधुर, ज्ञानदात्री, परम पवित्रा,
सरस्वती वेद वाणी की शतशः वन्दना करके
स्व जन्म के देने वाले मातृ-पितृ चरणों का स्मरण करके
एवं
स्व गुरु चरणों में भक्ति से शिर नमन कर
यह ग्रन्थ
वेद भक्त – धर्मनिष्ठ – परमोदार – मातृ पितृ चरणों में
अत्यन्त श्रद्धा एवं प्रेम रखने वाले
श्री सदानन्द जी
ओरिएन्टल रबर इन्स्टीच्यूट बम्बई के
पूज्यपिता श्री लाला हाकिमराय जी एवं पूज्या माता कर्मदेवी जी की
श्रद्धामय — मधुर — स्मृति में
सादर समर्पित

प्रस्तुतकर्त्ता:—
वीरसेन वेदश्रमी
प्रतिष्ठित स्नातक (गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन)
वेद सदन—महारानी पथ, इन्दौर-२

प्राक्कथन

भारतीय जनता वेदों को कभी विस्मृत नहीं कर सकेगी। सृष्टि के आदि काल से प्रलय पर्यन्त वेदों को वह अपना पथ प्रदर्शक मानती ही रहेगो। चाहे परिस्थितिवश वह किसी समय वेदों का अध्ययनाध्यापन करना छोड़ भी दे, परन्तु वेद शब्द की ध्वनिमात्र भी उनके कानों में पड़ जाने पर वह अनेक जन्मों के वेद के श्रद्धायुक्त संस्कारों से झंकृत हो जाता है।

देश एवं मानव जाति के लिए यह परम सौभाग्य का अवसर है कि आज के वैज्ञानिक एवं नास्तिक युग में जब कि ईश्वर, धर्म एवं वेद को सब ओर से तिरस्कृत किया जा रहा है और भारत-वासी भी उसी प्रवाह में बह कर अपने को सभ्य, सुशिक्षित एवं प्रगतिवादी कहलाने का गौरव अनुभव करने लगे हैं, ऐसे समय में भारतीय संस्कृति के उपासकों में यह शुभ भावना जाग्रत हुई कि आज के मानव को यह बताया जावे कि आज चाहे संसार ने कितनी भी उन्नति कर ली हो तथापि वर्त्तमान समय की सब प्रमुख समस्याओं का जैसा हल वेद के द्वारा सम्पन्न हो सकता है वैसा अन्य प्रकार से नहीं हो सकता। वेद वर्त्तमान समय की सब प्रमुख समस्याओं का हल करने में पूर्ण समर्थ है। अतः वेद का विश्व के लिए नेतृत्व स्थापित होना चाहिए।

राजस्थान का इतिहास धर्म की रक्षार्थ प्राणों के बलिदान का रहा है। ऐसे समय में राजस्थान की संस्कृत संसद् ने वेद धर्म की रक्षा एवं उसको संसार के सम्मुख गौरवास्पद प्रतिष्ठित करने के लिए वेद में वर्त्तमान समय की सब प्रमुख समस्याओं का हल विद्यमान है—इस विषय पर उत्तम ग्रन्थ लिखने के लिए पुरस्कार की घोषणा करके विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया और उन्हें एक प्रकार से प्रोत्साहित भी किया। तथा उन लोगों को जो वेद को सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ मानते हैं एक प्रकार से सपुरस्कार चुनौती भी दी—आओ अपने पक्ष की स्थापना करो। हम स्थापना के स्वागतार्थ प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इस पुण्य एवं पूर्ण सात्विक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए राजस्थान संस्कृत संसद्, जयपुर महान् धन्यवाद का पात्र है। देश में इस प्रकार के अनेक प्रयास वेद के लिए होने चाहिएं, जिससे वेदों का रहस्य मानव जाति को निरन्तर प्राप्त होता रहे और वेदों का भूमण्डल में प्रचार हो। राजस्थान संस्कृत संसद् जयपुर के इस महान् प्रयास से वेदों की ओर विद्वानों का एवं जनता का कुछ ध्यान आकृष्ट हुआ है। आशा है कि विद्वज्जन वेद के रहस्य एवं उसकी वर्त्तमान समय के लिए उपयोगिता प्रदर्शित करके मानव जाति की अतिप्राचीन महान् वैदिक सम्पत्ति को नवयुग के पथ-भ्रान्त मानव को वितरित करके सन्मार्ग प्रदर्शन कर ऐश्वर्यशाली बनावेंगे।

मैं भी वेद विषयक अपने विचारों को लेखबद्ध करने का विचार कर रहा था। इसी मध्य राजस्थान संस्कृत संसद् जयपुर की घोषणा—वेद विषयक ग्रन्थ लिखने के लिए समाचार पत्रों में पढ़ने को मिली। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई और मैंने अपना प्रयास शीघ्र प्रारम्भ कर दिया।

प्रस्तुत विषय पर ग्रन्थ लिखने के लिए वेदों का गंभीर अध्ययन, विशाल ज्ञान और अनेक

प्रकार के सहायक ग्रन्थ एवं प्रचुर समय की भी आवश्यकता थी कि जिससे इसी कार्य में पूर्णतया समय देकर लेखनकार्य में निमग्न होकर कार्य पूर्ण कर सकूं। एक नये प्रकार के साहित्य की पृष्ठभूमि बनाकर उस पर वेद से साहित्य का सर्जन करना महान् कठिन प्रयास है। मेरे पास शब्दकोश एवं अन्य ग्रन्थों का अभाव था। विशाल ज्ञान का भी अभाव था। परन्तु सहारा केवल मात्र वेदों का था, और 'पूर्वेषामपि गुरुः'– का था जिससे वेदों का प्रादुर्भाव सदा कल्प-कल्प में होता रहता है।

चारों वेद संहिताएं मूल रूप से मेरे पास थीं परन्तु भाष्यों का अभाव था। केवल मात्र यजुर्वेद के ही १-२ भाष्य थे। परन्तु मैंने आज से लगभग २८ वर्ष पूर्व यजुर्वेद को कण्ठ किया था। तत्पश्चात् अनेक बार पारायण भी किया। पद्, क्रम, जटा, धनादि पाठों का भी अभ्यास करता रहा। बस यही ज्ञान मेरा एक मात्र प्रबल सहारा बनकर ग्रन्थ के निर्माण में अग्रसर कराता रहा। उसी वेद ज्ञान के बल पर यह ग्रन्थ लिखने का मैंने प्रयास किया है।

संभव है कतिपय विषयों का शीघ्रता से इसमें उल्लेख भी न हो सका हो और कतिपय विषयों पर अत्यल्प ही लिखा गया हो एवं कतिपय विषय अस्पष्ट भी रह गये हों। समय मिलने पर उनको संशोधित एवं परिवर्तित किया जा सकता है। अभी तो यह केवल मात्र ग्रन्थ की रूप रेखा और नमूना मात्र ही है। जिसके आधार पर वेद ज्ञान के अनुसन्धान एवं विकास का विशाल क्षेत्र अनुमानित हो सकता है।

ग्रन्थ के लिखने में वेद के उद्धरणों को प्रस्तुत करते हुए कतिपय स्थानों पर पूरा मन्त्र उद्धृत किया हैं, कहीं आधा और कहीं कुछ अंश मात्र ही उद्धृत किया है। मन्त्र के साथ स्थल का भी पता लिखा है। मन्त्र के स्थलों के जो पते लिखे हैं, उसके अनुसार उस स्थल पर प्रस्तुत मन्त्र का भाग वेद के उस मन्त्र में उपलब्ध हो सकेगा।

विविध प्रकरणों में मन्त्रों को उद्घृत करके उनके अर्थ को भी उसी प्रकरणानुसार घटाया है। अतः यदि कोई मन्त्र दो भिन्न प्रकरणों में उद्घृत हुआ है तो वहां उसका अर्थ या भाव प्रकरणानुसार ही प्रस्तुत किया है। मन्त्रों में अर्थ की महान् सामर्थ्य होने से ही यह अनेकार्थता संभव है। मन्त्रों के अर्थों को वर्त्तमान समय की व्यवहार भाषा में एवं भाव गम्य करने के लिए वचन, पुरुष, लकार एवं विभक्ति पर पूर्ण दृढ़ नहीं रहा जा सकता है। यह परिवर्तन अवश्यम्भावी है और प्राचीन काल से व्यत्यय के रूप में ऋषि-मुनियों द्वारा ग्राह्य किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जितने विषयों का प्रतिपादन किया गया है उतने ही विषय वेद में हैं ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार जिस प्रकरण में जितने मन्त्र उद्धृत किये गये हैं और जितना प्रतिपादन किया गया है उतना मात्र ही वेद में है—यह भी स्थिति नहीं समझनी चाहिए। वेद में तो बहुत कुछ है। उसमें से जो कुछ भी हमारे ज्ञान में समाविष्ट हो सका, उसका भी जो कुछ अंश लेखबद्ध हो सका—वह नमूना मात्र के रूप में, विषय प्रवेश कराने के लिए प्रस्तुत किया है।

यद्यपि ऐसे महान् विषय पर ग्रन्थ लिखने में, अपने को इस विषय में बालक या प्रारंभ का ही विद्यार्थी समझकर प्रयास किया है तथापि मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ वेद के ज्ञान को उपलब्ध कराने में विद्वानों को एक महान् ग्रन्थ लिखने के लिए कुछ न कुछ मौलिक मार्गदर्शन दे सकेगा—तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

यह ग्रन्थ एक प्रारम्भिक प्रयास है। आशा है, इससे प्रोत्साहित होकर वैदिक विद्वान् वेद से

उच्च एवं व्यवहारोपयोगी ज्ञान एवं विद्याओं का भूमण्डल में प्रसार करेंगे और वर्त्तमान समय की विद्या एवं समस्याओं पर विशाल एवं विस्तृत ग्रन्थ वेद के आधार पर लिखेंगे। राजस्थान संस्कृत संसद् जयपुर ने ग्रन्थ लेखन के लिए वेद सहिता मात्र का ही आधार ग्रहण करने की अनुमति प्रदान की थी अतः तदनुसार वेद संहिता मात्र से ही जितना प्रतिपादन हो सका उतना अल्प समय में प्रयत्न किया है तथा तत्सम्बन्धित अति उपयोगी विषय जो वैदिक साहित्य में यत्र तत्र उपलब्ध है उसका इसमें समावेश नहीं किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में वेद का महत्त्व एवं उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वेद से यद्यपि मानवजीवन की सब प्रमुख समस्याओं का हल प्राप्त होता है तथापि तत्पश्चात् उन सब समस्याओं में से हमने सर्वप्रथम आध्यात्मिक समस्या का उल्लेख किया है। क्योंकि यह समस्या आत्मा के लिए सर्व प्रमुख है तथा अनेक जीवन के लिए है। अध्यात्म विषय को जानकर मनुष्य आत्मा, परमात्मा का बोध करने का प्रमुख ध्येय ग्रहण कर सकता है। यदि इस अध्यात्म विषय को प्रमुखता न दी जावे और इसे गौण कर दिया जावे तो मनुष्य इस ओर प्रवृत्त ही नहीं होगा। संसार के विषय इतने बलवान् हैं कि वे मनुष्य को अपने आकर्षण से विमुख नहीं होने देते। इसीलिए ऋषि महर्षियों ने जीवन के प्रारम्भिक काल का नाम ब्रह्मचर्य आश्रम रखा। इसमें निवास करने वाले ब्रह्मचारियों को उनके गुरुजन ब्रह्म अर्थात् वेद एवं परमात्मा, इनका ज्ञान अध्यात्म विद्या की स्थापना एवं उन्नति के लिए कराया करते थे। वास्तविक समस्या तो ब्रह्म ज्ञान की एवं ब्रह्म प्राप्ति की ही है। उसी के लिए जीवन है। अतः इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकरण मानव जीवन की सर्वतः प्रमुख, प्रथम एवं दीर्घकालिक समस्या—अध्यात्म पर ही लिखा गया है।

आध्यात्मिक समस्या का विवेचन करने के पश्चात् सांसारिक समस्याओं में से सर्वप्रधान समस्या समाज शास्त्र के सम्बन्ध में हैं। इसलिए दूसरा प्रकरण समाज शास्त्र का लिखा गया है। वेद से वर्तमान समय की सामाजिक समस्या का हल जिन उत्तम आदर्शों से हो सकता है उसका विवेचन इसमें किया है।

समाज शास्त्र के बारे में वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के अनन्तर समाज का निर्माण पारिवारिक जीवन से होता है अतः वैदिक पारिवारिक आदर्श का प्रकरण लिखा गया है। परिवार का भी निर्माण गृहस्थ बन्धन से होता है। अतः तत्पश्चात् वैदिक गृहस्थवाद के आदर्श का प्रकरण लिखा गया है। इन्हीं से क्रमशः व्यक्ति से गृहस्थ, गृहस्थ से परिवार, परिवार से समाज का निर्माण होता है अतः समाज शास्त्र में इन प्रकरणों को प्रमुख स्थान दिया है।

समाज की विविध प्रकार की समस्यायें होती हैं अतः तत्पश्चात् समाजिक समस्याओं का इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है। इनमें से सर्वप्रथम समस्या गृह निर्माण की ही गृहस्थ, परिवार या समाज को निवास के लिए होती है। अतः गृह निर्माण के बारे में वैदिक विचारों का उल्लेख किया गया है।

गृह निर्माण के पश्चात् गृहस्थ के लिए अपनी अन्य समस्याओं के लिए पशु-पक्षि पालन की होती है अतः पुनः यह प्रकरण लिखा है। इसके पश्चात् कृषि एवं उद्योग धन्धों के द्वारा जीविका निर्वाह का प्रश्न होता है और उद्योग धन्धों के लिए वनों की आवश्यकता तथा यातायात की व्यवस्था की आवश्यकता होती है अतः क्रमशः कृषि, उद्योग-धन्धे, वन एवं यातायात इन प्रकरणों को लिखा गया है।

इसके पश्चात् की आवश्यकता सिंचाई की व्यवस्था-जो कृषि के लिए आवश्यक है उसका

प्रकरण रखा हैं। वनों से ओषधि प्राप्त होती है और ओषधि से चिकित्सा, रोग-ज्ञान, शल्य-चिकित्सा, शरीर शास्त्र का ज्ञान आदि का सम्बन्ध है अतः वन, यातायात एवं सिंचाई के पश्चात् ओषधि चिकित्सा के विविध प्रकरणों को क्रमशः लिखा गया है।

इसके पश्चात् अर्थशास्त्र का प्रकरण है। पशु, उद्योग धन्धे, यातायात कृषि, वन ओषधि आदि सामाजिक उपयोगिता के लिए अर्थशास्त्र की आवश्यकता होती है। अर्थशास्त्र के लिए गणित शास्त्र की आवश्यकता है अतः सामाजिक समस्याओं के पश्चात् अर्थशास्त्र का प्रकरण रखा है और उसी का सहयोगी प्रकरण गणित का भी उसके पश्चात् लिखा है। वेद से इस बारे में बीज रूप से ज्ञान होता है उसका उल्लेख किया है। उसी को समयानुसार विकसित करना चाहिए।

समाज और अर्थ, राजनीति का निर्माण करते हैं अतः इस अर्थशास्त्र व गणित के पश्चात् राजनीति का प्रकरण रखा गया है। इसके अन्तर्गत (१) प्रशासनिक, (२) सुरक्षा, (३) सैन्य एवं युद्ध इन तीन के बारे में विचार किया गया है।

इन सब प्रकरणों के पश्चात् शिक्षा का प्रकरण प्रारम्भ किया है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, के प्रकरण में भाषा विज्ञान के उद्गम का थोड़ा सा विवेचन प्रसंगवश करके पदार्थ विज्ञान में से अग्नि एवं जल विज्ञान का विवेचन किया गया है। अग्नि प्रकरण में ही विमान का भी कुछ विवेचन किया है तथा जल विज्ञान में वृष्टि विज्ञान तत्पश्चात् अन्तरिक्ष शुद्धि विज्ञान का भी विवेचन किया है। अन्य बहुत से प्रकरण इनसे सम्बन्धित तथा अन्य तत्त्वों से सम्बन्धित समयाभाव से लेखबद्ध नहीं हो सके तथा सृष्टिविद्या, भूगर्भविद्या, दर्शनशास्त्र आदि अनेक प्रमुख विषयों का भी समयाभाव से लेख कार्य नहीं हो सका।

सबके अन्त में उपसंहार का लेखन किया है। ग्रन्थ का उपक्रम एवं प्रथम प्रकरण अध्यात्म से सम्बन्धित है, जो धर्म का प्रमुख आधारस्तम्भ है। अतः उपसंहार में भी धर्म का विवेचन किया गया है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में मानव जीवन की निम्न प्रमुख समस्याओं का विवेचन किया है।

(१) अध्यात्म (२) समाज शास्त्र (३) अर्थशास्त्र (४) राजनीति, (५) शिक्षा एवं (६) धर्म। वेद में इन उपरोक्त प्रमुख समस्याओं के बारे में बहुत सामग्री भरी हुई है। उसमें से कुछ इस ग्रन्थ में प्रतीक रूप में यथामति उपस्थित की है।

आपका,

वीरसेन वेदश्रमी

संक्रान्ति पर्व

पौष शुक्ला चतुर्थी सं० २०२३ वि०

दिनांक १४ जनवरी १९६७

वेद-सदन

महारानी पथ, इन्दौर-१

ओ३म्

साभिनन्दन कृतज्ञता-ज्ञापन

इस वैदिक सम्पदा ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन में प्रारम्भ से अन्त तक वेद दर्शनाचार्य, अनन्त श्रीविभूषित, महामण्डलेश्वर, अद्वितीय वेद ज्ञाता, प्रवक्ता, एवं प्रचारक सद्गुरुदेव पूज्यपाद श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द जी महाराज का अपूर्व आशीर्वाद और सहयोग रहा है, जिससे आज यह ग्रन्थ आपके सम्मुख उपस्थित है।

वैदिक सम्पदा के लिखने के पूर्व मैंने वेद के वैज्ञानिक प्रकरण का कुछ अंश लगभग ३० पृष्ठों का लिखकर कापी कराकर वेद के विद्वानों एवं वैज्ञानिकों को भेजा था जिससे परामर्श प्राप्त कर उसी शैली से ग्रन्थ को लिख सकूं। श्री पूज्य स्वामी गंगेश्वरानन्द जी महाराज की उस पर जो सम्मति प्राप्त हुई उससे मुझे इस ग्रन्थ के लिखने में बहुत साहस एवं बल प्राप्त हुआ। सम्मति में एक वाक्य यह था कि ग्रन्थ पूर्ण होने पर सम्मति देना अधिक अच्छा होता। इन वाक्यों में अदृष्ट रूप से ग्रन्थ के पूर्ण होने की इच्छा उनकी थी—और ग्रन्थ लेखन पूर्ण भी हुआ।

डा० प्रो० श्री रामप्रकाश जी M. Sc. (Hon) Ph. D. पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ की जो सम्मति प्राप्त हुई वैज्ञानिक होने के कारण जो उसने वेद के वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसन्धान को मुझे और भी बल प्रदान किया। मैनपुरी के श्री श्याम सुन्दर जी एडवोकेट ने जो वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के हस्तामलकवत् अभ्यासी थे उनकी भी शुभ सम्मति तथा देश के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों की सम्मति अथवा निर्देश पाकर ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ किया। योगनिष्ठ श्री धर्मशील जी (Rtd. S. D. O.) दिल्ली एवं श्री श्यामसुन्दरजी एडवोकेट ने यह भी परामर्श दिया कि प्रथम प्रकरण अध्यात्म का ही होना चाहिए अतः ग्रन्थ का आरम्भ आध्यात्म प्रकरण से ही किया। ग्रन्थलेखन पूर्ण होने से पूर्व ही श्री श्यामसुन्दर जी एडवोकेट इस लोक को छोड़ गये परन्तु उनकी स्मृति अध्यात्मप्रकरण के साथ रहेगी ही।

वैदिक सम्पदा का लेखन पूर्ण होने के पश्चात् इसकी एक प्रति मैंने श्री पूज्य सद्गुरुदेव श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द जी को अवलोकनार्थ भेजी क्योंकि उन्होंने ग्रन्थ पूर्ण होने पर सम्मति का भाव प्रकट किया था। २-२।। वर्ष तक वह प्रति उनके पास रही और मुझे वापस प्राप्त हो गई। परन्तु सम्मति का कोई भी शब्द प्राप्त नहीं हुआ। मैंने समझा कि ग्रन्थ ठीक नहीं लिखा गया है। परन्तु इसके बाद जब मेरी प्रथम भेंट श्री स्वामी जी महाराज से बम्बई में हुई तो उन्होंने वैदिक सम्पदा की बहुत प्रशंसा लोगों से की और फिर अनेक बार व्याख्यानों में भी उसके लिए प्रशंसात्मक शब्द कहे। इसके बाद श्री स्वामी जी महाराज ने बताया कि इस ग्रन्थ की हमने कापी कराकर आपको वापिस भेजी है। ग्रन्थ यदि न छपे तो मूल प्रति तो १-२ स्थानों पर सुरक्षित रहे। श्री स्वामी जी महाराज के मुख से उपरोक्त शब्दों को सुनकर मुझे अपना प्रयास सफल हुआ ज्ञात हुआ।

इसके पश्चात् जब-जब श्री स्वामी जी से भेंट होती वे यही पूछते कि वैदिक सम्पदा के छपाने की व्यवस्था हुई या नहीं ? अर्थात् वे चाहते थे कि यह ग्रन्थ अवश्य छपे—इससे वेदों का गौरव बढ़ेगा। मेरा छपाने का कोई प्रयत्न नहीं था न मैं इसके छपाने में रुचि ही लेता था।

सन् १९७२ ई० के दीपावली पर्व पर दिल्ली में ऋषिमेले में गोविन्दराम हासानन्द के मालिक श्री विजय कुमार जी मिले और उन्होंने स्वयं ही वैदिक सम्पदा के प्रकाशन का प्रस्ताव रखा और मई १९७३ तक उसे जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर देने को कहा तथा श्री स्वामी जी महाराज की अन्तः प्रेरणा से और आशीर्वाद से यह प्रकाशन स्थिति में आ गया।

आर्यसमाज माण्डुप (बम्बई) में अगस्त १९७२ में भगवान्वेद की स्थापना श्री स्वामी जी महाराज के कर कमलों से ही हुई। उस समय श्री सदानन्द जी ने श्री स्वामी जी से निवेदन की कि महाराज आपके वेद भाष्य कार्य में कुछ आर्थिक सेवा करना चाहता हूं। श्री स्वामी जी महाराज ने कहा हमें तो आवश्यकता नहीं है—वैदिक सम्पदा के प्रकाशन के लिए देना चाहें तो प्रकाशक को दे दें। तदनुसार श्री सदानन्द जी ने प्रकाशन के लिए १ सहस्र रुपया श्री गोविन्दराम हासानन्द फर्म को भेज दिया। यह भी श्री स्वामी जी की सहायता और कृपा ही थी।

इसी समय श्री स्वामी जी ने मुझ से पूना जाते समय कहा कि यदि आवश्यकता पड़ेगी तो प्रकाशनार्थ एक सहस्र हम भी दे देंगे। यह भी बड़ी कृपा ही थी जो वैदिक सम्पदा को महत्त्व देने वाली थी। परन्तु प्रकाशक स्वयं इतने समर्थ थे कि वे किसी की सहायता की इच्छा भी नहीं रखते थे। परन्तु मेरे आग्रह पर उन्होंने श्री सदानन्दजी, श्री मोहनलाल जी श्री नारायणदास जी एवं श्री रा० सा० चौधरी प्रतापसिंह जी की सात्विक सहायताओं को विवश होकर स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार ग्रन्थ के लिखने से प्रकाशन तक और प्रकाशित होने पर प्रतियों को लेने व प्रचारित करने में श्री सद्गुरुदेव का वरदहस्त मेरे पर रहा है अतः यह ग्रन्थ उनकी ही कृपा एवं प्रसाद का परिणाम है ऐसा अनुभव करते हुए सद्गुरुदेव पूज्य श्री स्वामी गंगेश्वरानन्द जी महाराज का अभिनन्दन अभिवादनपूर्वक करता हूं। आशा है भविष्य में भी उनका आशीर्वाद और वरदहस्त मुझ पर बना रहेगा।

यद्यपि यह ग्रन्थ आज से ७ वर्ष पूर्व लिखा गया था। तत्पश्चात् इसका अवलोकन और परिमार्जन होना आवश्यक था। जब यह लिखा गया था तब मेरा विशेष आधार यजुर्वेद ही था क्योंकि उसका मैंने सैकड़ों बार पाठ किया था। परन्तु अब श्री स्वामी जी महाराज की कृपा से चारों वेदों का ३० से भी अधिक बार पारायण हो जाने से वेद के ज्ञान समुद्र में से और भी ज्ञानरत्न प्राप्त हुए हैं और भी प्राप्त होते रहेंगे जिनका समावेश आगामी संस्करण में ही हो सकेगा।

इस ग्रन्थ के लेखन कार्य में श्री सदानन्द जी, ओरियण्टल रबर इण्डस्ट्रीज प्रा० लि० भाण्डुप-बम्बई ने ४५००) रु० परम सात्विक रूप से श्रद्धापूर्वक प्रदान किया जिससे मुझे इस ग्रन्थ के लिखने में अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ अतः श्री सदानन्द जी के इस स्तुत्य दान के लिए अनेक धन्यवाद है। प्रकाशन के लिए भी अयाचित राशि एक सहस्र रुपये की पृथक् प्रदान की है अतः वे पुनः-पुनः धन्यवाद के पात्र हैं। यदि ऐसा ही सहयोग वेद के कार्य के लिए प्राप्त होता रहे तो वेद से बहुत रत्न जनता के सामने उपस्थित हो सकते हैं।

वैदिक सम्पदा के प्रकाशन की बात जब श्री सदानन्द जी को ज्ञात हुई तो उन्होंने कहा कि पहले इस ग्रन्थ को आर्यजगत् के मूर्धन्य वैदिक विद्वान्, परम तपस्वी श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक को दिखा दिया जावे और यदि वे प्रकाशन की सम्मति दें तो प्रकाशित कराया जावे। तदनुसार श्री मीमांसक

जी को इसकी प्रेसप्रति भेजी गई और उन्होंने भी इसके प्रकाशन किये जाने की सम्मति दी। अतः श्री मीमांसक जी का हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

श्री सदानन्द जी के महान् सहयोग के अतिरिक्त अन्य भी अनेक महानुभावों ने यथाशक्ति इस ग्रन्थ के लेखन कार्य में अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उन सबका भी धन्यवाद करते हुए मुझे प्रसन्नता है।

प्रकाशन कार्य में भी अयाचित आर्थिक सहायता श्री सदानन्द जी के अतिरिक्त श्री नारायण दास जी एवं मोहनलाल जी एशियन फूड इण्डस्ट्रीज प्रा० लि० अहमदाबाद ने एक सहस्र रुपये की प्रदान की है तथा श्री रा० सा० चौधरी प्रताप सिंह जी ने प्रकाशन एवं क्रयार्थ ७५० रु० की प्रदान की है, अतः इन सब का भी धन्यवाद है।

इस प्रथम संस्करण की भाषा में यथोचित सुधार, प्रूफ देखने का समस्त कार्य तथा ग्रन्थ के अन्त में मन्त्र सूची बनाने आदि का कार्य आचार्य श्री ब्र० जगदीश जी M. A. विद्यावचस्पति ने अत्यन्त परिश्रम एवं संलग्नता पूर्वक किया है तथा इस ग्रन्थ लेखन में अनेक प्रकार का प्रारम्भ से ही सहयोग दिया है अतः उनका अनेक रूप में धन्यवाद करता हूं।

अन्त में गोविन्दराम हासानन्द के मालिक श्री विजय कुमार जी का भी धन्यवाद करता हूं जिन्होंने अत्यन्त सात्विक भावना से, स्वेच्छा से, प्रभु की प्रेरणा एवं आचार्य श्री ब्र० जगदीश जी के परामर्श से इस ग्रन्थ को छपा कर जनता के सम्मुख सुन्दर रूप में उपस्थित किया है।

एस० नारायण एण्ड संस (प्रिंटिंग प्रेस) के मालिक श्री नारायण सिंह जी शास्त्री, उनके सुपुत्र श्री वीरपाल जी एवं प्रेस के सभी कर्मचारियों ने ग्रन्थ के उत्तम और शीघ्र मुद्रण में जिस मनोयोग एवं तत्परता से कार्य किया है तदर्थ उन्हें भी बधाई देता हूँ।

इस ग्रन्थ के लिखने में मुझ से भूलें हो सकती हैं—परन्तु वेद निर्भ्रान्त हैं। वेद मन्त्रों से अर्थ दोहन करने और अभिप्राय को प्रकट करने में तथा अन्य भी ज्ञात-अज्ञात जो दोष हुए हैं सुविज्ञ पाठक उसके लिए क्षमा करते हुए उनसे अवगत कराने का भी कष्ट करेंगे ऐसी आशा है।

आपका

वीरसेन वेदश्रमी

भटिंडा से
२०-४-७३

विषय-सूची

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

प्रेरणामय वैदिक सन्देश

अश्मन्वती रीयते स࣪रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखाय: ।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसंछिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान् ॥ (यजुः ३५।१०)

मित्रो ! जीवन प्राणमय संसाररूपी नदी बह रही है । उसमें बड़े अज्ञानरूपी पत्थर पड़े हैं । उठो, चलो और अच्छी प्रकार से उसको तरने के लिए अर्थात् सत्त्व चैतन्य की प्राप्ति के लिए अशुभ संकल्पों एवं आचरणों को छोड़कर शिवसंकल्पों का एवं शुभ आचरणों का आश्रय लो ।

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रप: ।
अपामार्ग त्वमस्मदप दु:स्वप्न्यँ सुव ॥ (यजुः ३५।११)

हे प्रभु ! मैं इस जीवन प्राण रूपी नदी से उपरामता—मोक्ष—प्राप्त करने के लिए तरना चाहता हूं । हमारे अशिवात्मक पापाचार एवं पाप विचार को दूर कीजिये जो हमारे पापमय जीवन का मूल है । जिससे मन की मलिनता दूर हो । हमारी जागरित की दुष्ट क्रियाओं को दूर कीजिये जिससे हमारी इन्द्रियों की चंचलतारूपी वृत्तियां दूर हों और स्वप्न में होने वाली चित्त की चंचलता को भी दूर कीजिये ।

उद्वयं तमसस्परि स्व: पश्यन्तऽउत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ (यजुः २०।२१)

इस जीवन में हम प्रकृति-प्राण के जड़ता रूपी अनेक प्रकार के अंधकारों से व्याप्त हैं, अत: प्रकाश प्राप्त नहीं कर पाते हैं । परन्तु प्रकृति के इन सब अन्धकारों से परे चैतन्य स्वरूप एक महान् ज्योति आप हैं । उस आपकी महान् ज्योति को ब्रह्माण्ड की सब चैतन्य शक्तियां प्राप्त कर रही हैं । हम भी उस महान् प्रकाशकों के भी प्रकाशक, श्रेष्ठ, ज्योतिर्मय सूर्य रूपी चैतन्य ज्योति को प्राप्त कर अपने सर्व प्रकार के प्रकृति के जड़त्व रूपी अन्धकारों को पार करके सुखी हों ।

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्य: ।
अस्माकमस्तु केवल: ॥ (ऋग्वेद १।७।१०)

सब मनुष्यों के लिए वही श्रेष्ठतम परमेश्वर उपासनीय है । उसी की उपासना करें ।

जीवन-लक्ष्य जानने की आवश्यकता

वेद इस प्रकार के प्रेरणाप्रद मन्त्रों का महान् सागर है । इनसे जीवन में महान् प्रकाश एवं सहारा प्राप्त होता है । जीवन के पथ में जब हम किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने को निराश्रित पाते हैं उस

क्षण वेद के इन मन्त्रों से निराशा की घनघोर घटा में विद्युत् का स्फुरण होकर आशा का संचार हो जाता है और जीवन पथ का दर्शन होकर हम जड़त्व से चैतन्य की ओर अग्रसर हो जाते हैं।

यदि मानव इस जीवन को प्राप्त करने पर भी जीवन का लक्ष्य चेतनत्व की प्राप्ति न जान सका तो उस लक्ष्य की ओर हमारा प्रयत्न भी नहीं हो सकता है। मानव जीवन की यह स्थिति पूर्णरूप से असफलता की ही है। लक्ष्यहीन जीवन व्यर्थ है। यदि हमारे समाज, राष्ट्र या जाति के जीवन का कोई लक्ष्य न हो तो उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं।

इस स्थिति को अनुभव करके विवेकशील जन समाज का, राष्ट्र का या मानव जाति का देश, काल, स्थिति के अनुसार लक्ष्य नियत करते हैं। जो लक्ष्य देश, काल, स्थिति के अनुसार नियत किये जाते हैं, वे अस्थिर लक्ष्य ही रहेंगे। उनको स्थिर लक्ष्यरूप में नहीं ग्राह्य किया जा सकता। अतः ज्ञात होता है कि जीवन का वास्तव में कोई स्थिर लक्ष्य है उसको जानना चाहिए और उसकी ओर प्रयत्न भी करना चाहिए। उस महान् लक्ष्य की पूर्ति में देश, काल, परिस्थिति के अनुसार क्रम रूप से हमें अपने कर्त्तव्यों को निर्धारित एवं विभाजित करना पड़ता है और उनके अनुसार कार्य करना आवश्यक हो जाता है।

यदि हम अपने कार्यों पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि हमें अपने जीवन की संस्कार-जनित वासनाओं की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्न करने पड़ते हैं। क्या जीवन की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति ही जीवन का लक्ष्य है? यदि यही लक्ष्य है तो जीवन निरुद्देश्य है।

मानव देह साधना-स्थली है

यह जीवन एक सत्य प्राप्ति की साधना के लिए है। इसके द्वारा समुचित साधना से लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए। परन्तु इस उत्तम देह को प्राप्त कर मनुष्य इस देह में ही रम जाता है और 'पश्येम शरदः शतं' के अनुसार अपने सब प्रयत्नों को स्थूल देह तथा भौतिक साधनों तक ही जब सीमित कर देता है तो वह लक्ष्य को भूल जाता है।

इस पांच भौतिक स्थूल देह की दर्शन एवं जीवनीय शक्ति के आश्रय रूप जो सूक्ष्म एवं कारण शरीर हैं अथवा अन्नमय कोश के अतिरिक्त जो हमारे प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोश हैं उनकी जो चैतन्य-दिव्य दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति तथा जीवनशक्तियां हैं उनको जागरित करने के लिए यह पांच भौतिक शरीर प्राप्त हुआ है।

जिस चैतन्य-दिव्य शक्ति के दर्शन कर लेने के बाद अन्य कुछ भी दर्शन करने की आवश्यकता नहीं रहती, जिसके दिव्य शब्द के श्रवण कर लेने के बाद अन्य कुछ श्रवण करने की आवश्यकता नहीं रहती, जिस दिव्य-चैतन्य शक्ति के जान लेने के बाद अन्य कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती, वही हमारा लक्ष्य है वह इस मानव-जीवन से ही प्राप्त होता है। इस शरीर में उसी के दर्शन कर लेने पर सब कुछ दीख जाता है, उसके शब्द को सुन लेने पर सब कुछ सुना जाता है और उसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। समस्त इन्द्रियों की शक्तियां वहां पूर्ण तृप्त हो जाती हैं। समस्त भोगों की इच्छा वहां जाकर उसी में निवास कर अन्य बाह्य भोगों की इच्छा से परावृत हो जाती है। उस समय जीव को अनुभव होता है कि अब मुझे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहा। जो प्राप्त करना था---प्राप्त हो गया।

जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, तब तक मानव को मृगतृष्णा की भांति अनन्त काल तक जीवन की दौड़-भाग में संलग्न रहना है और भटकना ही होगा। मनुष्य अपने जीवन में चाहे कितनी ही

भौतिक उन्नति क्यों न कर ले फिर भी उसको बहुत-कुछ प्राप्त करना शेष ही रह जाता और तृप्ति का अनुभव नहीं हो पाता।

ब्रह्माण्ड में ज्ञान की विद्यमानता

अलब्ध की लब्धि के लिए मानव को अपने ज्ञान एवं प्रयत्नों का विकास करना पड़ता है। यद्यपि मानव में ज्ञान एवं प्रयत्नों का उद्गम एवं विकास उसकी चिन्तन-शक्ति से शुद्ध बुद्धि के साहचर्य से होता है तथापि जो कुछ भी ज्ञान वह प्राप्त करता है उसका पूर्व अस्तित्व इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ अग्नि, जल, विद्युत्, अणु आदि के बारे में जो भी और जितना भी ज्ञान हम उपलब्ध करते हैं उस ज्ञान को प्रकट करने की योग्यता का अस्तित्व उन पदार्थों में विद्यमान रहता है तभी उसका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके हम उसका उपयोग भी ले पाते हैं। अतः जो हमारे लिए अज्ञात तत्त्व है उसका ज्ञान भी पूर्व से विद्यमान है।

अग्नि, जल, विद्युत् सूर्य आदि को हम देखते हैं। परन्तु सब मनुष्यों में ज्ञान की उपलब्धि समान नहीं होती। बाह्य रूप से तत्तत् ज्ञान के विद्यमान होते हुए भी हम उसे ग्रहण नहीं कर पाते और क्रमशः कुछ ज्ञान आंशिक रूप से प्राप्त कर पाते हैं अतः यह विश्व हमारे ज्ञान विज्ञान एवं प्रयत्नों का सदा पथप्रदर्शक रहेगा। हम चाहे कितना ही ज्ञान क्यों न प्राप्त कर लें हमें इसकी ओर आशा से देखना होगा और इसी के द्वारा महान् आन्तरिक ज्ञान का दोहन करना होगा।

वेद का प्रत्यक्ष रूप से दर्शन यही विश्व है। इसके आन्तरिक ज्ञान का भी प्रत्यक्ष रूप से दर्शन इसी मानव के शरीररूपी विश्व में हो सकता है। "सैषा त्रयी विद्या तपति" का रहस्य यही है कि इस प्रत्यक्ष वेद का दर्शन करो। इसके ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन-मनन, चिन्तनादिपूर्वक करो। ज्ञान का यह अथाह सागर है इससे अपनी शक्ति एवं परिधि के अनुसार अपनी ज्ञान की झोली भर लो, फिर भी उस कोष में तो असंख्य मणिमुक्ता विद्यमान ही रहेंगे। अनन्त काल से वेदरूपी आन्तरिक ज्ञान कोष से असंख्य मणिमुक्ता ऋषिगण प्राप्त करते चले आ रहे हैं।

वेद

इस विश्व का ज्ञान कराने वाला शब्दरूपी ब्रह्म, वेद ही है। वेद में जो विज्ञान वर्णित है, वही विश्व में विविध तत्त्व एवं शक्तियों के रूप में कार्य कर रहा है। उन तत्त्वों को वेद में देवतावाची ग्राह्य कर मन्त्र रूप में जो ज्ञान का बीज दिया है उसके साहचर्य से, उस मन्त्र के प्रकाश मे हम आज भी इस युग में अपना पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। हमारा ज्ञान-विज्ञान चाहे वेद के शब्दों के माध्यम से मन्त्र-साधना द्वारा बढ़े या वेद के मन्त्र विश्व की जिन दिव्य शक्तियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं उनके आश्रय से बढ़े, फिर भी उस ज्ञान का अन्त नहीं होगा। शब्द तत्त्व का वाचक होता है और तत्त्वाश्रित ज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। अतः वेद के मन्त्रों का पूर्ण रूप से अभिन्न सम्बन्ध विश्व से है ही। वेद में समस्त सृष्टि की निर्माण-कला का विज्ञान निहित है। वेद का प्रत्येक शब्द सार्थक है। जिस शब्द का किसी से सम्बन्ध नहीं वह निरर्थक है।

वेद का अर्थ ज्ञान है। विद् ज्ञाने धातु से यह शब्द बनता है। अतः वेद ज्ञानराशि है। जब यह ज्ञानराशि हमारे मनन, चिंतन आदि का विषय बन जाती है तो "विद्" विचारणे धातु का वेद शब्द अपना कार्य करने लगता है और जब उस विचार, चिन्तनादि से ज्ञान का लाभ एवं प्राप्ति होती है तो "विद्लृ" लाभे धातु का रूप क्रियाशील हो जाता है। इससे भी अधिक उच्चतम लाभ विद् धातु के

'चेतना' अर्थ के अनुसार दिव्य चैतन्य की प्राप्ति पर जो प्रकृति के राज्य से परे की वस्तु है—होता है।

यह ज्ञान हमारे लिए भले ही नवीन प्रतीत होता हो, परन्तु वह सृष्टि के विविध तत्त्वों में, प्रकृति में, आत्मा में, परमात्मा में व्यक्त एवं अव्यक्त रूपों में, क्षर एवं अक्षर स्थितियों में प्रलय एवं उत्पत्ति में, जागरित एवं सुषुप्ति में, ज्ञाता एवं ज्ञेय रूपों में सदा वर्तमान रहता है। वह ज्ञान सत्तारूप सर्वदा रहता है, वह अविनाशी है, अक्षर है। अतः वह "विद्" सत्तायाम् के अर्थ को भी चरितार्थ करता है। यदि उस वेद ज्ञान की सत्ता सदा न होती तो वह "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" यह डिण्डिम घोष नहीं कर सकता था। वह इस प्रवाह से अनादि क्रम को कह रहा है और वे ज्ञानाधिकरण पदार्थ सूक्ष्मतर, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप से मूल से तूल तक, साल और काल की परिधियों में विविध ज्ञान के साधन बनते रहते हैं। अतः ज्ञान की सत्ता—वेद की सत्ता—ध्रुव है, शाश्वत है।

ज्ञान का सीमित क्षेत्र ब्रह्माण्ड

इस विशाल वेदज्ञान के क्षेत्र की परिधि नहीं है। परिधि रहित समस्त ज्ञान वेदरूप में सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। विज्ञान के इस विशाल क्षेत्र के एक क्षेत्रीय भाग को ब्रह्माण्ड नाम से या विश्व नाम से कहते हैं।

विश्व की या ब्रह्माण्डों की मूल प्रकृति वेद में अदिति, पराशक्ति, आद्याशक्ति के नाम से विख्यात है। विश्व का यह परिधिमय क्षेत्र उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूप से त्रिधाबद्ध है। इस ब्रह्माण्ड के परे का भी एक क्षेत्र है जो परोक्ष है—प्रत्यक्ष नहीं है। इस प्रकार वेद-ज्ञान के दो क्षेत्र अपने वैशिष्ट्य से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हो जाते हैं।

इस परिधिस्थ ब्रह्माण्ड के क्षेत्र में 'स पिता स पुत्रः' (यजु० २५।२३) पिता और पुत्र दोनों स्थितियां अर्थात् कारण एवं कार्य भाव का सतत चक्र मूल का तूलरूपी विकास में परिवर्त्तन होना काल एवं परिणाम से सृष्टि में दृष्टिगोचर होता है। इस हेतु से इस क्षेत्र का ज्ञान क्रमपूर्वक होता है।

सृष्टि का यही क्रमत्व या परिणामीभाव, विभिन्न स्थिति से और काल के कारण, परिच्छिन्न ज्ञान की श्रृंखला का निर्माण करता है। परिच्छिन्नावस्था परिधिमय होती है। इस परिधिमय विशाल स्थिति को वेद में 'पादोऽस्येहाभवत्पुनः' (यजुः ३१।४) बार-बार उत्पत्तिवान् कहा है।

परन्तु इस ब्रह्माण्ड रूपी परिधि की सीमा वेद ने परमात्मा की अपेक्षा से एक चतुर्थांश कही है। यहां मन्त्र में ब्रह्माण्ड सीमित बताने मात्र का ही उद्देश्य है, परमात्मा को सीमित बताने का नहीं है। क्योंकि मन्त्र की रचना जिस छन्द में है वह ब्रह्माण्ड की बहुत आन्तरिक क्षेत्र की सीमा का ही दर्शन करा रहा है। वह ब्रह्माण्ड को कल्पना एवं ज्ञान की सीमा में आबद्ध हो सकने की स्थिति मात्र प्रकट करता है अर्थात् जो भी ज्ञान, जितना भी ज्ञान हम प्राप्त कर पाते हैं, उसका तीन गुना भाग अज्ञात ही रह जाता है। अतः हम इस परिधिमय क्षेत्र में रहते हुए निरतिशय ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकते अपितु सातिशय ज्ञान ही उपलब्ध कर सकते हैं।

ज्ञान का असीमित क्षेत्र परमात्मा

इस परिधिमय ब्रह्माण्ड के परे जो विशाल ज्ञान है वह निरतिशय ही है। अतः उस ज्ञान का अधिष्ठाता भी निरतिशय है, सर्वज्ञ है। इस क्षेत्र का ज्ञानाधिष्ठाता शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्य है, सर्वगत है और आनन्दमय है। वही 'हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे' (यजुः १३।४) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण प्राणियों का तथा जगत् का एकमात्र स्वामी है।

तीन अनादि सत्ताएँ

इस प्रकार तीन सत्ताएँ प्रतीत होने लगती हैं :—

(१) चेतन, निरतिशय ज्ञानवान्, सर्वाधिष्ठाता, स्वामिसत्ता।

(२) चेतन परिधिमय, अल्पज्ञानवान्, आधीन सत्ता।

(३) चेतनातिरिक्त, स्वयंज्ञानानुभवरहित, त्रिगुणात्मक सत्ता जिससे ब्रह्माण्ड के तत्त्वों एवं पदार्थों में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रचना एवं उनके विनाश का क्रम चलता रहता है।

इनमें स्वामिसत्ता सर्वशक्तिमान् है, सर्वाधार है। वही आदि मूल रचना करने वाली शक्ति है। वह निरीह एवं निष्काम है। अजर, अमर, अभय है। वह किसी का सेवक नहीं है। वह किसी का पुत्र भी नहीं है। वह किसी से निर्मित होने वाला भी नहीं है। वह निराकार एवं निर्विकार है।

दूसरा चेतन तत्त्व जो परिधिमय है वह अल्पज्ञ है। उसे ज्ञान का आधार चाहिए। वह जन्म-मरण रूपी कालचक्र से आबद्ध है, अतः उसका ज्ञान भी परिणामी है। उन परिधियों से या बन्धनों से मुक्त होने से ही उसका कल्याण है। यह सकाम है। सुख-दुःख युक्त है। राग-द्वेष युक्त है। संसार में इसे रहना पड़ता है। वह इसमें रहकर अपने ज्ञान, वृत्ति एवं पूर्व कर्म फलानुसार जाति, आयु और भोग को प्राप्त होता है। वेद ने इसका वर्णन एक मन्त्र में बड़े रोचक ढंग से किया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (ऋ० १।१६४।२०)

दो पक्षी हैं। साथ-साथ रहते हैं। परस्पर मित्रता भी है। एक ही वृक्ष पर दोनों का निवास है। उनमें से एक उस वृक्ष के फलों का भोग करता है और दूसरा फलों को न खाता हुआ अपने मित्र को अच्छी प्रकार देखता रहता है।

इस मन्त्र में जिन दो पक्षियों को बताया गया है, वे जीवात्मा और ईश्वर रूपी ही दो पक्षी हैं। जीवात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष के फलों का भोग करता है, परन्तु ईश्वर भोक्ता नहीं है। वह सर्वद्रष्टा रूप में हम सबको देख रहा है। क्योंकि वह—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (यजुः १७।१९)

परमात्मा सर्वतः चक्षुओं से पूर्ण है, उसकी दर्शनशक्ति सर्वत्र विद्यमान है। उसकी मुखवत् पदार्थों को ग्रहण कर, रूपान्तर करने एवं जीवनदान करने की शक्ति सर्वत्र विद्यमान है। उसकी सबको ग्रहण करने और दान करने की विविध कलामय हाथ की शक्तियां भी सर्वत्र विद्यमान हैं। वह सर्वत्र स्थानों में स्थिर, व्याप्त एवं पहुंचा हुआ है। इन्हीं अपनी महान् सर्वगत, व्याप्त शक्तियों से वह अकेला ही त्रिलोकी की रचना करता है।

जीव को प्रयत्न की आवश्यकता

ऐसी स्थिति में जीवात्मा को ज्ञानवान् एवं आनन्दमय स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। ज्ञानवान् बनने के लिए उसे अपनी स्वरूपावस्थिति का दर्शन करना होगा। जब तक स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा तब तक वह बन्धनों में बंधा रहेगा।

मानव देह की विशेषता

देहधारी प्राणियों की जो विविध योनियां हैं, उनमें मानव देह की रचना, अहंकार के उद्भूत

हो जाने के कारण तथा वर्णात्मक शब्द का अर्थज्ञान होने के कारण ही इतनी अद्भुत और रहस्यपूर्ण है कि इसके द्वारा सृष्टि का स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर ज्ञान हो सकता है। यदि यह सामर्थ्य इसमें नहीं होती तो मनुष्य केवल पशु समान ही रहता और सृष्टि के पदार्थों में निहित अनेक प्रकार के गुणों से उपयोग लेकर मानव का अपने अनुकूल रचना का कार्य और प्रतिकूलता का प्रतीकार करने का कार्य नहीं हो सकता था।

मानव देह की रहस्यपूर्ण स्थिति

परन्तु इस रहस्यपूर्ण शक्ति से भी और अद्भुत रहस्य मानव शरीर की रचना में यह छिपा हुआ है कि जहां इसके द्वारा बाह्य रूप से विराट् सृष्टि का दर्शन किया जा सकता है वहां इसके अन्दर भी सृष्टि के विराट् एवं दिव्य रूप का दर्शन किया जा सकता है क्योंकि इसमें सब सृष्टि अद्भुत ढंग से ओतप्रोत है। अथर्ववेद में 'ओतो मे द्यावापृथिवी' कहकर इस देह में द्युलोक और पृथिवी को ओतप्रोत बताया है। यजुर्वेद में 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्' । (३४।४) विविध काल का सर्वरूपेण इसमें समावेश बताया है।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । (यजुः ३६।५)

इस मन्त्र द्वारा त्रयी विद्या अर्थात् वेद की सुगुंफित स्थिति का इस शरीर में कथन किया है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ।। (यजुः ३१।१२)

इस मन्त्र द्वारा सृष्टि के तत्त्वों का शरीर के तत्त्वों में तथा शरीर के तत्त्वों का सृष्टि के तत्त्वों में अभिन्न सम्बन्ध प्रकट किया गया है।

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" । (यजुः ३१।११)

कहकर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमपुरुष का एवं इस बद्ध पुरुष का नाम-साम्य तथा अंग-साम्य कहकर, इस मानव देह की महत्ता को समझने की प्रेरणा वेद दे रहा है।

मानव देह अयोध्या है

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।। अथर्व० १०।२।३१)

यह शरीर आठ चक्रों से युक्त है। इसके नौ द्वार हैं। देवताओं के निवास के लिए यह अयोध्या-पुरी बनी हुई है। इसमें अत्यन्त तेजस्वी, स्वर्णमय कोश है जो महान् ज्योति से—परमात्मा से—आवृत हैं। इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा इस देह की दिव्यता एवं परम श्रेष्ठता का वेद ने प्रतिपादन किया है।

ब्रह्मपुरी

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ।।(अथर्व० १०।२।२९)

इन शब्दों द्वारा इस मानव देह की उच्च स्थिति एवं इसके अन्दर निहित परम गुह्य तत्त्वों का पता दिया है। यह दिव्य पुरी अमृत से आवृत है, यह भी कहकर अमृत का सदा पान कर सकने की सामर्थ्य का भी रहस्य उद्घाटित कर दिया है। और—

पुरं यो ब्रह्मणो वेद। (अथर्व० १०।२।३०)

कहकर सब कुछ इसकी बहुमूल्यता एवं श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।

शरीर में सप्त ऋषि

इस दिव्य देह के अन्दर—

सप्तऽ ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। (यजुः ३४।५५)

सात ऋषि बैठे हैं। सप्तर्षिमण्डल सप्त प्राण रूप से यहां विराजमान है। उन ऋषियों का इस देह पर साम्राज्य रहना चाहिए। इन्हीं सात ऋषियों से इस देह का देवत्व जागरित होता है और इस देह रूपी यज्ञशाला में यज्ञ रचा जाता है। उन्हीं से यह ब्रह्मपुरी, अयोध्या, देवनगरी, स्वर्गपुरी, ज्योति से दीप्तिमन्त कहला सकेगी। यदि सप्त ऋषियों के स्थान पर यहां सप्त असुर बैठ जावें तो इस देह का दिव्यत्व नष्ट हो जायगा। अतः इस देह में ऋषियों के द्वारा ही साधना करनी चाहिए। उन्हें ही इसमें प्रतिष्ठित करना चाहिए। तभी इस जीवन का यज्ञमय रूप प्रकट होगा और सृष्टियज्ञ के साथ उसका ज्ञानमय समन्वय भी हो सकेगा।

जीवन में वेद की साधना

इस जीवन में मानव को बुद्धि द्वारा वेद की साधना करनी चाहिए। 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। (ऋ० १।१।१) इस प्रथम मन्त्र में अग्नि के विविध गुण एवं उसकी विविध क्रियाशीलता से जिन स्थितियों का दर्शन होता है उसको 'ईळे' शब्द द्वारा जानने, जनवाने, समझने, समझाने एवं प्रत्यक्ष अनुभव करने कराने का जो उपदेश है उसका इस सृष्टियज्ञ में ही प्रथम दर्शन करना होगा। वह ऋषिवृत्ति से होगा।

मन्त्र का सृष्टि के तत्त्वों से सम्बन्ध

इस प्रकार अनुसन्धान वृत्ति से अग्नि के गुणों का जो साक्षात्कार एवं अनुभवात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है वह मन्त्र का सृष्टि के विविध तत्त्वों, राशियों एवं पिण्डों से सम्बन्ध स्थापित कर देता है तभी वास्तविक क्रिया रूप से सृष्टि में उस मन्त्र का निवास भी प्रतीत होने लगता है। अतः मन्त्र में वर्णित पदों के तत्तत् अर्थ सम्बन्ध से प्राणों के द्वारा उपलक्षित ब्रह्माण्डस्थ विविध पिण्ड ही उन मन्त्रों के देवता ग्रहण किये जाते हैं। मन्त्र की शब्दराशि का अभिधेय, प्रत्यक्ष रूप मन्त्र देवता से बाह्य स्थिति नहीं रखता है। वह शब्द राशि, चैतन्य का मन्त्र, शब्दागम्य बनकर अतीत और अनागत का भी बोध करा देता है। अतः शब्दमय मन्त्र का बहुत अधिक महत्त्व है।

मन्त्रों में अगाध ज्ञानराशि है

सृष्टि के तत्त्व, जड़ अथवा चेतन पिण्डों में परिवर्त्तन होता रहता है। जब उसको शाब्दिक रूप में बद्ध कर दिया तो उस मन्त्र में अगाध ज्ञानराशि भी समाविष्ट हो जाती है। वेद का अग्नि शब्द न जाने कितने ज्ञात एवं अज्ञात महान् अर्थों को धारण किये हुए हैं कि उनके विशाल क्षेत्र में विचरण करते ही चले जावें, उत्तरोत्तर नवीन-नवीन अर्थ और ज्ञान प्राप्त होता ही जायगा।

ज्ञान के एक ऊपरी स्तर को प्राप्त करके जब हम उसके अन्य स्तरों का भी भेदन करने लगते हैं तो और भी विशाल एवं व्यापक अर्थ प्रतीत होने लगता है। जब उसकी विशालता का चिन्तन करते हैं तो वह अर्थ क्रमशः एक केन्द्र में प्रकाशित होने लगता है। पद (शब्द) के भेदन करने से जैसे अर्थ का महान् प्रकाश या ज्ञान की राशि प्रकट होती है उसी प्रकार से तत्त्व के—अणुओं के—भेदन करने से अनन्त शक्ति प्राप्त होती है।

मन्त्र परमात्मा के हैं

सृष्टि में जो मन्त्र तत्त्व रूप से प्रकाशित होता है स्तुति रूप में वह शब्द, मन्त्र ध्वनि रूप में जागरित होता है। यह सम्पूर्ण रचना जिसके ज्ञान से रची हुई है और संचालित है उसकी विविध स्थितियों के विविध तत्त्वों, राशियों और पिण्डों का ज्ञान कराने वाला वह शब्द-मय मन्त्र भी उसी जगद्रचयिता का ही है, जो इस मानव देह में हमारी ध्वनियों से प्रकट हुआ। अतः जिन मानव ऋषियों के माध्यम से वह वेदज्ञान, वर्ण या ध्वनिरूप में प्रकट हुआ, उसके रचयिता वे मानव देहधारी ऋषि स्वयं नहीं थे। वे तो उसके अभिव्यंजक, प्रकटकर्त्ता, दूत या माध्यम मात्र ही थे।

परमात्मा द्वारा वेद ऋषियों में प्रकट हुए

ऋषियों के द्वारा प्रकट हुई वह वेदध्वनि परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा मार्गों से वैखरी रूप में एकरस उनके मुख से समुदीरण होने से, उन ऋषियों को भी स्पष्ट भासित हुआ कि यह दैवीवाणी हमारी नहीं है। हमारे इच्छा और प्रयत्नों से संचालित नहीं है। अपितु किसी महान् शक्ति की प्रेरणा से यह ज्ञान उत्तरोत्तर क्रमशः प्रकट होता जा रहा है और उसको आगे भी प्रचारित करने के लिए तथा भविष्य के लिए सुरक्षित करने के लिए उसका शब्दमय ध्वनिमय—रूप भी प्रकट होता जा रहा है।

उस ज्ञान और ध्वनि का आदिस्रोत परमात्मा है। ऐसा उन महर्षियों को स्पष्ट अनुभव होने से, वेद परमात्मा के द्वारा ही रचे गये हैं, ऐसा ही सत्य, पूर्ण निश्चयात्मक सिद्धान्त कल्पकल्पान्तरों से ग्राह्य किया जाता रहा है। इसीलिए कभी किसी ऋषि ने यह नहीं घोषित किया कि मैंने ऋग्वेद बनाया, मैंने यजुर्वेद बनाया या मैंने सामवेद बनाया।

ऋषिमुख से तो यही ध्वनि प्रकट हुई कि—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। (यजुः ३१। ७)

अर्थात् उसी सर्वहुत यज्ञ द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकट हुए हैं। अर्थात् वह दैवी वेदवाणी परब्रह्म की आदिसृष्टि में ऋषियों के माध्यम से प्रकट हुई और लोक में प्रचलित हुई।

वेद में प्रयुक्त अग्नि आदि शब्द और उनके गुणों का दर्शन, ज्ञान एवं अनुभूति इस विश्व के रंगमंच पर ही हो सकती है। यदि वेद साधारण मानवकृत होते तो वे सार्वकालिक हमारे पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकते थे। अपौरुषेय होने से ही वेद के ज्ञान में वह शक्ति एवं ज्ञान भरा हुआ है कि हम सदा उससे पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

वेद के एक ही मन्त्र को आज हम अपने ज्ञान सामर्थ्य से जितना समझ पाते हैं, क्या उतना ही मात्र उसमें ज्ञान निहित है? नहीं, कदापि नहीं। यही ध्वनि अन्तरात्मा से प्रकट होगी। उस मन्त्र के ज्ञान की सीमा बहुत विस्तृत है परन्तु हमारी बुद्धि जहां तक पहुंच सकी उतना ही हम ग्रहण कर सके। जितनी हमारी बुद्धि की ज्ञान प्राप्त करने की चेतना अथवा शक्ति विस्तृत होती जाती है उतना ही अधिक उसमें तत्त्व दृष्टिगोचर होता जाता है।

शब्द की आवश्यकता

विश्व के रूप तथा उनके रहस्यों को समझने समझाने के लिए शब्द का माध्यम अनिवार्य है। शब्द ज्ञान का बोज बनकर अपने में सम्पूर्ण रहस्य को आवृत किये हुए हैं। शब्द में सन्निविष्ट ज्ञान-कोष का उद्घाटन बुद्धि से ही होता है। शब्दज्ञान केवल मानव की ही विशेषता है जिसके द्वारा बुद्धि

उत्तरोत्तर प्रखर होती है। जैसी बुद्धि होगी वैसी ही उपलब्धि होगी। अतः अपनी बुद्धि को सुतीक्ष्ण करने की, श्रेष्ठ बुद्धि को प्राप्त करने तथा मानवोत्तर बुद्धि को भी प्राप्त करने की आवश्यकता है जिससे हम वेदमन्त्रों का विश्व तथा विश्वातीत रहस्य जान सकें।

श्रेष्ठ बुद्धि की आवश्यकता

मानवीय श्रेष्ठ बुद्धियों एवं मानवोत्तर श्रेष्ठ बुद्धियों के विकास के लिए अध्ययनाध्यापन, स्वाध्याय आदि जहां आवश्यक हैं वहां उनके साथ तप, प्राणायाम, योगाभ्यास भी आवश्यक हैं। मानवीय बुद्धियों का विकास अध्ययनाध्यापन से होता है परन्तु मानवोत्तर श्रेष्ठ बुद्धियों की प्राप्ति योगाभ्यासादि से ही होती है।

वेद में मानवोत्तर बुद्धि के लिए 'मेधा' शब्द है। वह दैवी बुद्धि है। हमारी बुद्धि को 'धी' कहा है। हमारी बुद्धि का विकास विविध प्रकार की प्रेरणाओं से होता है और उन ज्ञान कर्मादि की प्रेरणाओं से उसका विकसित रूप उत्तरोत्तर प्रखर होता जाता है।

मेधा दैवी बुद्धि है। उसकी प्राप्ति के लिए मेधावियों से याचना करनी पड़ती है। जब वह मेधा प्राप्त हो जाती है तो वह स्थितप्रज्ञ की दशा में पहुंचकर सृष्टि के अन्दर निहित आदि मूल शक्ति का दर्शन कर लेती है और किसी भी तत्त्व का दर्शन उसके प्रकाश में हो सकता है।

अग्नि, वायु, इन्द्रादि से मेधा की प्राप्ति

हमारी बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान का प्रकाश हमारी सामर्थ्य पर निर्भर है। अतः उसमें अज्ञान का मिश्रण भी रहता है क्योंकि पूर्ण प्रकाश एवं पूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य हमारे पास नहीं है। परन्तु जब पूर्ण ज्ञान-प्रकाश का दाता ज्ञान देता है तो मानव निर्भ्रान्त भी हो जाता है। अतः उस उत्तम मेधा को प्राप्त करने के लिए वेदमन्त्रों द्वारा मनुष्यों को बताया है कि वह ज्ञान, वह श्रेष्ठ प्राप्ति परमात्मा की विविध शक्तियों के माध्यम से होगी अतः तुम अग्नि, वायु, आदित्यादि से ज्ञान को प्राप्त करो। यथा—

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे ॥ (यजुः ३२।१५)

जल का स्वामी वरुणदेव मुझे मेधा प्रदान करें अर्थात् वरुण तत्त्व का विज्ञान मुझे प्राप्त हो। मुझे प्रजाओं के पालक अग्नि का ज्ञान-विज्ञान एवम् उपयोग का रहस्य ज्ञात हो जिस कारण से यह अग्नि प्रजापालक बना हुआ है और उसको प्रजापालक अन्दर तथा बाह्य दोनों रूप में बनाया जा सकता है। इसी प्रकार मुझे विद्युत् एवं वायु का तथा प्राण का वह विज्ञान प्राप्त हो जिससे वह सब का पालन-पोषण करने में समर्थ है। उस रहस्य को जानकर मैं भी सब प्रजा की उन्नति के लिए उसका उपयोग ले सकूं। उस धाता का, जो सबका धारक, आधारतत्त्व है जिस के आश्रय से संसार के सब चर, अचर पदार्थों की गति होती है, उस सब के भौतिक आधारतत्त्व को जिसे हम आकाश या ईथर तत्त्व कहते हैं उसका ज्ञान-विज्ञान प्राप्त हो जिससे उसकी सर्वधारक शक्ति का अधिकाधिक उपयोग लिया जा सके।

भौतिक तत्त्वों का धाता आकाश या ईथर है। परन्तु इस भौतिक धाता का भी एक परमधाता है जिसे वेद में "धाता विधाता परमोतसन्दृक्" (यजुः १७। २६) कहा है। वह परमात्मा ही है, जो सब जगत् का रचयिता है और जगद्रचना के साथ-साथ उसका शब्दमय ज्ञान मनुष्यों की उन्नति के लिए, हमारे पथ प्रदर्शन के लिए सृष्टि के आदि में वेद रूप में देता है।

वह वेद का ज्ञान मेधा को विकसित करने वाला है जिससे वेद का अपूर्व ज्ञान प्राप्त होता है।

मानवीय बुद्धि वहां शब्द के स्थूल और सीमित अर्थ तक ही पहुंच पाती है परन्तु मेधा बुद्धि उसके अति सूक्ष्म और विशाल अर्थ को तथा तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेती है। मानवीय बुद्धि दीपक के तुल्य है तो मेधा सूर्यतुल्य है। वेदमन्त्रों के अर्थ की प्राप्ति मेधा से होती है अतः उसकी प्राप्ति की कामना निम्न मन्त्रों में भी है—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥ (यजु: ३२ । १४)

देव और पितर जिस मेधा की साधना करते हैं और जो ज्ञान कर्म का समुच्चय रूप है, तथा विज्ञान का जो यह परमशान्त, परमोदार, परस्पर सहयोग एवं समन्वयात्मक देवत्व रूप है एवं बुद्धि-उत्पत्तिजनक विश्व का जो सत्यरूप पितृत्व है, उसमें जो महान् शिवसंकल्प है वही उस परम देव का देवत्व एवं पितृत्व है। उसकी अनुभूति मेधा से ही होगी। उस मेधा का दाता परब्रह्म ही है। परब्रह्म का ज्ञान एवं शब्द-ब्रह्म दोनों वेद ही हैं। अतः परमात्मा का वह ज्ञान विश्व के स्थूल-सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर रहस्यों को ज्ञात कराने के लिए मेधा के द्वारा ही हमारा पथ-प्रदर्शक बना रहता है। चाहे हम उसका उपयोग लें या न लें।

वेद के आश्रय से ज्ञान की प्राप्ति

यदि हम वेद के ज्ञान का आश्रय लेकर चलेंगे तो शीघ्र और सही मार्ग प्राप्त कर उन्नति कर सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति किसी ज्ञानी, अनुभवी के आश्रय से किसी विषय में सही मार्ग से प्रवेश करके शीघ्र ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार वेद के प्रकाश में हम अपना सही मार्ग शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं और उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकते हैं।

मनुष्य जितना-जितना ज्ञानवान् होता जायगा वह उतना-उतना ही अधिक वेद में से आनन्द की तथा शान्ति की उपलब्धि या प्राप्ति करता रहेगा। मैं पूछता हूं कि आज विज्ञान ने अणु के बारे में जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, क्या अणु का उतना मात्र ही ज्ञान है, उससे अधिक नहीं है? अभी तो बहुत कुछ उसका ज्ञान एवं शक्ति अज्ञात है। परन्तु वह सब ज्ञान एवं शक्ति अणु में पूर्व से ही निहित है। ऐसा नहीं है कि पहले वह शक्ति नहीं थी और अब उसमें वह शक्ति आ गई है। अतः वेद शब्द-माध्यम से और द्रव्य-माध्यम से सब युगों में हमारी समस्याओं का हल प्रस्तुत करता रहेगा। "नान्यः पन्था विद्यते" दूसरा कोई अन्य मार्ग है ही नहीं।

जिस प्रकार से हम विश्व के किसी तत्त्व का दर्शन करके, उसके गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने कार्य में आगे बढ़ते हैं उसी प्रकार वेद-मन्त्रों के अर्थों का चिन्तन करके उन पदार्थों में जो और भी गुण विद्यमान हैं उनका शीघ्र अनुसन्धान कर सकते हैं। वेद एक प्रकार से हमारा गुरुवत् ज्ञानोपदेष्टा हो जाता है और हमारे ज्ञान का विकास उसके साहचर्य से शीघ्र हो जाता है।

वेद ज्ञान का बीज है

वेदों में प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान बीजवत् है। उसमें किसी तत्त्व का विशद प्रयोगात्मक रूप नहीं है। यदि वेद प्रत्येक बात का विशद रूप प्रकट करने लगे तो उसके ज्ञान का मूलत्व, ज्ञान का बीजत्व ही नष्ट हो जाता है। पुनः उस विस्तृत ज्ञान का एक बीज या मूल मानना पड़ेगा। ज्ञान को प्रकट करने वाले न्यूनतम शब्दों का छन्दोबद्ध समूह ही मन्त्र है। परमात्मा सबका आदिमूल है अतः परमात्मा का **ज्ञान ही समस्त ज्ञान का आदि मूल है।**

ज्ञान-बीज वपन के लिए भूमि

परमात्मा की सृष्टि में उस वेद के विस्तार का भी दर्शन होगा और जब हम ज्ञान के बीज को अपनी बुद्धिरूपी भूमि में वपन करके मनन, चिंतनादि के जल से सिंचित करेंगे तो उस वेद-मन्त्र का विशाल ज्ञानरूपी वृक्ष हमारी बुद्धि की भूमि में विकसित होता जायगा। उसकी शाखा, प्रशाखा पुष्प, फल आदि सब उसमें समय पर लगेंगे। जिस प्रकार से भूमि में भौतिक बीजों को बोने से उनका विशाल रूप बनकर फल देता है उसी प्रकार वेद-मन्त्रों को भी ज्ञान की भूमि, बुद्धि में जप द्वारा बोया जाता है और तपादि द्वारा सिंचित कर उसे पुष्पित एवं पल्लवित किया जाता है जिससे उसका अनेक रूप से व्यावहारिक रूप प्रकट होता है और उपयोग होता है। अतः जो बीज में ही फलों को लगा देखना चाहते हैं वे सृष्टिक्रम को समझें और तदनुसार समुचित रीति से वेद-मन्त्रों का प्रयोग करें। उनसे महान् ज्ञान-विज्ञान आज भी प्राप्त होगा और हमारी वर्तमान समस्याओं का भी उचित समाधान प्राप्त होगा।

वेद का ज्ञान विश्व के तत्त्वों एवं कार्यों से प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। कई स्थानों पर वेद की प्राकृतिक उपमाएँ रहस्य को प्रकट कर देती हैं और गुत्थी सुलझ जाती है। किसी तत्त्व को समझाने के लिए उपमा का आश्रय बीज रूप से अनेक रहस्यों को प्रकट कर देता है। प्राकृतिक उपमाएँ सृष्टि के आदि से अन्त तक एक-सा ज्ञान देने में महान् प्रकाश स्तम्भ के रूप में अपनी स्थिति रखती हैं।

वेद ज्ञान की कृषि

आज हमारी मस्तिष्क रूपी भूमि में वेदों के प्रति अश्रद्धा की पथरीली चट्टानें खड़ी हैं। उन चट्टानों पर वैदिक बीज का वपन कैसे हो। अश्रद्धारूपी चट्टानों को तोड़ना होगा। श्रद्धारूपी उर्वरा मृत्तिका को वहां फैलाना होगा और उसको आस्तिकता के हल से वपन योग्य बनाकर वेद-मन्त्र रूपी ज्ञान के बीजों का वपन करना होगा। तप, मनन, चिन्तनादि रूपी जलों से उसे समय-समय पर सिंचित करना होगा। सेवा एवं निष्ठा से उसके अंकुरों की रक्षा करनी होगी। अनास्था, नास्तिकता, भोगवाद के विनाशक जन्तुओं से वेद के क्षुप की रक्षा करनी होगी। धैर्यपूर्वक, दीर्घ, आशा से विविध प्रकार की विचारधाराओं की प्राधान्यता रूपी अनेक ऋतुओं के आघातों से उसे सुरक्षित करना होगा जिससे वह वैदिक ज्ञान का बीज अत्यन्त प्रवृद्ध होकर पुष्पित एवं पल्लवित हो सके।

ज्ञान-कृषक

भौतिक बीज को पृथिवी में वपन कर अन्न उत्पन्न करने वाले कृषक राजा के तुल्य हैं और जो दैवी ज्ञान बीज को अपनी कठोर साधना रूपी तपस्या से परिपूत बुद्धि में वपन कर वेद-मन्त्रों की कृषि करते हैं और उसके ज्ञानरूपी वृक्षों का संवर्धन एवं पोषण करके अमृतमय फलों को प्राप्त कर इस वसुन्धरा के जीवों को उसका आस्वादन कराते हैं वे मनीषी ब्राह्मण, ऋषि, मुनि कहलाते हैं। वे ज्ञान के क्षेत्र में सम्राट् रूप से सदा स्मरणीय रहते हैं तथा पूजनीय होते हैं। उनके आगे शतशः सम्राटों के भी शिर झुक जाते हैं।

ऋषिरूपी प्रज्ञाभूमि

बहुत से व्यक्तियों को वेद में कुछ प्राप्त नहीं होता। हो भी कैसे? जब तक पृष्ठभूमि नहीं बनेगी तब तक कार्य सिद्ध नहीं होगा। वेद-मन्त्रों को ज्ञान का बीज समझकर चलिये। आम की गुठली में यद्यपि आम्र का सब-कुछ निहित है परन्तु उसकी प्राप्ति उसकी गुठली को भूमि में वपन करके उससे

उत्पन्न वृक्ष के द्वारा ही होगी। इसीलिए मन्त्रों के साथ ऋषियों का सम्बन्ध है। जिस प्रकार की प्रज्ञा में जिस मन्त्र को बोना है उसको उसी ऋषिरूपी प्रज्ञा में बोने से लाभ-प्राप्ति होगी।

मन्त्रार्थ ज्ञान के लिए ऋषि

ऋषि—चिन्तन, तर्क, ज्ञान, प्राण आदि को कहते हैं। ऋषि से रहित मन्त्र की उपासना निरर्थक है। 'एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते यजति याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं भवति' देवता एवं ऋषि आदि को न जानकर जो इनका प्रयोग करता है उसका वेद—पराक्रम शून्य, तेज रहित एवं निष्फल हो जाता है। ऋषि का नाम मात्र लेने से काम नहीं होगा। ऋषि शब्द के अर्थ के अनुसार उसी प्रकार से चिन्तन करना होगा तभी फल होगा। इसीलिए—ऋष्यादिज्ञाने धर्मः—यह सिद्धान्त पूर्व ऋषियों को वेद-मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान एवं प्रयोग के लिए ग्राह्य मानना पड़ा।

सृष्टि में यज्ञों का क्रम

वेद का सम्बन्ध ज्ञान से होने से और ज्ञान का पदार्थ के साथ अटूट सम्बन्ध होने से वेद विश्व से सम्बन्धित हो जाता है। विश्व की सम्पूर्ण रचना, उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का चक्र जिस व्यवस्था से चला आ रहा है, चलेगा और चल रहा था उसको वेद के शब्दों में 'यज्ञ' कहते हैं। इस प्रकार विश्व में एक विशाल यज्ञ चल रहा है। परन्तु इस विशाल यज्ञ के अन्दर भी अनेक अवान्तर यज्ञ चल रहे हैं। अतः एक यज्ञ में अनेक यज्ञ हो रहे हैं और होते रहते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो जिस प्रकार नृत्यमण्डली का प्रत्येक नर्तक अपना पृथक् नृत्य करते हुए भी मण्डली के सम्पूर्ण नृत्य की पूर्ति करता है उसी प्रकार विश्व में अणु परिमाण से महत् परिमाण तक के सब तत्त्वों में जो पृथक्-पृथक् यज्ञ हो रहे हैं वे अपने से विशाल यज्ञ के अंगरूप बनकर विश्व के यज्ञ की पूर्णता बड़े सौन्दर्य, सामंजस्य, क्रीड़ा एवं दिव्यता से कर रहे हैं। इस प्रकार विश्व के अनेकों यज्ञों से उस महान् यज्ञ की पूर्णता होती रहती है।

पृथिवी में यज्ञ का क्रम

वेद विज्ञान का क्रियात्मक दर्शन विश्व के विविध यज्ञों में प्रकट हो रहा है। पृथिवी भी एक विशाल वेदी है। उसमें भी अनेक वेदियां हैं और उनकी अपनी-अपनी परिधियां हैं। उन परिधियों के मध्य वेदीरूपी गर्त में जब बीजरूपी समिधाओं का चयन किया जाता है और उसको समिद्ध करने के लिए पृथिवीस्थ अग्नि को प्रबुद्ध करने के निमित्त स्थूल पंचभूतों का आधान किया जाता है तब उस आधानरूपी कार्य से पृथिवीस्थ अग्नि प्रबुद्ध होकर प्राण रूप से वेदी में प्रकट होती है। उसमें आदित्य व्यान रूपी आपः की तथा अपान रूप हव्य की हवि देकर उसे प्रज्वलित, अंकुरित तथा प्रवृद्ध करता है जिससे बीज विशाल वृक्ष के रूप में अपनी व्यक्त स्थिति को प्राप्त हो जाता है और वह पल्लवित एवं पुष्पित होकर फल प्रदान करता है।

इस प्रकार उस वृक्ष का—बीज से फल तथा पुनः बीज तक का क्रम एक यज्ञ का चक्र है। अपने एक यज्ञ-क्रम को पूर्ण करके वह फिर जीर्ण पत्तों को त्याग कर नव पल्लवों से युक्त होकर पुनः पुष्प, फल एवं बीज समन्वित होने का पर्यायक्रम करता है। यद्यपि ये पर्यायक्रम इस वृक्ष के जीवन के सांवत्सरिक यज्ञ हैं जो उसके जीवन में क्रमशः होते रहते हैं। परन्तु उस एक मूल बीज का जब एक जीवन पूर्ण होता है। वह अपने जीवन में अनेक यज्ञों को भी पूर्ण करता है। उसके यज्ञ से अनेकों जीवन गति के चक्र एक केन्द्र में शक्तियुक्त प्रतिष्ठित हो बीज रूप प्राप्त हो जाते हैं जिनमें यज्ञ रूप से प्रकट होने की सामर्थ्य होती है। इस प्रकार पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती रहती है।

ब्रह्माण्ड में सर्वत्र यज्ञों का क्रम

इस विशाल भूमि में, इस 'अन्तरिक्ष में' और इस 'द्यु' लोक में सर्वत्र अणु से लेकर उत्तरोत्तर निर्मित पिण्डों में यज्ञ चल रहे हैं और वे सब एक विशाल विश्व यज्ञ को सम्पन्न कर रहे हैं। जब परमात्मा ने सृष्टियज्ञ को किया तो वसन्त ऋतु ने घृत का कार्य किया। उसने इस यज्ञ को प्रदीप्त करने के लिए सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में, उनके परमाणुओं में ऊर्ज—तेज—प्रदान किया। प्रकृति में सर्वत्र एक उन्माद-सा, आनन्द-सा भर गया। प्रत्येक वृक्ष वनस्पति ने अपना श्रेष्ठतम पराग, सुगन्ध, रूप, मधु अपने में से उगल कर विश्व यज्ञ के लिए अर्पण कर दी। —मधु वाता ऋतायते (यजुः १३।२७) का रूप चरितार्थ होने लगा। अन्तरिक्षस्थ समुद्र भी उससे प्रपूरित होकर मधुरिमा का क्षरण करने लगा जिससे—मधु क्षरन्ति सिन्धवः (यजुः १३।२७) सार्थक होने लगा।

उस यज्ञ में ग्रीष्म ने भी अपना योग प्रदान किया। उसने अपनी प्रचण्ड उष्णता को समिधा का रूप प्रदान करके उस यज्ञ को समर्पित की। सृष्टि यज्ञ के अंग-प्रत्यंगों में शक्ति की प्रचण्डता भर दी। शरद् ने नवीन-नवीन ओषधियों को परिपक्व करके हवि का रूप प्रदान किया। इस प्रकार वेद ने—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः॥ (यजुः ३१।१४)

इस मन्त्र के द्वारा परमपुरुष के द्वारा रचे हुए सृष्टि-यज्ञ का निरूपण किया।

पुरुष यज्ञमय है

जब विश्व की रचना में सर्वत्र यज्ञ ही यज्ञ है तो सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य का शरीर भी अवश्यमेव यज्ञ है और यज्ञ के लिए ही है। इसीलिए ऋषियों को घोषित करना पड़ा—पुरुषो वाव यज्ञः। पुरुष निश्चय से यज्ञ है, यज्ञ से परिपूर्ण है। इसका अणु-अणु यज्ञमय है। इसकी क्रियाएँ सब यज्ञमय हैं। क्योंकि परमात्मा ने—इयं ते यज्ञिया तनूः (यजुः ४।१३) यह रहस्य ऋषियों को आदिसृष्टि में प्रकट कर दिया था और उसकी अनुभूति करके ही 'पुरुषो वाव यज्ञः' उन्हें घोष लगाना पड़ा।

मानव देह का वैशिष्ट्य

परमात्मा ने मानव पिण्ड की रचना अत्यन्त ही अद्भुत ढंग से की है। उस बनाने वाले ने अत्यन्त सुन्दरता एवं कुशलता से इसकी रचना करके हमें दिया है परन्तु वह भी इसमें गुप्त रूप से ऐसा बैठ गया है कि वह स्वामी बनकर नहीं अपितु साक्षी रूप से हमें इसका स्वामी बनाकर बैठा है। बाहर देखो तो सारा अद्भुत संसार और भीतर देखो तो समस्त सारों का भी सार वह बैठा है। जब चाहो संसार में विचरण करो और जब चाहो भीतर उससे गले मिल लो और आनन्द के अथाह समुद्र में निमग्न हो जाओ।

यह मानव देह ही ऐसी अद्भुत है जो संसार के भी सम्पर्क में है और प्रभु के भी सम्पर्क में है। इससे दोनों ओर का दर्शन होता है और दोनों ओर का आनन्द लेता हुआ मानव भवसागर को पार कर लेता है। इस देह में परम पुरुष भी द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य रूप में सदा निवास कर रहा है अतः उसके सान्निध्य के कारण से यह मानव भी पुरुषवाची हो गया। यह पुरुष ही उस परम पुरुष के अत्यन्त निकट है। अन्य योनियों में वह—तद् दूरे—(यजुः ४०।५) की स्थिति में है और इस मानव देह में वह—तद्वन्तिके—(यजुः ४०।५) अत्यन्त निकट स्थिति में है। इसलिए वेद ने इस शरीर को

यज्ञस्य धाम परमं (ऋ० १०।१८१।२) कहा है और इसमें निहित कुंड रूपी गुहा का निदश मन्त्र के शेष भाग में निम्न शब्दों में किया है।

'अविन्दन्त अनिहितं यदासीत्'''गुहायत्।'

जो अत्यन्त गुप्त हृदय रूपी गुहा है उसमें स्थित जो तेरी गुप्त स्थिति है अर्थात् जो आत्मा एवं परमात्मा है उनको योग से ज्ञानी जन प्राप्त करते हैं।

जीवन को यज्ञमय बनायें

इस मानव देह को एक नियत आयु प्राप्त हुई है। उसमें यदि वह अपने जीवन को यज्ञमय बना लेता है तो यज्ञ द्वारा प्रभु को प्राप्त करके अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। फिर उसे कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता है। इसलिए वेद ने मनुष्य को कहा—आयुर्यज्ञेन कल्पन्ताम्—(यजुः १८।२९) हे मनुष्य ! आयु को यज्ञ से सुसम्पन्न कर। 'प्राणो यज्ञेन कल्पन्ताम्' तुम्हारा प्रत्येक श्वासप्रश्वास अथवा गति यज्ञमय हो, यज्ञ से बलवान् बने और यज्ञ के ही कार्य में लगे। चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन और आत्मा ये सब अपना-अपना यज्ञ करते रहें और 'यज्ञो यज्ञेन कल्पन्ताम्' अर्थात् यज्ञ भी यज्ञ के द्वारा ही सम्पन्न हों। एक यज्ञ में उसके अवान्तर जो यज्ञ होते हैं उन सबके यथावत्, अविरोधी होने से ही यज्ञों से यज्ञ सम्पन्न हो सकते हैं।

शरीर के अन्दर बैठे इन्द्रियादि देव अपना-अपना यज्ञ संचालन करते हुए इस पुरुष को शरीर में बांधे हुए एक महान् यज्ञ की पूर्ति कर रहे हैं। इस रहस्य को वेद ने—

देवा यज्ञं तन्वाना अबधनन्पुरुषं पशुम्। (यजुः ३१।१४)

इस मन्त्र द्वारा प्रकट किया है। इस मनुष्य को इस जीवन रूपी यज्ञ में अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न करने पड़ते हैं उनमें भी यदि वह यज्ञ की भावना रखकर करेगा और उनको भी यज्ञ के अनुरूप करेगा तो उसको सांसारिक सुख लाभ के अतिरिक्त पारलौकिक सुख मोक्षादि तथा सुयश कीर्ति आदि भी प्राप्त होगी।

वर्तमान में मानव की स्थिति

वर्तमान समय के मानव समाज पर आज जब हम दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि यह अपने सुख के लिए जिन आवश्यक एवं अनावश्यक प्रयत्नों को कर रहा है तथा जिन साधनों का संग्रह कर रहा है उनमें स्वार्थ की मात्रा अपनी चरम सीमा पर कार्य कर रही है। वह स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरों के हित के कार्यों की सर्वथा उपेक्षा कर जाता है। अपने धन, ऐश्वर्य, बल, व्यापार एवं भोग आदि के लिए वह दूसरों को धोका देना अपनी चतुरता समझता है। दूसरों को फंसा कर, उन्हें अपना दास बना कर अपने शिकंजे में रखने को वह राजनीति समझता है। एक दूसरे से असत्य व्यवहार तथा छल कपट करने को वह कूटनीति मान रहा है। अपने दुर्बुद्धि के बल से वह दूसरे के धन को हरण एवं शोषण करने को वह व्यापार एवं व्यवसाय कहता है। उसके अर्थशास्त्र में वही ऐश्वर्य का अधिकारी है और दूसरे शोषण करने के लिए बनाये गये हैं। उसके समाजशास्त्र में वह अपने छल कपट धूर्तता के द्वारा उस समाज का नेता बनने का पूर्ण पात्र है। सच्चे और ईमानदार उसकी दृष्टि में बुद्धू हैं। स्वार्थ, ईर्ष्या एवं युद्ध यह उसके व्यवहार का विकास है। क्या वर्तमान समय की ऐसी दुर्नीतियां मानव को सुख शान्ति प्रदान कर सकती हैं? ये सब यज्ञ की त्यागमयी भावना के बिल्कुल विपरीत हैं। मनुष्य को सुख, शान्ति, आनन्द, सन्तोष एवं जीवन तभी प्राप्त हो सकता है जब वह स्वार्थ की संकीर्ण भावना को त्याग कर सब की भलाई के विशाल क्षेत्र में प्रवेश करके अपने विचार एवं कार्यों को उनके अनुरूप

कर दे। फिर मानव से दुर्मति का लोप हो जायगा और ईर्ष्या, द्वेष, युद्ध, कूटनीति युक्त अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की समाप्ति हो जावेगी। मनुष्य का मनुष्य में विश्वास और प्रेम बढ़ेगा।

यज्ञ के लिए दीक्षा

यज्ञ की निःस्वार्थ भावना के अभ्यास के कराने के लिए आर्यजाति में जब बालक ५ या ६ वर्ष का हो जाता है और समझना प्रारम्भ कर देता है तभी से उनके अन्दर यज्ञ की भावना भरने के लिए दीक्षित किया जाता है। यज्ञ के लिए दीक्षित करने का संस्कार यज्ञोपवीत—उपनयन है। अर्थात् यह जो पवित्र यज्ञ है उसको करने की पात्रता प्रदान करने के लिए यज्ञोपवीत दिया गया है। उसको धारण करते हुए नित्य सन्ध्योपासना, यज्ञादि करना चाहिये और अपने अन्दर यज्ञ की त्यागमयी भावना धारण करनी चाहिये तथा इस भावना को दृढ़ करते रहना चाहिये।

जिसका उपनयन संस्कार हो जाता है उस बालक के हाथ से गुरु यज्ञ कराता है। उस ब्रह्मचारी को तब से नित्य यज्ञ का अनुष्ठान सायं प्रातः करना पड़ता है। दैनिक अग्निहोत्र यज्ञ के द्वारा उसमें जो आहुतियां डाली जाती हैं उनसे यज्ञ की भावना का प्रकाश स्वयं होता है।

यज्ञ की निःस्वार्थ भावना

यज्ञ में प्रयुक्त आहुति अग्नि में पड़ कर सूक्ष्म होकर वायु के द्वारा सर्वत्र प्रसारित हो जाती है। अर्थात् अग्नि का जीवन यद्यपि आहुति पर निर्भर है परन्तु वह आहुति ग्रहण करके अपने पास नहीं रखता, अपितु उसे प्रसारित करके समस्त वायुमण्डल को शुद्ध, सुरभित एवं पौष्टिक बना देता है। यदि अग्नि यह काम नहीं करता है और स्वार्थी होकर सब हव्य को अपने अधिकार में रखता रहे तो वह स्वयं नष्ट हो जायगा और सुगंधित, आरोग्यतादायक, पवित्रताकारक द्रव्य सड़-गलकर दुर्गन्ध, रोग तथा अपवित्रता ही उत्पन्न करने लगेंगे। अतः अग्नि के समान हमें अपने द्वारा अर्जित ऐश्वर्य का यथोचित वितरण करना सीखना चाहिये। न कि उसको संग्रह मात्र करके निरुपयोगी रख कर दूसरों को लाभ से वंचित करना।

यज्ञ से 'इदं न मम' की भावना का उदय

अग्नि में आहुति डालने वाले को 'अग्नये स्वाहा', 'सोमाय स्वाहा' अर्थात् मैं जड़ मन के स्थान पर दिव्य चैतन्य का आह्वान करता हूं। मैं इन्द्रिय सुख के स्थान पर आनन्द का आह्वान करता हूं आदि आदि मन्त्रों से अपने लिए नहीं अपितु अन्यों के लिए ही आहुति देनी पड़ती है और 'इदं न मम' का भी उच्चारण करना पड़ता है। अर्थात् वह जीवन में प्रतिदिन यह अभ्यास करता है, यह मेरा नहीं है, यह मेरा कुछ भी नहीं है। सब अपने अपने भाग को प्राप्त करो। हे देवो यह सब तुम्हारा ही है।

अग्नि उस भाग को ग्रहण करके इदं पृथिव्यै, इदं वायवे, इदं सूर्याय, इदम् अद्भ्यः, इदं वनस्पतिभ्यः करके व्यापक दैवी शक्तियों को वितरित कर देता है और मानो वह भी कहता है जैसे तुमने आहुति डालते समय 'इदं न मम' कहा था, मैं भी 'इदं न मम' को प्रत्यक्ष करके दिखा रहा हू।

विश्व में 'इदं न मम' का यज्ञ चल रहा है। नदियों ने जल बहाया, वृक्षों ने छाया दी, फल दिये, मेघ ने वर्षा की, पुष्पों ने पराग दिये—किसके लिए? 'इदं न मम' के ही लिए। सब देवों के लिए ही।

यद्यपि यह बात कहने में छोटी-सी मालूम पड़ती है परन्तु है अत्यन्त महत्त्व की। इससे मानव जाति के जीवन का उद्देश्य एवं उसकी कार्यप्रणाली में एक महान् परिवर्तन उत्पन्न हो सकता है। हम **सब की भलाई के लिए कार्य करें। विश्व हित को लक्ष्य में रख कर कार्य करें तो जीवन यज्ञमय बन**

जायगा और उसकी सद्भावनारूपी दिव्य सुरभि का प्रसार होकर मानवमात्र सुखी हो सकेगा।

वेद सदा पथप्रदर्शक है

वेद अपनी इस बात को अल्पाकार शब्द में ही प्रकट कर देता है। उसमें बड़े-बड़े उपदेश नहीं हैं। आदेश अल्पाक्षरों में ही होते हैं। सेना चलाने का आदेश देने के लिए व्याख्यान नहीं दिया जाता। एक शब्द का आदेश उनके लिए महान् कर्त्तव्य का बोधक हो जाता है। वेदों में विविध वाक्य हैं। आज के युग में भी उनसे हमें महान् पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो सकता है और वे हमारी वर्तमान प्रमुख समस्याओं का हल प्रदान करने में पूर्ण समर्थ हैं।

वेद में एक ही बात के लिए अनेकपक्षीय समाधान विद्यमान हैं जिनका प्रयोग देश, काल, परि-स्थिति भेद से करना होता है। अतः वेद का पथ-प्रदर्शन सार्वकालिक है। वेद ज्ञान परमात्माकृत होने से वह उसी प्रकार हमारे लिए सदा नये रूप में आता रहता है जैसे प्रतिदिन की उषा, नवीनता एवं सौन्दर्य के साथ नवीन आकर्षक रूप में प्रतिदिन प्रकट होती है। सूर्य चाहे पुराना हो परन्तु उसकी उषा प्रतिदिन नवीन ही होती है। उसी प्रकार वेद मन्त्र पुराने, आदि सृष्टि के होते हुए भी उनसे ज्ञान का प्रकाश नवीन नवीन रूप में सदा प्रकट होता रहेगा।

शाश्वत वैदिक-विज्ञान

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। (अथर्व० १०।८।३२)

परमदेव परमात्मा के काव्य का दर्शन करो। विशाल ब्रह्माण्ड ही उसका काव्य है। यही उसकी सुन्दर रचना है। यही उसकी अद्भुत कला है। यही उसका मनोहारी चित्र है। उस सब को उसी परमदेव ने सवाक् बना दिया है। इस सवाक् चलचित्रपट को नेत्र अपनी दर्शन-शक्ति से ग्रहण करता है और श्रोत्र वाणी से ग्रहण करता है। वाक् का चित्र से सम्बन्ध अविच्छेद्य चल रहा है और चलता रहेगा। विश्व की प्रतीति उस दैवी वाक् के आश्रय से ही होगी।

उस दैवी वाक्—वेदवाणी—में विश्व का अगाध ज्ञान भरा हुआ है। हम उसको आज जितना जान पाते हैं कल पुनः उसमें और भी नवीन ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञान का अन्त प्राप्त नहीं हो पाता। अतः वेद ज्ञान का अक्षय भण्डार है। यहाँ से सदा ज्ञान की गंगा का अजस्र प्रवाह निर्झरित होता रहेगा और उससे सदा ज्ञान ज्योति प्रकट होती ही रहेगी।

वर्तमान विज्ञान की देन

यद्यपि वर्त्तमान विज्ञान ने विश्व के वर्तमान इतिहास को महान् एवं अद्भुत कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट करा दिया है और उसने मानव को इस धरती से उछाल कर अधर कर दिया है। उसकी चिन्तन शक्ति एवं कार्यशक्ति से आज हमारा कार्यक्षेत्र विशाल हो गया है। तथापि वह अभी तक अपने लक्ष्य को सोच नहीं सका है। वह त्रिशंकु की भांति अब न पृथिवी पर है, न स्वर्ग में। अपितु वह दोनों के मध्य—अन्तरिक्ष—में चक्कर लगा रहा है और वहां से वह पृथिवी-मण्डल और द्युलोक दोनों को निहार रहा है।

समस्त ब्रह्माण्ड अपनी आश्चर्यमय, कलापूर्ण एवं रहस्यमयी रचना से पूर्ण है अतः समस्त ज्ञान-विज्ञान का वह अक्षय भण्डार है और ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने का क्रियातमक क्षेत्र भी है। इस अनन्त आकाश में घूमकर न जाने मानव किन-किन आश्चर्यमय बातों का पता दे सकेगा। परन्तु जब हम वेदों को देखेंगे तो वह ज्ञानराशि उसमें एक शब्द में ओतप्रोत प्राप्त हो जायगी। जिस प्रकार मणि सूर्य-प्रकाश से विविध प्रकार की रश्मियों को विविध कोणों में सूर्य रश्मियों से प्राप्त कोण के प्रतिरूप में

प्रक्षिप्त करती है उसी प्रकार ज्ञानराशि का वेद से ज्ञान भी उसी सीमा तक प्रत्यक्ष ज्ञात होगा। हमारे ज्ञान की रश्मियों को यदि हम वेद में केन्द्रित कर दें तो वेद से ज्ञान-ज्योति का उद्‌गम होकर, हम विश्व को दैवी दृष्टि एवं ज्ञान से देख सकेंगे। यह ज्ञान का अनुलोम मार्ग है।

परन्तु वर्त्तमान विज्ञान प्रतिलोम मार्ग से चल रहा है। वेद से उसने अपना सम्बन्ध छोड़ रखा है। वह इस अनन्त आकाश में घूम रहा है। एक उन्मत्त की भांति उद्देश्यहीन होकर केवल कुछ अद्‌भुत एवं अज्ञात की प्राप्ति में संलग्न है। संसार में अज्ञात का क्षेत्र अनन्त है। वह इस अनन्त आकाश में घूमकर न जाने किन-किन आश्चर्यमय बातों का पता लगा सकेगा? परन्तु विश्व के रहस्यों का अन्त नहीं प्राप्त कर सकेगा।

आत्मज्ञान की आवश्यकता

हम सोचें कि क्या हमने पृथिवी के ही सम्पूर्ण रहस्यों को समझ लिया है? क्या हमने विशाल एवं गम्भीर समुद्र के रहस्यों का पता लगा लिया है? क्या हमने वृक्ष या उसके एक पत्ते का भी रहस्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है? क्या धूल के एक कण को भी हम जान पाये हैं? नहीं, नहीं! कदापि नहीं!! यही ध्वनि सब के अन्तराल में गूंज उठेगी।

परन्तु इसके अतिरिक्त एक और भी प्रश्न है। क्या हमने अपने को, अपने जीवन के रहस्यों को एवं अपने अन्दर निहित शक्तियों को समझ लिया है? यही तो वह अद्‌भुत रचना है जिससे विश्व को अनेक प्रकार से देखा तथा समझा जा सकता है और विश्व का यथार्थ रूप में दर्शन किया जा सकता है। पंच ज्ञानेन्द्रिय साधनों से पृथक्-पृथक् रूप में ज्ञान प्राप्त करना एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा उस ज्ञान का कर्म रूप में व्यवहारसिद्धिपूर्वक दर्शन, इस प्रकार षड्दर्शन प्रकारों के आधारभूत, इस जानने वाले को जानो और पहिचानो। जब तक इसके रहस्य को नहीं समझ पाते, इस द्रष्टा के दर्शन नहीं कर पाते तब तक अनन्त व्योम के गर्भ में निहित रहस्यों को समझना सुगम नहीं।

अखिल विज्ञान से पूर्ण विश्व

इस विश्व के पत्ते-पत्ते के पीछे महान् एवं अगाध ज्ञान, कला, शक्ति, सौन्दर्य, रहस्य और विज्ञान छिपा हुआ होते हुए भी प्रकाशित हो रहा है। प्रखर बुद्धि से आत्म-साधना द्वारा, अनुलोम मार्ग से उसका दर्शन ऋषि-मुनि, योगी-यति, दार्शनिक एवं आत्मज्ञानी वैज्ञानिक करते हैं। इसके एक-एक कण के अन्दर अनन्त गति और रहस्यमय महान् शक्ति छलक रही है। ज्ञान की एक झलक आती है और चली जाती है। हम उसकी ओर दौड़ते हैं और उसको प्राप्त करने के लिए अपनी समस्त शक्ति एवं जीवन लगा देते हैं।

इस विश्व के जल की एक-एक बूंद में अमृत और शान्ति रस का अथाह समुद्र हिलोरें ले रहा है और महाप्रलय करने वाली क्रान्ति भी शान्त एवं सुप्तरूप से, उसी में विद्यमान है। इसकी अग्नि की एक-एक चिनगारी में विश्व का जीवन भरा हुआ है और उसी में वह प्रचण्ड अग्नि धधक रही है जो विश्व को क्षण मात्र में भस्म कर दे। इसकी वायु के एक छोटे से झोंके में नव प्राण संचारित हो रहा है और इसी के ईषत् समीरण या स्पन्दन में वह सुप्त संकल्प भरा हुआ है जो विश्व के प्राणों को क्षण भर में सुप्त करके विश्व की काया पलट दे।

विश्वविज्ञान का अनन्तत्व

इस विश्व का यह अनन्त एवं रहस्यमय ज्ञान मानव को थका देगा, व्याकुल कर देगा और

आश्चर्य निमग्न कर अवाक् कर देगा। मानव इसे एक मूक एवं बधिर की भांति निहारता ही रह जायगा और जन्म-जन्मान्तर तक इसी प्रकार प्रकृति के रहस्यों को स्तब्ध एवं जड़ की भांति निर्निमेष होकर देखता ही रहेगा। परन्तु जब बुद्धि थक जायगी, मन निश्चल हो जायगा, कल्पना-शक्ति लौट कर आ जायगी उस समय अपने में ज्ञान की किरण का सूत्रपात होगा और उस समय एक अणु मानव के सामने आकर नाचता हुआ, कौतुक करता हुआ एक झलक में, क्षणमात्र की छवि में ही अनन्त शक्ति का स्रोत और रहस्य के समुद्र का अनावरण करता हुआ-सा प्रतीत होगा और जाना हुआ तत्त्व पुनः नवीन ही तथा ज्ञेय रूप में प्रतीत होने लगेगा। इस ज्ञान में जीर्णता का सदा अभाव ही रहेगा।

विश्व में देवत्व का दर्शन

इस संसार के वैचित्र्य में, इसके अद्‌भुत सौन्दर्य में, इसके महान् रहस्य एवं शक्ति में, इसके अनन्त गुणों में, प्रकृति के परदे के परे, अपने अहं भाव को त्याग कर, इसका दर्शन करने से, इस संसार में सर्वत्र देवत्व का दर्शन होने लगता है और उन विविध देवों में भी एक महान् देवत्व का दर्शन करने से ही विश्व का सत्य ज्ञान प्राप्त होता है।

उस महान् देव में समस्त देवों का क्रमपूर्वक दर्शन, समस्त ब्रह्माण्ड की रचना का कार्य कारण भावात्मक क्रमिक इतिहास, स्वतःसिद्ध ज्ञान का—वेद का अक्षय भण्डार है। उस ज्ञानराशि का अधिष्ठाता जड़ नहीं, अपितु चेतन है। प्रकृति के साहचर्य से उसके गम्भीर निरीक्षण एवं अध्ययन से जो ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होता है, उसका आदिमूल किसी चैतन्य शक्ति में है। हमें मूल का प्रत्यक्ष सहज नहीं हो पाता है। इसलिए उसके तूल में रचना में—ज्ञान दृष्टि से उत्तरोत्तर कार्य कारण भाव को ज्ञात कर आदिमूल का भी ज्ञान से साक्षात्कार कर सकते हैं। आदि मूल एक है। एक ही है। दो, तीन, चार या अधिक नहीं है। अतः अखिल ब्रह्माण्ड में एक ही देव है—"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते"। (अथर्ववेद)

देवों में प्राणतत्त्व का दर्शन

आदिमूल परमेश्वर से तूल अर्थात् विराट् अवस्था को प्राप्त रचना जो विविध प्रकार की क्षेत्रीय एवं पूर्ण प्रक्रिया में अपने-अपने स्वरूप को धारण करती है और उनका जो देवत्व व्यवहार कार्य-रूप में परिणत होता है, उसी की पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ विविध देवों के नाम से सम्बोधित होती हैं। उसी स्थिति के दर्शन में, उस ज्ञान में, उस समय एक-एक देवता की शक्ति में उस-उस देवता के तर्कनामय ज्ञान अपना वैशिष्ट्य प्रकट करते हैं। उनका वही तर्कनामय ज्ञान-वैशिष्ट्य तत्तद्देवता का प्राण है। प्राण बिना अस्तित्व कैसा ? यही प्राण अर्थात् तर्कनामय ज्ञान की शक्ति भी ऋषि संज्ञक है।

देवताओं के वैविध्य से ऋषियों का भी वैविध्य हो जाता है। अर्थात् ज्ञान का क्षेत्र भी देवता-वाद के कारण विविध सीमाओं में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड में देवताओं और ऋषियों की—प्राणों की—स्थिति प्रकट होने लगती है। ज्ञेय में ज्ञान एवं ज्ञान प्रदान का सामर्थ्य अनिवार्यतः समाविष्ट रहता है। ज्ञेय एवं ज्ञान वैदिक परिभाषा में देवता एवम् ऋषि या देवता एवं प्राण-वाची हो जाते हैं।

देवता एवं ऋषियों से छन्द की प्रक्रिया

ज्ञय देवता— के विस्तृत क्षेत्र में, ज्ञान के—ऋषि के—अर्थात् दर्शन शक्ति के विविध प्रकारों या माध्यम से, केन्द्रित ध्यान-शक्ति जिस क्षेत्र का आश्रय ले 'सकती है, वह उस देवता का आर्ष छन्द —छादन-क्षेत्र—हो जाता है अर्थात् उक्त पूर्वावस्था में देवता एवम् ऋषि के साथ, उस देवता की व्याप्ति का क्षेत्र

तथा उस व्याप्ति में उसके प्राण का निर्दिष्ट एवं निग्रह स्थान अपने जिस स्वरूप को आवृत किये प्रतीत होता है, वह उसका छन्द ही है ।

छन्द का स्वरों से सम्बन्ध

छन्द से आबद्ध तत्त्व या देवता में नियमित गति का संचार होता रहता है । नियमित गति या नियमित मात्रा में गति से नियमित अक्षर या ध्वनि जो प्रकट होती है वह भी छन्दोबद्ध स्वतः हो जाती है, और वह ध्वनि अपना स्वर भी स्वयं प्रकट करने लगती है । स्वरों की अभिव्यंजना से दो प्रकार की प्रगति प्रारम्भ होती है । स्वर में रस होता है । रस की विविधता से स्वरों की विविधता प्रकट होने लगती है और स्वरों की विविधता से छन्दों के भेद भी प्रकट होने लगते हैं । गायत्री, उष्णिगादिसप्त छन्द स्वर भेद के साथ हैं । स्वर सात रूप में विभक्त हो जाने से छन्दों के भी सात भेद हो जाते हैं । षड्ज का गायत्री से, ऋषभ का उष्णिक् से, गन्धार का अनुष्टुप् से, मध्यम का बृहती से, पंचम का पंक्ति से, धैवत का त्रिष्टुप् से और निषाद का जगती से सम्बन्ध है । ये सप्त स्वर अपने छन्द से सम्बन्धित हैं । स्वरों को छन्द रूप से मात्रा कालादि में आबद्ध होना अनिवार्य हो जाता है । अतः छन्द रूप के प्रकट होने पर स्वर, व्यंजनों के साथ अपनी स्थिति बना लेते हैं ।

दैवी छन्दों की रचना

छन्द निर्माण में सबसे छोटी मात्रा—एक मात्रा की होती है । एक अक्षर की स्वयं स्थिति है । उसकी गति है । उसकी व्यक्ति एवं व्याप्ति का भी क्षेत्र है । अतः एक मात्रा या अक्षर का भी छन्द स्वीकार करना पड़ता है । सबसे प्रथम छन्द गायत्री है, अतः एकाक्षर का छन्द गायत्री हुआ । उस एकाक्षरा गायत्री छन्द का शब्द मानवी नहीं था । देवता का ही था जो अपने आदि मूल स्थान से विराट् में क्रमशः देवत्व एवं ऋषित्व को प्राप्त कर प्रकट हो रहा था । अतः वह एकाक्षरा गायत्री छन्द देवता का होने से दैवी गायत्री छन्द बना । दो दैवी अक्षरों से दैवी उष्णिक् छन्द बना । तीन दैवी अक्षरों से दैवी अनुष्टुप् छन्द बना । चार दैवी अक्षरों से दैवी बृहती छन्द, पांच से दैवी पंक्ति, छः से दैवी त्रिष्टुप् और ७ दैवी स्वरों या अक्षरों से दैवी बृहती छन्द बन गया ।

ब्रह्माण्ड में दैवत तत्त्व एवं ऋषितत्त्व का चयन या व्याप्ति का प्रारम्भ दैवी क्रम से होता है । अतः एक देव की व्याप्ति विविध रूपों में प्रकट हो रही है । दैवी छन्द आधारभूत षड्जादि सप्त स्वरों एवं अकारादि अक्षरों में व्याप्त होने से उनके द्वारा अनेक स्वरों एवम् अनेक अक्षर समूहों का निर्माण अपने-अपने छन्द में होने लगता है । वृद्धि एवं क्षय-क्रम से शब्दों में वृद्धि तथा क्षय होता है और उससे शब्द का निखरा हुआ, परिष्कृत एवं अन्तिम स्वरूप स्थिर हो जाता है ।

आसुरी छन्दों का निर्माण

अक्षरों से पदों के निर्माण में लोपागम क्रिया होती है । छन्द की भाषा में वही आसुरी और दैवी छन्द क्रम है । लोपविधि आसुरी छन्द क्रम है जिसमें क्रमशः ह्रास है । आसुरी छन्द का प्रथम छन्द आसुरी गायत्री १५ अक्षरों की होती है उसमें क्रमशः एक-एक अक्षर, मात्रा या संस्था का लोप होने से क्रमशः १४ अक्षर का उष्णिक्, १३ अक्षर का अनुष्टुप्, १२ अक्षर का बृहती, ११ अक्षर का पंक्ति, १० अक्षर का त्रिष्टुप् और ९ अक्षर का आसुरी जगती छन्द बनता है ।

आर्षी एवं प्राजापत्य छन्दों का निर्माण

आगमविध दैवी छन्दों का क्रम है जिसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती है जैसा कि पूर्व ही दैवी

छन्दों का एक-एक वृद्धि का क्रम बताया है। लोपागम से वर्ण, विकारों को प्राप्त होकर अपने स्वरूप की वृद्धि करके और भी सुदृढ़ स्थिति बनाते हैं। दो अक्षरों या स्वरों के मेल से जिन अक्षरों का निर्माण होता है वे उनसे उत्पन्न होने से प्रजापति धर्म को प्रकट करते हैं। यही छन्दों की प्राजापत्य स्थिति है। प्राजापत्य स्थिति में छन्दों में वृद्धि का ही क्रम चलता है। दैवी क्रम में भी वृद्धि का भाव है। परन्तु दैवी में एक-एक का क्रमशः योग है और प्राजापत्यस्थिति में जैसे सन्तान भाव से वृद्धि विशेष होती है उसी प्रकार चार-चार की वृद्धि का क्रम चलता है। उसमें प्रथम छन्द प्राजापत्य ८ गायत्री अक्षरों की होती है और उष्णिक् १२ अक्षरों का, बृहती २० अक्षरों का, पंक्ति २४ अक्षरों का, त्रिष्टुप् २८ अक्षरों का और प्राजापत्य जगती छन्द ३२ अक्षरों का होता है। इस प्रकार दैवी, आसुरी एवं प्राजापत्य छन्दों के सम्मिलन से ज्ञानमयी, ज्ञानदात्री रचना होती है। वह ऋषि युक्त, ज्ञान एवं तर्कयुक्त होने से आर्षी छन्दों में परिणत हो जाती है।

आर्षी छन्दों से याजुषी छन्दों में आरोहण

ये आर्षी छन्द गायत्री से जगती तक २४ से ४८ अक्षरों की या विश्व की मात्रा में अपना स्थान बना लेते हैं या स्थित हो जाते हैं। विश्व का विभाजन अक्षर मात्राओं की स्थिति के कारण छन्दों द्वारा होता है। आर्षी छन्दों से विश्व का विविध प्रकार से दैवत क्रम से ज्ञान हो जाता है। परन्तु जब तक— 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ० १।१६४।३९) उस परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती तब तक वास्तविक उपलब्धि नहीं होती। अतः आर्षी छन्दों से ऊपर ब्राह्मी छन्दों में प्रवेश के लिए प्रथम उन अक्षरों का याजुषी होना—यजनीय प्रभु के लिए उनकी भी याजुषी स्थिति होना आवश्यक है।

याजुषी से साम्नी और आर्षी छन्दों में आरोहण

उन मन्त्रों के शब्दों में यजुःभाव यजन की सामर्थ्य होनी चाहिये। यजन सामर्थ्य से केन्द्र से परिधि की ओर गति होती है और वह गति पुनः आवर्त्तन क्रम से प्रत्यावर्त्तित होकर केन्द्र और परिधि के मध्य तत्त्वों की पुष्टि करती है। यजन सामर्थ्य के अतिरिक्त साम्नी भाव, समत्व एवं शान्ति की सामर्थ्य भी होनी चाहिये और उसमें आर्च्ची भाव, स्तुति का भाव भी होना चाहिये। अर्थात् जितने अक्षरों में या मात्राओं में यजन, शान्ति एवं स्तुति सामर्थ्य परमात्मा के प्रति हमारी प्राण सामर्थ्य के अनुसार व्याप्त हो सकती है एवं प्रभावशील हो सकती है, उस सामर्थ्य के अनुसार व्याप्त क्षेत्र याजुषी, साम्नी और अर्च्ची छन्द कहलाते हैं और इन तीनों का यजुः, साम एवं ऋक् आदि मूल एवं महदाशय ब्रह्म ही है। अतः तीनों ऋक् यजुः एवं साम छन्दों का जिसमें पूर्ण समावेश हो जाता है वह ब्रह्माण्ड का ब्राह्मी क्षेत्र है। वह ब्राह्मी छन्द से व्याप्त है। अतः छन्दों से सृष्टि के पदार्थों से ब्रह्म पर्यन्त साधनापूर्ण करनी चाहिए।

छन्द से मन्त्र का दर्शन

देवता एवं ऋषि से युक्त छन्द अपने-अपने विविध क्षेत्रों के अनुसार अपने-अपने केन्द्र पर जिस प्रकार गति करते हैं उससे उनमें जो स्वर, संगीतमय ध्वनि उत्पन्न होती है, वह उस क्षेत्र का शाश्वत शब्द—नित्य शब्द—होता है। वह शाश्वत शब्द अपने जिस आश्रय से, जिस क्षेत्र में प्रकट होता है, उसमें उसका रहस्य ज्ञान भरा है। नित्य या शाश्वत शब्दों के अर्थ भी नित्य ही हैं। ब्रह्माण्ड के विविध क्षेत्रों के केन्द्रों में जो शाश्वत ध्वनि व्याप्त होकर ज्ञान प्रदान करा रही है, वह ध्वनि एवं ज्ञान अपने आदि मूल परमात्मा के आश्रय से ही है। अतः वही परमात्मा उस वाणी का दाता, प्रकटकर्त्ता एवं ज्ञान

का आश्रय है। इस प्रकार जो विचार या ज्ञान देवता, ऋषि, छन्द एवं स्वर से आबद्ध होकर प्रकट होगा वह हमारे मनन का विषय होने से मन्त्र संज्ञक ही है और ऐसा मन्त्र समूह उस परम पुरुष, परमात्मा का ही होगा—अन्य किसी का नहीं।

मन्त्रराशि वेद

पूर्वोक्त मन्त्र समूह या मन्त्रराशि पूर्ण ज्ञानमय एवं ज्ञान या दर्शन योग्य होने से वेद संज्ञक है। वेद का अर्थ ज्ञान है। परन्तु जो पूर्ण ज्ञानवान् परमात्मा का ज्ञान विश्व के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रवाहित हो रहा है, उसका जो प्रकट करने वाला शब्दार्थ सम्बन्ध युक्त शब्द है, वह पूर्ण रूप से वेद ही कहलाने योग्य है। अतः वेद सत्य ज्ञान है और सत्य विद्याओं का भण्डार है। उस विद्या की निधि का अन्त नहीं। उसका वह अनन्तत्व, उसके एक-एक मन्त्र में, उसके एक-एक चरण में, उसके एक-एक पद में और उसके एक-एक अक्षर में भी दृष्टिगोचर होता है एवं सदा दृष्टिगोचर होता भी रहेगा। अतः वेद कभी न जीर्ण होने वाला, सदा जीवन, प्रेरणा एवं ज्ञान देने वाला शाश्वत स्रोत है। "न ममार न जीर्यति" (अथर्व० १०-८-३२)

दवी वाणी में वेदों का प्रकट होना

ब्रह्माण्ड की रचना में प्रकृति के माध्यम से जिस ज्ञान विज्ञान या विद्याओं का दर्शन होता है, वे नाम रूप से विभक्त हैं। नाम शब्दमय हैं। शब्द अर्थमय हैं। नाम और रूप की स्थिति या उसका जीवन अपने अन्दर से ध्वनि को प्रकट करता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के ज्ञान के लिए, ब्रह्माण्ड में अपने-अपने क्षेत्र में जो एक अव्यक्त भाषा में ध्वनि प्रकट हो रही है उसको पिण्ड में—मानुषी देह के माध्यम से प्रकट किये विना जीवन अपूर्ण ही रह जाता। अतः परमात्मा ने ब्रह्माण्ड के ज्ञान को मनुष्यों के हित के लिए दैवी वाक् में आदि सृष्टि में चार ऋषियों के माध्यम से उस वेद को वैखरी वाणी में भी प्रकट किया। इस वेद वाणी द्वारा ऋषियों ने ब्रह्माण्ड में दैवत तत्त्वों को उनके ऋषि अर्थात् तर्कनामय ज्ञान शक्ति से अपने-अपने क्षेत्र में दर्शन करने की सामर्थ्य प्राप्त की। यही वेद वाणी—ज्ञान, कर्म, उपासना एवं विज्ञान भेद से ऋक्, यजुः, साम एवम् अथर्व नाम से लोक में व्यवहृत हुई।

मन्त्र एवं उनके देवता

यही मन्त्र या ज्ञानराशि वेद—देवताओं के क्रम से पृथक्-पृथक् रूप में विश्व की महान् विद्याओं एवं विज्ञान का भंडार है। विश्व का समस्त ज्ञान दैवत विज्ञान में निहित है। विश्व के संचालन एवं रचना क्रम में इसी दैवतवाद की क्रमानुसार शक्ति एवं सामर्थ्य निहित होकर कार्य कर रही है। अतः वेद मन्त्रों के देवता, ऋषि, छन्द, स्वर ज्ञान पूर्वक अध्ययन से वेद का रहस्य ज्ञात होता है और उसका प्रत्यक्ष दर्शन विश्व में अपने-अपने स्थान पर हो जाता है।

सब मन्त्रों का एक देव

परमात्मा सब से महान् देव है। उसकी व्याप्ति सर्वत्र है। अणु-परमाणु से लेकर अनन्त आकाश और उससे भी परे वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। अतः उसका देवत्व भी सर्वत्र विद्यमान है। ऐसी स्थिति में बिना देवता के विश्व का कोई भी स्थान हो ही नहीं सकता। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व देवतामय है। उस महान् देवता की विविध शक्तियों के, उनके विविध स्थानों में, उनकी व्याप्ति के क्षेत्र एवं विविध रूपों के कारण वही परमात्मा विविध नाम निर्देश से अनेक देवता वाचक हो जाता है। व्यष्टि रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीयमान देवता, समष्टि रूप में एक ही महान् देव की पूर्ति करते हैं और उसके अङ्गवत्

ही हैं। अतः मन्त्रों के पृथक्-पृथक् देवता होते हुए भी सब मन्त्रों से एक ही देव की उपासना की जाती है।

मन्त्र एवं छन्द

जब अखिल ब्रह्माण्ड देवताओं से पूर्ण है तो उसमें व्याप्त देवताओं का अपना-अपना क्षेत्र होना भी अनिवार्य है। अतः दैवत ज्ञान के लिए और उनके क्षेत्रों का निर्देशन करने के लिए जो ज्ञान रूपी मन्त्र परमात्मा ने दिया वह छन्द सीमा सहित होना चाहिये। इस प्रकार विचारने से समस्त ब्रह्माण्ड में देवताओं की व्याप्ति स्वतः सिद्ध ज्ञात होने लगती है। और साथ ही तत्तद् देवताओं के मन्त्र भी अखिल ब्रह्माण्ड में अपने अपने प्रतिपाद्य विषय—देवता—के साथ व्याप्त हैं यह भी ज्ञात अथवा सिद्ध हो जाता है। वेद में—'ब्रह्मायं वाचः परमें व्योम' तथा ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्—कहकर वेद की व्याप्ति प्रकट की गई है। इस प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड वेदमन्त्रों से व्याप्त होने से उनकी भी क्रमानुसार व्याप्ति प्रकट होती है। मन्त्रों की वह क्रमानुसार व्याप्ति पृथक्-पृथक् छन्दों में प्रकट होती है।

मन्त्र लयबद्ध हैं तालबद्ध नहीं

वेद मन्त्र वर्णिक छन्दों में हैं अतः लयबद्ध हैं। उनका लयबद्ध उच्चारण एवं गान होता है, परन्तु तालबद्ध नहीं होता। वैदिक छन्दों से निष्पन्न लौकिक छन्द—ताल बद्ध भी हैं क्योंकि वे मात्रिक छन्दों में होते हैं जो मात्राबद्ध हैं, वे तालबद्ध हो जाते हैं। वर्णिक छन्द संगीत की एक राशि है। मात्रिक छन्द उस राशि से विविध कलात्मक रूप में प्रकट होता है। वर्णिक छन्द संगीत या लय गान के केन्द्र हैं और मात्रिक छन्द उनकी परिधियां हैं। एक केन्द्र की सहस्रों परिधियां हो सकती हैं। अतः सहस्रवर्त्मा सामवेदः—यह उक्ति घटित हो जाती है। केन्द्र में परिधि अप्रकट रहती है, अतः वर्णिक छन्दों में ताल का, जो शब्द को या लय को परिधि में करता है उसका प्रत्यक्ष अभाव दीखता है। लय जब प्रारम्भ होती है तो केन्द्र से परिधि की ओर जाती है। केन्द्र से हटने पर उसमें पहले यति, विराम आदि ही प्रकट होते हैं और परिधि तक पहुंचने पर उसमें तालें भी प्रकट हो जाती हैं।

आदि संगीत

साम प्रथम रव है। वह सृष्टि का प्रथम संगीत है जो कि अपनी योनि—ऋक् से उठता है। अतः उसमें यति या विराम नहीं है, ताल भी नहीं है। साम के ही संगीत से लौकिक संगीत का जन्म हुआ और उसमें मात्राओं के विकास के लिए उन्मुक्त अवकाश मिल जाता है। अतः उसमें ताल स्वभावतः प्रकट हो जाती है। सामगान केन्द्रीय संगीत है जो अपने केन्द्र से कुछ ऊपर उठकर पुनः केन्द्र की ही ओर निपतित हो जाता है। यह निपतन क्रम ही उसका प्रमुख स्वभाव है। अतः साम संगीत में स्वरों का अवरोह क्रम ही प्रमुख रूप से प्रदर्शित होता है। तालबद्ध संगीत परिधिबद्ध होने से वह केन्द्र से विपरीत दिशा में अर्थात् बाहर की ओर गति करता है। यह उसका आरोहण क्रम है। अतः लौकिक या शास्त्रीय संगीत केन्द्र से परिधि की ओर उत्तरोत्तर स्वरों के आरोहण क्रम से बढ़ता है।

संगीत का प्रभाव

इन दोनों प्रकार के संगीत की गति का प्रभाव हमारे ऊपर भी तदनुकूल ही पड़ता है। अतः साम संगीत सृष्टि के मूल तत्त्व की ओर अर्थात् परमात्मा की ओर ले जाता है, अतः अन्तर्मुख वृत्तियों का जनक है। केन्द्र अव्यक्त होता है, सूक्ष्म होता है, अचाक्षुष होता है। अतः साम संगीत अव्यक्त की ओर वृत्तियों को निपतित करता है एवं केन्द्र की ओर आकृष्ट करता है और लौकिक संगीत जीवन्त की

सब भावनाओं, वृत्तियों और रसों का स्पर्श करता है, अतः वह बाह्य वृत्तियों का उद्बोधक है।

बाह्य प्रवृत्तियां राग जनक हैं। राग की ताल जीवन की बाह्य वृत्तियों की ताल से मेल करती एवं स्पर्श करती जाती है और बाह्य जीवन को राग रंजित कर अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वह अव्यक्त से व्यक्त रूप में जाग्रत् हुई मोहिनी है, जिसके ताल पर संसार नृत्य कर रहा है और जिसके ताल के साथ शरीर, प्राण और मन भी ताल देने लगते हैं।

साम संगीत का प्रभाव

साम संगीत से मूल पर या केन्द्र पर प्रभाव पड़ता है। विश्व में छोटे-बड़े अनेक केन्द्रीय तत्त्व हैं। केन्द्रीय तत्त्व ही देवतावाची हैं। अतः साम संगीत से देवताओं पर प्रभाव पड़ता है। लौकिक संगीत जीवन की बाह्य परिधियों के अर्थात् ऐन्द्रियिक विषयों के रसों तक मन को ले जाता है जो इस शरीर रूपी बाह्य परिधि की पराकाष्ठा है। यहां आकर वह संगीत अपनी पूर्ण कलाओं में अपनी अनुभूति प्रकट करता है वह संगीत जो इन्द्रियों के विषयों से अतीत हो वह सर्व सामान्य और बहिर्मुख वृत्ति वाले मनुष्यों के लिए नीरस, प्रभावशून्य और आकर्षणहीन प्रतीत होने लगता है। परन्तु वह दैवी आनन्द से परिपूर्ण हैं। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कराता है। मात्राबद्ध संगीत तालबद्ध होता है। तालबद्ध संगीत कालबद्ध होता है। ताल के साथ काल भी रहता है। कालबद्ध नश्वर होता है। कालबद्ध संगीत भी नश्वर होता है। अतः लौकिक या शास्त्रीय तालबद्ध संगीत नश्वर गीत है। उसका रस अस्थिर है। अक्षर कालातीत है। अतः वर्णिक छन्दों में आबद्ध वेदमन्त्रों का संगीत अनश्वर है—शाश्वत है।

विश्व में मन्त्र, देवता, ऋषि, स्वर एवं छन्दों की व्यापकता

वैसे तो एक ही देव है—अर्थात् परमात्मा। एक ही मन्त्र है—अर्थात् प्रणव—ओ३म्। एक ही छन्द है अर्थात् गायत्री और एक ही स्वर है—अर्थात् षड्ज। दूसरे रूप में एक ही स्वर—अर्थात् अकार है एवं त्रैस्वर्य रूप में एक ही प्रधान स्वर उदात्त है। उसी प्रकार वही एक देव अपनी विविध रचना और दिव्यता से विविध रूपों में प्रकट हो रहा है। ऐसी दशा में उसी के अनुसार देवता भेद से मन्त्र और छन्द भी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त विश्व—मन्त्रों से, देवताओं से, ऋषियों से, छन्द से और स्वरों से परिपूर्ण प्रतीत होने लगता है।

इस दैवतक्रम को, छन्दक्रम को, ऋषिक्रम को और स्वरक्रम को जानना और उसका विश्व में दर्शन करना तथा उसका विविध प्रकार से उपयोग लेने का ज्ञान आवश्यक है। इसी की साधना के लिए पिण्ड की पृष्ठभूमि पर इसकी साधना करके अपने देह को दैवकोश बना कर विश्व के विविध देवता, ऋषि एवं छन्दों में अपने को और अपने में उनकी अनुभूति या साक्षात्कार करना तथा इनका ज्ञान प्राप्त करना वेद के विज्ञान की साधना का वैशिष्ट्य है। आज हम विश्व का थोड़ा सा ज्ञान वर्तमान विज्ञान से कठिनता से प्रचुर धन व्यय करके जान पाते हैं और जहां अर्थाभाव हो जाता है वहाँ हम ज्ञान-प्राप्ति में असमर्थ हो जाते हैं। परन्तु वैदिक विज्ञान प्राप्ति के लिए वेद ने शरीररूपी परम धन दिया है। इसके अन्दर साधना से समस्त भुवन का ज्ञान हो जाता है।

इसी ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग यज्ञों के रूप में प्राचीन समय में प्रचलित हुआ। वेद की विद्याओं या वेद के विज्ञान के अनुसन्धान कार्य में याज्ञिक क्रमों को आधारभूत मान कर उनके विधिवत् अनुष्ठान से विश्व के समस्त तत्त्वों को अपनी कामना की सिद्धि के योग्य बनाया जा सकता है।

देवता, ऋषि, छन्दादि के वर्तमान अर्थ

वेद के देवता, छन्द एवं ऋषि आदि शब्दों को समझने के लिए हमें उनके सीमित अर्थों या वर्तमान में व्यवहृत अर्थों के साथ उनसे परे भी जाना होगा। वर्तमान समय में ये शब्द अपने महान् अर्थ को छोड़कर एक सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त हो रहे हैं और सीमित अर्थ में ही ग्राह्य किये जा रहे हैं। उदाहरणार्थ—देवता शब्द से किसी विग्रहवान् व्यक्ति की कल्पना, ऋषि शब्द से किसी विग्रहवान् व्यक्ति मात्र की ही कल्पना तथा छन्द शब्द से केवल मात्र गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि वर्णिक या मात्रिक छन्दमय पद्य रनचा की कल्पना का ग्रहण हो रहा है। जब शब्दों के यौगिक अर्थों की उपेक्षा होने लगती है तब शब्द के रूढ अर्थ बलवान् होने लगते हैं और उससे कालान्तर में अनर्थ की उत्पत्ति होने लगती है। परन्तु वेद में यौगिक अर्थों की ही प्रधानता है।

छन्द का अन्य व्यापक अर्थ

परन्तु इन शब्दों के उपरोक्त रूढ, योगरूढ अर्थों के अतिरिक्त भी यौगिक अर्थ बहुत व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। 'छन्दांसि छादनात्'—की व्युत्पत्ति से प्रत्येक वस्तुजात जो अपनी किसी भी प्रकार की व्याप्ति, क्षेत्र या परिधि रखती है वह किसी न किसी छन्द में है। जो व्याप्ति या परिधि, जिसके रमण का, विचरण का या स्थिति का क्षेत्र है, वही उसका छन्द है। जिसका जो छन्द है उसका वह अतिक्रमण भी नहीं कर सकता। पृथिवी स्वयं छन्दमय है और उसकी गतियां भी छन्दमय हैं। सूर्य का भी छन्द है। वह अपने छन्द का अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही उसका व्रत है। वह व्रत का उल्लंघन नहीं कर सकता है। वेद ने इसीलिए कहा—

पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः ···। (यजु० १४।१९)

पृथिवी छन्द है क्योंकि इसमें 'अग्निदेवता' की व्याप्ति रहती है या यह अग्नि की व्याप्ति का क्षेत्र है। अन्तरिक्ष छन्द है। इस छन्द में वायु का छादन कर्म होता है। 'वातो देवता' का यह क्षेत्र है। द्यौ छन्द है। इस छन्द में 'सूर्यो देवता' की व्याप्ति है (यजुः १४।२०)। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, इन्द्रादि देव अपने व्रत के अनुष्ठान में—अर्थात् अपने छन्द से आबद्ध होकर रहते हैं। अतः समस्त विश्व अपने-अपने अक्षर, मात्रा, पद, क्रम आदि से सुसम्बद्ध नियम में पूर्णरूप से छन्दमय है। वेद ने इसी स्थिति को 'गायत्रे त्रैष्टुभं जगत्' रूप से प्रकट किया है।

ऋषि का अर्थ तर्क

मन्त्र के अर्थ दर्शन की या तर्कना शक्ति को भी ऋषि कहते हैं। वेदमन्त्रों का अध्ययन ऋषि देवता, छन्द तथा स्वर ज्ञानपूर्वक करना चाहिए। बिना ऋषि जाने वेदमन्त्रों का यथार्थ अर्थज्ञान नहीं होता। क्योंकि ऋषि का तात्पर्य उनका अपने क्षेत्र में पूर्ण तर्कनामय, ज्ञानशक्ति सम्पन्न होना है। कोई भी मन्त्र ऐसा नहीं है जिसका कोई ऋषि न हो। विविध तर्क एवं ज्ञान-प्रकार से या विविध प्रकार की दर्शनशक्ति से ज्ञेय की प्राप्ति के विविध भेद, विविध ऋषि नामों से वेदमन्त्रों में प्रतिपादित विद्याओं का संकेत करते हैं।

प्रधान प्रतिपाद्य विषय को देवता कहते हैं। प्रतिपाद्य विषय के अन्तर्गत अनेक गुणों में से एक गुण या विद्या का प्रतिपादक ऋषि है। अतः ऋषि-ज्ञान के विना वेद का रहस्य प्रकट नहीं होता। समस्त मन्त्र ऋषियुक्त हैं, अतः समस्त वेद, ज्ञान-विज्ञान, तर्क और अर्थों से परिपूर्ण हैं। उनमें कोई भी त्रुटि या दोष नहीं है। उनमें कुछ भी असंगत और असम्बद्ध नहीं है। जिन ज्ञानवान्, तर्कनाप्रधान, मानव

ऋषियों ने उन मन्त्रों के अर्थों को जिस विचारधारा से विचारा या साक्षात्कार किया, उनका आर्षत्व भी उसी नाम से विख्यात हुआ।

ऋषि का अर्थ प्राण

प्राणों को भी ऋषि कहते हैं। समस्त जगत् में महान् वैश्वानर प्राण ओतप्रोत है। विश्व के अन्दर जो दैवतक्रम से एवं छन्दक्रम से रचना है उसी क्रमानुसार, उसी विश्वप्राण के भी पृथक्-पृथक् नाम एवं संज्ञाएँ ऋषि नाम से भी हैं। अतः ऋषि भी समस्त विश्व में व्याप्त हैं। वेद में—'अन्तरिक्ष ऋषयः' कहकर अन्तरिक्ष में भी उनकी व्याप्ति और क्रियाओं का निर्देश किया है।

यह ऋषितत्त्व देवताओं का प्राण है। प्राणहीन देवता में देवत्व ही क्या ? ऋषिहीन देवता की कोई स्थिति नहीं। देवता और ऋषिहीन मन्त्र की भी कोई स्थिति नहीं है। मन्त्र के साथ देवता की स्थिति अनिवार्य है। इस कारण विना ऋषि और देवता ज्ञान के मन्त्र के अर्थ का यथार्थ दर्शन नहीं हो सकता है। अतः ऋषि का तात्पर्य विश्व के प्राणतत्त्व तथा मन्त्र की दर्शनशक्ति का भी होता है।

देवता

दिव्य गुण विशिष्ट तत्त्व, जिनकी एक या अनेक मन्त्रों से दिव्यता भासित हो रही है उनका ब्रह्माण्ड में एक या अनेक छन्दों से क्षेत्र परिधिमय है—अर्थात् नियत क्षेत्र है। उन नियत क्षेत्रों में, उसके प्राणों के संचार या प्राणों की व्याप्ति से उसका स्वर भी प्रकट हो रहा है। इस प्रकार छन्द, ऋषि एवं स्वरादि से आबद्ध जो एक विशिष्ट तत्त्व है वह देवता संज्ञक है। उसमें दिव्यता है। दातृत्व शक्ति है। यजन शक्ति है। यह उसका स्वभाव है एवं धर्म ही है।

देवताओं का यज्ञ

उन देवताओं का यज्ञ सृष्टि के प्रारम्भ से ही हो रहा है और प्रलय पर्यन्त होता ही रहेगा। उस महान् यज्ञ का ब्रह्मा चतुर्वेदविद् साक्षात् परब्रह्म ही है। उसका अध्वर्यु अग्नि है। होता वायु है। सूर्य उद्गाता है। ऋग्यजु साम अथर्व उस यज्ञ की चार दीप्तिमान् शिखाएँ, शिखरवत् या शृंगवत् हैं। प्रातः, मध्याह्न एवं सायं उसके तीन सवन हैं, अर्थात् सोम निष्पन्न करने के समय हैं। प्रातः एवं सायं, दिन और रात्रि, उत्तरायण एवं दक्षिणायन, स्वाहा और स्वधा, आदि और अन्त, ऋत और सत्य, ईक्षण और तप, रयि और प्राण, समुद्र और अर्णव, पृथिवी और द्यौ, अशनि और इन्द्र, प्राची और प्रतीची, दक्षिणा और उदीची, ध्रुवा और ऊर्ध्वा, सृष्टि और प्रलय, अणु और महत् उस सृष्टि यज्ञ के दो शीर्ष हैं।

उस महान् यज्ञ की—समिद्ध अग्नि की—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरूपा आदि सप्त जिह्वाएँ ही उस यज्ञ के सप्त हस्त हैं, अथवा ये ही सप्त होता रूप से सप्त हस्त हैं। वे ही सप्त हस्त या होता सूर्य की सप्त किरणों के रूप में विद्यमान समस्त विश्व में से रस को खींचकर अपने हिरण्यमय अमृत पात्र में रखकर पुनः समस्त विश्व को नव रस से और नव प्राण से पूर्ण करती रहती हैं। उस महान् यज्ञ का मधुर और अनादि संगीत सृष्टि की रचना, सृष्टि की स्थिति और प्रलय क्रियाओं में पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ में त्रिधा से विश्व भर में गुंजायमान होता रहता है।

वैदिक विज्ञान में ऋषि देवतादि ज्ञान की आवश्यकता

वेद की विद्या या वेद के विज्ञान में सबसे प्रमुख आवश्यकता दैवत ज्ञान की है। देवता के गुण

धर्मों को जानकर उनसे अनुकूल व्यवहार सिद्ध करने के लिए, उनके ब्रह्माण्ड में स्थानों को ज्ञात करने की आवश्यकता है। एक देवता के विभिन्न स्थानों से जो-जो विविध गुण प्रकट हो रहे हैं उन-उनसे ही लाभ लेने के लिए मन्त्रों के ऋषि, छन्द और स्वरों का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि ऋषि एवं छन्दों द्वारा देवता के गुणों का विशिष्ट सीमित क्षेत्रों में विभाजन हो जाता है, जिससे इच्छित प्रयोग करने में सुविधा होती है। छन्द क्रम से ब्रह्माण्ड का विभाजन कर लेने पर वैदिक विज्ञान के प्रयोगात्मक व्यवहार में अत्यन्त सुगमता हो जाती है।

छन्दों से विश्व का विभाजन

जिस प्रकार किसी ग्रन्थ का विभाजन अध्याय, परिच्छेद, पृष्ठ, परा, पंक्ति आदि में होता है और हम इस व्यवहार से ग्रन्थ के इच्छित भाग को प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं तथा जिस प्रकार इस विशाल पृथिवी के प्रत्येक स्थान का नाम रखने की कला से जिस देश, प्रान्त, जिला, नगर, मुहल्ला, गली, मकान नम्बर, मकान नाम तथा उसके भी कमरे नम्बर के ज्ञान से जहां जिससे सम्पर्क स्थापित करना होता है कर लेते हैं, उसी प्रकार विश्व के प्रत्येक स्थान का विभाजन एवं उनका नाम तथा स्थिति का ज्ञान छन्दों से होता है।

छन्दों की महत्त्वपूर्ण रचना

छन्द की सबसे छोटी इकाई एक अक्षर की है। परमात्मा स्वयं भी अक्षर है। इस प्रकार क्रम से एक से दो, दो से तीन, तीन से चार अक्षर वृद्धि को प्राप्त होते हुए छन्द २४ अक्षरों में आ जाते हैं, तब छन्दों का एक उत्तम, पूर्ण एवं प्रारम्भिक व्यवहार योग्य छन्द गायत्री के रूप में अपना आवेष्टन हमारे चारों ओर बना देता है। सृष्टि-निर्माण भी दार्शनिक लोग चौबीस तत्त्वों से मानते हैं। अतः चौबीस अक्षरों का छन्द हो जाने पर उस छन्द की विश्व के निर्माण के साथ साम्यता हो जाती है। इस अवस्था में जिस प्रकार हम प्रकृति के चौबीस तत्त्वों से विश्व की रचना और अपनी रचना को आबद्ध पाते हैं उसी प्रकार हम इस गायत्री छन्द से अपने को और विश्व को मूल रूप से आबद्ध पाते हैं।

छन्दों का विश्व रचना से सम्बन्ध

इस क्रम से छन्दों की रचना दो प्रकार से होती है। गायत्री आदि सप्त स्वरयुक्त छन्द दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, आर्षी, याजुषी, आर्षी और ब्राह्मी इन आठ छन्द प्रकारों में विभाग को प्राप्त होकर प्रमुख रूप से ५६ विभागों को प्राप्त हो जाते हैं और ये ही छन्द निचृत्, विराट्, भुरिक् और स्वराट् इन चार भेदों को प्राप्त होकर २७७ प्रकार के हो जाते हैं। यद्यपि ५६ में ५ का गुणा करने पर २८० की संख्या प्राप्त होती है तथापि एकाक्षर दैवी गायत्री में एक से न्यून अक्षरों का अभाव हो जाने से निचृत् दैवी गायत्री और विराट् दैवी गायत्री की रचना का अवकाश ही नहीं है और द्व्यक्षरा दैवी उष्णिक् में एक अक्षर कम का छन्द बनाने की सामर्थ्य होने से निचृत् दैव्युष्णिक् छन्द तो बन सकेगा, परन्तु विराट् दैव्युष्णिक् द्व्यक्षर न्यून छन्द बनाने की सामर्थ्यहीनता है। इस प्रकार २८० की संख्या में से ३ छन्दों की यथार्थ स्थिति में न्यूनता होने से २७७ प्रकार के छन्दों की विश्व में व्याप्ति एवं उनका विभाजन तथा स्थान हो जाता है।

छन्दों से विश्व का विभाजन

छन्दों का यह रचनाक्रम सृष्टि में अद्भुत है। ब्रह्माण्ड के विभाजन करने में पूर्व से पश्चिम की ओर दैवी आदि ८ छन्दों के स्तरों में विभाजन हो जाता है। अब उत्तर से दक्षिण की ओर या ऊर्ध्व

से अध: की ओर गायत्री आदि सात छन्दों में विश्व को विभक्त कर देने पर जो दैवी गायत्री, ब्राह्म्-युष्णिक, प्राजापत्या त्रिष्टुप्, आर्ची अनुष्टुप् आदि जो छन्दों के भेद बन जाते हैं वे ब्रह्माण्ड में अपने नियत आयतन क्षेत्र के बोधक हो जाते हैं। उन नियत आयतन क्षेत्रों के और भी अधिक सूक्ष्म भेद करने पर प्रत्येक छन्द और भी ४-४ भेदों को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् प्रत्येक छन्द ५-५ प्रकार का हो जाता है।

ये भेद, नियत छन्दों में एक अक्षर न्यून होने से निचृत्, एक अक्षर अधिक होने से भुरिक्, दो अक्षर न्यून होने से विराट् और दो अक्षर अधिक होने से स्वराट् संज्ञक होते हैं। इसीलिए १ गायत्री, २ निचृद्गायत्री, ३ विराड् गायत्री, ४ भुरिग्गायत्री और ५ स्वराड्गायत्री ये पांच प्रकार छन्दों के हो जाते हैं और दैवी आदि छन्दों के योग से प्राजापत्या निचृद्गायत्री, याजुषी स्वराड् गायत्री आदि संज्ञक भेद हो जाते हैं।

छन्द की दृष्टि से ब्रह्माण्ड में विचारने पर यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड के किस स्तर पर अर्थात् ब्रह्माण्ड के किस अक्षांश एवं देशान्तर से मन्त्र का सम्बन्ध है। इससे मन्त्रों के छन्दों द्वारा देवताओं की ब्रह्माण्ड के किन-किन क्षेत्रों में व्याप्ति है और कौन-सा ऋषि या प्राणतत्त्व ब्रह्माण्ड में कहां स्थित है यह सुगमता से ज्ञात हो जाता है।

छन्दों की प्रकारान्तर से रचना

इसके अतिरिक्त छन्दों का एक क्रम और भी चलता है। जैसे तालाब में केन्द्र से या किसी स्थान पर आघात से लहरें उठती हैं और समस्त क्षेत्र में उत्तरोत्तर व्याप्त होती जाती हैं, उसी प्रकार आधारभूत छन्द एक केन्द्र से उत्क्रान्ति करता हुआ विश्व में उत्तरोत्तर व्याप्त हो जाता है और उसकी व्याप्ति के स्तर या क्षेत्र विविध छन्द या नामों से सम्बोधित हो जाते हैं।

यह छन्द रचना क्रम सृष्टि की रचना में तत्त्वों के घनत्व का द्योतक है

यह क्रम ४ अक्षरों के प्रथम छन्द — "मा" — से प्रारम्भ होता है और प्रत्येक छन्द ४-४ की वृद्धि से १०४ अक्षरों तक पहुंच जाता है। इसमें २६-२६ छन्द स्तरों और १०४ मात्रा या अक्षर स्तरों में ब्रह्माण्ड विभक्त हो जाता है। इन छन्दों से हुत द्रव्य किन-किन कारण द्रव्यों को प्राप्त कर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर अन्तिम सप्त स्तरों कृति, प्रकृति, आकृति, संस्कृति, अभिकृति और उत्कृति अवस्था तक पहुंच जाता है, यह ज्ञात हो जाता है।

ये अवस्थाएँ सूक्ष्म अपोमय, तरल तरंगयुक्त होती हैं जो ब्रह्माण्ड को चारों ओर से वेष्टित करती रहती हैं। अघमर्षण मन्त्र — "समुद्रादर्णवादधि०—" में जिस समुद्र और अर्णव का उल्लेख है, उनका जल की सूक्ष्म अवस्थाओं से सम्बन्ध है जिनसे सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, संवत्सर आदि सभी की रचना होती है। वे ही स्थितियां—सिन्धुः; सलिलम्, अम्भः, गगनम्, अर्णवः, आपः, समुद्रः इत्यादि छन्द नामों से वस्तुजात की उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अपोमय, तरल तरंगमय प्रकृतियां हैं जो ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण कर रही हैं। इसी प्रकार से विश्व का विभाजन छन्दों में अनेक प्रकार से हो जाता है। जैसा कि वेद में—

पृथिवी छन्दोन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दः। (यजुः १४। १९)

इस मन्त्र द्वारा पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्ष, नक्षत्र आदि को छन्द कहकर नियत क्षेत्रमय बताया गया है।

छन्दमाता गायत्री से छन्दों का उद्गम

ऋग्वेद की सर्वप्रथम ऋचा गायत्री छन्द के रूप में ही है। छन्दों का बाह्य रूप में उद्गम

इसी गायत्री छन्द से होता है, अतः गायत्री छन्दों की अर्थात् वेद की माता है। इसी गायत्री में ४-४ अक्षरों की वृद्धि करने से उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती आदि छन्द बनते हैं। ये ही त्रिधा आबद्ध होने से २१ प्रकार से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ में व्याप्त हो जाते हैं। ये सप्त छन्द ही पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष की रचना में नाना रूपों को धारण कर रहे हैं। वेद में—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः······। (अथर्व० १।१।१)

यह स्थिति छन्दों की प्रकट की गई है। इन सप्त छन्दों के सप्त स्वर युक्त होने से वाणी का क्षेत्र पृथिवी से द्यौ तक समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाता है। छन्दों के और भी सूक्ष्म अवान्तर भेदों से विश्व को और भी सूक्ष्म तथा स्थूल मात्राओं में भी विभक्त किया जा सकता है।

छन्द ज्ञान से लाभ

इस प्रकार छन्दों से भी समस्त विश्व को विभक्त कर लेने पर किसी मन्त्र को लेकर देखना चाहिये कि यह मन्त्र किस छन्द में है। इस छन्द-ज्ञान से यह ज्ञात हो जाता है कि यह ब्रह्माण्ड के अमुक भाग में जो देवता या उसका अंश है और उसके अंश का जो प्राण है उतने मात्र से ही इस मन्त्र का सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए गुरु मन्त्र और दुरित अपाकरण मन्त्र विश्वानि देव० को लीजिये। दोनों का देवता सविता ही है और इन दोनों का छन्द भी गायत्री है। परन्तु ध्यान से देखने पर गुरु मन्त्र का छन्द निचृद्गायत्री है और विश्वानि देव मन्त्र का गायत्री है। निचृद्गायत्री २३ अक्षर का छन्द होता है और गायत्री २४ अक्षर का छन्द है। इसके अतिरिक्त दोनों के ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् गुरु मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है और विश्वानि वेद का नारायण ऋषि है।

छन्द की प्रारम्भिक इकाई गायत्री का निर्धारण

सविता देव सृष्टि में व्यापक है अतः २४ मात्रा के गायत्री छन्दी से अधिक के छन्दों में भी उसके मन्त्र हैं। परन्तु इन दोनों मन्त्रों का सम्बन्ध हमारे से २४ मात्रा या अक्षर की दूरी तक के क्षेत्र में ही है। अतः यह इसी समीप की स्थिति के अन्दर का ही द्योतक है। हमारा शरीर गायत्री छन्द की परिधि में है और हमसे बाह्य क्षेत्र उत्तरोत्तर उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि छन्दों में है। यह व्यक्ति सम्बन्ध से छन्द का क्षेत्र-निर्धारण है। व्यक्ति सम्बन्धी मन्त्र होने से व्यक्ति को केन्द्र मानकर छन्दों का निर्धारण करना होगा और जब सृष्टि सम्बन्ध वर्त्ता होगी तो पृथिवी को केन्द्र मानकर उससे बाह्य क्षेत्र में उत्तरोत्तर छन्दों की कल्पना करनी होगी और पृथिवी को गायत्री छन्द में मानकर चलना होगा। पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्ष जब इस सब विशाल रचना के साथ सम्बन्ध होगा तब गायत्री छन्द का विस्तार पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण मण्डल तक उसकी सीमा मानकर उसके आगे उत्तरोत्तर छन्दों का दर्शन करना होगा।

छन्दों का अर्थ पर प्रभाव

दोनों मन्त्र गायत्री छन्द में हैं अतः दोनों का सम्बन्ध छन्द की सबसे छोटी, परन्तु पूर्ण रचना से अर्थात् शरीर से मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में इन दोनों मन्त्रों का अर्थ अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के सविता के भाग से न समझकर अपने निकटतम से ही सम्बन्ध है। इसीलिए विश्वानि देव मन्त्र का सन्बन्ध हमारे से ही है, दुरितानि परासुव—हमारे दुष्कर्मों को दूर कीजिये और यद्भद्रंतन्न आसुव = जो कल्याण-कारक है वह हमें प्राप्त कराइये—ये दोनों स्थितियां अपने बाह्य शरीर से पूर्ण सम्बद्ध हैं। कर्म शरीर से बाहर से ही होंगे। अतः इसका प्रेरक सविता भी हमारे में ही होना चाहिये या हम उससे आवेष्टित हों।

आत्मा भी शरीर में सविता है और बाह्य सविता का जो प्रकाश हमारे को आवेष्टित किये हुए है जिससे हम त्याज्य एवं ग्राह्य का भेद जान पाते हैं वह भी प्रकाश सविता है अतः छन्द की दृष्टि से यहां देवता के इतने मात्र क्षेत्र से ही सम्बन्ध है।

अब किंचित् ध्यान दें तो प्रतीत होगा कि गुरु मन्त्र २३ अक्षरों में है और विश्वानि देव २४ अक्षर में है। २४ से २३ मात्रा न्यून है अतः २३ अक्षर के मन्त्र का सम्बन्ध शरीर के और कुछ भीतर से ही है। शरीर का बाह्य भाग कर्म प्रधान है और आन्तरिक भाग में विचार का प्राधान्य है। अतः २३ अक्षर वाले गुरु मन्त्र में—धियो यो नः प्रचोदयात्—बुद्धि की प्रेरणा की बात कही गई है और भर्गो देवस्य धीमहि—सविता देव के भर्ग का हम ध्यान करें यह कहा गया है। इसका सम्बन्ध शरीर के अन्तः भाग बुद्धि से ही है।

ऋषि ज्ञान का अर्थ पर प्रभाव

इससे ज्ञात होता है कि सविता देव में अनेक छन्द एवं प्राण हैं अथवा सविता देव के अनेक क्षेत्र एवं ज्ञान के प्रकार भी अनेक हैं। अर्थात् सविता देव के अनेक ऋषि हैं। उसके सम्पूर्ण स्वरूप को अनेक रूपों, विविध स्थानों और अनेक दर्शन शक्तियों से जानने पर ही जाना वा समझा जा सकता है। जिस प्रकार हमारे शरीर में एक ही प्राण नहीं, अपितु दस प्राण हैं और भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्राण कार्य करते हैं, उसी प्रकार देवताओं की विविध कर्तव्य शक्तियां अपने-अपने स्थान पर स्व-स्व सामर्थ्य विशेष से कार्य की क्षमता रखती हैं। वे ही उसके प्राणरूप ऋषि हैं। अथवा एक देव से जो अनेक विद्याओं का प्रकाश होता है, उन विविध विद्याओं के ज्ञान का प्रदर्शन तत्तत् मन्त्र प्रदर्शित ऋषियों से होता है।

इस प्रकार सविता देव में जो अनेक प्राण, ज्ञान या ऋषि निहित हैं, उन अनेक ज्ञान, प्राण या ऋषियों में से विश्वामित्र ऋषि या प्राण, सविता देव में ब्रह्माण्ड की २३ अक्षर व्याप्ति पर गुरु मन्त्र के साथ हैं। क्योंकि यह मन्त्र निचृत् गायत्री छन्द में होने से २३ अक्षर का ही है। २४ अक्षर वाले—विश्वानि देव"—इस मन्त्र के सविता देव में नारायण प्राण है। परन्तु २३ और २४ अक्षरों में सविता देव तो एक ही हैं।

इसी प्रकार से यह भी माना जा सकता है कि ब्रह्माण्ड की प्रत्येक मात्रा या उसके अक्षर व्याप्ति में मन्त्रों की आवश्यकता होती है। और चूंकि ब्रह्माण्ड में २३ अक्षर व्याप्ति वाले क्षेत्र में जो देव जिस प्राण, ज्ञान या ऋषि से ओत प्रोत है, उस रूप में उसका वर्णन करना या ज्ञान कराना परमात्मा को आवश्यक है। अतः छन्दों के निचृदादि भेद मन्त्रों में स्वाभाविक ही हैं और अत्यन्त उपयोगी हैं।

क्या गुरु मन्त्र में छन्द की न्यूनता है ?

कई व्यक्ति कल्पना करते हैं कि गुरु मन्त्र २३ अक्षरों का ही है। परन्तु गायत्री छन्द तो २४ अक्षरों का होता है। इसमें एक अक्षर कम होने से मन्त्र-रचना में कुछ न्यूनता हो गई है। वह अक्षर बढ़ाने से पूर्ण हो जावेगी। अतः उसकी पूर्ति-"वरेण्यं" को—"वरेणियम्"—इस प्रकार कर देते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। २३ अक्षर के छन्द की भी उतनी ही अनिवार्य आवश्यकता और उपयोगिता है जितनी २४ अक्षर के छन्द की। यतः गुरु मन्त्र २३ अक्षरों के प्राण एवं देवता से सम्बन्धित है अतः २४ अक्षर में उसकी रचना करना भी हमें उचित नहीं।

छन्द ज्ञान से ऋषि साधना

२३ अक्षर के गुरु मन्त्र का ऋषि या प्राण विश्वामित्र है जो अपने सविता देव में है। सविता देव में अन्य ऋषि या प्राण भी है। उन प्राणों में से सविता देव के उदय, उन्नति, अन्धकार हरण, अज्ञान के नाश आदि भाव को लक्ष्य में रख कर विश्वामित्र अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति मित्र भाव की साधना के माध्यम से अपनी बुद्धि में विमलता एवं उसके द्वारा सत्कर्मों के विचार तथा प्रेरणा की जागृति की साधना करनी चाहिए।

गुरु मन्त्र के साधक को अपने अन्दर द्वेष बुद्धि, किसी से बदला लेने की बुद्धि या किसी के विनाश की भावना से साधना नहीं करनी चाहिये। अन्यथा ऋषि के साथ मन्त्र का अध्ययन, मनन या ध्यान विपरीत हो जायगा। सब के महान् उदय की तथा सब की उन्नति के साथ अपनी उन्नति की कामना करनी चाहिये। सर्वप्रथम, व्यक्ति में इस प्रकार की सद्बुद्धि का उदय होना आवश्यक है। जब २३ अक्षर वाले गुरु मन्त्र से उत्तम बुद्धि की साधना होगी तो उससे एक अक्षर और अधिक अर्थात् २४ अक्षर वाले गायत्री—"विश्वानिदेव०"—की साधना करनी चाहिये। सद्बुद्धि के उदय होने पर ही हम यह जान सकते हैं कि—"दुरित"—बुरे कर्म क्या हैं ? और "भद्र" कल्याणकर मार्ग क्या है ? बिना सद्बुद्धि के हम दुरितों को भी भद्र मान कर व्यवहार में प्रवृत्त हो सकते हैं।

इस मन्त्र का ऋषि नारायण है। नारायण का तात्पर्य है जो जीवों का परमाश्रय है तथा जिस तक हमें पहुंचना है। अर्थात् नर से हमें नारायण की प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति जीवन में सत्कर्मों को अपनाने एवं दुष्कर्मों को छोड़ने से ही होगी। तभी—यद्भद्रं तन्न आसुव"—की साधना सफल होगी। अतः २४ अक्षर वाले गायत्री मन्त्र "विश्वानि देव०"—मन्त्र से उसके प्राण अर्थात् ऋषि नारायण से अपने प्राण को अनुप्राणित करते हुए, दुरितों को दूर करते हुए, भद्र की प्राप्ति कर सकेंगे। उस दशा में नर से नारायण की स्थिति या उन्नत अवस्था की प्राप्ति या उस परमात्मा की समीपता क्यों न होगी ? सदसद् विवेक एवं कर्मों के ज्ञान के लिए सर्वप्रथम बुद्धि—"धी"—की प्राप्ति करनी चाहिये। तत्पश्चात् समुचित एवं सुफलदायक अभीष्ट कर्म सिद्ध हो सकेंगे। अतः २३ एवं २४ अक्षरों वाली गायत्री की साधना पृथक्-पृथक् उद्देश्य से है।

छन्दों के स्वर

गायत्री आदि छन्दों के भेद से सम्पूर्ण मन्त्र के एक-एक स्वर होते हैं। जैसे गायत्री का षड्ज, उष्णिक् का ऋषभ, अनुष्टुप् का गन्धार, बृहती का मध्यम, पंक्ति का पंचम, त्रिष्टुप् का धैवत और जगती का निषाद स्वर है। यदि किसी मन्त्र में दो अधिक छन्द होंगे तो तदनुसार ही उसके दो या अधिक स्वर होंगे।

ये स्वर जातिगत या रागगत हैं। जैसे गायत्री छन्द का षड्ज स्वर है तो यह षाड्जी जाति के विविध रागों में गाने योग्य है। रागों का समय के साथ सम्बन्ध है। जिस राग का जो समय है, उस समय वही राग प्रिय होता है। उस समय अन्य राग प्रिय, आकर्षक एवं हृदयग्राही नहीं होते। इसका कारण यह है कि प्रकृति के स्वर के अनुकूल स्वर में यदि हम अपना स्वर साधन करते हैं तो राग का वातावरण अनुकूल होने से वह प्रिय लगता है। जैसे कोई व्यक्ति ग्रीष्म ऋतु में या वर्षा ऋतु में छाते का उपयोग करता है तो उचित मालम पड़ता है और शोभायमान होता है। परन्तु यदि वही व्यक्ति शीत ऋतु में या छाया स्थान पर भी छाते का प्रयोग करता है तो वह प्रतिकूल बुद्धि वाला या हास्यास्पद माना जाता है।

ब्राह्ममुहूर्त एवं प्रातःकाल के राग भरव, भैरवी, आसावरी आदि हैं, जो उस समय प्रकृति में गुंजायमान होते रहते हैं। उन रागों का वातावरण प्रकृति द्वारा निर्मित होने से उस समय में यदि ये ही रागें गाई जायेंगी तो वे सामयिक होने से तथा उनकी पृष्ठभूमि में अव्यक्त गुंजन होने से दोनों के स्वर रागादि एक रस हो जाते हैं और राग का अनुकूल प्रवाह हिलोरें लेने लगता है। इसी प्रकार मन्त्रगत स्वरों की अनुकूलता, सृष्टि के संगीत के साथ अनुकूलता सम्पादन करती है।

मन्त्रों के स्वर

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन मुख्य रूप से मन्त्रों के स्वर हैं। इन्हीं के भेद एकश्रुति, प्रचय, उदात्ततर और अनुदात्ततर, इस प्रकार ४ भेद और होने से कुल ७ प्रकार के स्वर हो जाते हैं। गान्धार स्वर उदात्त हैं और निषाद उदात्ततर हैं। धैवत अनुदात्त है और ऋषभ अनुदात्ततर है तथा षड्ज, मध्यम और पंचम स्वर स्वरित, एकश्रुति और प्रचय हैं। उदात्तानुदात्तादि का गायन के सप्त स्वरों में अन्तर्भाव है, वह अत्यन्त रहस्यमय है। उनके उच्चारण का सम्बन्ध ध्वनि की प्राण क्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है। जिनको ध्वनि की प्राणक्रिया के साथ उदात्तानुदात्तादि के उच्चारण के ज्ञान का या अनुभव का अभाव है, वे त्रैस्वर्यों का सप्त स्वरों में अन्तर्भाव समझ नहीं सकते।

मन्त्रों के साथ उदात्तानुदात्तादि स्वर लगे रहते हैं, अतः उनमें सप्त स्वर संगीत का भी अन्तर्भाव है। मन्त्रों के ये स्वर, मन्त्रों के यथावत् शुद्ध उच्चारण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं और मन्त्रार्थ जानने में भी सहायक होते हैं। परमात्मा ने मन्त्रों को दिया है, अतः उनके स्वर भी अपने-अपने देवता में हैं। मन्त्र छन्द एवं स्वरमय हैं। अतः मन्त्र के स्वर एवं उसके संगीत की ध्वनि भी ब्रह्माण्ड में अपने-अपने क्षेत्र में गुंजायमान हो रही है। शब्द की स्थिति पूर्व से ही ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने से हम भी शब्दों के उच्चारण में समर्थ होते हैं। यदि शब्द गुण होता ही नहीं तो हम भी उसका उच्चारण नहीं कर सकते। अतः वेद वाणी का अपने-अपने देवता के साथ होना अनिवार्य है। क्योंकि देवता ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, अतः मन्त्र भी परम प्रभु के व्यापक होने से व्याप्त हैं। जैसा कि—"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्—"इस मन्त्र से वेद की ऋचाओं की व्याप्ति बताई गई है। "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्व-विन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्—"(ऋ. १०।७१।३) इस मन्त्र में अनादि सृष्टियज्ञ या परम पुरुष के द्वारा जो सृष्टियज्ञ हो रहा है, उससे वेद वाणी ब्रह्माण्ड में स्व-स्व स्थान को प्राप्त हुई और पुनः ऋषियों में प्रविष्ट हुई—यह बताया गया है।

यह भी यही प्रकट करता है कि वेद की वह ध्वनि ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। उसको जानते हुए, उसका अनुसरण करते हुए, अपने अन्दर भी उस वाणी का प्रवेश करो। उसको अपने अन्दर जागरित करो या प्रबुद्ध करो। यदि हम परमात्मा के मन्त्र के स्वर के साथ अपने स्वर को उसी के अनुसार उच्चारित करते हैं तो दोनों स्वरों की साम्यता से रस तो उत्पन्न होता ही है अपितु स्वरों के एक दूसरे में अन्तर्भाव एवं एकरूपता होने से हमारे द्वारा उच्चारित मन्त्र का समावेश परमात्मा के मन्त्र में हो जाता है। तब मन्त्र के साथ हमारी कामनाएं भी परमात्मा तक पहुंच जाती हैं और परमात्मा की कृपा से वे पूर्ण होती हैं।

जब दो स्वर परस्पर मिल जाते हैं तब दोनों स्वरों का बल बढ़ जाता है। हमारा स्वर यदि परमात्मा के स्वर में मिल जाये तो हमारे स्वर का बल न जाने कितना शक्तिशाली हो जायेगा। हमारे शब्द एवं स्वर का प्रभाव अत्यन्त सीमित क्षेत्र पर पड़ता है। परन्तु परमात्मा के शब्द एवं स्वर का विश्व पर प्रभाव पड़ता है। यदि हम भी परमात्मा के शब्द एवं स्वरों को मन्त्र द्वारा यथावत् धारण करें तो

उसके द्वारा हम भी ब्रह्माण्ड पर प्रभाव डाल सकते हैं और इच्छित काम कर सकते हैं क्योंकि उस समय वह कामना परमात्मा की आज्ञा—वेदवाणी से युक्त हो जाती है।

वेद मन्त्रों के स्वर सहित उच्चारण द्वारा यज्ञ यागादि करके वृष्टि करना, वृष्टि रोकना, मेघों को उत्पन्न करना, उन्हें हटाना, वायु चलाना, वायु रोकना, पुत्रेष्टि आदि अनेक प्रकार की कामनाओं की पूर्ति हो सकती है। अतः मन्त्रों के स्वर सहित उच्चारण से अत्यन्त लाभ होते हैं और स्वर रहित उच्चारण में दोष होते हैं।

वैदिक स्वरों का उच्चारण

जिस प्रकार अक्षरों के उच्चारण के स्थान एवं प्रयत्न नियत हैं और उनका यथावत् उच्चारण उन्हीं स्थान एवं प्रयत्न से होता है, उसी प्रकार उदात्तादि स्वरों के स्थान एवं प्रयत्न नियत हैं। प्रत्येक अक्षर का उच्चारण तीनों स्वरों में से किसी भी प्रकार हो सकता है। अर्थात् एक ही अक्षर उदात्त भी बोला जा सकता है और अनुदात्त या स्वरित भी। उदात्तादि के उच्चारण के लिए तीन प्रयत्न विशेष करने पड़ते हैं। कण्ठ तालु आदि स्थानों में जब शब्दोच्चारण का प्रयास नीचे की ओर जाये तो उससे उच्चारित शब्द अनुदात्त होता है, और जब वह प्रयास ऊपर की ओर होता है तब उसके द्वारा उदात्त शब्दों का उच्चारण होता है और जब मध्य भाग से शब्द उच्चारित होता है तो वह स्वरित होता है। यह अनुभव गुरु के द्वारा शीघ्र ही यथार्थ रूप में आ जाता है अनुमान से नहीं।

दूसरा अनुभव प्रकार स्वरों का इस प्रकार होता है कि स्वरों के साथ नाभि से शिर पर्यन्त प्राणों की जो गति होती है और उससे जो कम्पन एवं गुंजन शरीर में उत्पन्न होता है, उससे उदात्तादि स्वरों का बोध यह हो जाता है कि उच्चारित किया शब्द किस स्वर में उच्चारित हुआ है। अनुदात्त में यह कम्पन, गति या गुंजन वक्षःस्थल के नीचे की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है। उदात्त में शिर की ओर ऊर्ध्व गति इसकी प्रतीत होती है और स्वरित में यह दोनों के मध्य कण्ठ में ही अनुभूत होती है।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार की गतियों को शब्द के साथ साधने के लिए अनुदात्त अक्षर उच्चारण के साथ हाथ को नीचे, उदात्त के उच्चारण के प्रयत्न के साथ हाथ को ऊपर एवं स्वरित के लिए मध्य में रखना चाहिये। जैसी गति मुख में और जैसी गुंजन या कम्पन की गति अथवा प्राण की गति मन्त्रोउच्चारण से होती हैं उसी की साधना एवं प्रदर्शन के लिए हस्त स्वरों की उपयोगिता होती है, जैसा कि शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के वेदपाठिजन हस्त स्वरों का प्रदर्शन वेद मन्त्रों के पाठ के समय करते हैं। ये हस्त स्वर निरर्थक नही हैं, अपितु स्वर साधना के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

स्वर सहित मन्त्रोच्चारण का लाभ

हस्त, कण्ठ एवं प्राण इन तीनों के साहचर्य से उत्पन्न उदात्तादि स्वर जो गति, कम्पन एवं गुंजन शरीर के अन्दर तथा इसकी नाड़ियों में उत्पन्न करते हैं वे मन्त्र के स्वर, अक्षर एवं छन्द के अनुसार होते हैं। अतः स्वर सहित मन्त्रोच्चारण का प्रभाव सूक्ष्म रूप से अवश्य पड़ता है। वही ध्वनि बाह्य क्षेत्र में भी व्याप्त होती है। इस प्रकार शरीर का और बाहर का वातावरण मन्त्र के अक्षर, स्वर एवं छन्द से संस्कारित होता है। मन्त्र से संस्कारित वातावरण के होने पर विशेष पवित्रता वातावरण की हो जाती है और उस पवित्र वातावरण के माध्यम से विविध तत्त्वों में वृद्धि, ह्रास आदि करके तथा विश्व के मानस क्षेत्र को प्रभावित करके अपनी कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है। अतः स्वर सहित तथा अत्यन्त शुद्धता से वेदमन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये।

मन्त्रों का विनियोग

मन्त्रों का विनियोग-ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है। विनियोग द्वारा मन्त्र की प्रयोग-शैली ज्ञात होती है। विनियोग मन्त्र के सामर्थ्य के अनुकूल होना आवश्यक है। विनियोग ज्ञान के विना मन्त्रों का लाभ हम नहीं ले सकते। मन्त्रों का विनियोग मन्त्र के अर्थ या सामर्थ्य के अनुसार करना चाहिए। यदि इसके प्रतिकूल होगा तो व्यर्थ होगा। "उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि०"—इस मन्त्र का विनियोग भौतिक अग्नि को प्रदीप्त करने में कर सकते हैं। "अग्निं दूतम्पुरोदधे" या "भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव-भूम्ना०"—इत्यादि मन्त्रों का अग्न्याधान में विनियोग संगत है। परन्तु इन्हीं मन्त्रों से आचमन की क्रिया करना संगत नहीं है क्योंकि इन मन्त्रों में जल के किसी भी गुण का संकेत नहीं है।

"शन्नो देवी०, शन्न इन्द्राग्नी०, द्यौः शान्तिः०"—इत्यादि मन्त्रों का विनियोग शान्तिकरण के लिए उचित एवं अनुकूल है। परन्तु इन्हीं मन्त्रों का अग्न्याधान में, समिदाधान में विनियोग या प्रयोग नितान्त असत्य है, असंगत है एवं विपरीत भी है। इसलिए मन्त्रों के विनियोग का ज्ञान अच्छी प्रकार करने से यथोचित लाभ प्राप्त किया जा सकता है। मन्त्रों का विनियोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए विविध प्रकार से किया जा सकता है। एक मन्त्र के अनेक भी विनियोग हो सकते हैं। विनियोग सार्थक एवं युक्तियुक्त करने चाहिएँ।

मन्त्र-साधना से ब्रह्म-प्राप्ति

मन्त्रों की सम्पूर्ण साधना के निमित्त वाणी के लिए मन्त्रगत अक्षर एवं उसके स्वर, प्राणों की साधना के लिए मन्त्र का छन्द, मन की साधना के लिए देवता, बुद्धि की साधना के लिए मन्त्र का ऋषि है। अर्थात् मन्त्र में ऋषि, देवता, छन्द और स्वर का समन्वय होकर उसकी रचना होती है। यह सब परमेश्वर द्वारा रचित मार्ग हैं। अतः मन्त्र की साधना, शरीर के समस्त साधनों के समन्वय से उपरोक्त प्रकार से करने पर अपने लक्ष्य ब्रह्म तक पहुंचाने में समर्थ हो जाती है।

उपरोक्त चारों साधन अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोशों के रूप में, जो पिण्ड में ही हैं मन्त्र के साथ साधना के लिए विद्यमान हैं। ब्रह्माण्ड में वे ही अक्षर, स्वर, छन्द, देवता एवं ऋषि रूप से हैं। अवशिष्ट आनन्दमय कोश का सम्बन्ध मन्त्र की समन्वयात्मक साधना से है तथा आनन्द का सम्बन्ध भी परमात्मा से है। अतः मन्त्र का भी सम्बन्ध पिण्ड और ब्रह्माण्ड के साथ ब्रह्म से भी है।

वेद के विज्ञान के प्रत्यक्ष करने के लिए पिण्ड में ब्रह्माण्ड की स्थितियों का ज्ञान होता है। दोनों ही एक दूसरे के ज्ञान-विकास में पूरक हैं और इतरेतर परीक्षणों से दोनों से इच्छित कामनाओं की पूर्ति के लिए योग एवं क्षेम रूप में अनेक मार्ग निकल सकते हैं।

सृष्टि में निहित पदार्थों के समान वेद-ज्ञान की मौलिकता

सृष्टि में जैसे सुवर्ण, चाँदी, लोहा, हीरा, पन्ना आदि यत्र तत्र विद्यमान हैं परन्तु उनको प्राप्त करने के लिए हमें प्रयत्न करना पड़ता है और काफी गहराई तक खोदना पड़ता है तब कहीं उनकी प्राप्ति का कुछ आभास मिलता है और पुनः उस सुवर्णादि धातु को शोधित एवं संस्कारित करके जैसा उपयोग लेना होता है जैसी रचना करनी होती है वैसी की जाती है। सुवर्ण रूपी मूल द्रव्य के प्राप्त होने पर हम उसकी मात्रा के अनुसार अनेक प्रकार के रूप में, अलंकारों में अपने श्रम एवं कला के आधार पर परिवर्तित कर सकते हैं परन्तु वह अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाने पर भी सुवर्णत्व धर्म

से पृथक् नहीं होता और उन सब अलंकारों को पुनः पूर्वावस्था में लाया जा सकता है, उसी प्रकार वेद की भी स्थिति समझनी चाहिए।

वेद का ज्ञान यद्यपि मन्त्रों में भरा हुआ है तथापि उसको ऋषि रूपी कुदाली से गहरा खोदना होगा और पुनः देवता रूपी भट्टी में तपा कर उसे परिष्कृत, शुद्ध करना होगा और छन्द रूप में उसके यथोचित अलंकार बना कर व्यवहार रूप में प्रस्तुत करना होगा। यद्यपि यह व्यवहार रूप में प्रस्तुत करने का कार्य देश, काल, परिस्थिति के अनुसार, समय की आकांक्षा के अनुसार होता है तथापि वह रूपान्तर होने पर भी अपने में वेदत्व को धारण किये रहता है।

वेद मौलिक ज्ञान होने से ही अनेक रूपों में, अनेक अर्थों में, प्रकट किया जा सकता है। वेद ज्ञान का बीज है। वेद कार्य रूप ज्ञान रचना नहीं। कार्य रूप रचना में मूल का विकास दृष्टिगोचर होता है। जैसे सुवर्ण मूल द्रव्य से अनेक प्रकार के पात्र या अलंकार बन सकते हैं, परन्तु उन पात्र या अलंकारों का यह मौलिक गुण नहीं है कि उस आकार के ही कारण किसी अलंकार या पात्र के रूप को जन्म दिया जाए। वह शक्ति तो मूल द्रव्य की है।

संसार में उपलब्ध अन्य सब ज्ञान वेद से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः वेद मौलिक ज्ञान है अन्य सब कार्य रूप हैं। कारण में ही उद्गम शक्ति होती है कार्य में नहीं, अतः वेद ज्ञान बीजवत् होने से संसार में सदा समयानुसार पथ-प्रदर्शन का कार्य करता रहेगा। यह सामर्थ्य वेद में ही है अन्य ग्रन्थों में नहीं। अतः वेद का महत्त्व मानव के लिए ज्ञान-प्रदर्शन के रूप में सदा रहेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वेद से विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, कृषि, शासन, सुरक्षा, युद्ध, गणित, अध्यात्म आदि का दिग्दर्शन कराया है। इनको हम निम्न प्रमुख विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) शैक्षणिक, (२) सामाजिक, (३) आर्थिक, (४) धार्मिक एवं आध्यात्मिक।

(१) शैक्षणिक विभाग में ब्रह्मचर्य का महत्त्व अत्यधिक है जो कि शिक्षा एवं चरित्र का आधार है। आज की शिक्षा में ब्रह्मचर्य को कोई स्थान नहीं है। अतः आवश्यकता है संसार को ब्रह्मचर्य, सदाचार, अनुशासन, गुरु-सेवा, अध्ययन-प्रकार, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि शिक्षा के प्रकारों के प्रचलन की जिसे संसार भूला हुआ है।

इस विभाग में अग्नि, जल, वायु आदि तत्त्वों के गुणों के उपयोग से वैद्युतिक विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान, यन्त्र विज्ञान, नौका विमान यानादि विज्ञान, धातु विज्ञान, पृथिवी विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, पशुपक्षि विज्ञान, कृषि विज्ञान, कला, नृत्य, वाद्य, काल विज्ञान, ओषधि विज्ञान, सृष्टि विज्ञान, ज्योतिष सूर्यगर्भ विज्ञान, वृष्टि विज्ञान, गणित, छन्दशास्त्र, दर्शन आदि का समावेश होता है।

(२) सामाजिक विभाग में व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन, गृह-निर्माण, समाज-व्यवस्था, शासन, सुरक्षा, युद्ध, न्याय, भैषज, दण्ड, संस्कार आदि का समावेश होता है।

(३) आर्थिक विभाग में अर्थशास्त्र, अर्थ के विनिमय, साधन एवं क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन, उत्पादन, यातायात, पशुपक्षि-पालन, भूमि, सम्पत्ति आदि का संरक्षण एवं वितरण आदि का समावेश होता है।

(४) धार्मिक एवं आध्यात्मिक विभाग में आत्मा की शक्तियों का विकास उच्च ज्ञान की प्राप्ति एवं परमात्मा की प्राप्ति आदि का समावेश होता है।

यदि इन विभागों पर दृष्टिपात करें तो शैक्षणिक विभाग का सम्बन्ध जीवन के प्रथम भाग से विशेष है। इसको हम ब्रह्मचर्य काल कह सकते हैं।

सामाजिक एवं आर्थिक विभागों का सम्बन्ध परिवार, समाज एवं जीवन-निर्वाह की समस्याओं में व्यस्त रहने वाले जीवन से है। इसको गृहस्थ काल कह सकते हैं।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक विभाग का सम्बन्ध जीवन में शान्ति प्राप्त करने के लिए है अतः यह वानप्रस्थ एवं संन्यस्त काल है।

इन्हीं में जीवन की पूर्णता हो जाती है। अतः जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक हमारे कर्त्तव्यों का ज्ञान वेद से किस प्रकार एवं कितनी स्थिति तक प्राप्त होता है इसका दर्शन कराने का प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ प्रयत्न किया है।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु के विशाल अन्तराल में अनेक प्रकार की शक्तियां प्रवाहित हो रही हैं। उनमें दैवी शक्तियाँ एवं दैवी विचार भी हैं। उनमें महान् देव सर्वज्ञ व्याप्त है। अतः उसके ज्ञान की धारा विश्व के महत्तत्व में व्याप्त है। परन्तु मानव भी चेतन शक्ति युक्त है और इसका भी व्यक्तिगत महत्तत्त्व और अहंकार तत्त्व है। उसके द्वारा व्यक्तिगत मन के विचार मानसिक विद्युत् द्वारा बाह्य क्षेत्र में सर्पण करते हैं। इस प्रकार इस विशाल अन्तरिक्ष में दैवी विचार और मानवी विचारों का संचरण होता रहता है।

विचारों के इस कोलाहल में हम दैवी विचारों को ग्रहण करने की अपनी सामर्थ्य को जागरित नहीं कर पाते और व्यक्तियों के विचारों से ही स्फुरण, प्रेरणा आदि स्वाभाविक रूप से प्राप्त कर पाते हैं। पृथिवा मण्डल का आकाश मानवीय विचारों के बाहुल्य एवं उनकी सरलता से उपलब्धि के कारण उनमें विशेष प्रभावकारी रहता है। जिस प्रकार से काईपूर्ण सरोवर की काई को हटा कर हम स्वच्छ जल का दर्शन कर लेते हैं उसी प्रकार मानवीय विचारों की काई को चित्त वृत्तियों के निरोध रूपी प्रयासों से हटाकर दैवी विचारों को ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु जब हम चित्तवृत्तियों को निरोध करके मन के द्वारा और भी ऊपर के क्षेत्र का चिन्तन करते हैं तो वहां के दैवी एवं भौतिक ज्ञान का भी ग्रहण इसके द्वारा होने लगता है। तभी "उर्वन्तरिक्षमन्वेमि" (यजुः १०।७) अन्तरिक्ष के विशाल ज्ञान-क्षेत्र को वह प्राप्त होता है।

वेद पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ के विशाल विचार-क्षेत्र में विचरण करने के अनेक प्रकारों का बोध कराता है जिससे मनुष्य के अन्दर दिव्य भावना एवं दिव्य विज्ञान का तथा आध्यात्मिक भावनाओं का सूत्रपात होता है। वेद-मन्त्र उन्हीं दिव्य भावनाओं एवं विज्ञान से ओत प्रोत हैं। उनके शब्दों में वह विज्ञान एवं शक्ति भरी हुई है जिससे साधक को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। उन मन्त्रों के उच्चारण, जप, ध्यान आदि के साथ अर्थ की भावना करने पर उन विचारों का प्रभाव हमारे ऊपर तथा हमारे समीप के मण्डल पर पड़ने लगता है। इसलिए वेद सदा दिव्य सन्देश एवं विज्ञान के देने वाले तथा शान्ति एवं परम सुख के देने वाले हैं और सदा रहेंगे भी।

अध्यात्म प्रकरण

तू कौन है ?

अपने को पहचानो

ओ३म् कोऽसि, कतमोऽसि, कस्यासि, को नामाऽसि । (यजु० ७।२६)

तू कौन है, मैं कौन हूं ? तू कौन-सा है, मैं कौन सा हूं ? तू किसका है, मैं किसका हूं ? तू क्या नाम या शक्ति वाला है, मैं क्या सामर्थ्य वाला हूं ? यही अध्यात्मविषयक विवेचन वेद ने महान् प्रश्नों के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित कर दिया है। इन प्रश्नों को निरन्तर अपने में जागरित करते हुए, इनका समुचित समाधान या उत्तर प्राप्त करना ही अध्यात्म विद्या है।

परमात्मा को भी पहचानो

अध्यात्म विद्या सम्बन्धी इन्हीं प्रश्नों से अपनी खोज, अपने अन्दर की शक्तियों की खोज और आत्मा की खोज भी प्रारम्भ होती है। आत्मा की खोज करने पर उसके सामने फिर प्रश्न होने लगता है—

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः । को ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥ (ऋग्वेद १।७५।३)

आत्मान्वेषक विद्वन् ! मनुष्यों के बीच आपका कौन निश्चय करके जानने वाला है ? कौन दान देने और रक्षा करने वाला है ? तू कौन है और किसके आश्रित है ? इन प्रश्नों पर विचार कर।

अर्थात् मनुष्य अपने को ही सब कुछ न समझ बैठे। इसका जानने वाला कोई और भी है जिसको जाने बिना मनुष्य में अपूर्णता रह जायेगी। इस मनुष्य को सब ऐश्वर्य और ज्ञान का दाता कोई और है। जो यह सब हमें देने वाला है, वास्तव में हम उसके सामने याचक हैं। वह हमारी रक्षा करने वाला एवं पालन करने वाला है। हम सब उसी के आश्रित हैं। उस महान् आश्रयदाता को, महान् ज्ञानी को जब तक नहीं जानोगे तब तक सब ज्ञान-विज्ञान अधूरा ही रहेगा। जब तक उस महान् प्रभु को नहीं जानोगे प्रश्नों की बौछारें सदा पड़ती ही रहेंगी। जब उसको जान लोगे तब सब प्रश्न समाप्त हो जायेंगे। अतः वेद ने इन प्रश्नों द्वारा मनुष्य को अपने को एवं परमात्मा को भी जानने की प्रेरणा दी है।

अध्यात्म पक्ष

अध्यात्म विद्या वेद का प्रमुख अंग है। अध्यात्म में आत्मा और परमात्मा का विवेचन, आत्मा जिस अन्तःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के आधार पर कार्य करता है तथा मन, बुद्धि आदि जिन इन्द्रियों के आश्रित व्यापार करते हैं एवं इन्द्रियां जिस शरीर के आश्रित होकर व्यापार करती हैं, सब अध्यात्म के अन्तर्गत हैं तथा शरीर अपने समस्त अधिष्ठानों से जिस क्षेत्र में व्यापार करता है वह उस अध्यात्म पक्ष का आधिदैवत क्षेत्र है।

आधिदैवत पक्ष

सृष्टि-निर्माण में, सृष्टि की स्थिति एवं प्रलय में परमात्मतत्त्व की जो विविध शक्तियां क्रियाशील होती हैं और उनका प्रकृति के माध्यम या साहचर्य से जो अव्यक्त, सूक्ष्म एवं स्थूलरूप प्रकट होता है उसमें परमात्मा की विविध सामर्थ्य का प्रकारान्तर से अनेक रूपों में दर्शन होता है। उनकी अपनी एक विशेष स्थिति दिव्यता के कारण गुणवैशिष्ट्य से होती है। गुण वैशिष्ट्य या अपनी-अपनी दिव्यता से विविधरूप में प्रतीयमान पदार्थ ही वेद की परिभाषा में देवतावाची होते हैं। अतः समस्त ब्रह्माण्ड दैवतमय है इसलिए ब्रह्माण्ड की परमात्मा के साथ दैवात्मक स्थिति को आधिदैवत कहा जाता है।

अध्यात्म और आधिदैवत का सम्बन्ध

इस अध्यात्म क्षेत्र का और आधिदैवत क्षेत्र का परस्पर सहयोग है। आधिदैविक तत्त्व अध्यात्म के लिए उपभोग्य रूप में है और अध्यात्म क्षेत्र उपभोक्ता है, तथापि आधिदैविक तत्त्व अध्यात्म में उपभोक्ता रूप में भी अधिष्ठित हो जाते हैं। इसी स्थिति को पिण्ड और ब्रह्माण्ड नाम से कहा जाता है।

ब्रह्माण्ड और पिण्ड परस्पर ग्रथित हैं। विशाल ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियों से यह पिण्ड निर्मित होता है। कारण का गुण कार्य में आना स्वाभाविक है, अतः इस पिण्ड के यथार्थ ज्ञान से ब्रह्माण्ड का ज्ञान सुगम हो जाता है। इसलिए समस्त ब्रह्माण्ड के ज्ञान की कुंजी या नाभि यह मानव शरीर है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड का साम्य

पिण्ड और ब्रह्माण्ड के इस उभयपक्ष की रचना में साम्य का प्रदर्शक एक मन्त्र वेद में निम्न प्रकार आता है।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ (यजु० ३१।१५)

ब्रह्माण्ड पक्ष में इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर सात परिधियां हैं। सप्त लोक ही सप्त परिधियाँ हैं। इन सात परिधियों से ब्रह्माण्ड की प्रत्येक रचना अपने केन्द्र एवं नियमित व्यवहार में स्थित है। इन परिधियों से ब्रह्माण्ड आवृत है। इन सप्तलोकों की परिधियों के अन्दर सप्त प्राण, सप्त ऋषि और सप्त आपः की इक्कीस समिधाएँ प्रदीप्त होकर इस विश्व का संचालन कर रही हैं।

अध्यात्म पक्ष में इस देह की सात परिधियाँ सप्त त्वचाओं की हैं, जिनके नाम ऊपर से अन्दर तक क्रमशः निम्न हैं।

(१) अवभासिनी (२) लोहिता (३) श्वेता (४) ताम्रा, (५) वेदिनी (६) रोहिणी (७) मांसधरा।

इन्हीं सात त्वचाओं से इस शरीर के सब अवयव आवृत हैं। वेद के आधार पर ही महर्षि सुश्रुत ने 'सप्त त्वचो भवन्ति' का अपने शिष्यों को प्रत्यक्ष कराया और उनके कार्यों को यथावत् जानकर उनको उपरोक्त नामों से सम्बोधित किया।

इस आवरण या इन परिधियों के अन्दर शरीर के संघटन एवं कार्य-संचालन के लिए तीन-तीन के समूह में सात-सात समिधाएँ हैं। जिस प्रकार समिधाओं से यज्ञाग्नि का रूप प्रकट होता है, उसी प्रकार शरीर रूपी यज्ञ निम्न इक्कीस समिधाओं से समिद्ध हो रहा है—

(१) **सप्त धातु** (१) रस (२) रक्त (३) मांस (४) मेदा (५) अस्थि (६) मज्जा एवं (७) शुक्र।
(२) **सप्त कला** (१) मांसधरा (२) रक्तधरा (३) मेदोधरा (४) श्लेष्मधरा (५) पुरीषधरा (६) पित्तधरा एवं (७) शुक्रधरा।

(३) सप्त आशय (१) आमाशय (२) पित्ताशय (३) पक्वाशय (४) मूत्राशय (५) रक्ताशय (६) वाताशय (७) कफाशय।

इन समिधाओं द्वारा इस शरीर में जानने योग्य पुरुष को इन्द्रियादि देवों ने कार्यक्षम बना रखा है। इसके अतिरिक्त पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, एक मन तथा दस प्राणरूपी इन कुल इक्कीस समिधाओं से भी शरीर का कार्य संचालित होता रहता है।

अध्यात्म से आधिदैविक रचना

एक अन्य मन्त्र में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध को और भी दृढ़ रूप से निम्न प्रकार प्रकट किया गया है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ (यजु० ३१।१२)

अर्थात् मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति, चक्षुदर्शन सामर्थ्य से सूर्य की उत्पत्ति, श्रोत्रसामर्थ्य से वायु और आकाश-प्रदेश से जीवन निमित्त १० प्राण और मुखसामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुई।

इस प्रकार आधिदैविक रूप से अग्नि मुख में वाक् होकर, सूर्य चक्षु रूप से नेत्रों में, वायु और आकाश त्वचा एवं कान में, जल रेत रूपी होकर शिश्न में, चन्द्रमा मन होकर हृदय में, पृथिवी गन्ध होकर नासिका में प्रविष्ट हो गई तथा

नाभ्या आसीदन्तरिक्षँ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २ अकल्पयन्॥ (यजु० ३१।१३)

नाभि से अन्तरिक्ष लोक स्थित हुआ, शिर से द्युलोक प्रतिष्ठित हुआ, पैरों से भूलोक प्रतिष्ठित हुआ और श्रोत्रों से दिशा तथा अन्य लोक हुए।

अध्यात्म में आधिदैवत का प्रवेश

इस स्थिति को निम्न वेद मन्त्र में बताया गया है—

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति॥ (अथर्व ५।२३।१)

अर्थात् जब तक इस शरीर में कृमि-सूक्ष्माणुओं-सेलों के पाचन या विरोधी शक्तियों को नष्ट करने की सामर्थ्य द्वारा जीवन है तो इस शरीर में द्युलोक, पृथिवीलोक, वाणी, क्रियाशील प्राण तथा अग्नि आदि तत्त्व और आत्मा भा ओतप्रोत रहता है।

इसी को वेद में निम्न प्रकार भी कहा है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्"। (यजु० ७।५)

तेरे अन्दर द्युलोक और पृथिवीलोक स्थापित करता हूं। तेरे अन्दर महान् अन्तरिक्ष को भी स्थापित करता हूं। इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि वेद ने हमें यह बताया है कि इस देह में, इस पिण्ड में सब ब्रह्माण्ड की शक्तियाँ प्रतिनिधिवत् कार्य कर रही हैं।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि परमात्मा की प्रेरणा द्वारा सूर्य ने अपनी दर्शन-शक्ति, चन्द्रमा ने अपनी मनन-शक्ति, दिशाओं ने श्रोत्र-शक्ति, वायु ने स्पर्श-शक्ति, पृथिवी ने घ्राण-शक्ति, जल ने रसना-शक्ति, अग्नि ने रूप-शक्ति से सम्पन्न करके इस देह की रचना की है तथा ये सब तत्त्व स्वयं

भी इसमें प्रतिष्ठित होकर इस मानव देह की सुन्दर, अद्भुत और पूर्ण रचना की महत्ता प्रकट कर रहे हैं।

मानव देह से परब्रह्म की साधना

संसार के रहस्यों को जानने की इस शरीर में अद्भुत सामर्थ्य है। यदि इस शरीर के स्वामी को ही जान लिया तो उसे विश्व का सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसीलिए वेद कहते हैं—

"पुरुष एवेदँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्"। (यजु० ३१।२)

यह सब कुछ जो दीख रहा है, जो कुछ देखा था और जो कुछ देखा जायेगा, तीनों कालों की स्थिति में वह पुरुष ही पुरुष है। अर्थात् पिण्डस्थ पुरुष का तथा ब्रह्माण्डरूपी विराट् शरीर में निवास करने वाले परमपुरुष का ज्ञान ही सब ज्ञानों की पराकाष्ठा है। इस निमित्त यदि इस देह को साधन बनाकर इसमें उसके दर्शन या ज्ञान को प्राप्त कर लिया, तो ब्रह्माण्ड में स्थित परमपुरुष का भी ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति हो जायेगी।

मानव देह में देवों का प्रवेश

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्। (अथर्व० ११।८।२९)

इस शरीररूपी यज्ञशाला में विश्व की देवमण्डली ने वीर्य को—उत्पत्ति के उपादान तत्त्व—को तेजस् एवं हव्य बनाकर उसमें प्रवेश किया हुआ है। रेतस् के माध्यम से सब देवों का प्रवेश बताता है कि उत्पत्ति के मूल तत्त्व में ही देवताओं का भी बीज रूप से निवास है। अतः पुरुष में सब देव रहते हैं, यह ज्ञात हो जाता है।

उस रेतस् के ऊर्ध्वगमनशील भाग से सोम का निर्माण होता रहता है। सोम ही ओज है। उस सोम से देवों की पुष्टि होती रहती है। यदि रेतस् का सोम या ओज नहीं बनेगा तो शरीरस्थ इन्द्रियां सशक्त नहीं होंगी और असुर भाग की तृप्ति होती रहेगी। अतः शरीर को देवस्थली बनाने के लिए रेतस् को आज्य बनाना होगा।

इस स्थिति को वेद निम्न शब्दों में प्रकट कर रहा है—

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवा सलिलान्यासन्॥ (अथर्व० १०।८।४०)

अर्थात् जलों में प्राणवायु ने प्रवेश किया है और जल के सूक्ष्म भाग में देवों ने भी प्रवेश किया हुआ है। यही जलतत्त्व—आपो रेतो भूत्वा—उत्पत्ति करता है। अतः इस देह में देवों का वास रहता है।

देवों की अयोध्यापुरी

शरीर में देवों की इस स्थिति को अन्य रूप से वेद निम्न शब्दों में कह रहा है—

सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठइवासते। (अथर्व० ११।८।३२)

अर्थात् इस मानव देह में सब देव इस प्रकार स्थित हैं, जैसे गायें अपने गोष्ठ-बाड़े में बन्द रहती हैं। अतः इस दिव्य देह में देवत्व को जागरित करना आवश्यक है। इस निमित्त शरीर की अद्भुत एवं दैवी रचना का जितना अधिक ज्ञान प्राप्त होगा, उतना ही अधिक इसकी ओर रुचि बढ़ेगी। वेद ने इस शरीर की अद्भुत रचना के बारे में कहा है—

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ (अथर्व० १०।२।३१)

यह शरीर आठ चक्रों से युक्त है। इसके नौ द्वार हैं। देवताओं के निवास से यह अयोध्यापुरी बनी हुई है। इसमें अत्यन्त तेजस्वी, स्वर्णमय कोष है जो महान् ज्योति से—परमात्मा से—आवृत है और ज्योति की किरणें उसमें से प्रकट हो रही हैं।

अयोध्या के नवद्वार

नव द्वार इस देह के अन्दर स्थित हैं। इन नव द्वारों में सप्त द्वारों पर सप्त ऋषि बैठे हैं, जिनसे संसार के बाह्य रूप का दर्शन एवं अनुभूति का प्रवेश इस देह में होता है। परन्तु बाह्य अनुभूति का अन्दर में प्रवेश ऋषियों के अनुरूप होगा। जिस घटना को वे जैसा महत्त्व एवं रूप देकर भीतर प्रवेश देंगे, वैसी भावना एवं विचार हमारे मन में जागरित होंगे। ये सब द्वार हमारे शरीर के श्रेष्ठ शिरोभाग में हैं। दो नेत्र के द्वार, दो नासिका के द्वार, दो श्रोत्र के द्वार और एक मुख का द्वार है। इन सप्त द्वारों के अतिरिक्त दो द्वार और भी हैं। वे गुप्त द्वार हैं।

वेद ने इस शरीर में ८ चक्रों की स्थिति बताई है। इन चक्रों का सम्बन्ध सुषुम्णा नाड़ी से है। सुषुम्णा का अधोमुख भाग भौतिक प्राण-शक्ति के चक्रों में क्रमशः भेदन के लिए प्रवेश का द्वार है और मस्तिष्क में कपालों की मध्यसन्धि भाग में सुषुम्णा का दूसरा द्वार ब्रह्मरन्ध्र में है। ब्रह्मरन्ध्र में से इस दिव्य, प्रकाशमय, ज्ञानमय प्राण का शरीर में प्रवेश होता है जो सविता से इस लोक पर अवतरित होता है। वहाँ सहस्रार चक्र है। योगी जन इसी मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों का विसर्जन करके सूर्य मण्डल को भेदकर परम धाम को प्राप्त करते हैं। इन दोनों द्वारों के ज्ञान से ही सुषुम्णा मार्ग में प्रवेश करने से अष्ट चक्रों का दर्शन एवं ज्ञान हो पाता है।

द्वारों पर सप्तर्षि

देह के इन स्थूल द्वारों पर सप्त ऋषि, दक्षिण एवं वाम कर्ण में गौतम एवं भारद्वाज, दक्षिण एवं वाम नेत्र में विश्वामित्र और जमदग्नि, दक्षिण और वाम नासिका में वसिष्ठ एवं कश्यप और वाक् में अत्रि ऋषि विराजमान हैं। इन ऋषियों के इन द्वारों पर प्रहरी बने रहने से केवल वे ही विषय प्रवेश कर सकेंगे जिनको, ये अयोध्या में प्रवेश योग्य समझेंगे। इस प्रकार अयोध्या की सुरक्षा होने पर अयोध्यावासी प्राण, वृत्ति, मन, विचार आदि अष्ट चक्रों में विराज कर ब्रह्माण्ड के सप्त लोकों का दर्शन करके अष्टम चक्र से दिव्य, चैतन्य और सत्त्व स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं।

सप्त ऋषियों से इस देह की दिव्य स्थिति होने से यह अयोध्या नगरी बन जाती है। अयोध्या का तात्पर्य है, जिसको कोई पराजित न कर सके। अपराजित पुरी ही अयोध्या है।

सृष्टि की रचना चक्रमय है

संसार के चक्र हमें जन्म-मरण के चक्र पर आरूढ़ कर देते हैं। इन चक्रों से निवृत्त होने के लिए ही अष्ट चक्रों को परमात्मा ने इस देह में बनाया है। संसार की रचना चक्रमय है और संसार की प्रत्येक गति भी चक्रमय है। सृष्टि की सम्पूर्ण रचना चक्रवत् है एवं इसकी समस्त क्रिया भी चक्रवत् गतिमय है।

चक्र छन्दमय हैं

चक्रमय रचना एवं चक्रमय गति अपने-अपने छन्दों से सम्बन्धित है। अतः सृष्टि की सम्पूर्ण रचना एवं गति भी छन्दमय है। जब ब्रह्माण्ड ही छन्दमय है तो पिण्ड अर्थात् मानव देह की रचना भी

छन्दमय होनी चाहिए। सृष्टि के अन्दर सप्त छन्द भी हैं, अष्ट छन्द भी तथा इससे भी अधिक हैं। छन्दों का अपना-अपना प्रकार है। प्रकारान्तरों से इनके भेदों की गणना भिन्न-भिन्न हो जाती है। अतः शरीर में भी सप्त एवं अष्ट छन्दमय रचना एवं गति भी सप्त चक्रों एवं अष्ट चक्रों के रूप में विद्यमान है।

अष्ट चक्रों का भेदन

वेद ने छन्दमय इन अष्ट चक्रों के भेदन का निम्न मन्त्र में उपदेश किया है—

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ (यजु० २३।३३)

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्ति, बृहती, उष्णिक् ये सात छन्द एवं आठवें ककुप् छन्द रूप से जो शरीर में अष्ट चक्र हैं, वे सूची क्रम से भेदन किये जाने से तुझे दिव्य शान्ति प्रदान करें। प्राण की सूची एवं ध्यान के धागे से इन चक्रों का भेदन एवं परस्पर सम्पर्क ज्ञात होता है। इस प्रकार चक्रमय इन छन्दों के भेदन से दिव्य शान्ति का सन्देश वेद ने दिया है।

चक्रों का स्वरूप

इन चक्रों के स्वरूप का भी वर्णन करते हुए चक्र-भेदन का निम्न मन्त्र में संकेत है—

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ (यजु० २३।३४)

पूर्वोक्त छन्द रूपी चक्र जो शरीर में हैं वे द्विपदा—द्विदलयुक्त, त्रिपदा—त्रिदलयुक्त, षट्पदा, षड्दलयुक्त हैं और कुछ समान छन्द—समान दल वाले और कुछ छन्द रहित—विषम दल वाले एवं अधिक दल वाले भी हैं। उन छन्द रूपी चक्रों का प्राण एवं ध्यान मार्ग से क्रमशः भेदन करने से परम सुख एवं शान्ति प्राप्त होती है।

ब्रह्म की प्राप्ति

इस स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् योग यज्ञ का साधक ब्रह्म को जानने लगता है। जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णित है—

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ (अथर्व० १०।२।३२)

उस हिरण्य कोश में जिसमें तीन अरे लगे हुए हैं और जो तीन स्थानों में प्रतिष्ठित है, उसमें जो आत्मा रूपी यक्ष है, उसको ही ब्रह्मज्ञानी योगी ब्रह्म रूप से जानते हैं। यही ब्रह्म की पुरी है। मन्त्र में जो तीन अरे बताये हैं, वे भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमान रूपी अरे हैं और तीन प्रतिष्ठा के स्थान स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर रूपी हैं।

अपराजिता पुरी में ब्रह्म का प्रवेश

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ (अथर्व० १०।२।३३)

यह मानव देह ही ऐसी उत्तम, ऐसी सुन्दर, ऐसी महिमामयी पुरी है कि जिस प्रकार भटकती हुई हरिणी आश्रय को प्राप्त कर प्रसन्न होती है, उसी प्रकार यश से युक्त होकर ब्रह्म ने इस अपराजित और दुर्भेद्य पुरी में प्रवेश किया है। ऐसी सुन्दर देहरूपी पुरी जिसमें देवगण, ऋषिगण, इन्द्र एवं ब्रह्म

भी विराजमान हों, उसमें किसी वस्तु की भी कमी नहीं। जैसे शहद के छत्ते पर मधुमक्खियाँ बैठी रस का पान करती हैं, वैसे ही अमृत से आवृत इस पुरी में देव, ऋषि एवं ब्रह्म शक्तियाँ आनन्द की प्राप्ति करती हैं।

अमृत पुरी

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ (अथर्व० १०।२।२९)

यह शरीर रूपी पुरी व्यापक जीवनी शक्ति से, अमृत से आवृत है। इस अमृत का पान यदि देवगण करेंगे, तो यहां देव भी रह सकेंगे। यदि असुरों ने इसका अमृत घट प्राप्त कर लिया और उसे पी गये, तो अयोध्या नगरी कैसी ? अतः जो ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति इस पवित्र पुरी को जानता है, उसको इस शरीर रूपी यज्ञशाला के ब्रह्मा एवं यज्ञ के देव परमात्मा चक्षु देते हैं, वास्तविक दर्शन-शक्ति उनको प्राप्त होती है। उसका ही प्राण अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से जागरित रहता है और उसके वश सब इन्द्रियाँ आदि प्रजा एवं देवगण रहते हैं। ऐसी पुरी का आश्रय लेकर जिसमें ब्रह्म का भी आनन्द निहित है और जो सबका सर्वोत्तम लक्ष्य है, यदि उसको प्राप्त नहीं करता, तो उसका जीवन व्यर्थ है।

सृष्टि-सूत्र से सूत्रधार का दर्शन

इस पुरी की रचना बड़ी सुन्दर है। विश्व में जो तत्त्व एवं शक्तियाँ दृश्य एवं अदृश्य रूप से इसका संचालन कर रही हैं, उनका सामर्थ्य सूत्र सर्वव्याप्त है। उसी नियम सामर्थ्य में ब्रह्माण्ड में ब्रह्म की प्रजा भी ओतप्रोत है। इस नियम रूपी सूक्ष्म सूत्र का दर्शन, इस सृष्टि के सूत्रधार का भी दर्शन कराने में समर्थ होता है। जैसा कि—

'यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ (अथर्व० १०।८।३७)

इस सृष्टि के महान् सूक्ष्मतम सूत्र, व्यापक प्राण शक्ति के स्वरूप या ऋत अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव का दर्शन करके तत्सम्बन्धित नियामक शक्तियों के भी नियामक ब्रह्म को जानना ही वास्तव में ज्ञान है। वही ज्ञान की परिपूर्णता है। दृष्टि से उसी अद्भुत का दर्शन करें। हमारी दृष्टि इस विशाल विश्व को कैसे देखे ? हमारे कान विश्व में व्याप्त शब्दों को कैसे सुनें ? हमारे हाथ विश्व की समस्त वस्तुओं को कैसे ग्रहण करें ? हमारी बुद्धि समस्त विश्व को कैसे जाने ? इस गूढ़ समस्या का उपाय वेद ने आत्मवित् होना बताया है। आत्मवित् होना ही इसका हल है। संसार को जानने के लिए अपने को जानो। वेद इसके लिए उपदेश कर रहा है—

पुण्डरीक रूपी देह

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ (अथर्व० १०।८।४३)

यह कमल सदृश रचना वाला शरीर है। इसकी आँखें, इसका मुख, इसके हाथ, इसके पैर, इसकी नाभि, इसका हृदय सभी कमल से उपमा योग्य बना हुआ है अतः यह पुण्डरीक ही है। इस शरीर में अनेक कमल विद्यमान हैं। यह नव द्वारों से सुशोभित है। आँख, नाक, कान, मुख आदि सात द्वार और एक सुषुम्णा का ऊर्ध्व द्वार ब्रह्मरन्ध्र का और एक द्वार सषुम्णा का अधोभाग का जो पृष्ठवंश में नीचे है, जहाँ कुण्डलिनी का वास है, इस प्रकार नव द्वार युक्त है। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से युक्त प्रकृति

के संघातों से आवृत है। इसकी रचना को अच्छी तरह जान लेने से सृष्टि-रचना का अद्भुत ज्ञान प्राप्त हो जायेगा और इसके केन्द्र में जो यक्ष रूप से आत्मा विराजमान है, उसे जान लेने पर ब्रह्म का भी ज्ञान हो जायेगा।

दैवी यज्ञ

ब्रह्माण्ड की अद्भुत रचना और उस ब्रह्माण्ड की शक्तियों का सूक्ष्म रूप से इस देह में प्रवेश और कार्यशीलता को वेद की परिभाषा में यज्ञ की संज्ञा दी गई है। जैसा कि—

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ (यजु० ३१।१४)

देवों ने जिस पुरुषरूपी हवि से आयु रूपी यज्ञ का विस्तार किया, उसमें वसन्त ऋतु घृत था, ग्रीष्म ऋतु समिधा थी और शरद् हविद्रव्य था।

सृष्टि का प्रारम्भ यज्ञ से

सृष्टि-निर्माता परम पुरुष ने सृष्टि की रचना का प्रारम्भ जिस क्रिया द्वारा किया, वह यज्ञ ही था। जैसा कि—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ (यजु० ३१।६)

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ से दूध, दही घृतादि रस, आहार का सृष्टि में प्रादुर्भाव हुआ और फिर विविध प्रकार से सृष्टि उत्पन्न हुई।

परमात्मा से वेदों का प्रादुर्भाव

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजु० ३१।७)

उस सर्वहुत यज्ञ से ऋग्यजुः सामाथर्व वेद प्रकट हुए अर्थात् सृष्टि के रचे जाने से सृष्टि का ज्ञान अपने पृथक्-पृथक् तत्त्वों में अनुभवगम्य होने की स्थिति को प्राप्त हो गया। इसी प्रकार विविध रचना यज्ञ के द्वारा ही हुई, ऐसा वर्णन पुरुषसूक्त में विद्यमान है। और इस सम्पूर्ण रचना का वर्णन ऐसा प्रस्तुत किया गया, मानो यह ब्रह्माण्ड विशाल वेदी ही है, एक विशाल यज्ञ है। अतः विश्व का और हमारा यज्ञमय सम्बन्ध मूल रूप से है। इस आधार पर हमारा जीवन भी यज्ञ है और हमें भी इस जीवन में यज्ञों का ही अनुष्ठान करना चाहिए। यही कर्म श्रेष्ठतम, सृष्टि-अनुकूल एवं परमात्मा के अनुकूल है। अतः हमारे यज्ञमय कर्मों का परमात्मा से सम्बद्ध होना स्वाभाविक है अर्थात् यज्ञ के द्वारा हमारा सम्बन्ध परमात्मा से होता है। इसलिए हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य भी यज्ञ ही है।

यज्ञ की प्राधान्यता

यज्ञ की मुख्यता को प्रकट करने के लिए वेद में एक स्थान पर प्रश्न है —

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ (यजु० २३।६१)

अर्थात् मैं तुमसे पूछता हूँ कि पृथ्वी का परम अन्त कहाँ है और विश्व की नाभि—केन्द्र कहाँ है। सेवन समर्थ प्राणों के केन्द्र सूर्य का रेतस् क्या है और इस महान् ब्रह्माण्ड में व्याप्त वाणी क्या है ?

इन प्रश्नों का उत्तर आगामी मन्त्र में ही निम्न प्रकार दिया गया है—

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं ः ज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयँ सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।। (यजु० २३।६२)

यज्ञ की यह वेदी ही पृथिवी का परम अन्त है अर्थात् पृथिवी पर जीवन में अपनी सब कामनाओं की पूर्ति इसी वेदी से होती है । लोक और परलोक, ऐहिक और पारलौकिक सुख, संसार और ईश्वर, धर्म और अर्थ, काम और मोक्ष, सभी वेदी से सम्पन्न होते हैं । इस वेदी में जिन यज्ञों का सम्पादन होता है, वे विश्व के कार्यों के सम्पन्न कराने वाले और कामनाओं की पूर्त्ति कराने वाले हैं । अतः ये यज्ञ ही इस विश्व का केन्द्र—नाभितुल्य—हैं । बाह्य सृष्टि में सूक्ष्म पदार्थों से लेकर स्थूल पदार्थों में जिस प्रकार कार्य चल रहा है, उसका दर्शन इन यज्ञों में होता है । इसी प्रकार हमारे शरीर की सूक्ष्म व स्थूल रचना में स्थूल व सूक्ष्म रूप से जो कार्य हो रहा है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन इन यज्ञों में होता है ।

यज्ञ-साधना का लाभ

इन यज्ञों की साधना से बाह्य विश्व एवं अपने शरीर रूपी विश्व इन दोनों का ही दर्शन होता है और इस रहस्य को यथावत् जानकर विश्व के इच्छित भाग पर अनुकूल प्रभाव यज्ञों द्वारा डाला जा सकता है । इसलिए यज्ञ ही संसार के सब कार्यों एवं कामनाओं की पूर्ति के साधनों की नाभि है तथा अध्यात्म एवं अधिभूत को इन यज्ञों से प्रभावित किया जा सकता है । इन यज्ञों में सूर्य से उत्पन्न प्राण रूपी शक्ति ही सोम है और यज्ञ में प्रयुक्त ब्रह्म की वेद-वाणी ही ब्रह्माण्ड में व्याप्त है ।

इस प्रकार वेद ने यज्ञवेदी-यज्ञक्रिया, यज्ञ से उत्पन्न सोम एवं यज्ञ की वाणी को परम महत्त्व प्रदान किया है । एक अन्य मन्त्र में कहा है—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । (यजु० ९।१)

अर्थात् हे सर्वप्रसव करने वाले सविता देव ! आप समस्त ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिए यज्ञ को और यज्ञपति को प्रसव कीजिये । जन्म दीजिये । यज्ञ अथवा योग ही दिव्य जीवन-प्राप्ति का साधन है । इस प्रकार यज्ञों का महत्त्व जीवन के लिए अनिवार्य है । जीवन की भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों की साधना करनी चाहिए ।

वेद यज्ञ की प्रेरणा दे रहे हैं

चारों वेदों के प्रारम्भ के मन्त्र यज्ञ की प्रेरणा देकर बता रहे हैं कि यज्ञ ही प्रथम एवं प्रधान कर्त्तव्य है । ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्—में यज्ञपद आया है । यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में इसी यज्ञ को—श्रेष्ठतमाय कर्मणे—परमश्रेष्ठ कर्म नाम से सम्बोधित किया गया है । सामवेद के प्रथम मन्त्र में—नि होता सत्सि बर्हिषि—यहाँ बर्हिषि पद यज्ञ के लिए प्रयुक्त है और अथर्ववेद का—वाचस्पतिर्बला—शब्द भी वाक्पति का बल यज्ञ को ही बता रहा है ।

ऋग्वेद से यज्ञ की प्रेरणा

चारों वेदों के अपने-अपने प्रधान देवताओं का इसमें प्रमुख स्थान है । ऋग्वेद के—अग्निमीळे—मन्त्र का देवता अग्नि है । भूलोक का देवता भी यही अग्नि है । यज्ञ के लिए अग्नि की आवश्यकता है । भौतिक यज्ञ भौतिक अग्नि से होता है । सृष्टि यज्ञ भी सूर्य रूपी अग्नि एवं उसके परिवर्तित रूप विविध अग्नियों से होते हैं ।

अध्यात्म यज्ञ योगरूपी अग्नि या आत्मारूपी अग्नि तथा तदधीन प्राण, मन, चित्तादि अग्नियों

के आश्रित होते हैं। अतः सभी प्रकार के यज्ञों के लिए अग्निदेव की सर्वप्रथम अनिवार्य आवश्यकता है अर्थात् अग्नि के विना कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिए अग्नि ही सर्वप्रथम सबका हित साधक होने से पुरोहित है। इसी ज्ञान को सर्वप्रथम बताने के लिए कि अग्नि तुम्हारा विनाशक नहीं है, यह तो तुम्हारा पुरोहित है यह भाव लेकर इसकी स्तुति अर्थात् इसके गुणों का ज्ञान प्राप्त करो तथा ब्रह्माण्ड-रूपी यज्ञ के लिए अग्निदेव परमात्मा ही है। वही पुरोहित रूप में विद्यमान है। इसे अच्छी प्रकार हृदयंगम करो।

यजुर्वेद से यज्ञ की प्रेरणा

यज्ञ के लिए दूसरा आवश्यक देव वायु है। यजुर्वेद का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है। अन्तरिक्ष का अधिष्ठाता देव वायु है। भौतिक अग्नि वायु के विना अस्तित्वविहीन हो जाती है। शरीरस्थ आत्मारूपी अग्नि प्राणादि वायु के विना चेष्टारहित हो जाती है। अतः दोनों प्रकार की भौतिक और आध्यात्मिक अग्नियों के लिए जो आधार अन्न, इंधन चाहिए, उसी से उसका बल बढ़ता है। दोनों अग्नियों के लिए वायु ही अन्न बल व तेज को देने वाला है। इसीलिए यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में—इषे त्वा, ऊर्जे त्वा, वायव स्थ—उस तुझ अग्नि के लिए आहार और बल के दाता विविध प्रकार की वायु ही है। यह कह-कर अग्नि के लिए वायु की आवश्यकता प्रतिपादित की है।

साम और अथर्व से यज्ञ की प्रेरणा

सामवेद का सम्बन्ध द्युलोक से है। द्युलोक का देव सूर्य है। सूर्य की ही उपस्थिति में यज्ञों का सम्पादन होता है। पृथिवीस्थ यज्ञ सूर्य-रश्मियों के माध्यम से द्युलोक तक पहुंचता है। अध्यात्म यज्ञों में सूर्य के भी सूर्य परमात्मा को प्राप्त किया जाता है और अथर्ववेद के प्रधान देवता अंगिरा की यज्ञ में आवश्यकता रहती है। यदि यज्ञ के ईंधन का परिवर्तन अंगिरा में—अंगारों में निर्धूम ज्योति में परिवर्तन न हो, तो यज्ञ अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः चारों वेदों के देवता या ऋषि यज्ञ के आवश्यक साधन हैं।

चारों वेदों से यज्ञकर्त्ताओं का प्रतिपादन

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र ने यज्ञ के लिए—पुरोहित एवं ऋत्विज्—की आवश्यकता बताई। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र ने यजमान का प्रतिपादन किया। सामवेद के प्रथम मन्त्र ने होता का प्रतिपादन किया और अथर्ववेद ने वाचस्पति—ब्रह्मा की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। अर्थात् यज्ञ के लिए पुरोहित, यजमान, होता एवं ब्रह्मा के निरूपण का वेद ने यज्ञ के महत्त्व को प्रकट करने के लिए तथा यज्ञमय जीवन बनाने के लिए उपदेश किया।

यज्ञ फल का ऋग्वेद से निर्देश

इसी प्रकार वेद के प्रथम मन्त्रों ने यज्ञों के फलों का भी निर्देश किया है। ऋग्वेद ने इसी यज्ञ की अग्नि को ही—'ऋत्विजं होतारं रत्नधातमम्' कहा है। अर्थात् नियमित गति, ऋतुओं का निर्माण, हव्य पदार्थों का ग्रहीता, वितरक, दाता तथा रमणीय पदार्थों को धारण करने वाला एवं दाता कहा है। सृष्टि के अन्दर जो रमणीयतम रत्नादि हैं, उनकी प्राप्ति कराने वाला भी यही है। जीवन में सबसे रमणीय रत्न तो परमात्मा ही है।

यज्ञ फल का यजुर्वेद से निर्देश

यजुर्वेद ने इषे त्वा, ऊर्जे त्वा कहा। अर्थात् यज्ञ अन्न, विद्या, विज्ञान, बल, रस, आनन्द

आदि की प्राप्ति कराने वाला है। संसार में सर्वोत्कृष्ट अन्न ब्रह्म है। सर्वोकृष्ट विद्या—विज्ञान ब्रह्म ही है। वही सब बलों का बल, रसों का रस और आनन्दों का भी आनन्द है। संसार के पदार्थों में जो अन्न, बल, रस एवं आनन्द है, वह उसी का है।

यज्ञफल का साम और अथर्व से निर्देश

सामवेद ने यज्ञ का फल—वीतये—कहा। प्रकाश, गति, कान्ति, उत्पत्ति अर्थात् समृद्धि आदि यज्ञ से प्राप्त होती है। सब प्रकाशों के प्रकाशक, सब गतियों के गतिदाता, समस्त कान्तियों से श्रेष्ठ कान्ति वाले, सबके उत्पत्तिकर्त्ता एवं समृद्धिदाता परमात्मा की भी प्राप्ति इसी योग यज्ञ से है। संसार के पदार्थों में जो अन्न, बल, रस की प्राप्ति एवं आनन्द का अनुभव होता है, वह सब उसी परमात्मा का दिया हुआ कुछ अंशमात्र है। अतः उस प्रभु की स्तति करें, यह भाव—गृणानः—पद में रखा गया है। इस प्रकार यज्ञ से समस्त प्रकार के तेज, बलादि की प्राप्ति होती है। उसको अपने में धारण करने को अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र के—तेषां तन्वो अद्य दधातु मे—इन शब्दों में कहा गया है।

इनका भूर्भुवः स्वः में समावेश

वेदों के इस मूलभूत सिद्धान्त को—भूर्भुवः स्वः—इन तीन शब्दों से व्यवहृत किया गया है। इन्हीं तीनों व्याहृतियों में त्रयी विद्या का बीजरूप में प्रतिपादन है। इन्हीं तीनों शब्दों से तीनों लोकों का तीनों लोकों में स्थित देवों का, तीनों अग्नियों का, तीनों प्राणों का, वेद चतुष्टय का, त्रयी विद्या के रूप में विशाल ज्ञान प्राप्त होता है।

यही महाव्याहृतियां और इनके लोक पुरुष में—

—नाभ्या आसीदन्तरिक्षं—शीर्ष्णो द्यौः—पद्भ्यां भूमिः। (यजु० ३१।१३)

विद्यमान हैं। जब यज्ञों के क्रम से इस पुरुषरूपी यज्ञशाला का—साधन का—ज्ञान होता है तो इसी यज्ञशाला में बैठे सप्त होताओं का भी ज्ञान हो जाता है, जिसके लिए वेद ने कहा है कि—इस शरीर में

'यज्ञस्तायते सप्तहोता' (यजुः ३४।४)

सात होता बैठे हुए अपना यज्ञ कर रहे हैं। जब इस प्रकार यज्ञमय पुरुष का ज्ञान हो जाता है, तब वह मधुर संगीत में अनुभूति प्रकट करने लगता है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ (यजुः ३४।५५)

सात ऋषि इस शरीर में स्थित हैं। ये ही सातों ऋषि इस शरीर की निरंतर रक्षा कर रहे हैं। सुप्त अवस्था में ये सातों, शरीर में व्याप्त ऋषि—जीवात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी स्वप्नावस्था में भी जिनको कभी निद्रा प्राप्त नहीं होती, ऐसे जीवात्मा की रक्षा करने वाले प्राणापानरूप दो देव सदा जागते रहते हैं।

इस मन्त्र में देव एवं ऋषियों को शरीर में स्थित बताया गया है। ये सात ऋषि—पांच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन एवं सातवाँ बुद्धितत्त्व हैं जो शरीर में निवास करते हैं। जागरित अवस्था में निरन्तर कार्यशील रहते हैं और प्राणापान देव तो सदा ही जागरित रहते हैं तथा ये निद्रित अवस्था में भी जागरूक रहते हैं।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियों एवं मन में ऋषितत्त्वों की स्थापना का वेद में निम्न प्रकार भी वर्णन प्राप्त है—

'वसिष्ठ ऋषिः'''त्वया प्राणं गृह्णामि' (यजुः १३।५४)
'भरद्वाज ऋषिः'''त्वया मनो गृह्णामि' (यजुः १३ । ५५)
'जमदग्निर्ऋषिः''' त्वया चक्षुर्गृह्णामि' (यजुः १३ । ५६)
'विश्वामित्र ऋषिः'''त्वया श्रोत्रं गृह्णामि' (यजुः १३ । ५७)
'विश्वकर्म ऋषिः'''त्वया वाचं गृह्णामि' (यजुः १३ । ५८)

वसिष्ठ ऋषि

अर्थात् वसिष्ठ ऋषि के द्वारा प्राण की दिव्य शक्ति को ग्रहण करता । हूँ वसिष्ठ का तात्पर्य है, जो अतिशय अपने वश में करने वाला है। प्राण ही ऐसा तत्त्व है, जिसके वश में सब हैं। प्राण के न रहने पर ये सब भी शरीर को छोड़कर चले जाते हैं, अतः प्राण वसिष्ठ हैं।

भारद्वाज ऋषि

भारद्वाज ऋषि द्वारा मन की दिव्य शक्ति को प्राप्त करना चाहिए। भारद्वाज का तात्पर्य है, जो बल को भरने वाला है। यदि मन निर्मल है, तो शरीर निश्चेष्ट हो जाता है। निरुत्साहित व्यक्ति चाहे कितना ही वसिष्ठ हो, वह कुछ नहीं कर सकता। अतः भारद्वाज ऋषि द्वारा मनोबल और शरीर को उत्साहपूर्ण बनाना चाहिए ऐसी प्रक्रिया का वेद ने संकेत किया।

जमदग्नि ऋषि

इसी प्रकार जमदग्नि ऋषि के द्वारा चक्षु की दिव्य शक्ति को ग्रहण करना चाहिए। जमदग्नि का तात्पर्य है, तेजयुक्त अग्नि तथा प्रकाश आदि। प्रकाश या अग्नि रहित नेत्र कुछ नहीं कर सकते हैं। नेत्र में वह तेज चाहिए कि अभद्र कार्य दृष्टिमात्र से नष्ट हो जाते हैं और 'भद्रं पश्येम' सार्थक हो जाये। अतः नेत्रों के तेज एवं दीप्ति युक्त रहने के लिए जमदग्नि ऋषि की आवश्यकता है।

विश्वामित्र ऋषि

विश्वामित्र ऋषि द्वारा दिव्य श्रोत्रशक्ति को प्राप्त करना चाहिए। विश्वामित्र का तात्पर्य है सबका मित्र। यदि आपके कानों में विश्वामित्र ऋषि विद्यमान है, तो आप किसी कि निन्दा-श्रवण में अपने कानों को प्रवृत्त न होने देंगे। उस अवस्था में 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम' (यजु० २५।२१) सदा कल्याणकारिणी वेदवाणी का श्रवण होता रहेगा।

विश्वकर्मा ऋषि

विश्वकर्मा ऋषि द्वारा वाणी को ग्रहण करने का वेद ने उपदेश किया है। जिसने अपनी वाणी में विश्वकर्मा ऋषि को स्थापित कर लिया, वह अपने सब कार्य सिद्ध कर सकता है। विश्वकर्मा का तात्पर्य है, जो समस्त कार्यों को कुशलता एवं सौन्दर्य से निर्मित करता है। विश्वकर्मा महान् निर्माण करने वाला कला का देव है। यदि हम वाणी को ऐसा बना लें कि उसके द्वारा प्रेम से निर्माण का कार्य होता रहे, तो यह बड़ी भारी विजय है।

प्रार्थनोपासना की आवश्यकता

हमारे शरीर में ऋषि एवं देवों की स्थापना या उनकी अनुभूति अध्यात्म पक्ष का उत्तम अंग है। इसीलिए अपनी शक्तियों के विकास के लिए देवों एवं परमात्मा की स्तुति एवं उनसे विविध शक्तियों की पूर्ति या प्राप्ति की कामना की जाती है। उसके मन्त्र विद्यमान हैं। ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा

की विविध देव-शक्तियों का सम्बन्ध इस पिण्ड रूपी अध्यात्म से है। इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना करना श्रेयस्कर है।

पवित्रता के लिए पितरों से प्रार्थना

अपने अन्दर शक्तियों के परम स्रोत से शक्तियों या गुणों की प्राप्ति से हम भी शक्ति एवं गुणसम्पन्न बन सकेंगे। जो परम शक्ति सम्पन्न है, वह ज्ञान का भी आदि क्षेत्र है। इसलिए वेदों में अपनी बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियों की पवित्रता तथा प्राप्ति के लिए विश्व की तत्सम्बन्धी शक्तियों से प्रार्थना की गई है :

'पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
पवित्रेण शतायुषा ॥ (यजु० १९।३७)

मुझको सोम सम्पादक पितृजन पवित्र करें। अर्थात् जो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, अध्यात्म विद्या में रत हैं, वे सुख एवं शान्तिदायक पवित्र एवं जीवनोन्नति के कार्य के लिए मुझे पवित्र करें, जिससे उस पवित्रता की पात्रता से मुझे भी सोम विद्या प्राप्त हो। मैं भी ऊर्ध्वरेता बनकर वीर्य को सोम रूप बनाकर अपने ब्रह्मकोश शिर में जो देव एवं ऋषिगण हैं, उनको उस सोम से पुष्ट, बलवान् एवं तेजस्वी कर सकूं।

विविध पितृ शक्तियाँ

इस विद्या में जो मेरे प्रथम गुरु या पितृतुल्य हैं, जिनसे प्रथम प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई है, उनके भी जो पितृतुल्य गुरु हैं, वे मेरे लिए पितामह हैं। उनका भी आशीर्वाद, उनसे भी ज्ञान एवं शक्ति-प्राप्ति हो। वे भी मुझे और अधिक पवित्र करें तथा मेरे ज्ञान-परम्परा में जो पितामह हैं, वे मेरे पितामहतुल्य हैं। वे भी अपनी दैवी शक्तियों एवं ज्ञान तथा कर्म की शुद्धि परम्पराओं को देते हुए मेरे कर्मों का निरीक्षण करें। मेरे कार्यों में, ज्ञान में जो त्रुटियाँ हों उनका परिष्कार कराके मुझे पवित्र करें, जिससे मैं पवित्र एवं दैवी शतायु को अर्थात् पूर्ण आयु को प्राप्त कर सकूं। यही पूर्ण एवं पवित्र आयु की प्राप्ति ही मनुष्य के लिए अमृत-प्राप्ति है।

पितरों एवं देवों का भेद

इस उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र में विविध पितरों से पवित्रता की प्रार्थना की गई है। पितर संज्ञा उनकी है, जो मूलभूत पूंजी अर्थात् कारण द्रव्य को देते हैं। पिता स्थूल देहरूपी पूंजी को देता है अतः पितर है। परन्तु जो इस शरीर के विकास में और इसके व्यवहार को सम्पन्न कराते हैं, वे देव हैं।

इसी प्रकार मूल ज्ञान का—अविकसित ज्ञान सम्पत्ति का—दाता भी पितर है और जो उस ज्ञान का विकास एवं उसके व्यवहार का विकास कराने वाले हैं, वे देव हैं। पिता ही पितर संज्ञक है। किसी व्यापारादि के लिए मूल धन दाता पितृतुल्य है। उस धन द्वारा व्यापार-विकास में सहयोगी देवतुल्य हैं। क्योंकि देवों से विकास, उन्नति, प्रसन्नता, आनन्द, क्रीड़ा, व्यवहार, यश, ऐश्वर्य एवं कान्ति की प्राप्ति होती है।

पूंजी का विनिमय देवमार्ग है। पूंजी का सुरक्षित रखना पितृमार्ग है। ज्ञान को रट-रटाकर अर्थहीन सुरक्षित रखना पितृमार्ग है और उस ज्ञान से व्यवहार, आनन्द-प्राप्ति और स्वयं आनन्दित होकर सबको लाभ एवं सुख पहुँचाना देवमार्ग है।

पवित्रता के लिए देवों से प्रार्थना

अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पितरों एवं देवों, इन दोनों शक्तियों से अपनी समृद्धि करनी पड़ती है अतः निम्न मन्त्र में देवजनों से भी पवित्रता के लिए प्रार्थना की गई है।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ (यजु० १९।३९)

अर्थात् मुझे देवजन पवित्र करें। मेरे शरीर को पवित्र करें। मेरे मन और बुद्धियों को पवित्र करें। मेरे कर्मों को पवित्र करें। संसार की समस्त आधिदैविक एवम् आधिभौतिक शक्तियाँ मुझे पवित्र करें। जातवेदा जो परमात्मा है तथा उसकी जो वेदवाणी है, वह मुझे पवित्र करे। जो विविध प्रकार की दृष्ट एवं अदृष्ट सर्वत्र प्रसारित अग्नियाँ हैं, वे मुझे पवित्र करें।

बुद्धि की पवित्रता एवं प्राप्ति की प्रार्थना

इस मन्त्र द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंगों की शुद्धि तथा चरित्र की शुद्धि का वर्णन है। इसी प्रकार बुद्धि की परम पवित्रता के लिए निम्न मन्त्र वेद में आते हैं—

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे ॥ (यजु० ३२।१३।१५)

अद्भुत गुणवाले, जीव के कमनीय, प्रिय, ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर से मेधा की याचना करता हूं। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! ऋषिमुनि आदि विद्वान् गण तथा पालक जन जिस मेधा बुद्धि की उपासना करते हैं, उस बुद्धि से आज मुझे मेधावी बना। वरणीय वरुण परमेश्वर मुझे मेधा बुद्धि दें। अग्रनायक अग्नि तथा प्रजापालक परमेश्वर मुझे मेधा प्रदान करें। ऐश्वर्यशाली इन्द्र तथा सर्वप्रेरक वायु रूपी परमेश्वर मुझे मेधा प्रदान करें।

सविता देव से बुद्धि एवं मार्ग की प्राप्ति

इन मन्त्रों में देव एवं पितर जिस बुद्धि की कामना करते हैं, उसकी प्राप्ति की प्रार्थना की गई है, क्योंकि सृष्टि में पितृ एवं देव तत्त्वों में अद्भुत शक्ति है। हमारा शरीर भी पितृ एवं देव तत्त्वों से बना है। उनका इसमें वास है, अतः उनकी शक्तियों की जागृति से हम पितर एवं देव कोटि के बन सकेंगे। ऐसी बुद्धि वरुण, प्रजापति, इन्द्र, वायु, धाता आदि देवों से, उनके गुणों का अध्ययन करके, उनके अनुकूल कार्य करने के अपने विचार बनाकर कार्य करने से सम्पन्न होती है। ऐसी देवबुद्धि की प्राप्ति से मनुष्य सत्कर्मों की ओर लगा रहता है और उसको परमात्मा के तेज की भी प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन निम्न मन्त्र में है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु० ३०।२)

हम सकल जगत् के उत्पादक, वरणीय देव का, जो अति शुद्ध ग्रहण करने योग्य तेज है, उसको धारण करें, जो कि हमारी बुद्धियों को श्रेष्ठ कार्यों में प्रेरित करे। इसी प्रकार अनेक मन्त्रों में बुद्धि की प्रार्थना है।

दवीं धियं मनामहे। (यजु० ४।११)

हम दैवी बुद्धि की कामना करते हैं। इस प्रकार की पवित्र बुद्धि की प्राप्ति के लिए साधना करनी पड़ती है। तभी वह प्राप्त होती है।

व्रताचरण करना चाहिए

अतः वेद ने कहा—

व्रतं कृणुत—व्रतं कृणुत। (यजु०४.११)

व्रत करो, निश्चय से व्रत करो। क्योंकि—

व्रत का लाभ

व्रतेन दीक्षामाप्नोति। (यजु० १६।३०)

व्रत से दीक्षा की प्राप्ति होती है। अर्थात् आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार व्रतानुष्ठान करने से —

दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति
श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ (यजु० १६।३०)

दीक्षा प्राप्त होने पर दक्षिणा-वृद्धि, उन्नति, समृद्धि का साधन प्राप्त होता है और उस समृद्धि से श्रद्धा की जागृति होती है तथा श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

जीवन में सत्य की उपलब्धि, सत्य का दर्शन ही वास्तविकता है। सत्य से विपरीत अवास्तविकता है। अतः सत्य का अनुष्ठान सत्य पर दृढ़ स्थिति करने से होता है। सत्यप्रतिज्ञ होकर यज्ञ का अनुष्ठानकर्ता सत्यस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यज्ञ के समय यजमान को सत्य व्रत की ही प्रतिज्ञा करनी पड़ती है, जैसा कि—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ (यजु० १।५)

हे व्रतपति! अग्निस्वरूप! ज्ञानप्रकाशक परमात्मा! मैं आपकी प्राप्ति का व्रत ग्रहण करता हूं। उसको मैं पूर्ण करने में समर्थ हो सकूं। आप भी कृपा करके मेरे उस व्रत को पूर्ण कीजिये। यह अनृतमार्गमय जो समस्त लोक-व्यवहार है, जिसे वेद ने अविद्या, असंभूति, विनाश नाम से कहा है, उससे मैं सत्य को—विद्या, संभूति को—शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता हूं।

यज्ञ से भद्र की प्राप्ति

यह सब इसलिए करना है कि यह शरीर परमात्मा ने श्रेष्ठ कर्म करने के लिए दिया है। इस शरीर को अत्यन्त पवित्र श्रेष्ठ, दिव्य एवं शुभकर्मों से युक्त करना चाहिए। जैसा कि निम्न मन्त्र में उपदेश है—

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि। (यजु० ४।१३)

हे प्रभो! यह तेरी साधना के लिए यज्ञसम्बन्धी मेरा शरीर है। इसमें जो त्याज्य भाग है, उसे पृथक् करता हूं। ऐसी साधना से जो साधक साधना करे तो 'दुरितानि परासुव' (यजु० ३०।३) दुरित—बुराइयाँ दूर होती जायंगी और—यद्भद्रं तन्न आसुव—अच्छाइयों की उपलब्धि होगी।

हमारे लिए भद्र क्या है? वेद कहता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम भद्र पश्येम'। (यजु० २५।२१)

हम भद्र ही कानों से सुनें और भद्र ही देखें। इन दोनों प्रकार के भद्र की प्राप्ति यज्ञ से ही हो सकती है। क्योंकि—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। (ऋ० १।७१।४)

इस मन्त्र में वेदवाणी का दर्शन और उसके सुनने का जो आदेश है, उससे पूर्व मन्त्र में निर्दिष्ट, देखने व सुनने की पुष्टि वेदवाणी के लिए ही होती है। वेदवाणी से यज्ञ होता है। उसमें भद्र वेदवाणी का श्रवण तथा यज्ञ के भद्र रूप का दर्शन होता है। अतः भद्र यज्ञ ही है। यज्ञ भद्र इसलिए भी है कि इसकी साधना से परब्रह्म की भी प्राप्ति होती है। सर्व भद्रों का वही भद्र है। उससे बढ़कर भद्र प्राप्ति अन्य कुछ है ही नहीं। इस दृष्टि से अपने शरीर को यज्ञ सम्बन्धी बनाना एवं यज्ञमय बनाना आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। योग यज्ञ द्वारा दिव्य चैतन्य की प्राप्ति हो जाने पर भद्र ही भद्र दिखाई पड़ता है तथा ओ३म् ही सुनाई पड़ता है।

यज्ञ से शरीर की श्रीवृद्धि

इस प्रकार यज्ञमय शरीर बनाने से शरीर में दिव्य छटा आ जाती है और साधक कहता है—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥१॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥२॥
बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम॥३॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥४॥
नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥५॥ (यजु० २०।५९)

अर्थात् अध्यात्म साधनावाला जब अपनी देवरूप पवित्रता करके श्रेष्ठ देवबुद्धि को प्राप्त करता है तो वह कहता है—अब मेरा शिर श्रीयुक्त हो गया है। इसमें दिव्य चिन्तन हो रहे हैं। जिस शिर में दुरित विचार एवं दुरित कर्मों के चिन्तन का मन्थन होता रहता है, उसमें श्री का वास नहीं है। दुर्मति में श्री का वास नहीं होता। अतः शुभ चिन्तन करने वाला शिर एवं शिव संकल्पवान् मन जब इसका संचालन करेगा, तभी व्यक्ति श्रीसम्पन्न कहला सकेगा। सर्वप्रथम इसी के श्रीसम्पन्न होने की आवश्यकता है, जिससे शरीर के अंग-प्रत्यंग सभी में अपनी-अपनी का वास हो सके।

उस अवस्था में 'यशोमुखम्' मुख यशस्वी एवं उज्ज्वल होगा। शिर में श्रेष्ठ देवबुद्धि जब तक न होगी, तब तक अपने मुख पर यश नहीं होगा, न अन्य जनों के मुख पर हमारे यश की वार्ता होगी। जो व्यक्ति मुख की पवित्रता के लिए आहार-विहार की पवित्रता एवं उस पर संयम नहीं कर सकता और वाणी की पवित्रता एवं उस पर संयम करके उसको मधुर, प्रियभाषिणी, हितकारिणी नहीं बना सकता, उसके मुख का यश नहीं हो सकता। अतः अध्यात्म-साधना के लिए मुख को यशस्वी

बनाना होगा।

मुख का यशस्वीपन वाणी से सम्पन्न होता है, परन्तु यदि उसके साथ उस पर दाढ़ी-मूंछ आदि भी हों, तो उसके द्वारा उसकी साधना की परिपक्वता का भी सहज आभास हो जाता है। जो व्यक्ति जितने अधिक दीर्घ काल तक तप या अपनी साधना में जीवन व्यतीत करेगा, उसके कारण दाढ़ी-मूंछ भी उतनी ही अधिक बढ़ेंगे और उनकी परिपक्वता भी उससे प्रकट होगी। अतः 'त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि' मेरे केश व दाढ़ी मूंछ कान्तिमान् हों, यह साधना अपनी उन्नति के लिए करनी पड़ती है।

प्राण शरीर का राजा है, उसे अमृत का पान कराना होगा। प्राण शरीर व इन्द्रियों का राजा होने से इन्द्र है। इन्द्रियाँ ही देव हैं। यदि प्राणरूपी इन्द्र अपने इन्द्रिय रूपी देवों के साथ अमृत का पान नहीं करेगा, तो प्राणरूपी इन्द्र को अजरत्व, निर्जरत्व, अमरत्व कहाँ से प्राप्त होगा। प्राण के जर्जर एवं शक्तिहीन होने से मर्त्यभाव प्रधान हो जायेगा। अतः प्राण जो शरीर का राजा है उसे बलवान् बनाना पड़ेगा। प्राण को बल अमृत से, शुद्ध अध्यात्म प्राण से प्राप्त होता है, जिससे वह सदा जागरित रहता है। यह अमृतत्त्व प्राण को ब्रह्मचर्य एवं प्राणायामादि की आध्यात्मिक साधना से ही प्राप्त होता है। अतः 'राजा मे प्राणो अमृतं' यह वेद ने अपने में चरितार्थ करने का उपदेश दिया।

'सम्राट् चक्षुः' सूर्य अथवा दिव्य चक्षु प्राप्त करना अपनी चक्षुओं को सम्राट् बनाना होता है। इस सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद का दर्शन ही वास्तव में चाक्षुषत्व है। जिस प्रकार से राष्ट्र में सम्राट् की विविध दर्शनशक्ति राज्य को भली-भाँति देखती रहती है और जिस प्रकार से अखिल विश्व का सम्राट् अपनी दिव्य दृष्टि से सर्वत्र देख रहा है, उससे कुछ अचाक्षुष्य नहीं रहता, उसी प्रकार आध्यात्मिक साधना करने वाले को अपनी विविध प्रकार की दर्शन-शक्ति, सम्राट्-शक्ति जागरित करके साधना करनी चाहिए। जिसके नेत्र सम्राट् के समान तेजस्वी होंगे, उसके सामने कौन दुष्ट प्राणी या दुष्ट भाव अंकुरित हो सकेगा। इस प्रकार 'सम्राट् चक्षुः' सूर्य दर्शन की साधना अध्यात्म पक्ष में करनी होगी।

जब मुख, प्राण, नेत्र सभी देव श्रेष्ठ होंगे, तो 'विराट् श्रोत्रम्' की भी साधना में श्रोत्र कैसे पीछे रहेंगे। उन्हें भी इन सबसे जो प्रेरणा मिलेगी, वह भी दिव्य ही होगी। विराट् परमात्मा का वह विराट् शब्द, जो उस विराट् प्रभु के साथ सर्वत्र व्याप्त है, गूढ़ है, अव्यक्त है, अनहत रूप से सर्वत्र विद्यमान एवं प्रकट हो रहा है। वह उसी अवस्था में सुनाई पड़ सकता है, जब हम श्रोत्रों को विराट् के शब्द में लगा देंगे। इसके लिए मध्यमा वाक् से ऊपर पश्यन्ती वाक् में प्रवेश करना चाहिए। उसकी ध्वनि को सुनने के लिए बाह्य शब्दों से वृत्तियों को हटाकर अन्तर्मुख होकर ध्यान में बैठना होगा। विराट् के साथ श्रवण का सान्निध्य करने से 'विराट् श्रोत्रम्' की साधना सिद्ध होगी।

ऐसा साधक कह उठेगा, आओ विश्व के प्राणियो, ऐ मनुष्यो, पशुओ और पक्षियो! मेरी जिह्वा कल्याणकारी हो गई है। अभी तक तुम लोग जिह्वा के वश में इधर-उधर भटकते फिरते हो, तुम मेरे समान 'जिह्वा मे भद्रम्' की साधना करो। यह जिह्वा संसार के विविध रसों में लिप्त होकर उनके वशीभूत होकर, अभद्र बनकर शरीर को अभद्र बना रही है। इस पर संयम करने से वह भद्र—कल्याणकारी बन जायेगी। यह तुम्हारे वश होकर तुम्हें कहीं नहीं भटकावेगी और जो महान् अमृतरस शिरस्थ पद्मों में से निर्झरित होता रहता है, उसके रसास्वादन में लगी रहेगी, जिसे योगी लोग खेचरी मुद्रा द्वारा प्राप्त करते हैं। एक बार जब रसना ने उस रस का आस्वादन कर लिया, तो फिर संसार के सब रस फीके पड़ जायेंगे। संसार के इन रसों से भी परे का वह दिव्य रस है, उसकी खोज करो और 'जिह्वा मे भद्रम्' को सार्थक करो।

जिसने इस प्रकार अपने अंग-प्रत्यंग एवं इन्द्रियों में दिव्य गुणों का आधान किया है, उसकी 'वाङ्महः' वाणी में वास्तव में महानता होती है। उसकी वाणी पूजनीय होती है। उसमें प्रभाव एवं शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वाणी को पूजनीय बनाने के लिए उसकी यथार्थ रूप से साधना करनी चाहिए। परमात्मा की पूजनीय वेदवाणी की साधना से अधिक वाणी की और कौन-सी श्रेष्ठ साधना हो सकती है। वही वाणी सबसे महान् एवं पूजनीय है। उस वाणी के उच्चारण से वास्तव में हमारी वाणी भी पूजनीय होगी और हमारा ज्ञान भी पवित्र होगा। हमारे संकल्प पवित्र बनेंगे। हमारे कर्म भी पवित्र बनेंगे।

इसीलिए मन्त्र में आगे मन तथा कर्मेन्द्रियों को भी श्रेष्ठ गुणयुक्त बनाने के लिए 'मनो मन्युः', 'स्वराड् भामः' कहा है। अर्थात् मेरा मन मन्यु से युक्त हो। मन्यु रहित मन में तेजस्विता नहीं। निस्तेज मन अपने कुसंस्कारों को नष्ट नहीं कर सकता। मन का अशुभ संकल्पों को छोड़ने के लिए जो क्रोध है, वह मन्यु है। वही जब शरीर संयुक्त होकर प्रकट हो जाता है, तो भामः है। यह जो भामः क्रोध है, वह स्वराड् अपने से ही प्रकाशित होने वाला हो, किसी अन्य का हनन करने वाला न हो। अर्थात् अपने में ही जो कुविचार, दुर्भावना एवं अपने ही दुरित कर्म हैं, उन्हें दूर करने के लिए यह प्रकाशित हो।

अब शिर, ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी एवं मन इस प्रकार से श्रेष्ठ गुणयुक्त हो जायेंगे, तो 'मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि' मेरे अंग-प्रत्यंग में, मेरी अंगुलियों में हर्ष और आनन्द विराजने लगता है। उससे कलाओं का विकास होने लगता है और साधक अनुभव करने लगता है कि 'मित्रं मे सहः' साहस मित्र हो गया है। मुझमें अत्यन्त साहस है, बल है। साहस के मित्र बन जाने से प्रत्येक कार्य में सफलता ही प्राप्त होती है। जो निरुत्साही होते हैं, वे कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं कर पाते।

साहस के मित्र बन जाने पर ही साधक कह सकता है, 'बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्'। मेरे बाहुओं में निःसन्देह बल है, इन्द्रियों में ऐश्वर्य भरा हुआ है और हाथों में अपूर्व कर्म एवं पराक्रम स्फूर्ति हो गई है। अब साहस के साथ साधक कह सकता है। 'आत्मा क्षत्रमुरो मम' अर्थात् मेरे हृदय में दृढ़ आत्मबल जागरित हो गया है और सबके रक्षण में मेरी भुजाओं का बल, हाथों का कर्म-कौशल और हृदय का प्रेम समर्पित हो गया है।

मेरी पीठ अब राष्ट्र बन गई है। उस पर मैं देश, जाति एवं संसार के कल्याण एवं उन्नति का भार वहन करूंगा। मेरा उदर, कन्धे, ग्रीवा, कटिप्रदेश, जंघा, घुटने ये सब मेरी प्रजाएँ हैं। मेरे वश में हैं। मेरे नियन्त्रण में हैं और मेरे सहायक हैं। मेरे चित्त ने नाभि केन्द्र के चक्र मणिपुर को जागरित कर लिया है। मेरे ज्ञान ध्यान ने मूलाधार चक्र को भी जागरित कर लिया है और आनन्ददायक स्वाधिष्ठान चक्र को भी जागरित कर लिया है। जांघों और पैरों से आसन धर्म को सिद्ध कर लिया है तथा शरीर-रूपी प्रजा में प्राणरूपी राजा की प्रतिष्ठा कर ली है।

इस प्रकार शरीर के अंगों में गुणाधान आध्यात्मिक साधना में अनेक विधियों से करना होता है।

वर्त्तमान जीवन में आध्यात्मिकता की आवश्यकता

वर्त्तमान समय के जन-जीवन में यदि आध्यात्मिक साधना का प्रवेश हो जायेगा तो जीवन महान् आदर्श बन सकता है और जीवन में सुख एवं शान्ति भी प्राप्त हो सकती है। आज सुख की खोज में मानव भटक रहा है। वह शरीर एवं इन्द्रियों को विषय भोग की भट्टी में झोंकने के साधनों का संग्रह करके अपने चारों ओर रोग, शोक, मोह, द्वेष, क्रोध के दावानलों को भड़काकर सुख और शान्ति के

के मार्ग को खोजना चाहता है। वह कैसे प्राप्त हो ?

शान्ति का निवास बड़े-बड़े प्रासादों में नहीं है। उसे दुनिया के बड़े से बड़े बाजार में से खरीदा नहीं जा सकता। उसे हम बड़े-बड़े उद्यानों में नहीं पा सकते। बड़े-बड़े कीमती वस्त्रों के धारण से वह प्राप्त नहीं होती। विविध प्रकार के भोजन एवं पार्टियों में उसका वास नहीं है।

सच्ची शान्ति कहीं प्राप्त होगी, तो वह अपने में ही प्राप्त होगी। अपने मन की अशान्त वृत्तियों को एक बार चारों ओर से हटाकर अपने में लगा दो। शान्ति के द्वार पर, सुख की देहली पर उस समय तुम अपने को पाओगे और आनन्द की झलक तुम्हें प्राप्त होगी।

मन की साधना से शान्ति

उस समय अनुभव होगा कि यह वह मन ही था, जो अतृप्त होकर, अशान्त होकर, चंचल होकर बार-बार तुम्हें नचा रहा था। तुम्हें उद्विग्न कर रहा था, तुम्हें अपने राग से रंजित कर राग-द्वेष की भट्टी में झोंक रहा था। तुम उसके पीछे विना विचारे दौड़ रहे थे। उसके वश में होकर संसार के मंच पर विनाशक नृत्य कर रहे थे। ऐसी भटकती हुई मानव जाति को वेद अपना दिव्य सन्देश दे रहा है —

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। (यजु० ६।१८)

अपना मन विश्व के विराट् मन से संयुक्त कर दो। वह दिव्य मन है। उसमें दिव्य भावनाएँ बह रही हैं। जब उस मन से तुम अपना मन संयुक्त कर दोगे, तो उस दिव्य मन के संकल्प, ज्ञानादि का आप में भी प्रकाश आने लगेगा। उस वेगवान् प्रवाह से आपके मन के अन्दर जो निकृष्ट संकल्प हैं, वे नष्ट हो जायेंगे। जैसे नदी की वेगवती धाराओं के प्रवाह से, नदी किनारे के छोटे-छोटे गड्ढों के रुके हुए, सड़े हुए, मलिन जल बह जाते हैं और उनमें नवीन जल का प्रवेश हो जाता है, उसी प्रकार आपके मन भी उस दिव्य मन के संकल्प के वेगवान् प्रवाह से दिव्य हो जायेंगे। अतः सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिए अपने मन को दिव्य मन के साथ लगाओ।

मन के साथ प्राण की साधना

अपने प्राणों को भी विश्व के प्राण के साथ संयुक्त करो। यदि हमारा आन्तरिक प्राण बाह्य जगत् के प्राण से सम्पर्क नहीं करेगा, तो हमारे प्राण विषयुक्त होकर हमारे जीवन को नष्ट कर देंगे। इसी क्रिया से हमारा जीवन स्वाभाविक रूप से चलता है। परन्तु यदि हम प्राण की इस विद्या में कुशल होकर इसका अभ्यास प्राणायामादि के द्वारा करेंगे, तो सामान्य स्थिति से बहुत अधिक रूप में हमारा प्राण विश्व के प्राण से संयुक्त होकर विविध प्रकार की शक्तियों की एवं जीवन की वृद्धि करने वाला हो जायेगा।

दीर्घ जीवन प्राणों पर ही आश्रित है। स्वास्थ्य-सम्पादन प्राणों पर ही आश्रित है। जीवन का सुख प्राणों पर ही आधारित है। प्राण ही जीवन है। प्राण और मन दोनों ही मिलकर इस काया-रूपी अपूर्व नगरी को स्वर्ग एवं नरक बना रहे हैं। इन्हीं से यह देह देव बन जाता है और इन्हीं से असुर और राक्षस भी बन जाता है।

मन को संस्कारवान् बनाने की आवश्यकता

आज मानव जाति का मन और प्राण उसके वश में नहीं है। वह दूसरों के संकल्पों एवं जीवन पर अपना आधिपत्य चाहता है। परन्तु उसका स्वयं के मन एवं प्राण पर आधिपत्य नहीं। वह

इसी कारण अपने को और परमात्मा को भी भुला बैठा है। जब उसके मन और प्राण अपने वश में होंगे, तभी वह आत्मोन्नति एवं परमात्मा की ओर बढ़ सकेगा, अन्यथा नहीं।

मन ही वह प्रथम केन्द्र है, जिस पर हमें सबसे प्रथम संस्कार डालना है। यहीं पर प्रथम चयन करना है, जिससे मन उस चयन से आवेष्टित होकर उसमें शक्ति प्राप्त करता हुआ अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सुख और शान्ति के श्रेष्ठ मार्ग की ओर अग्रसर हो सके।

मन की साधना का मन्त्र एवं लाभ

मानव की दुर्बलता को देखकर वेद ने एक मन्त्रवाक्य 'मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु' यह हमें दिया है। इस मन्त्र का जप करो। इसके अर्थ पर ध्यान दो। इस पर आचरण करो। इस संसार में यह मन्त्र तुम्हें वरदायक सिद्ध होगा। अपने मन को कल्याणप्रद, शुभ, श्रेष्ठ, उच्च, उदार एवं उत्तम संकल्पों का अजस्र स्रोत बनाओ। तुम्हारे मन की शिव संकल्पधारा से संसार की रचना सर्वत्र कल्याण, आनन्द, मंगल, शुभ ही की स्थापना होगी तथा सर्वत्र इसी का साम्राज्य दृष्टिगोचर होगा। यही सन्मार्ग की कुंजी है। यही मानव जाति के कल्याण का राजपथ है।

मन की साधना से ही मनुष्य उन्नत होता है और उससे वह आत्म-विज्ञान को प्राप्त करता है। अतः अध्यात्म विद्या में मन का अत्यन्त महत्त्व है। वेद ने इसकी शक्ति का परिचय देने एवं इसको नियन्त्रित करने के लिए सारथि की उपमा के साथ निम्न शब्दों में इसका वर्णन किया है—

'सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव'। (यजुः ३४।६)

जिस प्रकार से उत्तम सारथि अपने रथ के घोड़ों को चलाता है एवं लगाम से घोड़ों का संचालन होता है, तद्वत् यह मन मनुष्य देह को इतस्ततः प्रवृत्तियों में संचालित करता है। अतः मन को सुनियन्त्रित एवं वश में रखकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर करना परमावश्यक है।

एकाग्रता से मन की साधना

मन की साधना के लिए वेद कहता है,—

'युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥ (यजु॰ ११।१)

अर्थात् योगैश्वर्य का सम्पादक प्रथम मन को एकाग्र करता हुआ बुद्धीन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को तत्त्वज्ञान के लिए आत्मज्योति का साक्षात्कार करके पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठता है।

इस मन्त्र में 'युञ्जानः प्रथमं मनः' इन शब्दों द्वारा मन को एकाग्र करने का उपदेश है, जो कि योग का आधारभूत प्रथम लक्षण एवं प्रथम कार्य है। मन को एकाग्र करना अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है। इसी को महर्षि पतंजलि ने योग के द्वितीय सूत्र में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इन शब्दों में लिखा है।

मन की एकाग्रता का लाभ

इस प्रकार की साधना से क्या होता है, इसका उत्तर इसी मन्त्र में 'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य' जो आत्मज्योति या परमात्मज्योति है, उसका निश्चयात्मक ज्ञान होकर उसमें अवस्थित होते हैं। यही वर्णन महर्षि पतंजलि योग के तीसरे सूत्र 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' में लिखते हैं।

प्रवृत्तियों के निरोध की आवश्यकता

मन की इस साधना के लिए—मन को परमात्मा में लगाने के लिए—वेद इस मन्त्र में कह रहा

है 'पृथिव्या अध्याभरत्' अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को पार्थिव पदार्थों अर्थात् सांसारिक दृश्य एवं वासनाओं से ऊपर उठाओ। ये बाह्य वृत्तियाँ ही मन को विचलित करती हैं। अतः 'सविता'—ऐश्वर्य की कामना वाले व्यक्ति को 'तत्त्वाय' परमतत्त्व के ज्ञान, दर्शन या प्राप्ति के लिए 'धियः' चित्त की वृत्तियों का निरोध करना चाहिए। यदि इन वृत्तियों का निरोध करके आत्मा या परमात्मा का दर्शन नहीं करेंगे, तो मन्त्र में पठित 'धियः' शब्द अपनी बहुमुखी वृत्तियों के कारण उन वृत्तियों से हमें चलायमान करता रहेगा। इसी स्थिति को योग-दर्शन के चतुर्थ सूत्र में 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' बताया है।

ये बाह्य वृत्तियाँ ही मन को इतस्ततः भटकाती रहती हैं। मन अशान्त बना रहता है। यदि उस समय हमें अपना लक्ष्य ध्यान में आजाये और मन उस ओर न लगे तो हमें स्वयं प्रश्न करना चाहिए—

'कथं न रमते मनः' (अथर्व० १०।७।३७)

अर्थात् मेरा मन परमात्मा में क्यों नहीं लगता है ? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने पर हमें ज्ञात हो जायेगा कि अमुक वृत्तियों के कारण मन भटक रहा है। उसके ज्ञात होने पर उन वृत्तियों से अपने मन को हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मन एवं उसकी वृत्तियों पर नियन्त्रण हो जाता है।

वृत्ति निरोध के लिए प्राणायाम की आवश्यकता

मन को वृत्तियों से हटाने एवं वश में करने के लिए वेद ने प्राणायाम का अभ्यास करने का उपदेश दिया है।

'प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा'। (यजु० २२।३)

शरीर में जो प्राण-अपान-व्यान-उदानादि विविध प्रकार के प्राण हैं, उन्हें यथावत् क्रिया से संगत करना चाहिए। इसी बात का ज्ञान कराने के लिए यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही 'वायव स्थ' प्राणान्तःकरणेन्द्रिय अपने शरीर में हैं, उनको श्रेष्ठतम कर्म-जीवन यज्ञ में अर्पित करने के लिए उपदेश दिया है। यजुर्वेद १८।२९ में प्राणशक्ति को शरीरस्थ यज्ञ में अर्पित करने के लिए अर्थात् प्राणायाम का विधिवत् अभ्यास करने के लिए—"प्राणो यज्ञेन कल्पताम्" कहा है।

प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण के वश में होने पर मन वश में हो जाता है और मन के निरोध में सहायता होती है, जिससे मन को यथेच्छ स्थान या विचार में नियोजित किया जा सकता है।

आन्तरिक ज्योति की आवश्यकता

जिस प्रकार से हमें बाह्य जगत् के व्यवहार के लिए प्रकाश की आवश्यकता रहती है और उसके विना हमारा कुछ भी कार्य नहीं चलता, इसी प्रकार आन्तरिक जगत् के लिए भी ज्योति की आवश्यकता है। ज्योति के विना कुछ हो नहीं सकता, अतः आन्तरिक क्षेत्र में ज्योति की प्राप्ति आवश्यक है।

दिव्य मन अर्थात् बुद्धि के लिए वेद ने 'ज्योतिषां ज्योतिः' (यजुः ३४।१) कहा है। परन्तु इसका यह स्वरूप भी प्राणायाम, ध्यानादि के अभ्यास से ही प्राप्त होता है। हमारी यह ज्योति ठीक उसी प्रकार की है, जैसे सूर्य के सामने दीपक या सूर्य के सम्मुख तारागणों का प्रकाश है। अतः मन की ज्योति को अपने से महान् ज्योति की प्राप्ति का प्रयत्न करना पड़ता है। विश्वज्योति का दर्शन या उसकी प्राप्ति के विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए वेद ने प्रथम मन्त्र में उस अग्नि की

खोज का उपदेश दिया। यह खोज मन से ही होगी, अतः वेद दूसरे मन्त्र में उपदेश देता है—

आत्म ज्योति को धारण करें

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥ (यजु० ११।२)

अर्थात् उस परम देव सविता के संसार में प्रवर्त्तमान उसकी आज्ञा में या उस योगी विद्वान् की अध्यक्षता में हम एकाग्र मन से सुख लाभ के लिए अपनी सामर्थ्य से आत्मज्योति को धारण करें।

योग का अभ्यास मनुष्यों को करना चाहिए। परमात्मा की सृष्टि में यह प्रथम कार्य है और आवश्यक है। योग का उद्देश्य ही परमात्मा की प्राप्ति है। अतः योग शब्द इसी अर्थ में रूढ़ भी हो गया। लाक्षणिक अर्थों में उसका तात्पर्य 'योगः कर्मसु कौशलम्' भी किया जाता है। किन्हीं दो या अधिक का सम्मिलन अथवा एकत्रीकरण भी योग कहाता है।

योग से परमानन्द-प्राप्ति

आज का भटका हुआ संसार योग से विमुख है। वेद उसे इस मार्ग का दर्शन कराता है। परमात्मा की जो वेद वाणी है, उसी की आज्ञा में प्रवर्त्तमान होकर तथा उसके अनुसार बताये मार्ग द्वारा जो योग में युक्त हैं, उनके संरक्षण या मार्गदर्शन में मोक्षपद-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात् योग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है और उसके लिए 'युक्तेन मनसा वयम्' हम सबको एकाग्र मन से उसमें संलग्न होना चाहिए, ऐसा वेद ने उपदेश किया।

मन को उपासना में लगायें

उस मन को कहाँ लगायें, इसके लिए वेद ने मन्त्र में बताया 'देवस्य सवितुः सवे' सकल जगत् के उत्पादक एवं प्रकाशक परमात्मा की आज्ञा में लगाना चाहिए। परमात्मा की आज्ञा क्या हैं, इसका उत्तर वेद से ही प्राप्त होता है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (यजुः अ० १३। मं० १४) हम उस सुख-स्वरूप परमात्मा की सकल उत्तम सामर्थ्य से उपासना करें। उसकी उपासना से हम में बल, बुद्धि, तेज आदि सामर्थ्यरूपी धन प्राप्त होते हैं। और ज्ञान तथा परमानन्द रूपी महाधन भी प्राप्त होते हैं। इसी को वेद ने 'स्वर्ग्याय'—स्वर्ग, सुख विशेष, वह सुख, आनन्द विशेष जो लौकिक सुखों से परे, लोकोत्तर आनन्द है, उसके लिए यह उपासना है, इसका मन्त्र में संकेत किया है।

उपासना के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं

परन्तु मन में प्रश्न होता है कि हम इस मार्ग को स्वीकार न करके, उस महान् ज्योति परमात्मा को प्राप्त न करके क्या अन्य प्रकार से मोक्ष को—परमानन्द पद को—प्राप्त हो सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान वेद ने निम्न शब्दों में किया है—

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (यजुः ३१।१८) अर्थात् उस परमपुरुष को जो ज्योति का महान् पुंज है, उसी को जान लेने पर जीव मृत्यु को तर जाते हैं और मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं। मन्त्र में 'तमेव' पद है, जिसका तात्पर्य उस एक का ही है और अन्य का निषेध है। इससे स्पष्ट है कि उसी परमात्मा को प्राप्त करने से मोक्षपद की प्राप्ति होती है, अन्य से नहीं।

वही परमात्मा हम जीवों के लिए उपास्य है, ज्ञेय है, प्राप्तव्य है। वही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है। उसी की साधना करने से लक्ष्यपूर्ति होगी। इसी भाव को और स्पष्ट करने के लिए वेद ने कहा—

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजु० ३१।१८)

अर्थात् परमात्म-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य दूसरा मार्ग मोक्ष-प्राप्ति का नहीं है। वही परमात्मा आनन्द का परम धाम है और उसीको प्राप्त करने से उस मोक्षपद की प्राप्ति होती है। अतः हमारा लक्ष्य उस परमात्मा को जानने का तथा उसे प्राप्त करने का होना चाहिए। उसीके लिए योग का उपदेश वेद ने दिया।

परमात्मा को भूलने से मानव भटक रहा है

आज का मानव परमात्मा को भूलकर ही नहीं, अपितु परमात्मा के अस्तित्व को भी अमान्य करके अपने अस्तित्व को ही प्रधानता दे रहा है। जब उसकी दृष्टि में परमात्मा कोई तत्त्व ही नहीं, तो उसकी दृष्टि में यह दृश्यमान संसार ही सब कुछ है। उसके लिए वह स्वयं है और संसार है। वह उसका अनेक प्रकार से भोग करने में लगा हुआ है। संसार के भोग उसे बार-बार थका देते हैं। आशा और निराशा, इच्छा और तृप्ति से संयोग-वियोगात्मक रूप में मन इधर-उधर दौड़ता रहता है और उसे वास्तविक शान्ति और वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो नहीं पाती। वेद के मार्ग पर आये बिना 'देवस्य सवितुः सवे' के बिना उसको चिर शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

वेद योग का प्रतिपादन करते हुए पुनः उपदेश देता है—

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ (यजु० ११।३)

अर्थात् सुख एवं आत्मप्रकाशोन्मुख इन्द्रियों को प्रज्ञा तथा कर्म से संयुक्त करके, प्रेरक बन, ऐश्वर्यवान् योगी महान् आत्मज्योति सम्पादिका इन्द्रियों को प्रेरित करें।

प्रत्याहार

इस मन्त्र में आत्मप्रकाशोन्मुख इन्द्रियों के प्रज्ञा तथा कर्म से संयुक्त करने के प्रयत्न की ओर बढ़ने का संकेत किया है। इन्द्रियाँ अब आत्मप्रकाशोन्मुख हो जाती हैं, बाह्य विषयों की ओर से वे वैराग्य स्थिति प्राप्त कर लेती हैं और उधर से प्रत्यावर्तित होकर ही अन्तर्मुख होने की स्थिति में होती हैं। योगदर्शन में इस स्थिति को प्रत्याहार कहा है। प्रत्याहार के विना योग में प्रवेश नहीं होता।

जीवन को योग यज्ञमय बनायें

इन्द्रियों को आत्मप्रकाशोन्मुख करने के लिए निम्न मन्त्र में योग यज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है—

'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पता ँ श्रोत्र
यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।
प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम॥ (यजु० ९।२१)

आयु को योग यज्ञ से सम्पन्न करने में प्राणों का महत्त्व

हम अपनी आयु को योग यज्ञ से समर्थ बनायें। योग यज्ञ से समर्थ बनाने के लिए प्राण को योग यज्ञमय बनाना होगा। प्राण को योग यज्ञमय बनाने के लिए प्राणों को होता बनाना होगा। प्राण अग्नि है। अग्नि होने से पुरोहित है। पुरोहित होने से सर्वार्थसाधक भी है। गतिशील है। तेजस्वी है। दूतवत् भी है। शरीरयज्ञ का वह आराध्य देव है। इस शरीर के अन्दर विविध प्रकार की ऋतुओं का निर्माता है। उसी से इस जीवन में वसन्त की बहार आती है। रूप-लावण्य, दिव्यता आदि सब इसी की महिमा से अपना हास्य प्रकट करता है। इसी प्राण की महिमा से इस देह में प्रचण्ड गरमी, उष्णता, ताप,

तेज, ओज, मन्यु, भामः, स्वराड्, दीप्ति, ज्योतिः का आविर्भाव होता है और इसमें विराजता है। इसी प्राण के ही कारण इस शरीर में सप्त धातुओं की वर्षा होती रहती है और इसका जीवन वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह प्राण ही शरीर में विविध ऋतुचक्र को चला रहा है। जब यह नहीं रहता तो शरीर का यह सब ऋतुचक्र समाप्त हो जाता है।

यही प्राण इस शरीर में होता बनकर बैठा है और जब तक यह होता बनकर बैठा है, यह शरीर रत्नों का कोष है। प्राण के निकलते ही यह शरीर रत्नों का कोष नहीं रहता। केवल मृत्तिका का रूप रह जाता है और इतना गुण रहित रह जाता है कि भस्म कर दिया जाता है। अतः वास्तव में यह शरीर प्राणों से ही गुणवान्, रत्नवान् बना हुआ है।

यही प्राण होता है। होता के गुणों को देख एवं समझकर इस प्राण को यज्ञ से संयुक्त करें। होता का अर्थ है हव्य पदार्थों का दाता और ग्रहीता। दान और ग्रहण ये अग्नि के गुण हैं। अग्नि में दी हुई आहुति को अग्नि अपने में ग्रहण कर लेती है। पुनः उसका दान करके सर्वत्र प्रसारित कर देती है। इसी प्रकार हम भी प्राण का ग्रहण और संकल्प प्रयत्नपूर्वक करें। अपने संकल्प और प्रयत्नपूर्वक प्राणों को लेने और छोड़ने के कार्य की प्राणायाम संज्ञा है।

प्राणों के लेने और छोड़ने की विधि भेद से तथा उसके साथ काल का विविध प्रकार से जो प्रयोग है उसी से प्राणायाम के अनेक भेद हो जाते हैं। प्राण के इन्हीं विविध प्रकार के अभ्यासों से ही 'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्' सार्थक होता है।

नेत्रों से योग यज्ञ

इस प्रकार प्राणों के यथावत् अभ्यास से अर्थात् उसमें होतृत्व जाग्रत् करने से 'चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्' नेत्र यज्ञ से सम्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् दोनों नेत्र भ्रूमध्य में अपनी दर्शन-शक्ति से अपने दिव्य कार्य अन्तर्ज्योति का दर्शन करते हैं। तब 'प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' योगदर्शन के सूत्र के अनुसार की स्थिति प्राप्त होती है।

श्रोत्रों से योग यज्ञ

ज्योति के दर्शन के साथ पुनः 'श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्' श्रोत्रों को भी योग-यज्ञ में लगाना चाहिए, जिससे आन्तरिक शब्द, अनाहत, दिव्य शब्दों का श्रवण होने लगता है। इसी प्रकार शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय को योग यज्ञ के साथ संयुक्त करना चाहिए। इस शरीर रूपी यज्ञशाला में इस प्रकार सम्पादन यज्ञ करते हुए—

पृष्ठवंश से योग यज्ञ

'पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम्' स्थिति को भी प्राप्त करना चाहिए। इन्द्रियों में संयम करके पृष्ठवंश में जो नाड़ियों के केन्द्र हैं, जिनका सम्बन्ध मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक है, वही नाड़ी जाल ही, जो योगयज्ञ का वास्तव में मेरुदण्ड है, उसके अन्दर प्राणों को प्रवेश कराता है। यही सुमेरु है। सुमेरु के एक भाग पर सूर्य है और दूसरी ओर चन्द्र है। इस सुमेरु की प्रदक्षिणा योगी के प्राणरूपी सूर्य और चन्द्र करते हैं। इन्हीं सूर्य और चन्द्र से योगी के दिन एवं रात्रि का निर्माण होता है। उन्हीं अहोरात्रों से पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं संवत्सर चक्र अध्यात्म पक्ष के बनते हैं। इस प्रकार योगी के यज्ञों से उसका जीवन यज्ञ बनता है।

योगयज्ञ से प्रजापति के साम्राज्य में प्रवेश

जब सर्वात्मना योगी इस प्रकार योगयज्ञ में अपने प्राण, मन व इन्द्रियों की आहुति दे देता है, तब वह 'प्रजापतेः प्रजा अभूम' प्रजापति परमात्मा के साम्राज्य में उसकी प्रजा बनकर प्रवेश कर जाता है और अपने स्वामी के दर्शन करने का अधिकारी हो जाता है। उस स्वामी के साम्राज्य में उसकी प्रजा आसुरी नहीं होती। योगी के अन्दर से सब आसुरी भावों के नष्ट होने एवं दैवी भावों के जाग्रत् होने से सब इन्द्रियाँ देवत्व को प्राप्त होकर 'यजस्व देवम्' के भाव को प्रकट करती हैं और देवरूप होकर सुख एवं ज्योति को प्राप्त करती हैं, जिसे मन्त्र में 'स्वर्देवा अगन्म' कहा है।

इस स्थिति से जब योगी और आगे बढ़ता है, 'अमृता अभूम' यह कहता है। हम अमृत को—मोक्ष को—प्राप्त हों, यही वास्तव में आनन्द की पराकाष्ठा है। इससे आगे कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। जो प्राप्त करना है, वह यहीं प्राप्त होता है।

धारणा

पूर्व वर्णित यजुर्वेद के एकादश अध्याय के तृतीय मन्त्र में प्रत्याहार का उपदेश प्राप्त हो जाने के बाद चतुर्थ मन्त्र में धारणा का निम्न प्रकार उपदेश प्राप्त हो रहा है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ (यजु० ११।४)

इस मन्त्र में योग के साधक के लिए होत्रा और विप्राः ये विशेषण दिये हैं। होत्रा का इस योग विद्या में तात्पर्य हैं, जो प्राणों को छोड़ने एवं ग्रहण करने वाले हैं अर्थात् प्राणायाम का अभ्यास करने वाले हैं। साथ में विप्राः अर्थात् बुद्धि की साधना में जो लगे हैं। इन दोनों प्रकार के विशेषणों से युक्त साधक को चाहिए कि वह योगसाधन के लिए 'मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः' जो सब जगत् को उत्पन्न और सबके प्रकाशक जगदीश्वर की सब प्रकार की स्तुति है, उस तत्त्वज्ञान के विषय में 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियः', अपने मन और बुद्धियों को युक्त करते हैं। मन और बुद्धियों को परमात्मा के तत्त्व-ज्ञान में लगाने की क्रिया योग की परिभाषा में धारणा कही जाती है। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (योगदर्शन, विभूतिपाद सूत्र १) सूत्र में चित्त को देश विशेष में बाँधने को धारणा बताया है। इस वेद मन्त्र में मन और बुद्धियों को परमात्मा के तत्त्वज्ञान में लगानें का आदेश है। अतः यह धारणा की साधना का उपदेश है।

ईश्वर-प्रणिधान

परमात्मा के इस तत्त्वज्ञान में, उसकी महती परिष्टुति में, उसके गुणों का चिंतन योगदर्शन की परिभाषा में 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' (योगदर्शन समाधिपाद सू० २३) की स्थिति है। इसी स्थिति में और अधिक प्रवेश करने के लिए वेद कहता है :—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वतु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ (यजु० ११।५)

अर्थात् 'युजे वां ब्रह्म, मन और बुद्धि तुम दोनों को ब्रह्म में लगाता हूँ। जो ब्रह्म 'पूर्व्यम्' अर्थात् पूर्व योगियों ने प्रत्यक्ष किया है, उसे नमोभिः अर्थात् नमन से, सत्कारों से अपने आत्मा में युक्त करना चाहिए। उसके प्रति अपने हृदय में श्रद्धा जागरित करनी चाहिए। यह नमोभिः पद परमात्मा

के विविध गुणों का स्मरण और उसके श्रद्धायुक्त नमस्कार की भावना का द्योतक है।

जप

परमात्मा के गुणों का बार-बार स्मरण ही जप कहलाता है परमात्मा के नाम का बार-बार स्मरण करना चाहिए। नाम-स्मरण के लिए वेद ने उपदेश किया है :

ओ३म् क्रतो स्मर। (यजु० ४०।१५)

अर्थात् हे कर्मशील जीव! तू इस जीवन को प्राप्त कर उस प्रभु के मुख्य नाम ओ३म् का स्मरण कर।

बार-बार श्रद्धापूर्वक ओ३म् का जाप करने से 'ओम्प्रतिष्ठ' (यजु० २।१३) साधक के प्राण, मन, बुद्धि, हृदय तथा ध्यान में श्रद्धापूर्वक ईश्वर की प्रतिष्ठा—स्थिति होती है तभी साधक की साधना आगे बढ़ती है।

योगदर्शन में इसी रहस्य को खोलने के लिए 'तस्य वाचकः प्रणवः (समाधिपाद सूत्र २७) कहा है। अर्थात् उस परमात्मा का नाम ओ३म् है। इस नाम को स्मरण करने से परमात्मा के अन्य सब नामों का बोध हो जाता है और विविध नामों से जो स्तुति उस परमात्मा की की जाती है, उस सबकी पूर्णता इससे होती है। इसलिए 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगदर्शन, समाधिपाद सू० २८) उस परमात्मा के ओ३म् नाम का स्मरण नाम के अर्थ के चिन्तन के साथ करना चाहिए, यह उपदेश किया है, जिसे वेद ने मन और बुद्धि को लगाकर तथा नमोभिः पद से स्पष्ट किया है।

यम-नियमों के अनुष्ठान की आवश्यकता

ऐसा करने से साधक जिस स्थिति को प्राप्त होता है, उसके लिए मन्त्र में 'श्लोकः' पद है। अर्थात् सत्यवाणी से संयुक्त इस प्रकार का हो जाता है। साधक को स्वयं भी 'श्लोकः' सत्यवाणी तथा सत्य व्यवहार का अनुष्ठान करके अपनी साधना करनी चाहिए।

'श्लोकः' अर्थात् पुण्य, पवित्र, सत्य व्यवहार वाला बनने के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन यमों का तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवम् ईश्वर प्रणिधान इन नियमों का पालन करना चाहिए। यदि साधक की साधना यम नियमपूर्वक नहीं है, तो मन और बुद्धि अशुद्ध, मलिन, असत्य, बाह्य वृत्तियों में रत रहेंगे और साधना सम्पन्न नहीं हो सकेगी।

योगाङ्गों के अनुष्ठान की आवश्यकता

यह योगविद्या का यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का मार्ग 'पश्येव सूरेः' अर्थात् विद्वान् को उत्तम गति के लिए प्राप्त होता है। यह उत्तम मार्ग की गति मोक्ष प्राप्त कराती है। इस मार्ग पर आरूढ़ होकर 'विश्वे पुत्राः अमृतस्य दिव्यानि धामानि तस्थुः' सब श्रेष्ठ पुत्र जो उस परम पिता परमात्मा की आज्ञा के अनुरूप वर्त कर अविनाशी ईश्वर के योग से सुख के प्रकाश में होने वाले स्थानों को प्राप्त होते हैं उन साक्षात्कृतधर्मा योगियों से इस योग विद्या को सरहस्य 'शृण्वन्तु' सुनें, प्राप्त करें एवं अभ्यास करें अर्थात् योगी के संग से योग विद्या प्राप्त करनी चाहिए।

बाह्य यज्ञ, योग यज्ञों की साधनार्थ है

इस प्रकार यजुर्वेद के ११वें अध्याय का यह पंचम मन्त्र यम, नियम, धारणा, ध्यान, समाधि,

आदि योगांगों का प्रकाश करता है। यही योगयज्ञ वास्तव में यज्ञ है। बाह्य यज्ञों में इसी योगयज्ञ के मूल तत्त्वों की स्थापना करके अभ्यास कराया जाता है। दर्शेष्टि से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से यद्यपि बाह्य कर्मकाण्ड किया जाता है, परन्तु वह सब आन्तरिक योगयज्ञ की साधना के लिए साधन रूप से ही है। जो कोई साधक इस रहस्य को न समझकर बाह्य कर्मकाण्ड में ही लगा रहता है, वह भस्म में आहुति देने के तुल्य क्रिया करता है। उसका यह कर्मकाण्ड वास्तव में निष्फल है। परमात्मा के शाश्वत यज्ञ की वृद्धि के साथ हमारा योगयज्ञ भी वृद्धि को प्राप्त होता रहे, इस निमित्त वेद ने कहा है—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ (यजु० ११।७)

अर्थात् हे (देव) सत्य विद्या से उपासना के योग्य शुद्ध ज्ञान के देने वाले और (सविता) सब सिद्धियों को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर! आप (नः) हमारे (यज्ञम्) सर्वश्रेष्ठ सुखरूपी फल मोक्ष को प्राप्त करने वाले योग व्यवहार रूपी यज्ञ को (प्रसुव) अच्छी प्रकार हम में प्रकट कीजिए। उसकी नाना प्रकार से प्रेरणा देते रहिए। तथा (यज्ञपतिम्) इस योग्य यज्ञ के रक्षक, पूर्ण ज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों को भी (प्रसुव) उत्पन्न कीजिए। हे परमेश्वर! आप (गन्धर्वः) पृथिवी को धारण करने वाले हैं, जिसके आश्रय से हम इस पर स्थिर होकर अपना सब योगयज्ञ करते हैं। यह इसीलिए देवयजनि है। इस पृथिवी के आश्रित ही हम इसमें वेदी बनाकर उसमें अग्नि स्थापित करते हैं और उस अग्नि में हवि डालकर उसे प्रदीप्त करके प्रकाश प्राप्त करते हैं। वह अग्नि ऊपर को बढ़ती है और प्रकाश का विस्तार करती है। इसी प्रकार हमारा यह शरीर भी भूमि क्षेत्र है। इस भूमि या क्षेत्र में मूलाधार चक्र पृथिवीवत् है। इस मूलाधार चक्र को देवयजनि बनाने के लिए इसकी शुद्धि करनी होगी। इसमें प्राण एवं ध्यान के आघातों से वेदी बनानी होगी और उस वेदी में योगाग्नि की स्थापना करनी होगी। यही उन्नत दीप्तियुक्त होकर (केतं नः पुनातुः) हमारे ज्ञान को पवित्र करे। यह दीप्ति (केतपूः) है पवित्र ज्ञान वाली है। क्योंकि यह परमात्मा से सम्बन्धित है। अतः परमात्मा भी केतपूः है परमात्मा भी दिव्य शुद्ध गुण कर्म स्वभावों में सर्वोत्तम है तो यह योगाग्नि भी उसका अंश होने से योगी जनों में शुद्ध, गुण, कर्म, स्वभाव को उत्पन्न करती है। यह योगाग्नि (वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु) हमारे मानसिक जप एवं ध्यान द्वारा हमारी मानसिक वाणियों को अच्छी प्रकार ग्रहण करे, उनको रसयुक्त तथा पवित्र करे।

योग यज्ञ से परमानन्द की प्राप्ति

इस योगाग्नि के माध्यम से हम जिस महनीय, सर्वतो महान् परमात्मा की अर्चना साधना, उपासना कर रहे हैं, वह परमात्मा भी हमारे इस योग-यज्ञ में हमारी धारणा, ध्यान, समाधि की साधना में अवलम्बरूपी वाणी, ध्वनि या शब्द को अच्छी प्रकार ग्रहण करे, जिससे हमारे शब्द माध्यम से, वाचिक या मानसिक वाणियों द्वारा या धारणा, ध्यान, समाधि की पश्यन्ती एवं परा-वाणियां सुमधुर बनें और हम उसके माध्यम से परमानन्द का रसास्वादन करते रहें।

आनन्द परमात्मा में है

योग के द्वारा अपना ज्ञान, सृष्टि का ज्ञान और परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। साधक का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है। आनन्द की प्राप्ति के लिए ज्ञान साधक है।

ज्ञान की साधना के लिए विविध प्रयत्न आवश्यक हैं। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति प्रकृति से नहीं हो सकती क्योंकि प्रकृति में आनन्द गुण नहीं है। वेद कहता है—

उतामृतत्वस्येशानः। (यजु० ३१।२)

अर्थात् वह परमात्मा मोक्ष का भी अधिष्ठाता है, पूर्णानन्द रूप मोक्ष का वही स्वामी है। और

त्रिपादस्यामृतं दिवि। (यजु० ३१।३)

उस आनन्द के स्वामी परिपूर्ण आनन्दमय परमात्मा का तीन भाग अमृतत्व मोक्ष सुखमय है। सृष्टि के तत्त्वों के माध्यम से जो कुछ भी क्षणिक सुख लाभ होता है, उसमें भी सुख का मूलकारण परमात्मा का ही है। क्योंकि सृष्टि का जितना भी क्षेत्र है, वह तो उसी पूर्ण पुरुष, परब्रह्म का एक चतुर्थ अंश मात्र है अर्थात् संसार के सम्पूर्ण भोगों में जितना भी आनन्द है, वह सब मिलकर मोक्ष के आनन्द से अति न्यून है। इस स्थिति का ज्ञान देने के लिए वेद ने कहा—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि (यजु० ३१।३)

यह जो समस्त दृश्य एवं अदृश्य जगत् है, वह तो एक चतुर्थांशमात्र है। अतः स्पष्ट है कि सृष्टि की परिधि में जो कुछ भी आनन्द जिस किसी भी माध्यम से अनुभूत होता है, वह उसी आनन्दमूलक परमात्मा के कारण ही है।

योग से ऐश्वर्य-प्राप्ति

परमात्मा ने इस मानव देह को सृष्टि के सार रूप तत्त्वों से बनाया है। अतः परमात्मा को चाहने वालों को इस शरीर को साधन बनाकर अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम एवं प्रयत्न से इस शरीर में साधना करनी चाहिए जैसा वेद ने कहा है—

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन्पाहि सोमम्।
उरुष्य राय एषो यजस्व। (यजु० ७।४)

अर्थात् योगविद्या के जिज्ञासु जनों को चाहिए कि यम नियमादि योग के अंगों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को रोकें और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि-सिद्धियों, धन और इच्छा से सिद्धियों को सिद्ध करें।

मन्त्र में 'उपयामगृहीतोसि, अन्तर्यच्छ, सोमं पाहि, उरूष्य राय एषो यजस्व' आदि सब वाक्य योगैश्वर्ययुक्त विद्वान् के लिए या योग के जिज्ञासु के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उस व्यक्ति को 'मघवा' कहा है। जिस प्रकार से इन्द्र ऐश्वर्य का स्वामी है, देवों का राजा है, उसी प्रकार से जो योगी 'उपयाम-गृहीतोऽसि' यमनियमादि से अपने को सुनियमित किये हुए है, अपनी देव रूपी इन्द्रियों को वश में करके उनका स्वामी बना हुआ है और अपने शरीर में उत्पन्न वीर्यरूपी सोम का ऊर्ध्वरेता बनकर शिरस्थ प्राण इन्द्रियों आदि के साथ स्वयं पान कर रहा है, उसके अविद्यादि क्लेश सब भस्म हो जाते हैं, वह अपने अन्दर के सब महान् खजाने को जिसे वेद ने 'रायः' कहा है, प्राप्त कर लेता है और इषः इच्छा-सिद्धियों को भी प्राप्त कर लेता है। अतः वेद कहता है पहले 'उपयामगृहीतोऽसि' इस पर आचरण करके यम-नियम का व्रत धारण करो। तत्पश्चात् अन्तर्यच्छ, भीतर जो प्राणादि, मन, इन्द्रियाँ आदि हैं उन्हें वश में करो एवं अन्दर प्रवेश करके अन्तर्मुख होओ। अन्तर्मुख होने पर शरीरस्थ सोम की रक्षा करते हुए उनसे अपने मन, प्राण, इन्द्रियों आदि को दिव्य तेज से पूरित कर दो और 'उरूष्यः' केवल शरीर, प्राणादि

की पुष्टि ही न करो, अपितु जो अविद्यादि क्लेश हैं, उन्हें योगविद्या के बल से नष्ट कर दो। ऐसा करने पर योगी अपने अन्दर छिपे हुए खजाने और गुप्त शक्तियों को प्राप्त कर लेता है।

अन्तर्मुख वृत्ति से विश्व का ज्ञान

वेद ने इस मन्त्र में 'अन्तर्यच्छ' कहकर अन्तर्मुख होने का उपदेश किया है। अगला मन्त्र योगी को बताता है कि तेरे अन्दर क्या-क्या है :—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥ (यजु० ७।५)

हे मघवन् योगी! परमेश्वर ने तेरे अन्दर सूर्य और पृथिवी को स्थापित किया हुआ है। तू अपने अन्दर के सूर्य को देख। उसमें ध्यान लगाकर तू सूर्य का ज्ञान-विज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब तू अपनी सूर्य नाड़ी में संयम करेगा, तो जिस प्रकार से सूर्य के प्रकाशित होने पर सब लोक प्रकाशित हो जाते हैं और उन्हें प्राण प्राप्त होता है, उसी प्रकार तुझे भी सब लोकों का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। इस स्थिति को योगदर्शन में 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'। (विभूतिपाद सू० २६) लिखा है। ब्रह्माण्ड में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् ये सप्तलोक या दैवी स्थितियाँ, अवस्थाएँ हैं जिनमें मनुष्य क्रमशः उत्तरोत्तर उच्च स्थिति, दैवी स्थिति को प्राप्त करता जाता है। इसके अतिरिक्त जो लोक या स्थितियाँ हैं, वे निम्न कोटि की हैं। समस्त ब्रह्माण्ड में जीव किसी न किसी स्थिति में रहते हैं। अतः उसका ज्ञान योगी को हो जाता है, क्योंकि परमात्मा ने हमारे देह में सूर्य को अर्थात् कारण समष्टि प्राण रूप सूर्य को स्थापित किया है।

इसी प्रकार उस परमात्मा ने इस शरीर में सूर्य के अतिरिक्त पृथिवी को भी स्थापित किया है। पृथिवी वैदिक साहित्य में 'ध्रुवा पृथिवी' है। अर्थात् ध्रुव का नाम पृथिवी भी है। केन्द्रीय स्थिरत्व एवं उसके आकर्षणानुकर्षण से लोकों की जो विविध गतियाँ हैं, उनका ज्ञान पृथिवी तत्त्व में अपने में संयम, धारणा, ध्यान, समाधि से प्राप्त होता है। योगदर्शन में इसी स्थिति को ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। (विभूतिपाद सू० २८) इन शब्दों में कहा है।

वेद ने पुनः रहस्य का उद्घाटन करने के लिए इस मन्त्र में कहा 'दधामि उर्वन्तरिक्षम्' तेरे अन्दर महान् विस्तृत अन्तरिक्ष को भी स्थापित किया हुआ है। इस अन्तरिक्ष में संयम कर। चन्द्र, नक्षत्र, तारागण आदि सब अन्तरिक्ष के कारण एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् तथा अविरोधी रहते हुए विचरण कर रहे हैं। इस महान् अन्तरिक्ष में संयम करो, चन्द्र, नक्षत्र, तारागणों का ज्ञान भी तुम्हें प्राप्त होगा। तेरे घट में सब कुछ है।

तुम्हारी बाह्य दृष्टि इस समस्त ब्रह्माण्ड का दर्शन नहीं कर सकती। परन्तु तुम अपने घट में
अन्तर्मुख होकर अन्तर्ज्योति से उस सबका साक्षात्कार कर सकते हो। आज सूर्य, चन्द्र, नत्रक्ष, तारागणों
के ज्ञान प्राप्त करने के लिए अरबों रुपये भी अपर्याप्त हैं। परन्तु वेद इन सबके ज्ञान के लिए और इनके
दर्शन के लिए उपदेश कर रहा है कि तू बाहर कहाँ भटक रहा है। थोड़ा-सा प्रयत्न कर। सब कुछ अन्दर
ही देख ले। योगदर्शन ने अन्तरिक्ष ज्ञान के बारे में लिखा, चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। (विभूतिपाद सूत्र २७)
अर्थात् चन्द्र नाड़ी में संयम करने से योगी को चन्द्र, तारा, नक्षत्रादि का ज्ञान प्राप्त होता है।
सूर्य और पृथिवी के मध्य बाह्य जगत् में चन्द्रमा का दर्शन होता है। अतः चन्द्र शब्द अन्तरिक्ष
स्थानीय होने से वेद ने इसके ज्ञान की प्राप्ति का उपदेश दिया। कारण समष्टि प्राणरूप सूर्य और स्थूल
समष्टि रूप पृथिवी के मध्य चन्द्रमा जीव अथवा मन के रूप से चन्द्रदर्शन का अर्थ जीवात्मा दर्शन है।

वेद ने इस मन्त्र में जीवन के लिए सजूः शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि परमात्मा इसका मित्र है। इस प्रकार का योगी देवेभ्यः, विद्वानों से विद्या को प्राप्त करके अथवा शरीर के अन्दर जो ३३ देवता निवास करते हैं, उनका अपनी योग साधना से ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करके 'अवरैः परैश्च अन्तर्यामि मादयस्व' अपने से जो न्यून स्थिति वाले हैं और जो अपने से अधिक योगैश्वर्य वाले हैं, उनसे 'अन्तर्यामि' योग प्रवृत्ति से अन्तर्मुख होकर बारम्बार उपासना योग में निमग्न होकर आनन्द प्राप्त करके उन सबको भी मादयस्व परमानन्द का प्रसाद वितरित करके प्रसन्न किया कर।

इस प्रकार वेद मन्त्र योगी को केवल अपने ही हितचिन्तन का उपदेश नहीं करता, अपितु सबको उस प्रभु की ओर ले चलने के लिए प्रेरित करता है।

सिद्धि प्राप्त मन को परमात्मा के अर्पण करें

योग की पूर्वोक्त सिद्धियाँ मन के संयम से ही प्राप्त होती हैं। उस मन को योग समाधि में स्वाहा करने से दैवी एवं पार्थिव ज्ञान, सिद्धि, शक्तियाँ प्राप्त होने से योगी परमात्मा का प्रिय, स्वीकरणीय बन जाता है, इसका उपदेश निम्न मन्त्र में वेद कर रहा है :—

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो
मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य
ऽउदानाय त्वा ॥ (यजु० ७।६)

हे (सुभव) शोभन ऐश्वर्ययुक्त योगिन्! तू (स्वाङ्कृतोसि) अनादिकाल से स्वयंसिद्ध है, अतः अपने योग विद्या के पूर्व अनुष्ठान के प्रयत्नों से तू युक्त है। तू (दिव्येभ्यः विश्वेभ्यः देवेभ्यः मरीचिपेभ्यः) शुद्ध, समस्त प्रशस्त गुणों और योग के प्रकाश से युक्त है, इसीलिए (त्वा) तुझको परमात्मा स्वीकार करता है। (पार्थिवेभ्यः त्वाः) पार्थिवादि पंच तत्त्वों एवं पृथिव्यादि लोकों के योग ज्ञान से युक्त होने से परमात्मा तुझे स्वीकार करता है। तू (सूर्याय) सूर्य नाड़ी में संयम करके ज्ञानी एवं तेजस्वी बना है, अतः परमात्मा तुझ स्वीकार करता है। (उदानाय त्वा) उदान का जय करके उच्च स्थिति प्राप्त की है अतः तुझे परमात्मा स्वीकार करता है, क्योंकि इस सब साधना का जो मूल अभ्यास (मनः स्वाहा अष्टु) मन को योगयज्ञ में हुत कर देने का है उसे प्राप्त किया है। अर्थात् जब तक मन को योग-यज्ञ में पूर्ण रूप से परमात्मा को अर्पित नहीं कर देते, तब तक परमात्मा उसका वरण नहीं करता। 'यमैवैष वृणुते तेन लभ्यः', यह उपनिषद् उक्ति उसी दशा में चरितार्थ होती है।

परमात्मा द्वारा वरण

यद्यपि योग में अपना संयम-नियम अनुष्ठान काम देता है, परन्तु जब उसे परमात्मा स्वीकार करता है, तो परमात्मा की कृपा की वृष्टि से धर्ममेघ समाधि भी प्राप्त होती है। जब अपना प्रयत्न प्रभु को स्वीकार हो जाता है, तो यही सबसे उच्च आनन्ददायक स्थिति होती है। योग की इस स्थिति का वर्णन वेद का निम्न मन्त्र कर रहा है—

महाँऽ इन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ ऽइव।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे। (यजु० ७।४०)

जिस प्रकार से वृष्टि को प्राप्त कर वनस्पतियाँ अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार योगिजन की स्तुतियों से महान् ऐश्वर्यवान् परमात्मा अपने अनन्त बल से अपूर्व वृष्टि करता है, जिससे योगी पुरुष का योग अत्यन्त वृद्धि एवं पुष्टि को प्राप्त होता है, तब परमात्मा की ओर से यह धर्ममेघ

समाधि की प्राप्ति होती है, जिससे योगी के सब क्लेश दूर हो जाते हैं।

योग से उच्च स्थिति की प्राप्ति

योगी योगयज्ञ द्वारा उत्तरोत्तर उच्च स्थितियों को प्राप्त होता है। इसका वर्णन वेद के निम्न मन्त्र में है—

पृथिव्या ऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (यजु० १७।६७)

अर्थात् योग के अंगों के अनुष्ठान, संयमादि की साधना से धारणा, ध्यान और समाधि में परिपूर्ण होने पर मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष को प्राप्त होऊं। अन्तरिक्ष में पहुंचने के पश्चात् अंतरिक्ष से प्रकाशमान सूर्यलोक को चढ़ जाऊँ। सुख देने वाले प्रकाशमान् उस सूर्यलोक से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊँ।

जैसा वेद के पूर्व मन्त्रों से बताया गया कि इस शरीर में भी पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और स्वः लोक हैं, तदनुसार योगी क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म, उन्नत ज्ञान तथा प्रकाशमय एवं आनन्दमय स्थितियों को प्राप्त करता है।

शरीर का पादस्थानीय भाग ही पृथिवी है, जैसा कि 'पद्भ्यां भूमिः' (यजु० ३१।१३) में वर्णित है। अन्तरिक्ष स्थानीय भाग शरीर का मध्य भाग, नाभिकेन्द्र से कण्ठ तक का है, जैसा कि 'नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्' तथा 'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत' (यजु० ३१।१३) में शिर को द्युस्थानी बताया है। इसी प्रकार स्वर्लोक भी शिर में सहस्रारचक्र है।

मानसिक यज्ञ

बाह्य यज्ञों की क्रियाओं को आन्तरिक योगयज्ञ में आरोपित करने का उपदेश निम्न मन्त्र में है—

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन। (यजु० १७।७८)

जिस प्रकार से यज्ञ में घृत की आहुति देते हैं,उसी प्रकार योगयज्ञ में मन रूपी घृत के साथ चित्त-रूपी अग्नि में आहुति प्रदान कर रहा हूं। मन संकल्प, विकल्प, संशययुक्त रहता है। चित्त निश्चयात्मक स्थिति है। योग के लिए मन की आहुति चित्त की अग्नि में डालकर योगी मन को संकल्प-विकल्प-शून्य बनाकर चित्त के रूप में निश्चयात्मक ज्ञान में स्थिर करता है, जिससे वह धारणा, ध्यान, समाधि की स्थिति प्राप्त करता है।

मानस यज्ञ करने वाला योगी मन को जब चित्त में विलीन कर देता है, तब योगदर्शन के शब्दों में 'तस्य प्रशान्तवाहिता वृत्तिः संस्कारात्'। (विभूतिपाद, सूत्र १०) निरोध संस्कार से चित्त की शान्त प्रवाह वाली गति होती है, जिससे चित्त में सम्प्रज्ञात समाधि का परिणाम होने लगता है।

मन और चित्त के इस प्रकार निर्माण हो जाने पर योगी जब अपने मन एवं चित्त को अन्य के मन और चित्त में आहुत कर देता है अर्थात् प्रवेश कर देता है, तब वह दूसरे के मन एवं चित्त का भी ज्ञान प्राप्त कर लेने की स्थिति में हो जाता है। यही रहस्य योगदर्शन के 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्'। (विभूतिपाद सूत्र १९) इस सूत्र में प्रकट किया गया है और इसी चित्त के आश्रय से ही अनेक सिद्धियां योगी को प्राप्त होने लगती हैं।

आन्तरिक अग्नियों में यज्ञ

आन्तरिक अग्नियों की साधना के लिए वेद ने योगयज्ञ के अनुष्ठान का उपदेश दिया

है। इन अग्नियों का वर्णन करते हुए वेद ने कहा है—

सप्त ते ऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥ (यजु० १७।७९)

शरीर के अन्दर निवास करने वाली अग्नि की सात समिधाएँ हैं, जिनसे यह प्रदीप्त हो रही है। अग्नि की पृथक्-पृथक् समिधाएँ होने से उसकी ज्वाला रूपी जिह्वा, रसास्वादन करने की वृत्तियाँ भी सात प्रकार की हैं। इनके सप्त प्रकार के आश्रय स्थान हैं। सात प्रकार के होतागण इनमें यजन कर रहे हैं। इस कारण सात इसके कारणस्थान हैं।

यद्यपि शरीर में सप्त धातुओं की सात प्रकार की अग्नि है और रस, रक्त, मांस,मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्रादि यही उसकी समिधा हैं। इनकी क्रियाशीलता ही जिह्वा है। इनमें ही अग्नियों का निवास होने से ये इसके प्रिय धाम हैं और ये ही इन अग्नियों की योनि भी हैं और ये सप्त होता बनकर एक के बाद दूसरी अग्नि में अपनी आहुति दे रहे हैं।

इसी प्रकार शरीर में सप्त प्राण भी हैं, वे भी इस शरीर में समिधा जिह्वा, ऋषि, होता आदि बनकर कार्य कर रहे हैं। अनेक रूप से इस मन्त्र का स्वरूप शरीरयज्ञ पर घटित होता है। परन्तु योगयज्ञ को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए शरीर के अन्दर रहस्यपूर्वक निहित सप्त समिधा, सप्तऋषि, सप्त होताओं को घृत बनाकर आहुति देने का निम्न मन्त्र में वर्णन किया है।

(१) आकूतिमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा।
(२) मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳस्वाहा।
(३) चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा।
(४) वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳस्वाहा।
(५) प्रजापतये मनवे स्वाहा।
(६) अग्नये वैश्वानराय स्वाहा। (यजु० ११।६६)

अर्थात् योगयज्ञ का अनुष्ठान करने वाले को प्रथम अपनी संकल्परूपी अग्नि को जाग्रत करना होगा कि मैं इस योगरूपी यज्ञ की अग्नि का अनुष्ठान करूँगा, ऐसी दृढ़ संकल्पमयी भावना से अग्नि को जाग्रत करके उसमें आहुति देनी चाहिए। उसे प्रबुद्ध करना चाहिए उसके प्रबुद्ध करने पर उसकी विविध प्रकार की ज्वालाएँ प्रकट करनी चाहिएँ। सात प्रकार की ज्वालारूप जिह्वा से इस संकल्प में जो विरोधी संकल्प या वृत्तियाँ हैं, उन्हें इस आकूति अग्नि की सप्त ज्वालाओं में सप्त ईंधन के रूप में भस्मीभूत कर देना चाहिए।

इस आरंभिक आकूति अग्नि को नष्ट करने के लिए व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य अविरति और अनवस्थितत्वरूपी सात विघ्न प्रारम्भ में होते हैं। भ्रान्तिदर्शन और अलब्धभूमिकत्व ये दो विघ्न तो आगे उपस्थित होते हैं अतः इन सातों को समिधा बनाकर उनको निःशेष कर देना चाहिए। व्याधि आदि अन्तरायों को भस्म करने के लिए आकूति अग्नि को भी सात प्रकार की ज्वालाओं से ही नष्ट करना होगा। सबके लिए एक समान तेज की आवश्यकता नहीं है। पृथक्-पृथक् बल व तेज (Voltage) का प्रयोग करना पड़ेगा।

यह प्रथम आकूति अग्नि प्राणों से सम्बन्धित है, अतः प्राणों को योग यज्ञ से सम्बन्धित करने के लिए स्वाहा अर्थात् प्रयुक्त करे। अर्थात् प्राणों को संकल्प में, मन के संकल्प-विकल्पों को मेधारूपी अग्नि में, चित्त को प्राप्त ज्ञान की अग्नि में, वाणी को विधृति धारणारूपी अग्नि में, प्रजापति वृत्ति, मन्वादि

कालवृत्ति और वैश्वानरवृत्ति को योगाग्नि में प्रयुक्त करना चाहिए।

इस प्रकार मानस यज्ञ का योगी योगयज्ञ करता है और वह सातों अग्नियों का उनकी समिधाओं का, उनके ऋषियों का उनके स्थानों का, उनकी जिह्वा का और उनकी योनियों का क्रमशः अन्वेषण करके ज्ञान प्राप्त करता है तथा किस अग्नि में, कौन-सी समिधा की आहुति देनी है, किस होता द्वारा किस स्थान में देनी है, यह सब ज्ञान प्राप्त करके अपने योगविघ्नों को दूर कर उन्नति प्राप्त करता है।

जब योगी इस प्रकार योगयुक्त होता है तब—

सं ते मनो मनसः सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्।

हे योगी, तेरा मन तेरे गुरु के मन के अनुसार और तेरा प्राण भी उसके अनुकूल गति करे अथवा साधक का मन और प्राण दिव्य मन और प्राण के साथ संयुक्त हो। इस प्रकार योगी अपने साधना के गुरु के सान्निध्य से या अपने अभ्यास से प्राण और मन को दिव्य बना सकता है।

प्राणों की साधना से ज्ञान का उदय

प्राणायामादि के द्वारा सत्यज्ञान की ज्योति का उदय होता है और अज्ञानान्धकार का नाश होता है। इस ज्योति के उदय से सत्-असत् का, सूक्ष्म-स्थूल का, संभूति-असंभूति का, विद्या और अविद्या का, प्रकृति और पुरुष का, ब्रह्म और माया का अर्थात् उभय पक्ष का ज्ञान योगी को होता है। योगदर्शन में इस स्थिति को निम्न सूत्रों से वर्णित किया है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ (साधनपाद सूत्र २५)

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ (साधनपाद सूत्र २८)

वेद ने इसी मार्ग का दर्शन निम्न मन्त्र में किया है—

प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता॥ (सामवेद १०१३)

अपूर्व अद्‌भुत महान् शक्तियों का शिशुरूप प्राण परम सत्य की किरण, ज्योति या प्रकाश को साधक में प्रेरित करके समस्त प्रिय, ज्ञातव्य पदार्थों को ज्ञान के उभय पक्षों के दर्शन के लिए व्याप्त कर लेता है।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उनका दर्शन प्राण की शक्ति से ही हो रहा है। सामान्यरूप से जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह ऐन्द्रियिक ज्ञान है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर आश्रित है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त वस्तु का परोक्ष ज्ञान भी है, जो इन्द्रियातीत है। अतः प्राण की सामान्य प्रवाहित धारा के आश्रित ज्ञान और प्राण की विशिष्ट धारा के आश्रित परोक्ष ज्ञान या अन्तर्मुख वृत्तिपूर्वक ज्ञान ये प्राण के प्रकाश के द्विविध क्षेत्र हैं जिनका मन्त्र में संकेत है। प्राणायाम के अभ्यास से अन्तर्मुख क्षेत्र का और बाह्य क्षेत्र का सत्य ज्ञान प्रकट होता है अर्थात् नित्य ज्ञान में प्रवेश होता है।

प्राणों की साधना के सप्त धाम

योगयज्ञ में प्राण की साधना के सात प्रिय धाम हैं। वे अत्यन्त गुह्य हैं अतः गुहारूप स्थान हैं। प्राण की धारायें त्रिविधरूप में इन गुहा में व्याप्त हैं तथा इनमें सूक्ष्म नाड़ी जालों द्वारा प्रवाहित होती हैं। योगयज्ञ का अनुष्ठाता साधक, यजमान जब प्राण की इन तीनों धाराओं के साथ उपासना यज्ञ का

अनुष्ठान करता है तो इन गुहा में अवस्थित गुह्य ज्ञान एवं शक्तियों से युक्त हो जाता है। इस स्थिति को निम्न मन्त्र में वर्णित किया है।

उप त्रितस्य पाष्योरभक्त यद् गुहा पदम्।

यज्ञस्य सप्त धामभिरध प्रियम्॥ (सामवेद मं० १०१४)

जब इडा, पिंगला एवं सुषुम्णा के संयोगस्थान चित के स्थान में जो कि प्राण के अन्तर्मुख एवं सुषुम्णा के मुख का गुह्य स्थान, गुहारूप स्थान है उसमें पूर्व मन्त्रानुदिष्ट महान् शक्तियुक्त शिशु रूप अर्थात् सूक्ष्म प्राण का प्रवेश जब भक्त उपासना यज्ञ के द्वारा करता है तब शरीर यज्ञ के सप्त साधना के उत्तर सात प्रिय धामों, सप्त ज्योतिर्मय वेदियों में प्राणों की आहुति से अपने योग यज्ञ को प्रदीप्त करता है। ये सप्त ज्योतिर्मय वेदिवाँ शरीरस्थ सप्त चक्रों के स्थान ही हैं।

त्रिक स्थान से मेरुदण्ड में प्राणों की धारायें

योग यज्ञ की योजना त्रित स्थान से पृष्ठवंश में होती है वही महान् योगेश्वर्य को प्रकट करती है। इस रहस्य को निम्न मन्त्र प्रकट कर रहा है।

त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वैरयद्रयिम्।

मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतः॥ (सामवेद मं० १०१५)

त्रिक स्थान की प्राण की तीन धाराओं से पृष्ठवंश के अन्दर योगैश्वर्य को प्रेरित करता हुआ श्रेष्ठ योगयज्ञ का साधक यजमान पूर्व मन्त्र में बताये जो सप्त धाम हैं उनको उत्तरोत्तर प्राप्त करने की योजना को सिद्ध कर लेता है।

पृष्ठवंश के भीतर इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियां त्रिकस्थान से जो पृष्ठवंश के अधोभाग में है उससे ऊपर को गति करती हैं।

गायत्र एवं आर्की स्थिति

इसी स्थिति को अन्यस्थल पर वेद निम्न शब्दों में कह रहा है:

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ (सामवेद मं० १३४४)

गय प्राणों को कहते हैं अतः गायत्रिणः का अर्थ प्राणायाम का साधक हो जाता है। ऐसा साधक का गानकर्म प्राणरूपी स्वरों का अपने नियतमात्रा काल, आरोह, अवरोहपूर्वक स्वराभ्यास ही गायन है जिस गायन में साधक अपने शरीर एवं मन को लगा देता है। इससे उत्तर स्थिति 'अर्चन्त्यर्कमर्किणः' की होती है। अर्क-सूर्य, तेज, प्रकाश की स्थिति है। प्राणायाम के द्वारा शरीर में तेज, ताप, उष्णता का संचार तो होता ही है परन्तु 'ऋतस्यदीधितम्' (सामवेद मं० १०१३) साधक के मन में ज्ञान रूपी रवि की किरण भी उदय होती है। उस ज्ञान रश्मि से युक्त साधक आदित्यरूप पुरुष का—"योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्" (यजुर्वेद ४०। १७) के अनुसार साधना प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार गायत्र स्थिति से आर्कीस्थिति में पहुंचकर साधक उससे आगे की स्थिति अर्थात् ब्रह्मज्ञान की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। उसी स्थिति में योगयज्ञ का यजमान शतक्रत ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। परमात्मा सैकड़ों प्रकार के यज्ञों को सैकड़ों प्रकार से इस ब्रह्माण्ड में कर रहा है। अतः योगयज्ञ का यजमान यज्ञेन यज्ञमयजन्त (यजुः ३१।१६) अपने शरीर को यज्ञस्थली बना कर यजनीय परमात्मा को अपने में प्रकट कर लेता है।

सुषुम्ना मार्ग

इस योगयज्ञ प्रक्रिया से उच्चतर स्थितियों को प्राप्त करने के लिए वेद ने 'वंशमिव' यह उपमा दी है। बांस के समान उत्तरोत्तर ऊर्ध्व स्थितियों को प्राप्त करने का यम नियमादिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। बाँस की रचना में एक पोर्वा दूसरे पर रखा हुआ तथा सम्बद्ध होता है। उन पोर्वों की गठानें ऊपर चढ़ने वाले के लिए सहायक होती हैं। इसी प्रकार शरीर में भी मेरुदण्ड है। उसे पृष्ठवंश भी कहते हैं। इस पृष्ठवंश के अन्दर सुषुम्णा का मार्ग है।

रश्मि मार्ग

वेद ने "सुषुम्णः सूर्यरश्मिः" कहा है। अर्थात् सुषुम्णा सूर्य की रश्मि है। यह सूर्य की रश्मि पृष्ठवंश में है। प्राणायाम के अभ्यास से इस रश्मि को योगी प्राप्त करता है और इस रश्मिमार्ग से उत्तरोत्तर ऊर्ध्व गति करता हुआ रश्मियों के केन्द्र सूर्य मण्डल को जो सहस्रों रश्मियों का समूह है उसे प्राप्त करता है। यही सहस्रों रश्मियों का समूह सहस्रार चक्र है। अतः वेद की उपमा को योगी अपने में आरोपित करके यौगिक कर्मकाण्ड द्वारा ब्रह्म ज्योति का साक्षात्कार करता है।

सुमेरु

इसी रहस्य को आगामी मन्त्र भी प्रकट कर रहा है।

यत्सानोः सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥ (सामवेद १३४२)

मेरुदण्ड अनेक कशेरुओं से बना है। अर्थात् हमारे मेरुदण्ड में अनेक पर्व या कशेरू हैं। मेरू का अर्थ उस पर्वत से है जिसके ऊपर स्वर्ग है। मेरु ही सुमेरु है। अनेक सुमेरुओं से युक्त हमारा पृष्ठवंश है। इसके अनेक शिखर हैं। एक शिखर के ऊपर दूसरा सुमेरू, उस सुमेरू के शिखर पर तीसरा सुमेरू इसी प्रकार रचना है। और उन सबके ऊपर स्वर्ग है। वहीं स्वर्ग में इन्द्र है।

जिस प्रकार से बाह्य कर्मकाण्डों से एक यज्ञ के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा यज्ञ होता है उसी प्रकार योगयज्ञ का अनुष्ठाता इस मेरुदण्ड के एक सुमेरू के शिखर पर चढ़कर क्रमशः दूसरे, तीसरे आदि शिखरों पर अपने प्राण एवं मन के साथ ध्यान से चढ़ता चला जाता है तथा श्रेष्ठतर पदों की, चित्तभूतियों को या योग स्थितियों को प्राप्त करता है। उसका यह बड़ा भारी अनुष्ठान कार्य है।

उस स्थिति में शिरोभाग में—स्वर्ण में—स्थित इन्द्र अर्थात् जीवात्मा ज्ञानयुक्त होकर अनेक शक्तियों से प्राण, मन एवं शरीर को आलोकित कर देता है।

पर्वतों एवं नदी संगमों का महत्त्व

योग साधन में पर्वतों का अत्यन्त महत्त्व है। इस विस्तृत भू-भाग पर पर्वतों के शिखर, पर्वतों की गुफाएँ, पर्वतों के निकट का प्रदेश, नदियों का संगम योगयज्ञ के अनुकूल स्थान है। योगयज्ञ का अनुष्ठाता विप्र ऐसे प्रदेशों को शरीर की वेदी में बुद्धि द्वारा यथास्थान आरोपित करके तथा उन्हें सुनिश्चित करके योगयज्ञ को अपने में उत्पन्न करते हैं, जैसा कि निम्न मन्त्र में उपदेश है—

उपह्वरे गिरीणाँ सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो ऽ अजायत ॥ (यजु० २६।१५)

अर्थात् योगयज्ञ का अनुष्ठाता पर्वतों की उपत्यकाओं, नदी के संगम में जब अपनी साधना प्रारम्भ करता है, तब वह विप्र, मेधावीजन योगयज्ञ के लिए श्रद्धारूपी सोम एवं आत्मज्ञानरूपी ज्योति को प्रकट करता है।

यद्यपि पर्वत की उपत्यकाएँ, पर्वत, नदी, संगम आदि स्थान इस भूमि पर बाह्य प्रदेश में हैं और उन स्थानों की दिव्यता से परमात्मा की रचना के प्रति योगी का मन आकृष्ट होकर अन्तर्मुख होने से परमात्मा की प्राप्ति में लग जाता है। परन्तु अन्तर्मुख होकर जब वह शरीर के अन्दर स्थित पर्वतों की उपत्यकाओं से उनके शिखरों पर चढ़ता है तो पूर्व मन्त्र में वर्णित स्थितियों को प्राप्त करता है। इन पर्वतों से अनेक नदियों का उद्गम है। अर्थात् इन मेरुदण्ड के सुमेरुओं से अनेक नाड़ियाँ निकलती हैं जिनमें सुषुम्णा का प्रवाह अन्य नाड़िरूपी नदियों में प्रवाहित होता है और उन नाड़ियों के जो संगमरूप समूह गुच्छे हैं, वे नाड़िकेन्द्र योगविद्या में कमल चक्र आदि संज्ञक हैं। उन शरीरान्तर्गत संगम में तथा पर्वतों में जब योगी अपने मन एवं प्राण को प्रवेश करता है तब उसे अद्भुत मेधा प्रकट होती है।

संगम में स्नान से मोक्ष प्राप्ति

इन्हीं में से एक स्थिति को एक मन्त्र में निम्न प्रकार कहा है—

सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ।। (ऋग्वेद परिशिष्ट)

श्वेतवर्ण एवं कृष्णवर्ण की नदियाँ जहाँ मिलती हैं उसमें डुबकी लगाने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो वीर पुरुष ऐसे संगम में अपने शरीर को त्यागते हैं वे विद्वान् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

संगम का रहस्य

बाह्य कर्मकाण्ड आन्तरिक यज्ञ का ही रूप है। शरीर के भीतर श्वेत एवं कृष्णवर्ण की नदियाँ इडा और पिंगला, सूर्य एवं चन्द्र नाड़ियाँ हैं, जिन से प्राण की धारा शरीर में प्रवाहित होती रहती है। इन नदियों का संगम दोनों नेत्रों के मध्य के भाग में नासिका द्वार के ऊपर ही है। यहाँ पर ध्यान रूपी डुबकी लगाने से योगी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है और जो कोई योगिजन इस संगम के मध्य से प्राणों को सहस्रारचक्र में प्रवेश कर के प्राण त्यागता है, उसे मोक्षपद प्राप्त होता है।

वास्तविक स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति आन्तरिक साधनों के संगम स्थान एवं सुमेरु पर आरोहण से होती है। इसी रहस्य को हृदयंगम करने के लिए लोग श्वेत एवं कृष्ण वर्ण की जलधारा वाली गंगा एवं यमुना नदियों के संगम त्रिवेणी में मोक्ष के लिए स्नान करने जाते हैं। हरिद्वार, बदरीनाथ, केदारनाथ, मानसरोवर आदि पर्वत के स्थानों, नदियों के उद्गम स्थानों, गंगोत्री, यमुनोत्री, अमरकंटकादि स्थानों पर जाते हैं।

परन्तु वास्तव में इनका फल अन्दर की साधना से है। अतः ज्ञानी जन इन सब स्थानों का अन्दर में ही निश्चय करके उन-उन स्थानों में ध्यान करते हैं और उनके फलों को प्राप्त करते हैं।

जीवन पर्यन्त योगयज्ञ

योगी का ऐसा यज्ञ जीवन में चलता है जैसा कि वेद ने कहा है—

ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः ।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः ।। (यजु: २६ । १४)

हे योगी ! तेरा जो योगयज्ञ है उसे ऋतुएं विस्तृत करें। चैत्रादि मास तेरे योगयज्ञ की हवि की रक्षा करें। योगी के यज्ञ भी संवत्सरवर्ष भी धारण करे। इस प्रकार योगी के यज्ञ से हमारे प्रजाओं की रक्षा होती है।

योगी का सर्वतोधार यज्ञ

योगियों के हमारे मध्य में रहने से हमारी संतानों की अनेक प्रकार से रक्षा होती है। उन्हें सन्मार्ग पर चलने का उपदेश और क्रियात्मक पथ प्रदर्शन उनसे ही प्राप्त होता है।

जो इस प्रकार योगयज्ञ में लगे रहते हैं वे—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आऽद्याँ रोहन्ति रोदसी।

यज्ञं ये विश्वतोधारँ सुविद्वाँ सो वितेनिरे॥ (यजु० १७।६८)

उत्तम विद्वान् अपने शरीर रूपी योगयज्ञ से समस्त विश्व में जिसकी ज्ञानधाराएँ प्रस्फुटित हो रही हैं एवं विश्व का पालन-पोषण रूप कार्य परमात्मा के जिन नियमों से होता है, एसे विश्वतोधार यज्ञ को विशेष रूप से करते हैं। उससे वे योगिजन स्वर्ग को, आदित्यमण्डल को, दिव्य तेज या दिव्य ज्योति एवं मोक्ष को प्राप्त करते हैं। समस्त सांसारिक कामनाओं से रहित होकर वे योगिजन जरा मृत्यु, शोकादि से रहित द्युलोक को प्राप्त होते हैं।

इस मन्त्र में द्युलोक, स्वर्ग आदि स्थानों का जो वर्णन है वह भी आध्यात्मिक है। शरीर में शिरभाग द्युस्थानीय है। वहीं स्वर्ग है। योगी इसी स्वर्ग में बैठकर आनन्द की प्राप्ति करता है। वेद ने योग यज्ञ में प्राण के मार्ग को अमृत का मार्ग कहा है।

अमृत मार्ग

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था ऽ अमृतो ग्रहाभ्याम्।

सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि……॥ (यजुः १६।६०)

इस मंत्र में नासिका में पराक्रम, बल, जीवन के लिए अवि और मेष की स्थिति से प्राण का अमृत मार्ग है, यह बताया है। प्राण के मार्ग में एक ओर अवि और दूसरी ओर मेष शक्ति है। अवि का अर्थ सूर्य है और मेष ज्योतिश्चक्र का एक अंश है। इस प्रकार मेष से सूर्य की अंश रूप ज्योति से प्रकाशित चन्द्र की स्थिति है। अर्थात् नासिका में एक ओर तो सूर्य शक्ति युक्त प्राण का प्रवाह चलता है और दूसरी तरफ चन्द्रमा शक्तियुक्त प्राण का प्रवाह चलता है। वेद में जो अवि और मेष प्राण हैं वे ही योग के तन्त्र-शास्त्रों में सूर्य चन्द्र स्वर या सूर्य चन्द्र नाड़ियाँ हैं। इन्हीं को योगतन्त्र में यमुना और गंगा कहा है।

प्रयागराज

गंगा-यमुना के संगम में तीसरी नदी अदृष्ट रूप से सरस्वती मानी जाती है, अतः त्रिवेणी का संगम प्रयागराज तीर्थ है। शरीर में इडा नाड़ी ही गंगा है, चन्द्र है और पिगंला नाड़ी यमुना है, सूर्य है। इनके मध्य भाग में सुषुम्णा है, जिसे सरस्वती कहा जाता है। इन तीनों का संगम आज्ञाचक्र में दोनों भ्रुवों के मध्य में है, अतः यह त्रिवेणी स्थान है, प्रयागराज है। इस प्रयागराज में ध्यान या समाधि लगाने से योगी के पुण्यों का उदय होता है और वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। प्रयाग का तात्पर्य है जिसमें विशेष रूप से यज्ञ होते हैं, उनमें भी जो मूर्धन्य, श्रेष्ठ स्थान है, वह प्रयागराज संज्ञक है। अतः ध्यान का—योगयज्ञ का यह आज्ञा चक्र उत्तम स्थान है।

मूर्धा में ज्योति का दर्शन

समाधिमार्ग से योगी अपने शरीर के द्युस्थानी शिर भाग में प्राण को ले जाकर परमात्मा का दर्शन प्राप्त करते हैं। वेद इसे निम्न प्रकार वर्णित कर रहा है—

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत ऽ आ जातमग्निम् ।
कविँ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ।। (यजु० ७। २४)

योगी के शरीर की इन्द्रियाँ देव रूप हो जाने से वे जो इस शरीर में यज्ञ करती हैं, उनसे, प्राण की आहुति से ब्रह्म ज्ञान की अग्नि को शिर के मूर्द्धा स्थान में, उसी को पात्र बनाकर एवं उसको अपना मुख रूप बनाकर प्रकट करती हैं। अर्थात् उस ब्रह्मज्ञान को शिर में इन्द्रियादि देव निष्पन्न करके अमृत भाग को प्राप्त करते हैं। यह अग्नि जो शिर के भी मूर्द्धा सहस्रारचक्र में देदीप्यमान होती है, वह कवि, सम्राट्, अतिथि आदि विशेषणयुक्त है।

ब्रह्म का गुहा में दर्शन

योगयुक्त, विद्वान, वीरपुरुष इस ज्योति का दर्शन करता है। इसका वर्णन वेद की निम्न ऋचा कर रही है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदँ सं च वि चैति सर्वँ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ।। (यजु० ३२।८)

योगयुक्त विद्वान् शरीर की गुहाओं में विभिन्न शक्तियों से युक्त उस तत् पदवाच्य ब्रह्म को देखता है अर्थात् उसको जानता है। शरीर की गुहाओं में वह सब के अन्दर सदा जानने योग्य स्थिति में दृश्यरूप में विराजमान है। वही वास्तव में अनादि, सर्वशक्तिमान् सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, जिसके अन्दर इसी विशाल ब्रह्मांण्ड के पदार्थ एक दूसरे में सन्निविष्ट होकर एक महान् सृष्टियज्ञ का संचालन कर रहे हैं। उसी महतो महीयान् के गर्भ में यह विशाल ब्रह्माण्ड आश्रय प्राप्त किये हुए है। प्रलयावस्था में भी उसी में समाविष्ट हो जाता है। वही सर्वव्यापक पर ब्रह्म सर्वत्र ओत प्रोत है।

ब्रह्मज्ञानी की स्थिति

ब्रह्मज्ञानी उस स्थिति में ब्रह्म का ही प्रवचन करता है, जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में कहा है :—

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ।। (यजु० ३२।९)

वेदवाणी का धारण एवं चिन्तन करने वाला, वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी योगाभ्यास रत, समाधि निर्धूतमल चेतस् विद्वान् उस ब्रह्म का उपदेश करता है, जो 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं' ब्रह्म है। जो अमृत-रूप, शाश्वत एवं अनश्वर है तथा जो अत्यन्त गूढ़ अप्रकट होते हुए भी संसार की स्थिति रचना एवं प्रलय आदि का कर्त्ता है, जिसके तीन स्वरूपों का दर्शन ब्रह्मज्ञानी ही कर पाते हैं। वह इस विश्व गुहा में तथा शरीर में छिपा हुआ है। उसी के द्वारा सर्ग, स्थिति, प्रलय, ऋग्यजुः साम, भूत, भविष्यत्, वर्त्त-मान आदि कार्य होते हैं। इन सबका कर्त्ता होते हुए भी वह गुप्त ही रहता है। यह स्थिति उसी दशा में हो पाती है, जब वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' हो जाता है। उसीको मन्त्र में 'स पितुःपितासत्' पिता का भी पिता, 'गुरु का भी गुरु' 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' तक पहुंच जाता है। और उस दशा में—

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ।। (यजु० १३।५)

ब्रह्म ज्योति या ब्रह्मानन्द रस उस समय उस योगी के मूर्द्धारूपी द्युलोक, अधोभागरूपी पृथिवी-लोक और कारणरूप नाभि प्रदेश तथा अन्तरिक्ष स्थानीय पूर्ण मध्यभाग को अपनी दीप्ति एवं आनन्द-

रस से व्याप्त एवं सिंचित कर देता है। यह स्थिति आनन्द की होती है। जब सब ओर से सब स्थानों में इस शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में उस तेजोमय परम पुरुष का उदय शरीर के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, अध: ऊर्ध्व एवं मध्य इन सातों दिशाओं से होता है और उसका आनन्द रस सब ओर से प्राप्त होता है तथा उसमें योगी की ध्यानरूपी आहुति पड़ती जाती है। और उससे उस द्रप्सः- आनन्द एवं आदित्य की भी सप्त दिशा रूप होताओं से उस योगी में आहुति पड़ती रहती है। इस प्रकार योगी की समाधि का आनन्द बढ़ता ही चला जाता है। उस समय वह योगी कहता है :—

ब्रह्मनिष्ठ का उपदेश

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता ऽआपः स प्रजापतिः ॥
एषो ह देवः प्रादशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स ऽउ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (यजु० ३२।१, ४)

जिस सच्चिदानन्दमय ब्रह्म का मैं अपने अन्दर दर्शन कर रहा हूं, वह सबका कारण ब्रह्म है, कार्य जगत् की अग्नि में है, वही इस आदित्य में है, वही वायुरूप में बह रहा है, वही चन्द्रमारूप से आह्लाददायक रूप में प्रकाशित हो रहा है। वही परम शुद्ध, सर्वत्र व्याप्त, सर्वतो महान् और सब प्रजाओं का स्वामी है।

यही देव अखिल ब्रह्माण्ड में अनेक रूपों में, सब दिशा-विदिशाओं में अनुकूलता से व्याप्त होकर अन्तःकरण के बीच प्रथम कल्प के आदि में भी प्रसिद्ध रूप से प्रकटता को प्राप्त हुआ। पूर्व योगियों ने भी इसी को इसी प्रकार अनुभूत किया था और आगे भी कल्पों में यह इसी प्रकार प्रसिद्धि को प्राप्त होगा। हे मनुष्यो ! यह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और यह सर्वतोमुख रूप अर्थात् मुखादि अवयवों की शक्ति उसकी सर्वत्र है। अतः वही उपासनीय है।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः । (यजु० ३२।२)

उस महामहिम, महाप्रथितयशवान् की कोई प्रतिमा नहीं है। हम उसका प्रतिरूप कैसे बना सकते हैं ? यदि हम उसकी प्रतिमा बना लेते हैं तो वह हमारी ज्ञान परिधि, कर्म परिधि एवं काल परिधि में आ जाता है। परन्तु वह तो हमारी सब परिधियों से भी बाहर है। अतः उसकी प्रतिमा नहीं हो सकती। काल उसे बांध नहीं सकता, क्योंकि—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ (यजु० ३२।२)

हे मनुष्यो ! जिस विशेष प्रकाशमान पूर्ण परमात्मा से सब निमेष कला, काष्ठादि काल के अवयव उत्पन्न होते हैं, उस परमात्मा को कोई भी ऊपर, मध्य या इतस्ततः दिशाओं से ग्रहण नहीं कर सकता। अतः उस कालातीत को प्रतिमारूप से कालबद्ध करना भी संगत नहीं होता। वह तो—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ (यजु० ३२।११)

सब प्राणियों को सब ओर से व्याप्त होके, पृथिवी तथा सूर्यादि लोकों को सब ओर से व्याप्त होके और ऊपर-नीचे सब आग्नेयादि उपदिशा तथा पूर्वादि दिशाओं को सब ओर से व्याप्त होके सत्य के स्वरूप वा अधिष्ठान को सम्मुखता से सम्यक् प्रवेश करता है। उसकी प्रथम प्रकट हुई वेदवाणी का

अध्ययन कर सत् स्वरूप परमात्मा को आत्मा से प्राप्त होओ।

इसी प्रकार उस ब्रह्म के लिए वेद निम्न मन्त्रों में वर्णन कर रहा है—

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ।। (यजु० ३२।१२)

वह परमेश्वर द्यावापृथिवी में व्याप्त होकर, लोकलोकान्तरों में व्याप्त होकर, दिग्दिगन्तरों में व्याप्त होकर, आदित्यमण्डल में व्याप्त होकर सत्य तत्त्व (प्रकृति) के विस्तृत तन्तुजाल को ग्रथित कर उसे देखता है। वह उसका स्वामी है तथा वही उसका स्वामी था और वही स्वामी रहेगा भी।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधम ।। (यजु० २५।१०)

सूर्यादि ज्योतिष्पिण्ड उसके अन्दर गर्भवत् हैं, वही जगदीश्वर इस सृष्टि के पूर्व वर्त्तमान था। वही उत्पन्न हुए जगत् का प्रसिद्ध स्वामी एवं पालनकर्त्ता है। उसने अन्तरिक्ष को, द्युलोक को तथा इस पृथिवी लोक को धारण किया हुआ है। अतएव उस प्रजापति, सुखस्वरूप परमात्मा के लिए हम विशेष भक्तिपूर्वक आत्मसमर्पण द्वारा उपासना किया करें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।

यऽ ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (यजु० २५।११)

जो परमेश्वर जीवन एवं गति धारण करने वाले जगत् अपनी का महिमा से एकमात्र राजा है, जो परमेश्वर इन द्विपाद तथा चतुष्पाद आदि सबका स्वामी है, उस सुखस्वरूप परमेश्वर के लिए हम विशेष भक्तिपूर्वक आत्म-समर्पण द्वारा उपासना करें।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रँरसया सहाहुः।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (यजु० २५।१२)

जिसकी महिमा को अपनी महिमा से हिमवाले पर्वत तथा नदी सहित ये समुद्र भी वर्णन करते हैं, इसी प्रकार जिसकी ये दिशाएँ और उपदिशाएँ भुजाओं के तुल्य हैं, उस देव प्रजापति की हम अत्यन्त श्रद्धापूर्वक भक्ति करें।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (यजु० २५।१३)

जो आत्मज्ञान एवं बल का देने वाला है, सकल विश्व जिसकी प्रशंसा करता है, जिसके शासन में सब दिव्य शक्तियां हैं, जिसका आश्रय अमृत और मृत्यु है, उस देव प्रजापति की हम आत्मसमर्पण द्वारा उपासना करते हैं।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (यजु० ३२।६)

जिसने द्युलोक को तेजोमय किया तथा पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने आदित्य मण्डल धारण किया हुआ है, जिसने मोक्ष को धारण किया है, जो अन्तरिक्ष में लोकलोकान्तरों का निर्माण करनेवाला है, उस प्रजापति परमेश्वर की हम भक्तिभाव से उपासना करें।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।

यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। (यजु० ३२।७)

परस्पर आह्वान करती हुई रक्षणा क्रिया से परस्पर बंधी हुई तथा ईश्वरीय विज्ञान से परस्पर कंपित होती हुई द्यावापृथिवी जिसे लक्ष्य करती है, जिसके अधिकार में सूर्य उदित होकर भासित हो रहा है, उस प्रजापति की हम भक्ति भावना से उपासना करें।

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवाना ँ समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु० २७।२५)

जब महती जल तन्मात्राएँ या परमाणु धाराएँ बीजरूप जगत् कारण को धारण करती हुईं, अग्निपुंज को प्रकट करती हुई संसार में व्यक्त रूप में आईं, तब देवों में एक प्राणस्वरूप जगदीश्वर वर्त्तमान था। उस सुखस्वरूप प्रजापति देव की हम भक्तिभाव से उपासना करें।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवष्वधि देवऽएक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु० २७।२६)

और जो जगदीश्वर अपनी महिमा से बल को धारण करता हुआ तथा सृष्टि यज्ञ को व्यक्त करता हुआ जल तन्मात्राओं या परमाणुव्याप्तियों को साक्षी रूप से देखता है। जो देवों में सर्वोपरि विराजमान है उस सुख स्वरूप प्रजापति देव की हम भक्ति भाव से उपासना करें।

मा मा हि ँसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिव ँ सत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० (१२।१०२)

जो ईश्वर भूलोक का उत्पन्न करने वाला है, जो सनातन नियमों वाला द्युलोक को व्याप्त करता है और अग्नि, जल, वायु एवं चन्द्रादि लोकों को जिसने उत्पन्न किया है, उस दिव्य गुणयुक्त प्रजापति की हम भक्तिभाव से उपासना करें।

इस प्रकार अनेक मन्त्रों में उस परमात्मा के स्वरूप का वर्णन वेद में कियाग या है, जिसे परमात्मा सृष्टि एवं जीव से भी पूर्व, सृष्टि का कर्त्ता, सृष्टि एवं जीव का स्वामी, सवत्र व्यापक सर्व रचयिता, सर्वद्रष्टा, उपास्य एवं प्राप्तव्य निर्धारित किया गया है। अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिए हम सबको योग यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि हम अपने जीवन में योग यज्ञ द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार नहीं करेंगे तो—'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'—महान् विनाश के पथ पर चलते हुए दुःख सागर में ही गोते लगाते रहेंगे और आत्म ज्ञान से विमुख रहकर घोर अन्धकार में अन्धे के समान भटकते रहेंगे।

वैदिक समाजशास्त्र

ब्रह्म में समाजवाद का दर्शन

समाजशास्त्र ही मानव धर्म है अथवा मानव धर्म का ही अपर पर्यायवाची शब्द समाजशास्त्र है। इस विशाल ब्रह्माण्ड का संगठन एक परिवार के रूप में है। परमात्मा उसका स्वामी है। संसार की विविध शक्तियाँ उसके अंग रूप हैं। वेद ने इसे निम्न रूप में वर्णित किया है—

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्नवः।
अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ (अथर्व० १०।७।७३)

जिस महान् विराट् ब्रह्म के सूर्य एवं चन्द्र नेत्र तुल्य हैं, अग्नि मुख तुल्य है, उस परब्रह्म को हमारा श्रद्धापूर्ण अभिवादन है। इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा वेद ने सृष्टि के जड़ पदार्थों का एक विराट् ब्रह्म के शरीर रूप में वर्णन किया है। यह सृष्टि का समाजवाद है। समाजवाद में विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता एवं पात्रता के आधार पर अपना-अपना कार्य एवं जीवन-निर्वाह करके समाज के एक विशाल जीवन में एक-दूसरे के अंगांगी बनकर, एक-दूसरे के सहयोगी बनकर एवं एक-दूसरे के पूरक बनकर कार्य करते हैं। उसी प्रकार सृष्टि में भी अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा अनेक सूक्ष्म शक्तियाँ एवं तत्त्व क्रमपूर्वक कार्य कर रहे हैं। मनुष्य अपनी मर्यादाएँ तोड़ देता है। वह अपने नियमों को भंग कर देता है, परन्तु सृष्टि के तत्त्व अपनी मर्यादा एवं नियमों को भंग नहीं करते। यह सृष्टि अपने सुदृढ़ समाजवादी नियमों पर चल रही है।

ब्रह्म से मानव समाजवाद

वेद ने जड़ जगत् में समाजवाद का दर्शन जहाँ कराया है, वहाँ चेतन जगत् में—मानव में भी समाजवाद की व्याप्ति बताने के लिए मानव को अपने शरीर में अंग रूप से प्रतिपादित करके एक संगठन में रहकर समाजवाद की प्रेरणा निम्न मन्त्र में दी है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत॥ (यजु० ३१।११)

मानव समाज में ब्राह्मण वृत्ति के व्यक्ति जो विद्यादि में ही विशेष यत्नशील रहते हैं, वे उस विराट्पुरुष के या पुरुष-समाज के मुख तुल्य हैं। जो क्षत्रिय अर्थात् रक्षणादि क्रिया में विशेष रूप से संलग्न रहने वाले एवं रुचि रखने वाले हैं, वे बाहु के तुल्य हैं। जो व्यक्ति या वर्ग विशेष व्यापार, व्यवसायादि में विशेष प्रयत्नशील हैं, वे जंघाओं के तुल्य हैं और जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों को अपनी शारीरिक सेवाएँ अर्पित करके उन्हें अपने-अपने मुख्य प्रयत्नों में संलग्न रहने के लिए अधिकाधिक सुअवसर प्रदान करते हैं, ऐसे व्यक्ति उस परब्रह्म के एवं समाज के आधारस्तम्भ रूप पाद तुल्य हैं।

इस प्रकार वेद ने जड़ एवं चेतन में, मानव में, मानव के वर्गीकृत प्रयत्नों में शरीर एवं उसके

अभिन्न अंगों की स्थिति प्रतिपादित करके एक समाजवाद के निर्माण का उपदेश किया है। सृष्टि में और उसके रचयिता में जब समाजवाद है, तो सृष्टि के समस्त पदार्थों के जीवन में भी समाजवाद है ही। उसका दर्शन पशु-पक्षियों में भी होता है।

पशु-पक्षियों में समाजवाद

गौ, बकरी, भेड़ आदि पशुओं में, शुक, कपोत, मधुमक्खी, क्रौंच आदि पक्षियों में एवं चींटी, चींटे, दीमक आदि अतिक्षुद्र प्राणियों में समूह में रहने की अति प्रबल भावना है। क्रौंच पक्षियों में पंक्ति में उड़ना, चींटियों का एवं चींटों का स्वच्छ मार्ग-निर्माण करके पंक्तिबद्ध चलना और अपने खाद्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना और संग्रह करना, मधुमक्खियों का अपने सुन्दर निवास का निर्माण, उनमें शिशु-जनन एवं मधु का संचय एक विलक्षण अनुशासन एवं कला का द्योतक है।

मोर का नृत्य, कोयल का मधुर कूजन, बया आदि पक्षियों का सुन्दर कलापूर्ण घोंसलों का निर्माण, दीमकों का अनेक मंजिलों वाले कलापूर्ण गृह का निर्माण, पशुओं का अपनी गुफाओं का, चिड़ियों का तथा पक्षियों का अपना आवास स्थान निर्माण, मकड़ियों का सुन्दर जाल-निर्माण, रेशम के कीड़ों का सुन्दर तन्तु-निर्माण, सर्प का सुन्दर केंचुली परिधान तथा उसका परित्याग, तितलियों की विविध वर्ण युक्त साज-सज्जा, सीप, शंख मोती आदि का अपने-अपने दुर्ग में निवास तथा इन सबका अपने निवास, भोजन, रक्षा, आक्रमण, गमनागमन आदि के कार्य समाजशास्त्र के परिचायक हैं।

समाजवाद ही मानव धर्म

परमात्मा की सृष्टि से समाजशास्त्र के बारे में हम बहुत कुछ सीखकर अपने समाजशास्त्र का निर्माण कर सकते हैं। मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है। बिना समाज के इसका निर्वाह नहीं हो सकता और न इसके ज्ञान-विज्ञान कला-कौशल एवं सभ्यता-संस्कृति का ही विकास हो सकता है। यही समाज-व्यवस्था मानव धर्म के विकास का प्रमुख अंग है। अतः मनुष्य को इस मानवधर्म का पालन करना चाहिए और इसका विकास करते रहना चाहिए।

विकसित मानव से ही विकसित मानव-समाज का निर्माण होगा और विकसित मानव-समाज से मानव के व्यक्तित्व का विकास होगा। अतः यह मानवधर्म परमावश्यक है। इसीलिए वेद ने समाज का प्रथम सूत्र-मन्त्र हमें निम्न दिया—

'मनुर्भव' (ऋ० १०।५३।६)

अर्थात् ऐ मनुष्य ! तू इस मानव देह को प्राप्त कर मनुष्य बन, मननशील बन।

संस्कृति एवं सभ्यता का जीवन से उद्गम

जिन मनुष्यों में जितनी ही अधिक उत्तम सामाजिक भावनाएं जाग्रत् की जायेंगी, उनमें उतना ही उत्तम सामाजिक जीवन विकसित हो सकेगा। सामाजिक जीवन व्यक्तिगत जीवन के अनुरूप विकसित होता है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के निरन्तर प्रवाह में संस्कृति एवं सभ्यता का विकास होता जाता है।

वेद ने संस्कृति के विकास के मूलमन्त्र का उपदेश दिया कि विद्या, धन, ऐश्वर्य का दूसरों को दान, उससे श्रेष्ठ भावना, परस्पर मित्रता, जीवन, उन्नति, गति होती है।

समाजवाद का द्वितीय सूत्र-मन्त्र—(२)

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो मित्रो वरुणो अग्निः ।। (यजु० ७।१४)

अर्थात् हे सौम्य गुणयुक्त, हे सर्व ऐश्वर्य के केन्द्र परमात्मन् ! आपने इस सृष्टि में जो विविध ऐश्वर्य भर रखा है और उसके उपयोग लेने की हमें बुद्धि एवं सामर्थ्य दी है, उसके द्वारा हम तेरे उस ऐश्वर्य, विद्या, धन एवं कल्याण के निरन्तर प्रवाह रूप से देने वाले हों। हममें यह स्वार्थवृत्ति न जाग्रत् हो कि संसार का ऐश्वर्य, धन, विद्या, कल्याण पथ हमारे ही लिए है। यह सब को देने के लिए है। सभी अधिकारी हैं, यही सर्वप्रथम सबको मित्र बनाने की है, श्रेष्ठ बनाने की है और जीवन तथा गति देने वाली है।

जीवन व्यवहार से संस्कृति एवं सभ्यता का प्रवाह

सभ्यता का सम्बन्ध बाह्य वातावरण एवं व्यवहार से होता है। उसमें देश, काल, परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार शीघ्र परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु जिस मूल विचार या परम्परा के आश्रित अथवा जिन दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर सभ्यता अपने मूल उद्गम से प्रेरणा प्राप्त कर अपना अस्तित्व बनाये रखती है, वह संस्कृति है। जिस प्रकार नदी अपने उद्गम स्थान से प्रवाहित होकर आगे विशाल क्षेत्रों को सिंचित एवं पल्लवित करती रहती है, उसी प्रकार सभ्यता का जो उद्गम स्थल है, वह कालान्तर में संस्कृति संज्ञक हो जाता है और उसमें प्राचीन परम्परा एवं विचारों का अजस्र प्रवाह एवं पवित्रता सभ्यता को प्राप्त होती रहती है तथा उस सभ्यता से समाज का जीवन-व्यवहार चलता है।

उच्च संस्कृति एवं सभ्यता के लिए परमात्मा की मान्यता

सामाजिक उच्च भावनाएं जो वेद में प्रतिपादित हैं, वे बहुत ही उत्तम हैं और उनपर आरूढ़ होकर विश्व वास्तव में सुखी रह सकता है। वैदिक समाजवाद का आदर्श अखिल ब्रह्माण्ड का एक स्वामी स्वीकार करना और उसके अन्तर्गत जितने भी प्राणी हैं, चाहे वे मनुष्य हों या पशु सबको उस एक अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी की सन्तान या प्रजा मानना है। वेद इस बारे में कहता है—

समाजवाद का तृतीय सूत्र-मन्त्र (३)

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। (यजु० १३।४)

वह परमात्मा इस उत्पन्न हुए जगत् का प्रसिद्ध एकमात्र स्वामी है। वही—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। (यजु० २५।११)

वह परमात्मा इस समस्त संसार का एक मात्र राजा—अधिपति है। मानव के अन्दर इस भावना के जाग्रत् करने की आवश्यकता है, जिससे अपने स्वार्थ के लिए मानव अपने में से संहारक वृत्ति का उच्छेद कर सके। विश्व के प्राणिमात्र के प्रति प्रेम की भावना का उदय हो। सब परस्पर प्रेम-पाश में आबद्ध हों। सब एक-दूसरे के पालन-पोषण करने की भावना से युक्त होकर व्यवहार सम्पन्न करें। इस प्रकार के मानव के व्यवहार, कल्याणकारक तथा सुखदायक संसार में सबके प्रति हो सकें।

उच्च संस्कृति में प्राणिमात्र के कल्याण की भावना का दर्शन

इसी भावना को जाग्रत् करने के लिए वेद में निम्न प्रार्थना है—

समाजवाद का चतुर्थ सूत्र-मन्त्र—(४)

शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। (ऋ० ७।५४।१)

हे प्रभु! आप हमारे मानव एवं पशु-जगत् के लिए सदा कल्याणकारी, सुखदाता होइये और हम भी उसी के अनुसार सबके लिए सुखदाता बनें। वेद की यह भावना वर्तमान सामाजिक जीवन की शिक्षा के मूल में होनी चाहिए। सबके प्रति कल्याण की भावना जाग्रत् हुए बिना हम कैसे आदर्श समाज का निर्माण कर सकेंगे। इस भावना के जाग्रत् होने पर—

वैदिक संस्कृति से मानवों की रक्षा समाजवाद का पंचम सूत्र-मन्त्र (५)

पुमान्पुमान्सं परि पातु विश्वतः। (यजु० २१।५१)

मानव, मानव की सब प्रकार से, सब ओर से, सब साधनों से प्रीतिपूर्वक अच्छी प्रकार रक्षा करने के प्रयत्नों पर अग्रसर हो सकेगा।

आज संसार में मनुष्य अनेक प्रकार के वादों—वर्गवाद, जातिवाद, राष्ट्रवाद आदि में विभक्त हो गया है। एक वर्ग दूसरे वर्ग पर, एक जाति दूसरी जाति पर, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर, एक देश दूसरे देश पर, एक विचारधारा के व्यक्ति दूसरी विचारधारा के व्यक्तियों पर, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर अपना सामाजिक, जातिगत, भौगोलिक, राजनीतिक, वैचारिक एवं साम्प्रदायिक आधिपत्य स्थापित करने के लिए एक-दूसरे के प्रति अविश्वासी, द्रोही, क्रूर, हिंसक और निर्लज्ज बनकर कौन-सी कुटिलता, पाशविकता, बर्बरता, असभ्यता और अन्याय नहीं कर रहा ?

अपने को सभ्य मानने वाले सभी राष्ट्र क्या पशु-पक्षियों के रक्त से इस पृथिवी को रक्तरंजित नहीं कर रहे। अपने हठ और दुराग्रह को दूसरे राष्ट्रों पर लादने और स्वार्थ सिद्धि के लिए क्या मानव के रक्त की नदियां नहीं बहाई जा रहीं ? राष्ट्र एक-दूसरे को विनष्ट करने के लिए भयंकरतम अस्त्रों के निर्माण में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा रहे हैं। हिंसा से शान्ति का स्वप्न लेने वाले, समाज में कभी प्रेम का साम्राज्य और एकत्व की भावना जाग्रत् नहीं कर सकते अतः मनुष्य में विशाल सामाजिक भावना के जाग्रत् करने के लिए प्रत्येक को—

'पुमान्पुमान्सं परि पातु विश्वतः।

वेद के इस महावाक्य का, कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वदा स्मरण कर अपने व्यवहार को उत्तरोत्तर परिष्कृत, मानवता के निर्माण एवं उन्नति में करना चाहिए और प्रत्येक की रक्षा की भावना के साथ, सद्भावना से कार्य करना चाहिए।

इसी भावना को दृढ़ करने के लिए वेद नें कहा—

मा हिꣳसीः पुरुषं जगत्। (यजु० १६।३)

मानव समाज की—पुरुष की हिंसा मत करो। यह रक्षणीय है, पालनीय है। संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है विद्या एवं विज्ञान का यह कोश है। कला-कौशल का अद्भुत सर्जक है। परमात्मा के पश्चात् यही इस सृष्टि का स्वामी है। इसमें अपूर्व पुरुषार्थ है। इसमें अद्भुत चिन्तन शक्ति है। इसमें महान् देवत्व है। देवों की यह दिव्य पुरी है। स्वर्ग का कल्पवृक्ष यही है। यह अपनी कल्पना से इस संसार में विविध प्रकार की सृष्टि का सर्जन करता है। यह हत्या करने योग्य नहीं है क्योंकि इसकी रक्षा से सारे जगत् का कल्याण है। इसीलिए वेद में समस्त जगत् के कल्याण, प्रसन्नता एवं आरोग्य की प्रार्थना की गई है—

समाज के निर्माण के लिए शुभ मन की आवश्यकता

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳ सुमना असत्॥ (यजु० १६।४)

हे समस्त प्राणियों की वाणियों के ज्ञाता परमेश्वर ! मंगलमय वचनों द्वारा हम आपसे बड़ी नम्रता से प्रार्थना करते हैं कि आप ऐसी कृपा कीजिए, जिससे सारा जगत् नीरोग एवं शुद्ध मन वाला हो।

खराब मन ही संसार में अशान्ति, रोग, दुःख आदि उत्पन्न करता है। संसार के प्राणियों का मन शुद्ध करने के लिए ही समाजशास्त्र की रचना है। जिस कार्य से सब की उन्नति हो, सब में सुख बढ़े उसको अंगीकार करना चाहिए। जिन कामों से सब की उन्नति में बाधा पड़े और केवल अपना ही भला हो, ऐसे कार्यों को त्यागना चाहिए।

सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालन करने में समाज को कटिबद्ध होना चाहिए। इससे भूमण्डल में मानवता का विकास होगा। समाज सुखी और सम्पन्न होगा। पारस्परिक राग-द्वेष, वैर विरोध, लूट व आतंक, भय और शंका, अशान्तियां और भ्रान्तियां, गृह-कलह एवं महायुद्ध, हड़ताल और प्रदर्शन, मानव जीवन के व्यवहार से एक बार लुप्त हो जायेंगे। इन्हें निर्मल करने से ही समाज का विशाल एवं सुखी रूप सम्मुख आ सकता है। अतः मानव समाज संसार के उपकार करने के मुख्य उद्देश्य को ग्रहण करे, जिसका वेद विविध प्रकार से संकेत कर रहा है।

सत्य से समाजवाद का विकास

समाज निर्माण के पूर्वोक्त आदर्श को मानव समाज में व्याप्त करने के लिए आवश्यक है कि हमारा पारस्परिक व्यावहार सत्यपूर्ण होना चाहिए। बिना सत्य व्यवहार के हम सब एक-दूसरे की रक्षा नहीं कर सकेंगे। सत्य व्यवहार से ही निश्छल और सच्चे प्रेम का उदय होगा।

यदि समाज के व्यक्तियों का व्यवहार सत्यपूर्ण नहीं होगा, तो परस्पर प्रेम, विश्वास और रक्षा की भावना की जागृति न हो सकेगी। वेद इस सत्य सनातन, ध्रुव सिद्धान्त के बारे में कहता है कि असत्य में कभी श्रद्धा, प्रेम, विश्वास आदि नहीं हो सकते। सत्य में ही श्रद्धा, प्रेम विश्वास होते हैं।

यदि कोई व्यक्ति असत्य के प्रति श्रद्धा करता है तो वह भी उसे असत्य जानकर श्रद्धा नहीं करता, अपितु सत्य समझ कर ही श्रद्धा, प्रेम या विश्वास करता है और ज्योंही उसको यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक बात असत्य है, तभी से उसका पूर्व विश्वास, प्रेम, श्रद्धा या मान्यता नष्ट हो जाती है। अतः श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि सत्य के ही प्रति जाग्रत् होते हैं। इसलिए वेद ने कहा है—

समाजवाद का षष्ठ सूत्र-मन्त्र (६)

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापतिः॥ (यजु० १९।७७)

इस जगत् में प्रजापति ने असत्य और सत्य का भेद करके श्रद्धा को सत्य में स्थापित किया और अश्रद्धा को असत्य में स्थापित किया। अतः समाजशास्त्र का यह आधार भूत सिद्धान्त है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में मानव-समाज को सदा उद्यत रहना चाहिए इसका बहुत ही आदर एवं उदारता से, स्वार्थभावनाओं को त्याग कर प्रचलन करना चाहिए।

सत्य से समाज में प्रीति का उद्गम

सत्य व्यवहार से श्रद्धा एवं प्रीति की सबके प्रति भावना व्यवहार रूप में बनी रहेगी और

उससे समस्त मानव सुखी तथा परस्पर एक सूत्र में प्रेम से आबद्ध रहेंगे। सबके हृदय में सत्य व्यवहार से प्रेमभाव जाग्रत् होगा। प्रेम की भावना जाग्रत् न रहने पर परस्पर छल-कपट एवं असत्य का व्यवहार होने लगता है। उससे समाज में कलह एवं अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। समाज एक सूत्र में आबद्ध नहीं रह पाता। अतः सबसे प्रीतिपूर्वक सत्य, अहिंसा, रक्षा, प्रेमादि धर्मों के अनुसार वर्तने के लिए, समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय एवं मन को एक समान, अत्यन्त प्रीतियुक्त बनाने के लिए वेद आदेश देता है—

समाजवाद का सप्तम सूत्र-मन्त्र —(७)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ (अथर्ववेद ३।३०।१)

अर्थात् तुम सब के हृदयों को मैं सहृदय बनाता हूं, जिससे तुम जैसे अपने लिए सुख की कामना करते हो, उसी प्रकार से अन्यों के लिए भी समान हृदय वाले रहो; तुम्हारे मनों को परस्पर एक-दूसरे से प्रसन्न रखने वाला बनता हूं और उन मनों को वैर-विरोध रहित व्यवहार के लिए बनाता हूं। हनन न करने योग्य गाय जिस प्रकार उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्य भाव से वर्त्तती है, वैसे तुम एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक, वात्सल्यभाव से वर्त्ताव किया करो।

इसका तात्पर्य यह है कि इस मानव देह में परमातमा ने मन एवं हृदयों में सहृदयता एवं समानता के भावों के अंकुर स्थापित कर रखे हैं। उन अंकुरों को हमें पल्लवित एवं पुष्पित करने के लिए हृदय एवं मन को कल्याणकारी, शुभ भावनाओं के मधुर एवं उत्तम जल से सिंचित करना चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का, छोटे-बड़े का परस्पर प्रेम, गौ एवं उसके बछड़े के तुल्य दृष्टिगोचर होने लगे और परस्पर प्रेममय दूध का आदान-प्रदन कर समस्त समाज प्रसन्न एवं पुष्ट हो सके।

समाज में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान छोटा और बड़ा अपेक्षाकृत है। कोई किसी न किसी से आयु में, विद्या में, बल में, धन में, शक्ति में, छोटा और बड़ा दोनों ही स्थिति में है। छोटे का अपने से बड़े के प्रति और बड़े का अपने से छोटे के प्रति वात्सल्यभाव रक्षा एवं पोषण गौ और बछड़े के समान होना चाहिए। इस वात्सल्य भाव से समाज में स्वर्गीय दिव्य प्रेम प्रकट होगा और समाज वास्तव में स्वर्गीय सुख अनुभव करेगा।

समाज के व्यक्तियों का मन शिवसङ्कल्प वाला हो

समाज के व्यक्तियों के मनों से ही समाज में विचारों का उद्गम होता है और उससे कर्मों की प्रवृत्ति होती है। समान रूप से व्यक्तियों के मनों के विकास से सामूहिक कर्मों की प्रवृत्ति बनती है। सामूहिक कर्म समाज के निर्माण में परम सहायक हैं। यदि समाज के व्यक्तियों के मन अच्छे होंगे तो समाज सुदृढ़ और समुन्नत होगा। अतः वेद कहता है—

समाजवाद का अष्टम सूत्र मन्त्र—(८)

मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु। (यजु० ३४।१)

मेरा मन शिव, कल्याणकारी, शुभ, उत्तम संकल्प वाला हो। समाजशास्त्र का यह सिद्धान्त प्रतिपादक वैदिक सूत्र या मन्त्र सदा स्मरणीय है। समाज की तथा उसके समस्त व्यवहार की मानसिक पृष्ठभूमि बनाने के लिए यह आदर्श तुल्य है। समाज के मन के शुभ होने पर वह समाज दोषरूपी शत्रुओं से भी बच सकेगा। 'मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' के निर्माण के लिए वेद ने निम्न प्रयत्न करने का आदेश दिया है—

दुष्ट भावों का त्याग करें नवम सूत्र-मन्त्र—(९)

दुर्मतिं जहि। (यजु० ११।४७)

दुष्ट बुद्धि को सब प्रकार दूर करें। दुष्ट बुद्धि ही सब अनर्थों की जननी है। इन अनर्थों से ही दुःख होते हैं, अतः दुर्मति के त्यागने से—

प्राणिमात्र को दुःखों से दूर करें दशम सूत्र-मन्त्र—(१०)

दुरितानि परासुव। (यजु० ३०।३)

समस्त दुःख दूर किये जा सकते हैं। जो समाज इन मन्त्रों का जप करेगा और सदा इनका अनुष्ठान करेगा तथा इनके अनुसार कार्य करेगा, वह सुखी एवं उन्नत बन सकेगा। उस समाज के व्यक्तियों के दूषित एवं कष्टदायक कर्म दूर रहेंगे और—

सुखों का सर्वत्र प्रसार करें ग्यारहवाँ सूत्र-मन्त्र—(११)

यद्भद्रं तन्न आ सुव। (यजु० ३०।३)

जो कल्याणप्रद विचार एवं कर्म है, वे सबको प्राप्त होंगे। अतः मानव समाज को, उसके प्रत्येक व्यक्ति को—'यद् भद्रन्तन्न आ सुव'—इस को सम्यक् प्रकार चरितार्थ करना होगा।

'दुरित'—क्या हैं? और 'भद्र' क्या है? इसका ज्ञान समाज को होना चाहिए। जीवन को भद्रोन्मुख करना चाहिए। संसार में आज जो कहीं भी भद्र की प्रतीति होती है, उसका जो स्रोत है उसकी ओर यदि हमारा समाज निरन्तर बढ़ता जाये, तो समाज भद्रमय, आनन्दमय, कल्याणमय एवं शिवमय हो जायेगा। अतः समाज का सम्पूर्ण रूप से प्रयत्न 'दुरितानि परासुव' और 'यद्भद्रन्तन्न आसुव'—की साधना में लगना चाहिए।

दुःखनिवृत्ति एवं सुख-प्राप्ति की साधना

इन दोनों साधनाओं के लिए समाज को कर्म करने होंगे। उनके लिए कठोर श्रम, तप, करना होगा। समाज में ओज और तेज भरना होगा। समाज के जनों को श्रेष्ठ एवं कल्याणकारक कर्मों को करने तथा त्याज्य कर्मों को छोड़ने के लिए मन की प्रबल शक्ति के साथ दृढ़-प्रतिज्ञ बनना होगा। व्रत, नियम आदि का कठोरता से पालन करना होगा। शुभ गुणों और कर्मों का शरीर, वचन एवं मन से पालन करने के लिए तथा शुभ संस्कारों की स्थापना, जागृति एवं प्रचार के लिए विविध प्रयत्नों को करने के लिए कृतप्रतिज्ञ होने का ही नाम व्रत ग्रहण है। अतः व्यक्ति एवं समाज के व्यक्ति शुभ गुणों के ग्रहण के लिए कृतसंकल्प हों और उसके अनुसार अनुष्ठान या आचरण करके अपने शरीर आत्मा एवं मन को दोषों से पृथक् रखने का प्रयत्न करके शुभ गुणों से अपने शरीर, मन एवं आत्मा को परिपूरित करेंगे, वह समाज शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से अवश्य उन्नतशील सदा बना रहेगा। इसीलिए वेद ने कहा—

व्रतों पर आचरण करो बारहवां सूत्र-मन्त्र—(१२)

व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत। (यजु० ४।११)

व्रत करो, जीवन में व्रतों को धारण करो जिससे सर्व प्रकार के शुभ गुणों की अपने अन्दर स्थापना निरन्तर होती रहे। नियमों पर आरूढ़ रहना व्रत है। नियम जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है और व्रत उसका क्रियाशील पक्ष है। ज्ञान और कर्म का समन्वयात्मक समुच्चय जीवन को उन्नतिशील बनाता है।

सृष्टि के पदार्थ व्रतपति हैं

नियमों एवं व्रतों का सार्वजनिक एवं सर्वहितकारी रूप समाज का प्राण है। जब हम सृष्टि के कार्य एवं उसके पदार्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से सार्वजनिक एवं सर्वहितकारी रूप में हो रहे हैं। सृष्टि के विविध कार्य-कलाप के केन्द्र वे पदार्थ भी वेद के शब्दों में व्रतपति हैं।

अग्नि व्रतपति है

वेद हमें बताता है कि—

अग्ने व्रतपाः। (यजु० ५।६)

हे अग्नि! तू व्रतों का पालन एवं रक्षण करने वाला है। सृष्टिरचना में सबसे महान, सब व्रतपतियों के भी व्रतपति परमात्मा ने अग्नि को प्रकाश, गति, उष्णता आदि अनेक शुभ गुणों से युक्त करके, इनको धारण करने और इनका प्रसारण करने का व्रती बनाया है। वह अग्नि अपने व्रतों का तभी से अब तक पालन कर रहा है और जब तक सृष्टि रहेगी तब तक पालन करेगा। अग्नि के इस प्रत्यक्ष व्रत को देखकर जन समाज में तदनुकूल दृढ़तापूर्वक सार्वजनिक, सर्व हितकारी नियमों की दृढ़ता से पालन की प्रेरणा जाग्रत् करने के लिए वेद निम्न मन्त्र द्वारा प्रेरणा दे रहा है—

मनुष्य व्रतों पर चले

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥ (यजु० १।५)

हे व्रतपते अग्ने! आप जिस प्रकार से अन्धकार को दूर कर सत्य का प्रकाश करने वाले हैं, उसी प्रकार मैं भी जन समाज के अज्ञानान्धकार को दूर कर सत्य के प्रकाश का, अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि का, असद्व्यवहार को दूर कर सद्व्यवहार के प्रचार का व्रत लेता हूं। अर्थात् मैं भी तुम्हारे सदृश नियमित रूप से, बिना किसी प्रमाद के यह कार्य करता रहूंगा। यह मेरा स्वभाव बन जाये। अतः व्रत के रूप में इसे अंगीकार करके अपने शरीर, मन और आत्मा को इसके अनुरूप बनाने का प्रयत्न करूँगा। यह मेरा व्रतानुष्ठान कार्य समर्थ बने, ऐसी प्रेरणा मैं आपके गुण, धर्म, व्रतों को देख कर प्राप्त कर सकूँ। इस प्रकार आप मेरे व्रत को सिद्ध कीजिए।

व्रत नियमादि अनुष्ठान के लिए मन, वचन एवं कर्म से जब तक सत्य चिंतन, सत्य वचन एवं सत्य कर्म करने का प्रयत्न नहीं होगा, तब तक इस व्रत की सिद्धि नहीं होगी। अतः व्रतानुष्ठानकर्त्ता में, त्यागने योग्य अनृत भाग को छोड़कर, ग्रहण करने योग्य को अधिक निकटता, प्रीति एवं श्रद्धा से ग्रहण करता हूं।

व्रतों से समाज में आदर्श का निर्माण

जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन में इस मन्त्र की भावना से ओतप्रोत होकर प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक व्यवहार में सार्वजनिक हित को लक्ष्य में रखकर शुभ गुणों के ग्रहण के लिए सत्य व्यवहार को अंगीकार करता रहेगा तो ऐसा समाज आदर्श समाज बन जायेगा और उसमें असत्य, छल, कपट, धोखा, कूटनीति का सर्वथा अभाव हो जायेगा। इस प्रकार परस्पर विश्वास, प्रेम और सहानुभूति का सतत प्रवाह बहता रहेगा और उससे समाज में सुख, शान्ति और आनन्द का साम्राज्य बना रहेगा।

ऐसे राष्ट्र में जनसमाज पर पुलिस, सेना एवं गुप्तचरों आदि का अंकुश नहीं होगा, अपितु सद्भावना, प्रेम, सर्वहितकारी, सर्वोदयी भावनाओं के व्रतों का स्वेच्छया अंकुश होगा। उस अवस्था में बड़ी-बड़ी कोतवालियां, हवालातें, विशाल कारागृह और गगनचुम्बी न्यायालयों के भवनों की आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

अव्रती समाज पतित हो जाता है

समाज के व्यक्ति जब समाज के आदर्शों से पतित हो जाते हैं और सार्वजनिक तथा सर्वोदयी भावनाओं को त्यागकर स्वार्थपरायण हो जाते हैं, तभी असत्य, अविश्वास, छल, कपट, कूटनीति, भ्रष्टाचार, कलह, अशान्ति, लूट, युद्ध आदि का जन्म होता है और सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र एक कारागार के रूप में अपने को आबद्ध पाता है। अतः समाज को इन सब दोषों से पृथक् रखने के लिए आचार को समाज का परम धर्म मानना चाहिए।

चरित्र शुद्धि की आवश्यकता

विविध प्रकार के आचार-विचार एवं चरित्रों की शुद्धि की पुष्टि करने के लिए वेद निम्न शब्दों में उपदेश दे रहा है—

तेहरवाँ सूत्र-मन्त्र—(१३)

चरित्रांस्ते शुन्धामि। (यजु० ६। १३)

तेरे चरित्रों को शुद्ध करता हूं। चरित्र का तत्पर्य उन सब कर्मों से है, जिनके द्वारा हम विविध प्रकार के अपने व्यवहारों को सम्पन्न करते हैं। अर्थात् हमारा आचार-व्यवहार, शील-स्वभाव, संकल्प एवं कर्म सब प्रकार से शुद्ध-पवित्र होने चाहिएँ।

हम व्रतों द्वारा अपने आचरण को, चरित्र को शुद्ध करते हैं। अतः व्रतपति अग्नि के व्रतों या कर्मों एवं गुणों को देखकर अपने में भी गुण धारण करें।

सूर्य, चन्द्र, वायु आदि का व्रत

सृष्टि में सूर्य भी व्रतपति बनकर नियमित रूप से कार्य कर रहा है। चन्द्र भी व्रतपति बनकर अपने नियम पर आरूढ़ होकर अपना मंगलमय व्यवहार सम्पादित कर रहा है। आज से लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व सूर्य एवं चन्द्र के उदय एवं अस्त का जो क्रम था, वह आज भी उनमें दृष्टिगोचर हो रहा है। सूर्य ने कभी शीतलता प्रदान नहीं की और न चन्द्रमा ने कभी उष्णता प्रदान की। वायु भी व्रतपति बनकर संसार को प्राणों से पूर्ण कर रहा है।

जगत् में इन व्रतपतियों को देखकर सृष्टि के आदि से प्रलय पर्यन्त हम उपदेश करते हुए अपने चरित्रों का निर्माण कर सकते हैं। इसीलिए 'सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि—चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि—वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि'—आदि मन्त्रों का समन्वय, बालक का जब उपनयन संस्कार होता है और उसे शूद्रत्व से द्विजत्व में प्रवेश कराया जाता है, तब उसे सृष्टि यज्ञ के इन सब व्रतपतियों को लक्ष्य में रखकर उनके व्रतों को देख एवं अनुभव करके व्रती बनना पड़ता है और स्वीकार करना पड़ता है—

सूर्य एवं चन्द्र के अनुसार गति करो चौदहवाँ सूत्र-मन्त्र (१४)

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। (ऋ० ५। ५१। १५)

हम सूर्य और चन्द्र के कल्याणकारी मार्गों को अच्छी प्रकार जानें। तदनुसार हम अपने जीवन में उनके गुणों एवं नियमों को धारण करके समाज को भी कल्याणकारी मार्गों पर ले चलें। सूर्य और चन्द्र के कल्याणप्रद कार्यों से सृष्टि में जड़ और चेतन जगत् का व्यवहार चल रहा है, अतः हमें भी

अपने समाज या राष्ट्र के नियमित संचालन के लिए, उनसे समाज के संरक्षण, पालन और समृद्धि के आदर्शों को ग्रहण करना चाहिए।

परमात्मा का यह विश्व अपने कर्त्तव्य एवं नियम से हमें सदा शिक्षा देता रहेगा। ये हमारे सदा के पथप्रदर्शक हैं। इनमें सारा रहस्यमय विज्ञान भरा हुआ है। इसीलिए वेद पुनः कह रहा है—

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते। (यजु० २। २६)

सूर्य का जो आवर्त्तन क्रम है, जिसकी नियमितता से काल का सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् परिमाण निर्मित हो रहा है, दिन और रात्रि का चक्र चल रहा है, शुक्ल और कृष्णपक्ष मासों का निर्माण कर रहे हैं और मासों से ऋतुओं का क्रमपूर्वक निर्माण, उनसे अयन, अयनों से संवत्सर, युग, कल्प, मन्वन्तरादि का निर्माण हो रहा है और उससे सृष्टि में भी जीवन का आवर्त्तन क्रम चल रहा है, उसी प्रकार से समाज को भी विविध परिस्थितियों में जीवित, जाग्रत्, समृद्ध, विजयी एवं तेजस्वी बनाये रखना चाहिए। ऐसा उपदेश इस मन्त्र वाक्य से सूर्य के माध्यम से अपने अन्दर ग्रहण करना चाहिए।

परमात्मा की सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ हमें ज्ञान और प्रेरणा दे रहा है, अतः हमें उनके कार्यों का निरीक्षण करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए और तदनुकूल व्यवहार अपने में धारण करना चाहिए। इस कार्य से कभी विमुख नहीं होना चाहिए।

वैदिक श्रमवाद

हमें कर्त्तव्य की ओर निरन्तर प्रेरणा देने के लिए वेद उपदेश दे रहा है—

पन्द्रहवां सूत्र-मन्त्र (१५)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः॥ (यजुः ४०। २)

इस जीवन में कर्म करते हुए जीने की इच्छा करो। अकर्मण्य तथा आलसी बन कर जीने की इच्छा भी मत करो। आराम या आलस्य कर्त्तव्यपरायणता के शत्रु हैं। इनका त्याग करना होगा। निरुद्यमी, आलसी व्यक्ति संसार में कुछ नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्तियों की अकर्मण्यता से समाज में जिन दुष्प्रवृत्तियों का जन्म हो जाता है, वे समाज के लिए महान् अनर्थकारी होती हैं।

अकर्मण्यता से समाज में दोष

अकर्मण्य व्यक्ति आलस्य एवं प्रमाद के वशीभूत होकर विलास में लिप्त रहना चाहते हैं और उस विलास के लिए ऐश्वर्य का संग्रह करते हैं। फिर उस द्रव्य से प्रजा के जीवन को खरीद कर अपने स्वार्थ की पूर्ति में झोंकने लगते हैं। अतः समाज को—'कर्वन्नेवेह कर्माणि' का मन्त्र सतत जपना होगा और अकर्मण्य बनकर दूसरे के धन कों छल से हरण करने की वृत्ति से बचना होगा।

इसके लिए वेद ने उपदेश दिया—

सोलहवाँ सूत्र-मन्त्र (१६)

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (यजु० ४०। १)

समाज का कोई व्यक्ति किसी के धन का—किसी के स्वत्व का—किसी के अधिकार का अपहरणकर्त्ता या अपहरण करने की इच्छा वाला भी न हो। दूसरे के धन या अधिकार पर लोभदृष्टि, उसके हरण करने के उपाय एवं प्रयत्न समाज के शान्त मन को अशान्त कर देते हैं। उनकी वृत्तियों को दूषित कर देते हैं। अतः—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'—यह वेद का महान् आदर्शमय घोष जन-समाज में सदा गुंजायमान रहना चाहिए और समाज को इस ओर अग्रसर रखना चाहिए।

परमात्मा का श्रमवाद

कठोर परिश्रम की ओर समाज की प्रवृत्ति बनाने से समाज में अनेक प्रकार की कलाओं का विकास होता है। परमात्मा सबसे बड़ा परिश्रमी है, अतः वह सबसे बड़ा तपस्वी है। उसके श्रम से ही विश्व में सर्वत्र कला-कौशल विद्यमान हैं। उसके ही तप से पृथिवी में, जल में, अग्नि में, वायु में महान् ऐश्वर्य भरा हुआ है। यदि हम अपने ज्ञान और श्रम से उसे जान लें और उद्घाटित करलें, तो इस पृथिवी पर सुवर्ण, रजत लौह, ताम्रादि विविध द्रव्यों के पर्वताकार संचित कोष प्राप्त हो जाते हैं।

प्रातः काल हरित घास पर जैसे ओस के बिन्दु मुक्ता की छवि प्रकट करते हुए सर्वत्र बिखरे हुए हमें आकर्षित करते हैं, उसी के समान इस विशाल पृथिवी और समुद्र के अन्तस्तल में मुक्तामणि, हीरा, पन्ना, नीलम आदि बिखरे हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

कहीं शक्ति और जीवन का कोष अन्नौषधि, फल तथा उनके विविध रसों में भोज्य रूप में भरा पड़ा है और इन सब के साथ सर्वत्र नियम, ज्ञान और अपूर्व आनन्द का अथाह सागर भी उनमें से हिलोरें लेता हुआ हमें श्रम की प्रेरणा दे रहा है।

हम उसमें से एक कण मात्र को प्राप्त कर विद्वान् बन जाते हैं, धनवान् बन जाते हैं, शक्तिवान् बन जाते हैं और आनन्दी बन जाते है। संसार में मनुष्य जो भी करता है, जो भी जानता है, वह सब उसी महाश्रमी के श्रम से निर्मित्त महान् कोष से ही समुद्र से बिन्दुवत् प्राप्त करता है।

इतने महान् ऐश्वर्यों की रचना, क्रमपूर्वक संग्रह और उसकी कलापूर्ण रचना के लिए परमात्मा को कितना कठोर श्रम करना पड़ा होगा। सृष्टि की रचना प्रारम्भ करने के लिए उस परमात्मा ने श्रम किया—महान् श्रम किया—तप किया। जिन ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों ने उसके तप को अनुभूत किया उन्हें कहना पड़ा 'स तपोऽतप्यत'। उसी महान् श्रमी के तप से यह अद्भुत रचना हमारे सामने अविचल दृष्टिगोचर हो रही है। 'जगन्मिथ्या'—के मानने वालों को भी यह चुनौती दे रही है। उनका जीवन समाप्त हो गया—पर यह अटल, ध्रुव रूप से खड़ी है।

श्रम की आवश्यकता परमात्मा को भी पड़ती है, अतः हमें जीवन में श्रम या तपरहित न बनने की प्रेरणा देने हेतु सर्वोच्च सत्ता के लिए भी वेद में कहाः—

सत्रहवां सूत्र-मन्त्र (१७)

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (ऋ० १०। १९०। १)

उस परमात्मा के अच्छी प्रकार तप से ऋत और सत्य, कार्य कारण भावात्मक सृष्टि का निर्माण हुआ।

मानव भी श्रम करें

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता। (अथर्व १२। ५। १)

परब्रह्म ने श्रम से—तप से इस सब सृष्टि का सर्जन किया है और—'वित्तऋते श्रिता'—अर्थात् न्याय रूप सत्य धर्म के आश्रित वित्त, धनादि को परमात्मा ने किया। इसलिए हम जिस समाज का निर्माण करना चाहते हैं उसके सामुदायिक विकास के लिए श्रम की प्रधानता रखनी चाहिए।

जब हमारा परमात्मा— सर्वोच्च सत्ता ही श्रम करने वाली है तब हम भी क्यों न परिश्रमी बनें। हम अपने श्रम से सब की सामूहिक एवं व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करके सुख प्राप्त कर सकते

हैं। अतः समाज को उद्यमी, पुरुषार्थी, श्रमी बनाने के लिए वेद सन्देश देता है और वह श्रम सत्य के आधार पर हो, जिससे न्यायानुसार धनादि की प्राप्ति से समाज सुखी एवं समृद्ध हो सके।

वैदिक-समाजवाद से साम्यवाद की प्राप्ति

समाज में वित्त का वितरण श्रम के न्यायानुसार तो होना ही चाहिए, परन्तु केवल इस आधार पर कुछ काल तक समाज के चलने से कालान्तर में विषमता की प्राधान्यता भी हो सकती है और यदि वित्त के वितरण में समानता का ही उद्देश्य बना रहेगा, तो समाज में आलस्य और अकर्मण्यता की प्रवृत्ति बढ़ जाएगी। अतः अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में सबके लिए एक-सी व्यवस्था करनी पड़ेगी तथा उसके अतिरिक्त यदि कोई अपने श्रम से धन उपार्जित करके तथा उसके द्वारा सुखों के प्रसाधनों का विकास करता है, तो उसके लिए भी समाज को विकासोन्मुख करके श्रम के द्वारा आगे बढ़ाने का मार्ग उन्मुक्त करना चाहिए। इसलिए पूर्व मन्त्र में वेद ने वित्त के वितरण के लिए—'वित्त-ऋते श्रिता'—सत्यश्रम, न्यायानुसार आश्रित किये जाने के लिए कहा और सार्वजनिक, सर्वहितकारी, सर्वाभ्युदयकारी सामान्य सुखों के लिए सबको समान भाग देने के लिए भी आदेश दिया है।

वैदिक समाजवाद में व्यक्ति का समष्टि में लय

वैदिक समाज व्यवस्था में व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए मार्ग उन्मुक्त है। व्यक्ति भी उन्नति करें, परन्तु उसकी उन्नति से जब तक सब की उन्नति में बाधा न हो, तब तक प्रयत्न करते रहना चाहिए। क्योंकि समाज का मूलाधार व्यक्ति का समष्टि में प्रेम और अभिन्नता की अनुभूति ही है। इसलिए वेद ने सामाजिक भावों की जागृति के लिए कहा—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। (अथर्व० ३।३०।१)

मैं तुम सबको समान हृदय रूप से, प्रेमपूर्ण वर्तने वाला, एक मन, एक चित्त होकर परस्पर प्रीति से रहने वाला तथा परस्पर द्वेषरहित होकर एक दूसरे के प्रति जीवन-यापन करने वाला बनाता हूं। अतः समाजवाद की आधारशिला को अपने में स्थिर रूप से स्थापित करना और इस आदर्श को सदा सामने रखना चाहिए।

वैदिक साम्यवाद

यह वैदिक आदर्श जिस समाज के व्यक्तियों के सम्मुख रहेगा, उसमें शान्ति और सुख बना रहेगा। इसलिए वेद ने सबके सामूहिक सुखों के लिए एवं सबको एक समान समाज का अंग समझकर समान बर्ताव करने एवं समान व्यवहार के प्रचलन करने के लिए कहा—

अठारहवां सूत्र-मन्त्र

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ (ऋ० १०।१९१।२)

समान प्रगति

१. संगच्छध्वम्

हम सब एक साथ चलें अर्थात् जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम सब कटिबद्ध हों, उसके लिए सम्मिलित रूप से परस्पर सहयोगी एवं एक-दूसरे के कार्य के पूरक बनकर वर्ताव करें या कार्य करें। प्रत्येक उन्नत व्यक्ति अपने से न्यून उन्नत को अपने समान उन्नत करने का प्रयत्न करे। इसके अतिरिक्त

'सं गच्छध्वम्' का यह भी अर्थ है कि हम सब सम्यक् रीति से, युक्तिपूर्वक, भली प्रकार जीवन के सब आदर्शों एवं लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयत्न करें। हमारे प्रयत्न परस्पर विरोधी या विपरीत गति वाले न हों।

संभाषण श्रेष्ठता

२. सं वदध्वम्

अर्थात् हम लोग अच्छी प्रकार, परिष्कृत, सुसंस्कृत, प्रिय, मनोहारी तथा हितकारी वचनों का परस्पर व्यवहार करके समाज में प्रेम और आनन्द की वृद्धि करें। साथ-साथ बोलें, इस अर्थ से यह भी प्रेरणा मिलती है कि हमारी वाणियाँ एक-दूसरे के प्रति विरोधी न हों और हमारी सामूहिक ध्वनि में हमें एक लक्ष्य-प्राप्ति के लिए एकरूपता और निश्चलता प्रकट होती रहे। हम समाज में कटाक्ष या कटु वचन आदि का व्यवहार न होने दें, जो प्रेमपूर्ण हृदयों और अभिन्न मन वालों में भिन्नता उत्पन्न कर देते हैं।

कल्याणी वाणी बोलो

वेद ने इसीलिए एक स्थल पर कहा है—

वाचं वदत भद्रया। (अथर्व० ३। ३०। ३)

अर्थात् हम लोग कल्याणकारिणी, सुखदायिनी शान्तिप्रदायिनी वाणी का प्रयोग करें। समाज में वाणी का अत्यन्त महत्त्व है। हमारे हृदय के भाव वाणी से ही प्रकट होते हैं। हमारे सब व्यवहार वाणी से ही सम्पन्न होते हैं। यदि वाणी रहित, मूक समाज होता तो समाज में ज्ञान विज्ञान के प्रसार का कार्य रुक जाता। अतः वाणी का समाज के निर्माण एवं विकास में प्रमुख हाथ है। यदि वाणी का उचित रीति से समाज में प्रयोग होगा तो समाज का निर्माण एवं विकास भी अच्छी प्रकार होगा। यदि उसका प्रयोग अनुचित प्रकार से होगा तो अनर्थ भी होगा।

तीक्ष्ण वाणी को दूर करो

अनर्थकारी वचनों का त्यागना आवश्यक है। इसलिए वेद ने आदेश दिया—

उग्रं वचो अपावधीत्। (यजु० ५। ८)

क्रोध, आवेश आदि के कारण वचन में जहाँ कठोरता एवं उग्रता आ जाती है, वहाँ उसमें अनुपयुक्त, अनुचित शब्दों का भी प्रयोग हो जाता है और उससे सुनने वालों के मन में भी उग्रता का, क्रोध का संचरण हो जाता है और परिणामतः उत्तर प्रत्युत्तरों में अनेक आवेशपूर्ण, अनुचित, अनर्थोत्पादक शब्दों का तारतम्य अनुचित, अशिष्ट एवं विरोधी कर्मों का जनक हो जाता है। अतः कठोर वचनों को हम समाज से दूर कर दें, जिससे समाज में विघटन क्रिया सक्रिय न हो सके।

वाणी का परिशोधन

वाणी के इस दोष को दूर करने के लिए मानव जाति को वेद उपदेश दे रहा है—

वाचं ते शुन्धामि। (यजु० ६। १४)

तेरी वाणी में जो कठोरता है, उग्रता है, कर्कशपन है, क्रोध, अभिमान एवं दूसरों के प्रति घृणा का जो उसमें स्वर है जिससे समाज में प्रेम का उन्मूलन होता है और कटुता बढ़ती है, उस वाणी को मैं शुद्ध, स्वच्छ, अनुकूल, प्रियवादिनी एवं कल्याणकारिणी बनाता हूं। अर्थात् वाणी के दोषों का शोधन समाज के हित के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जिह्वा में मधुरता हो

इसका अभ्यास करने के लिए जिह्वा में मधुमत्तमा अपनी जिह्वा को परम मधुर बनाना पड़ेगा। मधुर वाणी से परस्पर बिछुड़े हुए चित्त एक हो जाते हैं। वर्षों की शत्रुता भी गाढ़ मैत्री में परिणत हो जाती है। अविश्वसनीय व्यक्ति में भी विश्वास के भाव जाग्रत् हो जाते हैं। वैर, विरोध एवं अशान्ति का उन्मूलन हो जाता है और शान्ति, प्रेम तथा आनन्द का स्रोत उमड़ने लगता है। अतः समाज का प्रत्येक व्यक्ति ऐसा प्रयत्न करे कि मेरी जिह्वा सब प्रकार से मधुरता से पूर्ण हो।

मधुर भाषण करने के लिए वेद कहता है—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। (अथर्व० १। ३४। २)

मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल भाग में भी मधुरता हो। अर्थात् केवल मेरी वाणी के अग्रभाग में—प्रारम्भ में ही मधुरता न हो, अपितु अन्त तक मधुरता हो। केवल कथनी में ही मधुरता न हो, अपितु उसके मूल में, यथार्थ रूप से सच्चे हृदय से भी मधुरता हो। जब तक हृदय के अन्तस्तल में मधुरता नहीं होगी, तब तक मधुरता का वातावरण बनना असंभव है।

वाणी के मूल आत्मा में भी मधुरता हो

जिह्वा के मूल में मधुरता होने का तात्पर्य यह भी है कि वाणी का मूल प्रेरक आत्मा है। आत्मा की प्रेरणा से मन, मन की प्रेरणा से कायाग्नि, कायाग्नि से वायु प्रेरित होकर उरःस्थल और कंठ में वायु विचरण कर जिह्वा के साहचर्य से विविध स्थान-प्रयत्नों के द्वारा शब्दोच्चारण होता है। अतः वाणी के उत्तरोत्तर मूल मन, बुद्धि एवं आत्मा हैं। इसी प्रकार वाणी के मूल में—आत्मा, मन एवं बुद्धि आदि में भी मधुरता होनी आवश्यक है—यह प्रेरणा वेद देता है। ऐसी मधुर वाणी शिक्षित एवं सुखदायिनी होती है।

प्रिय व्यवहार

यदि हम चाहते हैं कि हम से सब उत्तम व्यवहार करें, तो हमें भी सबसे उत्तम व्यवहार करना चाहिए। दूसरों से अप्रिय व्यवहार करके यदि कोई उनसे प्रिय व्यवहार की आशा करे तो यह सम्भव नहीं है।

प्रियाय प्रियवादिनम्॥ (यजु० ३०। १३)

प्रेम सम्पादन करने के लिए प्रिय वक्ता बनने का प्रयत्न करो। प्रिय वाणी द्वारा प्रेम के बीजों को हम दूसरों के हृदय में बोते हैं। प्रिय वाणी का प्रभाव हृदय को द्रवीभूत करता है और वह वाणी उसमें निवास कर जाती है। स्मृति में उसका वृक्ष तैयार होता है। और स्मृति के संस्कारों का उसमें पुष्प लगता है तथा उससे कर्म रूपी फल उसमें लगते हैं। इस प्रकार व्यक्ति अपनी वाणी द्वारा ही संसार में कर्मों का चक्र निर्माण कर लेता है।

अतः वेद कहता है—

जिह्वा मे भद्रं वाङ् महः। (यजु० २०। ६)

मेरी जिह्वा अत्यन्त कल्याणकारिणी हो, जिससे उस जिह्वा से उत्पन्न मेरी वाणी महान् शक्तिशाली, प्रभावकारी एवं कल्याणकारिणी हो। इस प्रकरण में चार मन्त्रों में शरीर के विभिन्न भागों में गुणों की स्थापना का उपदेश है। परन्तु प्रारम्भ जिह्वा से हो रहा है। अर्थात् जिह्वा को ही

सर्वप्रथम उत्तम, भद्र कल्याणकारिणी बनाने से शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंग बलवान्,शक्तिशाली, ऐश्वर्य-प्रद और यशस्वी बन सकेंगे ।

जिसने अपनी वाणी को भद्र नहीं बनाया, उसका भद्र कैसे होगा । इसीलिए वेद ने पुनः उपदेश दिया—

उन्नति के लिए मधुर वाणी का प्रयोग

मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् । (अथर्व० ३।३०।२)

समाज के लोग परस्पर प्रसन्नता के लिए माधुर्य गुणयुक्त वचन बोला करें । इस प्रकार के समाज या राष्ट्र के अन्दर यदि प्रत्येक व्यक्ति शान्तिदायिनी, मधुर वाणियों का परस्पर प्रयोग करेंगे, तो वह समाज और वह राष्ट्र उन्नत एवं सुसंस्कृत होता जायेगा ।

आज हम देखते हैं कि हमारे समाज या राष्ट्र में अपने व्यक्तित्व को आगे लाने के लिए लोग कटु वचनपूर्ण भाषण, परस्पर विरोध एवं घृणा की जागृति के लिए, केवल स्वार्थपूर्ण नेतृत्व की कामना से समाजगत दल या राष्ट्रगत दलों का निर्माण कर रहे हैं । अनेक दलों की दलदल में समाज एवं राष्ट्र की उन्नति रुक जाती है अतः वाणी के प्रयोग की विद्या, उसे मधुर, प्रिय, भद्र, कल्याणकारिणी, सर्वजन-हितकारी बनाने का शिक्षण देना चाहिए ।

वाणी का विश्व पर शासन

उपरोक्त प्रकार से प्रेमपूर्ण वाणी के प्रयोग से—'सं वदध्वं' के अर्थ को समाज के व्यक्तियों को अच्छी प्रकार हृदयंगम करना चाहिए । वाणी से ही तो सारा व्यवहार चल रहा है । समस्त राष्ट्रों के शासन वाणी से ही चल रहे हैं और अखिल विश्व का शासन भी परमात्मा की अव्यक्त एवं व्याप्त वाणी से चल रहा है ।

परमात्मा के वे अव्यक्त शब्द विविध माध्यमों में प्रकट हो रहे हैं । कहीं से उसका एक ही स्वर या ध्वनि प्रकट हो रही है, कहीं से दो या अधिक ध्वनियाँ प्रकट हो रही हैं और हमें उन माध्यमों द्वारा तथा अपने द्वारा भी शब्द या ध्वनियों को प्रकट करने की प्रेरणा प्राप्त होती है । वाणी में महान् सामर्थ्य है, अतः हम 'सं वदध्वं' के आदर्श पर चलने का प्रयत्न करें ।

वाणी में लक्ष्मी का वास

यदि आज समस्त राष्ट्र—'सं वदध्वं' के आदर्श पर चलने लगे तो प्रत्येक राष्ट्र के विविध राज-नीतिक सम्प्रदायवादों का अन्त हो जायेगा और समस्त संसार एक सूत्र में ग्रथित हो सकता है । एक सूत्र में ग्रथित संसार में अक्षय लक्ष्मी का वास हो जाता है । उसमें लक्ष्मी विमल होकर चंचला नहीं रह सकती । लक्ष्मी का चांचल्य दोष विभिन्नता से उत्पन्न होता है । जब सब एक सूत्र में ग्रथित होंगे तब वह लक्ष्मी जहाँ भी जायेगी प्रेम के कारण वह सब की उसी प्रकार होगी जैसे एक परिवार में व्यवहार होता है ।

वाणी से ही लक्ष्मी का घनिष्ठ सम्बन्ध है । अतः वेद उपदेश देता है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ (ऋ० १०।७१।२)

जिस प्रकार छलनी से पिष्ट द्रव्य छाने जाते हैं, उसी प्रकार जहाँ विद्वान् लोग अपनी वाणी को दोषों से पृथक् करके, मधुरता से पूरित करके, कल्याणकारिणी वाणी को मन से शुद्ध एवं प्रेम से

युक्त करके प्रयुक्त करते हैं वहीं पर मित्रता और लक्ष्मी निवास करती है। अतः वाणी को 'सं वदध्वं' के आदर्श पर चलाना चाहिए।

वाणी को उपरोक्त गुणों से युक्त करने के लिए आवश्यक है कि वाणी जिसके आधार से विविध रूप एवं विविध भावों के आश्रित होकर प्रयुक्त की जाती है वह मन है, उस मन को भी पूर्ण रूप से अनुकूल बनाना चाहिए। इस निमित्त वेद ने कहा है—

(३) सं वो मनांसि जानताम्।

हम सबके मन अच्छे प्रकार ज्ञानवान् हों जिससे अज्ञानवश हमारी वाणियों का अन्यथा एवं अवांछित प्रयोग यथा प्रतिकूल कर्म न हो सके और सब प्रकार के अनर्थों से बचते हुए उन्नति कर सकें।

उन्नति का यही मार्ग है और इसी के आधार पर उन्नति का क्रम सदा चलता आया है। यही 'महाजनो येन गतः स पन्था' के अनुसार हम सबके लिए, हमारे समाज के लिए, सामुदायिक विकास के लिए एवं सर्वोदयी भावना के अनुकूल सदा से चला आया है। इस मार्ग को अपना कर उन्नति करें।

वैदिक समाजवाद से सबकी उन्नति

वैदिक समाजवाद सबके विकास एवं उन्नति का प्रतिपादक है। उसमें जातीय, भौगोलिक या वर्गवादी साम्प्रदायिकता की भावना नहीं है। आज के समाज एवं राष्ट्र में वर्गवाद क्रियाशील है। वर्गों का शासन सीमित उद्देश्य को लेकर होता है अतः वे क्षुद्र एवं साम्प्रदायिक होते हैं। वर्गवादी शासन से राष्ट्र में परस्पर मनोमालिन्य, घृणा, द्वेष, सत्ता को अपने हाथ में लेने के लिए अनैतिक आधार-व्यवहार प्रचलित होना स्वाभाविक है।

वेद इस प्रकार के वर्ग भेद से शून्य गुण-कर्मभेद से राष्ट्र के संरक्षण-पोषण आदि के लिए व्यक्तियों का वर्ण भेद तो प्रतिपादित करता है, परन्तु वर्ग भेद को जाग्रत् करके प्रतिद्वन्द्विता जाग्रत् नहीं करता। इसीलिए वैदिक काल में ब्राह्मणों को राजा बनने के लिए क्षत्रियों से प्रतिद्वन्द्विता नहीं करनी पड़ी। ब्राह्मणों को धन की कामना के लिए वैश्य वृत्ति नहीं अपनानी पड़ी, न शूद्र को अपने धर्म को छोड़कर अन्य वर्णों के धर्म-कर्म के लिए संघर्ष करना पड़ा। चारों वर्ण अपने-अपने राष्ट्र एवं समाज में समान मन से कर्त्तव्यरत रहे।

वेद व्यवहार

वेद सबके लिए ज्ञान की महान् ज्योति है। वेद ने सबको 'प्रजापतेः प्रजा अभूम'—हम सब उस एक ही परमेश्वर प्रजापति की प्रजा या सन्तान हैं, यह उपदेश दिया। अतः 'संगच्छध्वं सं वदध्वं'—इस वेदादर्श को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने तथा हृदयंगम करने का वेद ने जो पूर्व मन्त्र में उपदेश दिया, उसी महान् सन्देश को वह अन्य मन्त्र में प्रकारान्तर से निम्न प्रकार प्रस्तुत कर रहा है—

उन्नीसवां सूत्र-मन्त्र (१९)

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ (अथर्व० ३।३०।४)

हे स्त्री पुरुषो! अच्छी प्रकार समझो, सोचो और देखो कि इस सृष्टि की रचना अनेक देवों=

सृष्टि के दृश्य एवं अदृश्य तत्त्वों से हुई है। परन्तु वे देव=तत्त्व कभी आपस में विरोधी बनकर इस सृष्टि का संहार नहीं करते ।

सृष्टि के तत्त्वों में देव व्यवहार

इस सृष्टि में जल और अग्नि दोनों परस्पर विरुद्ध गुण धर्म वाले हैं, परन्तु वे एक-दूसरे पर कभी आक्रमण नहीं करते। इसी प्रकार चैतन्य सृष्टि में भी पुरुषों में जो देव कोटि के विद्वज्जन हैं, वे अपनी दिव्यता, विद्वत्ता एवं उपकारी शुभ गुणों से समाज या राष्ट्र के जनों को सुपथ पर ले जाते हैं। ऐसे ऋषि, मुनि, विद्वान्, देवजन परस्पर कभी द्वेष नहीं करते और न झगड़ते हैं। उसी प्रकार से तुम सबको भी उनका अनुसरण करते हुए अपने-अपने घरों में सर्वत्र वैर-विरोध भाव से रहित प्रीतिपूर्वक यथोचित्त वर्तना चाहिए। इस प्रकार यह मन्त्र प्रेमपूर्वक व्यवहार करने के लिए, परस्पर मिलकर रहने के लिए मानव जाति को उपदेश दे रहा है।

समाजवाद के लिए सर्वत्र मित्र की भावना

समाज की सबसे छोटी इकाई घर है। घरों में रहने वाले परस्पर प्रेम से रहें और गृहों से, परिवारों से निर्मित होने वाले समाज में प्रत्येक गृही का व्यवहार दूसरे गृहों तथा परिवारों से किस प्रकार का हो, इसके लिए वेद सन्देश दे रहा है—

बीसवाँ सूत्र-मन्त्र (२०)

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजु० ३६ । १८)

मैं मित्र की प्रेमपूर्ण दृष्टि से सब प्राणियों को देखूँ और मैं भी सब प्राणियों के द्वारा मित्रता-पूर्ण प्रेम दृष्टि से देखा जाऊं। अर्थात् न मेरा कोई शत्रु हो और न मैं किसी का शत्रु बनूँ। इस प्रकार की भावना परस्पर होनी चाहिए। तभी समाज में भ्रातृ-भाव, मैत्री, प्रीति, सौजन्य, सहानुभूति, सहृदयता, समान वृद्धि एवं सर्वाभ्युदयकारी भावनाएं वृद्धि को प्राप्त कर सकती हैं।

इस भावना की ओर भी व्यापक दृष्टि निम्न मन्त्र में प्रकट हो रही है—

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु । (अथर्व० १६ । १५ । ६)

सब दिशाओं में सर्वत्र प्रीति देने वाले, सहयोग देने वाले मित्र-ही-मित्र हों। कहीं, किसी भी दिशा में, स्थान में, काल में मेरे विरोधी न हों, क्योंकि मैं सबके साथ पूर्व प्रतिपादित मन्त्र के आदर्श पर आरूढ़ होकर प्रेममय व्यवहार करता हूं। सबको मैं अपना समझता हूं और वे सब भी मुझे अपना समझें इसी प्रकार का व्यवहार करता हूं।

साम्यवाद के लिए सर्वत्र आत्मवत् भावना

ये समाजवाद एवं साम्यवाद की उच्च भूमियाँ हैं। इन्हीं की ओर जब जन-समाज या व्यक्ति बढ़ते जाते हैं, तब उनकी और भी उच्चतर स्थिति हो जाती है। जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में वर्णित है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ (यजु० ४० । ६)

जो सब प्राणियों को स्वात्मवत्, प्रीति से अपने में ही अनुभव करता है और सब प्राणियों में आत्मवत् व्यवहार को स्थापित करता है, उससे छिपा हुआ, भेदभाव किसी का नहीं रहता। ऐसी अभेद

स्थिति या अभिन्न स्थिति जब व्यक्ति की समाज में और समाज की व्यक्ति में हो जाती है, उस समाज में और उस समाज के व्यक्तियों में दैवी भावनाएँ जाग्रत् हो जाती हैं और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

साम्यवाद के लिए एकत्व भावना

इस अवस्था के लिए—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (यजु० ४०।७)

जो सब प्राणियों को अपने समान जानता है, वह एकत्व अनुभव करने वाला शोक और मोह के दुस्तर सागर से पार हो जाता है। फिर शोक और मोह उस स्थितप्रज्ञ की आत्मा एवं अन्तःकरण को किसी भी प्रकार विचलित नहीं कर सकते।

मोह से अविद्या एवं अन्याय युक्त कर्म होते हैं और शोक से दुःख, अकर्मण्यता एवं विवेकशून्यता होती है। अतः संसार के समस्त प्राणियों के साथ एकत्व की भावना स्थापित करने से समाज शोक और मोह रहित हो सकता है। शोक और मोह से रहित समाज में ज्ञान और आनन्द का संगम होने लगता है। अविद्या एवं अकर्मण्यता से रहित वह समाज विकासशील हो जाता है। अतः समाज को उत्तरोत्तर उच्च स्थिति में लाना चाहिए।

साम्यवादी जीवन की झांकी

आदर्श समाजवाद के स्थापन के लिए वेद और भी उत्तम उपदेश दे रहा है—

इक्कीसवां सूत्र-मन्त्र (२१)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋ० १०।१९१।४)

संसार में बल की असमानता से एक समाज या वर्ग दूसरे समाज या वर्ग पर प्रभुत्व करने लगता है। अतः इस दोष को दूर करने के लिए हम सबके बल सामर्थ्य समान होने चाहिएँ।

शक्ति संतुलन की आवश्यकता

आज जो युद्ध की विभीषिका संसार को त्रस्त एवं चिन्तित कर रही है उससे बचने का एक मात्र प्राथमिक उपाय—'समानी व आकूतिः'—हमारे बल—सेना का बल, अस्त्र-शस्त्र का बल, आर्थिक बल, बौद्धिक बल—समान हों।

आज शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण योजनाएँ बन रही हैं, जिनका तात्पर्य यही है कि बल की विषमता नहीं होनी चाहिए। बल की विषमताओं से ही अभिमान की भावनाओं का उदय होता है अभिमान की भावना से अन्याय की प्रवृत्तियों का जन्म होता है, जिससे अशान्ति, अविश्वास एवं युद्ध की भावना व्याप्त हो जाती है।

शक्ति संतुलन से शान्ति

शान्ति के साम्राज्य के लिए 'समानी व आकूतिः'—समान बल का होना अनिवार्य है, जिससे किसी से कोई पिछड़ा हुआ या दबा हुआ न रहे। सब के बलों की उन्नति समान रूप से हो। प्रत्येक अपने बल की उन्नति करता हुआ दूसरे को भी जब तक बलवान् न बना ले तब तक संतुष्ट न रहे ऐसी भावना सब में होनी चाहिए।

यदि समाज के व्यक्ति असमान बल वाले होंगे, तो समाज का बल रूप में उत्थान समुचित न होगा। वह समाज दूसरे बलवान् समाज के प्रहारों को सहन भी नहीं कर सकेगा। अतः समाज में बल की समानता के भाव की जागृति होनी चाहिए। इसलिए 'समानी व आकूतिः'—इस वेद वाक्य को क्रियान्वित करना होगा।

कपट-नीति का त्याग एवं हृदयों का मिलाप

उपरोक्त भावना तभी हमारे अन्दर जाग्रत् होगी जबकि 'समाना हृदयानि वः'—इसके अनुसार हम सब अपने हृदयों को भी एक-दूसरे के इतने निकट ले आयें कि उनमें जो असमानता है, वह दूर हो जाये और हम समान हृदय वाले प्रीतियुक्त हो जायें।

निःशस्त्रीकरण यदि बाह्य मन से होता रहे और हृदयों में द्वेष की ज्वाला धधकती रहे, तो ऐसा निःशस्त्रीकरण स्थायी नहीं रह सकता तथा शान्ति शंकित ही रहेगी। ऐसी स्थिति में किसी भी समय भयंकर विस्फोट की आशंका बनी रहती है। अतः 'समानी व आकूतिः'—के लिए दूसरा प्रयत्न 'समाना हृदयानि वः' हम सबके हृदय समान व प्रीतिपूर्ण हों, यह होना आवश्यक है।

मन की एकता

३. हृदयों की समानता के लिए भी वेद कहता है कि वह तब तक नहीं होगी जब तक हमारी चिन्तन, मनन या विचार शक्तियों में एकत्व एवं प्रेम की सद्भावना नहीं हो। अतः वेद कहता है—

समानमस्तु वो मनः

जो चिन्तन या विचारों का उत्पादक मन हमारे में है, वह भी समानता की, प्रेम की विचार-धाराओं का जनक हो।

इस प्रकार निःशस्त्रीकरण के लिए उत्तरोतर तीन बातों का पालन करने का इस मन्त्र में उपदेश है जिससे सब लोग स्वाधीन एवं स्वतन्त्र होकर सदा सुखी रह सकें। यदि हमारे मन में कुछ है और व्यवहार में अन्य ही कुछ है तो बाह्य प्रतिबन्धों या समानताओं और बाह्य प्रेम का आचरण स्थायी नहीं रह सकता। अतः हमारे हृदय एवं मन भी परस्पर मिले हुए एकरूप होने चाहिएँ।

सर्वत्र समानता की जागृति

जब हम सबके मन एवं हृदय एक होंगे तब हमारा बल भी समान होगा। इसी मार्ग का अनुसरण करने से समाज में स्थिर सुख एवं शान्ति रह सकती है। इसी भावना को और भी सूक्ष्म और उच्च स्थिति में हृदय पटलों पर अंकित करने के लिए वेद का निम्न मन्त्र उपदेश दे रहा है—

बाईसवां सूत्र-मन्त्र (२२)

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ (ऋ० १०।१९१।३)

समानो मन्त्रः

हम सबके विचार समान हों। सब लोग सत्य को सत्य ही मानें और असत्य को असत्य ही जानें। सत्य और असत्य की भिन्न मान्यताओं से नाना मत, सम्प्रदाय और परस्पर विपरीत, विरुद्ध कार्यों का प्रवाह चलने लगता है। एक लक्ष्य नष्ट हो जाने से समाज में अनेक लक्ष्य भिन्नता को उत्पन्न कर देते हैं। सत्यासत्य के निर्णय के अभाव की क्षमता न होने से अपने ही विचारों को तर्क, विद्या, विज्ञान एवं

सृष्टि नियमों की कसौटी पर न कसने से अज्ञान एवं अन्धविश्वास के कारण ये सब विभिन्नताएँ फैलाती हैं।

इन्हीं के कारण विचारों की विषमता से अनेक मतमतान्तर, अनेक राजनीतिक दल, अनेक प्रकार के शासनतन्त्र, अनेक प्रकार के वर्ग-भेद आदि के रूप में विभिन्नताओं का जन्म हो जाता है। ये विभिन्नताएँ ही द्वेष, विरोध, अशान्ति, युद्ध आदि की जननी हैं। अतः 'समानो मन्त्रः' हमारे विचारों में समानता सामञ्जस्य, परस्पर अनुकूलता सम्पादन का मार्ग समाज को अपनाना चाहिए।

२. समितिः समानी

विचार वैशिष्ट्य एवं विचार प्रणाली की भिन्नताओं से अनेक प्रकार से विचार करने की शक्ति तो समाज में होनी चाहिए, परन्तु वे सब एक लक्ष्य की पूर्ति करने वाले हों, जिससे सब को अपने हित के अनुकूल बराबर-बराबर सुख समान रूप से प्राप्त हों। विषमता न हो। हमारी जो विविध कार्यों के सम्पन्न करने के लिए समितियां, उपसमितियां, संघ, संघटन आदि हों वे भी समानता उत्पन्न करने वाले हों जिससे हममें विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, व्यवहार, सुखादि की अनुभूति समान रूप से एक विशाल परिवार की अनुभूति के अनुरूप हो।

३, ४. समानं मनः सह चित्तमेषाम्

हमारे मन और चित्त एक सदृश—समान—हों। वेद के आदेशानुसार केवल बाह्य सुखसाधनों के समान रूप से वितरित करने से ही समाज में सुख और शान्ति नहीं हो सकती, जब तक इस मन्त्र के आदेशानुसार विचार, गोष्ठी, सभा तथा हमारे मन और चित्त भी परस्पर एक से एक गुंथे हुए, प्रीतियुक्त न हों।

५. इतना ही नहीं अपितु मन्त्र के उत्तरार्ध भाग द्वारा परमात्मा आदेश दे रहा है कि मैं तुम सबको समानता के विचारों से अभिमन्त्रित करता हूँ और समान रूप से भोगपदार्थों को धर्म और न्याय की रीति से समिति के निश्चय से अर्थात् सर्वानुमति से भोग को प्राप्त करो, यह आदेश दे रहा हूँ। इस प्रकार भोग का चोरी से उपयोग लेने की प्रवृत्ति नष्ट होगी और भोग की अनुचित स्पर्धा भी अनुत्साहित होगी।

समान भोग प्राप्ति

भोगों के समान वितरण के लिए वेद आदेश देता है—

तेईसवां सूत्र-मन्त्र (२३)

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ (अथर्व० ३। ३०। ६)

समानी प्रपा

हे मनुष्यो! तुम्हारे पीने के जल के संग्रह स्थान एवं स्नानादि के स्थान एवं उनके व्यवहार एक समान सुव्यवस्थित हों। वर्ग, श्रेणी, पद, वेतन आदि के मान से इनमें भेद नहीं होना चाहिए। सबके लिए एक सदृश व्यवस्था हो, परन्तु वह व्यवस्था श्रेष्ठ कोटि की हो।

सह वोऽन्नभागः

तुम्हारे खान-पान, रहन-सहन एक समान हों। समाज में इस बारे में विषमता न हो। सब को

यथासमय भोजन, जल, स्नानादि की व्यवस्था हो। कोई भूखा, प्यासा न रहे। भोजन में समानता का तात्पर्य अनुकूलता से भी है। अपने स्वास्थ्य एवं अवस्था के अनुसार जो अनुकूल भोजन है, वह अपने स्वास्थ्य की समानता की रक्षा करने वाला होता है। अतः भोजन पानादि की समानता अनेक प्रकार से होनी चाहिए।

समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि

परमात्मा ने हम सब को राष्ट्र या समाज के कार्य वहन करने के लिए एक समान बन्धन या दायित्व से युक्त कर रखा है। अतः साथ रहने को और साथ व्यवहार को भावना से –परस्पर सहकारिता के आदर्श से—पृथक् नहीं होना चाहिए।

सम्यञ्चोऽग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभितः

जिस प्रकार चक्र के अरे चारों ओर से अपनी नाभि की ओर संलग्न रहते हैं, उसी प्रकार समाज या राष्ट्र के जीवन के, जो अग्नि रूप से कार्यसिद्ध करने वाले मूल सिद्धान्त हैं, उनसे सब मिलकर एक-दूसरे के हित को सिद्ध किया करें।

भोग-वैषम्य अपराध है

उपरोक्त मन्त्रों से स्पष्ट है कि हम सब को परमात्मा ने समानाधिकार दिये हैं और सहकारिता से अपने जीवन-यापन करने का उपदेश दिया है। अतः यदि कोई व्यक्ति समाज में विषमता को उत्पन्न करता है, तो वह परमात्मा के आदर्श, उपदेश या नियमों का उल्लंघन करने वाला होने से समाज के प्रति दोषी है, अपराधी है। समाज के हित को प्राथमिकता न देकर अपने स्वार्थ को प्रमुखता देना ही अपराध है। स्वार्थ ही सब पापों की, अपराधों की, भ्रष्टाचारों की जननी है। स्वार्थ-वृत्ति से जीवन-यापन करने वालों के लिए वेद में निन्दापरक अर्थों में लिखा है—

केवलाघो भवति केवलादी। (ऋ० १०। ११७। ६)

जो स्वार्थपरायण व्यक्ति केवल अपने लिए खाते-कमाते हैं, वे समाज में विषमता उत्पन्न करके अपने स्वार्थ की ही तृप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले होने से पापी हैं। वे पाप का भोजन करते हैं और पाप से परिपुष्ट होकर अन्यों में भी स्वार्थपरायणता की भावना को उद्दीप्त करने के साधन बन जाते हैं।

कृपण पूँजीपति साम्यवाद के शत्रु हैं

अतः वेद कहता है—

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः। (ऋ० १। ३६। १५)

हे तेजस्वी राष्ट्र नेता! हमारी दुष्ट, हिंसाशील व्यक्तियों से रक्षा करो। दुष्ट हिंसाशील व्यक्ति स्वार्थी होता है। वह सार्वजनिक हितों की हिंसा करने वाला है। अपनी दुष्ट वृत्तियों से, कुटिल चालों से वह सर्वोदयी भावना को अनेक प्रकार से उदित न होने देने के लिए प्रयत्नशील रहता है, अतः वह परम धूर्त है, क्योंकि वह अदानशील है। दानशील दूसरों को अपने बल, धन, ऐश्वर्य, अन्न समृद्धि से सहायता करता है। परन्तु अदानशील केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है और दूसरों के हितों की उपेक्षा करता है। अतः अदानशीलता समाज में न हो। सब दानशील बनें, जिससे सब की उन्नति हो सके। ऐसे व्यक्तियों से समाज की रक्षा करनी चाहिए। उनकी प्रतिष्ठा भी समाज में नहीं करनी चाहिए। जो धनी होकर दानशील नहीं हैं, उनके लिए तो वेद कहता है—

अपघ्नन्तो अराव्णः। (ऋ० ९ । ६३ । ५)

अदानशीलों को समाज में से नष्ट कर देना चाहिए। अदानशील परिग्रही होता है। परिग्रह वृत्ति से लोककर्म दूषित होते हैं, परन्तु परिग्रह से योग भी नष्ट होता है। विभिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रकार के एवं विभिन्न मात्रा में अपरिग्रह की आवश्यकता है।

अपरिग्रह पर आचरण दानवृत्ति से होता है। दानवृत्ति से देवत्व जाग्रत् होता है। दान या त्याग मन की उच्च स्थिति है। अदानशीलता को दान से जीतना चाहिए। इसके लिए सामवेद जीवन की सफलता के लिए सर्वप्रथम यही उपदेश करता है—'दानेनादानम्'--अदानशीलता का महान् कठिन सागर है, उसे पार करने के लिए दान का पुल बनाकर उसके पार जाना होगा।

कृपण पूँजीपतियों के समर्थक दण्डनीय हैं

जो समाज दानशील होगा, उसमें परस्पर प्रेम व सद्भावना होगी। ऐसे समाज में इसके विपरीत वृत्ति वाला कोई न हो। इसलिए वेद ने कहा—

चौबीसवाँ सूत्र-मन्त्र (२४)

ईशत माघशंसः। (यजुः १ । १)

कोई पापी का—पाप की वृत्तियों का—समर्थक, प्रशंसक न हो। यह अनैतिक कार्य है। असामाजिक वृत्ति है। विषमता का जनक है। अतः ऐसे कार्यों और वृत्तियों के प्रति किसी में आदर भाव न हो, जिससे कोई ऐसे असामाजिक कार्यों को अपनाने की इच्छा भी न करे। यदि पापमय वृत्तियों को समर्थन प्राप्त होगा या पापमय प्रवृत्ति में रत पापियों की प्रशंसा होगी, तो अनार्यों का प्रभुत्व समाज पर हो जाने से समाज अनेक प्रकार के असामाजिक रोगों से ग्रस्त हो जायेगा।

दोषों से रक्षा

समाज को इस प्रकार के दोषों से बचाने के लिए वेद कहता है—

(१) **मा अहिर्भूः।** (यजुः ६ । १२)

समाज का कोई व्यक्ति सर्प न बने अर्थात् सर्प के समान कुटिल चाल वाला, अपने मुख, श्वास एवं दृष्टि में विष को धारण करने वाला न बने। जिसके मुख में विष है, वह सदा विषयुक्त वाणी का ही प्रयोग करेगा। जिसके श्वास में विष होगा, उसके प्राण और मन से होने वाली क्रियाओं और विचारों में भी विष भरा होगा। ऐसे विषधर व्यक्ति समाज में विषाक्त वातावरण बनायेंगे और समाज के लिए घातक ही सिद्ध होंगे।

जिसकी दृष्टि में विष होगा, उसकी दोष दृष्टि पाप की वासना से लिप्त रहेगी। विषयुक्त हिंसक स्वभाव से दूसरों को नष्ट करने की प्रवृत्तियाँ फैलती हैं। अतः—'मा अहिर्भूः'—के आदर्श पर समाज को चलना-चलाना चाहिए। सर्प के कान नहीं होते। अतः जो लोग समाजों में सर्पवत् अपनी वाणी, प्राण, मन एवं दृष्टि विषयुक्त रखते हैं, वे अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए घातक प्रवृत्तियों को जन्म देकर उनकी सफलता में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वे कानों से रहित हो जाते हैं। वे दूसरों की बातों को सुनना ही नहीं चाहते। वे सर्वहितकारी बातों पर ध्यान ही नहीं देना चाहते और न उन पर किसी प्रकार से विचार करते हैं। जिस प्रकार अमृत तुल्य दूध सर्प के मुख में जाकर उसके विष का ही वर्धन करने वाला हो जाता है, उसी प्रकार अमृत तुल्य हितकारी वचन सर्प वृत्ति वाले मनुष्यों में विष रूपी विकार की वृद्धि करते हैं। यही उनकी कुटिल गति है कि वहाँ अमृत भी विष हो जाता है। ऐसे असामाजिक व्यक्ति समाज

के लिए विषधर सर्प तुल्य हैं। इसलिए वेद नें कहा कि सर्प न बनो।

जहाँ समाज के लिए सर्प प्रवृत्ति वाले व्यक्ति नहीं चाहिएं, वहाँ अन्य इसी प्रकार के और भी दोषयुक्त व्यक्ति हैं, जिनके लिए वेद ने कहा—

(२) **मा पृदाकुः**। (यजुः ६। १२)

समाज का कोई व्यक्ति पृदाकु अर्थात् अजगर, बिच्छू, व्याघ्र एवं हाथी की जो वृत्तियाँ हैं, उन्हें अपनाने वाला न बने। अजगर भी विषधर है। वह निरुद्यमी, आलसी एवं अकर्मण्य होता है। उसे अपने स्थान पर ही भोजन मिल जाये, तो कर लेता है, अन्यथा नहीं। जो उसके समीप पहुंच जाता है, उसे छोड़ता नहीं है, अपितु निगल कर उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। समाज को ऐसे निरुद्यमी, आलसी तथा दूसरों का धन एवं अधिकार हड़पने वाली वृत्तियों के व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं।

परिश्रमी बनो

वेद तो परिश्रम करने की प्रेरणा देता है और कहता है—

भूत्यै जागरणम्। (यजुः ३०।१७)

उन्नति के लिए दक्षता एवं श्रम का अवलंबन करना चाहिए। जो व्यक्ति या समाज जाग्रत् रह कर परिश्रम करता है, वह ऐश्वर्य, उन्नति एवं आनन्द को प्राप्त करता है, और—

अभूत्यै स्वपनम्। (यजुः ३०।१७)

अवनति के लिए, आलस्य, सुस्ती, नींद, दीर्घ काल तक कर्तव्यरहित होकर निरर्थक विचारों के चिन्तन में समय व्यतीत करने का मार्ग है। जो स्वप्न के समान चिन्तनादि में मग्न रहता है और कर्तव्य से विमुख होता है, उसकी उन्नति हो ही नहीं सकती तथा उसे ऐश्वर्य की भी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः वेद पुनः उन्नति के पथ का निम्न शब्दों में संकेत दे रहा है।

व्यृद्ध्या अपगल्भम्। (यजुः ३०।१७)

उन्नतिशील व्यक्ति को चाहिए कि वह गर्वहीनता का अवलंबन करे। व्यर्थ के गर्व को धारण करने वाला व्यक्ति किसी से कुछ ग्रहण करने में, सीखने में असमर्थ हो जाता है। शिष्य जब गर्वहीन होकर गुरु के पास जाता है, तभी वह गुरु से विद्या ग्रहण कर सकता है। धन की कामना वाला व्यक्ति जब गर्वहीन होकर दूसरे के पास जाकर धन की याचना करता है, तभी उसे धन की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार व्यापारी, शिल्पी एवं श्रमकर्त्ता भी जब तक अपने-अपने प्रतिकूल गर्व को छोड़कर अपने कार्य में रत नहीं होते, तब तक सफलता नहीं मिल सकती। अतः ऐश्वर्य एवं उन्नति के लिए सतर्क, कर्त्तव्यशील, दक्ष एवं श्रम करने में गर्वरहित होकर जो कार्य करेगा, वही सफलता प्राप्त करेगा।

परिश्रम से श्रेष्ठ फल-प्राप्ति

इस श्रम के फल को वेद कह रहा है :—

सहसस्पुत्रो अद्भुतः। (यजु० ११।७०)

बल का, परिश्रम का जो फलरूपी पुत्र है, वह अद्भुत शक्ति, सुख और आनन्ददायक है। जिस प्रकार पुत्र से अपने परिवार की समृद्धि, ऐश्वर्य एवं सुख होते हैं, उसी प्रकार परिश्रम के जो विविध प्रकार के फल, परिणाम आदि हैं उनसे हमारे सुख एवं ऐश्वर्य की वृद्धि होती है। जिस प्रकार के क्षेत्र में श्रम किया जायेगा, उसी प्रकार के फल की भी प्राप्ति होगी और जितना परिश्रम युक्ति एवं

विचारपूर्वक किया जायेगा, उतनी ही अधिक सफलता भी प्राप्त होगी। अतः अजगर रूपी निरुद्यमी वृत्तियों को धारण न करने के लिए—'मा पृदाकुः'—का उपदेश किया।

समाज में बिच्छू और भेड़िये बनकर मत रहो

पृदाकु का अर्थ बिच्छू भी है। बिच्छू भी विष को धारण किये रहता है। वह अपने तीव्र डंक से, बचाने वाले साधु-सज्जन पुरुष पर भी निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है। चाहे कोई कितना ही उसके जीवन की रक्षा करे, फिर भी उसमें यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता कि मैं अपने पर उपकार करने वाले को, अपनी रक्षा करने वाले को तो डंक न मारूँ। वह महा कृतघ्न होता है। सदा डंक उठाये ही रहता है। अतः समाज को बिच्छू वृत्ति वाले मनुष्य भी नहीं चाहिएं।

पृदाकु का अर्थ व्याघ्र होता है। व्याघ्र, भेड़िया आदि दूसरों पर अचानक, धोखा देकर आक्रमण करने में प्रसिद्ध है। अतः व्याघ्र, भेड़िये आदि के समान अचानक अपने ही व्यक्तियों पर आक्रमण करके उन्हें अपना भोग्य बना लेने वाली प्रवृत्तियों के व्यक्तियों की जन-समाज में आवश्यकता नहीं। समाज में अर्थलोलुप भेड़िये एवं व्याघ्र अपना आर्थिक आक्रमण करके भावों को बढ़ा देते हैं। बाजार में वस्तु का अभाव बताकर भ्रष्टाचार करने लगते हैं।

कामी, क्रोधी, लोभी एवं अहंकारी, भेड़िये एवं व्याघ्र की वृत्ति से अपनी पैशाचिक वासनाओं की तृप्ति के लिए क्रूर एवं निर्लज्ज होकर शिकार खेलते हैं। ऐसे लोग जो केवल अपने भोग्य के लिए दूसरों का प्रणहरण करने वाले हैं, वे समाज में नहीं होने चाहिएं।

पृदाकु का अर्थ हाथी भी है। हाथी सदृश भी न बनने के लिए वेद आदेश देता है। हाथी देखने में तो विशालकाय प्रतीत होता है, किन्तु उसमें शरीर की अपेक्षा बुद्धि अत्यल्प होती है दृष्टि भी उसकी छोटी होती है। वह काम के वशीभूत होकर अपनी स्वतन्त्रता को भी सदा नष्ट कर देने वाला होता है। अतः वेद ने—'मा पृदाकुः'—का जो उपदेश किया, उसका पालन करके हम समाज को समुन्नत कर सकते हैं।

दोषों का त्याग करो

इसी प्रकार पशु-पक्षियों के दृष्टान्त से अपनी प्रवृतियों को सुधारने के लिए निम्न मन्त्र में भी वर्णन मिलता है :—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ (ऋ० ७। १०४। २२)

(१) **उलूकयातुं जहि**— उल्लू की वृत्ति, वर्त्तन या सदृश जीवन यापन की वृत्तियों को, चलन को छोड़ो।
(२) **शुशुलूकयातुं जहि**— भेड़िये के सदृश चलन को छोड़ो।
(३) **श्वयातुं जहि**— कुत्ते के सदृश चलन को छोड़ो।
(४) **कोकयातुं जहि**— चकवा-चकवी के समान चलन को छोड़ो।
(५) **सुपर्णयातुं जहि**— गरुड़ के चलन को छोड़ो।
(६) **गृध्रयातुं जहि**— गीध की वृत्ति को भी छोड़ो।
(७) **दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र**—हे जीव, तू इन दुष्ट, नाशक वृत्तियों को जैसे सिल पर पीसने वाला पत्थर, रगड़ कर चूर्ण-चूर्ण कर देता है, उसी प्रकार इन वृत्तियों को भी नष्ट

कर। ये वृत्तियाँ समाज के किसी व्यक्ति में जागृत न होने पायें।

(१) उल्लू की चाल एवं कार्यप्रणाली विचित्र है। दिन में तो वह देखने में असमर्थ है। दिन के प्रकाश का वह शत्रु है। अन्धकार उसे प्रिय है। ऐसी प्रवृत्ति के अनुसार वर्त्तने वाले व्यक्ति समाज में न हों। अन्धकार में कार्य करने वाला, अनेक संशयों एवं शंकाओं से युक्त रहता है। उसे निश्चयात्मक ज्ञान होने में कठिनाई रहती है। अन्धकार में से न जाने किस ओर से कौन आक्रमण कर दे। न जाने किसी गर्त्त में गिरना हो जाये और जीवन संकट में पड़ जाये। अन्धकार में चलने वाला किसी पेड़ या पत्थर से टकरा जाता है। इत्यादि अनेक प्रकार के कष्ट अन्धकार में चलने वाले को होते हैं। अतः उल्लू के समान मोहवृत्ति को जन-समाज या व्यक्तियों को नहीं अपनाना चाहिए।

(२) भेड़िया क्रोध-वृत्ति का, क्रूर-वृत्ति का तथा अपहरण-वृत्ति का परिचायक है। समूह में से यदि कोई बिछुड़ जाये, तो भेड़िया उस पर आक्रमण कर देता है और उसका अपहरण कर लेता है। जिसका अपहरण करता है उसे मार कर खा जाता है और यदि कभी उसका पालन भी करता है, तो उसे अपने जैसे स्वभाव का बना लेता है।

कई बार मनुष्यों के बालक भी भेड़ियों की माँदों से प्राप्त किये गये, जो भेड़िये के सदृश व्यवहार करते थे। इस प्रकार की वृत्तियाँ मनुष्यों में न हों कि जो बिछुड़े हुए को मिलने न दें और उन्हें इतना बिछुड़ा दें कि वे अपने उच्च गुण कर्म स्वभाव को त्याग कर पशुवत् व्यवहार करने लगें। अतः मनुष्यों को अपना व्यवहार भेड़िये सदृश न बनाने का वेद ने उपदेश दिया।

(३) कुत्ते की वृत्ति परम दासता, चापलूसी और स्वजाति वाले से द्वेष की है। इस वृत्ति को भी उन्नतिशील समाज के व्यक्तियों को कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। समाज में ऐसी वृत्ति के मनुष्यों से समाज की उन्नति तो कभी नहीं हो सकती, अपितु ऐसे लोग स्वार्थवश समाज के हित की अवहेलना करके उसे हानि पहुंचायेंगे।

जो लोग रोटी और चाँदी के चन्द टुकड़ों पर आत्मसमर्पण करने वाले हैं, ऐसी वृत्ति के व्यक्तियों से सदा सावधान रहना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता। कुत्ते की वृत्ति को समाज में कभी किसी प्रकार प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। यह दासता की वृत्ति है। यह वृत्ति अत्यन्त असामाजिक है। अतः कुत्ते की वृत्तियों का अध्ययन करके तत्सदृश त्यागने योग्य वृत्तियों को त्यागना चाहिए।

(४) इसी प्रकार चक्रवाक की जो यह वृत्ति है कि जब रात्रि में सब अपने परिवार में एकत्र रहते हैं और एक-दूसरे की रक्षा करके आनन्द की निद्रा में मग्न रहते हैं, उस समय चकवा-चकवी दोनों एक-दूसरे को छोड़ कर एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं तथा मिलन की प्रतीक्षा में चिन्तित रहते हैं। यह कार्य भी असामाजिक है।

रात्रि को आवारा बन कर घूमना, परस्पर परिवार से बिछुड़ना ठीक नहीं है। कोक का अर्थ चक्रवाक पक्षी के अतिरिक्त मैंढक भी है। मैंढक अनियंत्रित एवं अस्थिर वृत्ति के होते हैं। अनियंत्रित तथा अस्थिर रहने और अशान्ति उत्पन्न करने की इनकी ख्याति है। यदि कोई चाहे कि मैं एक तराजू के पलड़े में एक सेर जीवित मैंढकों को बिना बन्धन तौल लूं, तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता। वे स्थिर नहीं रह सकते, उछलने-कूदने का उनका स्वभाव है। इस उछलने-कूदने की वृति के कारण कभी सन्तुलन नहीं बन सकता।

इसी प्रकार अस्थिर, अनियंत्रित, सदा उछल-कूद में ही समय व्यतीत करने वाले अपने परिवार एवं समाज के लिए कष्टदायक होते हैं। इसी प्रकार मैंढकों का अशान्ति का भी स्वभाव है। एक मैंढक चुप हो जाये, तो दूसरा शोर मचाने लगता है। अतः अशान्ति का भी स्वभाव त्याज्य है।

(५) गरुड़ पक्षिराज है। वह सुपर्ण है। अच्छे पंखों वाला है। अपने पंखों के कारण वह ऊँची उड़ानें और सबसे देर तक की उड़ानें भरने में अपने को प्रसन्न अनुभव करता है। अन्य कोई पक्षी उसके समान ऊँची और देर तक उड़ान नहीं भर सकता। उसे अपनी ऊँची और तेज उड़ान पर अभिमान रहता है।

उसी प्रकार गरुड़ पक्षी सर्पों का भक्षक होने से अभिमान में रहता है कि पृथ्वी को निर्विष करने वाला मैं ही हूं। उसे यह नहीं मालूम कि जिसने विषधर सर्पों को बनाया है, उसी ने गरुड़ को भी बनाया है। उसी की दी हुई सामर्थ्य से इसमें भयंकर सर्पों का भक्षण करके पृथ्वी को निर्विष करने की सामर्थ्य है। अतः बड़ी-बड़ी ऊँची उड़ानें भरने और "मैं ही सब कुछ करने वाला हूं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई कुछ नहीं कर सकता"—सामर्थ्य पाकर ऐसी अभिमानयुक्त भावना गरुड़ वृत्ति के तुल्य है। इस प्रवृत्ति को छोड़ना चाहिए।

(६) गृध्र की वृत्ति भी छोड़ने योग्य है। गृध्र की दृष्टि बड़ी तीव्र होती है और लोभयुक्त होती है। लोभी व्यक्ति की दृष्टि दूसरों के धन पर गड़ी रहती है। 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' के आदेश के विपरीत लोभी का आचरण होता है। यही लोभयुक्त गृध्र दृष्टि ही पापाचार का कारण बनती है। 'लोभः पापस्य कारणम्'—यह जो घोषणा की गई है, वह जीवन के व्यवहार दर्शन का सार है।

अतः मानव की पूर्वोक्त अवांछनीय वृत्तियों का उन्मूलन करना चाहिए। इन वृत्तियों के मानव पर आक्रमण होने से उसमें से अच्छी वृत्तियों का नाश हो जाता है। ये क्रूर एवं आक्रमणकारी वृत्तियाँ हैं। इनके लिए वेद कहता है—

यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु। (यजुः ६। १५)

तुममें जो ऐसी क्रूर पाशविक, हिंसक वृत्तियां हैं, जो उत्तम गुणों को, सार्वजनिक हित को, परस्पर प्रेम एवं सहकारिता को तथा सबकी उन्नति की भावना को नष्ट करने वाली हैं, वे अच्छी प्रकार निवृत्त हों। वे तुम से पृथक् हो जावें, जिससे तुम शुद्ध, निर्मल, सब के ग्रहण करने योग्य, स्वीकार करने योग्य, अर्थात् प्रिय बन सको।

साम्यवाद या समाजवाद में दासता को स्थान नहीं

पूर्वोक्त प्रकार की कुप्रवृत्तियों के तथा इस प्रकार की कुप्रवृत्ति वाले जनों के दास हम या हमारा समाज न बन सके। अतः वेद कहता है—

पच्चीसवां सूत्र-मन्त्र—(२५)

अदीनाः स्याम। (यजु० ३६। २४)

हम अपने जीवन में दीन, दास एवं पराधीन कभी न बनें। हम ऐसी दुष्प्रवृत्तियों के भी दास एवं वशीभूत न हों। मनुष्य वासनाओं के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के अनर्थ करने लगते हैं। अतः हम सचेत रहें और ऐसी प्रार्थना करें तथा प्रयत्न करें कि हम किसी भी प्रकार से पराधीन न हों।

निरन्तर उच्चतर स्वराज्य स्थिति के लिए प्रयत्न करें

यतेमहि स्वराज्ये। (ऋ० ५। ६६। ६)

अपनी स्वाधीनता के लिए निरन्तर प्रयत्न करें। हमारा स्वराज्य पहले हमारे शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों पर होना चाहिए। यदि हमारा शासन, स्वराज्य अपने पर ही स्थापित न हो सका तो इस शरीर, मन एवं इन्द्रियों से अनुचित, अयोग्य एवं निन्दनीय कर्म भी हो सकते हैं।

यदि हमारा स्वराज्य हमारे अपने ऊपर होगा, तो इन्हीं इन्द्रियों, मन एवं शरीर से शान्ति एवं सुखदायक कार्य सम्पन्न हो सकेंगे और सब को सुख-शान्ति प्राप्त होगी। इसी को वेद में निम्न शब्दों में प्रकट किया है —

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥ (अथर्व० १९। ९। ५)

ये जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और जो छठा मन है, उनके द्वारा भयंकर—अशुभ—कर्म होते हैं। उन्हीं के द्वारा शान्ति, सुखदायक, शुभ कर्म भी हो।

समाजवाद या साम्यवाद के शासन की झांकी

इस प्रकार के विचारों और आदर्शों पर स्थापित समाज शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और आत्मिक दृष्टि से बहुत उन्नत हो सकता है। उसमें विविध शक्तियों का विकास होगा। जब सब समानाधिकार वाले, समान भोग वाले होंगे, तब छल-कपट, राग-द्वेष, असत्य और हिंसा, आलस्य और प्रमाद कहाँ रहेंगे। वह समाज तो—

छब्बीसवाँ सूत्र-मन्त्र—(२६)

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता। (अथर्व० १२। ५। २)

(१) सत्य से आवृत रहेगा। सर्वत्र सत्य व्यवहार होने से 'मित्रः सत्यानामधिपतिः' के अनुसार सब परस्पर मित्रवत् स्नेहभाव से वर्त्तन करने वाले होंगे और 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।' (अथर्व० १९। १५। ६) का प्रत्यक्ष दर्शन होगा।

(२) सत्य से आवृत उस समाज में जब सब परस्पर विश्वास, प्रेम एवं सद्भावना से रहेंगे, सबके हृदय एक होंगे उस समय—'श्रिया प्रावृता'—शोभायुक्त लक्ष्मी से समाज अवश्यमेव व्याप्त होगा, जिससे सभी को विषमता के अभाव में अर्थात् समता की स्थिति में शारीरिक एवं मानसिक सुखों की प्राप्ति होगी।

(३) बाह्य समानताओं के होते हुए भी यदि मानसिक दृष्टि से समाज उन्नत न हो और मन समान न हो, तो सब सुखों के साधन होते हुए भी दुःख रहता है। अतः वेद ने पूर्व ही—'सहृदयं सांमनस्यम्'—आदि आदर्शों का प्रतिपादन करते हुए जिस समाज के निर्माण का उपदेश दिया वह वास्तव में—'श्रिया प्रावृता'—शोभायुक्त लक्ष्मी से युक्त होगा और उसके परिणामस्वरूप—'यशसा परीवृता'—उत्तम यश से सब ओर से संयुक्त रहेगा। उस समाज को—

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम्॥ (अथर्व० १२। ५। ३)

स्वधया परिहिता—अन्नादि पदार्थों के धारण, उत्पत्ति, समृद्धि आदि से सबका हितकारी बनना होगा। अन्न-भोज्य पदार्थों की व्यवस्था करनी होगी।

समाज या राष्ट्र में—'स्वधया परिहिता'—अन्नादि की पूर्ति से सबकी व्यवस्था करनी होगी। अन्नहीन राष्ट्र बलहीन और पर-निर्भर होता है। अन्न से समृद्ध समाज या राष्ट्र अपना साम्राज्य अपने देश में तथा बाहर भी स्थापित कर सकता है। इसीलिए वेद ने कहा—'अन्नं साम्राज्यानामधि-

पतिः'—अन्न की इस महत्ता को ध्यान में रखकर समाज एवं राष्ट्र को अन्न की उत्पत्ति में प्रवृत्त होना चाहिए ।

श्रद्धया पर्यूढा—समाज को सत्य धारण में श्रद्धा से सब ओर से सत्य व्यवहारवान् बनना होगा । सत्य से परस्पर विश्वास बढ़ता है । सत्य से व्यापार-व्यवसाय की भी वृद्धि होती है। सत्य से विद्या का प्रचार और अविद्या का नाश होता है । अतः सत्य से समाज को प्रत्येक क्षेत्र में युक्त होना चाहिए ।

(३) **दीक्षया गुप्ता**—विविध प्रकार के समाचारों के प्रचलन, ब्रह्मचर्य, सत्य भाषण आदि व्यवहार से समाज के व्यक्तियों को व्रती बना कर उनमें सद्‌गुणों को स्थापित करना होगा। अव्रती समाज सदाचारहीन होता है और कठिनाइयों के आने पर वह अपना धैर्य खो देता है । अतः समाज के प्रत्येक व्यक्ति को दीक्षा से युक्त होना चाहिए ।

(४) **यज्ञे प्रतिष्ठिता** विद्वानों के सत्कार की प्रवृत्ति समाज में होनी चाहिए । इस कार्य के लिए पवित्र भावना से, पूजा-सत्कार की भावना से समाज के व्यक्तियों को अग्रसर होना चाहिए । यज्ञ का तात्पर्य जहाँ विद्वानों की सेवा, संगति से है, वहाँ शिल्प विद्या और शुभ गुणों के दान में प्रवृत्ति से भी है । ऐसी प्रवृत्ति को प्रतिष्ठित—प्रचलित करना होगा । यदि समाज के व्यक्तियों में शिल्प विद्या एवं विद्यादि शुभ गुणों को अन्यों को देने की प्रवृत्ति नहीं होगी, तो उन्नति संभव नहीं। अतः विद्या तथा शिल्पादि के शिक्षणादि की निःशुल्क व्यवस्था होनी चाहिए तभी यज्ञ का दान अर्थ सार्थक होगा। अर्थात् समाज या राष्ट्र में विद्यादि शुभ गुण एवं शिल्पादि के शिक्षण का सबको समान अवसर प्राप्त हो इस निमित शिक्षण व्यवस्था निःशुल्क हो ।

(५) इस प्रकार मनुष्य लोक का निर्माण करते हुए मृत्युपर्यन्त सदा आनन्द में रहने की स्थिति प्राप्त करता है । पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों में सत्य, श्री, यश, अन्न, व्रत, सत्कार, विद्यादि की निःशुल्क व्यवस्था का उपदेश दिया है ।

जो समाज इन गुणों का धारण करेगा उस समाज में निम्न उत्तम गुण एवं कर्मों का प्रादुर्भाव होगा—

समाजवाद या साम्यवाद से सर्वांगीण उन्नति

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ।।
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ।।
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ।।
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा पशवश्च ।। (अथर्व० १२।५।७-१०)

१. ओजश्च —पराक्रम और उसकी सामग्री का संग्रह एवं उपयोग का ज्ञान ।
२. तेजश्च —तेजस्वीपन और उसकी सामग्री का संग्रह एवं प्रयोग ज्ञान ।
३. सहश्च — स्तुति, निन्दा, हानि, लाभ तथा शोक, मोहादि कासहन और इसके साधन ।
४. बलं च —बल और इसकी वृद्धि के साधन ।
५ वाक् च —सत्य और इसकी वृद्धि के साधन ।
६. इन्द्रियं च—शान्त, धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धता तथा जितेन्द्रियता ।
७. श्रीश्च —लक्ष्मी, सम्पत्ति और इसकी प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग ।
८. धर्मश्च —पक्षपात रहित न्यायाचरण, वेदोक्त धर्म और जो इसके साधन, लक्षण उनकी प्राप्ति ।

९. ब्रह्म च —पूर्ण विद्यादि शुभ गुण युक्त मनुष्य और सबके उपकारक, शमदमादि गुणयुक्त ब्रह्मकुल।
१०. क्षत्रं च —विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रियकुल।
११. राष्ट्रं च —राज्य और उसका न्याय से पालन।
१२. विशश्च —उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति।
१३. त्विषिश्च —सद्विद्या से तेज, आरोग्य, शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान्।
१४. यशश्च —इन सब की उन्नति से कीर्तियुक्त तथा इसके साधन।
१५. वर्चश्च —पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना।
१६. द्रविणं च —द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्म।
१७. आयुश्च —जीवन की वृद्धि तथा उसमें धर्मयुक्त कर्म करना।
१८. रूपं च —विषयाशक्ति, कुपथ्य, रोग और अधर्माचरण को छोड़कर अपने स्वरूप को अच्छा करना, वस्त्राभूषण धारण।
१९. नाम च —प्रत्येक व्यक्ति, समाज, संस्था, कार्य, पदार्थों आदि के सार्थक नामों को रखने की कला और उनके नियमों का ज्ञान।
२०. कीर्तिश्च —सत्याचरण से प्रशंसा का धारण और गुणों में दोषारोपण रूप निन्दा को छोड़ना।
२१. प्राणश्च —चिरकाल पर्यन्त जीवन धारण और उसके युक्ताहार विहार साधन।
२२. अपानश्च —सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री का निर्माण एवं संग्रह।
२३. चक्षश्च —प्रत्यक्ष और अनुमान उपमान से पदार्थों की परीक्षा का ज्ञान।
२४. श्रोत्रं च —शब्द प्रमाण और उसकी सामग्री का संग्रह।
२५. पयश्च —उत्तम जल, पेय पदार्थ, रस, वानस्पतिक दूध, इनका शोधन, संरक्षण और युक्ति से कालान्तर में सेवन योग्य बनाये रखना तथा सेवन करने का ज्ञान।
२६. अन्नं च —उत्तम चावल आदि अन्न और उनके उत्तम संस्कार किये जाने और खाने योग्य पदार्थों का ज्ञान।
२७. अन्नाद्यं च —पूर्वोक्त खाद्यान्नों से विविध प्रकार के व्यंजनों का निर्माण।
२८. ऋतं च —सत्य मानना और सत्य मनवाना।
२९. सत्यं च —सत्य बोलना और सत्य बुलवाना।
३०. इष्टं च —यज्ञादि परोपकार धर्म करना और कराना।
३१. पूर्तं च —यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिकादि बनाना और बनवाना।
३२. प्रजां च —प्रजा की उत्पत्ति, पालन, उन्नति सदा करनी करानी।
३३. पशवश्च —गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति आदि की प्रवृत्ति करनी करानी चाहिए।

एक उन्नत समाज या राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए जो आवश्यक है उस सब का प्रतिपादन इस मन्त्र में है। शरीर मन और आत्मा की उन्नति के साथ समाज का विकास आवश्यक है। यदि इन गुणों का समुचित विकास नहीं होगा तो ऐसे समाज में जो रूप दृष्टिगोचर होगा वह हितकारी नहीं होगा।

अत्यधिक फैशनवाद पतन की ओर ले जाता है

शारीरिक उन्नति की उपेक्षा करके यदि हम सौन्दर्ययुक्त वस्त्राभूषण के द्वारा ही अपने शरीर,

आत्मा और मन की उन्नति मानते रहेंगे तो शरीर क्षीण, बलरहित, निस्तेज एवं सहनशक्ति रहित होंगे और परिणामस्वरूप रोग, शोक, चिन्ता, पराधीनता, परावलंबन आदि का आधिपत्य बना रहेगा।

उस दशा में रोगादि के निवारणार्थ बड़े-बड़े अस्पताल, शोक, चिन्तादि से मानसिक व्याधि — पागलपन आदि से ग्रसितों के उपशमनार्थ बड़े-बड़े पागलखानों का निर्माण होगा। चिन्ता एवं शोक से आत्मघात करने की प्रवृत्ति या अन्य अपराधों की प्रवृत्ति से बड़े-बड़े न्यायालयों, कोतवालियों, हवालातों और कारागृहों का निर्माण होने लगता है।

उपरोक्त चिह्न समाज या राष्ट्र की उन्नति के नहीं हैं, अपितु अवनति के ही हैं। पुलिस जवानों की पंक्तियाँ, वकीलों की कतार, डाक्टरों की कदम-कदम पर उपस्थिति, उन्नति का चिह्न नहीं, अपितु अवनति के ही चिह्न हैं।

बड़े-बड़े अस्पतालों और डाक्टरों की भरमार से प्रतीत होता है कि देश में अधिकतर लोग रोगी हैं। समाज या देश का स्वास्थ्य बिगड़ चुका है। जब इन बड़े-बड़े अस्पतालों में रोगियों की इतनी वृद्धि देखने को मिले कि और भी बड़े अस्पताल की आवश्यकता हो, तब वह रोगी नगर ही बस गया, ऐसा प्रतीत होता है। अस्पताल से एक रोग का उपचार समाप्त हुआ नहीं कि दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है और क्रमशः घर-घर का दृश्य अस्पताल व दवा की दूकान का बन जाता है।

इसके निवारण का उपाय

वेद ने हमें इसके निवारण का उपाय बताया कि—

ओजश्च, तेजश्च सहश्च, बलं च। (अथर्व० १२।५।७)

१. पराक्रम, २. तेज, ३. सहनशक्ति और ४. बल इस चतुष्पाद बल को अपने में धारण करना चाहिए। इनकी जो सहायक सामग्रियाँ हैं, उनका भी संग्रह करना चाहिए और जो इनके साधन हैं उनसे युक्त होना चाहिए।

उस स्थिति में बल, तेज, पराक्रम और सहनशक्ति के कारण हमारे शरीर में रोग प्रवेश नहीं कर सकेंगे। जब रोगी ही नहीं होंगे, तब बड़े-बड़े अस्पतालों की आवश्यकता ही न रहेगी। अतः शारीरिक उन्नति के लिए प्रमुख रूप से प्रयत्न समाज में एवं व्यक्तियों में होना चाहिए।

इस कार्य के सम्मुख अस्पताल आदि तो गौण प्रयत्न हैं। गौण कार्यों को प्राथमिकता देना और उसे ही उन्नति समझना समुचित नहीं है। परिस्थितियों का समाधान तो समय-समय पर निकालना आवश्यक है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु सामयिक परिस्थितियों के समाधान में लक्ष्य की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

चतुष्पाद बलों की प्राप्ति करें

इस प्रकार वेद ने शारीरिक उन्नति के लिए चतुष्पाद बल (१. ओज, २. तेज, ३. सहनशक्ति, ४. शारीरिक बल) का प्रतिपादन किया। वह बल जिसमें ओज नहीं, निष्प्राण है। ओज रहित बलशाली मनुष्य का बल मृत शरीरवत् है। इसी प्रकार तेजरहित बल भी निरर्थक है। निस्तेज व्यक्ति चाहे कितना ही बलवान् हो, परन्तु उसके बल का कोई प्रभाव एवं उपयोग नहीं होता। दुर्बल व्यक्तियों में भी यदि ओज और तेज है, तो उसका प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार जिस बल के साथ सहनशक्ति नहीं, वह बल भी अपूर्ण है। उस बल का क्या उपयोग ? विशालकाय बलिष्ठ व्यक्ति सहनशक्ति के अभाव में निरुपयोगी हो जाते हैं। अतः वेद ने बल को चतुष्पाद या चतुर्भुज १. ओज, २. तेज, ३. सहनशक्ति, ४. शारीरिक बल के साथ सम्पन्न करने को कहा है। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न चतुर्भज व्यक्तियों का समाज अपने बल-पराक्रम का समुचित उपयोग कर सकता है।

द्वितीय चतुष्पाद बल

ऐसे बलवान् समाज को पुनः—'वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च'—इन चार गुणों से भी युक्त होना चाहिए। अर्थात् सत्य और प्रेममयी वाणी से युक्त होना चाहिए। यदि समाज के सब व्यक्ति ओज और तेज से युक्त बलवान् होंगे, फिर भी उनमें अप्रिय और असत्यवाणी का व्यवहार होगा, तो परस्पर लड़ाई-झगड़े आदि होते रहेंगे और अशान्ति बढ़ेगी। अशान्ति बढ़ने से पुलिस, न्यायालय और कारागृहों की आवश्यकता होगी। दूषित समाज के, पतित आचार के परिचायक ये कोतवालियाँ, न्यायालय, वकीलों की पंक्तियाँ, सशस्त्र पुलिस का अंकुश, गुप्तचरों की टोलियों और कारावास हैं।

इनकी भरमार प्रकट करती है कि समाज का चरित्र, चलन, आचार, व्यवहार, दिनचर्या, मन का शुभ संकल्प नष्ट हो चुका है। अतः वेद ने कहा—'वाक्च'—मधुर और सत्य वाणी का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रचलन करो। अप्रिय, असत्य वाक्-स्वातन्त्र्य अनर्थकारी होता है। उससे समाज की हानि होती है और समाज में दुर्गुणों का प्रभाव बढ़ता है परिणामतः अपराधों की वृद्धि होती है।

दूसरा गुण—'इन्द्रियं च'--पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और आत्मा तथा अन्तःकरण इनकी शुद्धता, पवित्रता, शान्ति, जितेन्द्रियता और धार्मिकता होनी चाहिए। इससे मानसिक विचारों एवं कायिक कर्मों की श्रेष्ठता होती है। अतः समाज का या राष्ट्र का ध्यान मानसिक विकास, जितेन्द्रियता-पूर्वक, संयमपूर्वक, सभ्यता एवं सुशीलता के व्यवहार के शिक्षण, विकास एवं प्रचार का होना चाहिए।

समाज की प्रवृत्तियों के अनियन्त्रित रूप में विकास से कु-प्रवृत्तियों का साम्राज्य हो जाता है और समाज अनियन्त्रित कर्मों—पापाचारों में प्रवृत्ति हो जाता है। अतः इन्द्रियों के संयम पर ध्यान देने से समाज अनेक सामाजिक दोषों से बच सकता है।

वैदिक समाजवाद मूल से ही निर्माण का आदेश देता है। अनियन्त्रित, असंयत व्यक्तियों के पीछे गुप्तचर, पुलिस, सेना, न्यायालय, कारागृह आदि के अत्यधिक खर्च समाज या राष्ट्र को भोगने पड़ते हैं और अधिकांश शक्ति एवं धन का व्यय इसी में हो जाता है। दोष ही उत्पन्न न हों, सद्विचारों और श्रेष्ठ कर्मों की प्रवृत्ति बने, ऐसा प्रयत्न प्रारम्भ से ही करना चाहिए।

तीसरा और चौथा गुण—'श्रीश्च धर्मश्च'—का समाज में आना चाहिए। जिस बलवान् सतेज समाज में सत्य और मधुर वाणी के प्रयोग की स्वतन्त्रता होगी और अन्तःकरणों में सद्विचार और जितेन्द्रियता, संयमपूर्वक व्यवहार होगा, उसमें लक्ष्मी, सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए अनाचार, भ्रष्टाचार आदि का आश्रय नहीं लेना पड़ेगा। अपितु लक्ष्मी की प्राप्ति, वृद्धि एवं रक्षण के लिए सार्वजनिक, सर्वहितकारी नीति का अवलम्बन करना होगा। इस प्रकार की नति से 'श्रीश्च' का साहचर्य 'धर्मश्च' के साथ बन सकेगा।

अर्थ का सम्बन्ध धर्म के साथ होना चाहिए। धर्म से प्राप्त धन वास्तव में अर्थ है। वही श्री कहलाने योग्य है। अधर्म से, भ्रष्टाचार से पापयुक्त नीति से, छल-कपट से प्राप्त धन तो अनर्थ है और अनर्थकारी भी है, अतएव श्रीरहित है। इसलिए पक्षपात रहित न्यायाचरण, वेदोक्त धर्म और जो इसके साधन एवं लक्षण हैं, उन्हें प्राप्त करना चाहिए।

उपरोक्त गुणों से शारीरिक और आत्मिक गुणों की वृद्धि व्यक्ति और समाज में होगी। ऐसे समाज में बल का, शारीरिक और मानसिक शक्तियों का, श्री और धर्म का विकास होगा। उस समाज में पुनः 'ब्रह्म च क्षत्रं च' ब्राह्म और क्षात्र शक्तियों का विकास या ब्राह्म और क्षात्र वर्णों का वर्गीकरण प्रारम्भ हो जाता है।

कुछ व्यक्ति विद्यादि शुभ गुणों से विशेष निपुण होकर उसके ही संरक्षण, प्रचार आदि में परोपकार बुद्धि से युक्त, शम, दमादि गुणों की साधना में रहते हैं; वे ब्रह्म वर्ण, ब्रह्म कुल समाज के अन्तर्गत माने जाने योग्य हैं। इन्हीं की कामना के लिए राष्ट्र की साधना होती है और राष्ट्र की प्रार्थना होती है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। (यजुः २२।२२)

हे ब्रह्मन् परमेश्वर! हमारे राष्ट्र में ब्रह्म विद्या, ब्रह्म तेज, वेद वेदांगादि के ज्ञाता ब्राह्मण हों। ब्राह्मणों के पास ब्रह्म बल, विद्या का गुण होना ही चाहिए।

समाज या राष्ट्र में जो व्यक्ति विद्यादि उत्तम गुणों से युक्त, विनय एवं शौर्यादि गुणों से युक्त एवं उनके संरक्षण तथा प्रचार में अपनी अभिरुचि रखते हैं वे क्षात्र वर्ण या क्षात्र कुल के समाज में माने जाने योग्य हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों की कामना के लिए वेद में प्रार्थना की गई है—

राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥ (यजुः २२।२२)

शूरवीर, बाण विद्या में कुशल, दुष्टों का अत्यन्त वेध करने वाले एवं महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। समाज की रक्षा, पालन आदि के लिए क्षत्रियों की सदा आवश्यकता है।

समाज या राष्ट्र में ब्राह्म एवं क्षात्र शक्ति दोनों का पूर्ण उदय होना चाहिए। कुछ समस्याओं का हल ब्राह्मशक्ति से ही होता है और कुछ का हल क्षात्रशक्ति से होता है। परन्तु कुछ ऐसी भी स्थितियाँ हैं, जिनमें दोनों शक्तियों की आवश्यकता रहती है। अतः वेद कहता है—

सँ शितं मे ब्रह्म सँ शितं वीर्यं बलम्।
सँ शितं क्षत्रं जिष्णुः—॥ (यजु० ११।८१)

मेरा ब्राह्मबल सुदृढ़ हो। मेरा ब्राह्म बल—वीर्य, पराक्रम युक्त हो तथा बल, पराक्रम से युक्त जयशील मेरा क्षात्रबल भी सुतीक्ष्ण हो। क्षात्रबल की महिमा को सर्व साधारण अनुभव करते हैं। परन्तु ब्राह्मबल की महिमा को भी लोग समझ कर उसे भी समुन्नत करें और उसका भी प्रयोग करें। इस रहस्यपूर्ण शक्ति के विकास के बारे में मन्त्र निम्न प्रकार संकेत कर रहा है—

क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वां २ अहम्। (यजुः ११।८२)

मैं ब्राह्म बल के द्वारा शत्रुओं को नष्ट करता हूं और स्वजनों को उन्नत करता हूं। अर्थात् सर्वत्र क्षात्र बल से ही कार्य होगा और दूसरा इसका कोई उपाय नहीं है, ऐसी विचारधारा रखने से समाज में एक ही प्रकार की शक्ति का उदय होता है। एक ही प्रकार की शक्ति की प्रधानता से वर्गवाद एवं एकतन्त्रवाद का जन्म होने लगता है। अतः समाज में ब्रह्म एवं क्षात्र दोनों ही बलों की आवश्यकता है।

तृतीय चतुष्पाद बल

ये दोनों ब्राह्म एवं क्षात्रशक्तियां ही मिलकर—'राष्ट्रं च विशश्च'—राष्ट्र का निर्माण करती हैं और उस राष्ट्र या समाज का न्याय से पालन करती हैं, जिससे उत्तम प्रजा का निर्माण होता है और उसकी उन्नति होती है। इस प्रकार समाज या राष्ट्र की उन्नति या विकास से—'त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च'—इन चार विशिष्ट गुणों का विकास होता है।

'त्विषिः' का तात्पर्य उस तेज से है, जो सद्विद्या से प्राप्त होता है तथा शरीर व आत्मा के विकास से आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है। यही ब्राह्मबल है। ब्राह्मतेज है।

ब्राह्म शक्ति से ब्राह्म तेज की समाज में वृद्धि होती है अर्थात् अध्यात्म शक्ति की वृद्धि होती है और क्षात्र बल से भौतिक बल की वृद्धि होती है। इस प्रकार इन दोनों बलों के साथ न्यायपूर्वक

प्रजा पालन करने से—'यशश्च'—सत्कीर्त्ति की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार विद्याबल या धन आवश्यक है, उसी प्रकार यशरूपी बल या धन की भी आवश्यकता है।

विद्या, विनय आदि से सम्पन्न समाज की यदि सत्कीर्त्ति न हो, तो विद्या की पूर्ण उपयोगिता नहीं हो सकती। अतः ब्राह्म और क्षात्र शक्तियों को 'त्विषिः' और 'यशः' से सम्पन्न होना चाहिए।

वर्च का तात्पर्य है तेज। अपने समाज का या राष्ट्र का तेज रूपी बल या धन बढ़ना चाहिए। हमारी विद्या, बुद्धि तथा यश का इतना वर्चस् होना चाहिए कि दूसरा हमारे वर्चस् से ही पराभव को प्राप्त हो जाये और जो न्याययुक्त बात हम मनवाना चाहते हैं, वह उसे स्वीकार कर ले। उसे मनवाने के लिए बल का या सेना का प्रयोग न करना पड़े।

वर्च के साथ राष्ट्र में—'द्रविणं च'—द्रव्योपार्जन, उसकी रक्षा और उसका धर्मयुक्त परोपकार-कर्म—सार्वजनिक, सर्वहितकारी कर्मों में विनियोग करना चाहिए। द्रविण का अर्थ धन, स्वर्णादि, पराक्रम, बल आदि है। धन, स्वर्णादि भी राष्ट्र, समाज एवं व्यक्तियों का बल हैं। अतः समाज को धन बल से भी सम्पन्न करना चाहिए।

धन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु धन को अत्यधिक या सर्वाधिक प्रमुखता भी नहीं देनी चाहिए। आज के समय में धन को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रभुत्व है। ब्रह्म, क्षत्र, यश, वर्च आदि के बाद धन-शक्ति है। वेद धन एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के प्रति उपेक्षा के भाव नहीं देता, अपितु धन ऐश्वर्यादि के लिए निम्न शब्दों में प्रेरित कर रहा है—

अग्ने नय सुपथा राये—(यजु० ४०।१६)

हे अग्ने! तुम्हारे साहचर्य से धन ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, अतः धनैश्वर्य के मार्ग पर ले चलो। अर्थात् हम उन व्यवहारों पर आरूढ़ हों, जिनसे धनादि ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

वयं स्याम पतयो रयीणाम्। (यजु० २३। ६५)

हम धनों के स्वामी हों। इसी प्रकार—

वयं भगवन्तः स्याम। (यजु० ३४। ३८)

हम सब ऐश्वर्यवान् होवें। इस प्रकार इन मन्त्रों में धन की कामना है—ऐश्वर्य की कामना है, परन्तु व्यक्ति रूप में नहीं, अपितु समूह रूप से—सभी के लिए धनैश्वर्य की कामना है। 'अस्मान्' और 'वयं' शब्द बहुवचनान्त हैं। हम सब ही धनों के स्वामी हों।

धन के हम स्वामी तो बनें, परन्तु धन हमारा स्वामी न बन जाये। आज धन हमारा स्वामी बन गया है। हम उसके दास बनकर घूम रहे हैं। सुबह से शाम तक इसी की चिन्ता में घूम रहे हैं। रात्रि को भी इसी की चिन्ता में समय व्यतीत कर रहे हैं। बाल, वृद्ध, युवा स्त्री हो या पुरुष आज धन की साधना में अपना प्रत्येक क्षण व्यतीत कर रहा है। वह अपने समय का महत्त्व रुपयों से तोल रहा है। यह स्थिति अवांछनीय है।

इस प्रकार पूर्वोक्त मन्त्रों में जिन गुणों का वर्णन है, वे समाज या राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक हैं। समाज को ऐसे सब कार्यों की उन्नति के लिए पृथक्-पृथक् सभाएँ, समितियाँ बनानी चाहिएँ और उन पर समाज का नियन्त्रण एवं संचालन होना चाहिए।

ये ही पृथक्-पृथक् समितियाँ और उनके क्रियाकलाप पृथक्-पृथक् यज्ञ के नाम से भी कहे जाते हैं। अनुशासन उसका जीवन है। सार्वजनिक हित उसका मूल केन्द्र है। इसलिए यजुर्वेद के १८ वें अध्याय में—

बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८। २)

वित्तं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८। ११)

अन्नं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८। १०)

इत्यादि जीवन के लिए प्रत्येक उपयोगी कार्य को यज्ञ के द्वारा सम्पन्न करने का आदेश दिया है।

समाज में सभा एवं समितियों का निर्माण

सभाओं का कार्य यज्ञ की पवित्र भावना से, परोपकार की भावना से, सार्वजनिक हित की भावना से, स्वार्थ त्यागकर करना चाहिए। किसी कार्य या योजना को बनाने के लिए जो विचारों का अनुशासित रूप में परस्पर आदान-प्रदान है, वही सभा का रूप है। वेद सभाओं एवं समितियों के निर्माण का आदेश देता है—

सत्ताईसवाँ सूत्र-मन्त्र—(२७)

तं सभा च समितिश्च। (अथर्व० १५। ९। २)

संसार में धर्म के साथ समाज या राष्ट्र के पालनादि का जो कार्य किया जाता है, उस व्यवहार को सभाओं और समितियों से सम्पन्न करें। जिस-जिस कार्य को समाज या राष्ट्र में सम्पन्न करना है, उस-उसके लिए सभायें एवं समितियाँ बनानी चाहिएँ। सभाओं एवं समितियों के शासन से ही पंचायती राज्य, नगरपालिका आदि का विकास होता है।

सभा में असभ्यों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। जिस सभा में असभ्य व्यक्ति असभ्यता का व्यवहार करें, उसके नियमों का पालन न करें, उच्छृङ्खलता करें वह सभ्यों की सभा कहलाने योग्य नहीं है। वह तो श्वानसमागम है। आज की सभाओं में सदस्यों का जो व्यवहार है, वह बहुत कम सभ्य श्रेणी का पाया जाता है। छोटी सभाओं से लेकर राष्ट्र मण्डल की उच्च सभाओं तक में न्यूनाधिक अभद्र व्यवहार देखने को मिलता है। वेद सभासदों को सभ्यता का उपदेश देता है—

सभा एवं समाज शासन के लिए उत्तम सभ्य बनो

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदाः। (अथर्व० १९। ५५। ५)

(१) **सभ्य सभां मे पाहि**—हे सभ्य सभापति! हमारी सभा की रक्षा एवं उन्नति करो। सभा की उन्नति एवं रक्षा सभ्य बनने से, सभा के नियमों का पालन करने से तथा जिस निमित्त सभा का आयोजन है, उस प्रयोजन को पूर्ण करने से होती है। अतः सभा के संचालक को प्रमुख रूप से सभा के हित का ध्यान रखना चाहिए। जब इस प्रकार से सभापति का आचरण होता है तब—

सभापतिभ्यश्च वो नमः। (यजुः १६। २४)

ऐसे योग्य सभापति को सब सभासद अभिवादन करते हैं, उसका सत्कार एवं सम्मान करते हैं।

(२) **ये च सभ्याः सभासदा**—सभा के जो सभासद हैं उनको भी सभा के हित का ध्यान रख कर सभ्य एवं शिष्ट जनोचित व्यवहार करके सभा एवं समितियों की रक्षा तथा उन्नति करने में पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। सभा के प्रत्येक सभासद को सभा के कार्य में पूर्ण रुचि रखनी चाहिए। और यही भावना रखनी चाहिए—

यशसा ३ स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम् (सामवेद ६११)

मैं जिस सभा या समिति का सदस्य होऊं, उस समिति या संसद् का उत्तम एवं यशस्वी वक्ता बनूं। प्रत्येक के अन्दर अपनी सभा, समिति या संसद् के प्रति यही कर्तव्य की भावना होनी चाहिए, तभी

पूर्ण रुचि के साथ संसद् का कार्य चल सकता है अन्यथा नहीं। जब सदस्य इस भावना के साथ सभा में वर्तेंगे तब—

नमः सभाभ्यः (यजुः १६ । २४)

प्रजा या समाज भी उन सभाओं और सभासदों के प्रति सत्कार की भावना से उनके आगे झुकेगी। उनकी बात को हृदय से अंगीकार करेगी। सभाओं में विद्या, बुद्धि, शास्त्र एवं वाणी का बल चलता है परन्तु आज की सभाओं में विद्या, बुद्धि एवं शास्त्र का बल कम होने से शस्त्रबल का प्रयोग अधिक होने लगा है। शास्त्र बल की साधना के लिए—

धियो यो नः प्रचोदयात्। (यजुः ३६ । ३)

परमात्मा से श्रेष्ठ बुद्धियों की प्राप्ति के लिए और उनको सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने की प्रार्थना करनी चाहिए। परमात्मा की प्रेरणा अनेक प्रकार से हो सकती है। उसकी प्रेरणा त्रुटिरहित छिद्ररहित, एवं दोषरहित होती है। अन्यों की प्रेरणाएँ दोषयुक्त हो सकती हैं।

परमात्मा दोषरहित है। विमल ज्ञानवान् है। सत्य ज्ञान का प्रेरक है। उसकी प्रेरणा भी सदा सत्य एवं हितकारी ही होगी। अतः हम परमात्मा से अपनी बुद्धियों में प्रेरणा प्राप्त करें। जब तक परमात्मा से हम अपने बुद्धि का सम्बन्ध स्थापित नहीं करेंगे और उस बुद्धि के द्वारा उसका चिन्तन नहीं करेंगे तब तक उसकी प्रेरणा की प्राप्ति भी संभव नहीं।

इस मन्त्र वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि परमात्मा की प्रेरणा बुद्धि में ही होती है और बुद्धि के आश्रित हमारा सब व्यवहार होता है। जब परमात्मा की प्रेरणा हमें प्राप्त होगी तब हमारे कर्म भी उसकी प्रेरणा के अनुकूल बनेंगे। इस प्रकार प्रभु की उत्तमोत्तम प्रेरणाओं से हम अपनी बुद्धि को उत्तम बनाकर सभा में यशस्वी वक्ता भी बन सकते हैं।

इसी प्रकार की बुद्धि की कामना का मन्त्र निम्न है:—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥ (यजुः ३२ । १४)

हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! जिस उत्तम बुद्धि की, सत्कर्मों में सदा रत, दानशील, शुभगुणों की वृद्धि एवं पुष्टि करने वाले देवरूप विद्वान् और सृष्टि में पालन पोषण तथा उत्पत्तिकर्ता गुणों से युक्त पितर रूपी जन साधना करते हैं, उसी मेधा बुद्धि से युक्त मुझे भी कीजिए। मैं भी इस जीवन में देवों और पितरों के सदृश शुभ गुण कर्मों से युक्त हो सकूं।

जब हमारी इस प्रकार की उत्तम गुण कर्मों की प्रेरक मेधा होगी तब हमारे समाज या राष्ट्र की उन्नति अवश्य होगी और सब प्रकार के दोषों से रहित होगी। उत्तम बुद्धि ही सब उन्नति की मूल है। उसको प्राप्त कर हम निष्क्रिय नहीं रहें, अपितु महान् उन्नति के लिए प्रयत्नशील बनें। इसके लिए वेद निम्न शब्दों में प्रेरणा दे रहा है—

उत्क्राम महते सौभगाय। (यजुः ११ । २१)

महान् सौभाग्य एवं उन्नति के लिए अच्छी प्रकार उद्यत होओ। अर्थात् सर्वात्मना उन्नति के लिए प्रयत्न करो जिससे—

सत्या नः सन्त्वाशिषः। (यजुः २ । १०)

हमारी सदिच्छाएँ, सर्वहितकारी योजनाएं पूर्ण हों।

वैदिक समाजवाद में पारिवारिक आदर्श

पारिवारिक जीवन का वैदिक आदर्श

व्यक्ति और समाज के मध्य पारिवारिक जीवन का महत्त्व बहुत अधिक है। व्यक्ति का परिवार ही सामाजिक जीवन की शिक्षा का प्रथम क्रियात्मक क्षेत्र है। व्यक्तियों से परिवार और परिवारों से समाज का निर्माण होता है। अतः समाज के निर्माण के लिए व्यक्ति और परिवार के निर्माण की आवश्यकता है। परिवार में किसे कैसे वर्त्तना चाहिए, इसकी मर्यादा वेद ने बताई है।

(१)

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ (अथर्व० ३।३०।२)

परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी आदि सम्बन्ध से जीवन-यापन करना होता है। प्रत्येक व्यक्ति परिवार में अनेक सम्बन्धों से युक्त होता है। वह किसी का पुत्र है, तो किसी का पिता भी है। किसी का वह भाई है, तो किसी का मामा भी है। किसी का वह पति है, तो किसी का दामाद भी है।

इस प्रकार विविध सम्बन्धों से युक्त पारिवारिक स्थिति में एक व्यक्ति को स्वजनों से विविध प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है। पारिवारिक व्यवहार की मर्यादा का जैसा निर्धारण होगा, वैसा ही व्यवहार और उससे सुख की प्राप्ति होगी।

पिता के साथ पुत्र का व्यवहार

(१) **अनुव्रतः पितुः पुत्रः।**

पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने पिता के अनुकूल आचरण करने वाला हो। वह पिता की आज्ञा का पालन करे एवं उसके बताये मार्ग पर दृढ़तापूर्वक, श्रद्धा एवं प्रेम से, निःशंक होकर चले। क्योंकि 'अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।' (मनु०) बालक अल्पज्ञान वाला, अविकसित बुद्धि वाला होता है और उसे सत्य ज्ञान देने वाला, सन्मार्ग का प्रदर्शन करने वाला पिता ही होता है। अतः पिता की बात पुत्र को माननी चाहिए। इसी प्रकार पिता का कर्त्तव्य है कि पुत्र को विचार, प्रेरणा आदि देता रहे।

माता के साथ पुत्र का व्यवहार

(२) **मात्रा भवतु संमनाः।**

माता के साथ पुत्र समान मन वाला बने। वह माता के मन के प्रतिकूल कार्य करने वाला न हो। माता की इच्छा के विरुद्ध व्यवहार करने वाला न बने। माता की इच्छा ही बालक की इच्छा रहे।

विरुद्ध इच्छा ही हठीले, जिद्दी स्वभाव में परिवर्तित होती है। यही जिद प्रतिकूल विचार होने से त्याज्य है। इस प्रकार बालक का विकास माता-पिता द्वारा अच्छी प्रकार हो सकता है।

पति-पत्नी का व्यवहार

(३) जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।

बालक के माता-पिता ही परस्पर पति-पत्नी रूप से होते हैं। अतः इन दोनों के व्यवहार के बारे में वेद ने कहा कि पत्नी पति की प्रसन्नता के लिए उसके साथ—'मधुमतीं वाचं वदतु'—माधुर्ययुक्त वाणी का प्रयोग करे, जिससे पति सदा प्रसन्न रहे और वह भी पत्नी के साथ—'शन्तिवाम्'—शान्त होकर मधुर वाणी का व्यवहार करे।

इस प्रकार मन्त्र में पुत्र और पिता का, पुत्र एवं माता का और पुत्र के साथ माता-पिता का सम्बन्ध कैसा हो, इसका प्रतिपादन किया गया है। पति-पत्नी का व्यवहार कैसा हो, इस सम्बन्ध में एक अन्य मन्त्र में भी महत्त्वपूर्ण व्यवहार का उल्लेख है—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ।। (ऋ० १० । ८५ । ४७)

जल के समान मिलन की एकरूपता का व्यवहार

(१) पति-पत्नी का दाम्पत्य सम्बन्ध कैसा हो, इसका इस मन्त्र में उत्तम वर्णन है। मन्त्र पति-पत्नी दोनों से समाज के समक्ष घोषित करवाता है कि हे समाज के प्रतिष्ठित जनो! हम दोनों जो पति-पत्नी भाव से ग्रथित हुए हैं और विवाह-सूत्र से आबद्ध हुए हैं, हम दोनों के हृदय एवं मन जल के समान एक हैं।

जिस प्रकार दो जलों को मिला देने पर वे एक हो जाते हैं और इतने एकरूप हो जाते हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। न उनमें पार्थक्य देखा जा सकता है। दोनों जलों का शील-स्वभाव भी एकरूप हो जाता है। उनमें दो पृथक् गुण नहीं प्रतीत हो सकते। ठंडा एवं उष्ण जल मिला देने पर दोनों का ताप पृथक्-पृथक् नहीं रहता। एक समान ताप हो जाता है। दोनों का स्तर भी समान रहेगा। उनमें ऊँच-नीच का भाव भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। बादलों की ऊँचाई से आया पानी और कुएँ की गहराई से लाया गया पानी जब दोनों मिलेंगे, तब दोनों मिलकर एक समान स्तर का ही निर्माण करेंगे।

जल को—'आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमाः'—कहा गया है। तदनुसार पति-पत्नी का एकीभाव कल्याणमय तथा परम शान्त होना चाहिए। जल के स्वभाव के अनुकुल बनने का वेद उपदेश करता है। यह ऐक्य, शान्ति एवं कल्याण रूप दोनों के हृदय एवं मन से होते हैं अतः 'समापो हृदयानि नौ' ऐसा दोनों घोषित करते हैं। दोनों के हृदय एवं मन में किसी तरह का भेद, संदेह आदि नहीं होना चाहिए। भेद एवं सन्देह रहित अभेद, एकत्व एवं एकरस स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए पति पत्नी की यह घोषणा एवं उस निमित्त दृष्टान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इससे बढ़कर पति-पत्नी के प्रेमभाव एवं एकत्व का प्रतिपादक अन्य दृष्टान्त हो नहीं सकता।

वायु के समान एकत्व स्थिति

(२) इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—'सं मातरिश्वा'— का भी पति-पत्नी देते हैं। अर्थात् जिस प्रकार दो वायु परस्पर मिल जाते हैं और एकरूप हो जाते हैं, जिस प्रकार दो प्राण एकरूप हो जाते हैं

और जिस प्रकार शरीर में अनेक प्राण होते हुए भी अपने-अपने स्थान पर मुख्य प्राण के सहायक बनकर कार्य करते रहते हैं, उसी के समान हम दोनों के प्राण एकरूपता को प्राप्त हो गये हैं।

शरीरस्थ प्राणों में से किसी भी प्राण को पृथक् करने से जिस प्रकार शरीर का संघटन बिगड़ जाता है और क्लेश होता है तथा जीवन नष्ट होने लगता है, उसी प्रकार हम दोनों के प्राण एक हो गये हैं। हम दोनों के प्राणों में से किसी के शरीर या प्राण को कष्ट होने पर या प्राण की हानि होने पर दूसरे को भी सुख नहीं रहेगा। अपितु उसकी पीड़ा अपनी पीड़ा के समान अनुभूत होगी। जैसे प्राणवायु हम दोनों को प्रिय है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे। इस प्रकार की प्रेम की अत्यन्त दृढ़ भावना इस वाक्य से ग्रहण करने में आती है।

परमात्मा सदृश धारक स्थिति

(३) पूर्व प्रकार की प्रीति के साथ पति-पत्नी की प्रीति—'सं धाता'—जैसे जगत् का धारण करने वाला परमात्मा सब जगत् को अच्छी प्रकार से धारण करता है, उसी प्रकार हम दोनों एक-दूसरे को अच्छी प्रकार धारण,पोषण करेंगे। ऐसी स्थिति को पति-पत्नी समझकर—'सं धाता'—की घोषणा करते हैं।

परमात्मा सृष्टि को धारण करने के लिए उसके साथ ऐसा अभिन्न बन गया है कि वह पृथक् सामान्य रूप से दीखता नहीं। सामान्य लोग यही समझते हैं कि जगत् ही जगत् है। प्रकृति ही है और कुछ है ही नहीं। एक ही रूप दीखता है। इसके विपरीत जिन्होंने ब्रह्म के रूप को देख लिया, उन्होंने कह दिया कि ब्रह्म ही ब्रह्म है। प्रकृति कुछ नहीं है अर्थात् परमात्मा से पृथक् स्थिति प्रकृति या जगत् की नहीं। परमात्मा से आच्छादित वह है और उसके भीतर भी परमात्मा विद्यमान रहकर उसे हर क्षण धारण किये है। इस प्रकार की स्थिति पती-पत्नी की एक दूसरे को अभिन्न रूप से धारण करने की बनानी चाहिए।

उपदेशक एवं श्रोता की स्थिति

(४) पति-पत्नी के व्यवहार की प्रेममय स्थिति का और भी निरूपण करने के लिए वेद ने—'समुदेष्ट्री दधातु नौ'—कहा। जैसे उपदेश करने वाला श्रोताओं के प्रति प्रीति करता है और श्रोता वक्ता के वचनों के प्रति प्रीति रखते हैं, उसी प्रकार दोनों का चित्त, मन, आत्मा का आकर्षण एक दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को प्राप्त होकर एक दूसरे की बात को अच्छी तरह सुनने, ग्रहण करने एवं धारण करने वाले हों। ये परस्पर एक-दूसरे के वचनों की अवहेलना करने वाले नहीं होने चाहिएं।

वधू का गृह में व्यवहार—२

पति-पत्नी के इन सुखद सम्बन्धों के साथ जिस घर में पत्नी प्रवेश करती है, वहाँ उसका अपने पति के माता-पितादि के साथ क्या व्यवहार रहे। इसके लिए वेद उपदेश कर रहा है—

स्योना भव श्वशुरेभ्य. स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ (अथर्व० १४। २। २७)

(१) हे वधू! **स्योन भव श्वशुरेभ्यः**—तू श्वशुरादि के लिए सुखदाता हो।
(२) **स्योना पत्ये**—तू पति के लिए सुखदायिनी हो।
(३) **गृहेभ्यः स्योना**— गृह के जो अन्य सम्बन्धी हैं, उन सबके लिए भी सुखदायिनी हो।
(४) अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना—गृह में जो प्रजा, सन्तानादि हैं, उन सबके लिए भी समान

यथोचित, प्रेमपूर्ण सुखदायी व्यवहार करने वाली हो एवं जो राष्ट्र की या समाज की प्रजा है उनका भी हित चाहने वाली हो और

(५) पुष्टायैषां भव—इन सब गृह के सम्बन्धियों और प्रजा के लिए पुष्टि करने वाली हो।

वधू का गृह में अधिकार—३

वधू का अपने पतिगृह में क्या अधिकार हो, इस बारे में वेद आदेश देता है—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ (ऋ० १०। ८५। ४६)

(१) हे वधू! तू **सम्राज्ञी श्वशुरे भव**—अपने श्वसुर आदि बड़ों के प्रति सम्यक् प्रकाशमान, चक्रवर्ती राजा की रानी के समान पक्षपात छोड़कर सबके साथ उत्तम आदरपूर्वक व्यवहार एवं गृह पर सुशासन करने वाली हो।

(२) **सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव**—परिवार में जो सास आदि वृद्धा एवं पूजनीया स्त्रियाँ हैं, उनमें प्रीतियुक्त होके, उनकी आज्ञा में प्रीतिपूर्वक सम्यक् व्यवहार को प्रकाशित करने वाली हो।

(३) **ननान्दरि सम्राज्ञी भव**—जो तेरी इस कुल में ननद आदि समान वय की स्त्रियाँ हैं, उनके साथ प्रीतियुक्त व्यवहार की प्रकाशिका हो।

(४) **सम्राज्ञी अधि देवृषु**—जो देवर, जेठ आदि छोटे-बड़े हैं, सबमें आत्मीय भाव के साथ प्रीति से प्रकाशमान व अधिकारयुक्त हो अर्थात् वधू को इस गृह में सबसे अविरोधपूर्वक, पक्षपातरहित, यथा-सम्मान, प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

घर की सम्राज्ञी

इस मन्त्र में वधू को पति के गृह में सम्राज्ञी की उपाधि से अलंकृत किया गया है। सम्राज्ञी का अर्थ है अच्छी तरह, निष्पक्ष, जिसके साथ जैसा व्यवहार प्रदर्शित करना चाहिए, वैसा ही व्यवहार करने वाली वधू। अर्थात् वह अपने पितृ-गृह में जिस प्रकार अपने माता, पिता, भाई, बहिन से वर्त्तती थी, उसी प्रकार अब वर के गृह में वर के माता, पिता, भाई, बहिन आदि के साथ तत्समान प्रेमपूर्ण व्यवहार का प्रकाश बिना पक्षपात के करनेवाली होने से सम्राज्ञी पद से विभूषित की गई है।

सम्राट् की पत्नी को सम्राज्ञी कहते हैं। यह पद बहुत प्रतिष्ठित एवं उच्च है। जो स्थिति एक साम्राज्य में सम्राज्ञी की होती है, वही स्थिति एक पारिवारिक साम्राज्य में वधू की सम्राज्ञी के रूप में वेद प्रतिपादित करता है। वेद की दृष्टि में स्त्रियों का स्थान समाज में बहुत प्रतिष्ठा का है।

वर्त्तमान स्थिति

वर्त्तमान समय में स्त्रियों को यद्यपि अनेक प्रकार से उन्नत करने के प्रयत्न हो रहे हैं, परन्तु उन सब आदर्शों के पीछे स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करने की भावना है। ये समानाधिकार शिक्षा, सेवा, सम्पत्ति, सम्मान आदि सम्बन्धी हैं। परन्तु वेद के अनुसार उन्हें पुरुष से कुछ उच्च सम्मान की स्थिति प्रदान की गई है।

आज के समय ने स्त्री को समान अधिकार देकर उसे परिवार की सम्राज्ञी के पद से हटाकर कल-कारखानों, आफिस और कोर्टों में नौकर और मजदूर बनाकर घर के साम्राज्य से हटाकर सड़क पर भटकने वाली और अर्थ की दासी बना दिया है।

वेद में स्त्रियों की समान स्थिति

परन्तु वेद तो मनुष्य से प्रतिज्ञा करवाता है कि—

मन्येयमस्तु पोष्या। (अथर्व० १४। १। ५२)

यही पत्नी मेरी पोषण करने योग्य हो। अर्थात् पत्नी के पोषण करने का पूर्ण उत्तरदायित्व पति पर है। पति का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह पत्नी को अर्थ-उत्पादन की साधिका बनाये। जो व्यक्ति स्त्रियों के द्वारा द्रव्योपार्जन कराता है, उससे अपना निर्वाह करता है, वेद ऐसे व्यक्तियों को दण्डनीय मानता है, जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णित है—

उत्सक्थ्या अव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।
यः स्त्रीणां जीवभोजनः ।। (यजु० २३। २१)

ऐसे व्यक्ति जो स्त्रियों पर अपना जीवन निर्वाह चलाते हैं उनको टाँगों के बल उल्टा टांगकर ताड़ना करनी चाहिए, जिससे सत्य और न्याय का प्रसार हो सके। अर्थात् स्त्रियों को लोभवश जो आजीविका में प्रवृत्त करते हैं, वे समाज में अनावश्यक आर्थिक स्पर्द्धा एवं आर्थिक संतुलन को बिगाड़ने वाले होते हैं और पारिवारिक जीवन की स्थिति आर्थिक दृष्टि से तो अच्छी होने लगती है, परन्तु ऐसी स्थिति समाज में फैलने पर स्त्री का मूल्यांकन उसके गृह के पुरुषार्थ पर नहीं अपितु लोक-पुरुषार्थ की योग्यता पर होने लगता है और वह पुरुष की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का कारण बन जाती है। आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में न्यून अर्थ वाले को हीन दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार स्त्री को समानाधिकार के नाम पर पुरुष के समान अधिकारों का प्रदान अनेक स्थितियों में अनुकूल भी नहीं है।

वर्त्तमान में स्त्रियों के प्रति भाव

आज के समाज ने स्त्री को अपने मनोरंजन एवं भोग का क्षेत्र बना लिया है। वह शिक्षा-दीक्षा से उसे ऐसा बना देना चाहता है कि वह गृहिणी न रहकर बाह्य क्षेत्र की ही बन जाये। उसका मन एक केन्द्र बिन्दु से हटकर चारों ओर उन्मत्त होकर भ्रमर की तरह इतस्ततः घूमता रहे। उसे पति नहीं चाहिए, अपितु उसे आनन्द का एवं वासनापूर्त्ति का साथी चाहिए। वैदिक सभ्यता ने पाठ पढ़ाया था—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः

जिस समाज, जाति या देश में नारियों को उच्च सम्मान प्राप्त होगा, वहाँ की प्रजा, हड़ताल, उपद्रव, अशान्ति उत्पन्न करने वाली न होकर "देव प्रजा" होगी।

स्त्री का क्षेत्र गृह

आज के समाज ने पत्नी को घर से बाहर का क्षेत्र सौंप दिया है। वेद ने तो उसका क्षेत्र प्रमुख रूप से घर ही बताया है। जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में है—

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ।। (अथर्व० १४। २। ७५)

हे पत्नी ! तू शत वर्ष पर्यन्त, दीर्घकाल जीने के लिए, उत्तम बुद्धियुक्त, सज्ञान होकर मेरे घरों को प्राप्त हो और मुझ घर के स्वामी की स्त्री जैसे तेरा दीर्घकाल पर्यन्त जीवन होवे वैसे प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान। इस अपनी आज्ञा को सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देनेहारा परमात्मा अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील हो कर आनन्द में रहें।

इस मन्त्र में—'गृहान् गच्छ गृहपत्नी'—स्त्रियों का स्थान गृह ही बताया है। उस घर में भी—'**प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना**'—उत्तम ज्ञान-विज्ञान से प्रकृष्ट ज्ञान एवं व्यवहार वाली होने के लिए बताया है जो कि—**दीर्घायुत्वाय शतशारदाय**—दीर्घ आयु एवं सौ वर्ष पर्यन्त जीने के लिए हो।

वेद के अनुसार स्त्री का क्षेत्र गृह होने पर उसे विद्या-विज्ञान से रहित रखने के लिए नहीं कहा अपितु ऐसी शिक्षा से युक्त करने के लिए कहा जिससे परिवार को दीर्घ जीवन एवं पूर्ण आयु प्राप्त हो।

स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर ही है, इसे वेद ने अन्य स्थानों पर भी कहा है—

अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (ऋ० १०। ८५। २७)

इस घर में गृह सम्बन्धी कार्यों के लिए हे स्त्री तू सचेत रह। इसी आधार पर विवाह के समय में—इह धृतिः, 'इह रमस्व, मयि धृतिः, मयि रमस्व' आदि स्त्री से कहा जाता है।

स्त्री-गृह जीवन की उषा

पारिवारिक जीवन के निर्माण के मूलाधार विवाह के समय जब वधू अपने पतिगृह पर आती है, तब उसकी उपमा उषा की ज्योति एवं सौन्दर्य से दी गई है—

इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि। (अथर्व० १४। २। ३१)

सूर्य की कान्ति के समान तू, उषाकाल की पहली ज्योति के तुल्य प्रत्यक्ष सब कार्यों में अपनी कला की दिव्य आभा को प्रकट करने में जाग्रत् रह अर्थात् घर के प्रत्येक कार्य में उसकी कार्यकुशलता रूपी उषा की किरणें प्रकट होती रहें।

गृही जीवन में क्रीड़ा

वेद के अनुसार स्त्री के गृही जीवन में बन्धन या कारागार की भावना नहीं है। स्त्री को अपना घर इतना मंगलमय माधुर्ययुक्त एवं क्रीड़ायुक्त बनाकर रखना चाहिए कि जीवन आनन्दमय, सुखी प्रतीत हो जैसा कि—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ (ऋ० १०। ८५। ४२)

इसी गृही जीवन में तत्पर हो। इस गृही जीवन में किन्हीं विषम परिस्थितियों के कारण निराश होकर वियुक्त होने की कल्पना भी न करो। अपनी सम्पूर्ण आयु पर्यन्त सुन्दर आशा के साथ, उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में प्रयत्नशील बने रहो। इस प्रकार पुत्र और नातियों के साथ खेल-कूद करते हुए उत्तम गह वाले आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो। निम्न मन्त्र में भी—

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ (अथर्व० १४।२।४३)

हे स्त्री और पुरुष! जैसे सूर्य सुन्दर प्रकाशयुक्त प्रभात वेला को प्राप्त होता है, वैसे सुख से घर के मध्य में सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रिया को अच्छे प्रकार जानने वाले सदा हास्य और आनन्दयुक्त बड़े प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हुए, उत्तम चाल-चलन से धर्मयुक्त व्यवहार में अच्छी तरह चलने वाले, श्रेष्ठ गृहादि सामग्रीयुक्त, उत्तम प्रकार जीवों का धारण करते हुए गृहाश्रम के व्यवहार के पार होओ।

परिवार में भाई-बहिनों का व्यवहार

भाई का भाई के साथ, भाई का बहिन के साथ, बहिन का बहिन के साथ कैसा सम्बन्ध या व्यवहार परिवार में रहे, इसके बारे में वेद उपदेश करता है—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ (अथर्व० ३। ३०। ३)

(१) **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्**—भाई से भाई कभी द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, विपरीत भाव, विरोध नीति का आचरण करने वाला न हो, अपितु आपस में प्रेमपूर्वक भ्रातृभाव से ही वर्त्तें।

(२) **मा स्वसारमुत स्वसा**—बहिन-बहिन से कभी द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, वैमनस्य, विपरीत भाव एवं विरोध नीति का आचरण करने वाली न हो, अपितु आपस में प्रेमपूर्वक ही वर्त्तने वाली हो।

इसी प्रकार भाई और बहिन का भी परस्पर द्वेष, घृणा विरोध रहित और प्रीति से युक्त व्यवहार होना चाहिए।

(३) **सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा**—अच्छे मन एवं प्रेमादि गुणों से युक्त तथा नियम, अनुष्ठान, अनुशासन, आचार, विद्याविनयादि गुण कर्म स्वभाव बनाने के लिए उत्तम व्रतों के पालक बनना चाहिए और

(४) **वाचं वदत भद्रया**—मंगलकारक रीति से एक-दूसरे के साथ सुखदायक, उत्तम कर्म को सिद्ध करने वाली वाणी का परस्पर व्यवहार किया करो।

सम्पूर्ण परिवार का व्यवहार—५

सम्पूर्ण परिवार का व्यवहार भी प्रेममय हो। इस बारे में वेद उपदेश करता है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ (अथर्व० ३। ३०। १)

जो परिवार में सबसे बड़ा होता है, उसका आदेश-पालन सबको करना चाहिए। उसकी नीति पर सबको चलना चाहिए। यह वेद की भावना है। संसार के सब परिवारों में छोटा-बड़ा काल भेद से रहता है। परन्तु इन सबमें किसको सबसे बड़ा मानें, इसके लिए विचार करने पर ज्ञात होता है कि सब परिवारों का पूजनीय परमात्मा ही है। वही सबसे बड़ा है। अतः वह—'सदावृधः सखा' (यजु० ३६। ४) अनादि काल से बड़ा हमारा सखा हमारे लिए आदेश देता है कि—

(१) **सहृदयं**—हे गृहस्थो! मैं ईश्वर तुमको जैसी आज्ञा देता हूं, वैसा ही प्रचलन करो, जिससे तुमको अक्षय सुख हो। अर्थात् जैसे तुम अपने लिए सुख की इच्छा करते हो और उसके लिए प्रयत्न करते हो, उसी प्रकार से समान हृदय, प्रेम-भावना तुम्हारी अपने माता, पिता, सन्तान, स्त्री, पुरुष, भृत्य, मित्र और पड़ोसी के प्रति हो और उनके दुःखों को अपना दुःख समान हृदय का बनकर ही मान सकोगे। यदि तुम्हारे माता-पिता, सन्तान, मित्र, पड़ोसी दुःखित हैं और तुम्हारी उनके दुःख के प्रति सहृदयता नहीं है, अपितु विपरीत भाव है, तो तुम उनके दुःख दूर करने के लिए उनकी सेवा नहीं कर सकोगे। इसलिए तुम्हें आपस में समान हृदय वाला बनना चाहिए। यह परमात्मा की आज्ञा है। इसके पालन करने में ही कल्याण है और इसके विपरीत आचरण में अपराध है, ऐसा अनुभव करना चाहिए।

(२) **सांमनस्यम्**—परमात्मा की दूसरी आज्ञा यह है कि संसार में रहकर तुम एक मन के बनो। इससे परमात्मा प्रसन्न होगा। परमात्मा की आज्ञा के पालन से उस परमात्मा का मन भी हमारे साथ होगा या हमारा मन उस महान् परमात्मा के साथ होगा। जब हमारे मन एक-दूसरे से पृथक् होते हैं, तब वैर, विरोध होता है। उससे दुःख, क्लेश, क्रोध, मानसिक, वाचिक, शारीरिक उद्वेग होते हैं—कलह होता है। भय का प्रसार होता है। शंका के पर्वत खड़े हो जाते हैं। भयानक शंका के पर्वत और द्वेष घृणा के समुद्र पार करने के लिए एक ही मार्ग है कि हम सबके मन एक हों। हम ऐसा व्यवहार करना सीखें कि दूसरों के मन, रुचि तथा विचारों का भी ध्यान रखें।

(३) **अविद्वेषं कृणोमि वः**—तीसरा आदेश परमात्मा मनुष्यों को देता है कि सहृदय एवं समान मन वाली स्थिति से ही तुम वास्तव में द्वेषरहित हो सकोगे। अन्यथा बाहर दिखाने को शान्ति का रूप और भीतर द्वेष यह स्थिति अवांछनीय है। आज के कूटनीतिज्ञ बाहर से मित्रता दिखाते हैं और भीतर उनके मन एक-दूसरे के प्रति द्वेष से धधकते रहते हैं। किन्तु वेद हृदय एवं मन से इस बात को ग्रहण करने का आदेश देता है और वह सबके लिए यही मार्ग बताता है। जब परमात्मा ने हमें परस्पर मिलकर रहने के लिए बनाया है तब वैर-विरोध की भावना आपस में करना समाज के हित के स्वभावतः प्रतिकूल ही है।

(४) **अन्यो अन्यमभि हर्यत**—सब आपस में एक-दूसरे से प्रेम का व्यवहार करने वाले हों।

(५) **वत्सं जातमिवाघ्न्या**—जैसे हनन न करने योग्य गाय आदि पशु अपने उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्य भाव से वर्त्तती हैं। गौ आदि पशुओं का अपने बछड़े पर वात्सल्य निश्छल, निष्कपट, निःस्वार्थ, अत्यन्त उपकार पूर्ण परन्तु कर्तव्य भावना से होता है। उसी प्रकार परिवार में कर्त्तव्य भावना से बद्ध होकर वात्सल्यपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार के विरोध भाव की गन्ध भी नहीं आती। यह बहुत ही उच्च भावना है।

वास्तव में यह देवत्व की भावना है। कर्त्तव्य बुद्धि से दूसरे का मातृवात्सल्य से पालन-पोषण, उसके लिए अपना सर्वस्व त्याग मनुष्यों में देवत्व को जाग्रत् करता है। **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** आदि प्रयोग में माता में देवत्व की भावना इसीलिए उल्लिखित है कि निःस्वार्थ भाव से पुत्र के लिए अपना सर्वस्व निछावर करती है, उसके लिए महान् त्याग करती है। देवत्व की भावना में द्वेष कहीं रह ही नहीं सकता। यदि देवत्व में द्वेष का प्रवेश हो, तो देवत्व नष्ट हो जाता है। इसलिए वेद ने देवत्व की भावना को परिवार में जाग्रत् करने के लिए कहा—

परिवार में देवत्व का रूप—६

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ (अथर्व० ३। ३०। ४)

हे गृहस्थो! मैं ईश्वर जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान् लोग परस्पर पृथक् भाव वाले नहीं होते, द्वेष भी कभी नहीं करते, वही कर्म तुम्हारे घर में निश्चित करता हूं। परिवार के जनों को अच्छी प्रकार चेताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त्तकर बड़े धनैश्वर्य को प्राप्त होओ।

इस प्रकार परिवार में देवत्व भाव की वृद्धि होने से परिवारों में स्वर्गीय सुख होगा। परिवारों में जब स्वर्गीय सुख होगा, तब समाज और राष्ट्र में भी स्वर्गीय सुख और देवत्व क्यों न होगा। इसी भावना को निम्न वेद मन्त्र में भी बताया है—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ (अथर्व० ३।३१।५)

हे गृहस्थादि मनुष्यो! तुम उत्तम विद्यादि गुणयुक्त, सज्ञान, धुरन्धर विद्वान् होकर विचरते और परस्पर मिल के धन-धान्य, राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए विरोधी वा पृथक्-पृथक् भाव मत करो। एक-दूसरे के लिए सत्य और मधुर भाषण करते हुए एक-दूसरे को प्राप्त होओ। इसीलिए समान लाभालाभ से एक-दूसरे के सहायक, एक मत वाले तुमको करता हूं।

इस मन्त्र के अनेक शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

संराधयन्तः—मिलकर कार्य को सिद्ध करना।

सध्रीचीनान्—समान लाभालाभ से एक-दूसरे के सहायक।

संमनसः—एक मन अर्थात् एक मत वाले।

अर्थात् परिवार में रहते हुए एक मत वाले, एक मन वाले, मिलकर कार्य को सिद्ध करने वाले और लाभालाभ में एक-दूसरे के सहायक होने चाहिएं। इनके लिए क्या व्यवहार हो।

ज्यायस्वन्तः, चित्तिनः सधुराः चरन्तः—विद्वान्, सज्ञान होकर क्रियाशील बनना।

मा वि यौष्ट—परस्पर पृथक् भाव वा विरोधी न होना।

वल्गु वदन्तः—सत्य मधुर भाषण परस्पर करना।

वेद के मन्त्रों में समाज एवं परिवार के निर्माण का उच्च आदर्श प्राप्त होता है। आज का मनुष्य अपनी सामाजिक एवं पारिवारिक आदर्श विचारधारा के निर्माण में इनमें से कुछ अंश ही ग्रहण कर पाया है और उसके पूर्ण स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सका है। उसे वेद से बहुत कुछ सीखना और ग्रहण करना पड़ेगा।

आज के मानव ने अपने मस्तिष्क में एक विचित्र कल्पना कर ली है कि वह पहले निरा मूर्ख था। इसलिए वह समझता है कि जो कुछ हम अब सोच रहे हैं या सोचेंगे, वही सर्वाधिक उन्नत अवस्था है। इसलिए वह वेद को उसी विकृत विचार से देखता हुआ उसकी ओर देखने का भी प्रयत्न नहीं करता।

परिवार में प्रातः सायं सब मिला करें—७

वेद पूर्वोक्त व्यवहारों को और भी स्पष्ट करने के लिए उपदेश देता है—

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवाइवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥ (अथर्व० ३।३०।७)

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि—लाभालाभ में एक-दूसरे के सहायक, एक विचार वाले, परस्पर हितैषी मन वाले तुमको करता हूं। शासन को चाहिए कि एक परिवार वाले परस्पर झगड़ने वाले, एक-दूसरे के भाग को हड़पने वाले, एक-दूसरे का अनिष्ट चिंतन करने वाले न हों। एक-दूसरे की उन्नति व लाभ को हृदय से चाहने वाले उसके लिए प्रयत्न करने वाले हों।

(२) **एकश्नुष्टीन् संवननेन सर्वान्**—एक ही धर्म कृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले सबको धर्म-कृत्य के सेवन के साथ एक-दूसरे के उपकार में नियुक्त करता हूं। एक परिवार में धर्म, व्रत अनुष्ठान आदि कर्म यदि भिन्न-भिन्न होंगे तो परस्पर विरोध होगा। एक धर्म, एक भाषा एवं एक लक्ष्य हुए विना ऐक्य स्थिर नहीं रह सकता। अपने आग्रहों को छोड़ने से ही परस्पर एकता में वृद्धि होती है। आज की राजनीति विभिन्न सम्प्रदायों की रक्षा करते हुए राष्ट्र में एकता और प्रेम का दर्शन करना चाहती है। यह संभव नहीं है। विभिन्न विचारधाराएँ ही मानव-समाज को विभाजित कर रही हैं और परस्पर लड़ा रही हैं। चाहे वे विचारधाराएँ साम्प्रदायिक हों या राजनीतिक। इस बीसवीं सदी के प्रथम एवं द्वितीय विश्व-युद्ध विशुद्ध राजनीतिक ही थे, जिनमें मनुष्य ने मानवता को तिलांजलि दे दी थी। अतः एक धर्म होना आवश्यक है।

(३) **देवा इवामृतं रक्षमाणाः**—देवों के समान अमृत की रक्षा करने वाले बनना चाहिए। अमृत क्या हैं? व्यावहारिक एवं पारिमार्थिक सुख जिससे प्राप्त हो, वह अमृत है। विचार और कर्म दोनों अमृत की परिधि में आ जाते हैं, परन्तु वे ही इस परिधि में आ सकेंगे, जो सबको समान सुख देने वाले हों। जो स्वार्थ, सीमा, क्षुद्रता की परिधि में हैं, वे अमृत नहीं हैं। वे हम में तथा दूसरे में वैर, विरोध,

ईर्ष्या, घृणा, अहंकार आदि उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसलिए परिवार में देव-भावना से व्यवहार करना चाहिए।

(४) **सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु**—इन उपरोक्त भावनाओं के साथ प्रातः सायं परिवार के सब व्यक्तियों के एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक व्यवहार से और प्रेमपूर्वक मिलने से तुम्हारा मन का आनन्दयुक्त शुद्ध स्वभाव सदा बना रहेगा। इस प्रकार वेद ने परिवार को आनन्दित बनाने के मार्ग का निर्देश किया है।

वैदिक समाजवाद में गृहस्थ निर्माण का आदर्शवाद

राष्ट्र या समाज के लिए गृहस्थ की आवश्यकता

व्यक्ति का एकांगी जीवन गृहस्थ जीवन नहीं है। व्यक्ति का सामूहिक जीवन भी गृहस्थ जीवन नहीं है। व्यक्ति का एक परिवार के साथ जीवन-यापन करना भी गृहस्थ जीवन नहीं है। गार्हस्थ्य जीवन के विना न परिवार बन सकते हैं और न समाज तथा राष्ट्र ही। अतः समाज एवं राष्ट्र के लिए गृहस्थ जीवन की नितान्त आवश्यकता है।

गृहस्थ जीवन के लिए ध्येय की आवश्यकता

आदर्शरहित गृहस्थ जीवन से आदर्शरहित परिवारों का निर्माण होता है और उससे समाज एवं राष्ट्र भी आदर्शहीन ही होते हैं। इसलिए हम अपने समाज या राष्ट्र का ध्येय निश्चित करें और उस ध्येय के अनुकूल गृहस्थ जीवन की स्थापना करें।

जीवन की क्रियाओं में अपने ध्येय के अनुकूल विचारों को यदि हम पुट देते चले जायें, तो उन विचारों से जीवन की क्रिया प्रभावित होती है। विचार और क्रिया की एकरूपता से जीवन पर एक संस्कार पड़ता है। ये संस्कार इस मानव देह में बीज रूप से रहते हैं। समय-समय पर ये अंकुरित होते, पल्लवित होते, पुष्पित होते और फलित होते हैं।

संस्कारों का जीवन पर प्रभाव

संस्कारों के वशीभूत होकर बुद्ध ने राज्यैश्वर्य को त्याग दिया, भर्तृहरि ने महलों को छोड़ वन का मार्ग अपनाया। महर्षि दयानन्द और विवेकानन्द, महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरू प्रबल संस्कारों के कारण ही जीवन के एक प्रवाह से कठोर तप के मार्ग में सहर्ष प्रवेश कर गये। वीर सावरकर का भयंकर साहसिक त्याग एवं कष्टपूर्ण जीवन संस्कारों के ही कारणों को प्रकट करता है। बालक अभिमन्यु का चक्रव्यूह का वेधन संस्कार का प्रबल प्रमाण है। अर्थात् संस्कारों का जीवन पर प्रभाव पड़ता है अतः समाज एवं राष्ट्र-निर्माण के लिए गृहस्थ जीवन पर उत्तम संस्कार डालने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

विवाह भी संस्कार है

गृहस्थ जीवन के निर्माण के लिए स्त्री और पुरुष को एक इकाई में बंधना पड़ता है। जिन नियम एवं बंधनों से ये दोनों एक रूप में ग्रथित होते हैं, उसे वेद में विवाह नाम से सम्बोधित किया गया है। विवाह-बंधन में परिणत पुरुष एवं स्त्री ही वास्तव में राष्ट्र के मूल आधार-स्तम्भ हैं। यह आधार-स्तम्भ जितना ही दृढ़ एवं आदर्शपूर्ण होगा, समाज या राष्ट्र उतना ही उन्नत होता जायेगा। अतः वैदिक परम्परा में विवाह-संस्कार का अत्यन्त महत्त्व है और इस संस्कार में महान् आदर्श को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

गृहस्थ-जीवन का निर्माण

समाज का निर्माण परिवारों से होता है। परिवारों का निर्माण व्यक्ति से होता है। एक व्यक्ति या एक ही प्रकार के व्यक्ति परिवार का निर्माण नहीं कर सकते। वास्तव में परिवार के निर्माण की मूल इकाई स्त्री और पुरुष का युग्म (जोड़ा) ही है।

संसार में जो भी निर्माण है, वह दो शक्तियों का युग्म ही है। सृष्टि की मूल इकाई परमाणु में भी इलैक्ट्रोन और प्रोटोन ये दो शक्तियाँ वैज्ञानिकों को प्रतीत हुई। ये ही 'ऋत' और 'सत्य' रूप से हैं। सत्य प्रोटोन रूप से केन्द्र में स्थित है। 'ऋत' गतिशील होने से इलैक्ट्रोन है। इसीलिए वेद में समस्त सृष्टि की उत्पत्ति में 'ऋत' और 'सत्य' को मूलभूत शक्ति बताया—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (ऋ० १०। १९०। १)

सृष्ट्युत्पत्ति का प्रारंभ बताते हुए वेद ने इन्हीं 'ऋत' और 'सत्य' रूपी दो आद्य शक्तियों को एक से ही उत्पन्न बताया।

सृष्टि की रचना में युग्म स्थिति

सृष्टि के निर्माण में युग्म की स्थिति है। वह युग्म मिलकर ही आगे का कार्य-संचालक बनता है। अतः यह युग्म स्थिति जड़ से चेतन तक, छोटे से बड़े तक अनेक रूपों में विद्यमान है। द्यावा और पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र, रवि और प्राण, उत्तर एवं दक्षिण, अशनि और इन्द्र, ऋण एवं धन, मित्र और वरुण, प्राण और उदान, दिन और रात, शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष, उत्तरायण एवं दक्षिणायन, जन्म और मृत्यु, सुख एवं दुःख, हानि और लाभ, ब्रह्म और क्षत्र, ऋक् और साम आदि अनेक रूपो में यह युग्म दृष्टिगोचर होता है।

युग्म स्थिति से राष्ट्र का भरण-पोषण

इन शक्तियों का सर्वांग सुन्दर, पूर्ण एवं अन्तिम रूप स्त्री और पुरुष में विकसित होता है। वेद ने स्त्री को—**सूर्याम्** (ऋ० १०। ८५। ९) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्ययुक्त—इस उपमा से और पुरुष को **'सोम'**—सुकुमार, शुभगुणयुक्त बताया है। सूर्य और चन्द्र से विश्व का कार्य चल रहा है इसी प्रकार इन दोनों स्त्री-पुरुष शक्तियों से सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम चल रहा है। अतः यह शक्ति, यह युग्म—स्त्री पुरुष के ऐक्यभाव का राष्ट्रभृत्-राष्ट्र को भरण, पोषण करने का कार्य है।

सृष्टि के तत्त्वों में पति-पत्नी भाव

अखिल ब्रह्माण्ड एक राष्ट्र है। इस राष्ट्र की विविध शक्तियाँ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, यज्ञ, मन इनके माध्यम से इनके साथ इनके सहयोगी द्रव्यों को प्रदान कर सृष्टि में निर्माण क्रिया, वृद्धि एवं समृद्धि करती हैं। अतः ब्रह्माण्ड रूपी राष्ट्र के यज्ञ में ये यजमान हैं। जिन सहयोगी द्रव्यों के साथ ये क्रियाशील होकर निर्माण करती हैं, उनका परस्पर घनिष्ठ ऐक्य का सम्बन्ध है, अतः वे सहायक द्रव्य यजमान पत्नी रूपेण इस यज्ञ में हैं।

राष्ट्रभृत् होम—१

वेद में इन जड़ यजमान एवं यजमान पत्नियों को गन्धर्व एवं अप्सरा संज्ञा दी गई है। अर्थात् **ब्रह्माण्ड यज्ञ में गन्धर्व और अप्सरा पुरुष एवं** स्त्री की ही रूपान्तर शक्तियाँ हैं। उनसे ही राष्ट्रभृत् होम **का प्रारम्भ होता है—**

ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्योषधयोऽप्सरसो मुदो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥
सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥२॥
सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥३॥
इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥
प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥६॥ (यजुर्वेद १८।३८-४३)

प्रथम गन्धर्व एवं उसकी अप्सरा

राष्ट्र का भरण-पोषण करने में सर्वाधिक प्रबल एवं व्याप्त शक्ति अग्नि की है। विश्व का जीवन एवं कार्य अग्नि से ही चल रहा है। परन्तु अग्नि को अपना वर्च, तेज, प्रकाश, दीप्ति एवं गति दिखाने के लिए और उत्पत्ति दिखाने के लिए आश्रय भूत तत्त्व भी चाहिए जिससे वह अपने रूप में प्रकट हो सके। विना आश्रय के वह प्रकट नहीं होती। उसका आश्रय या आधार तत्त्व या पूरक तत्त्व जब उसे मिल जाता है तब वे दोनों एकरूप हो जाते हैं और अपनी क्रीड़ा करते हैं। उसी से उष्णता, प्रकाश गति, ध्वनि आदि की उत्पत्ति होती है। अग्नि को अपने ईंधन की आवश्यकता पड़ती है। उससे वह सामर्थ्ययुक्त होती है। विना ईंधन के अग्नि की स्वतन्त्र स्थिति प्रकट नहीं होती। वेद ने अग्नि की इस ईंधन रूपी सहचारिणी शक्ति को ओषधि कहा। दाहक गुण होने से ओषधि संज्ञा है।

जिन ओषधियों का हम सेवन रोग-नाश करने के लिए करते हैं, उनका भी नाम इसीलिए ओषधि है क्योंकि वे रोग को जलाती हैं, उसे नष्ट करती हैं। उनमें रोग दाहक गुण विद्यमान है यदि दाहक गुण उसमें विद्यमान न हो तो वह नहीं जले। अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए, उसकी शक्ति को बढ़ाने के लिए और उसे विविध प्रकार के गुणों को प्राप्त करने के लिए जब तक अग्नि के साथ उसका संयोग रहेगा उसके द्वारा गति, क्रियाशीलता आदि होती रहेगी। इस प्रकार अग्नि रूपी गन्धर्व की ओषधि अप्सरा है। अग्नि अपने अस्तित्व को जिस शक्ति, तत्त्व या माध्यम से प्रकट करती है, वही उसकी अप्सरा है।

दूसरा गन्धर्व एवं अप्सरा का युग्म

दूसरा गन्धर्व इस महान् विश्वरूपी राष्ट्र में सूर्य है। उसकी किरणें ही उसकी अप्सरा हैं। उन किरणों में पदार्थों के मिलाने एवं विभाजित करने का गुण है। यदि सूर्य विना रश्मियों का हो जाये, तो विश्वरूपी राष्ट्र में उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाये। सूर्य की किरणों में सृष्टि के तत्त्वों को मिलाने का भी गुण है। वेद ने कहा—

स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये (यजु० ३८। ६)

सूर्य की रश्मियों के लिए जो वृष्टि के दोनों तत्त्वों—मित्र और वरुण को मिलाने की सामर्थ्य रखती हैं, उनके लिए क्रिया करनी चाहिए। इस प्रकार सूर्य की रश्मियाँ अनेक तत्त्वों का मिश्रण भी

करती हैं। और अपनी उष्णता से वृक्ष वनस्पतियों के रसों को हरण भी करती हैं। यदि विश्व के राष्ट्र में सूर्य और उसकी किरणों की क्रीड़ा न हो तो सृष्टि का कार्य कठिन हो जाये।

तीसरा गन्धर्व और उसकी अप्सरा

तीसरा गन्धर्व चन्द्रमा है। चन्द्रमा की अप्सरा नक्षत्र है। चन्द्रमा नक्षत्रों के विना नहीं रहता। चन्द्रमा अपने शीतल गुण, सोम भाग एवं अमृत तत्त्व से इस सृष्टि में वृक्ष, वनस्पति एवं अन्नादि को बलवान् बना रहा है। इसलिए वेद ने कहा—

सोम ओषधीनामधिपतिः।

सोम से वृक्ष वनस्पतियों को अनेक प्रकार के जीवनीय तत्त्व प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार से एक ही सूर्य की किरणें विविध रंग के काच से विविध रंगों की प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार सूर्य एवं चन्द्रमा की शक्तियाँ, उनकी किरणें विविध पदार्थों में प्रवेश करके विविध प्रकार के गुणों को अपने में धारण करती हैं।

चतुर्थ गन्धर्व एवं उसकी अप्सरा

चौथा गन्धर्व विश्वरूपी राष्ट्र में वायु है। वायु की अप्सरा जल है। वायु के साथ पृथिवी से जल अन्तरिक्ष में गमन करता है और मेघ रूप से ऊपर पहुंच जाता है। यदि वायु इसे धारण न करे, तो जल पृथिवी पर ही रहे और ऊपर न जा सके। इन दोनों के कारण विश्व का वृष्टि एवं प्राण के द्वारा पालन हो रहा है।

पाँचवां गन्धर्व और उसकी अप्सरा

पाँचवा गन्धर्व यज्ञ है। उसकी अप्सरा दक्षिणा है। विना दक्षिणा के यज्ञ सफल नहीं होता। अतः यज्ञ के साथ दक्षिणा का सम्बन्ध रहता है। विश्वरूपी राष्ट्र में परिश्रम का फल यदि प्राप्त न हो तो कौन परिश्रम करे। अतः कार्य एवं परिणाम दोनों का साहचर्य सृष्टि में है। इसके न होने से भी मानव का कार्य नहीं चल सकता।

छठा गन्धर्व और उसकी अप्सरा

छठा गन्धर्व मन है और ज्ञान, कर्म, उपासना एवं विज्ञान रूपी वेद उसकी अप्सराएं हैं। मन इनके द्वारा ही संसार के कार्य क्षेत्र में विविध प्रकार की रचना करता है। चिंतन शून्य मन जड़ स्थिति में होने से व्यर्थ है। अतः संसार को ये छः गन्धर्व और उनकी अप्सराएं धारण कर रही हैं और कार्य चला रही हैं। अर्थात् राष्ट्र का धारण, पोषण, उसकी गति, उसका जीवन और उसमें रचना का कार्य दो-दो शक्तियों के परस्पर सहयोग से हो रहा है इसी प्रकार मानव-समाज के कार्य में जीवन, उन्नति, उत्पत्ति आदि में भी दो-दो शक्तियों एक-एक जोड़ा (संघात) ही कार्य कर रहा है। इन्हें स्त्री+पुरुष कहते हैं।

स्त्री और पुरुष का पति-पत्नी भाव से समन्वयात्मक सम्बन्ध मानव राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई है। इसीलिए जब विवाह होता है, तब उसमें राष्ट्रभृत् होम किया जाता है। अर्थात् यह विवाह कार्य राष्ट्र के भरण, पोषण और उन्नति के लिए है, यह भावना पति-पत्नी में सर्वप्रथम जाग्रत् होनी चाहिए। जिस राष्ट्र में वे रहते हैं, उसके छोटे से छोटे और बड़े से बड़े क्षेत्र के भरण, पोषण, पालन और संवर्धन की भावना पति-पत्नी के सम्बन्ध में प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। अर्थात् यह दाम्पत्य सम्बन्ध स्वार्थ के लिए नहीं है, अपितु सबके हित के संवर्धन के लिए है तथा हम दोनों का जीवन राष्ट्र की सेवा के लिए अर्पित है, इस भावना के साथ है।

आज के दाम्पत्य सम्बन्ध में राष्ट्र के भरण-पोषण की भावना है ही नहीं। आज तो काम-वासना तृप्ति के उद्देश्य से विवाहों की उपयोगिता प्रतिपादित की जाती है। परन्तु वेद विवाह-बन्धन में प्रथम बन्धन राष्ट्र के भरण का डालता है।

(२) जया होम

दूसरा यज्ञ विवाह में जया होम होता है। जया का तात्पर्य जय से है। जयशीलता, जय की भावना गृहस्थ जीवन में होनी चाहिए। निराशा की भावना कभी नहीं होनी चाहिए। मन, बुद्धि, चित्त इनको पूर्ण बलवान् बनाना चाहिए और ज्ञान-विज्ञान से भी बलवान् बनना चाहिए। अमावस्या से पूर्णिमा तक का दर्शन भी इस यज्ञ में दम्पती को उपदेश देता है कि इस सांसारिक जीवन में घोर अन्धकारमयी रात्रि सदा नहीं रहती। अतः निराश होने की आवश्यकता नहीं। पुरुषार्थ करो, साहस रखो, धैर्य धरो, अन्धकार के बाद चन्द्र का आह्लाददायक प्रकाश भी होगा। सुख और दुःख जीवन से बंधे हुए हैं और उसमें दुःखों को दूर करने तथा सुखों की प्राप्ति के लिए विजय की भावना से आगे बढ़ते रहना और अपने राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति विजय की भावना से करनी चाहिए। जब तक विजय की भावना रहेगी, आप में उत्साह रहेगा, श्रम एवं तप की भावना रहेगी। जिस भी क्षेत्र में करो, कार्य यही सोच कर करो कि मैं इसमें विजयी होऊँ। सर्वाग्रणी बनूं। इस प्रकार से ब्राह्मण विद्या में, क्षत्रिय शासन-संचालन एवं राष्ट्र-रक्षा में, वैश्य व्यापार में और शूद्र कठोर श्रम में अपने को योग्यतम सिद्ध करते हुए राष्ट्र की उन्नति करें। वेद विवाह के समय राष्ट्र की या समाज की मूल इकाई दम्पती में राष्ट्र के विजय की भावना भरता है। क्या गृहस्थ के लिए ऐसा आदर्श वेद के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इस से प्रतीत होता है कि वेद दाम्पत्य जीवन को समाज या राष्ट्र का आधार मानता है और तदनुकूल बनने का उपदेश देता है।

(३) अभ्यातन होम

विवाह में तीसरा यज्ञ अभ्यातन होम होता है। अभ्यातन का अर्थ है सतत उन्नति। गृहस्थ जीवन में निरन्तर उन्नति की भावना होनी चाहिए। जिसके अन्दर एक बार उन्नति करने के बाद पुनः उन्नति की इच्छा एवं प्रयत्न नहीं होगा, वह जीवन संघर्ष में पिछड़ जायेगा। अतः राष्ट्र के प्रत्येक गृहस्थ को निरन्तर उन्नति की भावना अपने अन्दर स्थापित करके प्रयत्न करना चाहिए।

इस होम में विश्व राष्ट्र की विविध शक्तियों का अपना-अपना साम्राज्य-क्षेत्र बताते हुए, उनका उन पर निरन्तर आधिपत्य बताया गया है। अग्नि तत्त्वों एवं प्राणियों का अधिपति है। यदि अग्नि अपनी निरन्तर स्थिति एवं अपनी शक्ति को न बनाये रखे, तो अग्नि का आधिपत्य भौतिक तत्त्वों एवं प्राणियों पर नहीं रह सकता। सृष्टि में अग्नि तत्त्व निरन्तर क्रियाशील रहता है।

इसी प्रकार इन्द्र अर्थात् विद्युत्-शक्ति इस सृष्टि में प्रवाहित हो रही है। विद्युत् की लहरें इस विश्व में व्याप्त होकर निरन्तर गति कर रही हैं। इसी प्रकार इस होम में वायु, सूर्य, चन्द्र, वाणी, जल, अन्न, सोम, सविता आदि शक्तियों ने अपने-अपने क्षेत्र में निरन्तर क्रियाशील बने रह कर सृष्टि-क्रम का निरन्तर प्रवाह बनाया है, जिससे संसार की स्थिति बनी हुई है। विवाह के अवसर पर विश्व के नियमों का दर्शन दम्पती को कराते हुए बताया जाता है कि आपको भी अपना जीवन राष्ट्र के हित में इसी प्रकार नियमबद्ध व्यतीत करना है। नियम ही जीवन है। उससे उन्नति होती है। अनियमितता ही मृत्यु है। अतः उठो, साहस के साथ, उत्साह और आशा के साथ, उन्नति और जय की भावना के साथ—प्र तरता सखायः।(यजु० ३५।१०)इस संसार रूपी नदी को पार करो।

(४) अरिष्ट-नाशन यज्ञ

वेद मन्त्र इस प्रकार गृहस्थ जीवन के लिए राष्ट्रीय जीवन-निर्माण करने की प्रेरणा देते हैं। अर्थात् स्त्री और पुरुष दोनों ही राष्ट्रहित की भावना, राष्ट्र के विजय की भावना एवं राष्ट्र की सतत उन्नति की कामना वाले बनें। तत्पश्चात् विवाह का चतुर्थ यज्ञ अरिष्ट नाशन करें। अरिष्ट नाशक यज्ञ वह है कि जिन कारणों से अपने राष्ट्र की इकाइयों का वंशानुगत प्रवाह चलना बन्द हो जाता है, उन विपरीत कारणों का उच्छेदन करना।

जिस गृहस्थ की प्रजा या सन्तति अकाल में ही मृत्यु ग्रसित हो जाती है, उस वंश का अभ्यातन होम नष्ट हो जाता है—असफल हो जाता है। अतः विश्व की वे शक्तियाँ जो जीवन देने वाली, रक्षा करने वाली एवं पालन करने वाली हैं, वे स्त्री के अन्दर ऐसी शक्ति प्रदान करें कि इसकी प्रजा दीर्घायु वाली हो। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा अपघातिनी शक्तियों को दूर करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

(५) व्याहृति होम

इतनी प्रक्रिया विवाह के लिए होने के पश्चात् वर-वधू पाँचवाँ व्याहृति होम करते हैं। व्याहृति होम के द्वारा—

भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम॥
भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे इदन्न मम॥
स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय इदन्न मम॥
भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा। इदमग्निवाय्वादित्येभ्य इदन्न मम॥

इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के अधिपति अग्नि, वायु और आदित्य के लिए आहुति देते हैं तथा अखिल विश्व के कल्याण के लिए अपने मन, वचन एवं कर्म को संगत करते हैं। क्योंकि विश्व की शक्तियों से इस मानव देह की रचना हुई है, अतः इस देह द्वारा अखिल विश्व का भरण-पोषण होना ही चाहिए। अर्थात् संसार के उपकार में अपने जीवन को अर्पित करना चाहिए।

अकेला, एकाकी व्यक्ति जो अविवाहित है संसार का उपकार कर सकता है, संसार का नेतृत्व भी कर सकता है, परन्तु वह सृष्टि-प्रवाह में स्वानुरूप उत्पत्ति को विना विवाह के सम्पन्न नहीं कर सकता। फलरहित वृक्ष केवल ईंधन के ही उपयोग का रह जाता है। इसी प्रकार से विवाह रहित व्यक्ति सन्तानहीन, फलरहित, संसार का उच्छेदक बन जाता है।

यज्ञों से ऋण मुक्ति

विवाह के पश्चात् भी जो केवल भोग एवं स्वार्थ की ही कामना से अपना जीवन व्यतीत करने की इच्छा करते हैं, वे अपने ऊपर संसार के ऋणों को बढ़ाते जाते हैं। ऋणी व्यक्ति का जीवन दुःखदायी होता जाता है। ऋण लेने वाले से ऋण को वापस लेने के लिए ऋणदाता आते हैं और अपना भाग माँगते हैं। न देने पर अनेक प्रकार की कार्रवाई करते हैं और कोर्ट से डिक्रियाँ भी लाते हैं। एक का ऋण होता है, तो एक की डिक्री होती है। अनेकों का ऋण होता है, तो अनेकों की डिक्रियाँ आती हैं और ऋणी व्यक्ति उनसे दुःखी हो जाता है।

इसी प्रकार से सृष्टि के तत्त्वों तथा समस्त प्राणियों के हमारे ऊपर ऋण चढ़ते हैं, उनका चुकारा यज्ञ द्वारा ही किया जाता है। इस महान् विश्व की रचना में प्रत्येक वस्तु एवं प्राणी एक-दूसरे

का पूरक होते हुए—एक दूसरे का सहयोगी एवं सहकारी होते हुए ही जीवन को सम्पन्न करता है। परन्तु मानवी रचना में समस्त संसार का ऋण सबसे अधिक चढ़ता है। क्योंकि यह सबसे अधिक ज्ञानी एवं प्रयत्नवान् है। संसार के प्राणियों की बुद्धि और प्रयत्न मनुष्य के आगे अत्यन्त हीन दशा के हैं। यह संसार का सब प्रकार से उपयोग लेने में पूर्ण समर्थ होने से विश्व का ऋण सबसे अधिक इसी पर चढ़ता है और उसे चुकाने के लिए इसे 'भूरग्नये स्वाहा। भुवर्वायवे स्वाहा। स्वरादित्याय स्वाहा।' अर्थात् इस त्रिलोकी के लिए अखिल राष्ट्र के लिए अपना भाग अवश्य देना होगा।

यज्ञ न करने से ऋणभार की वृद्धि

यदि यह अपना भाग इस प्रकार से राष्ट्र के लिए नहीं देगा और इस संसार का भोग ग्रहण करता जायेगा, तो ऋणदाता तत्त्व रोग, शोक, व्याधि, विपत्ति, ईति, भीति के रूप में डिक्रियाँ लेकर आ जाते हैं और वसूली शुरू हो जाती है तथा अन्य विविध योनियों में गति होकर उनका चुकारा करना ही पड़ता है।

जिस पर डिक्रियाँ होती हैं, उसके ऐश्वर्य का ह्रास होता है, वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार जिसे राष्ट्र की डिक्रियाँ वरुण के पाश के रूप में अपने बन्धनों से जकड़ लेती हैं, वह मानव आगामी जीवन में मानव देह प्राप्त करने रूपी जो अभ्यातन होम-सतत उन्नति का क्रम है और जो जया होम—जय की भावना है उससे रहित हो जाता है। विवाह-सम्बन्ध से मानव का क्रम प्रवाहित होता है, परन्तु यदि उसके साथ उस क्रम में अपने आत्मा को भी मानव देह प्राप्ति की पंक्ति में लगाना है, तो व्याहृति होम द्वारा विश्व राष्ट्र का ऋण चुकाना ही होगा, अन्यथा पशु पक्षियों की पंक्ति में प्रतीक्षा करनी होगी।

यज्ञ से बन्धन मुक्ति

इसी रहस्य का दर्शन वेदों द्वारा ज्ञात कर ऋषियों ने कहा—

ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः।
तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः॥ (कात्यायन)

हे वरुण! तेरे जो ये सैकड़ों और हजारों प्रकार के यज्ञ रूपी पाश इस विशाल विश्व राष्ट्र में फैले हुए हैं उनसे सविता देव यज्ञ, समस्त मरुद्गण और रश्मियाँ बन्धन मुक्त करें। इसी रहस्य को वेद ने निम्न शब्दों में प्रकट किया—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ (ऋ० १। २४। १५)

हे वरुण! तुम्हारे जो उत्तम, मध्यम और अधम, स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर, स्थूल देहाश्रित, सूक्ष्म देहाश्रित एवं अन्य जन्माश्रित बन्धन हैं, उनसे हम हे अविनाशी ईश्वर! तेरे यज्ञ रूपी व्रत में स्थित होकर अपराध रहित हो मुक्ति-सुख के अधिकारी हों।

यज्ञ से गृहस्थ में प्रवेश

इसीलिए वेद ने कहा—

मा यज्ञं हिंसिष्टम्। (यजु० ५। ३)

यज्ञ को कभी नष्ट मत करो। इस प्रकार यज्ञों द्वारा यज्ञ की विश्व कल्याणमयी भावना से वेद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इतनी क्रिया के पश्चात् इस दाम्पत्य सम्बन्ध पर विधि से प्रकाश पड़ता है और वर वधू का हाथ पकड़ कर कहता है—

वर की प्रतिज्ञा

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ (ऋ० १० । ८५ । ३६)

हे स्त्रि ! मैं ऐश्वर्ययुक्त सुसन्तानादि सौभाग्य की वृद्धि के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ । तू मुझ पति के साथ सुख पूर्वक जरावस्था को प्राप्त हो । इतना कहने के वाद वेद यह महत्त्वपूर्ण संकेत करता है कि हम दोनों जो इस गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर रहे हैं और इस विवाह-बन्धन में बँध रहे हैं, वह हम वासनाओं एवं इच्छाओं के वशीभूत होकर नहीं कर रहे हैं, अपितु राष्ट्र के संचालक ऐश्वर्य के देव भग, न्याय के देव अर्यमा, सब जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता देव सविता और विविध प्रकार से विश्व को धारण करने वाले देव पुरन्धि तथा विवाह के समय उपस्थित सब विद्वान् लोग गृहस्थाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिए तुझ वधू को मुझ 'वर' को देते हैं ।

इससे वेद यह प्रतिपादित कर रहा है कि विवाह कार्य राष्ट्र का एक प्रमुख कार्य है और राष्ट्र की विविध शक्तियों द्वारा वह सम्पन्न होता है । इसी प्रकार प्रतिज्ञा के और जो मन्त्र वर उच्चारित करता है, उनमें भी विश्व की शक्तियों से अपनी समृद्धि की कामना बताई गई है—

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ (अ० १४ । १ । ५६)

इन्द्र और अग्नि, द्युलोक और पृथिवी, अन्तरिक्षस्थ वायु, मित्र और वरुण, दोनों अश्विनी, बृहस्पति, मरुद्गण, ब्रह्म और सोम आदि इस विराट् ब्रह्माण्ड की शक्तियाँ इस नारी को प्रजा से बढ़ायें । इस प्रकार वर-वधू की समृद्धि की कामना की जाती है ।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि मनुष्य की उत्पत्ति तथा मनुष्य की समृद्धि में अनेक शक्तियों का सम्मिश्रण है । वर्त्तमान विज्ञान वीर्य में निवास करने वाले विशिष्ट प्रकार के अणुओं को उत्पत्ति का कारण मानता है । परन्तु यह तो भौतिक स्थूल बीज मात्र एक-एक लघु परिधि है, जिसमें उपरोक्त शक्तियों का सम्मिश्रण है । इस सम्मिश्रण को भौतिक विज्ञान अभी देखने में असमर्थ है । वेद का मन्त्र बताता है कि ये भी शक्तियाँ इसके पीछे हैं । अर्थात् जब मानव की उत्पत्ति विश्व से है, तो मानव भी विश्व का ही है और जब वह विवाह द्वारा अपनी पूरक शक्ति को प्राप्त कर पूर्ण इकाई बनने जा रहा है, तब उसमें सर्वप्रथम यह राष्ट्रीय भावना होनी ही चाहिए ।

(६) लाजा होम

प्रतिज्ञा के मन्त्रों के उच्चारण के बाद छठा होम लाजा होम करना होता है । इसके द्वारा वधू पति की समृद्धि एवं कुलवृद्धि तथा पृथक् न होने की कामना करती है, जिनका दर्शन निम्न मन्त्र वाक्यों में होता है—

मुञ्चतु मा पतेः, आयुष्मानस्तु मे पतिः, एधन्तां ज्ञातयो मम, समृद्धिकरणं तव ॥

पति से मेरा वियोग न हो, मेरा पति दीर्घायु हो, मेरी ज्ञाति के लोग बढ़ें, तुझ पति की समृद्धि के लिए यह लाजा होम कर रही हूँ, ऐसी शुभ भावना इस सम्बन्ध में पति-पत्नी की रहती है । इसके विपरीत वैदिक मतावलम्बियों के अतिरिक्त जनों के दाम्पत्य सम्बन्ध में दोनों के पृथक् होने की भावना पहले से ही होती है तथा कुटुम्ब-वृद्धि की भावना या सन्तति की भावना नहीं होती । सन्तति उनके भोग में बाधक रूप है । आज का गृहस्थ जीवन आदर्शहीन है । वेद के वैवाहिक गृहस्थ आदर्श पर चलकर वह बहुत कुछ सीख सकता है और जीवन को उन्नत बनाकर राष्ट्र का उत्थान कर सकता है ।

(७) प्राजापत्य होम

सातवाँ एवं अन्तिम होम विवाह की पूर्वविधि में प्राजापत्य होम है, जिसके पश्चात् पूर्वविधि समाप्त हो जाती है। पूर्वविधि के इस अन्तिम होम के पश्चात् ग्रन्थिबंधन और सप्तपदी की क्रिया होती है। इस विधि से विवाह-सम्बन्ध वैध और मान्य हो जाता है। प्राजापत्य होम विवाह में इसलिए भी करना आवश्यक है कि यह प्रजापति का ही व्रत है, यह प्रजापति का ही संकल्प है, जो विवाह रूप में प्रकट होकर दोनों को एक सूत्र में, एक व्रत-नियम में बाँध रहा है।

सप्तपदी

इन सात होमों में जिस आदर्श को गृहस्थ-जीवन में स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है, वह अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होगा। सप्तपदी की क्रिया जीवन का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करती है। सप्तपदी के समय वर वधू को वेदी के ईशान कोण की ओर क्रमशः एक-एक पद चलाता है।

विश्व की सात परिधियाँ हैं जैसा कि--सप्तास्यासन् परिधयः। (यजुः० ३१। १५) में कहा है। मानो वर इस विवाह सम्बन्ध से वधू को विश्व की सात परिधियों से क्रमशः पार ले जाते हुए स्वयं भी इस भवसागर से पार हो जाता है। स्त्री के दाहिने कन्धे पर हाथ रखकर वह उसे आगे चलाता हुआ उसका नेता और अनुगन्ता भी बनकर चलता है। अर्थात् वर यह दर्शाता है कि इस संसार में मेरा आश्रय यह स्त्री है। इसके आश्रय से विश्व की सातों परिधियों को पार कर सकूंगा। सातों लोकों को प्राप्त करूंगा और इन सातों परिधियों और सातों लोकों के परे जो परम पद, आनन्द का परम धाम, मोक्ष स्वरूप परमात्मा है, उसे भी प्राप्त करूंगा। यह गृहस्थ-आश्रम परमात्मा की प्राप्ति और मोक्ष-पद प्राप्त करने का सोपान है।

सप्तपदी करते समय वर क्रमशः इन मन्त्रों से एक-एक पग वधू को आगे बढ़ाता है—

इषे एकपदी भव—
ऊर्ज्जे द्विपदी भव—
रायस्पोषाय त्रिपदी भव—
मयोभवाय चतुष्पदी भव—
प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव—
ऋतुभ्यः षट्पदी भव—
सखे सप्तपदी भव—

गृहस्थ-जीवन में प्रधान रूप से सात प्रकार का व्यवहार करना होगा, जिसमें **पहला कर्त्तव्य**—इषे—अर्थात् अन्न के लिए करना होगा। गृहस्थ में प्रवेश करने पर घर को अन्न से—भोजनादि की सामग्री से पूर्ण रखने का सर्वप्रथम ध्यान रखना होगा। वह गृहस्थ-जीवन कभी सुखदायी नहीं होगा, जिसके पास या घर में अन्न न हो अथवा अन्न उत्पादन या अन्न-क्रय की शक्ति न हो।

दूसरा पग गृहस्थ में—ऊर्ज्जे—बल-सम्पादन का होना चाहिए। जो अन्न हमने अपने घर में संगृहीत किया है, उसे भोजन द्वारा इस प्रकार बनाया जाये कि वह बलवर्धक हो। उत्तम अन्न यदि उचित रीति से रुचिपूर्ण प्रस्तुत न किया जावे, तो वह बल को क्षीण करने वाला भी हो जाता है। अतः अन्न को संग्रह करते समय यह ध्यान रखना गृहस्थ का कार्य है कि यह अन्न बल को बढ़ाने वाला है भी या नहीं और पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह उत्तम अन्न रुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करे, जिससे वह बल-वर्धक होवे।

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही—'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा'—कहा है। अर्थात् जीवन की यही प्रथम महान् आवश्यकताएं हैं अन्न और बल प्राप्ति की। जिसके पास अन्न और बल दोनों हैं, वह जीवन-संघर्ष में विजयी होगा। इष और ऊर्ज से जीवन की शरद् ऋतु बनती है, जैसा कि वेद में कहा है—

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू। (यजुः १४। १६)

इष और ऊर्ज से शरद्-ऋतु का निर्माण होता है। अतः जो जीवन में इष और ऊर्ज से सम्पन्न होगा, वही—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्। (यजुः ३६। २४)

जीवन में सौ शरद् वर्षों तक देख सकेगा। वही सौ शरद् ऋतुओं तक जीवन-यापन कर सकेगा और अपना शतायु पर्यन्त जीवन अदीन होकर—पराश्रित न होकर स्वयं अपनी सामर्थ्य से स्वतन्त्रता-पूर्वक व्यतीत कर सकेगा।

अन्न और बल गृहस्थ के पास होने पर तीसरा प्रयत्न—'रायस्पोषाय'—धन एवं ज्ञान की पुष्टि के लिए होना चाहिए। धन एवं ज्ञान रहित गृहस्थ के अन्न एवं बल का उचित उपयोग वह स्वयं नहीं कर सकता और वह दूसरों के आश्रित हो जाता है, अतः गृहस्थ में अन्न एवं बल के साथ धन की भी आवश्यकता रहती है। जो पुरुष इतना उपार्जन नहीं करते कि समय पर आपत्ति या आवश्यकता पड़ने पर धन-व्यय कर सकें, उनका जीवन कष्टप्रद हो जाता है। जो पत्नी अपने पति की कमाई में से कुछ भी बचा कर नहीं रखती और सब कुछ खर्च कर देती है, वह अपने गृहस्थ-जीवन को सुखी नहीं रख सकती। अतः धन की पुष्टि का भी ध्यान गृहस्थ को रखना चाहिए। अपने पास संगृहीत राशि बड़ा भारी बल देती है। जिसके पास धन होता है उसकी प्रत्येक बात में बल होता है।

चौथा पग गृहस्थ में—'मयोभवाय'—सुख के लिए होना चाहिए। जिस गृहस्थ के पास अन्न बल, धनादि हों, उसे यदि इनके द्वारा सुख-प्राप्ति की विधि ज्ञात न हो या इनका उपयोग केवल संग्रह मात्र के लिए हो और अपने सुख के लिए उपयोग न करें, तो इनका क्या लाभ। जीवन में सुख प्राप्ति होनी चाहिए। दुःखित जीवन किस काम का? प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है, अतः गृहस्थ जीवन को सुखी बनाना चाहिए। घर में सुख के साधन होने चाहिएं।

पाँचवाँ कर्त्तव्य—गृहस्थ का 'प्रजाभ्यः'—प्रजा के लिए होना चाहिए। जब घर में अन्न, शरीर में बल, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, धन एवं सुख हो, ऐसी अवस्था में सन्तान भी घर में होनी चाहिए। अन्न, बल, धन, सुखहीन गृहस्थ को यदि सन्तान प्राप्त हो, तो उस सन्तान को भी दुःख होगा और दुःखी सन्तान को देखकर गृहस्थ को भी दुःख की वृद्धि होगी। अतः गृहस्थ को सन्तान की प्राप्ति के प्रयत्नों से पहले ही अपनी स्थिति अन्न, बल और धन से समृद्ध कर लेनी चाहिए।

छठा प्रयत्न—'ऋतुभ्यः'—ऋतुओं के लिए करना चाहिए। ऋतु के अनुसार बर्ताव, रहन-सहन, भोजन, पान आदि का ज्ञान आना चाहिए। यदि यह ज्ञान नहीं होगा तो अपना तथा अपनी सन्तान का जीवन रोगी एवं कष्टप्रद हो जायेगा। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार वर्ष में किसी ऋतु में शीत है तो किसी में उनके विपरीत भयंकर गर्मी है, किसी में वर्षा है तो किसी में अवर्षण है, इसी प्रकार जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव, सुख-दुःख और रोग-शोक के आते हैं, उनमें धैर्यपूर्वक किस प्रकार व्यवहार करना है, यह भी ज्ञात होना चाहिए। तभी जीवन सफल है।

सातवाँ प्रयत्न—घर में मित्रता का व्यवहार होना चाहिए। जिस प्रकार दो मित्रों का परस्पर सम्बन्ध प्रेमपूर्ण—एक हृदय वाला—एक-दूसरे की बात को मानने वाला होता है। इसीलिए विवाह के प्रारंभ में—

समापो हृदयानि नौ। (ऋ० १०।८५।४७)

हम दोनों के हृदय दो जलों के समान एक हैं, यह घोषणा वर-वधू करते हैं और सप्तपदी के बाद विवाह की पूर्वविधि पूर्ण होने पर—**मम व्रते ते हृदयं दधामि**—की घोषणा करते हैं। गृहस्थ जीवन परिवार एवं समाज का आधारभूत है अतः गृहस्थ-निर्माण का आधारभूत विवाह कार्य वैदिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक समस्याएं

(१)

गृहादि-निर्माण

व्यक्ति परिवार एवं समाज के निवास, आमोद-प्रमोद, शिक्षा, व्यवस्था, सभा आदि के लिए अनेक प्रकार के मकान एवं भवनों की आवश्यकता होती है। वेद बड़े-बड़े, अच्छे सुन्दर, हवा एवं प्रकाश-युक्त अनेक कमरे युक्त कई मंजिल ऊंचे भवनों को बनाने का आदेश देता है।

व्यवस्थित गृह-निर्माण

गृहों के निर्माण के बारे में सामान्य निर्देश वेद निम्न मन्त्र में दे रहा है—

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ (अथर्व० ९।३।१)

(१) उपमिताम्—

अर्थात् मनुष्यों को योग्य है कि जो किसी प्रकार का घर बनावे तो वह सब प्रकार की उत्तम उपमायुक्त कि जिसको देखकर सब विद्वान् लोग सराहना करें।

(२) प्रतिमिताम्—

अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार, एक कमरे के सम्मुख दूसरा कमरा एक कोण के सम्मुख दूसरा कोण इस प्रकार साम्यता लिये हुए हो। तथा—

(३) परिमिताम्—

चारों ओर से परिमित एवं व्यवस्थित हो। जिस स्थान में जिस प्रमाण से छोटे-बड़े कमरे बनाने आवश्यक हों उसी प्रकार छोटे-बड़े, ऊंचे बनाने चाहिएँ। अपरिमित बनने से देखने में भी कुरूप निवास करने वाले को भी अरुचि एवं असुविधा होती है।

(४) शालाया विश्ववारायाः —

घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करने वाले हों जिससे घर के अन्दर बन्द एवं अशुद्ध हवा न रहे और ताजी हवा का प्रवेश होता रहे।

(५) नद्धानि विचृतामसि—

जो मकान बनाया जावे उसके सब अवयव एवं द्वारादि अच्छे प्रकार बन्धन और चिनाई आदि से युक्त हों कि जिससे दीवार, छत, फर्श, प्लस्तर आदि फटे-टूटे नहीं और द्वारादि दीवालों से पृथक् न हों ऐसी बनावें।

घरों की आन्तरिक रचना

पूर्व मन्त्र में घरों के निर्माण की सामान्य रूपरेखा वेद ने बताई थी। अब इन घरों के अन्दर कक्ष, कमरे, सदन आदि क्या-क्या हों इस बारे में वेद ने निम्न प्रकार उपदेश दिया है—

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥ (अथर्व० ९।३।७)

(१) हविर्धानमग्निशालम्—

प्रत्येक घर में होम करने का स्थान व होम के पदार्थ रखने का स्थान होना चाहिए। इससे घर की वायु में विशेष प्रकार के पौष्टिक तत्त्व, रोगनाशक तत्त्व तथा सुगन्धित तत्त्वों की वृद्धि एवं उपस्थिति बनी रहती है। आजकल निर्मित होने वाले मकानों में गृह की वायु को इस प्रकार से उत्तम बनाने का कोई प्रकार नहीं किया जाता। कूलर, हीटर आदि से कमरों को शीतल एवं उष्ण तो रखने की आवश्यकता अनुभव करते हैं परन्तु वायु को संस्कारित करने का कोई यन्त्र नहीं बनाया। जीवन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

(२) पत्नीनां सदनं सदः —

घरों में स्त्रियों के पृथक् रहने, आराम, निवास करने तथा उनके परस्पर मिलकर बैठने का स्थान हो। उनके स्नान, ध्यान, भोजनादि-निर्माण का भी पृथक् स्थान हो।

(३) सदो देवानामसि देवि शाले—

दिव्य गुणों से युक्त उस शाला में पुरुषों और विद्वानों के रहने, बैठने, मेल मिलाप करने, सभा का स्थान तथा स्नान, भोजन, ध्यानादि के भी पृथक्-पृथक् कक्ष बनाये जाने चाहिएं। जिस घर के अन्दर स्त्री, पुरुष, विद्वान् अतिथि आदि के निवास, स्नान, ध्यान, भोजन, वार्तालाप आदि की सबके लिए पृथक्-पृथक् व्यवस्था हो वह दिव्य एवं कमनीय गृह है। इस प्रकार की शाला से सब को अपने-अपने कार्य में पूर्ण सुविधा रहती है और सुख प्राप्त होता है।

घर विशाल एवं प्रकाशयुक्त हों

तंग, छोटे तथा प्रकाशरहित गृहों के निर्माण के लिए वेद उपदेश नहीं देता है अपितु विशाल, विस्तृत तथा सूर्य-प्रकाश का भी जिसमें प्रवेश हो ऐसे गृहों का वेद विधान करता है—

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम्।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ (अथर्व० ९।३।१५)

अर्थात् उस शाला में भिन्न-भिन्न शुद्ध भूमि, चारों ओर से खुला शुद्ध स्थान हो जिसमें सूर्य एवं चन्द्र का प्रतिभास अच्छी प्रकार आवे ऐसी प्रकाशमय भूमि से युक्त दृढ़ शाला बनावे।

गृह का जो विस्तार है वह स्त्री के सुखपूर्वक निवास, आमोद-प्रमोद की सुविधा को लक्ष्य में रखकर बनाना चाहिए जिससे स्त्री और पुरुष दोनों सुखपूर्वक निवास करने के लिए प्रसन्नता से ग्रहण कर सकें।

इन गृहों के मध्य में पुष्कल अवकाश और उस घर का विशेष मानपरिमाणयुक्त ऊंची, लम्बी छत और भीतर का प्रसार विस्तारयुक्त हो उसको सुख के आधार रूप अनेक कक्षाओं से सुसज्जित एवं सुशोभित करना चाहिए।

गृह में व्यवस्था

गृह का निर्माण ऐसा करे जिससे रोग पीड़ादि मुक्त होने में सुविधा हो तथा जल, अन्न आदि की दृष्टि से भी सुविधायुक्त हो। स्वास्थ्य, अन्न एवं जल की अनुकूलता हो ऐसे गृह बनाने के लिए वेद निम्न मन्त्र में उपदेश दे रहा है—

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः । (अथर्व० ६।३।१६)

जो घर निर्मित किया जावे उसमें निम्न व्यवस्था होनी चाहिए—

(१) ऊर्जस्वती—

वह शाला बहुत बलारोग्य, पराक्रम को बढ़ाने वाली हो तथा धन-धान्य से पूर्ण हो।

(२) पयस्वती—

जलादि की उसमें सुव्यवस्था हो जिससे स्नान, हस्तादि प्रक्षालन, वस्त्रों को स्वच्छ करने के लिए, मलों को दूर करने के लिए, वृक्षों को जल सिंचनादि करने की तथा पेय जल की सुव्यवस्था हो। दूध के लिए गौ आदि पशु की व्यवस्था तथा दूध, दही, मक्खन, घृतादि की व्यवस्था एवं विविध प्रकार के पेय, फलों के रसादि की व्यवस्था हो।

(३) पृथिव्यां निमिता मिता—

जिस स्थान पर वह घर बनाया गया है वह वहां सुन्दर शोभनयुक्त प्रतीत हो। अव्यवस्थित, बेडौल, अनाड़ी व्यक्तियों से निर्मित प्रतीत न हो, अपितु उसकी रचना और कारीगिरी को देखकर गृह-पति एवं गृह-निर्माणकर्ता कुशल कारीगरों की प्रशंसा हो—ऐसा मकान बनाना चाहिए।

(४) विश्वान्नं बिभ्रती—

घर में विविध प्रकार के अन्न, खाद्य पदार्थ और ऐश्वर्य विद्यमान हों। प्रत्येक पदार्थ से घर परिपूर्ण होना चाहिए।

(५) प्रतिगृह्णतः मा हिंसीः —

घर ऐसा हो कि उसमें रहने वालों को कष्ट, पीड़ा, रोग, दुर्घटना आदि पीड़ित करने वाला न हो। छोटे, तंग, संकरे, खिड़की रहित छोटे दरवाजे, हवा एवं प्रकाशरहित मकान रोग एवं दुघटना कारक होने से पीड़ा देनेवाले होते हैं। अतः ऐसे घर नहीं बनाने चाहिए।

गृहों की विशेषता

गृहों की विशेषता वायु, अग्नि, विद्युत्, सूर्यप्रकाश तथा ऋतु अनुकूलता से निवास आदि के लिए वेद कहता है—

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥(अथर्व० ६।३।१६)

(१) ब्रह्मणा शालां निमिताम्—

गृह-निर्माण में सर्वप्रथम वेद जानने वाले विद्वानों की अभिरुचि से सब ऋतुओं में सुख देने वाली शाला बने इसका ध्यान रखना चाहिए। यदि शाला ऐसी बन जाये कि उसमें वैदिक आदर्श के अनुकूल जीवन-यापन न हो सके तो वह गृह वास योग्य नहीं है। अतः सर्वप्रथम वेद जानने वाले विद्वानों के विचार से उसकी रचना हो।

(२) कविभिर्निमितां मिताम्—

वेदज्ञ विद्वानों ने मकान निर्माण के लिए जो निर्देश दिये हैं उनके आधार पर उत्तम विद्वान् शिल्पियों द्वारा प्रमाणयुक्त अर्थात् नाप में ठीक जैसी चाहिए वैसी बनाई गई हो।

(३) इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ—

इन्द्र और अग्नि जो स्वरूप से विनाशरहित हैं अर्थात् वायु और पावक के द्वारा सुरक्षित सुव्यवस्थित वह शाला हो। ऋतुओं की प्रतिकूलता को अनुकूल बनाने के लिए वायु एवं अग्नि के सहयोग से उनका यान्त्रिक उपयोग लेकर अनेक सुविधाओं से युक्त गृह होने से उनके द्वारा प्रतिकूलताओं से रक्षण-कार्य गृह में होता है।

(४) सौम्यं सदः—

उपरोक्त सुव्यवस्थाओं से पूर्ण गृह ऐश्वर्य, आरोग्य तथा सर्वदा सुखदायक है उसी को निवास के लिए ग्रहण करना चाहिए।

बड़े गृह एवं भवन

बड़ी शालाओं के निर्माण के लिए वेद में वर्णन आता है—

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये॥ (अथर्व० ९।३।२१)

जो द्विपक्षा=दो मंजिले, चतुष्पक्षा=चार मंजिले, षट्पक्षा=छः मंजिले, अष्टपक्षा=आठ मंजिले, दशपक्षा=दस मंजिले मकान बनाये जाते हैं अतः वेद अनेक मंजिले मकानों के तथा अनेक कमरों के बड़े-बड़े भवन बनाने का संकेत करता है। इसी प्रकार के यथावत् परिमाण के योग से बनी हुई इन शालाओं में रक्षा की व्यवस्था एवं अन्तर गूढ़ रूप से रहने की भी व्यवस्था, गोपनीय स्थानों का वेद संकेत करता है।

मकानों का स्थानान्तर

मकानों का स्थानान्तर भी किया जा सकता है। यदि किसी काष्ठ, टीन आदि के इस प्रकार बने हुए घर को जिसके बन्धन शिथिल करके उसके भागों को अन्यत्र ले जाकर पुनः उसको खड़ा कर दो तो वह मकान का स्थानान्तर नहीं होगा अपितु सामान का स्थानान्तर होगा। मकान का स्थानान्तर तो मकान को सम्पूर्ण अपने आकार प्रकार के साथ स्थानान्तर करने से ही होगा। पहिये लगे हुए लकड़ी के छोटे से एक-दो कमरों को हम मकान का स्थानान्तर नहीं कह सकते। वे तो वाहन रूप में माने जावेंगे। अतः गृह, मकान, शाला आदि जिनकी प्रतिष्ठा 'इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां'—कहकर की जाती है उनके ही स्थानान्तर का वेद निम्न मन्त्र में उपदेश दे रहा है :—

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि॥ (अथ० ९।३।२४)

नः शाले पाशं मा प्रति मुचो—

हमारी शाला जिसको हमने बन्धनों से जकड़ रखा है, उसके बन्धन छूटें नहीं। इस प्रकार का

वह सम्पूर्ण गृह—

गुरुर्भारो लघुर्भव—

जो बड़े भार से युक्त है उसको हल्का, सरलता से ले जाने योग्य साधनों से किया जा सकता है। जब तक वह एक स्थान पर अचल, स्थिर रूप से स्थित है उसका भार सबको अनुभूत होता है। परन्तु जब वही स्थान-परिवर्तन की क्षमता में आ जाता है और उसके गुरुत्व वर्धक सम्बन्धों से पृथक् कर दिया जाता है तब वह पूर्वापेक्षा लघु हो जाता है। उस दशा में—

त्वा यत्र कामं—

उस शाला को जहां ले जाने की हमारी कामना हो वहां पर—

वधूमिव भरामसि—

स्त्री के समान धारण करें, स्थापित करें या ले जा सकें। इस मन्त्र में सम्पूर्ण मकान को विना बन्धन खोले ही, उसकी गुरुता, जिसके कारण उसको स्थानान्तर करने की अक्षमता है उस भार की अक्षमता को स्थानान्तर करने की क्षमता में परिवर्तन करना भार का लघुत्व करना ही है।

इस प्रकार वेद से छोटे एवं बड़े आवश्यकतानुसार भवन-गृहादि बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है जो कि सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन एवं राष्ट्र के लिए आवश्यक है।

घरों में क्या हो

गृहस्थों के गृहों में प्रधानतया क्या हो इसका वर्णन निम्न वेद मन्त्र में है—

उपहूता ऽ इह गाव ऽ उपहूता ऽ अजावयः।
अथो ऽ अन्नस्य कीलाल ऽ उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥ (यजु० ३।४३)

(१) उपहूता इह गावः—

इस गृह में हमारे पास गौ आदि उत्तम पशु हों। क्योंकि गौओं से दूध, आहार, ईंधन, खाद, कृषि, स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, अर्थ एवं यातायात आदि की सम्पूर्ण समस्याओं का हल होता है।

(२) उपहूता अजावयः—

गृह में बकरी भेड़ आदि दूध देने वाले परम उपकारी स्वास्थ्यवर्धक, रोगहरणकर्ता पशु उपस्थित हों।

(३) अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः—

और हमारे गृहों में अनेक प्रकार के उत्तम अन्नों की उपस्थिति हो।

(४) क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः—

इस प्रकार का घर हमारे व तुम्हारे लिए रक्षण करने वाला है, शान्ति प्रदान करने वाला है, कल्याणप्रद है, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकार के सुखों को देने वाला है अतः ऐसे गृहों की व्यवस्था से सुखों को प्राप्त हों।

वेद में गृह के निम्न नामों का प्रयोग है—

(१) गयः — पवित्र स्थान जिसमें बैठकर धार्मिक एवं शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है इस निमित्त बना गृह या उसका कोष्ठ गयः संज्ञक है।

(२) क्रृदरः — शस्यागार, अन्न का कोठा—गृह में बना हुआ अन्न कोष्ठ या बड़े-बड़े अन्न के भण्डार गृह या खत्तियां।

(३) गर्त्तः — ऐसा प्रशंसनीय चल गृह जिसमें अच्छे प्रकार निवास शयनादि हो सके।

(४) हर्म्यम्— विशाल, अनेक कोष्ठ वाली, अनेक मंजिलयुक्त सुन्दर, सुसज्जित कोठी, बंगला या महल आदि।

(५) अस्तम् — छिपा हुआ स्थान गुप्ति आदि जिसको दूसरे व्यक्ति पहचान न सकें। तलघर आदि भी इसी श्रेणी में हैं।

(६) पस्त्यम् — निवास स्थान

(७) दुरोण — परगृह

(८) नीडम् — निश्चित रहने की, नित्य शयन का स्थान, पक्षियों का घोंसला आदि भी इसी के अन्तर्गत है।

(९) दुर्याः — कठिन प्रवेश योग्य गृह या कठिनता से स्वाधिकार में प्राप्त होने योग्य या प्राप्त हुआ गृह। या ऐसा गृह जिसके लिए संघर्ष करना पड़े अथवा जिसके प्रवेश के लिए अनेक बन्धन हों।

(१०) स्वसराणि — वे गृह जिन गृहों में स्वयं यथासमय जाना होता है। अर्थात् जिन गृहों से अपने प्रयोजन सिद्ध होते हैं और हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जाना पड़ता है वे स्वसराणि कहलाते हैं।

(११) अमा — समीपस्थ कोष्ठ या गृह अमा संज्ञक है।

(१२) दम — वह गृह जिसमें अपनी इच्छा, आकांक्षा एवं उत्सुकता लगी हुई है, जिसके प्रति उदासीन भावना नहीं है ऐसा गृह दम-नामक है।

(१३) कृत्तिः — वे गृह जहां दुःखादि का छेदन होता है रोगादि के नष्ट होने के स्थान औषधालय, आतुरालय, अस्पताल, नर्सिंगहोम आदि सदृश कृत्तिः संज्ञक हैं।

(१४) योनिः — आकर, खदान गृह, प्रसवगृह, मकान के मध्य का वह स्थान जिसमें से प्रवेश एवं निर्गमन होता है अथवा वे स्थान जहां से उत्पत्ति का प्रवाह चलता हो। विद्युत् जनरेटर स्थान, वस्तुओं के मूल निर्माण स्थान के कोष्ठ इसी श्रेणी में आते हैं।

(१५) सद्म — कष्टप्रद गृह

(१६) शरणम् — आश्रय स्थान

(१७) वरूथम् — गृह का ऐसा गुप्त स्थान जिसमें बाहर के आक्रमण से रक्षा हो सके।

(१८) छर्दिः — गृह का वह स्थान जहां पर त्याज्य या निष्प्रयोजन वस्तुएं रखी जाती हैं।

(१९) छदिः — गृह का वह स्थान जिसमें तीन ओर से दीवारें हों और एक ओर से पूरा खुला भाग हो और उस पर छत हो।

(२०) छाया — गृह का वह स्थान जो चारों ओर से खुला हो परन्तु ऊपर छाया के लिए छत हो।

(२१) शर्म — युद्ध में शरणस्थान को शर्म कहते हैं।

(२२) अज्म — वह मकान या घर जो लोकोपकार के लिए दानादिपूर्वक धार्मिक या पुण्य भावना से बनाया जाता है।

इसी प्रकार से विविध प्रयोजनों के लिए निर्मित गृहों की विविध संज्ञाएँ समय एवं आवश्यकतानुसार बनती रहती हैं।

घर में प्रयोग में आने वाले पात्रों के नाम

हविर्धान पात्र — (यजुः १।६) यज्ञ की हवि जिस पात्र या स्थाली में रखी जाती है। अर्थात् वह थाली जिसमें भोजन तैयार करके किसी को प्रस्तुत किया जावे। हविर्धान शकट भी होता है जिसमें धान लाया जाता है।

प्रोक्षणी — (यजुः १।२८) जल का वह पात्र जिससे पानी एक धारा से, नियत स्थान से गिराया या प्रस्तुत किया जा सके।

स्रुक् — (यजुः २।१) बांह मात्र लम्बे करछे जिनका अग्रभाग पाणि (हाथ) के बराबर लम्बा चौड़ा और छः अंगुल गहरा हो वे स्रुक् हैं। इनके मुख हंसाकृति के होते हैं। जो इससे आधे प्रमाण के लम्बाई में होते हैं और जिनके अग्रभाग में गोल छोटा अंगूठे के पर्व के बराबर गढ़ा होता है वे स्रुव हैं और जो इससे भी छोटे हैं वे चमस हैं।

जुहू — (यजुः २।६) स्रुक् चार प्रकार के होते हैं। उनमें से जो पलाश की लकड़ी का बनाया जाता है वह जुहू संज्ञक है। इससे बार-बार लेने देने का काम किया जाता है।

उपभृत् — (यजुः २।६) पीपल के वृक्ष की लकड़ी से बना हुआ स्रुक् उपभृत् संज्ञक होता है। इसका उपयोग कम किया जाता है परन्तु समीप में रखा जाता है। अर्थात् एक ही स्रुक् न हों अनेक हों और सुरक्षित भी रहें।

ध्रुवा — (यजुः २।६) विकंकत वृक्ष की लकड़ी से यह निर्मित होने वाला स्रुक् है। इसका और भी कम उपयोग करते हैं। इसको अपने स्थान पर अविचल स्थापित करते हैं। चौथा अग्निहोत्र हवनी नाम का स्रुक् होता है उससे अग्निहोत्र का विशेष कार्य करते हैं।

कलश — (यजुः ८।४२) मृत्तिका या किसी धातु का स्वर्ण, चांदी, तांबा, स्फटिक मणि आदि का बना हुआ घट।

मन्थपात्र — (यजुः ५।२) गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि—दूध, दही तथा अन्य पदार्थों को मन्थन करने का पात्र मथनी सहित।

हविःपात्र — जिसमें हवि दी जावे या भोजन करने के पात्र।

आज्य पात्र — घृत रखने के पात्र विशेष।

दोहन पात्र — दूधादि का जिसमें दोहन गौ के नीचे रख कर किया जाता है, वे पात्र।

दूध दही के पात्र — दूध दही के रखने के पात्र।

पुरोडाश पाक पात्र —चावल, गेहूं, जौ आदि के चूर्ण (आटे) को गूंध कर पकाये जाने के लिए तवा।

शूर्प — अन्नादि को स्वच्छ करने झटकने एवं फटकने का साधन।

ऊखलमूसल — अन्नादि को कूटने के लिए उपयोगी।

अभिषवण पात्र — (यजुः १८।२१) सोमलता तथा इसी प्रकार की हरित वनस्पतियों का निचोड़ने व रस प्राप्त करने के लिए कूटने का पात्र।

ग्रह पात्र — रसादि ग्रहण या रखने का पात्र।

वायव्य पात्र — (यजुः १८।२१) वायु सम्बन्धी पात्र अर्थात् जिनमें विविध प्रकार की गैसे भर कर सुरक्षिंत रख सकें।

द्रोणकलश —	(यजुः १८।२१)	सोमरसादि को सुरक्षित रखने के घड़े।
ग्रावा —	,,	सिल और बट्टा जिससे पीसने का कार्य करते हैं।
पूतभृत —	,,	वे पात्र या साधन जिनके द्वारा छानना, पवित्र करना आदि होते हैं।
आधवनीय —	,,	धोने के पात्र।
वेदी —	,,	कुण्ड जिसमें अग्नि स्थापित करते हैं।
कुम्भी —	(यजुः १७।२७)	छोटे कलश या लोटे।
स्थाली —	,,	थालियां व तश्तरियां।
सुराधानी —	(यजुः १९।१६)	सोमरस का घट।
तितउ —	(ऋग्वेद)	चलनी जिससे पदार्थों को छानते हैं।
कारोतर —	(यजुः १९।१६)	छानने के पात्र।
चरु —		हव्यान्न पकाने का पात्र।

इस प्रकार से वेद में अनेक प्रकार के पात्रों के नाम आते हैं जिनका गृहों में या यज्ञशाला में उपयोग होता है। इसी प्रकार से अपनी आवश्यकतानुसार अनेक गृहोपयोगी समयानुसार पात्रों की रचना होती रहती है।

भोजन-खाद्य-पेय वस्तुएं

गृहों में खाद्यान्न एवं उसको बनाने का कार्य होता है। वेद में से कतिपय निम्न नामों को हम यहां प्रस्तुत करते हैं:—

आज्य — घृत।
हविः — भोजन योग्य पका हुआ पदार्थ।
सोम — विविध प्रकार के फल तथा ओषधियों के बलप्रद स्फूर्ति एवम् आनन्दप्रद रस।
सत्तु — भुने हुए अन्नों का पिसा हुआ सूखा मिश्रण चूर्ण।
शष्प — (यजुः १६।१३) शुद्ध धान्य।
अपूप — मालपूआ, घेवर आदि सदृश मिष्ट दलदार मुलायम या खस्ते घृत से पूर्ण पक्वान्न।
पुरोडाश — (यजुः १६।२०) बिस्कुट सदृश छोटे खाद्य पदार्थ जो चावलादि के पिष्ट से बनाये जाते हैं।
धान्य — (यजुः १६।१३) विविध प्रकार के अन्न।
यव — (,,) जौ।
लाजा — (,,) भुने हुए धान्य।
मधु — (,,) शहद
मासर — (यजुः १६।२०) मांड चावलों का या किसी भी अन्न को उबाल कर उसका तैयार किया रस।
सुरा — (,,) वाष्प यन्त्र द्वारा परिस्रुत अर्कादि जो तीन रात्रि रखकर परिस्रुत किया जावे।
पयः — (यजुः १६।२३) दूध तथा पेय रसादि, जल।
दही — (यजुः १६।२३) दही।
आमिक्षा — (यजुः १६।२३) श्रीखण्ड।
पयस्या — (यजुः २६।६०) दूध से बने हुए अनेक प्रकार के पदार्थ।
चरु — (यजुः २६।६०) घी में पका कर तैयार किया भोज्य या हवि पदार्थ जिस पर दूध छिड़का जाता है। यज्ञ के लिए पका चावल।
धान — (यजुः १६।२१) खील।
करम्भ — (,,) दही मिश्रित सत्तू, लप्सी आदि।
परिवापः — (,,) चिवड़ा आदि।
कर्कन्धु — (यजुः १६। २३) कांटेदार वृक्षों के फल बेर, उन्नाव आदि।
उर्वारुक — (यजुः ३। ६०) वे फल जो पकने पर शाखा या बेल से पृथक् हो जाते हैं। खरबूजा आदि।
पिप्पली — (यजुः ११। ४८) सुन्दर, पके फल, ओषधियों के फलादि।
कुवल — फल विशेष।
बदर — (यजुः १६। २२) बेर तथा तत्सदृश फल।
हैमवती आपः — (अथर्ववेद) बर्फ के जल।

उत्स्या आपः —	(अथर्ववेद)	निर्झरों के जल ।
सनिष्यदा आपः —	(,,)	चिरकाल स्थित जल ।
धन्वन्या आपः —	(,,)	मरु देश का जल, तीर से निकाला जल, बोरिंग या ट्यूबवैलों का जल ।
अनूप्या आपः	(,,)	जल प्राय देशों का जल ।
खनित्रिमा आपः	(,,)	कूए आदि का जल ।
कुम्भ आपः —	(,,)	घटों में रखा जल ।
व्रीही —	(यजु: १८ । १२)	जौ ।
माष —	(,,)	उर्द ।
तिल —	(,,)	तिल ।
मुद्‌ग —	(,,)	मूंग ।
खल्व —	(,,)	चना ।
प्रियंगु —	(,,)	प्रियंगु, ककुनी ।
अणु —	(,,)	मंडवा ।
श्यामाक —	(,,)	समा के चावल ।
नीवार —	(,,)	पसाई के चावल ।
गोधूम —	(,,)	गेहूं ।
मसूर —	(,,)	मसूर ।

इस प्रकार से वेद में अनेक अन्न, फल, पेय, रस, खाद्य, भोजन, पक्वान्न आदि के नामों का उल्लेख है ।

पशु-पक्षि-पालन

मनुष्य-समाज के जीवन के लिए पशु-पक्षियों का अनेक प्रकार का उपयोग है उनसे हमें आहार के पदाथ दूध, घी, मावा, दही, पनीर, ओषधि, वस्त्र के लिए ऊन, चर्म, ईंधन, खाद, वाहन रक्षा आदि प्राप्त होते हैं।

पशु-पक्षियों की बोलियों एवं उनके संकेतों से शुभाशुभ ज्ञान, प्रकृति में होने वाली घटनाएँ, वर्षा, भूकम्प, बिजली गिरना, हिंसक प्राणियों की गुप्त स्थिति, भोजनादि में विष की उपस्थिति आदि अनेक रहस्यमय ज्ञान प्राप्त होते हैं।

पशु-पक्षियों से यातायात का कार्य, सन्देशवाहन, उनके कार्यों को देखकर अपने ज्ञान एवं कार्य-प्रणाली का शोधन आदि का लाभ मनुष्यों को होता है। अतः मनुष्य-समाज के लिए पशु-पक्षियों का पालन अत्यन्त आवश्यक है। वेद से इनके बारे में अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए वेद ने पशुओं के पालन एवं रक्षण के लिए यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही उपदेश दिया—

यजमानस्य पशून्पाहि। (यजु० १।१)

यजमान के पशुओं की रक्षा, पालन करो। अपने घरों में भी पशुओं को रखने के लिए कहा—

उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽअजावयः (यजु० ३।४३)

हमारे घरों में गौ तथा बकरी, भेड़ आदि पशु बहुतायत से हों। इस प्रकार अनेक स्थानों पर पशुओं के पालन का विधान वेद में है।

वेद में गौ का नाम अघ्न्या (यजुः १।१) भी है अर्थात् वह अहिंसनीय है। वध योग्य, हनन करने योग्य नहीं है अपितु पालनीय है। अन्य पशुओं की भी रक्षा के लिए वेद में आदेश है—

इमं मा हिꣳसीर्द्विपादं पशुम्। (यजु० १३।४७)

इमं मा हिꣳसीरेकशफम्। (यजु० १३।४८)

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारं...घृतं दुहाना...मा हिꣳसीः। (यजु० १३।४६)

इममूर्णायुं...मा हिꣳसीः। (यजु० १३।५०)

घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाम्। (यजु० ६।११)

पशूनां पतये नमः। (यजु० १६।१७)

दो पैर वाले, दो खुर वाले, एक खुर वाले, घृत दूधादि देने वाले, ऊन आदि एवं त्वचा देने वाले पशुओं की हिंसा मत करो। उनकी रक्षा करो। पशुओं की रक्षा एवं पालन करने वाले पशपति के लिए नमस्कार हो अतः वेद में पशओं की रक्षा और उनका विविध प्रकार से उपयोग लेना बताया है।

पशुओं में सर्वाधिक उपयोगी पशु मनुष्यों के लिए गौ हैं। गौ से मानव जाति का जीवन पालित एवं पोषित होता है। समस्त भूमण्डल पर दूध की समस्या का हल इसी से हो रहा है। दूध, दही, मक्खन, घी, पनीर से हमारा जीवन पुष्ट होता है। दैनिक जीवन में इनकी आवश्यकता होती है।

दूध, दही, घी पनीर आदि से अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ एवं मिष्टान्नों का निर्माण होता है।

दूध आहार की पूर्त्ति करके शरीर को पुष्ट करता है और जीवन देता है। दूध आहार की पूर्ति करके शरीर को रोगरहित भी करता है। दही पृथिवी पर अमृततुल्य है। बल एवं पुष्टि को देता है। घृत शरीर को तथा इन्द्रियों को तेजस्वी बनाता है। बल और पुरुषार्थ को देने वाला है। गौ के केवल दूध मात्र से अनेक प्रकार से हमारी खाद्य, पुष्टि एवं आरोग्यता की व्यापक रूप में पूर्त्ति होती है।

गौ के मूत्रका उपयोग अनेक ओषधियों में होता है गोमूत्र एवं गोबर अनेक दुःसाध्य रोगों को नष्ट करने वाले हैं। परन्तु गो-मूत्र एवं गोबर से यह पृथिवी अपूर्वशक्तिशाली होती है और खाद की महान् समस्या को उत्तम रीति से हल करती है। आज देश में अनेक बड़े-बड़े खाद के कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं परन्तु कृषि, खाद, दूध, घृत, मक्खन, आरोग्यता और पुष्टि आदि का जो एकमात्र स्रोत गौ है उसके संरक्षण एवं पालन की सर्वाधिक आवश्यकता है।

वेद ने कहा—'आयुर्वै घृतम्, तेजो वै घृतम्, पयोऽमृतम्'—घृत हमारे जीवन में आयु का प्रदाता है। घृत हमारे जीवन को तेज प्रदान करता है। दूध अमृत है। जब घी और दूध हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर आयु को, तेज को और जीवन को देने वाले हैं तब यदि हम यज्ञ के द्वारा उनको पृथिवी और अन्तरिक्ष में व्याप्त कर दें तो समस्त जीवन को क्यों न जीवन प्राप्त हो, आयु प्राप्त हो और तेज भी प्राप्त हो अर्थात् यज्ञ के द्वारा घी और दूध की आहुतियों से विश्व को जीवन और आयु तथा पुष्टि अवश्य प्राप्त होती है और विश्व के समस्त प्राणी रोगरहित होते हैं। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने—'गावो विश्वस्य मातरः'—कहा। गौएं विश्व की माता तुल्य हैं। विश्व का पोषण करने वाली हैं।

माता का पालन-पोषण करना चाहिए। उस की हिंसा महापाप है। अतः वेद ने कहा—'गां मा-हिंसीः'—गौ वध योग्य नहीं है। उसको मारे नहीं। यदि उन गौओं की विधिपूर्वक सेवा, अर्चना होगी तो विश्व का कल्याण होगा। उनकी उत्तम सेवा से वे—'माध्वीर्गावो भवन्तु नः' (यजुः १३। २०) हमारे लिए मधुरता सम्पादन करने वाली हो जाती है। इसलिए वेद ने कहा 'ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीः' (यजुः १। १) इस गोपालक के पास बहुत सी गौवें निश्चयपूर्वक स्थिर रूप से हों।

पशु-पक्षियों के विविध उपयोग का वर्णन यजुर्वेद के २४वें अध्याय में बहुत विस्तृत है। लगभग ४२ पशुओं और ७३ पक्षियां के उपयोग एवं गुण धर्मों का वहां वर्णन है। यथा—

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः। (यजु० २४। १)

अश्व, मेढ़ा और नील गाय ये प्रजापालक गुण वाले हैं। अर्थात् प्रजा के उपयोग में इनसे बहुत कार्य सिद्ध होते हैं। तीनों का उपयोग सवारी, वाहन, संचार व्यवस्था में होता है। अतः प्रजा-पालक इनके धर्म का मनुष्यों को उपयोग लेना चाहिए।

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीन्
शरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककरान् शिशिराय विककरान्॥ (यजु० २४। २०)

वसन्त के लिए कपिंजल पक्षी को, ग्रीष्म के लिए गौरैया चिड़िया को, वर्षा के लिए तीतर को शरत् के लिए बटेर को, हेमन्त के लिए ककर को तथा शिशिर के लिए विककर पक्षी को प्राप्त करे, इन पक्षियों का ऋतु ज्ञान से गहन सम्बन्ध है। काला तीतर जब विशेष प्रकार की ध्वनि करता है तब वर्षा के आगमन का ज्ञान होता है। ऋतु-ऋतु के आगमन पर विशेष-विशेष प्रकार के पक्षियों का विशेष दर्शन होता है और उनसे ऋतु सम्बन्धी अनेक प्रकार के ज्ञान प्राप्त किये जा सकते हैं।

पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ एवं सूक्ष्म स्थितियों में स्थित जलों के ज्ञान के लिए भी पशु-पक्षियों का सम्बन्ध बताने के लिए वेद बताता है—

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो मत्स्यान्
मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नाक्रान्। (यजु० २४। २१)

समुद्रों का अवगाहन करने के लिए तथा समुद्रों के भीतर का पता लगाने के लिए शिशुमार जलचर को प्राप्त करे अथवा शिशुमार जलचर सदृश जल के ऊपर, मध्य एवं नीचे चलने वाली पनडुब्बियों का उपयोग लेवे। मेघों के ज्ञान एवं उसकी उत्पत्ति, गति एवं वर्षण क्रिया के लिए मण्डूकों का उपयोग लेवें। मैंढक का और मेघों का बहुत सम्बन्ध है। वर्षा ऋतु में मैंढकों का पृथिवी पर बाहुल्य प्रकट करता है कि अमुक स्थान पर वर्षा हुई है। बड़े-बड़े मैंढक पृथिवी के भीतर छिपे रहते हैं। वर्षा के आगमन से पूर्व वे पृथिवी पर विचरण करने लगते हैं और बताते हैं कि वृष्टि होगी। वृष्टि होने पर वे रात्रि में एकत्र होकर ताल तलैयाओं के किनारे बैठकर मधुर एवं तीव्र स्वर से सम्मिलित रूप से अपना मेघस्तवन गायन हर्षपूर्वक करते हैं। जिस प्रकार से मैंढक अन्य ऋतुओं में भी पृथिवी पर विद्यमान रहते हैं परन्तु प्रायः छिपे रहते हैं उसी प्रकार मेघ भी अन्य ऋतु में प्रायः अदृश्य रूप से अन्तरिक्ष के सूक्ष्म जलों में रहते हैं। अनेक मण्डूक वर्षा के बाद मर कर सूख कर चूर्ण होकर पृथिवी में विलीन हो जाते हैं। वर्षा के जल को पाकर उनसे अनेक मण्डूकों की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार अन्तरिक्ष में सूक्ष्म जल विद्यमान रहते हैं परन्तु जब उन्हें वायुमण्डल से शीतल हवा या मानसून की जलीय हवा का सम्पर्क होता है तब अन्तरिक्ष में मेघों का निर्माण हो जाता है। मैंढकों की इस स्थिति को वेद ने—"संवत्सरं शशयाना"— (ऋ. ७। १०३। १) वर्ष भर सुप्त अवस्था में मंडूकों की स्थिति प्रकट की है। इसी प्रकार मैंढकों की वाणी का वर्षा के कराने से सम्बन्ध बताने के लिए मैंढकी को "वर्षाहूः (यजुः २४। ३८) कहा है। वर्षा बुलाने का यह गुण उसकी ध्वनि से इस शब्द से प्रकट होता है। इसीलिए—'वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः'। (ऋग्वेद ७। १०३। १) मेघों को तृप्त करने वाली वाणी को मैंढक बोले यह वेद ने प्रकट किया। इसी प्रकार—'उप प्रवद मंडूकि' (अथर्व) में भी कहा है—इसका तात्पर्य यह है कि मैंढक सदृश ध्वनि का प्रभाव मेघों पर पड़ता है और उससे वर्षा होती है।

जल के लिए मछलियों का उपयोग भी अनेक रूप में जानना चाहिए। जल जिन दो तत्त्वों से बनता है उनमें से मित्र तत्त्व के लिए कुलीपय जन्तु और वरुण के लिए नक्रों को पाले। सृष्टि में कब कौन-सा तत्त्व घटता-बढ़ता है उसका ज्ञान इन पशुओं की वृद्धि क्षय, उपस्थिति, प्रकट होने आदि से प्राप्त किया जा सकता है।

पूर्व मन्त्र में जल एवं उसकी सूक्ष्म स्थितियों के लिए जलीय तत्त्व प्रधान पशुओं का वर्णन था, इस मन्त्र में आग्नेय तत्त्वों के बारे में उपयोगी पक्षियों का वर्णन है :—

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्य उलूकानग्नीषोमाभ्यां
चाषानश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान्॥ (यजु० २४। २३)

अग्नि तत्त्व के विविध प्रकार के प्रयोग एवं अनुसन्धान के लिए कुक्कुट का उपयोग करें। अग्नि के उद्बोधन के लिए वनस्पतियों का सम्बन्ध है। अनेक प्रकार की ओषधियों से अनेक प्रकार की शारीरिक एवं बाह्य अग्नियां उत्पन्न होती हैं। अग्नि के साथ ओषधि वनस्पतियों का गहरा सम्बन्ध है। वेद ने इसलिए अग्नि की अप्सरा ओषधियों को कहा जैसा कि—'ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्योषध-

योऽप्सरसो नाम' (यजु० अ० १८ मं० ३८) में वर्णित है। इसलिए अग्नि की विविध स्थितियों के प्रकरण में अग्नि की इस स्थिति का जो वनस्पतियों में रहती है उसका संकेत करते हुए उन वनस्पतियों के साथ उल्लू पक्षी का सम्बन्ध विशेष है और उसका क्या प्रभाव वनस्पतियों पर पड़ता है और उसका क्या उपयोग लिया जाना चाहिए इसका संकेत—'वनस्पतिभ्य उलूकान्'—वेद ने कहा है। अग्नि की अन्य स्थिति—अग्नि सोमयुक्त भी है। अग्नि सोमयुक्त पदार्थों के लिए नीलकण्ठ का उपयोग लेना चाहिए। अग्नि की सोमयुक्त स्थिति से और अधिक प्रकट स्थिति सूर्य चन्द्र की है। इन्हीं दोनों से अग्नि और सोम का सृष्टि में प्रादुर्भाव होता है अतः 'अश्विभ्यां मयूरान्'—सूर्य चन्द्र के लिए मयूरों का उपयोग लेना वेद में बताया है। इसी प्रकार इन्हीं दोनों शक्तियों—मित्र एवं वरुण तत्त्वों का निर्माण एवं पुष्टि होती है अतः इनके लिए उपयोगी पक्षी कबूतर का उपयोग लेना चाहिए।

लोगों ने पक्षियों का उपयोग अपने खाने के लिए ले लिया। किसी ने उनका उपयोग उनको लड़ाने में ले लिया और किसी ने केवल शौक के लिए लिया परन्तु पशु-पक्षियों से सृष्टि के विज्ञान को समझने और उनका वैज्ञानिक उपयोग लेने से बहुत लाभ मिल सकता है।

काल की विविध गति एवं काल के ज्ञान के लिए पक्षियों का महत्त्व है इस बात को वेद ने निम्न मन्त्र में प्रकट किया है—

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूरहोरात्रयोः
सन्धिभ्यो जतूर्मासेभ्यो दात्यौहान्त्संवत्सराय महतः सुपर्णान् ॥ (यजु० २४। २५)

कबूतर रात्रि को देखने में असमर्थ होता है अतः उसका दिन में ही उपयोग हो सकता है। दिन के कालक्रम के साथ कबूतर का किन क्रिया विशेष से सम्बन्ध है इसका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसी प्रकार रात्रि के लिए सीचापू पक्षी का उपयोग ज्ञात करना चाहिए। दिन और रात कालचक्र की मूल इकाई हैं जिससे अहोरात्र, मास और वर्ष बनते हैं। दिन में कबूतर की सक्रियता एवं रात्रि में सीचापू की सक्रियता होने से उनका उपयोग ज्ञात करने के लिए वेद ने कहा है—

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूः।

अहोरात्रों की सन्धि में जतू नाम का पक्षी विशेष सक्रिय होता है। उनके द्वारा दिन रात की सन्धि समयों का ज्ञान हो सकता है। महीनों के ज्ञान के लिए काले काकों का, संवत्सर के ज्ञान के लिए सुपर्ण और क्रौंच आदि पक्षियों का उपयोग लेवें।

दिशाओं के सम्बन्ध का ज्ञान पशु-पक्षियों से होता है। उन-उन दिशाओं में उन-उनकी ही सक्रियता होती है। वेद ने इस दृष्टिकोण से बताया—

भूम्याऽआखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्तान् दिवे कशान्
दिग्भ्यो नकुलान् बभ्रूकानवान्तरदिशाभ्यः ॥ (यजु० २४। २६)

ध्रुवा दिक्—नीचे की दिशा का ज्ञान चूहों से होता है। ये नीचे की दिशा में बिल बनाकर रहते हैं। इनका वृक्ष पर रहने का स्वभाव नहीं है। अतः ध्रुवा दिशा का, नीचे की दिशा का इनके स्वभाव एवं कार्य से सम्बन्ध है। इनके व्यवहार को देखकर मनुष्य अपने लिए बहुत कुछ शिक्षण प्राप्त करता रहता है। भूमि के अन्तर्गर्भ में जिस प्रकार चूहे घुस कर अपना मार्ग बनाते हैं एवं उसके अन्दर की चीज को बाहर निकालते हैं तथा अपनी उपयोगी वस्तुओं को बाहर से लाकर भीतर भूगर्भ में स्थापित करते हैं उसी प्रकार का ज्ञान पृथिवी का, पृथिवी के भीतर रहने का, गुप्त संग्रह करने का तथा भूगर्भ से वस्तुओं को बाहर लाने के लिए चूहों से उपयोग का ज्ञान प्राप्त करें। अतः 'भूम्या आखूनालभते'—**वेद**

का यह आदेश महत्वपूर्ण है।

इसी प्रकार अन्तरिक्ष दिशा के सम्बन्ध में—'अन्तरिक्षाय पाङ्क्तान्'—वेद ने कहा है। अर्थात् अन्तरिक्ष के लिए पंक्ति में उड़ने वाले पक्षियों से ज्ञान लाभ करें। अन्तरिक्ष का निरीक्षण, अन्तरिक्ष से पृथिवी के स्थलों का निरीक्षण, अन्तरिक्ष से सन्देश पृथिवी पर भेजना, जैसे वे उड़ने वाले शब्द करते हैं, अन्तरिक्ष में संचार व्यवस्था करना, पक्षी उड़ता हुआ भी जैसे पृथिवी पर विष्ठा आदि करता है या मुख में रखी हुई वस्तु को ऊपर से छोड़ता है उसी प्रकार विमानायानादि द्वारा ऊपर से नीचे सामान का उतारना या रक्षार्थ उपाय करना आदि अनेक कार्यों की सिद्धि का ज्ञान अन्तरिक्ष में उड़ने वाले क्रौंचादि पक्षियों से प्राप्त किया जा सकता है। अन्तरिक्ष मध्य की दिशा है।

इस पृथिवी-मण्डल में भी पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यौ है। अन्तरिक्ष से ऊपर का क्षेत्र द्यौ का है। ऊर्ध्वा दिशा इससे ऊपर की है। ऊर्ध्वा दिशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिसकी और ऊंची उड़ान हो उसके द्वारा ही होगी। अतः द्युलोक के ज्ञान के लिए कशा नामक पक्षी की जो अति तीव्र एवं ऊंची उड़ान करता है उसके द्वारा उपाय चिन्तन करें। दिशाओं में विविध पदार्थों की स्थिति के ज्ञान के लिए नकुल का पालन, उसके व्यवहार का दर्शन, तत्सदृश गन्ध एवं दर्शन की क्षमता तथा सर्पवत् अनिष्टकारी प्राणियों के नष्ट करने की सामर्थ्य एवं उपायों का अन्वेषण करें।

इस प्रकार वेद ने अनेक पशु पक्षियों से सृष्टि का ज्ञान ज्ञात करने की कला बताई है। इसके अनुसन्धान में उनकी आकृति, रचना, ध्वनि, चेष्टा आदि का निरीक्षण एवं अध्ययन करना चाहिए।

वाक् के लिए—वाणी, ध्वनि आदि के विविध व्यवहार के लिए वेद में आता है—'वाच क्रुञ्चः' (यजु० २४। ३१) वाणी के लिए क्रौंच पक्षी, 'क्रोष्टामायोः' (यजु० २४। ३२) ध्वनि विशेष के लिए श्रृगाल—प्रति श्रुत्कायै चक्रवाकः (यजु० २४। ३२) उत्तर प्रत्युत्तर के लिए चकवा—सरस्वत्यै शारिः—पुरुषवाक्—मनुष्य की बोली वाली मैना वाक् शक्ति वाली, 'सरस्वते शुकः पुरुषवाक्'—(यजु०२४। ३३) मनुष्य बोली वाला तोता सरस्वती के लिए-'ऋश्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणाम्' (यजु० २४। ३७) ऋश्य मृग विशेष, मयूर तथा गरुड़ ये गन्धर्व, गाने वालों के लिए हैं। इस प्रकार वेद ने पशु-पक्षियों की बोली का सम्बन्ध मनुष्य के साथ बहुत कुछ है यह प्रतिपादित किया है। उस पर विचार करने से बहुत कुछ रहस्य प्राप्त किये जा सकते हैं।

इसी प्रकार 'वाचे प्लुषीन्—बृहस्पतये गवयान्' आदि भी इसी अध्याय के २९ एवं २८ वें मन्त्र में वाणी के लिए हैं। इसी प्रकार सृष्टि के विविध पदार्थों से पशु-पक्षियों का सम्बन्ध बताने के लिए वेद ने कहा—

प्रजापतये च वायवे च गोमृगः। (यजु० २४। ३०)

प्रजापति सूर्य के लिए और वायु के लिए गोमृग का सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त करें।

सौरी बलाका (यजु० २४।३३)

बगुली सूर्य गुण वाली है। सूर्य का कौन-सा गुण उससे प्राप्त किया जा सकता है यह अनुसन्धान विशेष से ज्ञात होगा। इसी प्रकार 'कृकवाकुः सावित्रः' (यजु० २४। ३५) कुक्कुट सूर्य धर्म वाला है। दोनों के सूर्य धर्म का भेद ज्ञान भी अनुसन्धान से होगा।

पुरुषमृगश्चन्द्रमसः (यजु० २४। ३५)

पुरुष-मृग चन्द्रमा के धर्म वाला है। इसी प्रकार कामादि विकारों का सम्बन्ध भी पशु-पक्षियों से है, उनके बारे में वेद कहता है—

कामाय पिकः (यजु० २४। ३९)

कोयल कामोद्दीपन के लिए है।

शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे (यजु० २४। ३३)

व्याघ्र, भेड़िया तथा अजगर क्रोध धर्म वाले हैं। रंगों की दृष्टि से भी पशुओं के सृष्टि तत्त्व के साथ गुणों का विवेचन भी वेद में मिलता है। यथा—

रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः शितिरन्ध्रो ऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्तशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः शितिबाहुरन्यतः शितिबाहुः समन्तशितिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रावरुण्यः॥ (यजु: २४। २)

(१) रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्याः=लाल वर्ण का, धुमैले वर्ण का एवं गहरे लाल वर्ण का पशु—वे ये सौम्य गुण वाले हैं। इनमें सौम्य गुणों की वृद्धि का कार्य हो सकता है।

(२) बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः=भूसर (भूरा) रंग वाला, लालिमायुक्त भूसर रंग वाला तथा तोते के तुल्य हरित भूसर रंग वाला, वे ये तीनों पशु वरुण गुण वाले हैं।

(३) शितिरन्ध्रोऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्तशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः=श्वेत छिद्र स्थानों वाला, एक ओर से श्वेत छिद्र वाला और सब ओर से श्वेत छिद्र स्थानों वाला, ये सब सविता गुण वाले हैं।

(४) शितिबाहुरन्यतः समन्तशितिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः=श्वेत पैर वाला, एक ओर कुछ श्वेत पैर वाला, एक ओर कुछ श्वेत पैर वाला एवं सब ओर से श्वेत पैर वाला, वे ये तीन पशु बृहस्पति (विद्युत्) गुण वाले हैं।

(५) पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रावरुण्यः=चितकबरे, थोड़े चितकबरे एवं सब ओर से चितकबरे वे ये तीनों गौ-बकरी आदि स्त्री पशु मित्र वरुण गुण वाले हैं।

ये सब अनुसन्धान के प्रकार बताते हैं कि रंग भेद से गुणधर्म भेद होते हैं। इस प्रकार से भी उनका अनुसन्धान होना चाहिए इसी प्रकार रंग भेद से बहुत से पशुओं के बारे में गुणों का वर्णन है। निम्न मन्त्र में बाल भेद से भी वर्णन है—

शुद्धवालः सर्वशुद्धवालो मणिवालस्त आश्विनाः। (यजु० २४।३)

स्वच्छ बाल वाला, प्रसाधित केश वाला, मणिसदृश घुंघराले बाल वाला ये सब पशु सूर्य चन्द्र के समान गुण वाले हैं। इसी प्रकार आंख-कान आदि की दृष्टि से भी गुणधर्म इसी मन्त्र में बताया है—

श्येतः श्येताक्षोऽरुणस्ते रुद्राय पशुपतये कर्णा यामा।

श्वेत रंग का, भूरी आंख वाला और अरुण वर्ण वाला ये पशुपालक रुद्र के धर्म वाले हैं। अच्छे कानों वाले पशु वायु देवता वाले हैं। इसी प्रकार निम्न मन्त्र में भी है—

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरुर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्त ऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उषस्याः॥ (यजु: अ० २४।४)

विचित्र वर्ण वाला, तिरछे चित्रवर्ण वाला, कमर पर चित्र वर्ण वाला ये सब मरुत् (किरणों) के गुण वाले हैं। शिथिलांग वाली, लाल ऊर्ण वाली श्वेत चंचल आंखों वाली ये सब पशु सरस्वती—

वाणी—गुण वाले हैं। प्लीहा (तिल्ली) सदृश कान वाला, शुंठी के समान कान वाला, सुनहरे कान वाला वे ये सब सूर्य गुण वाले हैं। काली गर्दन वाला, श्वेत कक्षा (पार्श्व) वाला, स्थूल जंघावाला वे ये इन्द्राग्नि गुण वाले हैं। स्खलित गति, अल्प गति, महागति ये सब उषा के गुण वाले हैं।

इस प्रकार से वेद ने अनेक प्रकार से पशु-पक्षियों के ज्ञान को उपलब्ध करने का ज्ञान दिया है जिसके आधार पर बहुत कुछ ज्ञानोपार्जन हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त सूक्ष्म अनुसन्धान से हो सकता है। इसके लिए विशाल पशु-पक्षी संग्रहालय और अध्ययन की आवश्यकता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं बड़े से बड़े प्राणियों का अनेक रूप से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

पशुओं का उपयोग व्यक्ति एवं समाज के लिए आवश्यक है। खाद्य, परिवहन एवं यातायात की पूर्ति पशुओं से होती है इसके लिए वेद कहता है—

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः। (यजु० २२।२२)

अर्थात् हमारे राष्ट्र में उत्तम दूध देने वाली गौवें हों। भार वहन करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाले शक्तिशाली बैल हों। शीघ्रगामी घोड़े अथवा तत्सदृश यन्त्राश्व यातायात की आवश्यकता की पूर्ति करने वाले हों।

पशु रक्षण आवश्यक है अतः उनके पालन एवं उनके उपयोग की कला का ज्ञान भी आवश्यक है। इसलिए वेद ने इनके पालने वाले व्यक्तियों एवं उनके लाभ का संकेत निम्न मन्त्र में किया है—

अर्मेभ्यो हस्तिपं, जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं,
वीर्यायाविपालं, तेजसेऽजपालम्। (यजु० अ० ३०।११)

गम्भीर गति के लिए हस्तिपालक को, वेगपूर्वक गति के लिए अश्वपालक को, पुष्टि के लिए गोपालक को, वीर्य के लिए भेड़ रक्षक को, तेज के लिए बकरी पालक को जानें या नियुक्त करें।

पशु-पक्षी आदि परमात्मा ने सृष्टि के उपकार के लिए बनाये हैं। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो इनका अनेक प्रकार से उपयोग ले सकता है। शेर, व्याघ्र, चीता, रीछ आदि गौ का एक ही उपयोग ले सकते हैं कि वे उसे मार कर खा जावें। उनके पास इतनी बुद्धि नहीं है, उनके पास इतने साधन नहीं, उनके पास शान्ति और दया नहीं—वे तो अपनी भूख मिटाना ही जानते हैं। उनके लिए किसी प्राणी की उपयोगिता केवल उदर समस्या को हल करने के लिए है। अतः पुरुष को इन सब पशुओं की रक्षा करनी चाहिए। इनको पालना चाहिए और विविध प्रकार से इनका उपयोग लेकर अपनी श्रेष्ठ मानव बुद्धि का परिचय देना चाहिए। मनुष्य जब इन पशुओं को पालेगा तभी वह इनका पालक बनकर गोपाल अजपाल, अविपाल, अश्वपाल, एवं हस्तिपाल आदि नाम एवं कर्मों को सिद्ध कर सकेगा। वेद पशु-पक्षी पालन का प्रबल समर्थन करता है और इनको ईश्वर की देन समझता है जैसा कि निम्न मन्त्र में प्रतिपादित है—

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्॥ (अथर्व० १६।३१।५)

द्विपाद और चतुष्पाद पशुओं से तथा जो धान्य हैं उससे पुष्टि को मैं स्वीकार करता हूं। पशुओं का दूध तथा ओषधियों का रस मुझे सबके उत्पादक ज्ञानपति ईश्वर ने दिया है।

वेद में अनेक पशु पक्षियों के नाम आये हैं जिनमें से कतिपय निम्न हैं :—

१. अश्व
२. मेढा
३. मेढी
४. नील गाय
५. ककर
६. विककर
७. शिशुमार
८. मंडूक
९. मछली
१०. कुलीपय
११. नक्र
१२. शशा
१३. कश (मूषक)
१४. नकुल
१५. मृग
१६. कृष्णमृग
१७. न्यूकूं मृग
१८. चकत्तेवाला मृग
१९. कुरंग मृग
२०. परस्वान्मृग
२१. गौरमृग
२२. जंगली भैंसा
२३. ऊंट
२४. नरहस्ती
२५. प्लुषी
२६. वानर
२७. व्याघ्र
२८. ऋषभ
२९. किन्नर
३०. सिंह
३१. विडाल
३२. कंकु
३३. लाल सांप
३४. बकरा, बकरी
३५. अवि (भेड़, भेड़ी)
३६. गौ, बैल
३७. शृगाल
३८. भेड़िया
३९. अजगर
४०. कछुआ
४१. गोहा
४२ मगर
४३. भालू
४४. लोपाश
४५. जतू
४६. सुषीलका
४७. जहका (विषधर सर्प)
४८. मान्थाल
४९. घृणीवान्
५०. चमर गाय
५१. रुरु मृग
५२. गैंडा
५३. गधा
५४. सूकर
५५. गिरगिट
५६. पिप्पिका
५७. गौरैया
५८. तीतर
५९. बटेर
६०. हंस
६१. बक
६२. सारस
६३. जल काक
६४. चक्रवाक
६५. कुक्कुट
६६. उल्लू
६७. नीलकंठ
६८. मयूर
६९. कबूतर
७०. लवा
७१. कौलिक
७२. गोषाद
७३. कुलीक
७४. पारुष्ण
७५. सीचापू
७६. जतू
७७. काला काक
७८. क्रौंच
७९. मच्छर
८०. भ्रमर
८१. श्येन
८२. नीलंगु
८३. कोयल
८४. कर्कटक
८५. रोहित
८६. कुंडूणाची
८७. शकुनि
८८. पिट्ठ
८९. कवकट
९०. बगुली
९१. शार्ग
९२. सृज
९३. शयाण्डक
९४. मैना
९५. सेही
९६. शुक (तोता)
९७. गरुड़
९८. आति
९९. खुटबढ़ई
१००. पैंगराज
१०१. अलज
१०२. प्लव
१०३. मद्गु

उपरोक्त नामों में बहुत से नाम हमने वैदिक न लिखकर लौकिक नाम ही लिख दिये हैं। वेद में उनके नाम लोक से पृथक् ही हैं।

वैदिक कृषि-विज्ञान

मानव समाज के लिए आहार अनिवार्य है। अपनी आवश्यकतानुसार समाज को अपने खाद्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। पृथिवी से अन्न, फल, कन्दादि की उत्पत्ति करना कृषि कर्म है। कृषि विद्या की कुशलता से उत्तम उत्पत्ति, अधिक उत्पत्ति तथा ऐच्छिक उत्पत्ति की जा सकती है। वेद ने कहा—

भूमिरावपनं महत्। (यजु० २३।४६)

बोने का—कृषि का—महान् स्थान भूमि ही है। भूमि पर ही कृषि करने से खाद्य समस्या का हल होगा। आज खाद्य समस्या को अनेक प्रकार से उलझाया जा रहा है। हमें कहा जाता है कि तालाब बनाकर उनमें मछलियाँ पालो और खाद्य समस्या हल करो। हमें सिखाया जाता है कि मुर्गी पालकर अन्न की समस्या हल करो। परन्तु गौएं पाल कर अन्न की समस्या हल करने का प्रचार नहीं होता। गोसदन हमारे देश में उतने नहीं खोले गये हैं जितने मुर्गी पालने एवं मत्स्य पालने के केन्द्र बनाये गये हैं और न गोसदनों के लिए उतना प्रोत्साहन ही दिया जाता है। अतः वेद का आदेश है कि इस भूमि को कृषिपूर्ण बनाओ। कृषि के लिए गौ एवं बैलों की आवश्यकता है। उनका रक्षण, पालन एवं संवर्धन जो देश करेगा वह समृद्ध होगा—ऐश्वर्यशाली होगा। जिस देश की गौएं दुबली, पतली, बीमार होंगी उस देश में अन्न-दूध कहां से होगा। गोसेवा से पृथिवी पुष्ट होती है। उसके गोबर एवं मूत्र से पृथिवी की पुष्टि होती है। शक्ति प्राप्त होती है। उत्तम खाद प्राप्त होता है। दूध, दही, मक्खन, घृत आदि उत्तम, पौष्टिक पदार्थ प्राप्त होते हैं और उत्तम बैल भी कृषि के लिए प्राप्त होते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी की प्राप्ति गोसेवा से होती है।

पृथिवी भी गौ है। उसकी सेवा से धर्म, अर्थ और काम सिद्ध होते हैं और मोक्ष भी मिलता है। अतः—'भूमिरावपनं महत्'—यह वेद वाक्य बताता है कि इस भूमि में – इस भूमि पर अपने पुरुषार्थ का वपन करें—पूर्ण पुरुषार्थ इसमें करें। वेद कहता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या……

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ (यजु: ९।२२)

हे भूमि माता! तुझे प्रणाम हो—हे भूमि माता! तुझे शतशः वन्दन है। तुझे कृषि के लिए हम स्वीकार करते हैं। तुझे अपनी रक्षा के लिए ग्रहण करते हैं। तुझे ऐश्वर्य के लिए हम चाहते हैं और तुझे अपने पोषण के लिए माता के तुल्य वन्दनीय समझते हैं।

परमात्मा ने हमें कृषि के लिए उत्पन्न किया है। अतः हम सब इस पृथिवी पर—

पुसस्याः कृषीस्कृधि। (यजु: ४।१०)

उत्तम अन्नों की कृषि करें एवं करावें। क्योंकि खराब अन्न की उत्पत्ति का समाज के जीवन पर खराब ही प्रभाव पड़ता है। 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'—अन्न प्राणियों का जीवन है--प्राण है। 'अन्नं प्राणस्य षड्विंशः'—अन्न हमारे प्राण का २६वां भाग बनता है। अतः यदि हम खराब—दूषित या मलिन अन्न का सेवन करेंगे तो उसका प्रभाव हमारे जीवन पर अनिवार्य रूप से खराब ही पड़ेगा। जिस प्रकार विषयुक्त अन्न के सेवन से शरीर विषाक्त हो जाता है और जीवन की हानि होती है उसी प्रकार दूषित अन्न के सेवन करने से समाज के व्यक्तियों के शरीर एवं मन के संस्कार भी दूषित हो जाते हैं। बुद्धि भी दूषित हो जाती है। अतः कृषि के कार्य को उत्तम रीति से एवं सुसंस्कारपूर्वक करना चाहिए।

सुसंस्कृत कृषि के लिए वेद ने कई उपाय बताये। उनमें से प्रथम उपाय कृषि के साथ यज्ञ का उपयोग है। वेद कहता है—

कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु : १८। ९)

अर्थात् कृषि के लिए भूमि को उपयोगी बनाते समय यज्ञ का प्रयोग करो। पृथिवी समर्थ एवं शक्तिशाली बनेगी। पृथिवी की उत्पादन सामर्थ्य को बढ़ाने के लिए यज्ञ करो—पृथिवी से बहुत अधिक उत्पत्ति होगी। असमर्थ पृथिवी को समर्थ बनाने के लिए यज्ञ करो—पृथिवी उर्वरा बन जावेगी। इसलिए वेद ने कहा—

पृथिवी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८। २२)

मेरी भूमि माता यज्ञ से समर्थ बने। बिना यज्ञ के उसको जीवन प्राप्त नहीं होगा। यज्ञ के द्वारा तत्त्वों एवं द्रव्यों को शक्ति सम्पन्न किया जाता है। इसलिए वेद कहता है—

वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु : १८। ९)

इस पृथिवी पर हम कृषि करते हैं उसके लिए वृष्टि भी यज्ञ के द्वारा समर्थ बनी हुई प्राप्त होनी चाहिए। कृषि के लिए जो जल वृष्टि से प्राप्त हो वह यज्ञ से सुसंस्कृत हो और उसी वृष्टि जल से पूर्ण नदी, तालाब, कूवे, बावड़ी, झीलें भी हों जिससे वृक्ष, वनस्पतियों को सदा यज्ञ का जल प्राप्त होता रहे। इन वृक्ष वनस्पतियों को जो वायु प्राप्त हो वह भी यज्ञ द्वारा सुसंस्कृत हो। जैसा कि निम्न मन्त्र में प्रकट किया है—

मरुतश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८।१७)

वायु भी यज्ञ के द्वारा समर्थ हो। यज्ञ के द्वारा वृष्टि, वायु और भूमि के समर्थ होने पर—

वाजश्च मे प्रसवश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८।१७)

मेरा अन्न और मेरी पृथिवी से उत्पन्न होने वाला ऐश्वर्य यज्ञ के द्वारा सम्पन्न एवं समर्थ हो। इस प्रकार कृषि के सारे प्रयत्नों को यज्ञ के द्वारा समर्थ बनाने का वेद उपदेश करता है। परमात्मा का तो आदेश है कि उत्तम सुगन्धित, पौष्टिक, रोगनाशक द्रव्यों के द्वारा कृषि करो।

परन्तु आज के मानव ने विज्ञान के नाम पर, शिक्षा और विकास के नाम पर पृथिवी की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिए उसको मल-मूत्र एवं गन्दे जल से संश्लिष्ट कर दिया। मल का खाद, मल का जल और मल की दुर्गन्धयुक्त वायु में परिपालित अन्न, फल, कन्दादि में जो रस एवं प्राणशक्ति होगी वह भी मलिन ही होगी।

वैदिक विज्ञान इस दिशा में जो महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रदर्शन करता है वह सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु वैदिक

शिक्षा-दीक्षा से अनभिज्ञ होने के कारण वर्त्तमान विज्ञान हमें मलजन्य अन्न-रस को खाने को वाध्य कर रहा है। आज नवीनतावाद के नाम पर प्राचीन श्रेष्ठ मान्यता एवं व्यवहार को जनसमाज त्यागता जा रहा है।

यज्ञ से दुर्गन्धि का नाश होने से वायु पवित्र होता है। यज्ञ में उत्तमोत्तम पुष्टिकारक, आरोग्य-वर्धक ओषधियों की हवि प्रदान करके उनको अन्तरिक्ष में फैलाया जाता है जिससे वर्षा का जल आरोग्य-वर्धक, प्राणप्रद और पुष्टिकारक हो जाता है। वह जल पुनः पृथिवी पर बर्षने पर कृषि को प्राप्त होता है। यज्ञ की भस्म के द्वारा उत्तमोत्तम ओषधियों का क्षार तत्त्व पृथिवी को प्राप्त होता है। इस प्रकार यज्ञ द्वारा पृथिवी, जल और वायु का उत्तम रीति से निर्माण होने पर उस स्थिति में कृषि का उत्तम फल होता है।

फरवरी सन् १९६४ में चेम्बूर-बम्बई में श्री गण्डाराम जी मेहता ने अपनी कोठी पर एक सप्ताह का यज्ञ कराया था। उनकी कोठी में कई आम के वृक्ष लगे थे। पंजाबी किस्म के आमों की पौधें भी लगाई थीं। उनके लिए कहा जाता है कि वे पौध बम्बई की हवा-पानी में फल नहीं देते। १९६३ तक उनके बगीचे में किसी आम में फल नहीं आये थे।

१९६४ की फरवरी में आमों में बौर आया हुआ था। उस समय यज्ञ का धूम्र उनको खूब प्राप्त हुआ। उस वर्ष उनमें खूब आम लगे और अत्यन्त मीठे आम लगे। इससे पूर्व भी फल उन वृक्षों ने नहीं दिये थे और इसके बाद भी फल नहीं दिये। इससे ज्ञात होता है कि यज्ञ का कृषि पर उत्तम प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार और भी अनेक अनुभव यज्ञ के कृषि सम्बन्धी हैं। सुसंस्कृत पृथिवी, सुसंस्कृत जल और सुसंस्कृत वायु में उत्पन्न एवं परिपालित कृषि समाज के व्यक्तियों के भौतिक जीवन के लिए तो श्रेष्ठ होगी ही, अपितु उनके मन, बुद्धि को भी उत्तम एवं बलवान् बनाने में भी सक्षम होगी। देश का शारीरिक एवं बौद्धिक विकास कृषि को यज्ञ के साथ संयुक्त करने से बड़ी सरलता से हो सकता है। यज्ञ हवन द्वारा कृषि को अनेक रोगों से भी मुक्त किया जा सकता है और शीतादि से भी सुरक्षित किया जा सकता है। जब-जब आवश्यकता हो तब तब यज्ञ द्वारा वृष्टि कराकर एवं वृष्टि की आवश्यकता न हो तब यज्ञ द्वारा वृष्टि को रोककर कृषि की रक्षा एवं सिंचाई की समुचित व्यवस्था की जा सकती है।

उपरोक्त लाभ कृषि को यज्ञ से होने के अतिरिक्त बहुत से अन्य भी लाभ यज्ञ हवन से होते हैं। परन्तु यज्ञ से एक और विशेष लाभ ध्वनि का भी है। वेद मन्त्रों की रचना छन्द एवं स्वरों में है। छन्द और स्वर मिलकर संगीत का वातावरण निर्माण करते हैं। संगीतमय वातावरण का प्रभाव अद्भुत होता है।

दिन के पृथक्-पृथक् समय में एवं ऋतुओं के अनुसार रागों का क्रम बदलता रहता है। रागों के बदलने से स्वरों का क्रम भी बदलता रहता है। जिस समय एवं जिस ऋतु का जो स्वर एवं राग होता है, उसी समय एवं ऋतु के अनुसार यदि संगीत होगा तो वह समय के अनुकूल होने से सफल होगा और प्रकृति में आनन्द की लहरें उत्पन्न करेगा।

जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में शीतल पवन के झकोरों से वृक्ष वनस्पतियों को आनन्द प्राप्त होता है एवं वर्षा के प्रारंभ में श्याम मेघों की घटाओं से और वर्षा की फुहारों से वृक्ष वनस्पति आनन्द मग्न हो झूम-झूम कर अट्टहास करने लगते हैं और अपने प्राण को आता हुआ देख कर आनन्द विभोर हो जाते

हैं, वैसे ही समयानुसार संगीत से भी वृक्ष-वनस्पतियों में मस्ती, आनन्द एवं जीवन का संचार होने लगता है और उनकी वृद्धि तथा फलादि की अधिकता होने लगती है। वेद कहता है:—

फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। (यजुः २२।२२)

ओषधि, अन्न, वृक्ष, लतादि अपने पाक को प्राप्त हों परन्तु वे फलवती हों। अर्थात् हमारी कृषि फलवती हो—निष्फल न हो। सफल खेती के लिए संगीत का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी होता है। अतः जैसा पूर्व कहा था —'कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' — यज्ञ की प्रक्रिया का अनेक प्रकार से लाभ कृषि के लिए लेना चाहिए। कृषकों को कृषि शिक्षण के साथ यज्ञ के प्रकार भी सिखाने चाहिएं। प्राचीन समय में वपन के लिए कृषि की भूमि का संस्कार करने के लिए, फसल के आने और पकने पर इसीलिए बड़े-बड़े यज्ञादि होते थे।

वाणी का कृषि के साथ सम्बन्ध है इसका प्रतिपादन वेद निम्न शब्दों में कर रहा है:-

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। (यजुः १८।३०)

अर्थात् विविध प्रकार के उत्तम अन्न के उत्पन्न करने के लिए हम कृषकजन इस प्रसिद्ध, उत्पत्ति के कारणभूत पृथिवी माता को—'वचसा करामहे'—वाणी से युक्त करें। सब वाणियों से श्रेष्ठ वेद वाणी ही है। अतः उसका ही प्रयोग सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु वेद वाणी के साथ यदि वेद वाणी के ही आधार पर अन्य वाणी एवं ध्वनियां हों तो उनका भी उपयोग योग्य है।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि अन्न उत्पत्ति के लिए कृषि-भूमि एवं कृषि के पौधों पर वाणी का संगीतमय अनुकूल ध्वनियों के साथ प्रयोग अवश्य करना चाहिए। जहां कृषि के लिए उत्तम खाद की आवश्यकता है वहां उसके लिए संगीत का खाद भी बहुत उपयोगी है।

कृषि के लिए वायु और अग्नियों की आवश्यकता

कृषि के लिए यज्ञ की हवि के द्वारा वायु और आदित्य को अनुकूल बनाया जाता है। वेद में कहा है —

शुनासीरा हविषा तोषमाना। (यजुः १२।६९)

यज्ञ में प्रयुक्त हवि द्वारा अथवा पृथिवी, जल, वायु एवं सूर्य की ऊष्मा के माध्यम से विविध प्रकार के अनुकूल द्रव्यों का प्रयोग करके वायु और सूर्य रश्मियों को हम अपने अनुकूल बनावें। अग्नि के माध्यम से जो हवि रूप खाद प्रयुक्त किये जाते हैं वे पृथिवी, जल, वायु और सूर्य रश्मियों के माध्यम से सर्वत्र प्रसारित हो जाता है। उस अवस्था में थोड़े और कम खर्च तथा कम परिश्रम से बहुत अधिक लाभ हो सकता है। अतः वेद ने—'शुनासीरा हविषा तोषमाना'— कह कर वायु और अग्नि को भी कृषि योग्य बनाने का उपदेश दिया है।

कृषि के लिए—उसकी उत्पत्ति, रक्षण और परिपाक के लिए वायु और अग्नियों का यथोचित मात्रा में सम्पर्क आवश्यक है। अग्नि अर्थात् ऊष्मा, ताप आदि की न्यूनता से कृषि में अपरिपक्वता रहती है। अतः विविध प्रकार की अग्नियाँ विविध समय के अनुसार कृषि के लिए अपेक्षित हैं। इसी प्रकार वायु भी अपेक्षित है। परन्तु यदि वह प्रतिकूल हो जावे तो कृषि को बड़ी भारी क्षति हो जाती है। अतः अग्नि और वायु की विविध शक्ति एवं गतियों पर अपना नियन्त्रण कृषि कर्म के साथ जानना आवश्यक है। इस बारे में वेद उपदेश कर रहा है—

विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती, विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा अवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ।। (यजुः १८।३१)

अर्थात् कृषि कर्म में प्रवर्त्तमान हम कृषकों के लिए—'अद्य विश्वे मरुतः'—आज सब प्रकार के—विविध प्रकार के – पवन, वायु और —'विश्वे समिद्धाः अग्नयः'—विविध प्रकार की प्रदीप्त की जाने वाली अग्नियां एवं सूर्य की रश्मियां—'नः विश्वे ऊती भवन्तु'—वे हमारे लिए सब प्रकार से – हमारे अनुकूल रक्षादि के साथ हों। अर्थात् हम वायु और अग्नि को कृषि के उपयोग के लिए अपनी नियन्त्रण व्यवस्था में रखें।

मन्त्र के उत्तरार्ध भाग में कृषि विद्या-विज्ञान में पारंगत सब विद्वानों से प्रार्थना है कि वे हमारे कृषि क्षेत्र पर – "अवसागमन्तु"— कृषि रक्षण आदि साधनों के साथ आवें। अर्थात् कृषि का अच्छी प्रकार समय-समय पर कृषि विशेषज्ञों से निरीक्षण करा कर उसकी अच्छी प्रकार रक्षा करना आवश्यक है। क्योंकि हमारा जीवन और विश्व का जीवन अन्न पर ही निर्भर है। वही सब धनों का धन है—'विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे'— हम लोगों के लिए अन्न सब धनों का धन है।

निःसंदेह धनों में अन्न धन की ही प्रधानता है। इसीलिए वेद ने कहा –

अन्नं ँ साम्राज्यानामधिपतिः ।

अन्न साम्राज्यों का भी अधिपति है। समस्त राज्यों में अन्न के विनियोग से इसके आदान प्रदान से हम अपना प्रभाव अन्य राष्ट्रों पर अनेक प्रकार से स्थापित कर सकते हैं।

अन्न-धन प्राप्ति का भी साधन है और राज्य का भी

अन्न के आदान-प्रदान से धन का विभाजन क्रय-विक्रय द्वारा होता है। जिसके पास अन्न अधिक होगा वह उतना ही अधिक धन को भी प्राप्त कर सकेगा। इसलिए वेद उपदेश देता है —

सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् । (यजुः १८।३४)

मैं सब दिशाओं में कृषि करके अन्नपति होऊं और फिर—

सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् । (यजुः १८।३२)

मैं अन्नपति होकर सब दिशाओं में चारों ओर दूर-दूर देशान्तरों तक व्यापार करके व्यापार क्षेत्रों को जीतूं। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों को भी प्रभावित करके उन पर अपनी विजय-पताका फहराऊं।

वेद इस प्रकार अन्न के महत्त्व को राजनीतिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि विविध स्तरों पर भी बताता है। अन्न से धन प्राप्ति तो होती ही है। जैसा कि—

वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु । (यजुः १८।३२)

अर्थात् अन्न हमारे लिए सब समाज के साथ इस लोक में धन के विभाग करने के लिए हमें प्राप्त हो। अन्न के आदान-प्रदान से धन का विनिमय चक्र रूप में एक से दूसरे के पास चलता रहता है। 'धन-सातौ'– शब्द अन्न के द्वारा धन के विभाग, विभाजन, आदान-प्रदान रूप विभाजन एवं प्राप्ति का उपदेश कर रहा है।

भूमि की–कृषि के लिए प्रथम आवश्यकता

कृषि के लिए पहली आवश्यकता भूमि की है। विना भूमि के कृषि कहां हो। अतः वेद के वाज-प्रसवीय सूक्त का प्रथम मन्त्र उपदेश कर रहा है—

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ।। (यजुः १८।३०)

कृषि के लिए, विविध प्रकार के अन्नों के उत्पादन के लिए निश्चय से कारणरूपा, माता भूमि को हम वाणी से युक्त करें। जिस पृथिवी में यह प्रत्यक्ष समस्त स्थूल जगत् व्याप्त है उस पृथिवी में समस्त ऐश्वर्ययुक्त शुद्ध स्वरूप ईश्वर तथा सविता देव हमारे उत्तम कृषि रूप धर्म कर्म को उत्पन्न करें।

अर्थात् भूमि को अपने वाणी के अधिकार क्षेत्र में करना चाहिए। जिस भूमि के लिए हमारी वाणी यह अधिकार से कह सके कि मेरी है—मैं इसपर कृषि करूंगा, इस प्रकार पृथक्-पृथक् स्थानों पर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य को देखकर कहने और पुरुषार्थ करने वाले होने चाहिएँ। उनके ही उत्साह, अहंकार एवं पुरुषार्थ के आधार पर इस पृथिवी पर परमात्मा की अनुकम्पा से पुरुषार्थ रूपी कृषि कर्म से उत्पत्ति होती है।

कृषि के लिए दूसरी आवश्यकता—सूर्य किरणों की—

कृषि के लिए सूर्य की किरणों की, धूप की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस भूमि पर सूर्य की किरणें एवं उसकी किरणों का प्रकाश और ऊष्मा नहीं पहुंचती है तो शीत के प्रभाव से बचाने के लिए एवं अन्य प्रकार से उष्णता देने की व्यवस्था करनी पड़ती है। अतः पूर्वोक्त मन्त्र की दूसरी पंक्ति में—'तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्'—के द्वारा पृथिवी के लिए उत्पत्ति धर्म बनाने के लिए सविता—समस्त ऐश्वर्यों का उत्पत्तिकर्त्ता सूर्य का भी उल्लेख किया। अर्थात् भूमि हो और वह भी ऐसी भूमि जिस पर सविता देव, सूर्य की रश्मियां अपना अनुग्रह करती हों ऐसी होनी चाहिए। इसी बात को इस सूक्त के दूसरे मन्त्र में—'विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः'—(यजुः० १८।३१) समस्त प्रकार की अग्नियों एवं सूर्य रश्मियों के प्रदीप्त होने को बताया है।

कृषि के लिए तीसरी आवश्यकता—वायु की

जिस प्रकार से कृषि के लिए भूमि और सूर्य की आवश्यकता है उसी प्रकार से इन दोनों के होने पर कृषि के लिए वायु की भी आवश्यकता है। वायु के बिना कृषि का जीवन, उत्पत्ति, वृद्धि आदि कुछ नहीं हो सकता। इसलिए इस सूक्त का दूसरा मन्त्र वायु का—'विश्वे अद्य मरुतः' (यजुः० १८।३१) इन शब्दों के साथ समस्त वायुओं का प्रतिपादक है।

कृषि के लिए चौथी आवश्यकता—रक्षण की

कृषि का रक्षण न हो तो कृषि नष्ट हो जाती है। अतः वेद कहता है—'विश्वे नो देवा अवसागमन्तु' (यजुः० १८।३१) कृषि-विद्या में पारंगत जन अपने रक्षा साधनों के साथ क्षेत्र की कृषि के रक्षण के लिए आयें—इस प्रकार रक्षा के वैज्ञानिक साधनों के ज्ञाताओं के आगमन की कामना मन्त्र में है।

कृषि के लिए पांचवीं आवश्यकता—फलवती होना

फल न देने वाली कृषि के लिए कोई क्यों परिश्रम करे। जिस परिश्रम का परिणाम कुछ न हो वह निरर्थक है अतः वेद ने उसी मन्त्र में—'विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे' (यजुः अ०१८। मं०३१)—कृषि के द्वारा हम लोगों के लिए संसार के सब प्रकार के ऐश्वर्य हों। इसका उल्लेख किया। यदि कृषि फलवती न होगी तो उस से ऐश्वर्यों की प्राप्ति कैसे होगी। अतः वेद ने कृषि के लिए पांचवीं आवश्यकता फलवती होना बताया।

कृषि के लिए छठी आवश्यकता—जलों की

कृषि के लिए जल की अत्यन्त आवश्यकता है। विना जल के कृषि संभव नहीं है अतः वेद ने कहा—

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्‌भिरोषधीभिः।
सोऽहं वाज ँ् सनेयमग्ने ।। (यजुः० १८।३५)

१. सं मा सृजामि पयसा पृथिव्या— पृथिवीस्थ जलों से मैं अपने क्षेत्र को अच्छी प्रकार संसृष्ट करता हूं—सींचता हूं।

२. सं मा सृजाम्यद्‌भिरोषधीभिः— जलों और ओषधियों के रस से मैं अपनी कृषि भूमि को एवं कृषि की विशेष उन्नति के लिए संयुक्त करता हूं।

३. सोऽहं वाज ँ् सनेयमग्ने— इस प्रकार उत्तम जलों, रसों से सिंचित कृषि से उत्पन्न अन्नादि जो बल विशेष देने वाले बनेंगे उनको मैं सेवन करके बलवान् बनूं।

कृषि के लिए सातवीं आवश्यकता खाद की—

पूर्व मन्त्र में—'सं मा सृजाम्यद्‌भिरोषधीभिः' कहा है। अर्थात् मैं अपनी कृषि को विशिष्ट द्रवों और ओषधियों से संसृष्ट करता हूं। ओषधि वृक्ष वनस्पतियों से निर्मित खाद एवं द्रव पदार्थों का कृषि के लिए उपयोग करने से अन्न बलवान् एवं शक्तिवान् होता है। अतः वेद ने उसका प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार वेद ने कृषि के लिए १. भूमि, २. सूर्यताप, ३. वायु, ४. रक्षण, ५. फलवती होना, ६. जल एवं ७. खाद इनका उपयोग बताया।

कृषि के लिए भूमि की तैयारी

कृषि के लिए भूमि को अनेक प्रकार से तैयार करना पड़ता है। इस बारे में पूर्व मन्त्र ने स्पष्ट कहा कि पार्थिव जलों के साथ अपने परिश्रम को मिश्रित करके पृथिवी को कृषि योग्य बनाता हूं। जिन जलों को पृथिवी के साथ अत्यन्त परिश्रमपूर्वक मिलाता हूं, उन जलों के साथ अनेक प्रकार की ओषधियों को—खादादि को—अपने परिश्रमपूर्वक मिलाता हूं। इस प्रणाली से हम सब उत्तम अन्न को सेवन कर सकने में समर्थ होते हैं।

इस—'सं मा सृजामि०—मन्त्र में' मा' शब्द अपने से, अपने परिश्रम से, अपने अधिकार भूमि आदि सभी से सम्बन्धित है। अतः जहां जिस और जितने अर्थ की आवश्यकता हो उसको ग्रहण करना चाहिए। इसलिए प्रयोजन भेद से एक ही मन्त्र के अर्थ-भेद हो जाते हैं।

पूर्व मन्त्र का तात्पर्य यह है कि पृथिवी और जल दोनों को अनेक उपयोगी मिश्रणों के साथ अपने परिश्रम का उसमें मिश्रण करके भूमि की तैयारी होती है। उस भूमि में कृषि करने से उत्तम अन्न सेवन के लिए प्राप्त होता है। भूमि तैयार करना भी कृषि की एक कला है।

कृषि विद्वान् जन करें—

वर्तमान समय में कृषि कर्म को निकृष्ट समझते हैं। परन्तु कृषि कर्म उत्तम विद्वान् लोगों के द्वारा होने पर सुख की विशेष वृद्धि होती है ऐसा वेद प्रतिपादन कर रहा है—

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया ।। (यजुः० १२।६७)

अर्थात् हे मनुष्यो! जैसे ध्यानशील, बुद्धिमान् लोग हलों और जुवा आदि को युक्त करते हैं और सुख के साथ विद्वानों में पृथक् विशेषताओं को प्राप्त करते हैं और कृषि का उत्तम रीति से विस्तार करते हैं उसी प्रकार सब लोग इस कृषि कार्य को करें। अर्थात् कृषि कर्म में हल चलाने की क्रिया रूढ़िवादी प्रथाओं पर नहीं करनी चाहिए अपितु विद्या और विज्ञान के आश्रित नवीन-नवीन

लाभकारी प्रकारों से और अनेक परीक्षणपूर्वक करना चाहिए। उनके अनुसार अन्यों को उन उपायों को अनुकरण कराना चाहिए। इसका इस मन्त्र में उपदेश है। इसी प्रकार वेद में अन्य स्थान पर भी—

सीरं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।७)

मेरा भूमि में हल चलाने का कार्य यज्ञेन=विद्वानों की सत्संगति, उनके उपदेश, निर्देशन, निरीक्षण आदिपूर्वक समर्थ बने।

कृषि के लिए हवि

पृथिवी को हलादि से तथा जल, वायु और आदित्य की हवि से सुसंस्कृत करने से उत्तम खेती होती है इसके बारे में वेद का निम्न मन्त्र है—

शुनँ सु फाला वि कृषन्तु भूमिँ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्त्तनास्मै॥ (यजु० १२।६९)

१. शुनं सु फाला वि कृषन्तु भूमिम्—कृषक उत्तम फाल युक्त हलों से भूमि को अच्छी प्रकार जोतें।

२. शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः—कृषक उत्तम बैल आदि या वहन करने योग्य यन्त्रों के प्रयोग से सुख को प्राप्त हों।

३. शुनासीरा हविषा तोशमाना—शुद्ध किये घृतादि से सन्तोषकारक वायु और सूर्य एवं उनके समान खेती के साधन—

४. सुपिप्पला ओषधीः कर्त्तनास्मै—हमारे लिए सुन्दर फलों से युक्त जो आदि अन्न की उत्पत्ति करने वाली हो और उनका सुखपूर्वक भोग करें।

इस मन्त्र में कृषि के लिए वायु एवं सूर्य के ताप को कृषि के अनुकूल बनाने के लिए हवियों का प्रयोग करने का उल्लेख है। अतः ज्ञात होता हैं कि ऐसी भी हवियां हो सकती हैं जिनको अग्नि में प्रयुक्त करके वायु और सूर्य रश्मियों को अपने अनुकूल कर सकते हैं।

हमने कतिपय द्रव्यों का अन्वेषण किया है जो वायु की गति बढ़ाने या उसके स्तम्भन में सहायक हों। और ऐसे भी द्रव्यों का अन्वेषण किया है जिनकी अग्नि में हवि देने से वातावरण में उष्णता की वृद्धि या उष्णता की न्यूनता हो। यह वायु मण्डल में तापमान की न्यूनता एवं वृद्धि का कार्य जिसे वेद ने बताया है, कृषि के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

कृषि के लिए घृत एवं मधु प्रयोग

कृषि की भूमि सुधार के लिए वेद ने एक और महत्त्वपूर्ण घोषणा की है। आधुनिक समय में विज्ञान अपने को गर्व से ऊंचा कहता है। उसने हमारे अन्न को मल के साथ संयुक्त करके हमारे अन्न को दूषित कर दिया। वायु को अनेक प्रकार के विषाक्त धूम्रों से परिपूर्ण करके हमारे शरीर में अनेक प्रकार के विषों का प्रवेश करा दिया। परन्तु वेद कृषि के लिए कितना उत्तम उपदेश कर रहा है—

मधुमतीर्न इषस्कृधि। (यजुः ७।२)

अर्थात् हमारे अन्नादि पदार्थों को मधुरादि गुण सहित कीजिये। इस प्रकार के अन्न को बनाने के लिए वेद ने कहा—

लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८।७)

भूमि को जोतने के पश्चात् पटला फ़ेर कर जो सब को एक लय में करना होता है वह यज्ञ के द्वारा हो। यज्ञ में जो उत्तम पदार्थ पड़ते हैं उनसे यदि पटले को सिक्त करके लय क्रिया करेंगे तो—'लयश्च

मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' सार्थक एवं क्रियामय हो जायेगा।

इस क्रिया को वेद का निम्न मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट रूप में कह रहा है---

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानाऽस्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व ॥ (यजुः १२।७०)

कृषि के बीज बोने के लिए जो भूमि तैयार की जाती है और हलों से जोती जाती है उसको सम करने के लिए जो पटेला चलाया जाता है उस पटेले को—'ऊर्जस्वतीः पयसा पिन्वमाना'—पराक्रम उत्पन्न करने वाले दूध अथवा पराक्रम उत्पन्न करने वाले पेय जलों से अच्छी प्रकार सींचा जावे, और-'घृतेन सीता मधुना समज्यताम्' घृत से भी सींचा जावे और शहद से भी खूब सींचा जावे।

इस प्रकार का पटेला उस कृषि भूमि पर जो हलों से अच्छी प्रकार जोती गई है उस पृथिवी पर फेरा जावे जिससे भूमि का एक-एक कण दूध, घृत, शहद आदि के परमाणुओं की रगड़ से बलशाली, तेजस्वी और मधुर हो जावे। उस पटेले को बार-बार इन पूर्वोक्त पदार्थों के मिश्रित जल से सिक्त कर फेरना चाहिए। इस प्रकार से सुसंस्कृत जो भूमि होगी, उसमें जो उत्पत्ति होगी वह कितनी उत्तम होगी? अतः वर्तमान समय की खेती में जो मल के प्रयोग की प्रणाली है वह त्याज्य है।

भूमि में बीज बोने का प्रकार

उपरोक्त प्रकार से तैयार भूमि में बीज बोने के लिए भी वेद विशेष प्रकार की विधि बताता है। वह उपदेश करता है कि—

सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन। (यजुः १।२१)

मैं धान्यों को अच्छी प्रकार बोता हूं। ओषधियों के जलों के साथ बोता हूं और ओषधियों के रसों के साथ बोता हूं। और उस बोयी हुई कृषि में—

सꣳ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्। (यजुः १।२१)

उत्तम ओषधियों से निष्पन्न विशिष्ट गुण वाले जल सम्पृक्त हों और परिपूर्ण मधुर रस से युक्त ओषधियों से निष्पन्न मधुर रस से वह कृषि संपृक्त हो। अर्थात् धान्यों को बोने के बाद विविध प्रकार की ओषधि एवं खनिज द्रव्यों के जलों से भूमि को सिक्त करना चाहिए तथा ऐसे उत्तम रस एवं जलों के साथ बीजों को भिगोकर बोना चाहिए।

जिस प्रकार से गौ, बकरी आदि को जैसा आहार दिया जाता है उसका प्रमाण उसके दूध में आता है और उन पदार्थों की गंध भी उनके दूध में आती है उसी प्रकार जिस प्रकार की ओषधियों के रसों के साथ बीजों को बोया जायेगा उसमें उसके गुण भी आवेंगे। इस प्रक्रिया से एक ही प्रकार के अन्न को विविध प्रकार के गुणों से संयुक्त किया जा सकता है।

आचार्य चाणक्य ने वेद शास्त्रादि का अध्ययन करके कृषि निमित्त वपन करने के बीजों को संस्कारित करने का वैदिक प्रकार यह बताया कि एक घड़े में जल भर दिया जावे और उसमें स्वर्ण पत्र डाल दिया जावे। उस जल में २४ घंटे बीजों को पड़ा रहने दिया जावे। तत्पश्चात् सुसंस्कृत भूमि में उन बीजों को बोना चाहिए। इस प्रकार जो बीजों का स्वर्ण जल के साथ संस्कार होगा यह बहुत उत्तम होगा।

इस प्रकार वैदिक आदेशानुसार बीजों को संस्कारित करने एवं भूमि को संस्कारित करने के

जो प्रकार हैं वे वर्तमान वैज्ञानिक जगत् के प्रकारों से सहस्त्रों गुना उत्तम हैं। स्वर्ण के संयोग से बीज के अन्दर स्वर्ण के गुणों का संस्कार पड़ता है। स्वर्ण जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वेद कहता है—

आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषमौद्‌भिदम्।
इदꣳ हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादुमाम्॥ (यजुः ३४।५०)

स्वर्ण आयु देने वाला है। तेज देने वाला है। ऐश्वर्य का पोषक है। वनस्पति सम्बन्धी है तथा दुःखों का उद्‌भेदक भी है। ब्रह्मचर्य, तेज, शक्ति आदि की वृद्धि करने वाला है अतः यह मुझमें प्रवेश करे।

इस प्रकार स्वर्ण के गुणों के ज्ञात होने पर कृषि के माध्यम से स्वर्ण जलों में बीजों को भावित करने का प्रकार अत्युत्तम प्रमाणित हो जाता है और उससे उत्पन्न कृषि का हमारे जीवन पर कितना उत्तम प्रभाव पड़ेगा यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार वेद स्वर्ण के प्रभाव के बारे में पुनः उपदेश करता है—

यो बिभर्त्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते
दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥ (यजुः ३४।५१)

जो व्यक्ति स्वर्ण को अलंकार-आभूषणादि रूप से भी धारण करता है वह विद्वानों में तथा सर्वसाधारण जनों में अपनी आयु की वृद्धि ही करता है। इससे स्पष्ट है कि स्वर्णभावित कृषि भी आयु की वृद्धि करने वाली है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखने के लिए वेद ने कहा—

सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८।७)

कृषि-कर्म में मेरी उत्पादन-शक्ति, मेरी अत्युत्तम उत्पादन-शक्ति, मेरी कृषि, मेरी कृषि-कर्म में एकता सम्पादन करने की या कृषि-समाप्ति का कर्म ये सब विद्या, विज्ञान एवं युक्तिसंगत कर्म, यज्ञ-कर्म के द्वारा समर्थ हों। इस प्रकार जो कृषि होगी तब हम कह सकेंगे—

अन्नं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८।१०)

हमारा अन्न यज्ञ के द्वारा सुवासित, सुसंस्कृत, पौष्टिक, आरोग्यवर्धक, बुद्धिप्रदाता, हवियों, से निर्मित पृथिवी, जल, वायु से समर्थ बने, न कि वर्तमान दूषित मल प्रणाली से उत्पन्न होने वाला अन्न हो। इस प्रकार अनेक अन्नों की उत्पत्ति की जा सकती है। वेद में अनेक प्रकार के अन्नों का नाम आता है। जिन्हें हमें याज्ञिक कृषि प्रणाली से उत्तम बनाना चाहिए और उनका उत्पादन भी अधिक करना चाहिए जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में प्रतिपादित है—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्‌गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे
श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजुः १८।१२)

मेरे चावल, और साठी के धान आदि, मेरे लिए जौ और अरहर आदि, मेरे लिए उर्द और मटर आदि, मेरे लिए तिल और नारियल, मूंगफली, अलसी, एरंडादि तेल प्रधान पदार्थ, मेरे लिए मूंग और राजमाष, चावल, मोंठ आदि, मेरे लिए चने, और उसी श्रेणी की अन्य दालें आदि, मेरे लिए कंगुनी और तत्सदृश अन्न सूक्ष्मचावल और समा, महुआ, पटेरा, चेना आदि छोटे अन्न, मेरे पसाई के चावल और जो विना बोये उत्पन्न होते हैं, उस श्रेणी के सब प्रकार के चावल, मेरे लिए गेहूं और उसके विविध भेद, मेरे लिए मसूर और इसी प्रकार के अन्य अन्न दाल आदि इनको यज्ञ की प्रक्रिया से उत्पन्न करें और उनकी यथोचित पाक करने की विधि जानें।

इस प्रकार वेद अनेक प्रकार के अन्नों को, भोज्य तत्त्वों को उत्पन्न करने का आदेश देता है और कहता है—

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः। (यजु० ११। ८३)

हे अन्न के स्वामी हमारे लिए बल प्रदान करने वाले, रोग रहित अन्न को दीजिये। इससे स्पष्ट है कि अन्न के माध्यम से भी रोगादि का हमारे में प्रवेश होता है। अतः अच्छे प्रकार अन्न की उत्पत्ति तो हो ही, परन्तु जो अन्न के संग्रहालय हैं उनके स्वामी भी, जो अन्नपति हैं वे भी उनको इस प्रकार से सुरक्षित करें कि उनका बल देने वाला भाग नष्ट न हो और उनमें रोगोत्पादक तत्त्वों का प्रवेश न हो सके।

इस प्रकार कृषि-कर्म के बारे में वेद हमें उत्तम रीति से मार्गदर्शन देता है। वेद में कृषक के लिए जिस "कीनाश" शब्द का प्रयोग हुआ है उससे ही किसान शब्द बना है। वेद में आता है—

इरायै कीनाशम्। (यजु० ३०। ११)

अन्न के लिए खेतीहर को उत्पन्न कीजिये। यहां कीनाश शब्द किसान वाचक है। इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—कुत्सितं नाशयति इति कीनाशः--जो बुरी अवस्था का नाश करता है उसको कीनाश कहते हैं। बुराई, अवनति, गिरावट, कमी, हानि आदि, प्राणादि का नाश, दुष्काल आदि का नाश अन्न की समृद्धि से होता है। अतः अन्न को उत्पन्न करनेवाला 'कीनाश' है। यही कीनाश शब्द लोक में किसान रूप में प्रचलित हो गया। किसान ही राष्ट्र के अन्दर धान्य की तथा अन्नादि की समृद्धि करके लोगों को प्राण की हानि से बचाता है और दुर्भिक्ष से बचाता है। इसलिए किसानों की स्तुति के लिए वेद कहता है—

अन्नानां पतये नमः क्षेत्राणां पतये नमः। (यजु० १६। १८)

अन्न के उत्पन्न करने वाले स्वामी--कृषक के लिए नमस्कार, सत्कार हो। खेतों के रक्षा करने वाले, खेतों के स्वामी कृषकों के लिए हमारा नमस्कार हो। वेद में अन्न के लिए निम्न शब्द आये हैं—

१. अन्न — अनति अनेन अद्यते इति वा। जिसके द्वारा जीता है वा खाया जाता है उसे अन्न कहते हैं।

२. इरा — इ—कामं राति। इच्छित, प्रशंसनीय अन्न।

३. वाज — तेजस्वी अन्न। जिस अन्न से वेग उत्पन्न होता है। पेय रूप में अन्नादि का रूप जो घृतादि मिश्रित हो और बल को प्रदान करने वाला हो वह भी वाज है।

४. अन्ध — वह अन्न जिसका नेत्रों की दृष्टि पर कुप्रभाव पड़ता है वह विशिष्ट अन्न अन्ध संज्ञक है तथा सर्वसाधारण प्रतिदिन उदर पूर्त्ति के लिए जिस अन्न का ध्यान चिन्तन करते हैं वह भी अन्ध संज्ञक अन्न है।

५. पयः — अन्न की वह स्थिति जब उसमें दूध भरा रहता है। शुष्क अन्न की पयः स्थिति नहीं है।

६. श्रवः — वह अन्न जो उत्तम श्रेणी का हो जिसकी सब प्रशंसा करें और बाजार में उसी श्रेणी के अन्नों से शीघ्र एवं अधिक धन प्राप्त करावे।

७. पृक्षः — जो प्रीतिं, प्रसन्नता, पालन, व्यापार कर्म आदि का जनक हो ऐसे अन्न को पृक्ष कहते हैं।

८. पितुः — शरीर का रक्षण करने वाले, शरीर में बलवर्धन करने वाले खाये जाने वाले, पेय रूप में प्रयोग किये जाने वाले और शरीर को बढ़ाने वाले अन्नों की संज्ञा है।

९. सुतः — अन्न का वह भाग जो विशेष रूप से छांट कर पृथक् किया गया या द्रव माध्यम से अन्न का सार निष्पन्न किया गया है वह सुतः संज्ञक एवं अन्नमात्र जो खेत से खलिहान तक की स्थिति में है और अग्राह्य छिलके एवं भुस से आवरण में है वह सुतः संज्ञक नहीं है। स्वच्छ अन्न जो विक्रयार्थ या उपयोग के लिए है वह सुतः संज्ञक है।

१०. सिनम् — प्राणियों को स्थिर करने एवं जीवन प्रदान करने वाले अन्न को सिनम् कहते हैं।

११. अवः — अन्न से संरक्षण होता है अतः उसका नाम अवः है।

२२. क्षु — अन्न के खाने की इच्छा, भूख सबको होती है अतः इसे क्षु कहते हैं।

१३. घासि — प्राणियों का धारण पोषक होने से अन्न को घासि कहते हैं।

१४. इडा — अन्न की स्तुति, प्रशंसा होती है और उससे जीवन-ज्योति प्राप्त होती है अतः अन्न को इडा कहते हैं जो प्रशंसनीय अन्न विशेष जीवन-ज्योति को देवे वह भी इडा है।

१५. इषम् — अन्न को प्राणी खाते हैं परन्तु यह सब प्राणियों का भेदन करके निकल जाता है अर्थात् मल द्वारा निकल जाता है अतः इसकी भेदन गति क्रिया के कारण इसे इष भी कहते हैं।

१६. ऊर्क् — जीवन, बल, उत्साह देनेवाला होने से ऊर्क् अन्न को कहते हैं।

१७. रसः — विविध रस एवं स्वाद युक्त होने से रस शब्द अन्न वाचक है।

१८. स्वधा — अपना धारणकर्ता होने से अन्न स्वधा है।

१९. अर्कः — अन्न की सब पूजा, सत्कार करते हैं अतः अन्न को अर्क कहते हैं।

२०. क्षद्म — अन्न को पीसकर उपयोग लिया जाता है अतः जिन अन्नों का पीसकर उपयोग होता है वे क्षद्म संज्ञक हैं।

२१. नेमः — अन्न को सदा अपने बड़े भाग से पृथक् करके ही उपयोग में लाते हैं अतः अन्न को नेमः कहते हैं।

२२. ससम् — सुप्तावस्था में अन्न रहता है, जब उसे पृथ्वी में बोते हैं तब उसकी जाग्रत् अवस्था होती है। अतः अन्न की ससम् संज्ञा है।

२३. नमः — अन्न प्राण रूप होने से सबको इसके आगे झुकना पड़ता है अतः अन्न नमः है।

२४. आयुः — अन्न आयु का देने वाला होने से आयु संज्ञक है।

२५. सूनृता — अन्न की उत्पत्ति अच्छी होने पर कृषक जन प्रसन्नता से नृत्य करते हैं अतः सूनृत या सूनृता अन्न का नाम है।

२६. ब्रह्म — अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, अन्न से पालन होता है और मत्यु के बाद जीव की गति पुनर्जन्म के लिए अन्न के माध्यम से होती है अतः अन्न ब्रह्म है।

२७. वर्चः — दीप्ति, तेज, कान्ति का देने वाला होने से अन्न को वर्चः कहते हैं।

२८. कीलालम् — जठराग्नि की ज्वालाओं को—भूख को निवारण करने से कीलाल शब्द अन्न वाचक है। 'कीलां वह्निशिखां वारयति।'

वेद में उद्योग-धन्धे

समाज के जीवन-निर्वाह में उद्योग-धन्धों का प्रमुख स्थान है। उद्योग-धन्धों से बुद्धि एवं कलाओं का विकास होता है। समाज के जीवन में सुख, आनन्द एवं सौन्दर्य का उद्गम उद्योग-धन्धों से ही होता है। उद्योग-धन्धों से शरीर के अनेक अंगों की सुप्त शक्तियां जाग्रत् होती हैं।

वेद में अनेक उद्योग-धन्धों के तथा उनके जानने वालों के लिए शब्दों का प्रयोग हुआ है। समाज या राष्ट्र के भीतर उद्योग-धन्धों से अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और सुख बढ़ता है। वेद कहता है—

बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। (यजुः २०।७)

मेरी भुजाएँ बल और ऐश्वर्य रूप हैं, मेरे दोनों हाथ कर्म तथा पराक्रम रूप हैं। वेद ने इस प्रकार हमारी भुजा एवं हाथ के अन्दर जो गुप्त शक्ति, पराक्रम व ऐश्वर्य भरा हुआ है, उसका परिचय दिया है। जब परमात्मा ने हमारी भुजाओं में बल और ऐश्वर्य भर रखा है और कार्य-कुशलता, परिश्रम की शक्ति भी भरी हुई है तब हम सबको अवश्य उद्यमी—परिश्रमी—होना चाहिए। परिश्रम करने से ही शक्तियों का विकास होता है।

हाथों की अपूर्व शक्ति को बताने के लिए वेद में कहा—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। (अथर्व० ४।१३।६)

यह मेरा हाथ ऐश्वर्यवान् है और यह दूसरा और भी ऐश्वर्यवान् है। प्रत्येक मनुष्य के दोनों हाथ एक सदृश कार्यकुशल नहीं होते। एक हाथ में शक्ति, सामर्थ्य कम होती है और दूसरे में अधिक ही होती है। वाद्यों को बजाने वाले, लेखक, कारीगर किसी को भी लीजिये, आप यही पायेंगे कि एक हाथ से दूसरा हाथ अधिक सामर्थ्यवान् है। वेद ने इसी को भगवान् और भगवत्तर इन रूपों में वर्णन किया है।

इसी रहस्य को वेद ने एक स्थल पर निम्न प्रकार भी कहा है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित्॥(अथर्व० ७।५०।८)

मेरे दक्षिण हाथ में कर्म की शक्ति—सामर्थ्य भरी हुई है और वाम हस्त में विजय है। ऐसी अवस्था में मैं गौ, घोड़े, धन, सुवर्ण आदि को जीतने वाला बनूं। जिसके हाथ में बल नहीं, जो पुरुषार्थ-हीन है, अकर्मण्य है उसको गौ, घोड़े, धन, सुवर्णादि कैसे प्राप्त हो सकेंगे? यदि उसके पास ये होंगे भी तो जो बलवान् हैं वे उनसे छीन लेंगे।

वेद ने बाहू तथा हाथ की शक्ति का उपदेश किया। इसी प्रकार वेद में अंगुलियों के बारे में में भी आता है—

मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः। (यजु० २०।६)

मेरी अंगुलियों में तथा अंग प्रत्यंग में कलाओं के विकास से मोद और प्रमोद का निर्माण करने की सामर्थ्य है। इस कार्य में साहस ही मेरा सबसे बड़ा मित्र रूप से है। यदि हम किसी कार्य के करने का साहस ही नहीं करेंगे तो अनेक प्रकार की कलाओं का विकास होगा ही कैसे ? परमात्मा ने हमारी अंगुलियों में कला की अपूर्व शक्ति प्रदान की है। हाथ में कर्म करने की शक्ति प्रदान की है और भुजाओं में बल भर रखा है। साहस का आश्रय लेकर हम खूब परिश्रम करें—पुरुषार्थ करें—अवश्य सफलता प्राप्त होगी क्योंकि—सहसस्पुत्रो अद्‌भुतः—(यजुः, ११।७०) साहस का पुत्र अद्‌भुत है अर्थात् साहस के साथ पुरुषार्थ करने से अनेक अद्‌भुत कार्य हो सकते हैं।

वेद में अनेक उद्योग-धन्धों के तथा उनके जानने वालों के नाम आते हैं। उद्योग-धन्धों के कारण समाज में अनेक प्रकार के कार्य करने वालों के वर्ग या श्रेणी बन जाती हैं और उनके विविध नाम पड़ जाते हैं। इस प्रकार उद्योग-धन्धों को, या परिश्रम के कार्यों को करने वालों की भी समाज में उच्च प्रतिष्ठा होनी चाहिए। अतः वेद ने उनको नमस्कार, सत्कार, आदर करने को लिखा है। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में निम्न प्रकार उनको सत्कार वचन कहे हैं—

१. पशूनां पतये नमः — पशुओं का पालन एवं रक्षण तथा इनका व्यापार करने वालों को नमस्कार हो। (यजुः १६।१७)

२. अन्नानां पतये नमः — अन्न के स्वामी, अन्न का भंडार रखने वाले, अन्न का व्यापार करने वालों के लिए आदर-सत्कार हो।

३. क्षेत्राणां पतये नमः — क्षेत्रों के स्वामी—कृषकों के लिए नमस्कार हो।

४. वनानां पतये नमः — वनों की रक्षा करने वाले, उनको अपने अधिकार में रखने वाले एवं उनसे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का व्यापार करने वालों को नमस्कार हो। (यजुः १६ । १८)

५. नमो रोहिताय स्थपतये — ऐश्वर्य वृद्धिकारक शिल्पाध्यक्ष के लिए सत्कार हो।

६. वृक्षाणां पतये नमः — वृक्ष वनस्पतियों को उगाने एवं उनका संरक्षण करने वालों को नमस्कार हो।

७. नमो भुवन्तये वारिवस्कृताय — ऐश्वर्य सम्पादक नवीन-नवीन भूमि को वासयोग्य आदि बनाने वालों के लिए नमस्कार हो।

८. ओषधीनां पतये नमः — ओषधियों के स्वामी, रक्षक, उनका व्यवसाय करने वालों के लिए नमस्कार हो।

९. नमो मन्त्रिणे वाणिजाय — व्यापार व्यवसाय में कुशल परामर्शदाताओं के लिए नमस्कार हो। (यजुः १६ । १९)

१०. सत्वनां पतये नमः — जीवों को—अनेक प्रकार के पशु पक्षी आदि को पालने, उनके रक्षण करने वाले, उनको सिखाने वालों को नमस्कार हो।

११. अरण्यानां पतये नमः — घोर वनों का स्वामित्व करने वालों को नमस्कार हो। (यजुः १६ । २०)

१२. अश्वपतिभ्यश्च वो नमः — तुम अश्वपालकों के लिए, उनको अनेक प्रकार से सिखाने वालों के लिए नमस्कार हो। (यजु : १६ । २४)

१३. नमस्तक्षभ्य:	— शिल्पियों के लिए नमस्कार हो।
१४. रथकारेभ्यश्च वो नम:	— विविध प्रकार के रथ, यान आदि बनाने वालों के लिए नमस्कार हो।
१५. नम: कुलालेभ्य:	— मट्टी के बर्तन आदि बनाने वाले कुम्हारों के लिए नमस्कार हो।
१६. कर्मारेभ्यश्च वो नम:	— लोहे का विविध प्रकार का कार्य करने वाले महापुरुषार्थी जन लुहारों के लिए नमस्कार हो।
१७. नम: श्वनिभ्य:	— कुत्तों को विविध प्रकार की विद्या एवं कला सिखाने वालों के लिए नमस्कार हो।
१८. मृगयुभ्यश्च वो नम:	— व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं के शिकार करने वालों के लिए नमस्कार हो। (यजु: १६ । २७)
१९. नमो भवाय च	— ऐश्वर्य की वृद्धि करने वालों के लिए नमस्कार हो। (यजु : १६ । २८)
२०. नमो मीढुष्टमाय	— जो मेघों से अतिशय वर्षा कराने वाले हैं उनको नमस्कार हो। (यजु: १६ । २९)
२१. नमो नादेयाय च	— नदी सम्बन्धी कार्यों को करने वालों के लिए नमस्कार हो।
२२. नमो द्वीप्याय च	— द्वीपद्वीपान्तर में आवागमन करने वाले, उनसे व्यापार करने वालों के लिए नमस्कार हो। (यजु: १६ । ३१)
२३. नम: श्लोक्याय च	— विविध प्रकार की प्रशंसात्मक काव्य-रचना करने वालों के लिए नमस्कार हो।
२४. अवसान्याय च नम:	— जो किसी कार्य या रचना या कला में अन्तिम समाप्ति कार्य करते हैं जैसे पालिश, पेण्ट, प्लास्टर, सजावट आदि उन कुशल कारीगरों के लिए नमस्कार हो।
२५. नम उर्वर्याय च	— भूमि को उर्वरा बनाने में कुशलों के लिए नमस्कार हो।
२६. खल्याय च	— खलिहान क्रिया में कुशल अर्थात् अन्न को सुरक्षित रखना, फलों को सुरक्षित रखना आदि में कुशलों के लिए नमस्कार हो। (यजु: १६ । ३३)
२७. नमो दुन्दुभ्याय च	— दुन्दुभि-वादन में कुशल कलाकारों के लिए नमस्कार हो।
२८. आहनन्याय च	— दण्डादि ताड़न के आघात से बजाये जाने वाले, ढोल, ड्रम, नगाड़ा, जल तरंग, काष्ठ तरंग, लोह तरंग आदि के बजाने में कुशल कलाकारों के लिए नमस्कार हो। (यजु: १६ । ३५)
२९. नम: स्रुत्याय च	— लघु मार्ग-निर्माण में कुशलों के लिए नमस्कार हो।
३०. नम: पथ्याय च	— विशाल मार्ग-निर्माण में कुशल व्यक्तियों के लिए नमस्कार हो।
३१. नम: काट्याय च	— कुआ आदि बनाने में कुशल कारीगरों के लिए नमस्कार हो।
३२. नीप्याय च	— झरने आदि बनाने में कुशल कारीगरों के लिए नमस्कार हो।
३३. नम: कुल्याय च	— नहर बनाने में कुशल व्यक्तियों के लिए नमस्कार हो।
३४. सरस्याय च	— तालाब आदि बनाने वाले कुशल कारीगरों के लिए नमस्कार हो।

३५. नमो नादेयाय च — नदियों की व्यवस्था में कुशल प्रबन्धकों के लिए नमस्कार हो।
३६. वैशन्ताय च — छोटे तालाब बनाने में कुशल व्यक्तियों के लिए नमस्कार हो।
(यजु: १६। ३७)

३७. नमो वीध्र्याय च — असमय में मेघों के निर्माण में कुशल के लिए नमस्कार हो।
३८. आतप्याय च — आतप-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
३९. नमो मेघ्याय च — मेघ-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
४०. विद्युत्याय च — विद्युद्विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
४१. नमो वर्ष्याय च — वर्षा-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
४२. अवर्ष्याय च — वर्षा-निवारण में कुशल के लिए नमस्कार हो। (यजु: १६। ३८)
४३. नमो वात्याय च — वात-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
४४. रेष्म्याय च — प्रलयकारी झंझावात के विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
४५. नमो वास्तव्याय च — गृह-निर्माण में कुशल के लिए नमस्कार हो।
४६. वास्तुपाय च — गृह-रक्षण में कुशल के लिए आदर हो। (यजु: १६। ३९)
४७. नमः शंगवे च — गौ आदि पशुओं के मालिकों के लिए नमस्कार हो।
४८. नमस्ताराय — पार करने एवं पार कराने वालों को नमस्कार हो।
(यजु: १६। ४०)

४९. नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च — बड़ी नौका एवं छोटी नौका से पार कराने का या जो इसके अध्यक्ष हों उनके लिए नमस्कार हो।
५०. नमः शष्प्याय च — तृणादि-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
५१. फेन्याय च — फेनादि-विज्ञान में कुशल के लिए आदर हो। (यजु: १६। ४२)
५२. नमः सिकत्याय च — रेत-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
५३. प्रवाह्याय च — प्रवाह-जल की तरंगों के विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
५४. नमः किंशिलाय च — कंकड़-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
५५. नमः कपर्दिने च — शंख, कौड़ी, शुक्ति, मौक्तिक, प्रवाल आदि के कार्य में कुशल के लिए नमस्कार हो। (यजु: १६। ४३)

५६. नमो व्रज्याय च — गो-चारण में कुशल के लिए नमस्कार हो।
५७. गोष्ठ्याय च — गोशालाओं के संचालन में कुशलों के लिए नमस्कार हो।
५८. नमस्तल्प्याय च — शयनागार के कामों में कुशल के लिए नमस्कार हो।
५९. गेह्याय च — गृह्य कर्मों में कुशल के लिए नमस्कार हो।
६०. नमो हृदय्याय च — गुप्त स्थानों के बनाने वालों के लिए नमस्कार हो।
६१. निवेष्याय च — चक्रादि-निर्माण में कुशलों के लिए नमस्कार हो।
६२. नमो गह्वरेष्ठाय च — गुफा-निर्माण में कुशल के लिए नमस्कार हो।
(यजु: ६१। ४४)

६३. नमः शुष्क्याय च — भोज्य पदार्थों को सूखा बना कर रखने की कला में प्रवीणों के लिए नमस्कार हो।

६४. नमो हरित्याय च	— भोज्य वस्तुओं को हरी, ताजी रखने की कला में प्रवीण जनों को नमस्कार हो।
६५. नमः पांᳬसव्याय च	— पांसु-विज्ञान में निपुणों के लिए अर्थात् विविध प्रकार की मृत्तिका का विश्लेषण करने में कुशल विद्वानों को नमस्कार हो।
६६. रजस्याय च	— रजोविज्ञान में कुशल, सूक्ष्म द्रव्यों का निरीक्षण या लोक लोकान्तरों का निरीक्षण करने में कुशलों के लिए नमस्कार हो।
६७. नमो लोप्याय च	— अदृश्य तत्त्वज्ञान में निपुण के लिए आदर हो।
६८. उलप्याय च	— दृश्य-विज्ञान में कुशल के लिए आदर हो।
६९. नम ऊर्व्याय च	— पृथिवी-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
७०. सूर्व्याय च	— बड़वानल-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो। (यजुः १६।४५)
७१. नमः पर्णाय च	— पर्ण-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
७२. पर्णशदाय च	— पत्तों को काटने की विद्या में एवं कृत्रिम पर्ण बनाने में कुशल के लिए नमस्कार हो।
७३. नम उद्गुरमाणाय च	— भारों को ऊपर उठाने की क्रिया में कुशल के लिए नमस्कार हो।
७४. अभिघ्नते च	— काष्ठ, लोहा, पत्थर, पर्वत आदि के छेदन करने में कुशल के लिए आदर हो।
७५. नम आखिदते च	— चीरने का कार्य करने वालों के लिए नमस्कार हो।
७६. प्रखिदते च	— घड़ने वाले के लिए आदर हो।
७७. नम इषुकृद्भ्यः	— बाण आदि प्रक्षेपणास्त्र बनाने वालों के लिए नमस्कार हो।
७८. धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः	— धनुष आदि प्रक्षेपणयन्त्रसाधन बनाने वाले के लिए नमस्कार हो। (यजुः १६।४६)

इसी प्रकार यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में भी बहुत से उद्योग-धन्धे करने वालों के नाम आये हैं। उनमें से जो विशेष हैं उनका यहां दिग्दर्शन कराना आवश्यक है—

७९. ब्रह्मणे	— वेद ज्ञान के अध्ययनाध्यापन, उसकी विद्याओं के अन्वेषण एवं परीक्षण कार्य के लिए ब्राह्मण को—
८०. क्षत्राय राजन्यम्	— रक्षा कार्य के लिए क्षत्रिय को—
८१. मरुद्भ्यो वैश्यम्	— प्राण-पोषण व्यवहारों के लिए वैश्य को—
८२. तपसे शूद्रम्	— परिश्रम के कार्यों के लिए शूद्र को—
८३. तमसे तस्करम्	— अन्धकार के समय कार्य करने के लिए तस्कर विद्या में निपुण को—
८४. नारकाय वीरहणम्	— अति दुःखदायक कृत्यों के लिए वीरों को भी हनन करने वाले को। (यजुः ३०।५)
८५. नृत्ताय सूतम्	— नाचने के लिए सूत को—
८६. गीताय शैलूषम्	— गायन के लिए गायक को— (यजुः ३०।६)
८७. रूपाय मणिकारम्	— सौन्दर्य रचना के लिए मणिकार को—
८८. शुभे वपम्	— शोभा—उद्यान-शोभा, गृह-शोभा आदि के लिए माली को।

८९. कर्मणे ज्याकारम्	— तन्तु कर्म के लिए प्रत्यंचाकार को—
९०. दिष्टाय रज्जुसर्जम्	— नियमन के लिए रज्जु बनाने वाले को—
९१. मृत्यवे मृगयुम्	— मारने के लिए व्याघ को—(यजुः ३०।७)
९२. नदीभ्यः पौञ्जिष्ठम्	— नदी के लिए मछुआ को—
९३. ऋक्षीकाभ्यो नैषादम्	— गमनागमन करने वाली नौकादि के लिए निषाद को—
९४. सर्पदेवजनेभ्यो प्रतिपदम्	— सर्पविद्या जानने वाले के लिए साहसी को— (यजुः ३०।८)
९५. पवित्राय भिषजम्	— पवित्रता के लिए भिषक्-चिकित्सक को—
९६. प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्	— विशेष ज्ञान के लिए नक्षत्र विद्यावित् को—
९७. मर्यादायै प्रश्नविवाकम्	— न्याय-व्यवस्था के लिए धाराशास्त्री को— (यजुः ३०।१०)
९८. अर्मेभ्यो हस्तिपम्	— गम्भीर गति के लिए हस्तिपालक को—
९९. वीर्यायाविपालम्	— वीर्य के लिए भेड़ रक्षक को—
१००. तेजसेऽजपालम्	— तेज के लिए बकरीपालक को—
१०१. कीलालाय सुराकारम्	— अन्नरस के लिए कलवार को—
१०२. आध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम्	— देख-रेख के लिए अनुकूल सारथि को— (यजुः ३०।११)
१०३. भायै दार्वाहारम्	— अग्नि के लिए लकड़हारे को—
१०४. प्रभाया अग्न्येधम्	— प्रकाश के लिए अग्नि प्रदीप्त करने वालों को।
१०५. मेधाय वासः पल्पूलीम्	— पवित्रता के लिए रजकी को—
१०६. प्रकामाय रजयित्रीम्	— सुन्दर रूपवान् वनाने के लिए रंगने वाली को— (यजुः ३०।१२)
१०७. मन्यवेऽयस्तापम्	— मानसिक क्रोध के लिए स्वर्णकार को—
१०८. उत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनम्	—ऊंचे-नीचे प्रदेशों के लिए जल, स्थल व नभ में गमन करनेवाले को—
१०९. शीलायाञ्जनीकारीम्	— सुन्दरशील के लिए चित्रकारिणी को— (यजुः ३०।१४)
११०. ऋभुभ्योऽजिनसन्धम्	— ऋभुओं के लिए चर्मसन्धाता को—
१११. साध्येभ्यश्चर्मम्नम्	— साध्य कार्य के लिए चर्माभ्यासी को— यजुः ३०।१५)
११२. सरोभ्यो धैवरम्	— जलों के लिए केवट को—
११३. उपस्थावराभ्यो दाशम्	— उपवनों के लिए धीवर को—
११४. वैशन्ताभ्यो बैन्दम्	— नहर नालों के लिए निषाद को—
११५. नड्वलाभ्यः शौष्कलम्	— दलदल भूमि के लिए मत्स्यजीवियों को —
११६. पाराय मार्गारम्	— पार जाने के लिए व्याध को—
११७. अवाराय कैवर्त्तम्	— जल के आर पार जाने के लिए मल्लाह को—
११८. तीर्थेभ्यआन्दम्	— नदियों के लिए पुल बांधने वाले को—
११९. विषमेभ्यो मैनालम्	— विषम जल थाह के लिए मच्छुओं को—
१२०. स्वनेभ्यः पर्णकम्	— शब्द को जानने के लिए भीलों को—
१२१. गुहाभ्यः किरातम्	— गुहा के लिए किरात को—
१२२. सानुभ्यो जम्भकम्	— शैलशिखरों को काट कर मार्ग बनाने वालों को—
१२३. पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम्	— पर्वतों के लिए जंगली मनुष्यों को— (यजुः ३०।१६)
१२४. बीभत्सायै पौल्कसम्	— बीभत्सकार्य के लिए भंगी को—

१२५. तुलायै वाणिजम् — तुलामान के लिए वणिक् को— (यजु: ३०।१७)
१२६. महसे वीणावादम् — महोत्सव के लिए वीणावादक को—
१२७. क्रोशाय तूणवध्मम् — आक्रोश, घोषणा के लिए वाद्य विशेष भेरी आदि बजाने वाले को
१२८. अवरस्पराय शङ्खध्मम् — आर-पार ध्वनि पहुंचाने के लिए शंखध्मा को—(यजु: ३०।१९)
१२९. हसाय कारिम् — उपहास के लिए बहुरूपिये को
१३०. पाणिघ्नम् — ताली बजाने वाले को
१३१. तूणवध्मम् — तबला बजाने वाले को नृत्य के लिए—
१३२. आनन्दाय तलवम् — आनन्द के लिए मजीरा बजाने वाले को— (यजु: ३०।२०)
१३३. अन्तरिक्षाय वंशनर्तिनम् — अन्तरिक्ष में कार्य करने के लिए वंशनट को— (यजु: ३०।२१)

१६वें अध्याय के मन्त्रों में प्रत्येक कार्यकर्त्ता के साथ चकार का भी प्रयोग है। चकार से एक और अनेक का भी ग्रहण होता है। अर्थात् निर्दिष्ट उद्योग-धन्धे के सदृश उसी श्रेणी के और भी उद्योग-धन्धे और उनके कार्य करने वाले जन। इस दृष्टि से समाज में आवश्यकतानुसार अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे उत्पन्न होते हैं और उनके जानने वाले भी तैयार होते हैं।

इन उद्योगों में से कुछ उद्योग केवल व्यक्तिगत हैं। कुछ व्यक्तिगत एवं सामूहिक हैं। कुछ सामूहिक एवं राज्याश्रित सम्मिलित भी हैं और कुछ केवल राज्याश्रित होते हैं। अतः समाज को राष्ट्र के रूप में संगठित होकर—शासक के रूप में उद्योग-धन्धों की रक्षा, वृद्धि, उनके लिए कुशल व्यक्ति तैयार करने की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

परमात्मा की इस अद्भुत सृष्टि पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब इसके द्वारा हमें अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धों की प्रेरणा मिलती है। परमात्मा स्वयं बहुत परिश्रमशील है तभी उसने यह अखिल ब्रह्माण्ड अनेक रूप से सजाया है। परमात्मा का नाम सविता है, उसने समस्त संसार का ऐश्वर्य रचा है और सृष्टि में अपना ऐश्वर्य बखेर रखा है। वह चाहता है कि पुरुष भी पुरुषार्थी बन कर अपने नाम को सार्थक करे और उस ऐश्वर्य को प्राप्त कर अनेक प्रकार से उसका उपयोग ले।

परमात्मा त्वष्टा है। बड़ा भारी कारीगर है। विश्वकर्मा है, बड़ी चतुराई से विश्व का सौन्दर्य रचा है। हमें भी इस संसार में सौन्दर्यमयी रचना करनी चाहिए। हमें अपना पुरुषार्थ करते समय, अपनी रचना करते समय उस प्रभु को जिससे सब कलाओं का उद्गम हुआ है भूल नहीं जाना चाहिए और सदा निम्न रूप में स्मरण करके शक्ति प्राप्त करनी चाहिए।

बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोसि तेन मे रध्य ।। (यजु: १०।२८)

हे बहुकर्मशील ! श्रेय साधक ! समृद्धि साधक ! तू वज्र के समान समर्थ है इसलिए मेरे लिए यथेष्ट कामनाओं को सिद्ध कर। जब परमात्मा ही बहुकार है तो हमें भी बहुकार बनना चाहिए। बहुकार होने से ही श्रेय सिद्ध होता है। श्रेय की जब निरन्तर सिद्धि होती है तब श्रेयस्कर हो जाता है। दोनों सिद्ध होने पर भूयस्कर होता है जिसके निष्फल प्रयत्न होंगे वह बहुकार, श्रेयस्कर और भूयस्कर नहीं हो सकता अतः सफल प्रयत्न के लिए अपना प्रयत्न इन्द्र के वज्र के समान अमोघ होना चाहिए।

वेद और वन

व्यक्ति एवं समाज का जीवन वनों के आश्रित बहुत कुछ है। आज मनुष्य वनों को निर्दयतापूर्वक काट रहा है और उसके दुष्परिणाम भी भुगत रहा है। परन्तु सभ्य बनने की धुन में, फैशन एवं विलासितापूर्ण जीवन-निर्वाह करने के कारण वह वनों से दूर हटता जा रहा है और वनों पर प्रहार कर रहा है। वन जीवन की एवं राष्ट्र की महान् सम्पदा हैं।

आज वनों की कमी से वर्षा की कमी हो रही है। वनों से आरोग्यता बढ़ती है अतः वनों के काटने से रोगों की वृद्धि हो रही है। वनों से भूमि के ऊपर की मिट्टी के स्तरों की रक्षा होती है जिससे भूमि कृषि योग्य बनती है। परन्तु वनों के काटने से वृष्टि एवं भूमि की हानि होने से अन्नोत्पादन की कमी हो रही है।

वृक्ष, बाग बगीचे, उद्यान, वन, अरण्य पृथिवी के लिए, वायु के लिए, जल के लिए, वृष्टि के लिए, आरोग्यता के लिए, अग्नि के लिए, कृषि के लिए, पशु-पक्षियों के लिए, ओषधि-वनस्पति के लिए वन आवश्यक हैं। अतः वेद ने कहा—

नमो वृक्षेभ्यः	—वृक्षों के लिए हमारा आदर भाव हो, उनको सुरक्षित रखने की तथा बढ़ाने की विद्या को जानें। (यजुः १६।१७)
वृक्षाणां पतये नमः	—वृक्षों का संरक्षण एवं उत्पत्ति करने वालों को नमस्कार हो।
ओषधीनां पतये नमः	—पृथिवी पर उत्पन्न होने वाली वृक्ष वनस्पतियों के क्या-क्या गुण हैं इस विद्या को जानकर उनके महत्त्वानुकूल तथा आवश्यकतानुकूल उत्पन्न करने वाले तथा रक्षण कार्य में कुशल जनों के लिए हमारा सत्कार हो। (यजुः १६।१९)
वनानां पतये नमः	—वनों के स्वामियों के लिए नमस्कार हो। (यजुः० १६।१८)
नमो वन्याय च	—वन के अधिकारियों के लिए नमस्कार हो। (यजुः० १६।३४)
अरण्यानां पतये नमः	—अरण्यों के अध्यक्ष के लिए नमस्कार हो। (यजुः० १६।२०)
मौषधीर्हिंꣳसीः	—ओषधियों को नष्ट मत करो। (यजुः० ६।२२)
ओषधे त्रायस्व	—हे ओषधि ! हमारी रक्षा करो। (यजुः० ४।१)
सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु	—जल और ओषधियां हमारे लिए मित्रवत् हित साधक हों। (यजुः० ३६।२३)
ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः	—ओषधियां और वनस्पतियां हमारे लिए शान्तिकारक हों। (यजु० ३६।१७)
भेषजमसि भेषजं गवेश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै।	—ओषधि रोग, दुःखादि नाशक हैं। गौ के लिए भी ओषधि है। पुरुष और घोड़ों के लिए भी और मेष-मेषी के लिए भी ओषधि है अर्थात् वृक्ष वनस्पतियों में ओषधि का गुण है वह मनुष्य तथा पशु पक्षी सभी के रोग-नाशन एवं सुख के लिए है। (यजुः० ३।५९)

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः	—हमारे लिए ओषधियां मधुर रस वाली हों। (यजुः० १३।२७)
दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता	—हे ओषधि ! तेरा खोदने वाला दीर्घायु प्राप्त करे। (यजुः० १२।१००)
त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः	—हे ओषधि ! तू सर्वोत्कृष्ट है। तेरे साथी वृक्ष हैं। (यजुः० १२।१०१)
वनस्पतयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्	—मेरी वनस्पतियां यज्ञ के द्वारा समर्थ हों। (यजुः० १८।१३)
आरण्याश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्	—मेरे अरण्य, जंगल, वनादि यज्ञ के द्वारा समर्थ हों। (१८।१४)
मूलेभ्यः स्वाहा	—वृक्षों की मूलों के लिए यज्ञ द्वारा उत्तम क्रिया हो।
शाखाभ्यः स्वाहा	—वृक्षों की शाखाओं के लिए यज्ञ द्वारा उत्तम क्रिया हो।
वनस्पतिभ्यः स्वाहा	—वनस्पतियों के लिए यज्ञ द्वारा उत्तम क्रिया हो।
पुष्पेभ्यः स्वाहा	—वृक्षों के फूलों के लिए यज्ञ द्वारा उत्तम क्रिया हो।
फलेभ्यः स्वाहा	—फलों के लिए यज्ञ द्वारा उत्तम क्रिया हो।
ओषधीभ्यः स्वाहा	—ओषधियों के लिए यज्ञ द्वारा उत्तम क्रिया हो। (यजुः० २२।२८)

वेद में इस प्रकार वृक्ष, वनस्पति ओषधियों के लिए, वन एवं अरण्यों के लिए आदर, उनको समृद्ध करने, उनका उपयोग लेने, उनके द्वारा दीर्घायु, शान्ति-प्राप्ति आदि का संकेत किया है और इनके पालक, रक्षक, स्वामित्व आदि करने वालों के लिए भी आदर-सत्कार वेद ने प्रकट करने का भाव बताया है। इसका तात्पर्य है कि जंगल, वृक्षादि उपेक्षणीय नहीं हैं अपितु उपयोगी एवं संवर्धनीय हैं। यज्ञ के द्वारा इनको भी समर्थ बनाना चाहिए। इन वनों से ओषधि, फल, मूल, पुष्प, शाखा, पत्ते, गोंद, छाल, बीज, खाद, आरण्य एवं ग्राम्य पशु-पक्षी आदि की प्राप्ति होती है उससे मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए और उन पदार्थों की उपयोगिता जान कर उद्योग-धन्धे, व्यापार, व्यवसाय कर अपनी उन्नति करनी चाहिए।

वैदिक सभ्यता में वनों का अत्यन्त महत्त्व है। जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य है। उस अवस्था में अध्ययन करना आवश्यक है। अध्ययन के लिए ये ब्रह्मचर्याश्रम, गुरुकुल आदि जंगलों में ही होते थे। गृहस्थाश्रम में अनेक व्यक्तियों को कृषि, जंगलों के कार्य, व्यवसाय, रक्षा आदि के लिए भी जंगलों का आश्रय लेना पड़ता है और उनमें जीवन व्यतीत करना पड़ता है। तृतीय आश्रम वानप्रस्थ स्वयं अपने नाम से वन की आवश्यकता को प्रकट कर रहा है जिसमें साधना करने के लिए वनों का ही आश्रय लेना पड़ता है और चौथा आश्रम संन्यास भी ऐसा है कि इसमें जो गिरि, पर्वत, आरण्य आदि संन्यासी होते हैं तथा जो लोकोपदेश कार्य को प्रधानता न देकर योग मार्ग में रत रहकर समाधि के लिए प्रयत्नशील होते हैं वे भी जंगलों का ही आश्रय लेते हैं। अतः जंगल हमारे जीवन के लिए ३/४ समय से भी अधिक समय के लिए आवश्यक हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति में, इस पृथिवी और द्युलोक को बनाने में भी एक महान् वन एवं महान् वृक्ष की आवश्यकता का प्रतिपादन निम्न वेद मन्त्र में किया है—

कि॑ स्विद्वनं क उ स वृक्ष ऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ (यजु० १७।२०)

कौन-सा वह वन और कौन-सा वह वृक्ष था कि जिससे द्युलोक पृथिवी लोक को विश्वकर्मा जगदीश्वर ने गढ़ा अर्थात् सृष्टि रचना से पूर्व की अवस्था जो अविकसित दशा थी वही इस सृष्टि

की वन-अवस्था थी। उसी वन-अवस्था के वृक्षों की उस विश्वकर्मा ने अपनें कौशल से कलमें कीं तथा उनको व्यवस्थानुसार करके इस सृष्टि की सुन्दर रचना की।

मन्त्र की दूसरी पंक्ति ने कहा—कि हे मननशील विद्वानो! विचारपूर्वक यह प्रश्न पूछो और यह भी पूछो कि समस्त भुवनों को धारण करता हुआ वह विश्वकर्मा किसके ऊपर स्थित था।

प्रश्न विद्वानों के करने योग्य है और विद्वानों द्वारा ही इसका उत्तर दिया जाना चाहिए क्योंकि प्रश्न आलंकारिक भाषा में है। सृष्टि-रचना से पूर्व की अविकसित प्रकृति-अवस्था को ही वन एवं वृक्ष कह सकते हैं जिससे यह सब पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, लोक-लोकान्तर की रचना को परमात्मा अपने तप से, ईक्षण से एवं सामर्थ्य से सम्पन्न करता है।

इसी प्रकार वेद में अन्यत्र भी संसार को वृक्ष की उपमा देकर जीव के लिए उपयोगी बताया है—

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो मधुशाखः सुपिप्पलो देवमिन्द्रमवर्धयत्।
दिवमग्रेणास्पृक्षदान्तरिक्षं पृथिवीमदृँहीद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥ (यजु० २८।२०)

सुनहरे पत्तों वाला, मधुर शाखाओं वाला और अच्छे फल वाला, दिव्य संसार वृक्ष दिव्य गुणों द्वारा दिव्य जीव को बढ़ाता है। प्रथम तेज से द्युलोक को स्पर्श करता है तथा मध्य भाग से अन्तरिक्ष को स्पर्श करता है एवं पृथिवी को दृढ़ करता है। यह संसार वृक्ष ऐश्वर्य-प्राप्ति के निमित्त ऐश्वर्य-साधक पदार्थ को प्राप्त हो, अतः यजन कर।

इस संसार के सब आकर्षण एवं आशाएँ ही इस संसार वृक्ष की सुनहरी पत्तियां हैं जो वृत्तियों के आघात से हिलकर विविध प्रकार का रूप एवं आकर्षण प्रदान करती हैं। उनके आश्रय ही यह जीव इस संसार में बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाता है और कार्य करता है। वृक्ष के पत्ते की तरह यह भी चंचल और क्रियाशील बना रहता है।

पत्तों में स्थिरता कम है परन्तु शाखाओं में कुछ स्थिरता है। उनसे आश्रय प्राप्त होता है। उन्हीं के आधार पर शाखाएँ पत्तों से लदी रहती हैं और फलों से भी। संसार की आकर्षक आशाओं के आधार पर मनुष्य संसार का जीवन में उपयोग लेता है यही उसकी शाखारूप हैं और जो उसको फल प्राप्ति होती है वही संसार रूपी वृक्ष के सुन्दर फल हैं।

इस संसार में रहकर जीव संसार का उपयोग करता है। इसके फलों को खाता है अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है वह इस संसार में रहता हुआ यजन किया करे जिससे संसार सुनहरे पत्रों, पत्तों वाला, मधुर शाखाओं वाला और सुन्दर फल वाला बना रहे और सभी उसके मधुर फलों को प्राप्त कर आनन्दित होते हैं।

प्रथम मन्त्र में संसार रूपी वृक्ष का स्वामी, अधिष्ठाता, इसके रचयिता का वर्णन किया। दूसरे मन्त्र में संसार रूपी वृक्ष का सौन्दर्य एवं उसका जीव के साथ भोक्ता का सम्बन्ध बताया। अब तीसरे मन्त्र में जीव को संसार में रमण करते हुए परमात्मा को न भुला देने के लिए इसकी अनित्यता का वृक्ष रूप से वर्णन किया है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥ (यजु० ३५।४)

हे जीवो ! अश्वत्थ पीपल वृक्ष पर तुम्हारा अधिष्ठान है। उस अनित्य संसार रूप वृक्ष पर पर्ण सदृश तुम्हारा गृह है। और तुम इस संसार में इन्द्रियों के सुख भोगों में लगे हुए हो। इसलिए उस परमेश्वर का सेवन करो।

संसार वृक्ष को अश्वत्थ—पीपल की संज्ञा वेद ने दी है। पीपल अनेक पत्तों से, अनेक शाखाओं से, अनेक फलों से, अपनी विशालता से अनेक कीट, पतंग, कृमि, पशु एवं पुरुषों को पालता है। इसी प्रकार संसार भी सबको आश्रय देता है। इसके पत्ते जरा सी हवा के झोंकों से चलायमान हो जाते हैं। उनमें चंचलता, अस्थिरता अधिक है, स्थिरता का गुण कम है। इसी प्रकार संसार में अस्थिरता का गुण है, यहां कोई चीज स्थिर नहीं है। पीपल के फल छोटे होते हैं इसी प्रकार संसार रूपी वृक्ष के फल छोटे हैं। दीर्घकालिक मोक्ष सुख इसमें नहीं। थोड़ा-थोड़ा आनन्द ही है। इस पीपल के अस्थिर चलायमान पत्तों पर जो पक्षी अपना घोंसला बनायेगा वह वायु के मन्द झोंके से ही नष्ट हो जायेगा। उसी प्रकार संसार में हमारी जो वायु इस शरीर की परमात्मा की ओर से प्राप्त हुई है वह पीपल के पत्ते की क्षणिक स्थिरता के ही तुल्य है। अतः उपदेश किया कि इस अल्पावधि में इस वृक्ष पर यदि परमात्मा का स्मरण कर लेगा तो जीवन सफल हो जायेगा।

इस प्रकार वेद ने वृक्ष से जीवन की, संसार की और परमात्मा की जो उपमाएँ दी हैं उनसे वृक्ष एवं वनों का महत्त्व और भी प्रकट होता है। जब संसार की पूर्वावस्था नहीं थी तब उस वन से यह संसार रूपी उद्यान कैसे बना इसका भी सुन्दर वर्णन वेद में मिलता है—

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कꣳस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आप यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे॥ (यजु० १७। २९)

वह विश्वकर्मा परमात्मा द्युलोक से भी परे एवं महान् है। इस पृथिवी से भी महान् और परे है। सृष्टि की देव एवं असुरशक्तियों से भी परे है एवं विद्वान् तथा अविद्वानों से भी जो परे है। अर्थात् जब प्रकृति वन अवस्था-साम्यावस्था में रहती है तब द्युलोक, पृथिवी, देव असुर, विद्वान् अविद्वान् कोई नहीं होता। इन सब के रचना-काल से परे वह परमात्मा वर्तमान रहता है। उसी के तप, संकल्प, ईक्षण एवं श्रम से सृष्टि-रचना का कार्य होता है। इस कार्य में वही पूर्ण समर्थ है। किसी के साहाय्य की उसको आवश्यकता नहीं। अतः सबसे परे जहां किसी की सामर्थ्य नहीं पहुंचती वहां उसी की प्रेरणा से ही जल परमाणुओं ने किसी एक गर्भ ब्रह्माण्ड रूप हिरण्यगर्भ को धारण किया, जिससे कि आदिकाल सम्पन्न विद्वानों ने जगद्रहस्य को जाना।

इस मन्त्र से सृष्टि के बीज रूप में गर्भ-धारण से पुनः उत्पत्ति-क्रम चला यह ज्ञात होता है। उसी प्रकार सृष्टि में भी बीज क्रम से वृक्ष वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई और होती है। जल तत्त्व में ही सबके बीजों का प्रवेश है। इसीलिए पुरुष में बीज रूप को प्राप्त होकर प्रवेश करने के लिए—'आपो रेतो भूत्वा प्राविशत्'—जल का ही आश्रय लेना पड़ा। उसी बीज में सब देव शक्तियां संगत हो जाती हैं, इस सृष्टि के अपूर्व रहस्य को वेद के निम्न मन्त्र ने प्रकट किया—

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र ऽआपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥ (यजु० १७। ३०)

जल या परमाणुओं ने उसी हिरण्यगर्भ को सर्वप्रथम धारण किया जिसमें समस्त दिव्य शक्तियां संगत होती हैं। अजन्मा परमेश्वर के मध्य में वह एक गर्भ बीज स्थित था जिसमें कि सब भुवन बीज रूप से स्थित थे।

जब संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति जल से हुई। उसी में गर्भ धारण प्रथम हुआ तो संसार के वृक्ष, वनस्पति, ओषधि, वन, आरण्य आदि को भी जल से ही जीवन प्राप्त होता है। उसी से उत्पन्न होते हैं। उसी से वे तृप्त होते हैं। इसलिए वेद ने कहा—

ओषधीर्जिन्व। (यजु० १४। ८)

ओषधियों को जलादि से तृप्त करना चाहिए। जलों के माध्यम से वर्षा से ओषधियां ऊपर से पृथिवी पर नीचे आती हैं। जब कोई सूक्ष्म बीज सूक्ष्म जलों में गर्भ-स्थापन अन्तरिक्ष में कर लेता है, वह सूक्ष्मावस्था से तरलावस्था में आकर अन्तरिक्ष में पर्जन्य के रूप में प्रकट होते हैं—

तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा। (यजु० १७। ३२)

ओषधियों का तीसरा उत्पादक पर्जन्य (मेघस्थ जल) जो कि अनेक प्रकार से रक्षा करने वाले जलों तथा प्राणों के गर्भ को धारण करता है—उत्पन्न हुआ। अर्थात् ओषधि वृक्षादि की उत्पत्ति पृथिवी पर व्यक्त रूप में होने से पूर्व उसकी तीन अवस्थाएँ सूक्ष्म, विरल, तरल आदि होती हैं। प्रथम स्थिति में उस बीज के वायवीय परमाणुओं का बन्धन होता है। दूसरी स्थिति में वायवीय परमाणुओं के साथ आग्नेय परमाणुओं का संयोग होता है। तीसरी स्थिति में जलीय परमाणुओं का पर्जन्य में संयोग होता है। तत्पश्चात् पृथिवी के गर्भ में वे बीज आते हैं और उत्पत्ति होती है।

इसी मन्त्र का पूर्व भाग इस बात को स्पष्ट करता है—

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद् गन्धर्वो अभवत् द्वितीयः। (यजु० १७।३२)

इस सम्पूर्ण मन्त्र में तीन शब्द विशेष हैं—१. विश्वकर्मा २. गन्धर्व ३. पिता। शतपथ में बताया है—अयं वै वायुः विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदं सर्वं करोति(६।४।१।७) इसी वायु का नाम विश्वकर्मा है। गन्धर्व के लिए शतपथ ने कहा—अग्निर्हि गन्धर्वः (शत० ६।४।१।७) और निरुक्त ने—पिता पर्जन्यः (निरु. ४।२१) कहा। अर्थात् वायु अग्नि और पर्जन्यः ये अर्थ उक्त शब्दों में हुए।

अर्थात् समस्त क्रियाओं का मूल वायु देव निश्चय से प्रथम उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर ही दूसरा गन्धर्व (अग्नि) उत्पन्न हुआ। तीसरा ओषधियों का उत्पादक पर्जन्य, मेघ—आकाशस्थ जल—होता है। इस प्रकार मेघ रूप में बीजों की तीसरी स्थिति है।

मेघ की स्थिति से अन्तरिक्ष से ओषधियां पृथिवी पर आती हैं। वे परस्पर संभाषण भी करती हैं और अपनी एक प्रतिज्ञा को करती हैं कि हम प्राणियों के दुःखों को दूर करेंगी। जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णित है—

अवपतन्तीरवदन्दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥ (यजु० १२।९१)

द्युलोक से वृष्टि रूप में नीचे गिरती हुई ओषधियां कहती हैं कि जिस प्राणधारी को हम व्याप्त कर लेती हैं वह पुरुष नहीं मरता है। ओषधियों का संवाद द्युलोक से नीचे उतरते समय का वेद ही बता सकता था सो उसने बताया। जब ओषधियों ने ऐसी घोषणा की तो उन्होंने अपने अधिपति सोम से भी इस संवाद को कहा जैसा कि—

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि॥ (यजु० १२।९६)

ओषधियों ने अपने सोम राजा के साथ उससे अच्छी प्रकार कहा कि हे सोम राजन्! वेदज्ञ ब्राह्मण जिस कार्य के लिए हमारा उपयोग या प्रयोग करता है उसको हम दुःख से पार करती हैं।

अर्थात् वृक्ष बोलते हैं। यदि वन में रहने का अभ्यास करें और उनकी ध्वनियों को ग्रहण करना चाहें तो वे ग्रहण की जा सकती हैं।

वेद में जिस प्रकार से अन्नों के नाम आते हैं उसी प्रकार से अनेक औषधि, वृक्षादि के नाम भी आते हैं और उनके गुणों का भी उल्लेख आता है। निम्न वेद मन्त्र में एक सौ सात ओषधियों की संख्या का उल्लेख है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च ॥ (यजु० १२।७५)

वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा। इन तीन ऋतुओं से पूर्व जो पहली ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं मैं उन औषधियों को ठीक-ठीक जानूं। सोम धर्म वाली उन ओषधियों के एक सौ सात नाम, जन्म, स्थान को भी जानूं।

यह मन्त्र सोम धर्मवाली एक सौ सात ओषधियों की संख्या को बताता है। दूसरे मन्त्र में ओषधियों के सैकड़ों भेदों का उल्लेख है—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृत ॥ (यजु० १२।७६)

हे मातृभूत ओषधियो! तुम्हारे सैकड़ों जाति भेद हैं तथा तुम्हारी सहस्रों शाखाएँ हैं। अतः तुम असंख्य प्रभाव वाली इस रोगी को रोग रहित करो। इस प्रकार औषधियों के भेद कहने के साथ उनका लक्षण पुष्प एवं फल वाली एवं रोग-नाशन में उनकी प्रबलता का परिचय वेद निम्न मन्त्र से दे रहा है—

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥ (यजु० १२।७७)

घोड़े के सदृश जयशील, विविध प्रकार के रोगों को रोकने वाली, रोग दुःख से पार लगाने वाली पुष्पवती, फलवती हे ओषधियो! भले प्रकार फूलो फलो।—इस प्रकार की अनेक ओषधियों का संकेत आता है जो रोग नाशक के नाम से हैं और कुछ औषधियों के साक्षात् नाम भी आते हैं।—यक्ष्मानाशक, श्लेष्मनाशक, ज्वरनाशक, केशवर्धक, कुष्ठनाशक, वाजीकरण आदि के रूप में वर्णन आता है तथा कुछ ओषधियों का, वृक्षों का नाम प्रत्यक्ष भी आता है। उनमें से कुछ नाम निम्न हैं—

अश्वत्थ	(यजु० १२।७९)	उर्वारुक	(यजु० ३।६०)
अपामार्ग	(यजु० ३५।११)	उत्तानपर्णी	(अथर्व० ३।१८।२)
असिक्नी	(अथर्व० १।२३।३)	उदुम्बर	(" १९।३१।१)
अजशृंगी	(अथर्व० ४।३७।२)	ऋषभ	(" ४।३८।५)
अर्जुन	(" ४।३७।४)	कर्कन्धु	( )
अप्सरा	(" ४।३८।१)	कुष्ठ	(अथर्व० ५।४।१)
अरुन्धती	(" ६।५९।१)	कृष्णा	(" ८।७।१)
आंगिरसी	(" ८।७।१०)	केशवर्द्धिनी	(" ६।२१।३)
आंजन	(" १९।४४।१)	कुवल	(यजु० ।)
आसुरी	(" १।२४।१)	खदिर	(" ३।६।१)

गूगल	(यजु० १६।३८।१)	मुनि	(अथर्व ७।७४।१)
जंगिड	(” १६।३४।१)	रोहणी	(” ४।१२।१)
तीक्ष्णशृंगी	(” ४।३७।६)	विभीतक	( )
दूर्वा	(यजु० १३।२०)	विषदूषणी	(अथर्व० ८।७।१०)
दर्भ:	(अथर्व० ८।७।२०)	वैकंकत	(” ५।८।१)
नलाशा	(” ६।१५।३)	वैश्वदेवी	(” ८।७।४)
नितत्नि	(” ६।१३६।१)	शमी	(” ६।११।१)
न्यग्रोध	(” ४।३७।४)	शर	(” १।२।१)
पर्ण (पलाश)	(यजु० १२।७९)	शिखंड	(” ४।३७।४)
पाठा	(अथर्व० २।२७।४)	शेपहर्षिणी	(” ४।४।१)
पिप्पली	(अथर्व ६।१०९।१)	सहस्रवर्णी	(” ८।७।१३)
पृश्निपर्णी	(” २।२५।१)	सोमराज्ञी	(” ६।९६।१)
पुनर्नवा	(” ८।७।८)	सोम	(” ८।७।२०)
बदर	(यजु०)	हिरण्ययी	(” ६।९५।२)
बलासनाशिनी	(अथर्व० ८।७।१०)	हिरुक्	(” ४।३।१)
मधुला	(अथर्व० ५।१५।१)		

पुंडरीक, मूंज, विषाणक, वसिष्ठ आदि और भी अनेक ओषधियों के नाम वेद में आते हैं।

वृक्षों के माता पिता के रूप में वेद में दो प्रकार के रूप हैं। एक सामान्य निर्देश है जैसा कि—

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव । (अथर्व० ८।७।२)

वृक्ष वनस्पतियों का पिता द्युलोक है और पृथिवी माता है। दूसरे प्रकार में ओषधियों में विविध गुण के लिए या उनके विविध भेद-प्रदर्शन के विविध पितृत्व का रूप है जैसा कि—

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ।। (अथर्व० १।२।१)

इस मन्त्र में शर ओषधि का पितर पर्जन्य को और माता पृथिवी को बताया है। तृतीय सूक्त में—

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं (अथर्व० १।३।२)
विद्मा शरस्य पितरं वरुणं (” १।३।३)
विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं (अथर्व० १।३।४)
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यम् (अथर्व० १।३।५)

यहाँ पर्जन्य के अतिरिक्त, मित्र, वरुण, चन्द्र और सूर्य को भी शर का पितर बताया है। उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्ववर्ती क्रमशः पितर शक्तियों का ज्ञान वानस्पतिक सूक्ष्म विज्ञान को प्रकट करता है।

वेद में यातायात

व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए यातायात-व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। एक स्थान से व्यक्तियों का किसी स्थान पर जाना एवं एक स्थान के द्रव्य को दूसरे स्थान में ले जाना जीवन कार्यों के लिए आवश्यक है। यातायात को व्यक्ति अपने शारीरिक सामर्थ्य से अन्य व्यक्ति या पशुओं की सामर्थ्य से तथा यान्त्रिक सामर्थ्य से करता है।

वेद गमनागमन के लिए कहता है :—

समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ
स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा ।। (यजु० ६।२१)

(१) समुद्रं गच्छ स्वाहा—समुद्र को जा—इस कार्य में मन्त्रस्थ स्वाहा क्रिया से शक्ति उत्पन्न कर जल में चलने वाली नौका, बोट, पोत, जहाज आदि में बैठकर जाना होगा।

(२) अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा—खगोल प्रकाश करने वाली विद्या से सिद्ध किये हुए विमानादि यानों से आकाश को जा।

(३) द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा—भूमियान, आकाश मार्ग विमान और भूगोल वा भूगर्भ आदि यान बनाने की विद्या से भूमि और सूर्य प्रकाशस्थ अभीष्ट देश देशान्तर एवं लोकलोकान्तरों को जा।

(४) दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा—दिव्य आकाश में जो कि द्युलोक की सूक्ष्म सोम जलमय परिधियां एवं स्थान हैं उनको दिव्य यानों से जा।

इस प्रकार वेद ने चार स्थान गमनागमन के पूर्वोक्त बताये हैं। एक अन्य मन्त्र में निम्न प्रकार वर्णन है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् ।। (यजुः १७।६७)

मैं पृथिवी से अन्तरिक्ष में जाऊं। अन्तरिक्ष से मैं द्युलोक में जाऊं। द्युलोक का जो दुःख रहित प्रदेश है उससे भी ऊपर का जो सुख तथा ज्योतिर्मय मण्डल है उसको प्राप्त होऊं। इस मन्त्र में भी पृथिवी से स्वर्ज्योति मण्डल तक चार स्थानों में गमनागमन का उपदेश है।

पृथिवी पर यातायात के साधन

पृथिवी पर गमनागमन के साधनों के लिए वेद कहता है—

वोढाऽनड्वान्—आशुः सप्तः—रथेष्ठाः । (यजुः २२।२२)

भारवाही वृषभादि हों—शीघ्रगामी घोड़े आदि हों तथा रथयानों से सम्पन्न हों। अर्थात् पृथिवी पर पशुओं से तथा स्वनिर्मित रथयानादि से गमनागमन कार्य सिद्ध होगा। अतः वेद पशुओं के पालन एवं रथयानादि के निर्माण का भी संकेत करता है।

वेद का निम्न मन्त्र पृथिवी पर चलने वाले यन्त्र का संकेत कर रहा है—

हिरण्यशृङ्गो अयो अस्य पादा मनोजवा । (यजु: २९।२०)

जिस यान पर सुवर्ण के समान अग्नि प्रकट करने वाले शृंग लगे हैं। जिसके पैर लोहे के हैं और मनोजवा—मन के समान तेज गति से गमन करने वाला है। यह वर्णन लोहे के पहिये वाला तेज गति का जिस में अग्नि का प्रयोग हो ऐसे वाहन, रथ, यान आदि का है। इसी प्रकार एक स्थान पर भी वर्णन आता है—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः ।। (ऋ० ४।३६।१)

विना घोड़ों का, विना लगाम का प्रशंसनीय तीन चक्र या पहिये वाला रथ—इस मन्त्र में बताया है। विना घोड़ों का रथ यान्त्रिक यान वाहन आदि ही हो सकते हैं।

जल में यातायात के साधन

वेद में जल में चलने वाली नावों का भी वर्णन है। जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णन है—

सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम् ।
शतारित्राँ स्वस्तये ।। (यजु: २१।७)

सुन्दर, उत्तम या श्रेष्ठ नाव पर मैं कल्याण के लिए आरूढ़ होता हूं जो कि कहीं से भी स्रवित नहीं होने वाली है और दोषों से भी रहित है। उस नाव में शताधिक चप्पे लगे हुए हैं। ऐसी शताधिक अर्थात् अनेक चप्पों वाली नाव पर्याप्त बड़ी ही नाव है जो बड़े नद या समुद्र में ही चल सकती है। और भी बड़ी नाव का वर्णन निम्न मन्त्र में है।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसँ सुशर्माणमदितिँ सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावँ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ।। (यजु: २१।६)

हम कल्याण के लिए उत्तम रक्षा, त्राण करने वाली, सुविस्तीर्ण, प्रकाश वाली, दोषरहित, उत्तम सुख देने वाली, सुप्रणेत्री, सुन्दर चप्पों वाली, त्रुटिरहित, स्रवित न होने वाली दिव्य नौका पर सवार हों।

इस मन्त्र में पृथिवी शब्द विस्तृत का द्योतक है अर्थात् जो नाव बहुत विस्तृत है। द्यां का तात्पर्य प्रकाश, विविध प्रकाश से युक्त है। सुशर्माणम्—का तात्पर्य उत्तम सुख देने वाली या उत्तम गृह, निवासादि वाली है। दैवीं नावम्—शब्द स्पष्ट उस नाव की अपूर्वता, उत्तम विशेषताओं की ओर संकेत कर रहा है। बड़े पोत या जहाजों के तुल्य पोतों का यह वर्णन है।

अन्तरिक्ष एवं समुद्र के भीतर, नीचे चलने वाली नौका

वेद में पृथिवी तथा समुद्र के यातायात-साधनों का उल्लेख होने के अतिरिक्त समुद्र के भीतर भी चलने वाली नौकाओं, पनडुब्बियों का भी उल्लेख आता है—

यास्ते पूषन् नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययरीन्तरिक्षे चरन्ति ।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः ।। (ऋग्वेद ६।५८।३)

हे पूषन्, जो तेरी नावें समुद्र के गर्भ में भीतर चलती हैं और अन्तरिक्ष में भी चलती हैं उनके द्वारा दूतकर्म को प्राप्त होता है। इन कर्म के द्वारा दूर स्थानों से सम्बन्ध एवं गुप्त समाचारों का ज्ञान होता है। समुद्र के भीतर का ज्ञान ऐसी पनडुब्बियों से ही हो सकता है जो समुद्र के भीतर स्वच्छन्दता से चल सकें। इस मन्त्र में पनडुब्बी को हिरण्ययी कहा है। अर्थात् जो प्रकाशयुक्त है। प्रकाशयुक्त

पनडुब्बी से समुद्र के अन्तस्तल तथा उसके समीप के क्षेत्र का दर्शन हो सकता है। कृतश्रव का तात्पर्य है जिसमें वार्तालाप, श्रवण आदि के साधन लगे हैं जिनके द्वारा समुद्र के अन्दर के शब्दों का भी श्रवण हो सकता हो और बाहर के भी शब्दों का, बाहर से वार्तालाप का भी सम्बन्ध हो।

जल एवं अन्तरिक्ष में चलने वाली नौका

पूर्व मन्त्र में पूषा की नौका का वर्णन था जो अन्तरिक्ष में भी चलती है और समुद्र के भीतर भी। प्रकृति में प्रकृति तत्त्वों की नौका आदि का वर्णन उनका अन्तरिक्ष एवं समुद्र के गर्भ में नौका रूप से विचरण का वर्णन करके वेद उस प्रकार के यन्त्रादि बनाने की प्रेरणा देता है जिसमें वे कार्यसंगत हो सकें। निम्न वेद मन्त्र में अन्तरिक्ष एवं समुद्र की नावों का उल्लेख है। ये नावें दोनों प्रकार की हो सकती हैं अर्थात् दोनों स्थानों में चलने वाली पृथक्-पृथक् और दोनों स्थानों पर एक ही चलने वाली हो। जैसा कि—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥ (ऋ० १। २५। ७)

वे यान—विमान जिनसे अन्तरिक्ष में विचरण करते हुए कही उतरें उनका निर्माण एवं उनके द्वारा संचार क्रिया को जानें, एवं इसी प्रकार समुद्र में चलने वाली नावों के निर्माण संचालन आदि को भी जानें। इस प्रकार वेद में अनेक प्रकार से पृथिवी, समुद्र एवं अन्तरिक्ष में जाने के साधनों का वर्णन किया है।

अन्तरिक्ष में गमन

अन्तरिक्ष में गमन के लिए वेद प्रेरणा देता है—

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि। (यजु० १। ७)

मैं विस्तृत, महान् सुख के स्थान अन्तरिक्ष को प्राप्त होऊं।

दिवं गच्छ स्वः पत। (यजु० १२। ४)

द्युलोक में जा और स्वर्लोक में उतर। इत्यादि वाक्य जब अन्तरिक्ष और द्युलोक तथा अन्य लोकों में जाने के वेद में हैं तो उनके लिए साधन भी होने चाहिए। वेद ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर अन्तरिक्ष मार्ग से गमन करने एवं पहुंचने के लिए लिखा है—

श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम्। (यजु० ४। ३४)

श्येन पक्षी के तुल्य आकार प्रकार का यान हम दोनों के द्वारा जो सुसंस्कृत रूप से बनाया गया है उसके द्वारा इस स्थान से दूर जावे और यजमान के घर पर पहुँचे। यहां श्येन पक्षी के तुल्य होना और दूर जाकर ऊपर से नीचे पतन करना, उतरना और गृह पर पहुंचना अन्तरिक्ष यान को ही स्पष्ट बता रहा है।

श्येन तुल्य विमान छोटे और कम ऊंचाई पर गमन करने वाले तथा छोटी उड़ान वाले प्रतीत होते हैं जो पृथिवी के एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरलता से उड़ने वाले एवं उतरने वाले हैं। दूसरे प्रकार के यान बड़े तेज गति वाले और दूसरे लोक लोकान्तर में भी पहुंचने वाले, तीव्र गति वाले भी वेद में वर्णित हैं। उनको सौपर्ण यान कहते हैं। ऐसे सौपर्ण यानों के लिए ही वेद में कहा है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत। (यजु० १२। ४)

तू गरुत्मान् सुपर्ण है, अच्छे पंखवाला, ऊंची उड़ान भरने वाला है इसलिए अन्तरिक्ष से भी ऊपर के स्थान द्युलोक में गमन करके द्युलोक के सुख विशेष के स्थानों पर उतर।

पृथिवी के एक स्थान से दूसरे स्थान पर विमान से जाना और पृथिवी से अन्य लोकों में जाना केवल स्वप्नवत् या काल्पनिक बात नहीं अपितु व्यावहारिक है इस ओर ध्यान आकृष्ट हो इसलिए वेद ने कहा—

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याँ रक्षाँस्यपहँस्यग्ने ।
ताभ्यां पतेम सुकृतामुलोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ।। (यजु० १८ । ५२)

इस तेरे विमान के जो पक्ष हैं वे उत्तम दृढ़ हैं, नष्ट नहीं होने वाले हैं और इनमें पतनशील गुण है जिससे जहां उतारना चाहें वहां उतर सकता है । ये पंख ऐसे हैं जिनमें मध्य की विघ्न बाधाओं को हे अग्नि तू नष्ट करता है । इनके द्वारा उन अच्छे कर्म धर्म वाले लोकों में पहुंचें जहां पर कि पहले के पुराने ऋषि, विज्ञानवेत्ता गये थे । आज संसार के वैज्ञानिक चन्द्रलोक में भी नहीं पहुँच सके परन्तु वेद ने कहा—यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः—पूर्व के ऋषि जिन लोकों में गये थे उनमें मैं भी पहुंचूं यह महान् वैज्ञानिक पथप्रदर्शन है । यह प्रेरणा देता है कि इस कार्य को काल्पनिक नहीं समझो और यही समझ कर चलो कि वहां लोग पूर्व के गये थे अतः हम भी वहाँ चलें । प्रयत्न करें और मार्ग तथा साधन भी खोजें ।

इसी लोक लोकान्तर यातायात में मानव के प्रयत्नों को बल, साहस और ज्ञान देने के लिए वेद ने कहा—

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यँ सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपँ स्वो रुहाणा ऽअधि नाकमुत्तमम् ।। (यजु० १८।५१)

मैं घृत के बल से अग्नि को उस विमान में प्रयुक्त करता हूँ जो कि दिव्य है । द्युलोक में जाने में समर्थ है । शोभन पंख वाला है तथा सुन्दर रूप से सुखपूर्वक उतरने की सामर्थ्य वाला है तथा अग्नि में प्रयुक्त घृत के धूम्र से जिसमें महान् शक्ति उत्पन्न होती है ऐसे विमान के द्वारा हम सब अन्तरिक्ष के विष्टपलोक को जावें और पुनः उस विष्टप लोक से भी ऊपर सुख विशेष के उत्तम लोक को प्राप्त हों ।

विष्टप लोक ताप रहित लोक है । भूमि पर भी त्रिविष्टप स्थान पाप रहित है अर्थात् शीत प्रधान है । इस प्रकार इस मन्त्र में लोक लोकान्तर जाने के वैमानिक साधन का उल्लेख है ।

आज से कुछ वर्ष पूर्व चन्द्र लोकादि जाने की कल्पना वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी पागलों की कल्पना मानी जाती थी । परन्तु जब कल्पना ने मनुष्य के मष्तिष्क में दृढ़ता स्थापित कर ली और—उर्वन्तरिक्ष-मन्वेमि—अन्तरिक्ष के महान् क्षेत्र को प्राप्त हो गया तो दिवं गच्छ—का भी प्रयत्न करने लगा । परन्तु वेद ने तो इस सब को बताने के लिए स्पष्ट उपदेश किया है ।

यातायात सम्बन्धी रक्षक, वाहन, उनके निर्माता एवं प्रयोक्ताओं के बारे में सत्कार भाव प्रदर्शनार्थ एवं उपयोग लेने के कतिपय निम्न मन्त्र-वाक्यों को नीचे उद्धृत किया है—

पथीनां पतये नमः । (यजु० १६ ।१७)

मार्गों के स्वामी एवं रक्षकों के लिए नमस्कार हो ।

यातायात के सम्बन्ध में मार्गों के रक्षक और उनके स्वामियों का भी सम्बन्ध रहता है । मार्ग-रक्षकों से मार्गों की रक्षा भी रहती है तथा मार्ग-रक्षकों से यातायात की सुव्यवस्था भी होती है ।

सशस्त्र-पथ रक्षकों का भी इससे सम्बन्ध है । वेद ने उसका भी उल्लेख किया है—

ये पथां पथि रक्षय ऐलबृन्दा आयुर्युधः । (यजु० १६।६०)

जो मार्गों के पथिकों की एवं पथों की रक्षा करने वाले हैं, पृथिवी सम्बन्धी पदार्थों की रक्षा

करने एवं बढ़ाने वाले हैं तथा जीवन-संग्राम करने में सदा तत्पर हैं। समाज या राष्ट्र को अपने मार्गों की अच्छी प्रकार रक्षा करनी चाहिए इससे यह स्पष्ट है।

दैवी यातायात

यातायात कार्य एवं उनके साधनों के अभाव में सृष्टि का कार्य भी नहीं चल सकता अतः परमात्मा की इस अद्भुत सृष्टि से अद्भुत ढंग से यातायात कार्य चल रहा है। वायु, अग्नि (सूर्य) और जल ये त्रिदेव ही इस कार्य को कर रहे हैं।

वायु एक स्थान के गन्ध, जल, रेत, मट्टी आदि को इधर से उधर ले जाता है। अग्निदेव भी वायु को गतिशील करके अपने में पड़ी हुई आहुति को सर्वत्र प्रसारित कर देते हैं। जल भी अपने ऊपर एवं अपने साथ बहुत सा सामान एक स्थान से दूसरी ओर ले जाता है। परन्तु जब हम इन तीनों की शक्तियों का उपयोग यान, रथ, विमान, नावादि में यन्त्र द्वारा करते हैं तो हमें त्रिदेव की सम्मिलित शक्ति से अत्यन्त गति एवं शक्ति प्राप्त हो जाती है।

सूर्य किरण रूपी अग्नि और वायु यदि पृथिवीस्थ जलों को समुद्र से ऊपर न ले जावें तो वर्षा ही न हो। सूर्य रश्मियाँ यदि सूर्य मण्डल से पृथिवी पर न आवें यहां अन्धकार का ही साम्राज्य बना रहेगा। चन्द्रमादि एक ही स्थिति में रह जावे तो तिथियों का क्षय एवं वृद्धि, शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष नहीं बन सकते। सृष्टि में कालचक्र भी अद्भुत प्रकार से सृष्टि के सब तत्त्वों को आगे ले जा रहा है और अनन्त काल के गर्भ में लुप्त कर देता है जिससे सृष्टि में उत्पत्ति होती है और विनाश भी चलता रहता है।

आध्यात्मिक यातायात

सृष्टि के इस अद्भुत रहस्य को देखकर जीवात्मा भी कह उठता है कि इस शरीर में रहते हुए सूर्य चन्द्र के प्रकाश होते हुए भी महान् अज्ञान का अन्धकार व्याप्त है। मैं चाहता हूं कि इस अन्धकार के पार जाऊं और जो एक दिव्य ज्योति है उसको पार करूं जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णन है—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजु: २७।१०)

इसी प्रकार जीवन रूपी नदी को पार करने के लिए कहा—

अश्मन्वती रीयते सꣳ रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः। (यजु: ३५।१०)

अनेक विघ्न बाधाओं से पूर्ण जीवन रूपी नदी बह रही है। चेतो, उठो और पार करो। यह सब दिव्य यातायात एवं आध्यात्मिक यातायात से सम्बन्धित है। आध्यात्मिक यातायात के दो मार्ग हैं। देवयान एवं पितृयान। इन मार्गों से जीव सूक्ष्म शरीर सहित इस ब्रह्माण्ड में अपने-अपने नियत मार्ग में भ्रमण करके पुनः जन्म लेता है जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णित है—

द्वेसृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। (यजु: १९।४७)

मैं पितृजनों के दो मार्ग सुनता हूं। एक ज्ञानी पितरों का, दूसरा साधारण कर्मशील पितरों का। इन्हीं दोनों मार्गों को उत्तरायण एवं दक्षिणायन, अर्चिमार्ग एवं धूम्रमार्ग भी कहते हैं।

इसी प्रकार निम्न मन्त्र में इन मार्गों के द्वार का भी उल्लेख है—

ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्।
अध्वनामाध्वपते प्रमातिर स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात्॥

(१) **ऋतस्य द्वारो मा मा सन्ताप्तम्**—

ज्ञान के द्वारा मुझको पीड़ा न दें। अर्थात् सत्य विद्या और धर्म ये दोनों मोक्ष स्वरूप आपकी प्राप्ति के द्वार हैं। उनको हम लोगों के लिए कभी पीड़ायुक्त मत रखो—अपितु खुले रखो।

(२) **अध्वनामध्वपते प्रमातिर**—

हे अध्वपते ! परमार्थ और व्यवहार मार्गों से मुझको कहीं भी क्लेश मत होने दे, अर्थात् मुझे अच्छी प्रकार तार दे और—

(३) **स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात्**—

यह देवयान मार्ग मेरे लिए कल्याण, आनन्ददायक हो, आपकी कृपा से किसी प्रकार का दुःख न रहे।

इस मन्त्र में देवयान मार्ग जो कि कल्याण एवं आनन्दप्रद है उसका एवं उसके प्रवेश द्वार का वर्णन है। आज के संसार ने तो इन देवयान एवं पितृयान मार्गों का पता भी नहीं लगा पाया है। उनकी दृष्टि भौतिक होने से भौतिक मार्गों का वे दर्शन एवं चिन्तन कर पाती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि होने पर, आध्यात्मिक मार्ग का पथिक बन कर भी जब संसार इस ओर बढ़ेगा तो ये दोनों मार्ग उसको दीखेंगे और इन मार्गों से पार लगाने वाले साधनों को भी जान सकेंगे।

इसी प्रकार—

चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय। (यजुः ३।१८)

हे विविध ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर ! हम स्वस्तिमान् रहकर तेरा पार पा सकें—अर्थात् इस संसार रूपी एक किनारे से दूसरा जो दूर किनारा आपका है उसको प्राप्त करें।

अग्नि यातायात का साधन है

हमारे भौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक यातायात कार्यों में अग्नि प्रमुख साधन है। भौतिक यातायात के यन्त्रों में इसकी स्थिति किसी न किसी रूप में रहती है। आधिदैविक अर्थात् यज्ञादि कर्म एवं सृष्टि-तत्त्व को पुष्ट करने के कार्यों में अग्नि ही--हव्यवाहन एवं कव्यवाहन बन कर कार्य करता है। जैसा कि वेद में बताया है—

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः। (यजुः ५।३१)

हे अग्ने ! तू व्यापक तथा गति देने वाला है। तू हव्य वहन करने वाला होने से वह्नि है। इस प्रकार वाहक गुण वाला होने से अग्नि को वह्नि कहा है। एक अन्य मन्त्र में भी इसी प्रकार उसका वाहक एवं संचार गुण निम्न प्रकार प्रकट किया है—

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयँ स्वस्तये।

स न ऽ इन्द्र ऽ इव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव।। (यजुः ३५।१३)

अनड्वान् का अर्थ लौकिक भाषा में बैल है। वेद में वोढा अनड्वान् (यजुः २२।२२) में बैल को वहन करने वाला, भार ढोने वाला कहा है। उसी प्रकार से अग्नि भी वोढ़ा है—वहन करने वाला है। सुगन्धियुक्त ओषधियों से प्रकट हुए उस अग्नि को कल्याण के लिए अनुकूल रूप में प्रयुक्त करते हैं। वह देवों के लिए इन्द्र की भाँति हमारे लिए वाहक होता हुआ संसार-सागर का तराने वाला हो।

वायु यातायात का साधन

वायु यातायात का आधार भी और साधन भी। अर्थात् वायु के आधार पर अन्तरिक्ष में हमारा

गमनागमन होता है। यदि अन्तरिक्ष में वायु न हो तो वायुयानादि किसके आश्रय से उड़े। अतः एक स्थल पर वेद ने कहा—

मरुतां पृषतीर्गच्छ। (यजुः २।१६)

वायुओं की नाड़ियों-नालियों, स्तरों या प्रवाहों में गमन कर अर्थात् वायुओं के स्तर के मान से अनेक प्रकार के मार्ग बन जाते हैं। उनमें गति या संचार-क्रिया होती है और उस संचार का उपयोग हम ले सकते हैं।

सृष्टि-विज्ञान में वायु स्वयं संचार का साधन भी बना हुआ है जैसा कि—

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजम्। (यजुः २५।१७)

वायु हमें सुखकारी भेषज को प्राप्त करावे। इसी प्रकार—

अश्मन्नूर्ज्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यऽओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽअधि संभृतं पयः।
तां न ऽ इषमूर्ज्जं धत्तमरुतः सꣳ रराणाः।। (यजुः १७।१)

हे दानशील मरुद्गणो (वायु समूहो)! व्यापक मेघमण्डल में आश्रित रस शक्ति को तथा जलों से, औषधियों से एवं वनस्पतियों से भरा हुआ जो रस है, उन दोनों प्रकार की रस तथा ऊर्ज की शक्ति को हमारे लिए धारण करो। इस प्रकार वायु संचार व्यवस्था करता है। वायु की इस संचार महत्ता को प्रकट करते हुए वेद ने कहा —

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरागहि। (यजुः २७।३२)

हे वायो! तेरे जो हजारों रथ हैं उनसे यहां आओ। —ये वायु के हजारों रथ उनपर आना जाना और किन्हीं देव तत्त्वों का इधर-उधर जाना सृष्टि में संचार एवं यातायात के सूक्ष्म कार्य का परिचय दे रहा है।

वेद में यातायात—संचार-व्यवस्था सम्बन्धी नामों का उल्लेख है। उनमें से कतिपय शब्द यहां उद्धृत किये जाते हैं—

यान	वायुरथ	अनड्वान्
रथ	हस्ति	अश्व
वाहन	पतत्रि	उष्ट्र
नाव	श्येन	शकट
विद्युद्रथ	सुपर्ण	
विमान	गरुत्मान्	

सिंचाई और वेद

पृथिवी पर सृष्टिक्रम से प्राकृतिक रूप से वर्षा द्वारा सिंचाई का कार्य होता है। उससे नदी नद ताल तलैया, झील और समुद्र भर जाते हैं। झरने बहने लगते हैं। पृथिवी के अन्दर पानी के सोते बहने लगते हैं। उनसे हम जब अपने इच्छित कृषि कार्य के लिए इच्छित स्थानों पर ले जाते हैं तो वह सिंचाई कार्य हो जाता है। प्राकृतिक सिंचाई कार्य वर्षा के द्वारा होता है। परन्तु जब वह वर्षा भी मानव प्रयत्नों से कराई जावे तो वह भी हमारे सिंचाई के प्रयत्नों की परिधि में आ जाता है।

यदि पृथिवी पर वर्षा न हो तो हमारे सिंचाई का प्रयत्न जो नदी, तालाब एवं कूओं आदि से होते हैं वे निष्फल हो जावें। इसलिए सिंचाई के लिए सबसे प्रथम और आवश्यक प्रयत्न वर्षा का यथा-समय होना और जब हम चाहें तब होना है। परन्तु हम और सब प्रयत्न करते हैं केवल वर्षा कराने का प्रयत्न नहीं करते। सोचते हैं कि यह हमारे प्रयत्न से परे की बात है। हम बड़े-बड़े बांध बांधते हैं। यदि वर्षा न पड़े तो वे बांध निष्प्रयोजन हो जावेंगे और उनके आश्रित सिंचाई एवं विद्युत् निर्माण की योजनाएँ भी निष्फल हो जायेंगी। अतः वेद ने कहा—

निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। (यजु॰ २२। २२)

हम जब-जब इच्छा करें मेघ जल की वर्षा करें। इस कार्य के ज्ञाता जब तक न हों तब तक यह कार्य नहीं हो सकता। इस मन्त्र से वेद ने यह बताया कि यदि मनुष्य मेघों को इच्छानुसार समय-समय पर वर्षाना चाहे तो यह भी उसके प्रयत्न से संभव हो सकता है। अतः जो इस विद्या में कुशल हों उनका देश या राष्ट्र को अच्छी प्रकार सम्मान करना चाहिए। वेद ने इसीलिए कहा—

नमो मीढुष्टमाय – अत्यन्त वर्षा करनेवालों या सींचने वालों के लिए आदर हो। (यजुः १६।२६)
नमो वीध्र्याय च—अभ्र-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
आतप्याय च—आतप-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
नमो मेघ्याय च—मेघ विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
विद्युत्याय च—विद्युत्-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
नमो वर्ष्याय च—वर्षा-विज्ञान में कुशल के लिए नमस्कार हो।
अवर्ष्याय च—वर्षा-निवारण में कुशल के लिए नमस्कार हो। (यजुः १६। ३८)

इन वेद-वाक्यों से वेद ने बताया कि वर्षा कराने के विज्ञान को जानो और वर्षा यथेच्छ समय कराओ। बादलों के निर्माण, बादलों में वर्षण-प्रभाव को देखना, किस प्रकार के बादल वर्षते हैं और किस प्रकार के नहीं। जल भरे मेघों में और वर्ष चुके मेघों के स्वरूप में क्या भेद है इत्यादि विज्ञान प्राप्त करो। वर्षा के लिए आतप-विज्ञान का भी जानना आवश्यक है। आतप के विना पृथिवीस्थ या समुद्रस्थ जलों का ऊपर आकर्षण नहीं हो सकता। अतः आतप की वृद्धि न्यूनता करने का विज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मेघों में विद्युत् का प्रभाव क्या होता है। किस प्रकार की विद्युत् से वर्षा होती है यह विज्ञान

वर्षा के लिए जानना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने से वर्षा कराने और रोकने का भी प्रयोग ज्ञान आवश्यक है।

इन सब विज्ञानों का प्रयोग जब वर्षा के लिए करते हैं तब जो प्रणाली निर्धारित करके प्रयोग किया जाता है वह वेद की परिभाषा में वृष्टि यज्ञ होता है। इसलिए वेद ने कहा—

वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु: १८। ९)

मेरी वृष्टि यज्ञ के द्वारा सुसम्पन्न एवं समर्थ हो। इस प्रकार यज्ञ से वृष्टि के द्वारा सर्वत्र आवश्यकतानुसार पृथिवी पर जल की पूर्ति एवं सिंचाई की व्यवस्था हो सकती है। इसलिए वेद ने पुनः कहा—

अभ्यावर्तस्व पृथिवी यज्ञेन पयसा सह। (यजु: १२। १०३)

हे पृथिवी ! यज्ञ द्वारा सिंचित जल के साथ प्राप्त हो। इस प्रकार जब यज्ञ के द्वारा पृथिवी को जल से सिंचित करने का कार्य प्रारम्भ हो जायगा तो सिंचाई की व्यवस्था जैसी करनी हो वैसी की जा सकती है। कूएँ, नदी, तालाब, सर सब जल पूर्ण रहने से उनके आश्रय से नहर, नालियों द्वारा सिंचाई हो सकती है। वेद में सिंचाई के प्रमुख स्रोतों के लिए निम्न प्रयोग आये हैं।

नमः स्रुत्याय—जो क्षुद्र नालियां केवल १ दिन बहने वाली हैं। सप्ताह में एक दिन या जैसी सिंचाई की व्यवस्था बनाई गई हैं। उसके अनुसार जिन क्षुद्र मार्गों से पानी को ले जाया जाता है उनके द्वारा सिंचाई कार्य में कुशल के लिए आदर हो।

पथ्याय च —वे जलीय मार्ग जिनमें मार्गों पर चलने वाले रथादि सदृश जलों के रथ, छोटी, नाव विहारादि चल सकें ऐसे जलीय भागों को बनाने में कुशलों के लिए आदर हो।

नमः काट्याय च —कूपादि बनाने में या जलों के विषम मार्ग बनाने में कुशल के लिए आदर हो।

नीप्याय च —झरने आदि बनाने में कुशल के लिए आदर हो।

नमः कुल्याय च —कृत्रिम नदी—बड़ी नहरें बनाने के कार्य में कुशल के लिए आदर हो।

सरस्याय च —बड़े तालाब बाँध आदि बनाने में कुशल के लिए आदर हो।

नमो नादेयाय च —नदियों की व्यवस्था करने में कुशल के लिए आदर हो।

वैशन्ताय च —छोटे तालाब बांध आदि बनाने में कुशल के लिए आदर हो।

वेद में ओषधि एवं चिकित्सा-विज्ञान

वेद में भुवः शब्द अनेक स्थानों पर आता है। गायत्री मन्त्र जो गुरु मन्त्र नाम से प्रसिद्ध है उसमें 'भूः-भुवः-स्वः' ये तीन महाव्याहृतियां हैं। भुवः का अर्थ दुःखनाशक है। इससे ज्ञात होता है कि जो दुःख हमें प्राप्त होते हैं उन दुःखों को भी दूर किया जाता है और उन दुःखों को दूर करने की शक्ति अवश्य कहीं है।

दुःखों को निम्न तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१—शारीरिक (आध्यात्मिक) शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से सम्बन्धित दुःख, रोगादि।

२—आधिभौतिक—प्राणियों से उत्पन्न दुःख।

३—आधिदैविक, बाढ़, अग्नि, आंधी, भूकम्प आदि के दुःख, प्राकृतिक पदार्थों से उत्पन्न दुःख।

इन तीनों प्रकार की विपत्तियों से अनेक प्रकार के रोग भी होते हैं वे चाहे शारीरिक हों या मानसिक, एक व्यक्ति तक ही सीमित हों या देशव्यापी हों उनको दूर करने के लिए ओषधि-विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। रोग का उपचार करने के लिए जो ओषधि आदि का प्रयोग किया जाता है वह चिकित्सा-विज्ञान का ही अंग है। वेद की 'भुवः शक्ति'—दुःख नाशक शक्ति—सृष्टि के पदार्थों में तथा उनसे उत्पन्न क्रियाओं में विद्यमान है। वेद कहता है कि मैंने तुम्हारे लिए इस सृष्टि के अन्दर दुःखों को निवृत्त करने के लिए ओषधियाँ दे रखी हैं, भेषज तत्त्व प्रदान किया है उसका तू ज्ञान प्राप्त कर और सुखी हो।

भेषज तत्त्व की सृष्टि में विद्यमानता

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्।
सुखं मेषाय मेष्यै॥ (यजुः ३। ५९)

इस संसार में पुरुष, गौ, घोड़ा, भेड़ एवं भेड़ी सभी के लिए रोग वा दुःख दूर कर सुख देने के लिए ओषधि है। अर्थात् भुवः शक्ति है, वह स्वः की प्राप्ति कराती है और भूः प्राण, जीवन को देने एवं उसको बढ़ाने वाली है। अतः ओषधियों में—चिकित्सा में—'भूर्भुवःस्वः' विद्यमान है। यही परमात्मा का भर्ग है। यह भर्ग सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है। 'भुर्भुवः स्वः' के अभाव में सृष्टि का जीवन नहीं रह सकता। यदि संसार में परमात्मा की यह शक्ति वायु में से एक क्षण के लिए भी निकल जावे तो प्राणि-जगत् नष्ट हो जावे। यदि जल से यह शक्ति निकल जावे तो सर्वत्र हाहाकार होने लगे। यदि सूर्य-रश्मि एवं अग्नि में से यह शक्ति निकल जावे तो सर्वत्र चीत्कार सुनाई पड़ने लगे। अतः परम दयालु परमात्मा

ने अपना भर्ग—भूर्भुवः स्वः—प्राण, दुःख-नाशक शक्ति एवं सुख को सर्वत्र प्रसारित कर रखा है और उस की प्राण शक्ति से हमारा प्राण पुष्ट हो रहा है। उसकी दुःखनाशक शक्ति से हमारे दुःख दूर होते रहते हैं और उसके सुख के अक्षय भण्डार से हम सुख भी प्राप्त करते रहते हैं। इस प्रकार वेद ने ओषधि का सृष्टि के विविध तत्त्वों में दर्शन कराया है। निम्न वेद मन्त्र में सूर्य रश्मियों एवं वायु में भेषज तत्त्व की विद्यमानता प्रदर्शित की गई है—

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।।
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ।। (यजुः २५।४६)

(१) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा और इसकी विविध शक्तियों ने इन भुवनों को सुखपूर्ण सिद्ध किया है तदनुसार हम सब भी उससे सुख को सिद्ध करें।

(२) इन्द्र अर्थात् परमातमा अथवा विद्युत् अग्नि आदि सूर्य की विविध प्रकार की रश्मियों के साथ एवं विविध प्रकार की वायु—प्राण शक्तियों के साथ हमारे लिए नीरोगता सम्पादन—ओषधि का कार्य करे—क्योंकि

(३) वही इन्द्र परमात्मा या विद्युत्, अग्नि आदि तत्त्व अपनी अखंड शक्तियों द्वारा हमारे यज्ञ को, हमारे शरीर को और हमारी प्रजा को आरोग्यतापूर्ण सिद्ध करता है।

इस मन्त्र में, सूर्य रश्मियों एवं विविध प्रकार की वायुओं में, विद्युत् और अग्नि में भेषज शक्ति की विद्यमानता प्रकट की है। ये तत्त्व इस सृष्टि में सर्वत्र फैले हुए हैं।

अग्नि में भेषज गुण

निम्न मन्त्र में अग्नि के लिए विशेष रूप से कहा है—

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भव । (यजुः २५।४७)

हे अग्ने ! तू हमारे अत्यन्त निकट है। अतः तू अनेक प्रकार से हमारा रक्षक है। हम उन रक्षक प्रकारों को और गुणों को जान भी नहीं पाते और अनुभव भी नहीं कर पाते हैं। परन्तु अग्नि की रक्षण शक्ति से हमारा तथा सृष्टि का कार्य चल रहा है अतः तू हमारे लिए सदा कल्याणकारी हो।

अग्नि की तो अप्सरा ही ओषधियां हैं जिनसे दुःख नाश होकर आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसा कि—

ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु— ।। (यजुः १८।३८)

सत्य का ही सहन करने वाला, सत्य को ही धारण करने वाला पृथिवी अथवा वाणी का धारण करने वाला जो अग्नि है उसकी सहचारिणी व्यापक शक्तियां ओषधियां हैं जो कि मोदकारी हैं। अतः वह अग्नि हमारे लिए इस शरीर में तथा सर्वत्र ब्राह्म तथा क्षात्रबल को सुरक्षित रखे।

रोगों से बल एवं आयु क्षीण होती है, प्राण-शक्ति का ह्रास होता है और बल की वद्धि से रोग शक्ति घटती है, जीवन प्राप्त होता है, प्राण पुष्ट होते हैं और आयु की वृद्धि होती है। हमारे शरीर में ब्राह्म एवं क्षात्र बल दोनों संतुलित होने चाहिएं। असंतुलित बल भी रोग का कारण होता है। इस मन्त्र में अग्नि में ओषधियों का प्रयोग करके उसका भेषज गुण प्रकट किया है। यही यज्ञ की प्रक्रिया है।

इसी को अभी पूर्व ही — यज्ञं च नस्तन्वं च — ऊपर कथित मन्त्र वाक्य में यज्ञ के साथ अपनें शरीर को आरोग्यतापूर्ण करनें को कहा है।

जलों में भेषज तत्त्व

वेद नें जल के भीतर भी भेषज गुण बताया है जैसा कि—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। (यजुः ९।६)

जलों में अमृत तत्त्व—जीवनीय एवं आरोग्य तत्त्व है। जलों में भेषज तत्त्व है। अर्थात् जल के द्वारा हमें निरन्तर, प्राण, जीवन, बल, आरोग्यता, ओषधि, रोग निवारक शक्ति एवं सुख प्राप्त होता रहता है। वेद में जल के इस प्रकार के पालक गुणों के कारण और उसके द्वारा पृथिवी में अन्नोत्पादन एवं वर्धन होनें के कारण उसको माता की संज्ञा दी है। जैसा कि—

आपो अस्मान्मातरः। (यजुः ४।२)

जल हमारी माता है। अतः —

इमा आपः शमु मे सन्तु। (यजुः ४।१)

ये जल हमारे लिए सुखकारी हों। और—

सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। (यजुः २०।१९)

तुझ में अच्छी प्रकार से ओषधि और जलों का प्रवेश हो। इस प्रकार ओषधि एवं जल जिसको भी प्राप्त होंगे उसके जीवन की वृद्धि एवं पुष्टि होगी और रोग रहित होगा। जल स्वयं ओषधि है। परन्तु जब उसके अन्दर और भी विशेष रूप से ओषधि तत्त्व का प्रवेश करा दिया जाता है तो वे जल और भी विशिष्ट ओषधि का कार्य करते हैं। और उनका जो सेवन करते हैं वे उसका विशेष लाभ बल आदि प्राप्त करते हैं जैसा कि निम्न मन्त्र में है—

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।
सो ऽहं वाजँ् सनेयमग्ने॥ (यजुः १८।३५)

हे अग्ने! तुम्हारे साहचर्य से मैं पृथिवी से उत्पन्न हुए जलों से अपने जीवन का निर्माण करता हूं। और पृथिवी से उत्पन्न उन विविध रसपूर्ण जलों एवं ओषधियों से भी अपने जीवन का निर्माण करता हूं। इस प्रकार जल एवं ओषधि रसों का सेवन करने वाला मैं बल को प्राप्त करूं। अर्थात् जल और ओषधियों से बल की प्राप्ति होती है।

वायु में भेषज तत्त्व

ओषधियों का वायु के माध्यम से प्रयोग होता है। ओषधियों का अग्नि के माध्यम से प्रयोग होता है, ओषधियों का जल के साथ प्रयोग किया जाता है और ओषधि का अन्य पार्थिव ओषधियों एवं द्रव्यों के साथ प्रयोग होता है ऐसा वेद प्रतिपादित करता है।

वायु के द्वारा भेषज तत्त्व प्रसारित किया जा सकता है और प्राणिमात्र के स्वास्थ्य को सुधारा जा सकता है। जो रोग संक्रामक हैं उनके निवारण करने के लिए एवं ऋतु-परिवर्तन के अवसर पर जब रोग व्यापक रूप से फैलते हैं उस समय वायु में भेषज तत्त्व के प्रसारण से विश्व के स्वास्थ्य को सुधारा जा सकता है। वेद ने इसके सम्बन्ध में कहा है—

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ।। (ऋ० १०।१८७।१)

वायु भेषज तत्त्व को--ओषधि तत्त्व को अच्छे प्रकार लावे, ले जावे । वह ओषधियुक्त वायु कल्याणकारक, रोगनाशक एवं सुखकारक हमारे हृदय, शरीर के भीतर के हृदय प्रदेश के भाग के समीपस्थ फुफ्फुसों में अच्छी प्रकार प्रवेश करे, उसमें गति करे । वह भेषजयुक्त वायु जो हमारे हृदय एवं वक्ष स्थल में तथा शरीर के जिस भाग में प्रवेश करे वह रोग को नष्ट कर आयु को देने वाला हो ।

यज्ञ द्वारा आहुति में ओषधियों का प्रयोग करके वायु को भेषज रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है । अनेक प्रकार के रोगों के लिए अनेक प्रकार की वात भेषज तैयार हो सकती है और उनको पृथक्-पृथक् संगृहीत कर के जिस रोग के लिए जिस वात भेषज का उपयोग करना है वह किया जा सकता है। इसके द्वारा किसी कक्ष को वात भेषज का बना कर रोगी को उसमें रखकर चिकित्सा कार्य हो सकता है । अर्थात् सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत चिकित्सा-कार्य वायु के माध्यम से किया जा सकता है ।

आज की चिकित्सा-प्रणाली में वायु-चिकित्सा एवं वायु के शोधन-कार्य का विकास नहीं हुआ है जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । केवल आक्सीजन का प्रयोग कुछ प्रचलित हुआ है । परन्तु जिस प्रकार से अनेक ओषधियों के जलीय मिश्रण एवं चूर्ण, टिकियों तथा इन्जेक्शनों का व्यवहार हो रहा है उसी प्रकार वायु को भी विविध ओषधियों के मिश्रणों से पूर्ण बनाया जा सकता है और वात-कोष बनाकर सुरक्षित किया जा सकता है ।

सूर्य रश्मियों में भेषज तत्त्व

आग्नेय चिकित्सा में रश्मि-चिकित्सा, सूर्य-चिकित्सा, यज्ञ-चिकित्सा आदि कार्य हैं । निम्न वेद मन्त्र में सूर्य को चराचर जगत् का आत्मा, प्राणतुल्य कहा है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । (यजु: ७।४२)

वह सूर्य सकल जंगम तथा स्थावर जगत् का आत्मा है—प्राण है । यदि यह प्राण का दाता सूर्य प्राण शक्ति देना त्याग देवे तो संसार नष्ट हो जावे । प्राणदाता होने से आरोग्यता देने वाला भी है। अरोग्यता देने वाला होने से रोगों का तथा रोग कीटाणुओं का नाशक है जैसा कि वेद में कहा है:—

उद्यन्नादित्यः क्रमीन् हन्तु । (अथर्व० २ । ३२ । १)

उदय होता हुआ सूर्य अनेक प्रकार के कृमियों का नाश करता है । अतः ज्ञात होता है कि रश्मियों में विविध प्रकार के आरोग्यता प्रदान करने वाले गुण हैं और उनका विश्लेषण करके पृथक् पृथक् रश्मियों का गुण ज्ञात किया जा सकता है और उपयोग लिया जा सकता है तथा उनका अग्नि विद्युतादि के माध्यम से निर्माण करके भी प्रयोग किया जा सकता है । सूर्य रश्मियों का प्रभाव समस्त जगत् के पदार्थों पर पड़ता है अतः जगत् के पदार्थों में सूर्य रश्मियों से उनकी भेषज शक्ति की वृद्धि एवं रक्षा होती है । यह भेषज-शक्ति सूर्य की पृथक्-पृथक् स्थानों पर पृथक्-पृथक् पदार्थों में पदार्थों की बीज सामर्थ्य के अनुसार उनमें केन्द्रित या संरक्षित भी होती है और सर्वत्र व्याप्त भी रहती है । अतः सूर्य की रश्मियों का हमारे शरीर से सम्पर्क अत्यन्त लाभकारी है ।

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ओषधि, वनस्पति, अश्विनी, मित्र, वरुण, विद्युत्

सरस्वती, पूषा, सविता, प्राण आदि प्राकृतिक स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्व दैवी भिषक् हैं। ये दिन रात अपना भेषज कार्य करते रहते हैं। वेद इन सबकी शक्तियों का उपयोग लेने का संकेत देता है। इन तत्त्वों को विशेष क्रियाशील करने के लिए वेद यज्ञ के मार्ग का उपदेश देता है। ये तत्त्व हमें जीवन, आयु आरोग्यता एवं प्राण देवें और हमारे द्वारा सम्पन्न यज्ञ से वे ओषधियों के मधुर रस को पीवें। इस प्रकार जीवन एवं प्राण का उत्पत्ति केन्द्र बनकर यज्ञ विविध तत्त्वों के माध्यम से हमें लाभ पहुँचाता है। निम्न मन्त्र में सूर्य के प्रति यह क्रम प्रदर्शित किया गया है—

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् (यजुः ३३। ३०)

तेजस्वी सूर्य यज्ञपति के अन्दर स्थिर आयु को धारण करता हुआ महान् ओषधि के मधुर रस को पीवे। यहां पर यज्ञपति में आयु को धारण कराने के साथ महान् ओषधि रसों को पीने का सम्बन्ध यही है कि यज्ञ में ओषधि, घृत, मधु आदि का प्रयोग होता है और उसको सूर्य की रश्मियां ग्रहण करती हैं और सूर्य मण्डल से वे पुनः यजमान पर प्रक्षिप्त होती हैं। इस प्रकार हमारे यज्ञ से सृष्टि-यज्ञ के तत्त्वों में पोषण होने का और उससे हमारी पुष्टि का क्रम चलता रहता है।

भेषज कार्य के लिए यज्ञ की उपयोगिता

यज्ञ से सूर्य तथा जल भी हविर्युक्त हो जाते हैं यह ज्ञान वेद का निम्न मन्त्र दे रहा है—

हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ २ ऽ आविवासति।
हविष्मान्देवो अध्वरो हविष्माँ २ ऽ अस्तु सूर्यः॥ (यजु० ६।२३)

यह जल यज्ञ की हवि को ग्रहण करके हविर्युक्त हों यज्ञकर्त्ता यजमान हवि देने वाला यह चाहता है। अतः यज्ञ देव हविर्युक्त हों जिससे सूर्य भी हविर्युक्त हो। इस प्रकार यज्ञ से सूर्य पर प्रभाव पड़ता है यह वेद मन्त्र बता रहा है।

इसी प्रकार सूर्य तथा उसके समीप की शक्तियों का प्रभाव यज्ञ पर पड़ता है तथा यज्ञ से सृष्टि के विविध तत्त्वों को पोषण भाग मिलता है यह निम्न मन्त्र से ज्ञात होता है—

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ
मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ।
अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ (यजु० ६।२४)

१. हे विविध प्रकार के यज्ञानुष्ठानों की अग्नियो! तुमको निरन्तर प्रदीप्त रहने के लिए उत्तम आश्रय स्थान की वेदि में स्थापित करता हूं, जिससे—

२. तुम इन्द्र और अग्नि तत्त्व, मित्र और वरुण तत्त्व तथा विश्वेदेवों को उन-उनका भाग पहुंचा कर उनको पुष्ट और तृप्त कर सको।

३. जो शक्तियां सूर्य के समीप हैं या सूर्य जिनसे संयुक्त है वे सब हमारे इस यज्ञ को प्रेरित करें। इस प्रकार इस मन्त्र ने सूर्य की यज्ञ के प्रति क्रियाशीलता का संकेत दिया है। उस क्रियाशीलता को अनुभव करना चाहिए एवं उसको प्रत्यक्ष करने के साधन बनाने चाहिएं। हम चाहे अनुभव करें या न करें, वह क्रिया तो सृष्टि में होगी ही सृष्टि का कार्य जिस महान् विज्ञान से चल रहा है उसकी अनु-

भूति या उसके दर्शन से हम अपने ज्ञान की वृद्धि कर लेते हैं और उसका उपयोग लेने में समर्थ हो पाते हैं।

यज्ञ के द्वारा विश्व-स्वास्थ्य का निर्माण होता है। इस महान् सरल एवं प्रत्यक्ष विज्ञान का रहस्य आज के विज्ञान-वेत्ताओं को प्रकट नहीं हुआ। वेद का वैशिष्ट्य इसी में है कि यह हमें विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को प्रकट कर देता है। हमें चाहिए कि हम उनको समझने का प्रयत्न करें। वेद ने भेषज यज्ञ का संकेत किया है। भेषज यज्ञों की उपयोगिता विश्व के स्वास्थ्य से सम्बन्धित है। इसका निम्न मन्त्र में संकेत मिलता है—

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना। (यजु० १९।१२)

सृष्टि के देव भिषक्-कुशल चिकित्सक अश्विनौ के द्वारा देवों ने भेषज यज्ञ को सुविस्तृत किया। परमात्मा की अपार कृपा से सृष्टि के तत्त्व अपने भेषज कार्य को करते हुए—'भूर्भुवः स्वः' रूपी भर्ग को प्रकट कर रहे हैं। इनमें परमात्मा की ही भेषज शक्ति विविध प्रकार से कार्य करती है उसने ही सृष्टि में भेषज शक्ति प्रसारित की है। सूर्य, विद्युत् एवं अग्नि में परमात्मा की भेषज शक्ति है। इसको निम्न वेद मन्त्र में प्रतिपादित किया है—

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती भारती महीः।
इन्द्र पत्नीर्हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥ (यजु० २८।८)

समष्टि यज्ञ के होता परमेश्वर ने भेषज रूप तीन दिव्य शक्तियों को संगत किया है। वे ऐश्वर्य की पालनकर्त्री, रसवती तथा कर्मसाधिका महती आग्नेय, वैद्युत् तथा सौर शक्तियाँ प्राप्त हों और उन शक्तियों को धारण करने वाले लोक प्राप्त हों, एतदर्थ हे होता! तू घृतादि से यजन कर।

इस मन्त्र में भेषज कार्य के लिए, अग्नि विद्युत् एवं सौर शक्तियों को उपयोगी बताया है परन्तु इन शक्तियों को धारण करने वाले लोक प्राप्त हों इसलिए यज्ञ द्वारा क्रियाशील होता बनकर क्रिया करने को कहा है। इन लोकों की प्राप्ति का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि अग्निप्रधान स्थान, एवं सौर-शक्ति प्रधान स्थानों की प्राप्ति या उनका निर्माण हमें करना चाहिए। यजन-क्रिया से अर्थात् संगतिकरण क्रिया और दान—पृथक्करण की क्रिया से ऐसे साधन या यन्त्र मण्डलों का निर्माण करना चाहिए जिससे आग्नेय, वैद्युतिक एवं सौर चिकित्सा की सुविधा हो सके।

सोम संसार को पुष्ट करता है। सोम से हमारे शरीर में भी प्राण, जीवन एवं आनन्द की प्राप्ति होती है। द्युलोक में रहने वाले सोम का पृथिवी पर आगमन होता है उससे सब वृक्ष वनस्पतियों की भी पुष्टि होती है। मेघों में भी उसकी उपस्थिति होती है। सूर्य के चारों ओर सोम का मण्डल विद्यमान है। सूर्य से सोम का निर्माण भी होता रहता है। परन्तु जब हम यज्ञ करते हैं तब सोम का निर्माण वेदि से भी होता है उसका पान प्राणवायु के द्वारा यज्ञ करने वालों को प्राप्त होता है। सोम दिव्य ओषधि तत्त्व है। सोम ओषधियों का सार, सूक्ष्म भाग है। यह सोम ओषधियों का राजा है।

वेद मन्त्र इसको निम्न प्रकार वर्णित कर रहा है—

यदत्र रिप्तँ रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमꣳ राजानमिह भक्षयामि॥ (यजुः १९।३५)

यज्ञ में रस लेने वाले सोमादि ओषधि के जिस प्राप्तमय रस को सूर्य अपने तापादि क्रियाओं से पीता है, मैं इस सोम ओषधिराज के उस भाग को शान्त मन से इस यज्ञ में सेवन करता हूं। इससे

स्पष्ट है कि यज्ञ में सूर्य की सौर शक्ति का संयोग होता है और आग्नेय शक्ति का भी होता है। इन दोनों अग्नियों के क्रियाशील होने पर अन्तरिक्ष स्थानीय विद्युत् अग्नि भी क्रियाशील होनी चाहिए और उसके अनुभव करने का साधन प्राप्त करना चाहिए। यज्ञ से सोम का निर्माण होने से जो यज्ञ में शान्त एवं प्रसन्न मन से विराजते हैं उनको भी सोम का अंश प्राप्त होता है। अतः यज्ञ में ओषधिराज सोम के उत्पन्न होने से हमारी अनेक प्रकार की चिकित्सा होती है और अनेक ओषधियों के सेवन का लाभ प्राप्त होता है।

आज वैज्ञानिकों ने रश्मि-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, ओषधि-चिकित्सा, प्राकृतिक-चिकित्सा, उपवास-चिकित्सा, प्राण-चिकित्सा, ताप-चिकित्सा, विद्युत्-चिकित्सा आदि अनेक-अनेक प्रकार निकाले हैं उनमें अभी बहुत उन्नति की आवश्यकता है। एक रोगी पर अनेक प्रकार के चिकित्सा-प्रयोग हो सकते हैं। चिकित्सा की एक ही प्रणाली नहीं होनी चाहिए।

जब चिकित्सा का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से ही हो जाता है अर्थात् किसी रोगी व्यक्ति की चिकित्सा करनी होती है तब ओषधि का प्रयोग सीमित हो जाता है। इस प्रकार चिकित्सा कार्य अनेक रूप में बढ़ जाता है।

भेषज कार्य में वाणी की उपयोगिता

चिकित्सा कार्य में वाणी से भी आरोग्यता होती है। यह कार्य अनेक प्रकार से हो सकता है। रोगी से मधुर वचन बोलने और उसको धैर्य दिलाने से रोग की न्यूनता होती है। मानसिक रोगों में वाणी के द्वारा भी चिकित्सा होती ही है। रोगों पर संगीत का भी प्रभाव पड़ता है। संगीत से अनिद्रा, बैचैनी आदि में शान्ति होती है और ज्वरादि रोगों के वेग को भी घटाया जा सकता है और उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। अनेक रोगों में रोगी के पास आने वाले व्यक्तियों से रोगी के वार्तालाप से भी रोग की कमी होती है और आगन्तुकों के बोलने से भी रोग की कमी होती है। अतः वाणी को ओषध रूप में प्रयुक्त करने के विज्ञान को वेद निम्न शब्दों में प्रकट कर रहा है—

वाचो मे विश्वभेषजः। (यजु० २०।३४)

मेरी वाणी विश्व की ओषधि है। वाणी के द्वारा चिकित्सा-कार्य में कुशलों को सरस्वती भिषक् नाम से वेद में कहा है—

वाचा सरस्वती भिषक्। (यजु० १९।१२)

वाणी के द्वारा सरस्वती भिषक् भेषज यज्ञ को सुसम्पन्न करते हैं। इसी प्रकार—

भेषजं नः सरस्वती। (यजु० २०।६४)

हमारी ओषधि मधुर एवं उत्तम वाणियां हैं। इस प्रकार वेद ने अनेक रूप में भेषज के स्रोतों का ज्ञान दिया है। हमें चाहिए कि हम उसके प्रयोग के स्वरूपों का विकास करें। जिस प्रकार सोम को ओषधियों का राजा वेद ने कहा है उसी प्रकार वरुण को चिकित्सकों का स्वामी कहा है जैसा कि—

भिषक्पति वरुण

वरुणं भिषजां पतिम्। (यजुः २१।४०)

इस मन्त्र वाक्य में कहा है। वरुण को जलों का स्वामी कहा जाता है जैसा कि 'वरुणोऽपामधिपतिः' (अथर्व ५।२४।४) में कहा गया है अतः जल, चिकित्सकों का स्वामी है। विना जल के ओषधियों का प्रयोग एवं चिकित्सा कार्य सम्पन्न हो जावे ऐसा संभव नहीं।

'अग्निर्हिमस्य भेषजम् ।' (यजुः २३।१०) इस मन्त्र-वाक्य में आग्न का हिम, शैत्य के लिए ओषधि गुण बताया है। इसी प्रकार वनस्पतियों के लिए—

वनस्पतियों में भेषज तत्त्व

शमिता नो वनस्पतिः । (यजुः २१।२१)

वनस्पतियां हमें शान्ति प्रदान करने वाली हैं। हमारे रोग एवं दुःखों को शमन करने वाली हैं। इनका प्रयोग सर्वसाधारण को चिकित्सा के लिए अति सुलभ होता है। ओषधि, वनस्पतियों में विविध प्रकार की रोगनाशक शक्तियां विद्यमान हैं। कोई ओषधि कड़वी है तो कोई मीठी है कोई चरपरी है तो कोई खट्टी है। कोई खारे स्वाद की है तो कोई कषाय रस की है। एक ही प्रकार के स्वाद की अनेक ओषधियों, वनस्पतियों में भी भिन्न-भिन्न गुण होते हैं।

ओषधियों को प्रभावशील बनाना

वेद ने ओषधि वनस्पतियों को विशेष प्रभावशील बनाने का उपदेश दिया है। प्रकृति से उत्पन्न होने वाली ओषधियों में स्थान एवं जल भेद से गुणों की न्यूनाधिकता हो जाती है अतः ओषधि, वनस्पतियों को उत्तम गुण वाली बनाने के लिए निम्न मन्त्र में उपदेश किया है—

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ (यजुः ११।३८)

प्रजाओं के आरोग्य के लिए दिव्य मधुर जलों को सम्पादन करो। उन जलों से सींचे हुए प्रदेशों में अच्छे फल वाली ओषधि, वनस्पतियां उत्पन्न हों। आजकल ओषधि को मूल रूप से, प्रारंभ से ही उत्तम बनाने की ओर ध्यान उतना नहीं गया है जितना जाना चाहिए। मानव जीवन की आयु की वृद्धि एवं रक्षा के लिए वेद के इस आदेश के अनुसार चिकित्सा कार्य में प्रयुक्त होने वाली ओषधियों को दिव्य एवं मधुर जलों से सिंचित करना चाहिए। किस ओषधि के लिए कौन सा दिव्य एवं मधुर जल होना चाहिए जिससे उसके गुणों की वृधि हो इसका विज्ञान प्रचलित होना चाहिए। वेद इस बारे में और भी प्रेरणा देता है कि यह कार्य कैसे हो—

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन ।
मधुमतीं मधुमता सृजामि सँ सोमेन ।
सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय
सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ (यजुः १९।१)

(१) मैं तुझ स्वादयुक्त ओषधि को उसी स्वाद वाली ओषधि के रस से सिंचित करके अच्छी प्रकार उत्पन्न करता हूं—स्वाद्वीं त्वा स्वादुना सोमेन संसृजामि ।

(२) मैं तीव्र रस गुण वाली ओषधियों को तीव्र ओषधि रसों से अर्थात् उसी जाति की ओषधियों के रस से सिंचित करके अच्छी प्रकार उत्पन्न करता हूं—तीव्रां तीव्रेण सोमेन संसृजामि ।

(३) अमृत रूपी गुणवान् ओषधि वनस्पतियों को उन्हीं सजातीय ओषधियों से निष्पन्न सोम रस से सिंचित करके अच्छी प्रकार उत्पन्न करता हूं— अमृतां अमृतेन सोमेन संसृजामि ।

(४) मधुर रस गुण वाली ओषधि, वनस्पतियों को उन्हीं मधुर रस वाली ओषधियों से निष्पन्न सोम रस से सिंचित करके अच्छी प्रकार सर्जन करता हूं—मधुमतीं मधुमता सोमेन संसृजामि ।

(५) जब इस प्रकार ओषधियों को उत्पन्न किया जावेगा तब वे ओषधियां सोमपूर्ण, आरोग्य गुण, भेषज शक्ति से परिपूर्ण होंगी और उनको हम कह सकेंगे कि—सोमोऽसि—हे ओषधि ! तू निस्सन्देह अब सोम ही है। अतः—

(६) तू प्राणापान की शक्ति देने के लिए, आग्नेय एवं सोम शक्ति के देने के लिए परिपक्व हो—अश्विभ्यां पच्यस्व।

(७) तू वाक् शक्ति (वाणी एवं रसना शक्ति) के लिए परिपक्व हो—सरस्वत्यै पच्यस्व।

(८) तू अच्छी प्रकार से शरीर, इन्द्रियादि का रक्षण करने वाले मन के लिए परिपक्व हो—इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।

इस प्रकार इस मन्त्र में ओषधि वनस्पतियों को गुणकारी बनाने का विज्ञान वेद ने बताया और इनसे मन, वाक् एवं प्राण से उत्पन्न भूत जात के सूक्ष्म एवं स्थूल सब की चिकित्सा के लिए उपयोगी होना बताया।

यह प्रथम प्रयोग ओषधियों को गुणकारी बनाने का बताने के पश्चात् वेद दूसरा प्रयोग सोम रूप से सम्पन्न ओषधियों को यज्ञ में हवि रूप से प्रयुक्त करके उससे उत्पन्न मेघों के जलों से सिंचन करने का बताया है जैसा कि—

परीतो षिचता सुतँ् सोमो य उत्तमँ् हविः।
दधन्वान्यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥ (यजुः १६।२)

जो सोम उत्तम हवि है, जो नरों के लिए उत्तम गुणों को धारण किये हुए है, तथा जो जलों में या जलों के माध्यम से निष्पन्न या सिद्ध होता है उस सुसम्पन्न सोम को सोम तुल्य प्रभावशाली ओषधियों को इस यज्ञ से निष्पन्न हुए मेघों से—मेघों के जलों से—सिंचित करो।

हमारे विलासी जीवन ने हमारी आवश्यकताओं को बदल दिया और रोगोत्पादक तम्बाकू एवं चाय आदि की खेती के लिए विज्ञान ने अपना आशीर्वाद देकर, धन के लोभ ने धन की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत् कर मानव के जीवन को नष्ट करने वाले इन पदार्थों का उत्पादन एवं प्रसार किया। जीवन एवं धन के मध्य धन का महत्त्व मानव ने अधिक मानकर मानव को रोग ग्रस्त कर दिया। परन्तु जीवन देने वाली ओषधियों की उत्पत्ति एवं उनके गुण वृद्धि के विज्ञान पर ध्यान नहीं दिया।

वेद ने उपरोक्त प्रकार से ओषधि वनस्पतियों को बड़े ही वैज्ञानिक रूप से तैयार करने का मार्ग बताया है। इसी कार्य को वेद ने अन्य शब्दों में भी निम्न प्रकार प्रकट किया है—

सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन।
सँ्रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताँ् सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्॥ (यजुः १।२१)

बोने की क्रिया के बाद जल देने की आवश्यकता होती है। अतः जो जल उसमें दिये जावें यदि वे सामान्य हों तो सामान्य गुणयुक्त उत्पत्ति होगी और यदि विशेष प्रकार के जल दिये जावेंगे तो विशिष्ट गुण वाली उत्पत्ति होगी अतः मन्त्र कहता है कि मैं अच्छी प्रकार बोता हूं। अच्छी प्रकार बोने की जो भी प्रक्रिया हो, वह होनी चाहिए। वह प्रक्रिया क्या है उसमें सींचने के लिए जल ओषधियों के रसों से युक्त हो। सामान्य जल न हो। इस जल में जिस ओषधि का प्रयोग हो वे ओषधियां भी रस सम्पृक्त हों। वे रस अन्य ओषधियों के रसों से संयुक्त हों। इस प्रकार परिपूर्ण मधुर रस ओषधियों से सम्पृक्त हों।

ओषधियों की श्रेष्ठता

वेद ने ओषधियों को परिपूर्ण रस एवं गुणों से युक्त करने की विधि का प्रतिपादन किया है वह प्रचलित होना चाहिए। ओषधियों के रस से परिपूर्ण होने पर ही उनका उपयोग लेने से उनके गुणों का प्रभाव हमारे शरीर पर एवं विश्व पर पड़ सकता है। ऐसी रसपूर्ण ओषधियां—

सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः।
सहस्व सर्वं पाप्मानँ सहमानास्योषधे ॥ (यजुः १२।९९)

हे ओषधि ! तू रोगों को दूर करने वाली है, अतः मेरी शक्ति हरने वाले रोगों को दूर कर। संग्राम की तरह शरीर में हलचल मचाने वाले रोगों को दूर कर और सब रोगों को पराजित कर। इस प्रकार वेद ओषधियों की प्रबल शक्तियों का प्रकाश करता है जिससे ज्ञात होता है कि हमारे जीवन के लिए ओषधियां अत्यन्त आवश्यक हैं।

ओषधियों की परिपक्वता

चिकित्सा कार्य में ओषधि वनस्पतियों का प्रमुख भाग है। यद्यपि जल, वायु, अग्नि, पृथिवी आदि सभी आरोग्यता प्रदान करने वाले हैं तथापि उनके साथ ओषधियों का प्रयोग करना ही पड़ता है। ओषधि वनस्पतियों की चिकित्सा-कार्य में प्रमुखता रहेगी ही और वर्तमान में भी है। वेद ने ओषधियों के प्रयोग के बारे में अनेक स्थानों पर लिखा है। परन्तु जब तक ओषधियों में परिपक्वता न हो, उनमें गुण परिपूर्ण न हों तब तक उनसे लाभ भी यथोचित नहीं हो पाता। अतः वेद ने इस बारे में बताया कि ओषधियों को प्रयोग के योग्य किस समय में ग्राह्य करना चाहिए—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहँ शतं धामानि सप्त च ॥ (यजुः १२।७५)

मनुष्यों को योग्य है कि जो पृथिवी और जल में ओषधि उत्पन्न होती है उनको तीन वर्ष के पीछे, ठीक-ठीक पकी हुई को ग्रहण कर वैद्यक शास्त्र के अनुकूल विधान से सेवन करें। सेवन की हुई वह ओषधि शरीर के १०७ मर्म स्थानों में व्याप्त होकर प्रभावकारी होती है—अर्थात् अपक्व ओषधियों का सेवन न करें। कम से कम तीन वर्ष जो पक गई हैं उसी का सेवन करें।

सुपक्व ओषधियों से रोग नाश

ऐसी सुपक्व ओषधियां ही रोग रूपी शत्रु को नष्ट करने में समर्थ होती हैं। जिस प्रकार से राजा अपनी कुशल सेना से संग्रामों में विजय पा लेता है उसी प्रकार उत्तम भिषक् उत्तम सुपक्व प्रभावशाली ओषधियों से रोगों पर विजय प्राप्त कर लेता है। जैसा कि निम्न मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ (यजुः १२।८०)

जैसे सेनापति से शिक्षा को प्राप्त हुए राजा के वीर पुरुष अत्यन्त पुरुषार्थ से देश देशान्तरों में जा, शत्रुओं को जीत के राज्य को प्राप्त होते हैं वैसे ही श्रेष्ठ वैद्य से शिक्षा को प्राप्त हुए तुम लोग ओषधि विद्या को प्राप्त होओ। जिस शुद्ध देश में ओषधि हो वहां उनको जान के उपयोग में लाओ और दूसरों को भी बताओ। अतः ओषधियों के गुणधर्म, उनका रोग नाशक गुण एवं प्रयोग जानने वाले की भिषक् संज्ञा वेद में दी है। और उसके पास प्रभावशाली ही ओषधि होनी चाहिए जो राजसंग्राम के समान शरीर में भी रोगों से संग्राम कर सकें और उन रोगों को नष्ट कर सकें।

सब प्रकार की ओषधियों का गुण-धर्म ज्ञात कर

ओषधियों का निर्माण परमात्मा ने रोग-नाश करने एवं बल पराक्रम बढ़ाने के लिए किया है अतः उनका गुण धर्म जान कर सेवन करने के लिए निम्न मन्त्र उपदेश दे रहा है—

अश्वावतीᳬ सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ।। (यजुः १२।८१)

इन रोगों से छुटकारा पाने एवं छुटकारा दिलाने के लिए अनेक प्रकार की जो ओषधियां प्रशंसित गुणों से युक्त, बहुत रस से परिपूर्ण, अति पराक्रम बढ़ाने वाली और प्राण-शक्ति को देने वाली हैं, उन सब को मैं अच्छी प्रकार जानूं जिस से प्रयोग कर सकूं।

ओषधियों की शीघ्र क्रियाशीलता

सुपक्व तथा गुण-धर्म ज्ञात ओषधियों से शरीर के रोग ऐसे वेग से शीघ्र दूर हो जाते हैं जैसे वेगवती नदी के प्रवाह में पड़ी वस्तु बह जाती है। ओषधी की इस प्रकार की शीघ्र क्रियाशीलता को वेद का निम्न मन्त्र प्रकट कर रहा है—

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयᳬ स्थ निष्कृतीः ।
सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ ।। (यजुः १।८३)

हे ओषधियो ! शक्ति ही तुम्हारी जननी है। और तुम रोगादि को बाहर निकालने वाली हो। सुपतनशील नदियों के समान हो क्योंकि तुम रोगी पुरुष में से रोग को बाहर निकाल देती हो। तथा—

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः ।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः ।। (यजुः १२।८४)

समस्त विस्तृत ओषधियाँ शरीर में जो कुछ रोग होता है, उसको नष्ट कर देती हैं जैसे कि चोर गौ स्थान को छोड़ कर भाग जाता है वैसे ही ओषधियों से रोग भाग जाता है। तथा—

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ।। (यजुः १२।८५)

जब मैं शरीर में बल-धारण करने के हेतु ओषधियों को ग्रहण करता हूं तब प्राण नाशक यक्ष्मा का मूल कारण नष्ट हो जाता है तथा—

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ।। (यजु० १२।८६)

हे ओषधियो ! तुम जिसके अंग-अंग में तथा जोड़-जोड़ में प्रविष्ट हो जाती हो, उसके रोग को इस प्रकार नष्ट कर देती हो जिस प्रकार उग्र पुरुष मर्म स्थल को नष्ट कर देता है।

इस प्रकार वेद ने ओषधियों की शीघ्र क्रियाशीलता का, रोग पर प्रभाव करने का ज्ञान दिया है। इसके आधार पर विविध प्रकार की ओषधियों का शरीर पर किस प्रकार और कितना प्रभाव किस-किस अंग पर पड़ता है उसका विज्ञान ज्ञात करने की प्रेरणा दी है।

ओषधियों से रोग दूर करने की कामना

ओषधियों में रोग दूर करने का अद्भुत प्रभाव है अतः उनसे रोग दूर करने की कामना और

उनकी समृद्धि की कामना हमारे अन्दर भी होनो चाहिए तभी उनका उपयोग ले सकेंगे। अतः वेद ने कहा—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ (यजु० १२।७६)

हे मातृभूत ओषधियो! तुम्हारे सैकड़ों जातिभेद हैं तथा तुम्हारी सहस्रों शाखाएँ हैं, अतः तुम असंख्य प्रभाव वाली मेरे इस रोगी को रोग रहित करो। तथा—

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ण्वः ॥ (यजु० १२।७७)

घोड़ों के सदृश जयशील, विविध प्रकार के रोगों को रोकने वाली, रोग दुःख से पार लगाने वाली, पुष्पवती, फलवती हे ओषधियो! भले प्रकार फूलो फलो। तथा—

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥ (यजु० १२।७८)

तुम माता के समान रोगी की रक्षा करती हो। अतः तुम्हें दिव्य माताएँ ऐसा कहता हूं। ओषधियां भी इसी प्रकार मातृवत् हितकारी होकर हमारे शरीर, निवास, गौ, अश्व एवं प्राणियों के लिए भी सेवनीय होती हैं। तथा—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ (यजु० १२।७९)

हे ओषधियो! अश्वत्थ तुम्हारा निवास स्थान है। पलाश तुम्हारा निवास स्थान बनाया गया है। सूर्य चन्द्र की रश्मियों को प्राप्त करते हुए देहधारियों को नीरोग रखने के लिए प्रयुक्त होती रहो इत्यादि मन्त्रों में ओषधियों से रोगों को दूर करने की कामना है।

ओषधियों के मिश्रण में प्रभाव की रक्षा

विविध गुण वाली ओषधियों के मिश्रणों के प्रयोग की भी आवश्यकता रोगी के लिए होती है। रोग और उपद्रवों के शमनार्थ मिश्रणों का प्रयोग करना पड़ता है। विविध गुण की ओषधियां मिश्रित करने पर भी प्रभावशाली बनी रहती हैं इसका ज्ञान होने पर ही एक ओषधि से अनेक रोगों की चिकित्सा हो सकती है। अतः निम्न वेद मन्त्र—ओषधियां एक दूसरे के प्रभाव की रक्षा करती हैं इसका ज्ञान देता है—

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ (यजु० १२।८८)

हे ओषधियो! तुम्हारे मध्य से एक प्रकार की ओषधियां दूसरे प्रकार की ओषधियों की रक्षा करें। तथा एक प्रकार की ओषधियाँ दूसरे प्रकार की ओषधियों के प्रभाव की रक्षा करें और ये सब ओषधियाँ परस्पर सम्यक् रीति से मिश्रित होती हुई मेरे इस प्रयोग वचन के अनुकूल हों।

सब प्रकार की ओषधियां गुणवाली हैं

ओषधियाँ अनेक प्रकार की हैं। कोई फूल वाली हैं। कोई फूल व फल वाली हैं, कोई फल वाली हैं कोई बिना फल की हैं परन्तु परमात्मा ने सभी में किसी न किसी प्रकार की शक्ति प्रदान की हुई है अतः सभी ओषधियां ग्रहण करने एवं ज्ञात करने योग्य हैं जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में प्रतिपादित है—

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥ (यजु० १२।८६)

परमात्मा से उत्पन्न हुई ओषधियां जो फल वाली, जो फल रहित, जो पुष्परहित तथा जो पुष्प वाली हैं वे सब हमें रोगों से मुक्त करें। इसी प्रकार निम्न मन्त्र में भी कहा है—

या ओषधीः सोमराज्ञी विष्ठिताः पृथिवीमनु ।
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ (यजु० १२।६३)

जो ईश्वर रचित ओषधियाँ सोमगुण वाली पृथिवी पर विविध रूप से स्थित हैं, वे इस रोग निदानानुकूल प्रयुक्त इस ओषधि के लिए अपने प्रभाव को संयुक्त करें। तथा—

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।
सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ यजु० (१२।६४)

जो ओषधियां इस प्रदेश में सुनी जाती हैं और जो दूर देश में स्थिति हैं, वे सब ओषधियां संयुक्त होकर इस प्रयुक्त ओषधि के लिए अपने-अपने प्रभाव को संयुक्त करें।

ओषधियों का संग्रह कार्य

ओषधियों का संग्रह कार्य, उनका यथासमय भूमि से खनन कार्य, उनके पुष्प-फलों का संग्रहादि कार्य इसी आशा से किये जाते हैं कि जो गुण एवं प्रभाव इनमें विद्यमान हैं वह इनको उखाड़ने एवं संग्रह के बाद भी प्राप्त होंगे। इनके उखाड़ने एवं संग्रह करने से उखाड़ने एवं संग्रहकर्त्ता को भी लाभ होगा और जिसके लिए इनका प्रयोग करेंगे उसको भी लाभ होगा। यदि इससे विपरीत होने लगे तो कोई ओषधियों को उखाड़ेगा ही नहीं और न उनका संग्रह करेगा। इसलिए ओषधि-संग्रह विज्ञान के ज्ञानदर्शन के लिए वेद ने कहा है—

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ (यजु० १२।६५)

हे ओषधियो ! तुम्हारा प्राप्त करने वाला नष्ट न हो और तुमको मैं जिस रोगी के लिए प्राप्त करता हूं वह पीड़ित न हो। एवं हमारे दोपाये और चौपाये आदि प्राणिमात्र रोग रहित हों। इन ओषधियों का प्रयोग केवल चिकित्सा में ही नहीं होता अपितु अन्य कार्यों में भी होने से अन्य विद्याओं के ज्ञाता भी उखाड़ते हैं इसका प्रतिपादन निम्न मन्त्र में किया है—

त्वां गन्धर्वा अखनंस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः ।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥ (यजुः १२।६८)

हे मनुष्यो ! तुम लोग जिस ओषधि से रोगी यक्ष्मा रोग से छूट जाय और जिस अन्य ओषधि को उपयुक्त करो—उसको गानविद्या-कुशल या भूमि विज्ञानयुक्त विद्वान् ग्रहण करें। उसका अपने कार्य में उपयोग लें। उन ओषधियों को परम ऐश्वर्य युक्त मनुष्य या विद्युत् विद्या में कुशल विद्वान् उपयोग में लें। उसी को वेदज्ञ विज्ञान या वाक् विज्ञान में कुशल विद्वान् उपयोग में लें। सुन्दर गुणों से युक्त सब शास्त्रों का वेत्ता प्रकाशमान राजा भी उस ओषधि को खोदे—प्राप्त करे। तथा—

दीर्घायुस्त ओषध खनिता यस्मै च त्वां खनाम्यहम् ।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात् ॥ (यजुः १२।१००)

हे ओषधि ! तेरा खोदने वाला दीर्घायु हो। जिसके लिए खोदता हूं वह भी दीर्घायु हो और तू भी दीर्घायु होकर असंख्य शखोपशाखा वाली होकर वृद्धि को प्राप्त हो।

वेद में अनेक ओषधियों के नामों का उल्लेख है उनमें से कतिपय का उल्लेख वन-प्रकरण में हो चुका है अतः यहां नहीं लिख रहे हैं।

चिकित्सा-विज्ञान

चिकित्सा कार्य में अग्नि की प्राधान्यता

वेद ने चिकित्सा द्वारा रोग नाशन करने, आयु की रक्षा करने, आयु को बढ़ाने एवं सुखी होने का उपदेश किया है। इस चिकित्सा-कार्य में अग्नि की प्रधानता है। उस अग्नि का प्रयोग हम स्वतन्त्र रूप से भी कर सकते हैं और अग्नि का विविध पदार्थों के साथ संयोग करके भी प्रयोग कर सकते हैं। अतः वेद उपदेश करता है—

अग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ (अथर्व० ६ । १०६ । ३)

अग्नि भेषज कार्य को करे। हमारे लिए अग्नि चिकित्सा का कार्य सम्पादन करे। विविध प्रकार के ताप, विविध प्रकार के क्षार द्रव्य, विविध प्रकार के दाहक द्रव (तेजाब) विविध प्रकार की रश्मियाँ अग्नि के ही परिणाम हैं। इन तत्त्वों में अग्नियों की न्यूनाधिकता एवं प्रकारान्तरता से विविध प्रकार के गुण इनमें विद्यमान रहते हैं। अतः अग्नि का एक स्थिति में गुण ज्ञान होने से उसकी न्यूनाधिकता से उसके अधिक एवं न्यूनतर सामर्थ्य का ज्ञान हो जाता है। अग्नि के लिए वेद ने कहा है—

ताप की उपयोगिता

अग्निर्हिमस्य भेषजम् ॥ (यजु० २३ । १०)

हिम की ओषधि अग्नि है। अर्थात् अग्नि से, ताप से, जल की जो हिम स्थिति, बर्फ स्थिति है वह निवृत्त होती है। अर्थात् जिस ताप रहित स्थिति में हिमत्व की उत्पत्ति होती है यदि उसकी गणना शून्य से करें तो ताप स्थितियाँ क्रमशः उत्तरोत्तर १, २, ३, रूप में अपनी न्यूनाधिक स्थिति से गणना की जा सकेंगी और हिम-स्थिति की न्यूनधिकता शून्य से नीचे दशमलव प्रणाली से अंकित करनी होगी। अग्नि का वह न्यूनतम ताप जो हिमत्व का नाशक है और जिसके अभाव में हिमत्व प्रारंभ हो जाता है वह हिम की अपेक्षा से प्रथम मात्रा है। यही मात्राएँ जितनी बढ़ती जायेंगी उतना ही ताप वृद्धि को प्राप्त होगा। इस प्रकार वृद्ध ताप से जल में तथा अन्य पदार्थों में गति एवं क्रिया से अग्नि का विविध रूप एवं शक्ति में संचय हो जाता है।

विविध परिस्थितियों में हिमत्व विविध प्रकार का है। पदार्थों की अपेक्षा से उसकी विविध स्थिति एवं संज्ञाएँ हैं। शरीर पर आघात लग जाने से जो सूजन उत्पन्न हो जाती है और सामान्य गति का अवरोध हो जाता है वह भी हिमत्व है। न्यूमोनिया में फुपफुसों में सूजन भी हिमत्व है। वहां भी एक प्रकार से जमना हो जाता है। वही विकार है। अतः—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'— वेद वाक्य चिकित्सा के मूल तत्त्व को, न्यूनाधिक ताप क्रिया को यथावश्यकतानुसार प्रयुक्त करने का संकेत करता है।

यह ताप प्रकार ओषधि खाने से, लगाने से, पीने से, सुंघाने से, वाष्प से, वायु से शरीर में तथा बाहर अग्नि आदि के द्वारा उत्पन्न होते हैं। इसीलिए वेद ने कहा—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि
वर्च्चोदा अग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि ।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ।। (यजुः ३।१७)

हे अग्नि ! तू शरीर रक्षक है अतः मेरे शरीर की रक्षा कर । हे अग्नि ! तू आयु देने वाला है, अतः मेरे लिए आयु प्रदान कर । हे अग्नि ! तू तेज का देने वाला है अतः मुझे तेजस्वी बना । हे अग्नि मेरे शरीर में जो कुछ न्यूनता या वैषम्य हो उसको भी तू मेरे लिए पूर्ण कर । इस प्रकार वेद ने अग्नि के महान् सामर्थ्य को अपने शरीर की रक्षा एवं आयु को प्रदान करने, बल को प्रदान करने और अपनी न्यूनताओं की पूर्ति के लिए प्रकट किया है । यही अग्नि का चिकित्सत्व एवं भेषजत्व है ।

अग्नि का यह भेषजत्व ज्ञानी पुरुष समझ कर उसको विविध कल्पनाओं से सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं । उस अग्नि में यह भेषजत्व पूर्व से ही विद्यमान है । परन्तु गूढ़ दृष्टि वाले ऋषि विद्वान् जन अग्नि में गूढ़ रूप से सन्निविष्ट इस गुण को अच्छे प्रकार पूर्ण करते हैं जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णित है—

अस्य प्रत्नामनु द्युत ँ् शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ।। (यजुः ३।१६)

सब विद्याओं को व्याप्त करने वाले विद्वान लोग इस भौतिक अग्नि को असंख्यात कार्यों को देने एवं कार्यसिद्धि के प्राप्ति के हेतु, प्राचीन, अनादि स्वरूप से नित्य वर्तमान, कारण में रहने वाली दीप्ति को जान कर, शुद्ध कार्यों को सिद्ध करने वाले रस का दोहन करते हैं । अर्थात् अग्नि के असंख्यात गुणों को एवं उसके अपरिमित फलों को जानकर विद्वान् लोग उससे अनेक प्रकार के परिणामों को ज्ञात कर अपने प्रयोग की पूर्ति करते हैं ।

यज्ञ-चिकित्सा

अग्नि के माध्यम से चिकित्सा कार्य में यज्ञ की पद्धति अति उत्तम है। इसमें अग्नि, सूर्य रश्मि, ध्वनि, ओषधि, ओषधियुक्त वात, ओषधि युक्त रसादि का शरीर में श्वास-प्रश्वास क्रिया द्वारा, वात के स्पर्श द्वारा, ताप द्वारा एवं लेपन तथा शरीर के अन्दर ग्रहणादि के द्वारा क्रियाएँ सिद्ध होती हैं जिससे आरोग्यता प्राप्त होती है जैसा कि निम्न मन्त्र से प्रकट होता है—

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाँ स्तुतेन ।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सँ्
रायस्पोषेण ग्मिषीय ।। (यजुः अ० ३ । १९)

हे अग्ने ! तू सूर्य की दीप्ति से संगत हो और मन्त्र स्तुति, तथा प्रिय तेज से संयुक्त हो, जिससे मैं आयु, वर्चस, प्रजा एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करूं ।

इस मन्त्र में अग्नि का संयोग सूर्य-रश्मि से होने से तथा इन दोनों का मन्त्र की ध्वनि में संयोग होने से और इन तीनों का तेज से संयोग व मिश्रण होने से उसके द्वारा आयु की प्राप्ति होती है, प्रजा की प्राप्ति होती है और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, यह प्रतिपादित किया है। अन्य चिकित्सा-पद्धतियों में यह विशेषता नहीं है । अतः याज्ञिक चिकित्सा-पद्धति श्रेष्ठ है ।

यज्ञ द्वारा चिकित्सा के प्रयोग कतिपय हमने किये हैं उनमें लाभ भी उत्तम अनुभूत हुआ ।

अभी बिल्कुल नवीन रूप से निम्न प्रकार लाभ ज्ञात हुए—

(१) जयपुर में फरवरी १९६६ दि० १० व ११ को एक महानुभाव को यज्ञ पर बैठाया गया। वे अपनी अस्वस्थता के कारण बैठने में भी असमर्थ थे। रोग का हाल उनका पूछा भी नहीं गया था। प्रथम दिन दोनों समय कुल ३ घंटा यज्ञ में बैठने के पश्चात् उनसे पूछा गया अब कैसी दशा है तो उन्होंने बताया कुछ ठीक है। दूसरे दिन भी दोनों समय उसी प्रकार यज्ञ में बैठाया पुनः सायंकाल पूछा कि अब कैसी दशा है तो उन्होंने कहा कि अब रोग बिल्कुल नहीं है, पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न हूं।

(२) अहमदाबाद में फरवरी मास १९६६ की २७ तारीख रविवार को हृदय रोग के एक रोगी पर प्रयोग दो घंटा किया। रोगी को अपनी स्थिति में प्रसन्नता ही हुई और प्रतिकूलता अनुभव नहीं हुई। पश्चात् परिणामों की सूचना ज्ञात न हो सकी।

(३) बम्बई में मार्च १९६६ में दि० १० से १७ तक यज्ञ प्रातः सायं १।-१। घंटे का किया। रोगी की दशा हाथ पांव में भारीपन और सुन्नता रहना था। ८ दिन के प्रयोग से रोगी को ५० प्रतिशत लाभ हुआ।

(४) खण्डवा में जुलाई ११ से १८ तक यज्ञ में प्रातः, मध्याह्न एवं सायं १।।-१।। घंटे एक ऐसे रोगी को जिसके टांग की त्वचा में कृष्ण वर्ण का प्रसार था। ८ दिन के यज्ञ के बाद ८० प्रतिशत लाभ हुआ।

(५) इसी खण्डवा के यज्ञ में एक व्यक्ति जिसकी दाहिने हाथ की कनिष्ठिका अंगली १ मास से टेढ़ी हो गई थी और सीधी नहीं होती थी हथेली के पास का पोर्वा सूजा एवं कठोर था। ८ दिन के यज्ञ के बाद अंगली सीधी हो गई और सूजन भी कम हो गई।

यज्ञ से आरोग्य लाभ क्यों होता है ?

इससे ज्ञात एवं अज्ञात रोगों में यज्ञ से आरोग्य लाभ होता है। यज्ञ से आरोग्य लाभ होने का अद्भुत प्रकार है।

(१) जो रोगी यज्ञ के पास आहुति देने बैठता है उसको यज्ञ में प्रयुक्त विविध प्रकार के उत्तम काष्ठों की अग्नि का ताप घृत से शक्ति सम्पन्न होकर तप्त करता है। इस ताप के शरीर में प्रवेश से अनेक प्रकार के अमीवा—रोग कीटाणु—नष्ट होते हैं। शरीर से स्वेद रोम-कूपों से निकलने से शरीर के भीतर के मल निकलते हैं और उसमें यज्ञ से उत्पन्न वातावरण के शुद्ध एवं पौष्टिक परमाणुओं का प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार शरीर में नये परमाणुओं के प्रवेश और मलों का निःसरण होने से आरोग्यता में वृद्धि होती है।

(२) यज्ञ में प्रयुक्त घृत तथा ओषधियों के योग से शुद्ध, आरोग्यप्रद एवं पौष्टिक वातावरण का निर्माण होता है उसमें श्वास प्रश्वास की गति विद्यमान होने से यज्ञ के तेजस्वी, शुद्ध, पौष्टिक एवं रोगनाशक परमाणुओं का वायु द्वारा शरीर में प्रवेश होता है। जिससे फुफ्फुस शुद्ध एवं पुष्ट होते हैं तथा रोग रहित हो जाते हैं। फुफ्फुस कोशों में यज्ञ-निर्मित वायु प्रवेश करके रक्त को भी प्रभावित कर देती है और शीघ्र लाभ यज्ञ से शरीर पर पड़ने लगता है।

(३) यज्ञ में बैठकर व्यक्ति को उच्च स्वर से मन्त्र पाठ करना चाहिए। जो मन्त्रों को नहीं बोल सकते हैं उनसे मन्त्रान्त में आहुति देते समय स्वाहा का उच्चारण जोर से कराया जाता है। स्वाहा की ध्वनि जोर से करने पर अपने शरीर के विविध भागों में स्थित वायु की ऊर्ध्वगमन स्थिति होकर

क्रमशः वह बाहर जाता है और जितने भीतर के स्थान का पुराना वायु बाहर निकलता है उसके स्थान पर वेग से यज्ञ का तेजस्वी वायु प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार बार बार करने से समस्त शरीर के वायु का नवीनीकरण हो जाता है। जिस प्रकार से जल पिलाकर किसी को बार-बार वमन कराकर ग्रामाशय एवं ऊपरी भोजन प्रणाली में से दोष, विकार निकल जाते हैं और शुद्धि हो जाती है और एनिमा—वस्ति क्रिया द्वारा जैसे ग्रामाशय से नीचे के भाग की ग्रंतड़ियों की शुद्धि से मल शुद्धि हो जाती है उसी प्रकार बार-बार स्वाहा के जोर से उच्चारण से शरीरस्थ नस नाड़ियों में व्याप्त अशुद्ध अपान क्रमशः उत्थित होकर बाहर निकल जाता है और नवीन तेजस्वी यज्ञमय प्राण प्रवेश कर जाता है और शरीर के ग्रान्तरिक एवं बाह्य रोग चाहे वे ज्ञात हों या अज्ञात हों दूर हो जाते हैं।

(४) यज्ञ के उष्ण परन्तु स्निग्ध वातावरण का ताप समस्त शरीर को तापित एवं स्वेदयुक्त कर देता है जिससे अंग-प्रत्यंगों में नव स्फूर्ति जाग्रत् हो जाती है।

(५) यज्ञ की ग्राहुति के घृत शेष भाग से संस्रव भाग का क्रमशः निर्माण होता है। संस्रव भाग के लिए पात्र विशेष में जल ग्रथवा ग्रोषधि-रस रखे जाते हैं। उसमें यज्ञ के वाष्प का उत्तरोत्तर संयोग होता है जिससे ग्रोषधियों का प्रभाव उसमें पड़ता है। इसके ग्राहुति देते समय स्रुवा में जो घृत ग्रवशिष्ट रह जाता है उसमें ग्रग्नि एवं धूम्र का संयोग होने से ग्रोषधियों के गुण ग्रा जाते हैं और उसकी बिन्दु को जल-पात्र या ग्रोषधियों के मन्थ या रस-पात्र में टपका देने से वह घृत शीतल हो जाता है और ग्रपने में द्रव्यों के गुण को ग्रधिकृत करके स्ववश करके स्थित हो जाता है। इसका प्रयोग शरीर पर लगाने एवं खाने के लिए किया जाता है। यह भी ग्रति गुणकारी सिद्ध होता है।

(६) यज्ञ-पद्धति में ध्वनि क्रिया का प्रभाव भी विशेष लाभ करता है। ग्रग्नि एवं सूर्य रश्मि निश्चित ताप में ध्वनि तरंगों के प्रसारण से विविध वर्ण की शब्द की, ग्रति सूक्ष्म लहरें क्रियाशील होती हैं और वे ग्रपना एक पूर्ण मण्डल बनाकर ग्रदृष्ट प्रभाव शरीर एवं मनपर करती हैं और उनका रोगों पर ग्रनुकूल प्रभाव पड़ता है।

यज्ञ-चिकित्सा के लाभ

पूर्वोक्त प्रकार से यज्ञ द्वारा चिकित्सा क्रियाशील होती है। ग्रतः यज्ञ-चिकित्सा पद्धति से जन समूह का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य ठीक होता है, ग्रायु की वृद्धि होती है और सुख बढ़ता है। वेद में यज्ञ द्वारा चिकित्सा-लाभ का निम्न उत्तम शब्दों में वर्णन किया है—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्॥ (ग्रथर्व० ३। ११। १)

यज्ञ में प्रयुक्त हवि के द्वारा—यज्ञ-चिकित्सा-पद्धति से—जीवन की वृद्धि एवं रक्षा के लिए तुझ को ग्रज्ञात सूक्ष्म एवं ग्रदृष्ट रोगों से तथा ज्ञात, प्रकट, राजयक्ष्मादि महाभयंकर रोगों से मुक्त करता हूं ग्रर्थात् तेरे रोग का शमन करता हूं। जिन रोगों ने इसको जकड़ रखा है उसको यज्ञ की द्विविध ताप-शक्ति इन्द्र और ग्रग्नि की ग्रर्थात् यज्ञ समय की सूर्य-रश्मि और भौतिक ग्रग्नि से मिश्रित ताप इसको रोगमुक्त करें। इस प्रकार यह मन्त्र यज्ञ की हवि और उसके वर्च से सूक्ष्म एवं महान्, ज्ञात एवं ग्रज्ञात रोगों का शमन होता है और ग्रायु वृद्धि होती एवं ग्रायु का रक्षण होता है यह प्रकट करता है। ग्रतः प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्वस्थ हो या ग्रस्वस्थ ग्रपने घर में यज्ञ करके ग्रायु एवं स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करे।

आज के समय में अपने को सभ्य एवं सुसंस्कृत समझने वाले लोग प्रातःकाल ही सिगरेट का धूम पान कर अपनी आयु को क्षीण कर सकते हैं तथा अपने शरीर में रोगों को निमन्त्रित कर सकते हैं परन्तु यज्ञ द्वारा जीवन-लाभ प्राप्त करने में अपनी असमर्थता अनुभव करते हैं। वे यज्ञ-मार्ग को अपना कर अपना एवं अपने परिवार का स्वास्थ्य उन्नत कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक हास्पिटल में दोनों समय यज्ञों के प्रयोग से रोगियों का स्वास्थ्य सुधार सकते हैं और धूम प्रसारक यन्त्र द्वारा नगर में दोनों समय यज्ञ के धूम्र का प्रसार करके नागरिक स्वास्थ्य को सुधार सकते हैं। यदि मच्छरों व खटमलों सदृश सूक्ष्म कीड़ों के नाश के लिए दुर्गन्ध एवं विषाक्त धूम्र को नगर में प्रसारण करने को हम वैज्ञानिक कर्म मान्य कर सकते हैं तो क्या रोगनाशक, जीवनदायक, आयुवर्धक यज्ञ-धूम्र को प्रसारित कर हम उत्तम मार्ग को नहीं अपना सकते ? यज्ञ-प्रक्रिया स्वास्थ्य के लिए एक सर्वोत्तम प्रणाली है। उसको अपनाना ही चाहिए।

यज्ञ-चिकित्सा के बारे में निम्न मन्त्र और भी विशेष महत्त्वपूर्ण बातों की प्रेरणा दे रहा है—

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥ (अथर्व० ३। ११। २)

यदि रोगी की आयु और जीवन क्षीण हो गई हो अथवा वह और भी परे की अवस्था—निराशाजनक दशा को पहुंच गया हो अथवा वह रोगी मृत्यु के निकट भी पहुंच गया हो, ऐसे रोगी को भी विनाश के—मृत्यु के—रोग तथा रोगकारक चंगुल से मैं अग्निहोत्र चिकित्सा करने वाला फिर लौटाता हूं और उस रोगी को १०० वर्ष का जीवन बिताने के लिए पुनः बलवान् करता हूं।—इस प्रकार यह मन्त्र निराशाजनक, असाध्य तुल्य स्थितियों में भी यज्ञ द्वारा लाभ होने की आशा को प्रदान करता है। यज्ञ सरलतम चिकित्सा पद्धति है तथा न्यूनतम व्यय में सम्पन्न होता है एवं अधिकतम लाभ इससे होता है अतः इसको अवश्य अपनाना चाहिए।

वेद मन्त्र सामान्य रूप से चिकित्सा का उपदेश करते हैं तथा विशेष रूप से भी पृथक्-पृथक् द्रव्यों से रोग विशेषों की भी चिकित्सा का संकेत करते हैं। जैसा कि निम्न मन्त्र में प्रतिपादित है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलो सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥ (अथर्व० कां० १९। ३८। १)

जो व्यक्ति सुरभि-श्रेष्ठगन्ध युक्त गूगल की गन्ध का सेवन करता है उसको यक्ष्मादि रोग और स्पर्शजन्य छूत के रोग नहीं होते। यह धूप चिकित्सा का प्रकार यज्ञ-चिकित्सा का एक अंग रूप है। धूप-चिकित्सा के आधार पर आयुर्वेद में अनेक प्रकार की धूपों का अनेक रोगों के शमनार्थ प्रयोग महर्षियों ने लिखे हैं। वर्तमान समय में धूप चिकित्सा का श्वास रोग में, मूर्छादि रोगों में प्रयोग क्वचित् होता है।

यज्ञ-चिकित्सा से वेद ने शरीर के प्रत्येक अंग एवं इन्द्रियों की शक्ति की प्राप्ति का उपदेश किया है। यज्ञ से आयु, प्राण, नेत्रादि इन्द्रिय एवं मन आदि पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है अतः यज्ञ एक पूर्ण एवं सुगम चिकित्सा पद्धति है। वेद में कहा है—

प्राणश्च मेऽपानश्च मेऽव्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च
मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजु० १८।२)

मेरा प्राण, मेरा अपान, मेरा व्यान, मेरे अन्य प्राण, मेरा चित्त, मेरे विचार, मेरी वाणी, मेरा मन, मेरा चक्षु, मेरे श्रोत्र, मेरा चातुर्य तथा मेरा बल यज्ञ के द्वारा सम्पन्न हो। इस प्रकार यह मन्त्र

यज्ञ से सब प्रकार के प्राणों, मन, चित्त, बुद्धि आदि, शरीर की इन्द्रियों आदि को बलवान् एवं समर्थ बनाने का उपदेश देता है। अर्थात् अन्नमय कोश के आश्रित जो शरीर का स्थूल भाग एवं इन्द्रियां हैं वे यज्ञ से पुष्ट एवं बलवान् बनते हैं। प्राणमय के आश्रित जितने प्राण शरीर में हैं वे भी यज्ञ से पुष्ट बनते हैं और मनोमय कोश के आश्रित जो मन बुद्धि चित्तादि हैं वे भी यज्ञ के द्वारा सम्पन्न एवं पुष्ट बनते हैं तथा 'आधीतं च मे'—के द्वारा विज्ञानमय कोश के भी समर्थ बनाने का मार्ग यज्ञ ही है, यह इस वेद मन्त्र से ज्ञात होता है।

इसी प्रकार—'शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्'। (यजुः १८।३) में भी शरीर, आयु एवं वृद्धावस्था को भी यज्ञ के द्वारा समर्थ बनाने को कहा है। और रोगादि की निवृत्ति तथा स्वास्थ्य लाभ के लिए भी—

अयक्ष्मं च मे नामयच्च मे दीर्घायुत्वं च मे...यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजुः १८।६)

इस मन्त्र में यज्ञ का ही उपदेश है। अर्थात् मेरा आरोग्य, मेरा स्वास्थ्य, मेरी जीवन-शक्ति, मेरा दीर्घ आयुष्य यह सब यज्ञ के द्वारा सम्पन्न हों। इस प्रकार यज्ञ सर्व प्रकार की चिकित्सा का एक श्रेष्ठ उपाय वेद द्वारा प्रतिपादित होता है। इसके विविध प्रकार के, विविध कार्यों के लिए प्रयोग हो सकते हैं। उनको चिकित्सा शास्त्रज्ञ ज्ञात कर सकते हैं। इसी प्रकार—

मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजुः १८।११)

इस मन्त्र में बुद्धि या मानसिक शक्तियों के सुधारने एवं उत्तम मेधा की प्राप्ति का भी उपाय यज्ञ ही बताया है। अतः यज्ञ से बुद्धि-वृद्धि होती है यह स्पष्ट है। जब यज्ञ इस प्रकार का आवश्यक है और हमारे लिए सर्व प्रकार से लाभदायक है तब—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पता ँ श्रोत्रं यज्ञेन
कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम्॥ (यजुः १८।२९)

इस यज्ञमयी भावना को स्वीकार करते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यज्ञ को करना होगा। इसी यज्ञ से आयु की वृद्धि होगी, इसी से प्राण बलवान् होंगे, चक्षु और श्रोत्रादि इन्द्रियां इसी से बलवान् होंगी, मन और आत्मा भी इसी से समर्थ बनेंगे।

यज्ञ-चिकित्सा प्रणाली से ही भस्म एवं क्षार-चिकित्सा, गैस-चिकित्सा, धूम्र-चिकित्सा, रस चिकित्सा, अंजन-चिकित्सा, ताप-चिकित्सा, वात-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, रश्मि-चिकित्सा, स्वेद-चिकित्सा, ध्वनि-चिकित्सा, संगीत-चिकित्सा, मानसिक चिकित्सा आदि-आदि का उद्गम होता है। रोगों के दूर होने से दीर्घायु प्राप्त होती है। चिकित्सा एवं ओषधियों का प्रयोजन अन्ततः आयु का संरक्षण एवं वृद्धि है अतः इसकी आयुर्वेद संज्ञा हो जाती है।

वेद में दीर्घायु की प्राप्ति की कामनाएँ हैं और उसकी पूर्ति के लिए यज्ञ का आदेश है जैसा कि निम्न मन्त्र से प्रकट होता है—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्ति यजमानं च वर्धय॥ (अथर्वेद १९।६३।१)

हे यज्ञाधिष्ठाता ब्रह्मा उठो, क्रियाशील होओ और क्रियाशील विद्वानों! ऋत्विजों को यज्ञ के द्वारा प्रशिक्षित करो और यज्ञ से यजमान की आयु, प्राण, प्रजा, पशु और कीर्ति बढ़ाओ। अर्थात् यज्ञ से आयु की वृद्धि होती है उसको यदि चिकित्सात्मक रूप से प्रयोग करें तो विविध प्रकार के रोगों के शमन के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

यज्ञ से चक्षु, श्रोत्र एवं प्राणादि की वृद्धि होकर आयु की वृद्धि होती है इस निमित्त यज्ञ में घृत और हवि का उपयोग करना चाहिए, इसका प्रतिपादन वेद निम्न मन्त्र में कर रहा है—

घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।

श्रोत्रं चक्षुः प्राणोच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः।।(अथर्व० १९।५८।१)

वर्ष पर्यन्त यज्ञ का विधिपूर्वक श्रद्धा से विद्वानों के द्वारा अनुष्ठान करानें से हवियुक्त घृत का तेज व बल हमारे श्रोत्र, चक्षु और प्राणों को निरन्तर शक्ति प्रदान करे और हम सब आयु व तेज से निरन्तर सम्पन्न बने रहें। इस यज्ञ अनुष्ठान कार्य को यदि हम अपने दैनिक जीवन का अंग बना लेंगे तो—

वाङ् म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।

अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहुबाह्वोर्बलम् ।।१।।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः।

प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ।।२।। (अथर्व० १९।६०।१-२)

हमारी वाणी बलवान् बनी रहेगी। नासिका में प्राण बने रहेंगे। आंखों में दर्शन-शक्ति बनी रहेगी। कानों में श्रवण-शक्ति कार्य करती रहेगी। केश क्षीण एवं श्वेत नहीं होंगे। दांत भी दृढ़ बने रहेंगे। भुजाओं में बहुत बल बना रहेगा। ऊरुओं में ओज भरा रहेगा। जंघाओं में वेग एवं स्फूर्ति बनी रहेगी। पैरों में प्रतिष्ठा बनी रहेगी और शरीर के अन्दर सब कुशल बना रहेगा। इस प्रकार हम—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम् ।। (यजु:३६।२४)

पूर्णायु पर्यन्त अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त देखने में समर्थ होंगे। प्राण-धारण में समर्थ होंगे। सुन और बोल सकेंगे एवं—'भूयश्च शरदः शतात्'—सौ वर्ष से अधिक भी जीवन स्थिर रख सकेंगे।

जीवन पर वस्तुओं का प्रभाव

वेद में आयु-वृद्धि, रोग-शमन, बल-वृद्धि आदि के लिए शरीर पर मणियों के धारण का भी उल्लेख है। मणियों में इस प्रकार के तत्त्व होते हैं जो शरीर की अग्नि एवं शरीर की विद्युत् आदि से क्रियाशील हो जाते हैं और उनसे अनेक प्रकार का लाभ होता है। अतः चिकित्सा में इनका भी उपयोग होता है। इनका लाभ अभी चिकित्सा-विज्ञान ने ज्ञात नहीं किया है। वेद इस विज्ञान के द्वारा वर्तमान चिकित्सा-विज्ञान को अन्वेषण की प्रेरणा दे रहा है।

शंख की गणना वेद ने मणि के अन्तर्गत की है। वेद ने इसके गुण दौर्बल्य नाशक, रोग एवं कृमि नाशक, दुर्मतिनाशक, सर्व रोगों में लाभकारी, आयु देने वाला एवं बल देने वाला बताया है जैसा कि निम्न मन्त्रों से प्रकट हो रहा है -

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः।

शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ।। (अथर्व० ४।१०।३)

शंख से रोग और अमति—बुद्धिहीनता का नाश होता है और शंख से वे रोग कीटाणु जो अपने शरीर में विकार उत्पन्न करते हैं उनका भी समूल नाश होता है। शंख समस्त रोगों की ओषधि है। इसी प्रकार निम्न मन्त्र में—

शंख आयुष्प्रतरणो मणिः ।। (अथर्व० ४।१०।४)

शंख आयु का देने वाला है अतः—

तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ (अथर्व० ४।१०।७)

उस शंख मणि को वर्च, बल, दीर्घायु तथा दौर्बल्यता-निवारण के लिए बांधता हूं। इस प्रकार शंख मणि को धारण करने के गुणों को वेद ने प्रकट किया है।

इसी प्रकार अपनी रक्षा के निमित्त प्रतिसरमणि, स्रावत्थमणि, संजयमणि एवं देवमणि का वर्णन अथर्ववेद के का० ८।५ में आता है तथा—'दीर्घायुत्वाय शतशारदाय'—दीर्घ एवं पूर्ण आयु के लिए भी बताया है।

वरणमणि—यह वनस्पतिजन्य मणि है। अथर्ववेद कां० १०।३ में इसका वर्णन है। इसके लिए कहा है—'अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः'—यह सब प्रकार की सबके लिए औषध रूप है।

फालमणि—यह भी वनस्पतिजन्य है। इसके लिए अथर्व० १०।६।२६ में कहा है—'तमिमं देवता-र्मणिं मह्यं ददतु पुष्टये'। दर्भमणि का वर्णन अथर्व० १९ में २८, २९, ३० सूक्तों में आता है और कहा है—'इदं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे' (२८।१)

औदुम्बरमणि—यह भी वनस्पतिजन्य है। अथर्ववेद १९।३१ के मन्त्रों में इसका वर्णन है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में इसके लिए बताया है—'औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय'—पुष्टि कामनाके लिए बताया है। द्वितीय मन्त्र में—'औवुम्बरो वृषामणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या'—इसको वाजीकारक तथा पुष्टि-कारक बताया है। तृतीय मन्त्र में 'ओदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे'—इसमें भी पुष्टि का गुण बताया है। तेरहवें मन्त्र में भी—'पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समंग्धि'—इसमें भी पुष्टिकारक कहा है।

जंगिड मणि—यह भी वनस्पतिजन्य है। अथर्व० १९ के ३४ वें ३५ वें सूक्त में वर्णन है। यह भी रोगनाशक है। जैसा कि—'अमीवाः सर्वाश्चायतं जहि रक्षांस्योषधे'—यह नवम मन्त्र में कहा है।

शतवारमणि—अथर्ववेद १९ के ३६ वें सूक्त में इसका वर्णन है। इसको यक्ष्मानाशक बताया है। जैसा कि प्रथम मन्त्र में—'शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान्'—कहा है।

अस्तृतमणि—अथर्ववेद १९।४६ में वर्णित है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में—'तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे ओजसे बलाय'—आयु, बल ओज के निमित्त बताया है।

इन मणियों के धारण से इनकी रोग-नाशक एवं बलवर्धक शक्ति एवं आयु बढ़ाने की शक्ति शरीर में क्रियाशील हो जाती है। वर्तमान चिकित्सा क्षेत्र के लिए नवीन अनुसन्धान का मार्ग इससे प्राप्त होता है। यह स्पर्शजन्य चिकित्सा के अन्तर्गत है।

वेद में ओषधियों के नाम आते हैं उनमें से कुछ का वर्णन वन-प्रकरण में किया गया है। वेद में उन्हीं स्थलों में उनके गुणों का भी वर्णन मिलता है। उसी आधार पर अन्य ओषधियों के द्रव्य के ज्ञान एवं गुणों के ज्ञान की विद्या निघण्टु एवं द्रव्य गुण-विज्ञान के रूप में विकसित हुई है।

रोग-निवारण

वेद में कतिपय रोगों के नाम व उनके निवारण का उल्लेख चिकित्साशास्त्र का जन्मदाता है। अथर्ववेद इस कार्य में बहुत सहयोग प्रदान करता है। चिकित्सा कार्य में ओषधियों द्वारा रोग-चिकित्सा एवं शल्य-चिकित्सा द्वारा भी चिकित्सा होती है। रोगों के शमनार्थ, निवारणार्थ या दूरी-करण के लिए अनेक रोगों के बारे में उल्लेख है।

रुधिरस्राव निवृत्ति के लिए धमनी-बन्धन के बारे में अथर्ववेद १।१७ में वर्णन है।

हृदयरोग एवं पाण्डुकामला रोग के निवारणार्थ अथर्व १।२२ में उल्लेख है।

श्वेतकुष्ठ नाशन के लिए अथर्व १ के सूक्त २३ व २४ में तथा कुष्ठ के लिए १९।३९ में कुष्ठ और तक्म नाशन के लिए अथर्व ५।४ में वर्णन है।

ज्वर-नाशन के लिए अथर्व १।२५ में तथा ७।११६ वें सूक्त में वर्णन है। यक्ष्मा की चिकित्सा के बारे में अथर्व २।३३; ३।७; ६।२० आदि अनेक स्थानों पर वर्णन है।

क्षेत्रिय रोग निवारण के लिए अथर्व २।८ में वर्णन है।

कृमि नाशन के लिए २।३१,३२ में, ४।३७ एवं काण्ड ५ के २३ वें सूक्त में वर्णन है।

वाजीकरणादि के लिए—अथर्व कांड ४।४ में वर्णन प्राप्त होता है।

निद्रा लाने के लिए—अथर्व कांड ४ के ५वें सूक्त में वर्णन है।

विष दूर करने के लिए ४।६,७ में, कांड ६।१०० में १० के चौथे सूक्त में—सर्प विष दूर करने व नाश करने के लिए ५।१३ व, ७।८८ में वर्णन है।

वृष रोग-नाशन के लिए ५।१६ में—बलासनाशन के लिए ६।१४ में गर्भदृंहण के लिए ६।१७ में, जल-चिकित्सा के लिए ६।६७ वें सूक्त में, इषु निष्कासन के लिए ६।९० वें सूक्त में चिकित्सा के लिए ६।६७ वें में कास-नाशन एवं शमनार्थ ६।१०५ में, उन्मत्तता-मोचन के लिए ६।१११ वें में, क्लीवत्व के लिए ६।१३८ वें सूक्त में, अच्छे दांतों के बारे में ६।१४० वें सूक्त में वर्णन है।

प्रसूति एवं शल्य ज्ञान

चिकित्सा-कार्य में प्रसूति-विभाग भी अपना महत्त्व रखता है उसके बारे में भी अथर्ववेद के १।११ वें सूक्त में वर्णन है जिसका शल्य कर्म के साथ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त गर्भविज्ञान के मन्त्र तो पृथक् हैं।

शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में अथर्ववेद में रुके हुए मूत्र को सलाई से निकालने का वर्णन आता है—

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिः॥ (अथर्व० १।३।७)

मैं शल्य-चिकित्सक तेरी मूत्र-प्रणाली को सलाई को प्रवेश कराकर भेदन करके तेरे रुके हुए मूत्र को बाहर निकालता हूं।

शल्य एवं शारीरशास्त्र

शल्य-चिकित्सा का सम्बन्ध शरीर-शास्त्र के बाह्याभ्यन्तर अंगों के पृथक्-पृथक् करण ज्ञान से है। शरीर-छेदक क्रिया से यह ज्ञान कराया जाता है। वेद ने शल्य-क्रिया के प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए कहा—

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना॥ (अथर्व० १२।५।६६)
प्रस्कन्धान्प्र शिरो जहि। (अथर्व १२।५।६७)

शरीर के छेदन—काटने के लिए अनेक प्रकार के छोटे बड़े शस्त्रों की आवश्यकता होती है। अतः सैकड़ों प्रकार के फलक वाले कठोर एवं तेज अस्त्रों से कंधों से शिर भाग को अलग करो और फिर—

लोमान्यस्य सं छिन्ध त्वचमस्य वि वेष्टय॥ (१२।५।६८)

बालों को काटो और त्वचा को भी हटाओ। पुनः—

मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ (१२।५।६८)

त्वचा के बाद जो मांस भाग है उसको काटो...मांस में जो स्नायु हैं उनको अच्छी प्रकार उठाओ पुनः—

अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ (१२।५।७०)

अस्थियों का दर्शन होगा। उन अस्थियों को भग्न करने पर मज्जा प्राप्त होगी। उस मज्जा को निकालो और पुनः—

सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ (१२।५।७१)

इसके जितने भी सन्धि भाग एवं जोड़ हैं उनको पृथक्-पृथक् करो। अर्थात् जिस प्रकार से किसी मशीन का संचय ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्रमशः उसके भागों, पुर्जों को खोल कर उसकी प्रत्यक्ष रचना का ज्ञान होता है उसी प्रकार शरीर-यन्त्र का भी दर्शन करने के लिए शल्य विद्या का ज्ञान वेद ने दिया।

यजुर्वेद में इस शरीर रचना के इस प्रकार के ज्ञान का उपदेश निम्न मन्त्र में किया है—

लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा। माँसेभ्यः स्वाहा
स्नावभ्यः स्वाहा ऽस्थभ्यः मज्जभ्यःस्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा ॥ (यजु० ३९।१०)

मन्त्र में 'रेतसे स्वाहा, पायवे स्वाहा' के अतिरिक्त शेष मन्त्र भाग के पद 'लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा' दो-दो बार पठित हैं। इस मन्त्र में शरीर के बाह्य भाग से क्रमशः अन्दर के शरीरस्थ पदार्थों का नामोल्लेख है। यह शरीर के चयन क्रम को प्रकट करता है कि शरीर भेदन छेदन करेंगे तो क्या क्या पदार्थ शरीर में मिलते हैं। परन्तु प्रश्न होता है कि क्या इतने मात्र से ही शरीर का ज्ञान हो जाता है? उत्तर स्वयं ही प्राप्त होता है कि इतने मात्र के दर्शन से शरीर शास्त्र का ज्ञान नहीं होता है, और भी ज्ञान प्राप्त करना है।

(४)

हमारे शरीर की रचना

यजुर्वेद में सृष्टि-रचना का वर्णन करते हुए विराट् पुरुष और इस पिण्ड पुरुष की रचना का ज्ञान निम्न मन्त्र में प्राप्त होता है—

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ (यजु० ३१।१५)

इस पुरुष-शरीर की रचना में ब्रह्माण्ड की रचना के समान इसकी भी सात परिधियां हैं। ब्रह्माण्ड की सात परिधियों में सृष्टि यज्ञ की ३-३ प्रकार की सात-सात समिधाएँ हैं। अर्थात् २१ तत्त्वों से सृष्टि का कार्य चल रहा है उसी प्रकार शरीर में भी तीन प्रकार की सात-सात समिधाओं से, कुल २१ समिधाओं से सृष्टि-यज्ञ का कार्य-संचालन हो रहा है।

शरीर-शास्त्र के मान से शरीर की सात त्वचाएँ ही सात परिधियां हैं जिनके भीतर सप्त धातु और सप्त कला और सप्त आशय से इस शरीर का कार्य-संचालन हो रहा है। आयुर्वेद शास्त्रज्ञ महर्षियों ने इसका शरीर में प्रत्यक्ष दर्शन करके सप्त त्वचा रूपी परिधियों को क्रमशः १. अवभासिनी, २. लोहिता, ३. श्वेता, ४. ताम्रा, ५. वेदिनी, ६. रोहिणी, ७. मांसधरा आदि नामों से इन्हें सम्बोधित किया।

शरीर में सप्त धातु—१. रस, २. रक्त, ३. मांस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा तथा ७. शुक्र हैं।

१. वाताशय, २. पित्ताशय, ३, श्लेष्माशय, ४. रक्ताशय, ५. आमाशय, ६. पक्वाशय और ७. मूत्राशय (स्त्रियों में गर्भाशय) ये सात आशय हैं।

१. मांसधरा, २. रक्तधरा, ३. मेदोधरा, ४. श्लेष्मधरा, ५. पुरीषधरा, ७. पित्तधरा और ७. शुक्रधरा ये शरीर में सात कलाएँ हैं।

इस प्रकार वेद ने शरीर के ज्ञान को प्रकट किया। अथर्ववेद ने शरीर-रचना का वर्णन नीचे से ऊपर तक किस प्रकार चयन होकर पुरुष बना इसका वर्णन प्रश्नात्मक ढंग से बड़े सुन्दर रूप में निम्न प्रकार किया है जिसमें अंग-प्रत्यंगों के नाम का भी ज्ञान होता है—

केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनांगुलीः पेशिनीः केन खानि केनोच्छ्लंखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥ (अथर्व० १०।२।१)

इस वेद मन्त्र को समझने के लिए एक पुरुष को सामने खड़ा करके देखिए कि इस समस्त शरीर की स्थापना में मूलाधार स्थापना किस पर है जिसके आधार पर यह शरीर खड़ा है। वहीं से क्रमशः इसका दर्शन करते जावें तो शरीर का ज्ञान प्राप्त होगा। साधारण व्यक्ति भी यह कह देगा कि शरीर पैर पर स्थित हैं। परन्तु पैर में भी अवयव हैं। जब पैर में अनेक अवयव हैं तो उनमें भी कोई प्रधान अवयव अवश्य होगा और उसके सहयोगी शेष अवयव होंगे। अतः ध्यान देने पर पैर का पीछे का भाग जिसे हम एड़ी कहते हैं उस पर ही सब शरीर खड़ा हुआ है। ऐड़ी को ही वेद में पार्ष्णी कहते हैं।

(१) **केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य**—वेद ने प्रश्न उपस्थित किया है कि शरीर का जब सब आधार एड़ी पर है तो इस एड़ी को किसने धारण किया है। इसका जब तक सूक्ष्म रीति से दर्शन एवं इससे सम्बन्धित भागों के सम्बन्ध का दर्शन एवं ज्ञान नहीं करेंगे तब तक उत्तर प्राप्त नहीं हो सकता। शल्य-क्रिया के द्वारा देखने से ज्ञात होता है कि हमारी एड़ी से एक मांसपेशी उपर की टांग की हड्डी में जाती है। यह ऊपर की हड्डी के साथ बंध जाती है और ऊपर की हड्डी का भार इस पर पड़ता है। कुछ मांस पेशियां ऐसी हैं जो पैर की हड्डियों पर गई हैं। इस प्रकार एड़ी—पार्ष्णी का अपने नियत स्थान में धारण मांस पेशियों से हो रहा है—यह उत्तर ज्ञात हो जाता है।

(२) **केन मांसम्**—पुनः वेद प्रश्न उपस्थित करता है कि पार्ष्णी को मांस ने धारण किया हुआ है तो मांस को किसने धारण किया है। वेद ने इस मन्त्र में प्रश्नों का जो क्रम रखा है वह ऐसा ही है कि उत्तरोत्तर क्रमपूर्वक प्रश्न पूर्व-पूर्व प्रश्नों के उत्तर होते जाते हैं। अतः इस प्रश्न का उत्तर अगले से ज्ञात हो जाता हैं कि गुल्फों ने उस मांस को धारण किया हुआ है। गुल्फों को ही टखने नाम से लोक-भाषा में कहते हैं। अर्थात् जो मांसपेशी पार्ष्णी—एड़ी से सम्बन्धित है उसका दूसरा सिरा गुल्फों से सम्बन्धित है जिससे एड़ी और टखनों का सम्बन्ध स्थिर हुआ है।

(३) **केन गुल्फौ**—पूर्व प्रश्न का उत्तर ज्ञात होने पर कि मांस को गुल्फों ने धारण किया है तो वेद पूछता है कि इन गुल्फों को किसने धारण किया हुआ है। इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात करने से प्रतीत होता है कि गुल्फों को पार्ष्णी से सम्बन्धित मांस पेशियों ने धारण करने के साथ पैर की अंगुलियों से भी जो मांस पेशियां हैं उनसे भी इसका दृढ़ बन्धन हुआ है, अनेक मांस पेशियां जो अंगुलियों की हैं उनसे गुल्फ स्थिर हैं।

(४) **केनांगुलीः पेशिनी**—पैर की अंगुलियों की मांस पेशियों से गुल्फों का धारण या बन्धन शरीर में हो रहा है यह ज्ञात होने पर प्रश्न होता है कि अंगुलियों की मांस-पेशियों को किसने धारण किया है । इसका उत्तर ज्ञात करने के लिए जब मांस पेशियों का अंगुली से सम्बन्ध देखते हैं तब उनकी अस्थियों में कुछ खात-गड्ढा सदृश भाग दीखता है जिसमें आश्रय पाकर ये बलपूर्वक अंगुली के गुल्फों के साथ धारण किये प्रतीत होती हैं ।

(५) **केन खानि**—अब प्रश्न होता है कि जब अंगुलियों की अस्थियों के खातों ने अंगुली की मांस-पेशियों को धारण किया है तब यह खात किसने बनाया तो इसका उत्तर पाद रचना के देखने से ज्ञात हो जाता है कि अंगुलियों की अस्थियों के खातों को इसलिए बनाया है जिससे अंगुली और गुल्फ के मध्य की अस्थियों की जो मेहराबदार रचना है वह दृढ़ रह सके । इसी रचना के निमित्त अंगुलियों की अस्थियों में कुछ खता रखा है जिनमें मांस-पेशियों ने जम कर पाद तल के मध्य की मेहराबदार रचना की है । इसी को उच्छ्लंख भाग कहते हैं ।

(६) **केनोच्छ्लंखा**—अब प्रश्न होता है कि यह उच्छ्लंखा भाग किसने बनाया तो ज्ञात होता है इसकी रचना शरीर की प्रतिष्ठा के लिए बनाई है । पाद तल में यह पोला भाग होने से शरीर इसके कारण स्थिरतापूर्वक खड़ा रह सकता है । अतः वेद पुनः प्रश्न करता है—

(७) **कः प्रतिष्ठाम्**—इस प्रतिष्ठा को किसने बनाया तो इसका उत्तर पुनः वही प्राप्त होगा कि जहां से हम इस सम्पूर्ण भाग का अवलोकन करने आये थे उसी ने इस प्रतिष्ठा को भी बनाया है । अर्थात् गुल्फों से हम अंगुलियों की ओर दर्शन करने गये थे तो अब पुनः वहीं आ गये कि गुल्फों को ऊपर धारण करने के लिए ही प्रतिष्ठा की आवश्यकता हुई । अन्यथा नहीं थी । अतः पुनः प्रश्न प्रारंभ हो जाते हैं—

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्वस्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ।। (अथर्व० १०।२।२)

पहला मन्त्र पाद भाग की रचना का द्योतन कराने वाला था । यह दूसरा मन्त्र पाद से ऊपर की रचना का दर्शन करा रहा है ।

(८) **कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्**—एड़ी पर गुल्फ तो रखे हैं परन्तु उसके ऊपर किसने रखा । उनकी इस प्रकार की स्थिति का कारण क्या है ? —जब शरीर की इस भाग की अस्थियों को देखते हैं तो प्रतीत होता है जंघास्थियां दो हैं और दोनों के निचले भागों की स्थिति से गुल्फ, पार्ष्णी पर स्थित हैं । अतः जिन दो अस्थियों के निचले भाग से गुल्फ की स्थिति बनी है वे अष्ठीवान् या जंघास्थि नामक अस्थियां लम्ब रूप में स्थित हैं वे ही इनको एड़ी से ऊपर उठाये रखते हैं । और इन्हीं अस्थियों से ही शरीर का बोझ पैरों पर नियमित रूप से स्थिर रहता है । और वे अस्थियां—

जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः ।

अर्थात् वे जंघास्थियां नीचे की ओर गति कर रहीं हैं—लम्ब रूप से हैं ।

(९) **क्व स्विज्जानुनोः सन्धीः**—जंघास्थियों का नीचे का भाग गुल्फ संज्ञक पार्ष्णी से जुड़ा है और ऊपर का भाग जानु (घुटनों) की सन्धि से युक्त है । इन्हीं ऊपर व नीचे की दोनों सन्धियों से ही जंघास्थियां सीधी खड़ी हैं । अतः वेद ने प्रश्न किया कि ऊपर की जो जानुओं की सन्धि है कहां ? इसका उत्तर ढूंढ़ने के लिए प्रेरित किया और उत्तर प्राप्त होते ही पूछ लिया—

(१०) क उ तच्चिकेत—इस सन्धि को भी तो किसी ने बनाया है। जब तक एक अस्थि से दूसरी अस्थि का संयोग न हो तब तक सन्धि स्थान बनेगा ही कैसे। अतः वेद कहता है कि जानु-सन्धि को किसने बनाया है। इसका स्पष्ट ज्ञान अस्थि-रचना देखने से ज्ञात हो जाता है कि इस भाग के भी ऊपर की जो अस्थियां हैं वे ही इसका कारण हैं। इस प्रकार क्रमशः प्रश्न की आवश्यकता ज्ञान-वर्धन के लिए पुनः बनी रही और वेद ने इसी प्रकार क्रमशः प्रश्न रूप में आगामी मन्त्रों में शरीर रचना का सम्पूर्ण वर्णन कर दिया है।

शरीर-रचना का प्राप्त ज्ञान अभी अपूर्ण है

शरीर की रचना का यह वर्णन उनके अंग प्रत्यंगों की चयन-स्थिति के अनुसार प्रकट किया गया है। इसी शरीर-रचना के प्रकरण में वेद ने—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

इस शरीर को आठ चक्र एवं नव द्वारों का बताया है और उसमें—

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ (अथर्व० १०।२।३१)

सुवर्ण सदृश दीप्तिमान आनन्दमय कोश को भी बताया है जो कि ज्योति से आवृत है। वर्तमान शरीर शास्त्र अभी इस स्थिति का दर्शन नहीं कर सका है। वेद हमें प्रेरणा दे रहा है जितना शरीर शास्त्र अभी जाना है वह तो अत्यन्त स्थूल है। यह ज्ञान पूर्ण नहीं है। अभी और भी जानने की आवश्यकता है। यदि उस सूक्ष्म रचना का दर्शन इन बाह्य चक्षुओं से नहीं होता है तो अन्तः चक्षु से उसका दर्शन करो। तभी शरीर का वास्तविक महत्त्व एवं ज्ञान प्राप्त होगा और इस शरीर के अन्दर निहित अद्भुत शक्तियों का विकास हो सकेगा।

शरीर में विविध शक्तियों का वास

शरीर में विविध शक्तियों का दर्शन कराने के लिए वेद ने बताया—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतँ् सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥१॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥२॥
बाहू मे बलमिन्द्रियँ् हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम॥३॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमँ्सौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥४॥
नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्।
आनन्दनन्दा वाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः॥५॥ (यजुः २०।५-९)

शिर में श्री शक्ति है। मुख में यश है। केश तथा दाढ़ी-मूंछों में कान्ति का वास है। प्राण में अमृत है। चक्षुओं में सम्राट् शक्ति है। श्रोत्रों में विराट् शक्ति है। जिह्वा में कल्याण-शक्ति है। वाणी में महाशक्ति है। मन में मननशीलता का गुण है। मेरे तेज में प्रकाश है। मेरी अंगुलियों तथा अंग प्रत्यंग में मोद और प्रमोद की शक्ति विद्यमान है। मेरा साहस मेरा परम मित्र है।

मेरी भुजाओं में बल और ऐश्वर्य भरा हुआ है। मेरे हाथों में पराक्रम है। मेरे हृदय में आत्म बल तथा क्षात्र बल दोनों विद्यमान हैं।

मेरी पीठ राष्ट्र है और उसके आश्रित प्रजा रूप से उदर, कंधे, ग्रीवा, कटि प्रदेश, जंघा, गट्टे, घुटने आदि हैं।

नाभि स्थान में चित्त है। पायु विशिष्ट ज्ञान का आधार है। अर्थात् मूलाधार चक्र के कारण विज्ञान का स्थान है। भसत् प्रजा-उत्पत्ति शक्ति वाला है। वृषण में संभोगजनित आनन्द से प्रमुदित होने की शक्ति है। लिंग में सौभाग्य सामर्थ्य है। जंघा और पैरों में धर्म-धारक शक्ति है। इस प्रकार शरीर रूपी राष्ट्र के समस्त अंग रूपी प्रजा में आत्मा रूपी राजा प्रतिष्ठा को प्राप्त होकर शासन चला रहा है।

शरीर एवं तदन्तर्गत कार्यप्रणाली का शोधन तथा चारित्र्य-चिकित्सा

शरीर को स्वस्थ एवं नीरोग रखने के लिए शोधन-कार्य भी आवश्यक है। यदि शोधन-कार्य न होगा तो शरीर एवं मन अस्वस्थ हो जावेंगे। अतः शोधन-कार्य आवश्यक है। यदि शरीर से होने वाला व्यापार भी हमारा शुद्ध हो जावे तो और भी उत्तम कार्य होगा। शरीर का व्यापार ही चरित्र का निर्माण करता है। अतः शरीर तथा उसके चरित्र का शोधन करना वेद प्रतिपादित करता है। जैसा कि—

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते
शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥ (यजु० ६।१४)

इस मन्त्र में शरीर के विविध अंग एवं इन्द्रियों की कार्य-शक्ति के शोधन का उल्लेख है। विकारों को दूर करने के लिए भी शोधन होता है। यह शोधन ओषधि, जल आदि के प्रयोग से भी होता है और जहां शल्य क्रिया द्वारा शोधन की आवश्यकता हो वहां शल्य-प्रणाली से भी होता है।

(१) **वाचं ते शुन्धामि**—वाणी का शोधन करने की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि किसी को जिह्वा या कंठ के दोष से उच्चारण में कठिनाई हो या असमर्थता हो। वाणी का शोधन इस लिए भी करने की आवश्यकता होती है कि जिसको कठोर वाणी बोलने का अभ्यास होने से व्यर्थ ही विवाद में फंस जाना पड़ता है और कष्ट स्वयं को और दूसरों को भी वाणी की कठोरता से होता है। उनकी भी वाणी के शोधन की आवश्यकता है जो असत्य भाषण करते हैं। इस प्रकार शोधन के अनेक प्रकार ज्ञात होने पर हमें चाहिए कि एक ही भाग का शोधन किन-किन प्रकार से करने की आवश्यकता है। इस प्रकार वाणी का अनेक प्रकार से शोधन करने के लिए वेद का आदेश है। अर्थात् शारीरिक अशुद्धि या दोष दूर करने चाहिएँ और चारित्रिक दोष भी दूर करने चाहिएं।

(२) **प्राणं ते शुन्धामि**—इसी प्रकार प्राणों का भी शोधन करना चाहिए। अर्थात् श्वास-प्रणाली के जितने भी शरीर में यन्त्र हैं उनको शारीरिक दृष्टि से शुद्ध एवं व्याधि रहित करना चाहिए और प्राणायाम आदि द्वारा शरीरस्थ अशुद्ध प्राणों का शोधन करके शरीर में नव प्राण भरना चाहिए अशुद्ध प्राणों से अनेक प्रकार के रोग होते हैं, मन भी अस्वस्थ होता है और आयु भी क्षीण होती है। अतः प्राणों का शोधन विविध प्रकार से करना चाहिए।

(३) **चक्षुस्ते शुन्धामि**—नेत्रों को शारीरिक विकार रहित रखने के लिए इनको स्वच्छ करना चाहिए। यदि रोग हो जावे तो उसका ओषधि उपचार एवं जो शल्य-चिकित्सा का कार्य हो उसे उस

प्रकार से शुद्ध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त चारित्र्य की दृष्टि से नेत्रों का शोधन कार्य परमावश्यक है।

इसी प्रकार श्रोत्र, नाभि, मेढ़, पायु आदि शरीर के अंग एवं ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों का शोधन शारीरिक दृष्टि से एवं चारित्रिक दृष्टि से होना चाहिए। इस मन्त्र से काय-चिकित्सा एवं चारित्र्य-चिकित्सा दोनों का संकेत मिलता है। आज चारित्र्य-चिकित्सा का बड़ा भारी क्षेत्र है। मानव उत्तम चरित्र से ही महान् बनता है और चरित्र के पतित्त होने से गिर जाता है। इसीलिए वेद ने 'चरित्रांस्ते शुन्धामि' का उपदेश दिया।

अर्थात् शरीर की चिकित्सा भी करो और चरित्र की भी चिकित्सा करो। यज्ञ-चिकित्सा से शरीर का अनेक प्रकार से शोधन होता है। रोगों की निवृत्ति भी होती है और साथ-साथ यज्ञ के लिए व्रतानुष्ठान से चरित्र भी शुद्ध होता है। यज्ञ के लिए व्रत ग्रहण करते समय यजमान कहता है—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।। (यजुः १ । ५)

यह मैं असत्य को छोड़कर सत्यव्रत को प्राप्त करता हूं। यही सर्वप्रथम 'वाचं ते शुन्धामि' का यज्ञ में प्रयोग है। यज्ञ में बैठ कर वेद मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है। वेद वाणी के उच्चारण से भी वाणी की पवित्रता होती जाती है। इसी प्रकार यज्ञ से प्राणों की पवित्रता होती है। विश्व का प्राण वायु पर आश्रित है। यज्ञ वायु का परम शोधक है। यज्ञ में बैठने से शुद्ध वायु का सेवन हो जाता है। अतः शरीरस्थ प्राण एवं बाह्य प्राण दोनों की शुद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार चक्षु और श्रोत्र की शुद्धि भी यज्ञ से होती है। यज्ञ में यज्ञ का रूप एवं क्रिया से नेत्र के संलग्न रहने तथा श्रोत्र में वेद-वाणी और स्वाहा की ध्वनि पड़ने से पवित्रता सम्पादन होती है और संयम, व्रतादि के कारण नाभि, मेढ़, पायु आदि की शुद्धि होती है। इस प्रकार चरित्र का शोधन एवं चरित्र-चिकित्सा यज्ञ के द्वारा होती है। ॐ

वैदिक अर्थशास्त्र

वेद में अर्थ का महत्त्व—

वेद में अर्थ का बहुत महत्त्व है। जो लोग यह समझते हैं कि—अर्थ, अनर्थ का मूल है, यह तो केवल मात्र माया ही है--असत्य है—इसकी उपेक्षा करनी चाहिए या इसकी ओर से बिल्कुल त्याग-वृत्ति ही कल्याण का मार्ग है ऐसा वेद प्रतिपादित करता है—यह नितान्त असत्य है।

वेद-मन्त्रों में परमात्मा से धन प्राप्ति की कामनाओं के अनेक मन्त्र हैं—

स नो वसून्याभर=वह परमात्मा हमें धनों को अच्छे प्रकार से पूर्ण करे। (यजु० १५।३०)

उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व=हे प्रभु। हमारे दोनों हाथों को धनों से अच्छी प्रकार भर दो। (यजु० ५।१६)

वयं भगवन्तः स्याम=हे प्रभु। हम सब प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण होवें। (यजु० ३४।३८)

अग्ने नय सुपथा राये=हे ज्ञानस्वरूप अग्ने, परमेश्वर। हमें महान् धनैश्वर्य के लिए उत्तम मार्ग पर ले चलिये। (यजु० ७।४३)

श्रीः श्रयताम् मयि=मुझ में श्रीः स्थिर हों। (यजु० ३९।४)

वसोर्दाता वस्वदात्=ऐश्वर्य का दाता हमको ऐश्वर्य देवे। (यजु० ४।१६)

श्रेयसे वित्तधम्=धर्म, अर्थ कामना की प्राप्ति के लिए धन धारण करने वाले को उत्पन्न कीजिए। यजु० (३०।११)

वयं स्याम पतयो रयीणाम्=हम धनों के स्वामी बनें। (यजु० १०।२०)

इसी प्रकार बहुत से मन्त्रों में धनैश्वर्य की कामना परमात्मा से की गई है। यदि यह कामना बुरी होती तो परमात्मा से धनैश्वर्य की प्राप्ति की प्रार्थना नहीं होती अपितु इसको त्यागने को ही, इससे बचने की ही प्रार्थनाएँ होतीं। इस धनैश्वर्य के मार्ग को सुपथ कहा है। यह कुपथ नहीं है। धन के सदुपयोग से यश की प्राप्ति होती है और उसके दुरुप-योग से अपयश होता है। अतः धन के उपयोग का भी यदि सुपथ हो तो धन धर्म का साधन बन जाता है।

अर्थ के मूल तत्त्व

अर्थशास्त्र के मूल आधार तत्त्व निम्न हैं—

१. भूमि २. पशु ३. मनुष्य

इन तीन के आश्रित अर्थशास्त्र का उद्‌गम होता है और इनके ही आश्रय से उसका संचालन होता है। भूमि के आश्रित कृषि द्वारा अन्न फलादि की उत्पत्ति, खनिज द्रव्यों की प्राप्ति, वृक्षादि भवन निर्माण की सामग्री आदि प्राप्त होती है। भूमि के विना अर्थशास्त्र का सभी प्रकार का आधार नष्ट हो जाता है। अतः यह प्रमुखतम आधार है।

अर्थशास्त्र का दूसरा आधार पशु है। पशुओं से हमारे जीवन निर्वाह की अनेक प्रकार की सामग्री, कृषि में उनका अनेक प्रकार से साहचर्य एवं खादादि-उत्पादन में उपयोगिता होती है।

अर्थशास्त्र का तीसरा प्रमुख आधार मनुष्य है। मनुष्यों के विना उत्तम भूमि और पशु धन होने पर भी इनकी उपयोगिता लेने वाला न होने से ये सब निष्फल हो जाते हैं। मनुष्यों के आधार से ही, उसकी आवश्यकताओं एवं कामनाओं के आधार पर ही अर्थशास्त्र का चक्र गति करता है।

अर्थ का आधार पशु

अर्थशास्त्र के इन मूल तत्त्वों को वेद के निम्न मन्त्र में बड़ी सुन्दर रीति से बताया है—

इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पुरुषाः।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति॥ (अथर्व० २०। १२७। १२)

इस पृथिवी पर गौएं, अश्व एवं पुरुष वर्ग उत्पत्तिधर्मा हों तथा इस पृथिवी पर पालनकर्त्ता सूर्य अच्छी प्रकार अपनी सहस्र उत्पादन शक्तियों से विराजमान हों।-अर्थात् अर्थशास्त्र की मूलाधार पृथिवी सहस्र उत्पादन-सामर्थ्य के साथ संयुक्त हो। जो पृथिवी उत्पादन-शक्ति रहित है उसकी उपयोगिता भी कम है। जिसकी उपयोगिता कम है उसका आर्थिक महत्व भी कम है। इसी प्रकार गौ, अश्व आदि पशु खाद्य-समस्या, यातायात-समस्या एवं जीवन की उपयोगिता के लिए हैं वे सब उत्पत्ति-धर्म वाले हों। पशुओं की समृद्धि हो और पुरुष भी उत्पत्ति धर्मा हों। इन सबकी समृद्धि से ही अर्थ तन्त्र का चक्र चलता रहेगा। उत्पत्ति धर्मा एवं समृद्धि होना आर्थिक तन्त्र को दीर्घ जीवन प्रदान करता है।

अर्थ का आधार पृथिवी

भूमि से हमें सुखों की प्राप्ति होती है जैसा कि वेद के निम्न मन्त्र में वर्णित है—

स्योना पृथिवी नो भवानृक्षरानिवेशनी।
यच्छा नः शर्म स प्रथाः॥ (यजुः ३६। १३)

अर्थात् हे पृथिवी! तू हमारे लिए सुखरूपा, कंटकरहित, निवास योग्य हो। हमारे लिए विस्तार के साथ शरण दे। हमारे दोषों को हटा दे। इसी प्रकार अथर्ववेद में लिखा है—

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसुमर्णि हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी ददातु सुमनस्यमाना॥ (अथर्व० १२। १। ४४)

जो पृथिवी अपने अन्तस्तल में गुप्त कोषों को सुरक्षित रूप से धारण करती है वह पृथिवी मुझ को सुवर्ण आदि विविध प्रकार की मूल्यवान धातुओं की मणि आदि विविध रत्नों को देवे। अनेक प्रकार के धनैश्वर्यों एवं निवास को देने वाली पृथिवी माता प्रसन्नता से हम सबको धनैश्वर्य प्रदान करे। इसी प्रकार निम्न मन्त्र में भी पृथिवी का सुन्दर वर्णन है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रधारा द्रविणस्य मे दुहा ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ (अथर्व १२। १। ४५)

जो पृथिवी विविध प्रकार की भाषाओं एवं वाणियों के बोलने वाले तथा अनेक धर्मों को पालने वालों को एक गृह के रूप में आश्रय प्रदान करने वाली है वह अविचलित गौ के समान निश्चल रूप से मेरे लिए धनैश्वर्य, सुख सम्पत्ति सहस्रों मार्गों से प्राप्त करे।

अर्थ का आधार मनुष्य

पृथिवी ऐश्वर्यों से भरी है। परन्तु उस ऐश्वर्य की प्राप्त करने के लिए पुरुष को पुरुषार्थी

व परिश्रमी बनना पड़ेगा। अन्यथा ऐश्वर्य उसे प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसलिए वेद ने कहा—

भूत्यै जागरणं अभूत्यै स्वपम्। (यजुः ३०। १६)

ऐश्वर्य के लिए आलस्य, निद्रा आदि को त्याग कर जाग्रत्, चैतन्य हो, सोच-समझकर पुरुषार्थ कर। यह पृथिवी का विशाल वैभव तुझे प्राप्त होगा और यदि तू अकर्मण्य, आलसी बन कर सोता रहा तो तुझको दारिद्रय, निर्धनता, ऋणादि प्राप्त होंगे। इसलिए मानव जीवन को प्राप्त कर ऐश्वर्यशाली होना चाहिए।

अर्थ के अनेक प्रकार

ऐश्वर्यशाली बनने के लिए अनेक प्रकार के धनों की आवश्यकता है। एक व्यक्ति जिसके पास स्वयं का कुछ भी धन नहीं है यदि वह दूसरों से उधार लेकर अपना कार्य चलाता है तो ऐश्वर्यवान् नहीं है। ऐश्वर्यवान् होने के लिए अपने स्वामित्व का धन होना चाहिए। वेद ने कहा—'वयं स्याम पतयो-रयीणाम्'—हम धनों के स्वामी बनें। यहां रयी शब्द जिस प्रकार के धन के लिए प्रयुक्त हुआ है वह धन हमारे लिए हितकर है।

रयी शब्द सुवर्णादि का भी वाचक है और धन का भी। परन्तु जिस धन के हम स्वयं स्वामी हैं, जो हमारा स्वार्जित है, वही हमारा वास्तविक धन है। उसी से हमारा अपना वैभव है उसी से हमारा ऐश्वर्य भी है। उससे हमारा सुख है। उसी से हमारा आर्थिक बल और पराक्रम है। वह हमारे कल्याण के निमित्त है। अतः वेद कहता है कि ऐसे धनों के हम स्वामी बनें जो हमारा स्वार्जित है।

जो धन दूसरों का हमारे पास ऋण रूप में है या जो धन किसी का अन्य कार्यों में प्रयुक्त करने के लिए हमें प्राप्त हुआ है, उस पर हमारा स्वामित्व नहीं है, अपितु दूसरों का ही स्वामित्व है वह हमारे लिए रयी नहीं है। उस धन का यदि हम अनुचित उपयोग करते हैं तो समाज में अपराधी, दोषी, निन्दनीय तथा दण्डनीय हो जाते हैं। अतः—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजुः ४०। १) जो धन जिस उपयोग का या जिस निमित्त है उसका वितरण एवं विनियोग उसी में करना चाहिए। उसको अन्य कार्यों में अपनी लोभवृत्ति के कारण लगाना वेद ने निषिद्ध किया है।

अर्थ के विविध नाम एवं भेद

वेद में अर्थशास्त्र सम्बन्धी अनेक शब्दों के प्रयोग आते हैं। ये विविध नाम अर्थ की विभिन्न स्थितियों के परिचायक हैं। उनमें से कतिपय शब्दों को यहां उद्धृत किया जा रहा है—

१. **अर्थ**—अर्थ शब्द बहुत व्यापक अर्थ वाला है। धनैश्वर्य सम्बन्धी जिन-जिन पदार्थों की हम कामना अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए करते हैं या किसी प्रकार के उपाय, श्रम अथवा वस्तुओं के आदान प्रदान द्वारा हम जिस प्रतिफल की आशा या याचना करके प्राप्त करते हैं वह अर्थ है। 'अर्थ्यंते-प्रर्थ्यंते इति अर्थः'। यह व्युत्पत्ति जिस-जिस द्रव्य-प्राप्ति में घटित होती है वे सब अर्थ की सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं।

२. **धन**—धन शब्द व्यापक अर्थ वाला है। धन के अन्तर्गत सुवर्ण आदि धातुएं, भूसम्पत्ति, पशु, अन्नादि, चल-अचल सम्पत्ति परिगणित होती है, जो कि पृथिवी पर सर्वत्र विद्यमान है। परन्तु जब इस पर स्वकीय एवं परकीय स्वामित्व, स्थायित्व, एवं गतित्व का प्रभाव पड़ता है तो उसकी विविध संज्ञाएँ हो जाती हैं। वेद में—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'—(यजुः ४०। १) में धन शब्द व्यापक अर्थ में है। सर्वप्रकार की सम्पत्ति जिसका पूर्व वर्णन किया है उसी का ग्रहण यहां है। इसी प्रकार—'इदं धनं

निदधे ब्राह्मणेषु'—(अथर्ववेद ११। १। २८)—यहाँ पर भी धन शब्द से विविध प्रकार की सम्पत्ति, ऐश्वर्य का ही ग्रहण है।

३. **द्रव्य**—यह शब्द केवल सुवर्णादि धातु रूपी धन का वाचक है। द्रव्य से अन्य द्रव्यों, पदार्थों का विनिमय होता है।

४. **व्यवहार्य धन**—जिस धातु से प्रधान रूप से मुद्राओं का निर्माण होकर वस्तुओं के क्रय-विक्रय आदि में सहायता प्राप्त होती है वह व्यवहार्य धन कहलाता है।

५. **धेनु**—धन, द्रव्य एवं व्यवहार्य धन ये सब धेनु संज्ञक हैं। इनसे अन्य प्रकार के द्रव्यों का क्रय-विक्रय होता है और उसको पुनः पुनः इसी कार्य में लगाकर द्रव्योपार्जन होता है। अतः जिस मूलभूत पूंजी से अर्जन होता है वह धेनु संज्ञक है।

६. **इष्टका**—व्यापार की मूल पूंजी का नाम इष्टका है। अपना व्यापारिक इष्ट साधन के लिए उसका प्रयोग होता है। जैसा कि—'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः' (यजुर्वेद। १७। २) में दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है।

७. **ब्रह्म**—इष्टकाओं—मूलपूंजी से जब लाभ होना प्रारम्भ होता है तब वह धेनु हो जाती है। उस धेनु से वृद्ध हुई राशि 'बृहत्वाद् ब्रह्म' संज्ञक है। जैसा कि—'इंद मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।' (यजुर्वेद ३२। १६) में ब्रह्म शब्द श्री से ही सम्बन्धित है। बढ़ी हुई राशि श्रीयुक्त, श्रीसम्पन्न होनी चाहिए।

८. **वेद**—लाभांश ही वेद संज्ञक है।

९. **वृद्धि**—वेद की राशि ही वृद्धि है।

१०. **वित्त**—ब्रह्म राशि में से जो भाग चुकाने के लिए है उसे वित्त कहते हैं। 'वित्यते त्यज्यते अनेनेति वित्तः।' अर्थात् जो भाग छोड़ा जाता है अर्थात् दिया जाता है, वह वित्त संज्ञक है।

११. **बन्धु**– ब्रह्म राशि में से लाभांश का जो भाग पुनः इष्टका रूप में मूल पूंजी बनाकर लगाया जाता है वह बन्धु संज्ञक द्रव्य है।

१२. **मीढु**—अकस्मात् प्राप्त धनराशि को मीढु कहते हैं।

१३. **मेधा**– बिना पूंजी के अपने बुद्धि-कौशल से अर्जित राशि मेधा संज्ञक है। 'यां मेधां देवगणाः' (यजुः ३२।१४) में मेधा शब्द धनवाची है।

१४. **श्वात्र**—अनेक व्यापारों में लगा धन या जो धन अल्प समय के लिए दिया जावे वह श्वात्र संज्ञक है।

१५. **वेध या लब्धव्य**—जो धनराशि किसी से अपनी लेनी शेष है उसे वेध या लब्धव्य कहते हैं।

१६. **रेक्ण**—वेध या लब्धव्य राशियों में से जो संशयित राशि है अर्थात् जिसकी प्राप्ति की आशा कम है वह रेक्ण कहाती है।

१७. **द्रविण**—उपार्जित राशि में से जो लाभराशि हमारे व्यक्तिगत कार्य के लिए है उसे द्रविण कहेंगे। इसी राशि को स्वक् या स्वापतेय राशि भी कहते हैं।

१८. **राधः**—इस स्वापतेय द्रविण में से जो भाग बच कर अपनी निधि को बढ़ाता है उसे राधः कहते हैं।

१९. **रयि**—क्रय करने से ले कर द्रविण तक के गतिशील धन को रयि कहते हैं।

२०. **द्युम्न**—राधः संज्ञक धन-राशि से हम जिन स्वर्ण, हीरा, मोती आदि पदार्थों को खरीदते हैं, मकान आदि बनवाते हैं, भूसम्पत्ति आदि, बाग बगीचा बनाना या खरीदना, मकान में सजाने का कीमती सामान, किसी भी सम्पत्ति को खरीदते हैं वह द्युम्न है। इसी को मघ, रायः, भागः रै, विभव, भूतिः, संभूति, श्री, लक्ष्मी एवं ऐश्वर्य नामों से सम्बोधित करते हैं।

२१. **वसुः**—भू-सम्पत्ति एवं मकान आदि की निवास योग्य सम्पत्ति वसु संज्ञक है।

२२. **भोग**—यह वह राशि है जिससे हम सुखों की प्राप्ति करते हैं यही भोग संज्ञक है।

२३. **श्रवः**—जिस धन का दानादि में विनियोग हो या यज्ञादि कार्यों का जिस धन से विस्तार होता है वह श्रवः संज्ञक है। इसी को यशः एवं राः भी कहते हैं।

२४. **गयः**—जिस धन या सम्पत्ति को हम अपनी सन्तानों के लिए, प्रजा के कल्याणार्थ या राज्य के विस्तार के लिए लगाते हैं वह गय संज्ञक है।

२५. **क्षत्र**—जिस धन को हम अपनी रक्षा एवं आपत्कालीन स्थिति के लिए लगाते हैं वह क्षत्र संज्ञक है जैसा कि—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'—में ब्रह्म और क्षत्र विशिष्ट-विशिष्ट अर्थ राशि वाचक भी हैं।

२६. **वरिवः**—अपने व्यापारिक प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए जो राशि विज्ञापन, प्रसिद्धि आदि के लिए व्यय की जाती है वह वरिवः संज्ञक है।

२७. **ऋक्थ**—जिस सम्पत्ति को हम दाय भाग के रूप में प्राप्त करते हैं या दाय भाग के लिए रखते है वह ऋक्थ संज्ञक है।

२८. **वृत**—जो राशि हम उधार रूप में किसी से प्राप्त करते हैं वह वृत संज्ञक है। यही राशि ऋण संज्ञक है।

२९. **वृत्र**—वह राशि जिसको हम किसी को देकर उसके व्यापार या स्वामित्व की सम्पत्ति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं वह वृत्र संज्ञक है।

अर्थ निमित्त व्यवहार के शब्द

१. **नीहार**—मूल्य से खरीदने योग्य वस्तु को नीहार कहते हैं। (यजु० ३।५०)

२. **वस्न द्रव्य**—पदार्थों के मूल्य को वस्न द्रव्य कहते हैं और जिस राशि से खरीदते हैं उसे भी वस्न द्रव्य कहते हैं। (यजु० ३।४९)

३. **वित्तायिनी**—वे पदार्थ जिनसे वित्त प्राप्त होता है। (यजु० ५।९)

४. **पण्य, ५. क्रय, ६. क्रत** आदि शब्द जो व्यापार के व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं वे यजुर्वेद अ० ८ के ५५वें मन्त्र में प्रयुक्त हैं। अतः वेद व्यापार आदि द्वारा धन, सम्पत्ति अर्जित करने की प्रबल प्रेरणा देता है।

अर्थ से लोक परलोक की सफलता

वेद लोक और परलोक दोनों को सुखी बनाने का उपदेश करता है। लोक में रहते हुए खूब कमाओ, ऐश्वर्य एकत्र करो और परलोक सुधारने के लिए उसका दान भी अच्छी प्रकार करो। इस लोक से ही परलोक बनता है अतः यह लोक जितना अच्छा बनाया जायेगा उतना ही अपना कल्याण हो सकेगा। पृथिवी के धनों के साथ जब विद्या, विज्ञानादि रूपी धन भी मिल जाता है तब तो और भी सुखों की प्राप्ति होती है और यदि विद्या, धनादि ऐश्वर्य के साथ इस शरीर रूपी महत् सम्पत्ति को समझ कर

परमात्मा रूपी महाधन की प्राप्ति में संसार का ऐश्वर्य, विद्या और यह शरीर समर्पित कर दिया जाता है तो सब कुछ प्राप्त हो जाता है। संसार के सब धन जड़ हैं। वह महाधन प्रभु चैतन्य है, आनन्ददायक है, वह दयालु है, दाता है। उसकी शरण में भी चलना चाहिए। अपना सब धन उसको यदि हम समर्पित करेंगे तो वह धन प्रभु का हो जायगा। प्रभु का कोष अक्षय है। जब हमने उस प्रभु को सब कुछ अर्पण कर दिया और उस प्रभु के हम सेवक बन गये तो समस्त ऐश्वर्यवान् प्रभु के ऐश्वर्य में हमें कहां दुःख होगा। कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं रहेगी। कामनाओं की पूर्ति होने पर एवं तृप्ति होने पर सांसारिक धनों से वैराग्य एवं घृणा भी हो जाती है। अतः जो सब धनों का धन है उसके लिए भी प्रयत्न करते रहना चाहिए।

विनिमय

भौतिक अर्थशास्त्र में समाज का व्यवहार आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विनिमय (Exchange) के आधार पर चलता है। जो भी विनिमय का साधन समाज को ग्राह्य हो जावे उससे समाज का व्यवहार चलने लगता है। देश काल परिस्थिति के अनुसार अनेक प्रकार के विनिमय अनेक रूप में हो सकते हैं। चाहे वह अन्न, वस्त्र, शक्कर, धातु, श्रम आदि कुछ भी किसी रूप में हों।

इन विनिमय साधनों में से जिसका जितना अधिक क्षेत्र व्यापक होगा वही सबसे प्रधान विनिमय द्रव्य हो जाता है। सर्व प्रधान विनिमय द्रव्य यदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होगा तो वह अधिक समय तक व्यवहार पर स्थिर संतुलन स्थापित नहीं कर सकेगा। अतः विनिमय द्रव्यों में जो सर्वप्रधान होगा उसकी सन्तुलन-शक्ति सबसे अधिक होनी चाहिए। वह एक रत्ती में भी अपने प्रतिपक्ष में एक किलोग्राम, दस किलोग्राम एवं अधिक को भी दिलाने की सामर्थ्य रखता है।

विनिमय द्रव्य के आधार पर आदान-प्रदान का व्यवहार चलना यह आधारभूत सिद्धान्त व्यापार या व्यवहार का है। यही व्यापार का प्राण है। अतः इस व्यापारिक प्राण-शक्ति को अनेक प्रकार के व्यापारों से अर्जित करने का प्रयत्न समाज में चलता है और इसी के कारण अनेक प्रकार की व्यापारिक स्पर्धाएं भी होती हैं। वेद व्यापार के मूलभूत सिद्धान्त का प्रदर्शन निम्न सुन्दर शब्दों में कर रहा है—

> देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
> निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते॥ (यजु० ३।५०)

अर्थात्—तू मुझे दे—तो मैं तुझे दूं। तू मेरी यह वस्तु अपने पास रख कर इसके प्रतिरूप में जो विनिमय द्रव्य प्रदान करेगा उसे स्वीकार करूँगा। तू मुझसे मोल खरीदने योग्य वस्तु को ले ले और मैं भी तुझको पदार्थों का मोल निश्चय करके दूं। यह सब व्यवहार सत्य वाणी से करें अन्यथा ये व्यवहार सिद्ध नहीं होते।

इस प्रकार इस मन्त्र में आदान-प्रदान के तीन स्वरूपों का वर्णन है। प्रथम प्रकार यह है—

(१) देहि मे ददामि ते—तुम मुझे दो तो मैं तुम्हें दूं। अर्थात् एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु का लेना देना। एक प्रकार के अन्न के बदले में दूसरे प्रकार का अन्न का आदान-प्रदान। अनाज के बदले में वस्त्रादि का आदान-प्रदान। अन्न या वस्त्र के बदले धातु का आदान-प्रदान या आवासादि का प्रदान अथवा श्रमादि का प्रदान हो सकता है।

दूसरा प्रकार

(२) **नि मे धेहि नि ते दधे**—मेरी यह वस्तु आप अपने पास रख लें और अमुक वस्तु आप प्रदान करें। अर्थात् मेरा अपनी वस्तु का रखने का तात्पर्य यह है कि मैं पुनः अपनी वस्तु लौटाकर अपनी वस्तु जो रखी है उसे ले जाऊंगा। आज इस प्रणाली पर बैंकों का व्यापार सर्वत्र विस्तृत है और अपने व्यापार के संचालन में सहायक हो रहा है।

तीसरा प्रकार

(३) निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते—मोल खरीदने योग्य वस्तुओं को विनिमय द्रव्यों के माध्यम से तुम मुझसे ले लो और मुझे जिन वस्तुओं के खरीदने की आवश्यकता होगी वह मैं तुमसे खरीदूंगा। इससे परस्पर व्यापार संघ स्थापित किये जाते हैं। क्रय-विक्रय की व्यापारिक मण्डी बाजार आदि के रूप में इससे विकसित होती है।

खरीदने योग्य पदार्थ की पात्रता

खरीदे जाने वाले पदार्थ में तीन प्रकार की योग्यता होनी चाहिए। प्रथम योग्यता द्रव्य की अपनी योग्यता, उपादेयता एवं श्रेष्ठता होनी चाहिए। अयोग्य, अनुपयोगी या हीन कोटि का द्रव्य बिक नहीं सकता।

दूसरे प्रकार की योग्यता पदार्थ में यह होनी चाहिए कि उसके प्रति खरीददार की विनिमय द्रव्य को देने की क्षमता और पदार्थ के निमित्त विनिमय द्रव्य का अनुकूल मूल्य।

तीसरी योग्यता पदार्थ के प्रति ग्राहक की तीव्र उत्कण्ठा, प्रेम व श्रद्धा और यह अत्युग्र लालसा कि अमुक वस्तु को यदि मैं क्रय कर लूंगा तो मेरी कामना की पूर्ति होगी और मन को संतोष होगा। इस प्रकार की तीन योग्यताएं क्रय-विक्रय कार्य में होनी चाहिए। इन्हीं भावनाओं को जाग्रत् करने के लिए व्यापारी अनेक प्रकार के आकर्षण विज्ञापनादि के द्वारा ग्राहकों में उत्पन्न करके अपनी विक्री बढ़ाते हैं।

वेद उपरोक्त तीनों योग्यताओं के साथ व्यवहार करने का उपदेश निम्न मन्त्र में कर रहा है।

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन। (यजु० ४। २६)

अर्थात्—

(१) शुक्रेणं त्वा शुक्रं क्रीणामि—जिस पदार्थ को मैं खरीदना चाहता हूं उसके प्रति मेरी खरीदने की पवित्र भावना है। उस पवित्र भावना के साथ तुझको मैं अपने व्यवहार के लिए शुद्ध, उचित एवं उपयोगी समझकर क्रय करता हूँ। यह पहली भावना है।

चन्द्रेण त्वा चन्द्रं क्रीणामि—यह दूसरी भावना है। अर्थात् सुवर्णादि द्रव्य के द्वारा जिस पदार्थ को मैं क्रय कर रहा हूँ वह अपनी योग्यता से स्वर्णादि द्रव्य के तुल्य हो। इसी निमित्त तो सुवर्णादि द्रव्य का विनिमय करके क्रय कर रहा हूं। इसके द्वारा मुझे पुनः इसका मूल्य बराबर मिल सकेगा।

(३) अमृतेन त्वा अमृतं क्रीणामि—यह तीसरी भावना है। इस क्रीत पदार्थ के प्रति अमृत तुल्य, श्रेष्ठ एवं ग्राह्यता तथा तीव्र लालसा से उसको लेता हूँ जिससे इसकी सुरक्षा भी कर सकूं और पुनः किसी को बेचने पर इसको श्रेष्ठ एवं प्रिय समझ कर पूर्ण मूल्य प्राप्त करूं या अपने उपयोग में लूं तो अमृत के समान प्रिय मुझको हो। इस प्रकार वेद ने क्रीत द्रव्य की योग्यताओं के बारे में प्रकाश डाला।

व्यापार-मन्त्रणा

यह वाणिज्य-व्यापार आवश्यकता के आधार पर तो प्रारम्भ होता ही है और उसी के आश्रय से चलता भी है। परन्तु वाणिज्य में व्यवसायात्मक बुद्धि की आवश्यकता है। व्यवसायात्मिका बुद्धि होने से अधिक अच्छे रूप में व्यापार बढ़ता है और आय की वृद्धि होती है। अतः विचार, मन्त्रणापूर्वक व्यापार करना चाहिए। वेद ने इस बारे में कहा—

नमो मन्त्रिणे वाणिजाय। (यजुः १६। १९)

अर्थात् जो वाणिज्य, व्यवसाय की मन्त्रणा देने वाला या व्यापार का मन्त्री है उसके लिए नमस्कार हो।

किसी के लिए नमस्कार उसके प्रति श्रद्धा होने से और इस निमित्त उसके पास जाने से होगा। ऐसे व्यक्ति के पास जाने से उससे सम्पर्क होगा और उससे परामर्श भी प्राप्त होगा जिससे हम अपने वाणिज्य व्यवसाय में उन्नति कर सकते हैं। अतः वाणिज्य व्यवसाय का परामर्शदाता-मन्त्री-भी होना आवश्यक है।

आयात से निर्यात अधिक हो

वाणिज्य मन्त्री को आयात-निर्यात की स्थिति का ज्ञान होता है। किस-किस स्थान पर किस किस पदार्थ की आवश्यकता एवं मांग है और वहां किस-किस भाव बिक सकेगा। हमारी निर्यात स्थिति क्या है तथा हमारे यहां किस-किस वस्तु की कमी है उसकी पूर्ति कहां-कहां से पदार्थों के आयात करने से हो सकती है। इन स्थितियों के ज्ञान से अपने आयात-निर्यात कार्य से अच्छा लाभ प्राप्त कर अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ की जा सकती है। जो निर्यात अधिक करेगा और आयात कम करेगा उसकी आर्थिक स्थिति अन्यों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अच्छी होती जावेगी। वेद ने इस बारे में कहा है—

शतहत समाहार सहस्रहस्त सं किर। (अर्थ० ३। २४। ५)

अर्थात् आयात द्वारा संग्रह सैंकड़ों हाथों-प्रकारों या प्रयत्नों से करना चाहिए और हजारों हाथों-प्रकारों या प्रयत्नों से निर्यात करना, अपने माल को विविध मंडियों में प्रसारित करना चाहिए। अर्थात् आयात से निर्यात पर्याप्त अधिक मात्रा में करना श्रेयस्कर है।

वाणिज्य कार्य वैश्य कर

यह कार्य सब नहीं कर सकते थे। विशिष्ट गुण, योग्यता एवं रुचि वाले ही कर सकते हैं। वेद ने इसके लिए कहा—

मरुद्भ्यो वैश्यम् (यजु०। ३०। ५)

मरुत्सदृश गुणों के लिए वैश्य को नियुक्त करे। जैसे वायु एक स्थान के गन्ध को या मेघों को या रजःकणों को इतस्ततः लाती और ले जाती है उसी प्रकार जो एक स्थान के पदार्थों को दूसरे स्थान व देशों में भेजने और दूसरे स्थान के एवं विदेश के पदार्थों को अपने स्थान में लाने के व्यापार में कुशल वैश्य हैं उनको इन कार्यों में नियुक्त करें।

वाणिज्य यज्ञ

आयात एवं निर्यात के लिए खाद्य पदार्थ, खनिज पदार्थ, वनस्पति, वन्य पदार्थ, वित्त, प्राकृतिक सम्पदा, पशु एवं स्वप्रयत्न से निर्मित वस्तुएं होती हैं ऐसे सब पदार्थों के नाम और उनको यज्ञ द्वारा सम्पन्न, समर्थ तथा उपयोगी बनाने के लिए वेद प्रतिपादित करता है।

यज्ञ के द्वारा इनको सम्पन्न एवं समर्थ बनाने के अनेक प्रकार हो सकते हैं। यज्ञ धातु का अर्थ संगतिकरण और देना भी है। अतः अर्थशास्त्र में इसका अर्थ पदार्थों का आदान-प्रदान कर अनुकूल मंडियों में पहुंचाने रूप संगतिकरण व देना अर्थ संगत होता है। व्यापार व्यवसाय, व्यवहार भी यज्ञ हैं। उसमें सत्यता होनी चाहिए। जिस प्रकार यज्ञों में विना दक्षिणा के कार्य पूर्ण नहीं होता उसी प्रकार व्यापार में विनिमय द्रव्य की क्रिया के व्यवहार के विना पूर्णता नहीं होती है। अतः व्यापार में अर्थ की प्रधानता रहेगी ही और जिन पदार्थों से व्यापार किया जावेगा उनसे अर्थ की प्राप्ति होगी।

नाप तौल एवं गणना

व्यापार में नाप तौल एवं गणना के विना काम नहीं चल सकता। अतः वेद ने कहा:—

तुलायै वाणिजम्। (यजुः ३०।१७)

नाप तौल के लिए वणिज-वैश्य को रखे। व्यापार में द्रव पदार्थ, स्थूल पदार्थ, बहुमूल्य पदार्थों आदि के लिए विना नाप तौल के कार्य चल नहीं सकता। अतः वेद ने इसके लिए नाप तौल की विविध इकाइयां रखनी चाहिएं यह भी बताया है—

वेद में दाशमिक प्रणाली के बाटों एवं गणना का उल्लेख निम्न मन्त्र में है—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च
शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च।। (यजुः १७।२)

अर्थात् अपने इष्ट-अभिप्रेत नाप तौल एवं गणना के आवश्यकतानुसार माप, तौल और गणना के साधनों की इकाई स्थिर करके उसके अवान्तर तथा उसकी गुणित राशियों को दस-दस, सौ-सौ, हजार हजार आदि विभागों या राशियों में बनाना चाहिए।

व्यापार द्रव्यों के नाम एवं संग्रह

व्यापार द्रव्यों के बारे में जैसा ऊपर लिखा है कि अनेक प्रकार के पदार्थों के नाम, पदार्थों की श्रेणियों के नामों का उल्लेख वेद में मिलता है। जिस प्रकार से किसी बड़े संग्रहालय में वर्गीकृत पदार्थों का संरक्षण होता है और उनका दर्शन होता है उसी प्रकार विश्व रूपी महान् संग्रहालय में सब कुछ दर्शन करने को मिलता है।

व्यापार के लिए संग्रह आवश्यक है। वेद में इसे चयन या चिति कहते हैं। अन्न की श्रेणी में विविध प्रकार के अन्नों का चयन या प्रदर्शन कक्ष अन्न चिति है। पार्थिव तत्त्वों का, खनिज पदार्थों एवं धातुओं का भूगर्भ से निकाल कर विविध रूपों में शोधन करके चयन करके रखना और उपयोगिता के लिए प्रस्तुत करना भू-तत्त्व चिति है। इसी प्रकार की चितियां अन्य पदार्थों की भी हो सकती हैं। वेद मन्त्र में इसका सुन्दर रूप में वर्णन करता है—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे
खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च
मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।। (यजुः १८।१२)

इसको पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है कि परमात्मा ने इस विशाल पृथिवी पर जो विविध प्रकार के खाद्यान्न उत्पन्न किये हैं उनका हम संग्रह करें। उनकी उत्पत्ति करके अन्न की वृद्धि करें और उनका विशाल संग्रह क्रमपूर्वक करके अभावग्रस्त क्षेत्र में उनकी पूर्ति का प्रयत्न करें। इस प्रकार अन्नों के व्यापार का, उसकी समृद्धि एवं संग्रह का वेद उपदेश करता है।

इसी प्रकार निम्न मन्त्र में विविध प्रकार की मृत्तिका, पत्थर, खनिज आदि का संग्रह करने के लिए और उनका उचित उपयोग करने के लिए लिखा है—

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे
सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽ यश्च मे
श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८।१३)

इस मन्त्र को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति की विशाल सम्पदा का जो इस पृथिवी पर बिखरी पड़ी है और जो पृथिवी के गर्भ में धरोहर के रूप में अमूल्य निधि रखी हुई है उसका वेद दर्शन करा रहा है और मानव को कह रहा है कि पृथिवी के ये विविध प्रकार के पत्थर और विचित्र-विचित्र प्रकार की मिट्टियां, अनेक प्रकार के गिरि और पर्वत जिन के अन्दर और जिनके बीच अनेक प्रकार के पदार्थों की राशियां सुरक्षित रूप में स्तरों के रूप में विद्यमान हैं उनको इस पृथिवी के गर्भ से निकाल कर उनका उपयोग लो। भूगर्भ में छिपे इन पदार्थों का परिचय देने के लिए उन पर्वतों से बाहर निकले हुए शैलशिखर, अनेक प्रकार के पार्थिव खनिज आदि पदार्थों के पिण्ड एवं बालुका रूप में उपलब्ध होते हैं। वे बताते हैं कि यहां अमूल्य सम्पदा छिपी हुई है। पृथिवी पर उत्पन्न वनस्पतियां भी खनिज पदार्थों की सूचक होती हैं तथा उन वनस्पतियों में जो क्षारीय पदार्थ विद्यमान हैं उनमें भी वह तत्त्व विद्यमान है। इस प्रकार पृथिवी में अपूर्व सम्पदा सुवर्ण, रजतादि बहुमूल्यवान् धातु तथा लोहा फौलाद, अयस्कान्त, सीसा, तांबा आदि विविध प्रकार की धातुएँ हैं उनको निकालकर अपने अधिकार में करके इनके द्वारा धनैश्वर्य की समृद्धि करो।

व्यापार से कोष का निर्माण

इस प्रकार नाना प्रकार के पदार्थों से व्यापार बढ़ने पर समाज के व्यक्तियों के पास अपनी आवश्यकता पूर्ति के पश्चात् जो द्रव्य बचता है उसका संग्रह होने लगता है और उन्हें उस धन में से अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए एवं सार्वजनिक कार्यों के लिए देने तथा व्यय करने की शक्ति प्राप्त होती हैं। इसी शक्ति के सामूहिक रूप से संगठित होने पर अर्थात् व्यक्तिगत निधियों का एक समूह कोष, खजाना या बैंक निर्मित होने की आवश्यकता हो जाती है और उसका एक अधिपति समाज में से निर्वाचित या नियुक्त करना पड़ता है जिससे समाज को व्यक्तिगत एवं सामाजिक बड़े-बड़े व्यापारों में सामर्थ्य प्राप्त होती है।

निधिपति की नियुक्ति

व्यक्तिगत राशियों का सामूहिक रूप में रक्षण और उससे व्यापार-संचालन आजकल की बैंकिंग प्रणाली का आधार है। हम समझते हैं कि इसका जन्म और व्यापक विस्तार १९वीं एवं २०वीं सदी में हुआ होगा। परन्तु वेद के अध्ययन से हमें निम्न शब्द प्राप्त होते हैं जो कि प्रत्येक उपासना कार्य के प्रारम्भ में बोले जाते हैं—

निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे। (यजुः २३।१९)

अर्थात् निधियों के —कोषों के— मध्य में हम तुमको निधिपति के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि तुम कोष की जो विद्या —गणितशास्त्र है, सांख्यिकी विद्या है उसमें पारंगत हो। जो इस विद्या को नहीं जानेगा उसको यदि निधिपति बना दिया जावेगा तो वह ऋद्धि-सिद्धि का दाता नहीं हो सकेगा। वह मंगल नहीं कर सकेगा। अतः निधिपति बनने के लिए पहली योग्यता गणन कला-गणितशास्त्र का ज्ञाता

होना चाहिए। इसीलिए वेद इसी मन्त्र के प्रारम्भ में ही कहता है कि जो हमारा निधिपति हो उसे—

निधिस्थानों पर गणनाधिकारी की नियुक्ति

गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे। (यजुः २३।१९)

अर्थात् गणनविद्या में तुमको गणनविद्या का पति मानकर हम तुम्हें स्वीकार करते हैं। परन्तु साथ ही हमारा प्रिय, विश्वास और श्रद्धा भी तुम्हारे प्रति पूर्ण है। यह भी निधिपति बनाने में दूसरा हेतु है। किसी गणित शास्त्रज्ञ के प्रति यदि विश्वास एवं प्रेम न हो तो उसे निधिपति का कार्य कैसे सौंपा जावे। अतः वेद ने दूसरा हेतु बताया :—

प्रियाणां त्वा प्रियपतिँ हवामहे। (यजुः २३।१९)

अर्थात् इस कार्य में जो प्रवीण हैं उनके मध्य में तुम ही हमारे परम प्रिय, विश्वसनीय एवं श्रद्धा-पात्र हो। उपरोक्त दोनों योग्यताओं के साथ हम तुम्हें निधिपति बैंक का अधिष्ठाता स्वीकार करते हैं, जिससे निधि में रखी हुई हमारी धन की प्रत्येक इकाई धेनु के रूप में दोहन रूप लाभ को देने वाली हो।

निधि संरक्षण प्रणाली से बड़े व्यापार

ये धन की इकाइयां हमारे व्यापार रूपी इष्ट को, अभीष्ट फल को प्राप्त कराने वाली हैं अतः व्यापार की ये इकाइयां 'इष्टका' रूप हैं। जिस प्रकार से ईंटों से विशाल मकान बनता है उसी प्रकार द्रव्य की जिस इकाई से निधि की गणना बनती व वृद्धि को प्राप्त होती है वह उसकी इष्टका—इष्ट-साधन भूत है। उससे द्रव्यार्जन होता है अतः धेनु है। अर्थात् द्रव्य की कामना का दोहन उसके व्यापार से होता है।

इमा मे ऽ अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं
च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च
प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता
मे ऽ अग्न ऽ इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके ॥ (यजुः १७।२)

अर्थात् हे विद्वान् मेरी इष्ट साधन करने वाली धेनु के सदृश दोहन द्वारा पुष्ट करने वाली और उत्पादन द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने वाली मूल पूंजी की जो इकाइयां हैं वे दाशमिक प्रणाली से एक से दस, दस से सौ, सौ से हजार, हजार से दस हजार, दस हजार से लाख, लाख से दस लाख, दस लाख से करोड़ इसी क्रम से वृद्धि को प्राप्त होती हुई करोड़, अर्ब, खर्ब, नील, पद्म, शंख से परार्ध तक यहां भी हों और दूसरे स्थानों में भी जहां नियोजित की गई हैं वहां भी इसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त हों। इस प्रकार धन को अर्जित करने का उपदेश है।

अर्थ के लिए सामुदायिक भावना

वेद में प्रायः धन की प्रार्थनाएँ व्यक्तिगत नहीं हैं अपितु बहुवचन युक्त हैं। जैसे—

वयं स्याम पतयो रयीणाम्—हम धनों के स्वामी बनें। (यजुः १०।२०)

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्—हे परमेश्वर ! हम सबको महान् ऐश्वर्य के मार्ग पर ले चल। (यजुः ७।४३)

वयं भगवन्तः स्याम—हम ऐश्वर्यवान् हों। (यजुः ३४।३८)

स नो वसून्याभर—वह परमात्मा हमें धनों से भरपूर कर दे। (यजुः १५।३०)

इनसे ज्ञात होता है कि वेद सामूहिक आर्थिक-विकास तथा सामुदायिक समृद्धि को सद्भावना

एवं सहकारिता के आधार पर क्रियान्वित करने की प्रेरणा देते हैं।

जो केवल अपनी आर्थिक उन्नति चाहते हैं, जो अर्थोपार्जन करके स्वयं सुखोपभोग करना चाहते हैं वे अन्यों की आर्थिक उन्नति नहीं चाहते और दूसरों को दुखी देखना चाहते हैं, ऐसी स्वार्थमयी भावना सामाजिक, सामूहिक या राष्ट्रीय आर्थिक विकास में बाधक होती है। खूब कमाओ और दूसरों को भी कमाने दो। स्वयं ऐश्वर्य का उपभोग करो और दूसरों को भी ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिए सुविधाएँ प्रदान करो—यह वैदिक भावना है। इसी भावना को अपने अन्दर शयन से उठते ही प्रातःकाल से ही जाग्रत् करने के लिए निम्न प्रातःकालीन मन्त्रों से प्रार्थना करते हैं—

प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रँ हुवेम ।।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम ।। (यजुः ३४।३४; ३५)

अर्थात् हम सब प्रातःकाल उस ऐश्वर्यशाली परमात्मा की स्तुति करें क्योंकि हमें भी तो ऐश्वर्य की कामना है और प्रतिक्षण कामना है। निद्रा से उठते ही अर्थ का चिन्तन करने का वेद उपदेश देता है क्योंकि अर्थ के विना जीवन निरर्थक हो जाता है। जीवन का एक-एक क्षण, इसकी एक-एक श्वास बहुमूल्य है। अपने श्वास के साहस एवं बल से जीवन के एक-एक क्षण का उपयोग अधिक-से-अधिक ऐश्वर्य उत्पन्न करने के उपाय-चिन्तन में लगा दें तथा अपना सुनियोजित कार्यक्रम निर्धारित करके उसको क्रियान्वित कर ऐश्वर्यशाली बनें—धनवान बनें।

स्वार्थी एवं कृपण सामुदायिक भावना के शत्रु हैं

सभी को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न एवं पुष्ट करने की वैदिक भावना है। इस वैदिक भावना के अनुसार समाज के व्यक्तियों को अपने धन को केवल तिजोरियों में ही वन्द नहीं रखना पड़ता अपितु उसको व्यावसायिक कार्यों के द्वारा आवागमन, आदान-प्रदान आदि के रूप में परिभ्रमित करते रहना पड़ता है। जो अपनी संचित पूँजी को व्यवसायादि के लिए देना नहीं जानता और उस पूंजी को देखकर ही प्रसन्न होता रहता है वह वेद की दृष्टि में निन्दनीय है। क्योंकि उसकी पूँजी समाज या राष्ट्र के हित में नियोजित नहीं है। ऐसे व्यक्ति वेद की दृष्टि में समाजद्रोही होने से धूर्त्त—राक्षस हैं। वेद कहता है :

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः। (ऋग्वेद १।३६।१५)

अर्थात् जो समाज के हितों में या सार्वजनिक सर्वहितकारी कार्यों में विघ्न करते हैं, उनके संचालनादि के लिए धनादि प्रदान नहीं करते हैं, वे राक्षस हैं। उनसे समाज की रक्षा करनी चाहिए। अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को समाज के या राष्ट्र के अधिकार पदों पर प्रतिष्ठित नहीं करना चाहिए और उनको प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी नहीं देखना चाहिए।

इसी प्रकार जो अदानशील, पूंजी को दबाकर रखने वाले हैं वे धूर्त व्यक्ति हैं। उनसे भी समाज एवं राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। अतः सार्वजनिक हितों के बाधक एवं पूंजी को दबाकर रखने वाले अदानशील व्यक्ति वेद की दृष्टि में निन्दनीय हैं। इस प्रकार पूंजी को कार्य में विनियुक्त करते रहने से सबके ऐश्वर्य की वृद्धि होगी। समाज एवं राष्ट्र समृद्ध और सुखी होगा।

वैदिक गणित-विज्ञान

विश्व की रचना गणित से पूर्ण है

गणित विद्या का बहुत महत्त्व है। यदि विश्व की किसी भी वस्तु पर दृष्टिपात करें या उसके कार्य पर दृष्टिपात करें तो गणित का क्रम सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा। गम्भीर दृष्टि से निरीक्षण करने पर सम्पूर्ण रचना में अंक, रेखा और बीजगणित का स्वरूप प्रकट हो रहा है। गणित के उच्च-से-उच्च सिद्धान्त जिन्हें चाहे हम अभी जान पावें या न जान पावें, वे सब सृष्टि में कार्य कर रहे हैं। उनमें से बहुतों को हमारी बुद्धि अभी ग्रहण भी नहीं कर सकी है।

विश्व गणित का महान् भंडार है

हम संख्याओं की कल्पना भी जितनी नहीं कर सकते, जितनी रेखाओं और बीजों की कल्पना एवं गणना नहीं कर सकते उससे लाखों, करोड़ों एवं असंख्य गुणा अधिक इनका विस्तार इस विश्व में समाया हुआ है। हम इसका क्रमशः दर्शन करते जावें और अपना अध्ययन करते हुए ज्ञान का संग्रह करते चले जावें, पार नहीं पा सकते। हम अनेकों जन्म लेकर भी विश्व के महान् गणित का पूर्ण अध्ययन नहीं कर सकते।

अपरिमित या बड़ी राशि को परिमित या लघु रूप में शक्तिसम्पन्न करना बीज गणित है। सृष्टि अपने बीज से—कारण से—मूल से तूल को प्राप्ति होती है। उस बीज और तूल में सम्पूर्ण रेखागणित का विज्ञान भरा हुआ है। बीज और रेखाओं में अंकों की शक्तियाँ भरी हुई हैं। अतः इस समस्त विश्व की वैज्ञानिक रचना में गणित का क्रम एवं विज्ञान छाया हुआ है। वह कूट-कूट कर उसमें भरा हुआ ही नहीं है अपितु उसी की आधारशिला पर एवं उसी की पृष्ठभूमि पर इसकी सम्पूर्ण रचना रची गई है और विश्व की यह बाह्य स्थिति जो प्रकाशित हो रही है उसी के कारण से है।

विश्व-गणित का रचयिता—गणपति

विश्व की अद्भुत विज्ञानयुक्त गणितमय रचना के क्रम को देखने पर एक महान वैज्ञानिक गणितज्ञ की कल्पना जाग्रत् हो जाती है कि यह गणित का अद्भुत वैज्ञानिक रूप जो चल रहा है उसका चलाने वाला महानतम गणितज्ञ होना चाहिए। उसके ज्ञान-विज्ञान का अक्षय एवं अपार भंडार होना चाहिए। ऐसी सौन्दर्यमयी अद्भुत, कला एवं रसपूर्ण रचना का रचयिता अत्यन्त सुन्दर, प्रिय एवं महान् रसपूर्ण होना चाहिए। ऐसी कल्पना विश्व के महान् वैज्ञानिक, गणितज्ञ के द्रष्टा की होने लगती है और उसके मुख से वेद के निम्न शब्द किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाते हैं—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ
हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम।
आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ (यजुः० २३। १९)

(१) गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे—

अर्थात् विश्व की रचना में, परमाणुओं और उनके संघातों में, विविध तत्त्वों की अनेक इकाइयाँ गणों के रूप में हैं। वे हमारे गणना के क्षेत्र में गणों के रूप में है, संख्या के समूहों के रूप में है। इस महान् विज्ञानपूर्ण संघातों के अवयवों के भी सूक्ष्मतम अवयवों की क्रमबद्ध गणना जिस महान् गणक शक्ति ने की है उस महान् गणपति को हम श्रद्धा से नतमस्तक होते हैं और उसका स्मरण हमें बलात् बारम्बार करना ही पड़ता है। उसके इस अद्भुत ज्ञान के कारण उससे अत्यन्त प्रीति हो जाती है।

(२) प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे—

समस्त संसार के पदार्थों में जो हमारी विविध प्रकार की प्रीति है वह उसमें निहित गुणों के कारण है, और उन प्रिय गुणों के उनमें संस्थापक आप ही हैं, आपमें अत्यन्त प्रियतम तत्त्व शक्ति विद्यमान है। सर्वप्रियता के सम्पादक आप ही हैं। अतः सर्वप्रिय पदार्थों के मध्य में आप ही हमारे लिए प्रियपति हैं। अतः हमें आपके सम्मुख नत होना पड़ता है।

(३) निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम

सर्व प्रकार के बीज, निधि, कोष जो इस विश्व में किसी तत्त्व या शक्तियों के हैं, उनके आप ही स्वामी हैं। आप की ही अक्षय निधि से वे अपने छोटे-छोटे कोषों को पूर्ण करते रहते हैं। अतः आप ही विद्यापति हैं। आप ही मेरे सब प्रकार के धन हैं।

(४) आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्

इस प्रकार के आपको मैं सब कारणों का कारण, सब उत्पत्तियों का मूल, सबको अपने गर्भ में रखकर पालित-पोषित करनेवाला जानू और साथ में यह भी अच्छी प्रकार समझूं कि आप किसी के कार्य रूप नहीं हैं अपितु सबके कारण रूप ही हैं।

अर्थात् वैज्ञानिक, गणितज्ञ, दार्शनिक, भूगर्भवेत्ता, जीव शास्त्रज्ञ आदि-आदि स्व विषयों के ज्ञाता विद्वान्गण जिस आदिमूल, अखंडनीय, अभेद्य, अनन्त शक्ति से पूर्ण, आद्य शक्ति को विभिन्न-विभिन्न प्रकार की विद्याओं से अनुभव करते हैं वह सब शक्तियों का स्रोत है। उस अव्यक्त, अचिन्त्य, अनिवर्चनीय शक्ति में सब शक्तियों की परिसमाप्ति हो जाती है। उसी शक्ति के स्रोत से सर्वत्र शक्ति और रूप से विश्व की अद्भुत रचना दीख रही है।

सृष्टि के गणित से हमारे गणित का प्रादुर्भाव—

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अपने वैज्ञानिक क्रम से चलती रहती है। जिसमें नियम है, उसमें विज्ञान ओतप्रोत है। जिसमें नियमित विज्ञान है उसमें देश कालावच्छिन्न विश्व को छान्दस विज्ञान रूप गणित की व्याप्ति भी है। उस छान्दस विज्ञान रूप गणित के ज्ञान के लिए हमारा व्यवहार गणित प्रवृत्त होता है।

गणना का प्रादुर्भाव—

छान्दस विज्ञान के गणित में अक्षर काल की इकाइयों में विभक्त हो जाते हैं। वे अक्षर तत्त्वों के आश्रित होकर तत्त्वों की मात्रा एवं काल के परिणाम से सृष्टि में चयन करते हैं। उनसे विविध प्रकार के तत्त्वों का निर्माण सृष्टि में होता है, जैसा कि वेद ने कहा है—

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषम्। (यजुः ९। ३१)

अर्थात् अग्नि तत्त्व एक अक्षर की मात्रा की गति में जो ऊष्मा एवं शक्ति उत्पन्न करता है उससे प्राण-शक्ति उत्पन्न होती है। हमारे शरीर के अन्दर भी अग्नि है। ब्राह्माण्ड के अन्दर भी अग्नि

है। ब्रह्माण्ड की अग्नि को परमात्मा अपनी मात्रा और अक्षरानुसार प्रेरित कर रहा है। उसकी उतनी नियमित गति एवं शक्ति से निर्माण होता है।

इसी प्रकार शरीर रूपी अग्नि को आत्मा बुद्धि के साथ मन को प्रेरित करता है और 'मनः कायाग्निमाहन्ति ततः प्रेरयति मारुतम्'—अर्थात् मन कायाग्नि को जो प्राथमिक गति देता है उससे वायु को प्रेरणा प्राप्त होती है—या वायु का संचालन करता है। यह वायु का संचालन अग्नि की जितनी नियत शक्ति से होगा, उसी प्रकार की गति वायु की होगी। अर्थात् वह गति अग्नि द्वारा नियमित एवं नियन्त्रित होगी। अग्नि का आधिपत्य उस पर होगा। यही अग्नि की प्राण पर विजय है।

एकाक्षर गति में ही अग्नि की प्राण पर विजय होती है अर्थात् अग्नि के ताप की या प्रकाश की सबसे बड़ी इकाई से प्राण में, वायु में स्पन्दन प्रारम्भ हो जाता है। जिस प्रकार—'अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्'—यह क्रिया होती है उसी प्रकार मैं भी अपने अन्दर की कायाग्नि के द्वारा—'तमुज्जेषम्' उस प्राण पर अपना आधिपत्य स्थापित करूँ।

अग्नि-संयोग से वायु में उर्ध्वगति होती है। वायु का ऊर्ध्वगति-युक्त होना ही प्राणसंज्ञक है। यही प्राण जब अग्नि की एकाक्षर मात्रा में गतिमान् होकर जब दूसरे अक्षर में प्रवेश करता है तब वहां प्रथमाक्षर की ऊष्मा का अभाव होने से ऊर्ध्वगति का भी अभाव हो जाता है तब दूसरे अक्षर में उसकी अधोगति हो जाती है। वायु की यही अधोगमनशीलता अपानसंज्ञक है। अतः—

अश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयत्तामुज्जेषम्। (यजुः ९। ३१)

प्राण और अपान ने, आग्नेय एवं सौम्य तत्त्वों ने, सूर्य एवं चन्द्र ने दो अक्षर के मात्रा एवं बल से प्राणापान रूपी द्विपद से जीवित एवं स्थित रहने वाले मनुष्यों को, उनके मनस्तत्त्व को जीता अर्थात् उसको स्ववश में किया। इसीलिए विना प्राण के मन कुछ भी नहीं कर सकता। प्राणहीन शरीर निश्चेष्ट ही नहीं, अपितु जड़—मृत हो जाता है।

ब्रह्माण्ड में और शरीर में आग्नेय एवं सौम्य तत्त्वों से प्राणापान का क्रम चलता रहता है। अग्नि के एकाक्षर मात्रा बल से प्राणों में गति-संचालन के अनन्तर अश्वियों की गति प्रारम्भ हो जाती है। अग्नि की इस दीप्ति से पिण्ड और ब्रह्माण्ड के जीवन में प्राणापान ओतप्रोत हो जाता है।

प्राणापान की पिण्ड और ब्रह्माण्ड में प्रतिक्रियात्मक गति होती है। ब्रह्माण्ड के प्राण से पिण्ड को प्राण प्राप्त होता है और पिण्ड के अपान से ब्रह्माण्ड को प्राण प्राप्त होता है। ब्रह्माण्ड से प्राप्त प्राण पिण्ड में प्रवेश करने पर अपान में परिणत हो जाता है और पिण्ड से निष्कासित अपान प्राण में परिवर्तित हो जाता है। प्राण अपान के इस चक्र से ऊर्जा का जो क्षरण, च्यवन या ह्रास होता है वह पुनः ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह सब अग्नि की एकाक्षर में गति और ऊष्मा से सम्पन्न होता रहता है। वेद ने इस स्थिति के बारे में बताया है—

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानति (यजुः० ३। ७)

इस अग्नि की दीप्ति से, ऊर्जा से पिण्ड और ब्रह्माण्ड में प्राण से अपान तक की समस्त गति होती रहती है।

गणना की सृष्टि में व्याप्ति—

तीन अक्षर की व्याप्ति के क्रम से वह विष्णु और चार अक्षर की व्याप्ति में वह सोम हो जाता

है। इसी प्रकार क्रमशः एक-एक की मात्रा के वृद्धि क्रम से अग्नि से प्रजापति तक और प्राण से सप्तदश स्तोम तक निचृदार्ची गायत्री का छन्दोमय रूप सृष्टि में व्याप्त हो जाता है। इस सम्पूर्ण क्रम के पीछे सृष्टि का महान् गणितपूर्ण विज्ञान भरा हुआ है। इसीलिए वेद ने कहा—

अङ्काङ्कं छन्दः (यजुः ५।५)

अर्थात् अंक विद्या भी छन्द है। छन्द होने से वह भी इस सृष्टि में व्याप्त है।

छन्दों की गणना अक्षरों से, पाद से, यति और विराम आदि से की जाती है। अतः छन्दों में जो सृष्टि का विज्ञान भरा हुआ है वह गणना शास्त्र पर — गणित पर अवलम्बित है। एक ही छन्द दैवी, आर्षी, प्राजापत्यादि भेदों से अनेक प्रकार का है। उनके ये भेद सृष्टि-विज्ञान के गणित के आश्रित हैं। उनकी उपयोगिता का दर्शन अभी मानवी बुद्धि की ग्रहण, धारण एवं चिंतन शक्ति से ओझल हो चुका है।

परन्तु मन्त्र और छन्दों में जो गणित सूचक शब्द आते हैं उनसे प्रचलित गणित के रूप दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि वेद से ही गणित के ज्ञान की प्राप्ति एवं वृद्धि मानव ने की है।

गिनती का क्रम एवं बीज तथा रेखागणित का भी प्रादुर्भाव

गणित में सर्वप्रथम संख्या का ही क्रम जान लेने पर व्यवहार प्रारम्भ हो जाता है। उसके आधार पर वह स्वयं बहुत कुछ कल्पना से आगे गति करने में समर्थ हो जाता है। संख्याओं का क्रमशः क्रम यजुर्वेद के नवम अध्याय के इकतीसवें, बत्तीसवें, तेंतीसवें एवं चौंतीसवें मन्त्र में निम्न प्रकार प्राप्त होता है—

अग्निरेकाक्षरेण···	(१) प्राणमुदजयत्तमुज्जेषम्
अश्विनौ द्व्यक्षरेण···	(२) द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषम्
विष्णुस्त्र्यक्षरेण···	(३) त्रींल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषम्
सोमश्चतुरक्षरेण···	(४) चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् ।।३१।।
पूषा पञ्चाक्षरेण···	(५) पञ्च दिश उदजयत्ता उज्जेषम्
सविता षडक्षरेण···	(६) षड् ऋतूनुदजयत्तानुज्जेषम्
मरुतः सप्ताक्षरेण···	(७) सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयंस्तानुज्जेषम्
बृहस्पतिरष्टाक्षरेण···	(८) गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ।।३२।।
मित्रो नवाक्षरेण···	(९) त्रिवृतँ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्
वरुणो दशाक्षरेण···	(१०) विराजमुदजयत्तामुज्जेषम्
इन्द्र एकादशाक्षरेण···	(११) त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषम्
विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण···	(१२) जगतीमुदजयंस्तामुज्जेषम् ।।३३।।
वसवस्त्रयोदशाक्षरेण···	(१३) त्रयोदशँ स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषम्
रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण···	(१४) चतुर्दशँ स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषम्
आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण···	(१५) पञ्चदशँ स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषम्
अदितिः षोडशाक्षरेण···	(१६) षोडशँस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्
प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण···	(१७) सप्तदशँ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ।।३४।।

इन मन्त्रों में जहां क्रमशः संख्या का क्रम क्रमशः चल रहा है वहां सृष्टि के १७ पदार्थों का अपने नियत अक्षरों में रचना से जो रूप बना है उसका भी दिग्दर्शन कराया है। जिससे प्राण, प्राणी

सृष्टि, छन्द और स्तोमों की रचना का ज्ञान होता है। ये बीज एवं रेखागणित के भी द्योतक हैं। त्रिवृत् स्तोम=३³ या ३ (३) या ३×३=नवाक्षर का=नौ (९) संख्या का द्योतक है। गायत्री का बृहस्पति के अष्टाक्षरों से सम्बन्ध ८ का द्योतक होते हुए भी ८×३=२४ गायत्री के अक्षरों का भी द्योतक है। इन्द्र का एकादशाक्षर से त्रिष्टुभ का जय ग्यारह संख्या का द्योतक होने के साथ ११×४=से त्रिष्टुभ् छन्द के ४४ अक्षरों का भी द्योतक है। विश्वे देवों का १२ अक्षर से जगती छन्द का जय १२ संख्या के साथ १२×४=४८ अक्षरों के जगती का भी द्योतक है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि की अंक, बीज एवं रेखागणित से परमात्मा ने जो रचना की है वह अनेक रूप से उसमें विद्यमान है। उसका दर्शन उत्कृष्ट साधना से होगा। ऊपर प्रदर्शित संख्या क्रम एकपदी क्रम है। अर्थात् क्रमशः एक-एक अक्षर की वृद्धि से यह क्रम मन्त्र में बताया है।

विषमांक गणन प्रकार

विषमांक भी यथाक्रम से यजुर्वेद के १८वें अध्याय के २४वें मन्त्र में बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं—

एका च मे — तिस्रश्च मे — पञ्चच मे — सप्त च मे — नव च मे—एकादश च मे—त्रयोदश च मे—
१ ३ ५ ७ ९ ११ १३
पञ्चदश च मे—सप्तदश च मे—नवदश च मे — एकविँशतिश्च मे — त्रयोविँ शतिश्च मे —
१५ १७ १९ २१ २३
पञ्चविँशतिश्च मे — सप्तविँशतिश्च मे — नवविँशतिश्च मे — एकत्रिँशच्च मे —
२५ २७ २९ ३१
त्रयस्त्रिँशच्च मे —
३३

पूर्व मन्त्र में १७ संख्या तक गणना थी। इस मन्त्र में भी विषमांक संख्या में क्रमशः सत्रह ही गिनाई गई हैं जो ३३ तक के विषमांक हैं। मन्त्र की रचना अद्भुत रूप से है। उसका क्रम इस प्रकार है—

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे
सप्त च मे नव च मे नव च मे ऽ एकादश च मे ऽ एकादश च मे
त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे
सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मे
एकवि ँ शतिश्च मे ऽ एकवि ँ शतिश्च मे त्रयोवि ँ शतिश्च मे
त्रयोवि ँ शतिश्च मे पञ्च वि ँ शतिश्च मे पञ्चवि ँ शतिश्च मे
सप्त वि ँ शतिश्च मे सप्तवि ँ शतिश्च मे नववि ँ शतिश्च मे
नववि ँ शतिश्च मे ऽ एक त्रि ँ शच्च मे ऽ एकत्रि ँ शच्च मे
त्रयस्त्रि ँ शच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजुर्वेद १८।२४)

पहाड़ों का प्रादुर्भाव

इस मन्त्र में प्रत्येक संख्या के बाद चकार है। यदि प्रत्येक चकार से एक की संख्या का योग प्रत्येक विषमांक संख्या में करें तो सम संख्याएँ प्रकट हो जाती हैं। यथा—

मन्त्र पठित संख्या	एक	तिस्रः	पंच	सप्त	नव
चकार से प्रत्येक में एक का योग	+एका	+एका	+एका	+एका	+एका
योग	दो	चार	छः	आठ	दश

पूर्व मन्त्र में एक से सत्रह तक संख्याओं का एक पदी क्रम क्रमशः था इस मन्त्र में द्विपदी क्रम से विषमांक संख्याएँ क्रमशः बताई हैं। इसी द्विपदी क्रम से समांक संख्याओं की गणना क्रम पूर्वक करने से या प्रत्येक विषम संख्या में चकार शब्द से एक-एक की वृद्धि करने से क्रमशः—२, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २०, २२, २४, २६, २८, ३० और ३२ संख्याएँ प्रकट हो जाती हैं। यही द्विपदी क्रम दो का पहाड़ा है। इसी प्रकार त्रिपदी क्रम से तीन का, चतुष्पदी क्रम से चार, अष्टपदी क्रम से आठ आदि सब प्रकार के पहाड़ों की रचना हो जाती है।

सृष्टि का गर्भ-विज्ञान गणित का प्रदर्शक है

वेद ने इस रहस्य को गर्भ-विज्ञान के साथ प्रकट किया है। क्योंकि गर्भ में बीज रूप से सब विद्यमान है। गर्भ में प्रथम एक रूप की अवस्था होती है और उसका क्रमशः विकास होता जाता है। वही अवस्था सृष्टि के गर्भ की भी है। अव्यक्त से व्यक्त भाव में आने पर एक अणु से द्व्यणुक, त्र्यणुक क्रम चलता है और पुनः विभिन्न अणुओं के विभिन्न संघात विशेष-विशेष अनुपात में मिलने से सृष्टि का विस्तार होता है। सृष्टि गर्भ में गणित का भी गर्भ है। अतः गर्भ रूप गणित का विकास धीर, बुद्धिमान् लोग उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याऽथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।' (यजुः ४०।८) उस कवि, मेधावी, धीर, सर्वव्यापक, स्वयंभू परमात्मा ने अपनी सनातन प्रजाओं के लिए यथार्थ भाव से वेद द्वारा सब पदार्थों को विशेष कर बनाया है। अर्थात् लोक का गणित, सृष्टि के गणित का कुछ अंश है। जितना धीर पुरुष उसका विकास कर पाते हैं, उतना करते हैं।

सांख्यिकी गर्भ-विज्ञान

वेद ने गर्भ-विज्ञान के साथ निम्न मन्त्र से पूर्व बताये पहाड़ों की संख्याओं का विश्व में विस्तार का मूल रूप से संकेत किया है—

पुरुदस्मो विषुरूप ऽ इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं
भुवनानु प्रथन्ताᳬ स्वाहा ॥(यजुः ८।३०)

अर्थात् चन्द्रमा क्षय एवं वृद्धि क्रम से अपनी आन्तरिक महिमा से अनेक रूपों को प्रकट करता है। उसी प्रकार धीर पुरुष भी अपनी मेधाओं, संस्थाओं की वृद्धि एवं क्षय, जोड़ एवं बाकी, गुणा और भाग द्वारा संख्या के गर्भ में निहित महान् गणित शास्त्र को एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी और अष्टापदी आदि को क्रम से जान कर सब लोकों एवं समस्त उत्पत्ति के गणित के आधार पर प्रकाशित करता है।—समस्त सृष्टि एवं प्राणिमात्र की रचना में निहित गणित का दर्शन धीर पुरुष करते हैं और उस ज्ञान से वे गणित शास्त्र को समस्त लोक एवं प्राणियों में प्रयुक्त भी करते हैं।

इस प्रकार एक पदी क्रम से संख्या का क्रम बनता है और द्विपदी क्रम से प्रथम विषमांक संख्याएँ एक पक्ष में प्राप्त होती हैं और दूसरे पक्ष में समांक संख्याएँ प्राप्त होती हैं। जिससे दो का पहाड़ा बनता है। इसी प्रकार त्रिपदी क्रम से तीन का और आगे के भी पहाड़ों का क्रम प्रकट हो जाता है और गणित के मूल आधार पहाड़ों का विस्तार व्याप्त हो जाता है।

यदि 'एका च मे'—इस मन्त्र पर निम्न प्रकार विचारें तो और भी रूप प्रकट होते हैं—यह मन्त्र विषमांक गणित विद्या का है। इसमें विषमांक ही कहे गये हैं अतः उनका योग निम्न प्रकार करने से चार का पहाड़ा बन जाता है—

(१) एका च मे + तिस्रश्च मे = १ + ३ = ४

(२) तिस्रश्च मे + पञ्च च मे = ३ + ५ = ८

(३) पञ्च च मे + सप्त च मे = ५ + ७ = १२

(४) सप्त च मे + नव च मे = ७ + ९ = १६

(५) नव च मे + एकादश च मे = ९ + ११ = २०

(६) एकादश च मे + त्रयोदश च मे = ११ + १३ = २४

(७) त्रयोदश च मे + पंचदश च मे = १३ + १५ = २८

(८) पञ्चदश च मे + सप्तदश च मे = १५ + १७ = ३२

(९) सप्तदश च मे + नवदश च मे = १७ + १९ = ३६

(१०) नवदश च मे + एकविंशतिश्च मे = १९ + २१ = ४०

(११) एकविंशतिश्च मे + त्रयोविंशतिश्च मे = २१ + २३ = ४४

(१२) त्रयोविंशतिश्च मे + पञ्चविंशतिश्च मे = २३ + २५ = ४८

(१३) पञ्चविंशतिश्च मे + सप्तविंशतिश्च मे = २५ + २७ = ५२

(१४) सप्तविंशतिश्च मे + नवविंशतिश्च मे = २७ + २९ = ५६

(१५) नवविंशतिश्च मे + एकत्रिंशच्च मे = २९ + ३१ = ६०

(१६) एकत्रिंशच्च मे + त्रयस्त्रिंशच्च मे = ३१ + ३३ = ६४

विषमांक गणित के गर्भ में समांक भी थे। शेष समांकों से दो का पहाड़ा तो बनता ही था परन्तु विषमांकों में चकार से एक-एक की वृद्धि करने से भी दो का पहाड़ा निकलता था। अब पुनः विषमांक के दूसरे प्रकार के योग से चार का पहाड़ा भी स्पष्ट प्रकट हो गया। यही चतुष्पदी क्रम है।

यही चार का पहाड़ा पूर्व मन्त्र के पश्चात् वेद में स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार बताया है—

चतस्रश्च मेऽष्टौच मे ऽ ष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे ऽ ष्टा विꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट् त्रिꣳशच्च मे षट् त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे ऽ ष्टाचत्वारिꣳ शच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजुः १८ । २५)

इस मन्त्र के मान से चार का पहाड़ा स्पष्ट प्रतीत होता है—

चतस्रश्च मे —४

अष्टौ च मे —८

द्वादशच मे —१२

षोडश च मे —१६

विंशतिश्च मे	—२०
चतुर्विंशतिश्च	—२४
अष्टाविंशतिश्च मे	—२८
द्वात्रिंशच्च मे	—३२
षट्त्रिंशच्च मे	—३६
चत्वारिंशच्च मे	—४०
चतुश्चत्वारिंशच्च मे	—४४
अष्टाचत्वारिंशच्च मे	—४८

वेद कहता है कि ये सब—'यज्ञेन कल्पन्ताम्'—यज्ञ के द्वारा समर्थ बनें। यज्ञ में संगतीकरण एवं दान, दोनों क्रियाएँ होती हैं। इसी प्रकार अंकों में अंकों का यज्ञ करने से अंकों को जोड़ने, घटाने से अभीष्ट अंकों की प्राप्ति होती है। यह चतुष्पदी क्रम है।

'एकाच मे तिस्रश्च मे—और चतस्रश्च मे ऽष्टौ च मे'—इन दोनों मन्त्रों की रचना एक ही प्रकार की है केवल संख्याओं का ही भेद है। पूर्व मन्त्र में विषमांकों को आधार मान कर रचना है और दूसरे में समांक संख्याओं का क्रम है। पहले में द्विपदी क्रम है तो दूसरे में चतुष्पदी क्रम है। विषमांकों से विषमांक के पहाड़े और समांक से समांक के पहाड़े भी प्रकट हो सकते हैं। यथा—

(१) एक का पहाड़ा बनाने के लिए—'एका च मे+एका च मे—एका च मे' यही क्रम करते जाना चाहिए। अर्थात् मेरा १, अब इस एक में यदि 'एका च मे'—फिर एक जोड़ा तो २ हो जाता है। फिर आगे बढ़ने के लिए 'एका च मे' एक जोड़ा तो ३ हो गया। इसी क्रम से संख्याएँ 'शतं च सहस्रं—परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके।' (यजुः १७।२) सौ, हजार आदि बढ़ती हुई बड़ी से बड़ी परार्ध संख्याओं की बन जाती हैं।

(२) तीन के पहाड़े के लिए मन्त्र ने कहा—'तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे'—यही क्रम करते चले जाओ। तीन में तीन को जोड़ो छः बन गया। छः में तीन को जोड़ो ९ बन गया। ९ में तीन को जोड़ो १२ हो गया। अर्थात् उत्तरोत्तर योग में तीन को जोड़ते चले जाओ तीन का पहाड़ा 'तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे' तीन को बार २ जोड़ने से बनता जायगा। यथा—

३+३=६
६+३=९
९+३=१२
१२+३=१५

(३) इसी प्रकार मन्त्र में पठित 'पञ्च च में पञ्च च मे'—से पांच का पहाड़ा, 'सप्त च मे सप्त च मे'—से सात का पहाड़ा और आगे के भी विषमांक पहाड़े बन जाएँगे।

समांक के पहाड़ों के लिए 'चतस्रश्च मे'—इस मन्त्र से समांक के भी इसी क्रम से बनते चले जावेंगे। वेद ने द्विपदा आदि इस प्रकार के क्रमों के लिए एक स्थान पर कहा है—

द्विपदा याश्चतुस्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ (यजु० २३।३४)

अर्थात् अंक क्रमों में जो द्विपदा २+२ के अनुसार है, जो त्रिपदा ३+३ के अनुसार है, जो चतुष्पदा अर्थात् ४+४ के अनुसार अपना पद रखते हुए आगे बढ़ते हैं और जो षट्पदा अर्थात् ६+६ के

अनुसार पग आगे बढ़ाते हैं वे 'सूचीभिः'—सूई के समान क्रमशः सब को एक सूत्र में जिस प्रकार संस्कार-युक्त करती हैं उसी प्रकार इनका क्रम भी सुखकारी रूप से ग्रथित होता जावे। इस प्रकार पहाड़ों की क्रिया चलती जाती है।

यौगिक एवं रूढ़ संख्याएँ

संख्याओं में यद्यपि सम और विषम होती हैं सम संख्याएँ तो विभाजित होती हैं परन्तु विषम संख्याओं में भी कुछ संख्याएँ ऐसी हैं जो विभाजित हो जाती हैं। विभाजित होने वाली संख्याएँ—'सच्छन्दा' हैं। अर्थात् उनके भी समान लघु विभाग हो जाते हैं। जिस प्रकार छन्द नियतकाल, मात्रा या अक्षरों में विभाजित होता है, उसी प्रकार जो सम या विषम संख्याएं विभाग को प्राप्त हो जाती हैं वे 'सच्छन्दाः' हैं। ९ एवं १५ आदि संख्याएं विषम होने पर भी 'सच्छन्दाः' हैं। क्योंकि समान विभाग को प्राप्त हो जाती हैं। जो विषम संख्याएं विभाग को प्राप्त नहीं हो सकती हैं ऐसी संख्याएं—'विच्छन्दाः'—अविभाज्य कहलाने योग्य हैं। अविभाज्य को ही रूढ संख्याएं कहते हैं। परन्तु ये समस्त 'सच्छन्दाः' और 'विच्छन्दाः' संख्याएं सूचीक्रम से अपने को अनन्त की ओर बढ़ाने वाली हैं। रूढ़ संख्या से सूची क्रम करने पर यौगिक क्रम का निर्माण होता है।

पहाड़ों का अन्यक्रम

पहाड़ों के क्रम को अन्य प्रकार से भी वेद में देख सकते हैं। निम्न वेद मन्त्र में इनका संक्षेप में दर्शन होता है—

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विँशती च।

तिसृभिश्च वहसे त्रिँशता च नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च॥ (यजु० २७।३३)

एक से दस, दो से बीस, तीन से तीस तक की निष्पत्ति उनके स्वभूते=अर्थात् उस संख्या में उतना ही जोड़ते जाने से (स्वभूति—स्वकीया भूति), इष्टये=इष्ट प्राप्ति के निमित्त होती है। उसको हे वायो ! अर्थात् अंकों की गतिकर्म करने वाले, उसमें जोड़, गुणादि द्वारा गति करने वाले तथा बाकी व भागादि द्वारा उन अंकों का हिंसन करने वाले आप उस क्रम से उसको प्रकट करें।

इस मन्त्र के अनुसार पहाड़ों की उत्पत्ति निम्न प्रकार होती है—

एक के पहाड़े में—एक में एक जोड़ा तो दो हो गया। १+१=२
दो में एक जोड़ा तो तीन हो गया। २+१=३
तीन में एक जोड़ा तो चार हो गया ३+१=४
चार में एक जोड़ा तो पांच हो गया ४+१=५

इसी प्रकार १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० एक से दस तक का क्रम बन गया। इसी प्रकार दो के पहाड़े के लिए—

दो में दो जोड़ा तो चार हो गया =२+२=४
चार में दो जोड़ा तो छः हो गया =४+२=६
छः में दो जोड़ा तो आठ हो गया =६+२=८

इसी क्रम से २ के पहाड़े से २० तक की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार ३ से ३०, ४ से ४० आदि सभी संख्याओं के पहाड़ों का क्रम बनता है। वेद में डेढ़ (१।।) के लिये त्र्यवि, ढाई (२।।) के लिए पञ्चावी शब्दों का प्रयोग हुआ है। यथा—

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे
पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सा च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे
तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु० १८।२६)

काल की परिभाषा में अवि शब्द का अर्थ आधा वर्ष होता है अतः त्र्यवि का अर्थ हुआ तीन आधे वर्ष अर्थात् डेढ़वर्ष (१॥ वर्ष) हुआ। अतः ज्ञात होता है कि त्र्यवि शब्द १॥ का मूल रूप से सूचक है। काल के साथ प्रयुक्त होने पर वह १॥ वर्ष का वाची हो गया। परिमाण की परिभाषा में वह केवल १॥ ही हुआ। इसी प्रकार पंचावी शब्द पांच आधे-आधे का वाचक होने से २॥ का द्योतक हुआ।

अनेकांक संख्या

अनेक अंकों की संख्याएं भी वेद में बताई हैं जिनसे सैकड़ा, हजार, लाख आदि संख्या निर्माण का ज्ञान होता है :—

त्रीणिशता त्रिसहस्राण्यग्निं त्रिँशच्च देवा नव चासपर्यन्। (यजु० ३३।७)

इस मन्त्र के हिसाब से ३३३९ तीन हजार तीन सौ उनचालीस यह संख्या बनती है। वेद इस प्रकार की बड़ी संख्याओं के लिए कहता है :—

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वस्मिन्निविष्टम् (अथर्व० १०।८।२४)

सैकड़ा, हजार, दस हजार, आदि असंख्य संख्याओं की गणना अपने आप में ही कल्पना से की जाने योग्य है। ये क्रमशः एक एक शून्य को संख्या के आगे बढ़ाने से हजार—दस हजार, लाख-दस लाख, इस दाशमिक प्रणाली के वृद्धि क्रम से बनती हैं। इनकी गणना निम्न मन्त्र में है—

इमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके ॥
(यजुः १७।२)

मेरी इष्ट साधनभूत अंकों की प्राथमिक इकाई एक को दश से गुणा करने पर दश, दश को दश से गुणा करने पर शत, शत को दश से गुणा करने पर सहस्र, सहस्र को दश से गुणा करने पर अयुत (दश सहस्र), अयुत को दश से गुणा करने पर नियुत (लाख), नियुत को दश से गुणा करने पर प्रयुत (दश लाख), प्रयुत को दश से गुणा करने पर करोड़, करोड़ को दश से गुणा करने पर अर्बुद (दस करोड़), इसी प्रकार समुद्र, मध्य अन्त और परार्ध आदि की सिद्धि होती है। इस प्रकार इस मन्त्र में संख्याओं का निम्न रूप बनता है—

१ एका
१० दशम्
१०० शतम्
१,००० सहस्रम्
१०,००० अयुतम् (दस हजार)
१,००,००० नियुतम् (लाख)
१०,००,००० प्रयुतम् (दस लाख)
१,००,००,००० प्रयुतम् (करोड़)
१०,००,००,००० अर्बुदम् (दस करोड़)

१,००,००,००,००० न्यर्बुदम् (अर्ब)
१०,००,००,००,००० दश अर्ब
१,००,००,००,००,००० समुद्रः (खर्ब)
१०,००,००,००,००,००० दश खर्ब (दश समुद्र)
१,००,००,००,००,००,००० मध्यम् (नील)
१०,००,००,००,००,००,००० दश नील (दश मध्य)
१,००,००,००,००,००,००,००० अन्तः (पद्म)
१०,००,००,००,००,००,००,००० महा अन्तः (महापद्म)
१,००,००,००,००,००,००,००,००० परार्धः (शंख)
१०,००,००,००,००,००,००,००,००० महाशंख (महापरार्धः)

वेद में न्यर्बुद के बाद शतकों में वृद्धि करके जो नाम दिये हैं यहां उनको दाशमिक गुणन से ही दिया है और उनके दाशमिक प्रचलित नाम लिख दिये हैं। इस प्रकार अंकों की दीर्घ संख्या निर्माण का वेद में आधारभूत ज्ञान दिया है।

वर्गमूल

पहले जो हमने यजुर्वेद के १८वें अध्याय का २४ वां मन्त्र—'एका च मे तिस्रश्च मे'—उद्धृत किया है उससे वर्ग एवं वर्गमूल का भी क्रम बनता है। मन्त्र का क्रम निम्न प्रकार है—

एका च मे तिस्रश्च मे, तिस्रश्च मे पञ्च च मे, पञ्च च मे,
सप्त च मे, सप्त च मे नव च मे, नव च मे एकादश च मे—॥

अर्थात् एका च मे+तिस्रश्च मे—१+३=४। एक संख्या का वर्ग भी नहीं है। अतः एक न तो किसी का वर्ग है न किसी का वर्गमूल है। सब से छोटी वर्ग संख्या चार है और उसका वर्गमूल दो है। इन दोनों का सबसे प्रथम इससे बोध हुआ। यहीं से वर्गमूल का क्रम आरम्भ होता है और वर्ग बनते हैं। अतः एक कोष्ठक में एकपदी संख्याएं क्रम से लिख कर उनके सामने जो दो संख्या का वर्ग आया उसमें मन्त्र में निर्दिष्ट संख्याओं का योग उत्तरोत्तर करने से अंकों के सामने उनके वर्ग बनते चले जाते हैं। उदाहरणार्थ दो संख्या का जो योग १+३=४ प्रथम वर्ग का लिखा है। अब मन्त्र का दूसरा पद 'तिस्रश्च मे' है। प्रथम वर्ग में भी 'तिस्रश्च मे' पद था। उससे ४ का योग प्राप्त हो गया था अतः अब दूसरे तिस्रश्च में पूर्व जो योग ४ का था वही लिया जाएगा और उसमें पञ्च च मे से ५ का योग करना होगा। अर्थात् ४+५=९ हुआ। यह अर्थ तीन संख्या के वर्ग का 'तिस्रश्च मे' 'पञ्च च मे' इस मन्त्र से हुआ। इसी प्रकार संख्याओं की गणना एवं सम्बन्ध करना होगा। इसी क्रम को हम यहां स्पष्ट करके लिखते हैं—

वर्गमूल की संख्या	मन्त्र से निर्माण का क्रम		वर्ग संख्या
२	एका च मे + तिस्रश्च मे	=१ =+३ —— ४	४

वर्गमूल की संख्या	मन्त्र से निर्माण का क्रम		वर्ग संख्या
३	पूर्व में जो 'तिस्रश्च' का योग है + पंच च मे —	= ४ =+ ५ ९	९
४	पूर्व का 'पञ्च च मे' का योग + सप्त च मे	= ९ =+ ७ १६	१६
५	पूर्व का—सप्त च मे—का योग + नव च मे	=१६ =+ ९ २५	२५
६	नव च मे—का पूर्व योग + एकादश च म	=२५ =+११ ३६	३६
७	एकादश च मे—का पूर्व योग + त्रयोदश च मे	=३६ =+१३ ४९	४९
८	पूर्व योग—त्रयोदश च मे—का + पञ्चदश च मे	=४९ =+१५ ६४	६४
९	पञ्चदश च मे—का पूर्व योग + सप्तदश च मे—	=६४ =+१७ ८१	८१
१०	सप्तदशच मे—का पूर्व योग + नवदशच मे	=८१ =+१९ १००	१००
११	नवदश च मे—का पूर्व योग + एक विंशतिश्च मे	१०० =+ २१ १२१	१२१

वर्गमूल की संख्या	मन्त्र से निर्माण का क्रम		वर्ग संख्या
१२	एकविंशतिश्च मे—से पूर्व का योग + त्रयोविंशतिश्च मे	=१२१ =+ २३ — १४४	१४४
१३	त्रयोविंशतिश्च मे—से पूर्व का योग + पञ्चविंशतिश्च मे	=१४४ =+ २५ — १६९	१६९
१४	पञ्चविंशतिश्च मे—पूर्व का योग + सप्तविंशतिश्च मे	=१६९ =+ २७ — १९६	१९६
१५	सप्तविंशतिश्च मे—से पूर्व योग + नवविंशतिश्च मे	=१९६ =+ २९ — २२५	२२५
१६	नवविंशतिश्च मे—से पूर्व योग + एकत्रिंशच्च मे	= २२५ =+३१ — २५६	२५६
१७	एकत्रिंशच्च मे—से पूर्व योग + त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्	=२५६ =+ ३३ — २८९	२८९
१८	... ...	=२८९ + ३५ — ३२४	३२४
१९	... ...	=३२४ + ३७ — ३६१	३६१

वर्ग मूल की संख्या	मन्त्र से निर्माण का क्रम								वर्ग संख्या
२०	...	...	...	...	...	...	...	=३६१	
	...	...	...	...	...	...	...	+ ३९	४००
								४००	

विषमांकों को क्रमशः पूर्व की संख्या के वर्ग योग में जोड़ने से वर्ग एवं वर्गमूल का यह चित्र बन जाता है। इस क्रम से मन्त्र द्वारा सभी संख्याओं का क्रमपूर्वक वर्ग ज्ञात होता है।

यदि विषमांकों को मन्त्र के इस प्रकार के पाठ से—

तिस्रश्च मे	× तिस्रश्च मे	= ३ × ३ = ९
पञ्च च मे	× पंच च मे	५ × ५ = २५
सप्त च मे	× सप्त च मे	७ × ७ = ४९
नव च मे	× नव च मे	९ × ९ = ८१
एकादश च मे	× एकादश च मे	११ × ११ = १२१
त्रयोदश च में	× त्रयोदश च मे	१३ × १३ = १६९
पञ्चदश च मे	× पञ्चदश च मे	१५ × १५ = २२५

गुणित करते हैं तो उनका वर्ग, गुणन प्रकार से निकलेगा।

भिन्न एवं दशमलव

वेद मन्त्रों से भिन्न की संख्याएं एवं दशमलव की संख्याएं बनती हैं। पहले जो त्र्यवि और पंचावि शब्द से डेढ़ एवं ढाई के अंकों का बोध होना बताया था उनको भिन्न की संख्या में $१\frac{१}{२}$ या $\frac{३}{२}$ तथा $२\frac{१}{२}$ या $\frac{५}{२}$ के रूप में तथा दशमलव प्रणाली में १.५, २.५ आदि रूप में लिखा जाता है।

जिस प्रकार से एक पूरक संख्या को १० से गुणा करने पर दहाई, सैकड़ा, हजार आदि की पूर्ण संख्याएं शून्य बढ़ाने से बनती हैं और उनमें अन्तिम संख्या के लिए वेद ने परार्ध की संज्ञा दी है, उसी प्रकार इस क्रम के विपरीत संख्या के बाईं ओर दाशमिक क्रम से शून्य बढ़ाने से अवरार्ध तक की संख्या में बन जाती हैं। परार्ध की ओर शून्य बढ़ाने से संख्या में दाशमिक गुणनरीति से वृद्धि होती है। इससे विपरीत अवरार्ध की ओर दाशमिक प्रणाली से उसमें क्षय, कमी एवं खंड होते जाते हैं। वेद का परार्ध शब्द इस बात को स्पष्ट बताता है। परार्ध शब्द अवरार्ध के अस्तित्व का स्पष्ट संकेत करता है।

घन

वेद का त्र्यवि शब्द एवं त्रिवृत् शब्द ३+३+३=९ का द्योतक तो है ही, परन्तु ये दोनों शब्द किसी भी अंक लिखे जाने से, जैसे $५^३$=१२५ उस संख्या के घन का द्योतक है। जिस प्रकार से त्र्यवि और पञ्चावी शब्द हैं उसी प्रकार से उसी मन्त्र (यजुः १८। २६) में दित्यौही, तुर्यौही आदि भी शब्द हैं।

दित्यवाट् का अर्थ है जो खण्डित भागों को धारण करती है समस्त खंडित संख्याएं जो भिन्न के रूप में या दशमलव प्रणाली से लिखी जाती हैं। दित्यवाट् संज्ञक है।

तुर्यौही शब्द चतुर्थ को धारण करने वाली, पंचावी—पांच को धारण करने वाली, त्र्यवी—तीन को धारण करने वाली संख्याएँ भी मानी जा सकती हैं। जैसे २५३,३७४,४८५ आदि का प्रयोग होता है। इस प्रकार गणित के बहुत से प्रकारों का वेद से दिग्दर्शन होता है।

वेद तो सृष्टि-विद्या का निरूपण करते हैं। उनमें उसी प्रकार से गणित का समावेश है जैसी कि सृष्टि की रचना का क्रम है। परन्तु उसके साहचर्य से ज्ञान-लाभ प्राप्त कर हम उसको अपने व्यवहारानुकूल, देशकाल परिस्थिति अनुसार बना लेते हैं। जिस प्रकार से जल स्वयं लोटे, गिलास या घड़े के आकार का नहीं है, परन्तु जिस पात्र में वह पड़ जाता है उस आकार वाला हो जाता है।

सृष्टि-विद्या का यदि वेदों से गंभीर अनुशीलन किया जावे तो गणित और विज्ञान का अनेक रूप में दर्शन होता है। वेद में आयु के एक प्रकरण में सृष्टि की आयु का उल्लेख आता है जिसमें युगों की आयु एवं पूर्ण सृष्टि की आयु का भी संख्याओं में दिग्दर्शन होता है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।

इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेऽ नुमन्यतामहृणीयमानाः।। (अथर्व० ८।२।२१)

वेद में प्रयुक्त संख्याओं को अंकों में लिखे के क्रम से विपरीत से चलाना होगा। इस प्रकार

चत्वारि त्रीणि द्वे अयुतं (हजार) शतं (सैकड़ा ते हायनान् युगे कृण्मः=तेरे वर्ष
४ ३ २ ०००० ०००

युग में विभाजित करता हूं। अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की सृष्टि की आयु युगों में विभक्त है। इससे सृष्टि की आयु की संख्या ४,३२,००,००,००० वेद से ज्ञात हुई। वेद ने इसको बड़ी सुन्दरता से युगों में विभक्त कर दिया है।

अयुतम् और शतम् ये दो पद संख्याओं में जोड़ने से पूर्ण आयु प्राप्त हुई। यदि संख्याओं के साथ केवल शतं को ही जोड़ें और अयुतं को न जोड़े तो सबसे छोटे युग की संख्या-चत्वारि त्रीणि द्वे - शतम्
४ ३ २ ०००

=चार लाख बत्तीस हजार की संख्या ज्ञात हो जाती है। कलियुग सबसे छोटा है अतः उसकी आयु ४,३२,००० की हुई।

अब इसी संख्या को क्रमशः इन्हीं द्वे, त्रीणि, चत्वारि—इन वेद के पदों से गुणा करते जावें तो उत्तरोत्तर द्वापर, त्रेता एवं सतयुग की आयु संख्या ज्ञात हो जाती है। अतः—

४,३२,०००	१	=	४३२०००	कलियुग के वर्ष
४,३२,०००	२	=	८६४०००	द्वापर युग के वर्ष
४,३२,०००	३	=	१२९६०००	त्रेता युग के वर्ष
४,३२,०००	४	=	१७२८०००	सतयुग के वर्ष

४३,२०,००० = तेतालीस लाख बीस हजार वर्षों की १ चतुर्युगी की आयु।

अतः सृष्टि की आयु में ऐसी ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है। और १४ मन्वन्तर का कल्प युग, अर्थात् ब्राह्मदिन या सृष्टि की आयु होती है अतः ७१×१४—९९४ चतुर्युगी और १४ मन्वन्तर की ६ सन्धियों की चतुर्युगी को जोड़कर एक सहस्र चतुर्युगी का समय सृष्टि की आयु हुई।

पूर्वोक्त ४,३,२०,००० एक चतुर्युगी के समय में एक सहस्र चतुर्युगी का गुणा करने से चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्ष ही सृष्टि की आयु के वर्षांक प्राप्त हो जाते हैं। वर्ष को मास, दिन, घड़ी, पलादि में विभक्त करने से बड़ी से बड़ी राशि का दर्शन होने लगता है।

वेद सृष्टि की इस आयु की साक्षी के लिए इन्द्र, अग्नि और विश्वेदेवों को उपस्थित करता है कि इनके द्वारा भी तुम्हें इस आयु का निःसंकोच पता लग सकेगा।

इन्द्र से तात्पर्य विद्युत् एवं सूर्य से है। विश्वेदेवों से तात्पर्य सृष्टि के विविध तत्त्वों से है। अग्नि का तात्पर्य ऊष्मा, ताप, गर्मी आदि से है। सृष्टि में विद्युत्, सूर्य, पृथ्वी के गर्भ की अग्नि तथा विविध ताप एवं ऊष्माओं से सृष्टि के विविध तत्त्वों में पाक क्रिया होती रहती है और विश्वेदेवगण विविध पाक को ताप के कारण से धारण करके अपने में ज्योति, वर्च, तेज, शक्ति, ऊर्जा को विविध रूप में धारण करते जाते हैं। उनकी इस ताप-सह शक्ति का विविध स्थितियों में दर्शन करके उसकी गणना करने से सृष्टि की आयु को विविध प्रकार से विद्वान् घोषित कर सकते हैं।

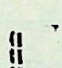
आज भी देखने में आता है कि किसी नये तत्त्व के ज्ञात होने पर उसके निर्माण में ताप की शक्ति एवं समय का जब विचार करते हैं तो कहना पड़ता है कि यह तत्त्व इतने हजार वर्ष या इतने लाख वर्षों में बनता है जैसे हीरा के लिए कुछ लाख वर्षों में कोयले से रूपान्तर ताप के कारण कहा जाता है। अतः सृष्टि की आयु में ये इन्द्र, अग्नि, सूर्य विश्वेदेव साक्षिरूप से हैं। और वे अपने जीवन का इतिहास तथा आयु को प्रकट करते हैं।

रेखा-गणित

रेखागणित से तो सारी रचना दृश्यमान हो रही है। विश्व का सारा रेखागणित का ज्ञान मानव को प्राप्त हो गया है, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य तो अपनी विवेक-शक्ति से विश्व का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसमें से अनुभव व दर्शन करके अंकित एवं चित्रित कर देता है। वेद में एक मन्त्र आता है—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ (यजुः ३३।७४)

एक तिरछी रश्मि है, उसके नीचे एक रश्मि है और एक नीचे से ऊपर की ओर रश्मि है।

अर्थात् 

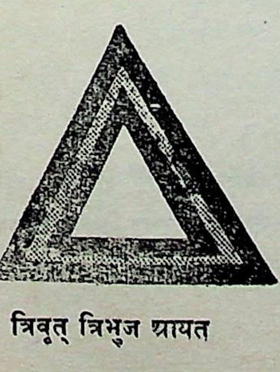
एक तिरछी रश्मि है=तिरश्चीनो विततो रश्मिः। पुनः इसके नीचे भी रश्मि है जो

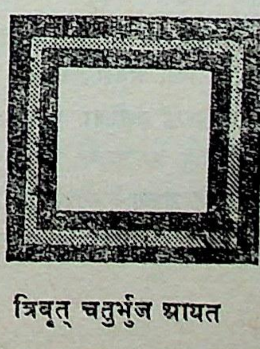
अ स, अ 

है=अधः स्विदासीत्। पुनः इस नीचे से ऊपर की ओर है जो स ब 

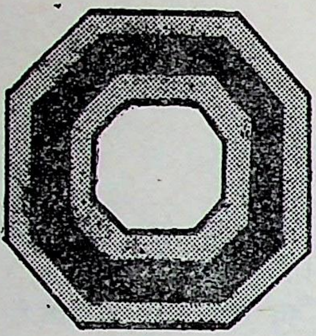
है=उपरि स्विदासीत्। इस प्रकार त्रिभुज  बन जाता है।

इसी प्रकार त्र्यवी शब्द रेखागणित में समत्रिबाहु त्रिभुज के लिए प्रयुक्त हो सकता है। त्र्यवी के लिए तीनों भाग समान होना चाहिए। त्रिवृत तीन आवरण, तीन परिधि वाले को भी कहते हैं। ये आवरण या परिधियां त्रिभुज, चतुर्भुज या बहुतभुज वाले किसी भी आयत या वृत्त की हो सकती हैं जिसके अनुसार कतिपय निम्न आकृतियां तथा अन्य अनेक आकृतियां बन सकती हैं।

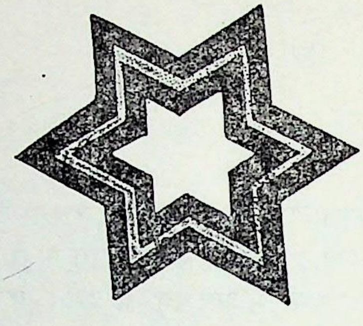

त्रिवृत् त्रिभुज आयत


त्रिवृत् चतुर्भुज आयत


त्रिवृत् वृत्त आयत



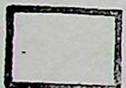
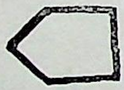
त्रिवृत अष्टभुज आयत



द्वादश भुज त्रिवृत

परिधियों के लिए वेद में आता है—'सप्तास्यासन्परिधयः'—(यजुः ३१ । १५) इसकी सात परिधियां हैं । यह सृष्टि की बताई है । तद्वत् लोक में आवश्यकतानुसार परिधियों की रचना का ज्ञान होता है ।

त्रिवृत्त शब्द के प्रयोग से एकवृत्, द्विवृत्, चतुर्वृत् आदि भी जाने जा सकते हैं । इनका उपयोग भवनों के बनाने में, उनमें मार्ग बनाने में, फर्श एवं छतों में पृथक्-पृथक् प्रकार का कार्य करने, गैलरियां बनाने आदि तथा वाहन, यन्त्र, यानादि बनाने में बहुत-सा है ।

जिस प्रकार त्र्यवि से  त्रिभुज की आकृति प्रकट होती है उसी प्रकार वेद के तुर्यौही से  चतुर्भुज आयत, पंचावी से  पंचभुज आयत आदि के रूप बनते हैं (यजुः १८ । २६)

वेद में कपाल, अष्टाकपाल, एकादशकपाल, द्वादशकपाल आदि का प्रयोग निम्न मन्त्र में है—

अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपाल
इन्द्राय त्रैष्टुभाय पंचदशायै कादशकपालो विश्वेभ्यो
देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालः । (यजुः २९ । ६०)

ये कपाल, वृत्त आकृति के ही होते हैं । इसी प्रकार—

वैज्ञानिक एवं गणितमय प्रश्न एवं उत्तर—

को अस्य वेद भुवनस्य नाभि को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् ।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ (यजुः २३ । ५९)

इस मन्त्र में रेखागणितादि द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र स्थान, केन्द्र बिन्दु, द्युलोक और पृथिवी के मध्य का केन्द्रबिन्दु और अन्तरिक्ष के मध्य केन्द्रबिन्दु, सूर्य का केन्द्रबिन्दु तथा विस्तार तथा चन्द्रमा किस प्रकार उत्पन्न हुआ और किस प्रकार विविध कलाओं को उत्पन्न करता है, उन सब आकृतियों का भी प्रश्न समाविष्ट है ।

इस प्रकार वेद ने प्रश्न उपस्थित करके अपने गणित के ज्ञान को बढ़ाने और उसके द्वारा यह सब नाप और गणना करने की महान् प्रेरणा दी है। यह कल्पना केवल कल्पना न रहे और असंभव कोटि में ही लोग न मान लें अतः वेद ने इनका उत्तर भी इसी भाषा में दिया है—

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥ (यजुः २३। ६०)

मैं इस समस्त ब्रह्माण्ड की नाभि, केन्द्रबिन्दु को जानता हूं। मैं इस द्युलोक और पृथिवी लोक का अन्तर जान कर ही इसका केन्द्रबिन्दु जानता हूं। अन्तरिक्ष का कितना भाग है उसको जानता हुआ ही उसका केन्द्रबिन्दु, इसकी लम्बाई, चौड़ाई, गहराई विस्तार को जान कर ही निर्धारित करता हूं। महान् सूर्य के केन्द्र, उसके उत्पत्ति स्थान को जानने के लिए सूर्य की परिधि, विस्तार, व्यास आदि का जो ज्ञान है उसको जान कर उसके मूल तक को जानता हूं। इसी प्रकार चन्द्रमा के बारे में भी जानता हूं कि यह आज कहां उत्पन्न होगा, कल कहां से उत्पन्न हुआ था और आगे कहां से उत्पन्न होगा, किस समय होगा और कितनी आकृति में होगा उसके परिभ्रमण का मार्ग कितना और कौन-सा है इत्यादि सब रहस्य मैं जानता हूं।

इस प्रकार का स्वीकारात्मक उत्तर मानव में साहस उत्पन्न करता है कि यह सब हमारे ज्ञान की परिधि में आ सकता है। गणित का आश्रय लेकर सब गणना हो सकती है। यदि वेद इन प्रश्नों का उत्तर अंकों में दे देता तो मानव को अपनी बुद्धि के विकास का अवसर कम प्राप्त होता।

इसी प्रकार वेद ने इसी ज्ञान की वृद्धि के लिए कहा—

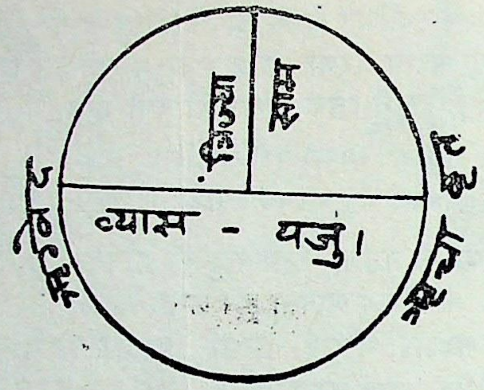
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥ (यजुः २३। ६१)

तुम से यह पूछता हूं कि इस पृथिवी का अन्त कहां है? इस सृष्टि में भुवन अनेक हैं। अपने भुवन की नाभि या केन्द्र कहां है? वर्षणशील सूर्य का जो रेत भाग है वह कहां और कितने रूप में है और वाणी के विस्तार और गति के विशाल आश्रय को पूछता हूं।

ये प्रश्न भी विज्ञान, गणितविद्या—रेखागणित आदि से सम्बन्धित हैं। इनके उत्तरों को ज्ञात करने से विद्या एवं विज्ञान का विकास होता है। यज्ञ में परिधि, वेदी, शाला आदि का निर्माण, कुंभ, कलश, स्रुक्, ध्रुवा, उपभृत्, पूर्ण पात्र, आसन्दी, शकट, यूप, इड़ा पात्री, स्थाली, परिधान, उखा पात्रादि की आकृतियां रेखागणित से ही सम्बन्धित हैं। अनेक प्रकार की वेदियों की रचना रेखागणित की शिक्षा देती है। ये वेदियां त्रिकोण, चतुर्भुज, वृत्ताकार, षट्कोण वाली, पद्माकृति, अर्धचन्द्र, श्येनाकृति आदि की होती है। उपरोक्त शब्दों में से प्रायः शब्द वेद में प्रयुक्त ही हैं तथा और भी बहुत से नाम इसी प्रकार के वेद में आते हैं।

ऋग्यजुः साम इस त्रयी विद्या को विश्व के रेखागणित में निरूपित किया जाता है। ऋग्वेद ही वृत्त है। यजु ही उसका व्यास है और साम ही त्रिज्या है।

अथवा ऋग्वेद केन्द्रबिन्दु है जहाँ से परिधिरूपी सहस्रों साम उदय होते हैं और उनकी गति ही यजुः है।



ऋग्वेद के एक स्थल पर निम्न प्रकार रेखागणित का संकेत प्राप्त होता है—

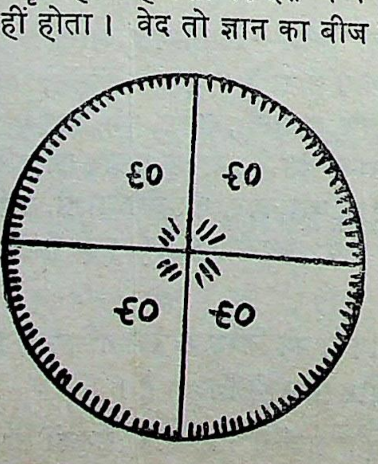
कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थ्यं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥ (ऋ० १०।१३०।३)

नापने, दूरी आदि जानने का साधन क्या है। जिन पदार्थों की दूरी, लम्बाई, चौड़ाई आदि जानना चाहते हैं उनकी प्रतिमा, उसका रेखाचित्र या पदार्थमय रूपक नक्शा क्या है। इसकी प्रमा का सृष्टि में परिमाण, माप, भार किस मान से होगा। एक ही पदार्थ में विभिन्न भार एवं परिमाण के द्रव्यों का उत्तरोत्तर आज्य भागसार, तैजस या हलका भाग कितना है आदि का ज्ञान के कारण क्या है। विश्व की परिधि या लोक लोकान्तरों की या अणु से महत् तक के विभिन्न पदार्थों की परिधि किसकी कितनी है। परिधि कितनी मात्रा में व्याप्त है यह नाप जानना चाहिए। इनका प्रयोग करना और उसको शब्द से वर्णन करने की विद्या क्या है?

इस प्रकार उपरोक्त ज्ञान के लिए रेखागणित का आश्रय लेना पड़ता है। निम्न मन्त्र में वृत्त को ९०।९० डिग्री के ४ अंशों में विभक्त बताया है—

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतींरवीविपत्॥ (ऋग्वेद १।१५५।६)

४×९०=३६० अंश का वृत्त होता है उसी का इस मन्त्र में स्पष्ट दर्शन होता है। वेद में विस्तार से विद्याओं का उल्लेख नहीं होता। वेद तो ज्ञान का बीज है, अतः विविध प्रकार के ज्ञान का



उसके अन्दर मूल विद्यमान है। उससे प्रेरणा प्राप्त कर विद्याओं का विस्तार प्राचीन ऋषि मुनियों ने

करके अनेक ग्रन्थों में रेखागणित आदि का उल्लेख किया है।

बीजगणित का उद्गम

जिस प्रकार से अंक गणित एवं रेखागणित का वेद से ऊपर दिग्दर्शन कराया है उसी प्रकार बीजगणित का रूप भी वेद के अन्तर्गत है। सृष्टि के तत्त्वों की जितनी मात्रा या शक्ति से जिस तत्त्व का निर्माण होता है उसको बीज गणित की परिभाषा में लिखा जा सकता है। गणित के प्रकरण में—

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण
द्विपदो मनुष्यानुदजयत्तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोका-
नुदजयत्तानुज्जेषं सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तामुज्जेषम ॥

अर्थात् अग्नि ने एक मात्रा बल से प्राण को जीता। दो अक्षरों से अश्विनी ने मनुष्यों को जीता। विष्णु ने तीन अक्षर से तीन लोकों को जीता। सोम ने चार अक्षरों से चतुष्पदों को जीता। इनको बीज की परिभाषा में निम्न प्रकार लिख सकते हैं—

१ (अग्नि)=प्राण या अग्नि १=प्राण
२ (अश्विनी)=मनुष्य या अश्विनी २=मनुष्य
३ (विष्णु)=तीन लोक या विष्णु ३=तीन लोक
४ (सोम)=चतुष्पाद या सोम ४=चतुष्पाद पशु
पशु

चिह्नों का प्रयोग

वेद मन्त्रों के साथ स्वर लगाने से उनके अर्थों का प्रकाश होता है और शब्दों का बल भी प्रकट होता है। ये स्वर अंकों में भी लगते हैं और रेखाओं से भी लगते हैं, अंक और अक्षरों के साथ भी अभीष्ट शब्दों के साथ लगते हैं। उनसे उच्चारण एवं अर्थों का भेद हो जाता है और एक चिह्न मात्र से महान् अर्थ भी उसमें संयुक्त हो जाता है। वेद में इनका प्रयोग निम्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है —

। । १ १ २ २र र३ ३ १क
अ, अ, अ, अ, अ, १, अ, ३, अ १॥, आ २॥, अ, अ, अ, अ, अ, अ, अ,

वेद में इन चिह्नों से अपना प्रयोजन स्वर, अर्थ एवं शक्तियों से है और उसका सम्बन्ध विश्व के तत्त्वों की नियत शक्ति के साथ है। बीजगणित का इस प्रकार मूल वेद में है। प्रक्रिया भिन्न है। प्रयत्न करने से वर्त्तमान प्रक्रियानुसार भी लिखा जा सकता है।

शासन (राजनीति)

शासक अधिपति की आवश्यकता

बिना शासक या अधिपति के कोई शासन, राज्य या राष्ट्र नहीं चल सकता। विश्व में शासन होने से कार्य हो रहा है। इस अखिल ब्रह्माण्ड का अधिपति या राजा परमात्मा है जैसा कि—

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (यजुर्वेद २५।१०) इस मन्त्र वाक्य से स्पष्ट है। वेद कहता है कि वह परमात्मा अपनी महिमा से, अपने उच्चतम गुणों से इस जगत् का राजा है जैसा कि—महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव—इस मन्त्र-वाक्य में उसको समस्त संसार का राजा बताया है।

विश्व-शासक सम्राट्

वह परमात्मा राजा भी है और राजाओं का भी राजा है। वह सम्राट् है। एकछत्र सम्राट् है। उस सदृश और दूसरा कोई सम्राट् नहीं है। इसलिए वेद ने कहा—

सम्राडेको विराजति। (यजु० १२।११७)

अर्थात् इस समस्त जगत् में वह आप ही एकमात्र सम्राट् रूप से स्वयं प्रकाशित हो रहा है। जब एकमात्र वही सम्राट् है तो वह विश्व की सरकार है। उस सरकार का वही अधिपति है। अन्य दूसरा न है और न हो ही सकता है। इसलिए हे प्रभु आप ही।

सम्राडसि। (यजु० ५।३२)

जगत् में एक मात्र सम्राट् है। जगत् में जो अपने-अपने विशिष्ट गुणों से एक दूसरे पर प्रभुत्व स्थापित किये हुए तत्त्व या व्यक्ति हैं वे अपने-अपने क्षेत्रीय या माण्डलिक अध्यक्ष या राजा हैं। क्योंकि वे अपने विशिष्ट गुणों से देदीप्यमान हैं। परन्तु आप उन सब राजाओं के भी राजा-सम्राट् हैं। पति, अधिपति, स्वामी, राजा, सम्राट्, जगतस्पति, ब्रह्मणस्पति अध्यक्ष आदि सभी वैदिक शब्द शासन तन्त्र के हैं।

परमात्मा के समस्त ब्रह्माण्ड पर शासन के कारण उपरोक्त शब्द उसमें घटित होते हैं उन्हीं के आधार पर; लोक-शासन या जन समाज में भी स्थिति के अनुसार उक्त शब्द प्रचलन को प्राप्त हुए। सृष्टि में शासन है। नियम है। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि सृष्टि में नियम नहीं है, वे सृष्टि विद्या एवं विज्ञान से विमुख हैं। तत्त्वदर्शी की दृष्टि सृष्टि के नियमों का दर्शन करती है और उसे उस नियम के नियामक के अस्तित्व पर विश्वास हो जाता है।

राजा

सृष्टि में जो नियम हैं—वही उसका शासन है। अतः समाज में भी नियम व शासन की आवश्यकता रहती है और समाज पर शासन करने वाले सर्वोच्च व्यक्ति को उसके गुणों से प्रकाशित होने के कारण राजा आदि की संज्ञाएं प्रदान करनी पड़ती हैं।

राजा शब्द बहुत ही उत्तम शब्द है। राजृ दीप्तो धातु से यह शब्द बनता है। जो सम्यक् दीप्तिमान् अर्थात अपने श्रेष्ठ गुणों से जनता के मध्य प्रतिष्ठित एवं माननीय हो वह राजा पद वाच्य

है। इसलिए भारतीय परंपरा में जो सर्वोच्च सत्तावाला हुआ उसको राजा नाम से सम्बोधित किया गया यही राजा शब्द अधिपति, राष्ट्रपति, राष्ट्राध्यक्ष आदि रूप में व्यवहृत हुआ।

शासन की व्यवस्था के लिए वेद कहता है सभा, समिति और सेना का निर्माण करना चाहिए। अथर्ववेद में इसके लिए लिखा है—

शासन के लिए सभा एवं सेना

तं सभा च समितिश्च सेना च। (अथर्व० १५।६।२)

उस व्यवहार को जो कि समाज के हित के लिए संसार में सबके कल्याणार्थ राज्य पालनादि रूप में किया जाता है उस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न हो, परंपरागत भी अधिकार न हो, अपितु सभा का अधिकार हो। उस सभा के साथ समितियां भी हों और उसकी सेना भी हो।

सभा का सम्बन्ध सर्व प्रजाजनों से है। उनकी सम्मति और अधिकार से है और उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करके शासन-तन्त्र को चलाने का कार्य विभिन्न तत्तद्विशिष्ट व्यक्तियों की समितियों से है। अपने समाज या राष्ट्र को वाह्य आक्रमण या आन्तरिक उपद्रव करने वालों से प्रजा की रक्षा के निमित्त सेना की उपयोगिता है।

वेद में प्रतिपादित उपरोक्त सभा, समिति एवं सेना को बनाकर शासन के संचालन का आधार प्रजा ही है। प्रजा के व्यक्ति जितने उत्तम होंगे उतनी उत्तमता से सभाओं का कार्य होगा। अच्छी सभाओं का आधार सभ्य, सुशिक्षित, विचारशील व्यक्ति ही हैं। अतः वेद कहता है—

सभा के लिए सभ्यों की आवश्यकता

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः। (अथर्व० १६। ५५। ६)

अर्थात् हे सभ्य! सभा के योग्य सभापते! तू मेरी सभा की, समाज की, राष्ट्र की रक्षा और उन्नति कर और जो सभा के योग्य श्रेष्ठ सभासद विद्वान् जन हैं वे भी सभा की योजना, रक्षा और उससे सब की उन्नति करें। इस प्रकार वेद प्रजातन्त्र की आधारभूत जो प्रजा है और जो उसकी सभा एवं सभापति हैं और जो उसके मध्य विशिष्ट विद्वान् हैं उनको उत्तम बनाने की प्रेरणा देता है।

यदि प्रजा एवं उसकी सभाओं के सभासद ही कुछ न समझने वाले अयोग्य होंगे तो उस प्रजा पर कोई भी अपना निरंकुश शासन स्थापित कर लेगा। प्रजा पर अनेक प्रकार के अन्याय, अत्याचार भी करेगा तो वह प्रजा उसको सहन करती जावेगी। ऐसी प्रजा या जनसमाज कभी उन्नति नहीं कर सकता। प्रजा की योग्यता उसकी सभा से एवं उसके सभासदों से प्रकट होती है।

सभा के जैसे सभासद होंगे उनसे वैसी ही सेना का निर्माण होगा। अतः उत्तम शासन के लिए प्रजा का सर्वतोमुखी विकास होना आवश्यक है। शासन करने के लिए प्रजा नहीं होती है अपितु प्रजा की सुख, सुविधा उन्नति और विकास के लिए शासन की, व्यवस्था करने वाले की आवश्यकता होती है। आज जो शासकों ने शासन को शान-शौकत, ऐश-आराम, विलास, आमोद-प्रमोद, रौब एवं अभिमानपूर्वक अधिकार करने के लिए है ऐसा समझ रखा है, यह जन-शासन के प्रतिकूल है। जन-शासन प्रजातन्त्र तो केवल मात्र यथार्थ रूप से जनता की सेवा के लिए ही होता है।

शासन के लिए तीन प्रकार की सभाएँ

शासन का कार्य शासन में नियुक्त व्यक्ति ही करते हैं परन्तु उसमें प्रजा का पूर्ण सहयोग होना चाहिए। अतः शासक वर्ग और प्रजाजन दोनों ही मिलकर शासन सुचारु रूप से चलाते हैं, यह मानना

पड़ता है। शासक वर्ग को अपनी प्रजा से पृथक् या प्रजा को शासक वर्ग से मूल रूप से अपने को पृथक् नहीं समझना चाहिए। दोनों मिलकर ही शासन के निमित्त समितियों का निर्माण करें। वेद कहता है कि—

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परिविश्वानि भूषथः सदांसि। (ऋ० ३। ३८। ६)

अर्थात् जो (राजाना) राजा और प्रजा के भद्र पुरुषों के दोनों समुदाय हैं वे, (विदथे) उत्तम ज्ञान और लाभदायक इस जगत् के कार्यों अथवा संग्रामादि कार्यों की व्यवहारसिद्धि के लिए, (त्रीणि) तीन प्रकार की (सदांसि) सभा नियत करें, जिससे संसार की सब प्रकार से उन्नति हो सके। इस प्रकार वेद शासक और प्रजावर्ग के सम्मिलित प्रयत्न से सब प्रकार के व्यवहार सिद्धि एवं उन्नति के लिए तीन प्रकार की सभा—सदनों को बनाने की प्रेरणा देता है।

प्रथम सदन

इनमें से पहली सभा या सदन जनता की मांगों को शासन के सम्मुख प्रस्तुत करता है। वह सदन मांगों के औचित्य एवं परिस्थिति को देखकर किन मांगों की आवश्यकताओं को प्राथमिकता अभी देनी चाहिए और किन आवश्यकताओं को बाद में लेना चाहिए यह निश्चय किया करे। अर्थात् राष्ट्र की मांग क्या है, क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए इसका निर्णय यह सदन करके दूसरी सभा को प्रस्तुत किया जावे।

द्वितीय सदन

दूसरा सदन या सभा उन मांगों को योजनाबद्ध करे और उसके लिए अनुमानित व्यय को स्वीकृत करके तीसरे सदन को प्रस्तुत करे।

तृतीय सदन

तृतीय सभा या सदन उस योजना के अनुसार और व्यय के अनुसार कार्य का संचालन, निरीक्षण आदि करे करावे और उसके परिणामों से प्रथम सदन को प्रति मास, प्रति तीसरे मास, प्रति छठे मास या प्रतिवर्ष अवगत करावे।

अथवा उपरोक्त प्रकार की तीन सभाएँ प्रत्येक क्षेत्र के लिए परामर्श निमित्त हो सकती हैं और वे अपने-अपने सदनों को भेजी जा सकती हैं। अथवा त्रीणि से विद्यासभा, राज-सभा, और धर्म सभा का ग्रहण हो सकता है।

(१) विद्यासभा के अन्तर्गत—शिक्षा, अनुसन्धान, सांस्कृतिक कार्य, संग्रहालय आदि हो सकते हैं।

(२) राजसभा के अन्तर्गत—गृह-विभाग, उद्योग, कृषि, सिंचाई, यातायात, व्यवस्था, चिकित्सा आदि हो सकते हैं।

(३) धर्मसभा के अन्तर्गत—न्याय, राजस्व, नीति, विदेश विभाग, सूचना-प्रसारण, प्राचीन स्थानों का संरक्षण आदि हो सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के सम्यक् शासन के लिए सभा, समिति, परिषद्, सदन आदि बनाने चाहिएं और एक ही समिति सदन आदि नहीं होने चाहिएं अपितु तीन समितियां होनी चाहिएं जिससे किसी बात का निर्णय प्रजा के विविध वर्गों के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण से उस पर विचार हो सके। इस प्रकार राष्ट्र का शासन-संचालन होना चाहिए।

स्वराज्य प्रथमावस्था

राष्ट्र में स्वशासन स्वराज्य की अवस्था है। स्वराज्य में अपना ही राज्य होता है। अतः जो शत्रुत्व की भावना अपने देश में दूसरे शासन के कारण होती है, वह स्वराज्य हो जाने पर नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त स्वराज्य हो जाने से राष्ट्र बलवान् हो जाता है। रक्षा-साधनों द्वारा भी समर्थ हो जाने से देश के आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं को नष्ट करने में समर्थ हो जाता है।

सत्रराज्य द्वितीयावस्था

इसी स्वराज्य की स्थिति के पश्चात् इसकी और उच्च स्थिति सत्र राज्य है। स्वराज्य की प्रथमावस्था रोटी-रोजी और रक्षा में संलग्न रहना है। परन्तु जब रोटी-रोजी और रक्षा के अतिरिक्त सृष्टि-नियमों के अनुकूल विद्या एवं विज्ञानादि के द्वारा उन्नति के विविध आयोजनों का प्रदर्शन, प्रचार शिक्षण की व्यवस्था करके राष्ट्र के अभावों की पूर्ति करते हुए निरन्तर उन्नति की व्यवस्था में संलग्न रहता है तब वह सत्रराज्य कहलाता है।

सब राज्यों में अभावों की पूर्ति होकर उन्नति एवं सुख की वृद्धि होती है। अतः सत्र राज्य अनुकूलता रूपी शत्रु को नाश करने वाला है।

जनराज्य तृतीयावस्था

इस प्रकार जब राष्ट्रकी जनता उन्नत एवं सुखी होने लगती है तो वह राष्ट्र या समाज और उच्च स्थिति में प्रवेश करता है। उस स्थिति में देश का प्रत्येक व्यक्ति सुपठित, विद्वान्, सदाचारी उत्तम कर्म करने वाला, संयमी, सुखी, उद्यमी, अपनी राष्ट्रिय महत्ता और उसका सदुपयोग करने का ज्ञाता और अभ्यासी बन जाता है। यही जनराज्य की स्थिति है।

जब कोई देश पराधीनता से मुक्त होता है तो उसकी वह स्वराज्य स्थिति है। तत्पश्चात् कुछ समय बाद शीघ्र ही सत्रराज्य के लिए प्रयत्न होते हैं। जनराज्य का निखरा हुआ स्वरूप वहां प्रकट होने में कुछ समय लगता है! यह एकदम स्वराज्य की भांति प्राप्त होने वाला नहीं है। इसकी घोषणा तारीखों से नहीं होती है। इसका उद्घाटन नहीं होता है अपितु क्रमशः संक्रमण होता है।

जहां की जनता अभी अपने अधिकारों को ही नहीं जानती, शिक्षा एवं विज्ञान के क्षेत्र में उसका प्रवेश न्यून है, सहयोग, नैतिकता, परहित, कर्त्तव्य परायणता एवं सेवा की भावना अभी विशाल रूप से जाग्रत् नहीं हुई है वहां जनराज्य का स्वरूप विकसित होने में समय लगेगा।

सर्वराज्य चतुर्थावस्था

कतिपय समुन्नत एवं समृद्ध देशों में जनराज्य का स्वरूप दृष्टिगोचर हो सकता है, परन्तु इससे भी उच्च स्थिति तब होती है जब व्यक्ति अपने अभिमान को भूलकर दूसरे में भी अपनी अनुभूति करता है। दूसरों के प्रति भी आत्मीयता के रूप में व्यवहार करता है। अपने विश्व कुटुम्ब की एक इकाई अनुभव करता है तथा सर्व में स्व को विलीन कर देता है। ऐसी स्थिति जब सब अनुभव करने लगते हैं तो वह सर्वराज्य है।

उस सर्वराज्य में कोई अधिकारी अपने को शासक होने का गर्व अनुभव नहीं करता अपितु अपने को जनसेवक, सर्वसेवक, विश्वसेवक अनुभव करने में प्रफुल्लित होता है। उस दशा में शासक और शासित का भेद नहीं रहता। जनता की उत्तम रूप से सेवा ही उनकी सच्ची आराधना हो जाती है। क्योंकि उस स्थिति में—

पुरुष एवेदं सर्वम्। (यजु: ३१।२)

यह सब कुछ परमेश्वर ही है—यह सब प्रभु की ही सृष्टि है। इसकी सेवा परमात्मा की सेवा है। इसकी सेवा में उपेक्षा, परमात्मा की उपेक्षा है। उस समय वह यही अनुभव करता है।

एतावानस्य महिमा। (यजु: ३१।३)

संसार के अन्दर जो सब नाम एवं रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब परमात्मा की महिमा है और वह परमात्मा की ही महिमा को प्रकट कर रहा है अतः मैं भी उसी की महिमा से युक्त बनूं। महिमा से युक्त बनने के लिए उसे अपना आत्मसमर्पण सबके लिए कर देना पड़ता है। जो इस प्रकार सबके लिए अपना प्रेम बखेर देता है वह सभी का मित्र बन जाता है और सब उसके मित्र बन जाते हैं, जैसा कि निम्न मन्त्र में दर्शाया गया है—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ (यजु० ३६।१८)

मैं सबको मित्र की दृष्टि से देखूं और मुझको भी सब मित्रवत् देखें। ऐसी भावना सर्वराज्य के उदय होने पर होती है। अतः हमें स्वराज्य से सर्वराज्य तक की स्थिति में समाज को, राष्ट्र को ले जाना चाहिए। इन्हीं उपरोक्त स्थितियों को वेद ने निम्न मन्त्र में प्रकट किया है—

स्वराड् से सर्वराड् तक

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा।
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यऽमित्रहा॥ (यजु: ५।२४)

स्वराज्य के उपभोक्ता व्यक्ति स्वराड् संज्ञक हैं। इस स्वराज्य की प्राप्ति से या स्वराज्य की स्थिति से अपनत्व का जो क्षेत्र बनता है उससे पारस्परिक विवाद, शत्रुता नष्ट होती है क्योंकि सब समान अधिकार वाले राष्ट्र के हित को अपना हित समझने वाले बन जाते हैं।

एकराट् में कोई अपनी शत्रुता किसी से रखकर उसको दुःखित कर सकता है, या शासक निरंकुश होकर अपनी शत्रुता को पूर्ण करने के लिए अन्याय, अत्याचार आदि भी कर सकता है। परन्तु स्वराज्य की स्थिति में सामान्य प्रजाजनों को भी स्वतन्त्रता प्राप्त होने से, समानाधिकार भी प्राप्त होता है। वह शासन के उच्च से उच्च व्यक्ति के अनुचित प्रतीयमान कार्य, नीति आदि के बारे में विरोधी विचार प्रकट कर सकता है। अतः समानाधिकार के कारण शत्रुता के व्यवहार को स्थान नहीं मिल पाता। इसलिए वेद ने कहा—

स्वराडसि सपत्नहा

सत्रराज्य के उपभोक्ता व्यक्ति सत्रराट् संज्ञक हैं। लघु प्रशिक्षण केन्द्र, प्रदर्शन, प्रचारादि द्वारा स्थान-स्थान पर अनेक अभावों की पूर्त्ति के आयोजनों के द्वारा जनता को सृष्टि-विद्या एवं विज्ञान के अनुकूल सुखी एवं उन्नत करने वाले जन सत्रराट् संज्ञक हैं। राज्य में इस प्रकार का सर्वत्र आयोजन राष्ट्र को सत्रराट् बनाता है। शासन का यह कर्तव्य है कि वह जनता को देशकाल परिस्थिति के अनुसार समुन्नत एवं जाग्रत् करता रहे। यही सत्रराट् की वैदिक भावना है। इस सत्र राज्य से सब कार्यों के लिए अनुकूलता सम्पादन होती है। अर्थात् अभावों की पूर्ति और सुखों की समृद्धि सत्रराज्य में होती है। इसी-लिए वेद ने कहा—सत्रराडस्यभिमातिहा—अर्थात् प्रतिकूलता एवं अभाव रूपी शत्रु का सत्रराट नाशक है।

जनराज्य के उपभोक्ता व्यक्ति जनराट् संज्ञक हैं। सत्रराज्य के द्वारा प्रशिक्षित व्यक्ति जन-राज्य के निर्माण करने में समर्थ होते हैं। यदि जनिप्रादुर्भावे धातु के अर्थ को ग्रहण करें, तो जो राज्य

अत्यधिक उत्पत्ति करके अभावों की पूर्ति कर लेता है और अपने समाज या राष्ट्र को सर्वप्रकार से समृद्ध करता है, वह जनराज्य है। अथवा प्रशिक्षित व्यक्तियों का जाग्रत् जन-समुदाय भी जनराज्य कहलाने योग्य है। जन राज्य समस्त प्रकार के विघ्नों का अभाव कर देता है- उन विघ्नों का नाश कर देता है। अतः वेद ने कहा—जनराडसि रक्षोहा।

जन राज्य के राजा का, राष्ट्रपति का, जब नियुक्ति पर अभिषेक होता है उस समय जो मन्त्र बोला जाता है वह निम्न है —

इमं देवा असपत्नँ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठाय
महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। (यजु: ९।३०)

अर्थात्—हे राजसभासदो! इस राष्ट्रपति को बड़े क्षात्र धर्म के लिए, बड़े ऐश्वर्य के लिए, बड़े जनराज्य के लिए, राजकीय पराक्रम के लिए शत्रुरहित अभिषिक्त करो। इस मन्त्र में जनराज्य के लिए बड़ा क्षात्र बल होना बताया है और ऐश्वर्यवान् भी होना बताया है। अर्थात् जनराज्य इतना सैन्यशक्ति से संगठित एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न होना चाहिए कि उसे किसी दूसरे राष्ट्र के सैन्यबल और धन अन्नादि की सहायता की आवश्यकता न पड़े। वह किसी का ऋणी न हो अपितु दूसरों को सहायता देने की स्थिति में हो।

सर्वोत्तम सर्वराड् शासन

सर्वराज्य के उपभोक्ता व्यक्ति सर्वराट् संज्ञक हैं। सर्वोदयी भावना, वसुधैव कुटुम्बकम्—की भावना है। वेद में जिसे—आत्मवत्सर्वभूतेषु—की भावना प्रतिपादित की है। जीओ—और जीने दो—ये सर्वराज्य की उदात्त भावनाएं हैं। ऐसे राज्य में अमित्रता की भावना नष्ट हो जाती है—इसी को वेद ने कहा—सर्वराडस्यमित्रहा—इसी सर्वराट् की भावना को जाग्रत् करने के लिए—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

इन शब्दों में प्रार्थना की गई है। सभी सुखी हों, कोई दुःखी न हो। सुखी बसे संसार सब दुःखिया रहे न कोय—ये सब सर्वराट् की भावनाएँ हैं। रामराज्य की कल्पना या आदर्श में यही भाव है।

वेद ने सर्वराट् प्रजा बनने के लिए निम्न प्रकार कहा है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। (यजुर्वेद १८।४८)

राष्ट्र में या समाज में उच्च भावना वाले, परा और अपरा दोनों प्रकार की विद्या और विज्ञान को जानने वाले, शान्त तेजस्वी, योगरत, ब्रह्म सम्पदा से परिपूर्ण व्यक्ति ब्राह्मण गुणों के धारण करने वाले व्यक्ति हैं—उनमें समाज के प्रति, समाज के प्रत्येक वर्ग के प्रति पूर्ण प्रेम हो।

राष्ट्र में या समाज में रक्षण, शासन, न्याय, व्यवस्था आदि का कार्य सब प्रकार से अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी जो राष्ट्र का हित करने वाले क्षत्रिय नाम को सार्थक करने वाले हैं उन सब में, सब के प्रति समान रूप से, पक्षपात रहित प्रीति को उत्पन्न कर।

इसी प्रकार राष्ट्र की सम्पत्ति को अपने व्यापार, कृषि आदि से समृद्ध करने वाले जो व्यक्ति हैं और उस कृषि तथा धन पर अपना एकाधिकार न समझ कर सब का ही समानाधिकार है, और प्रीति-पूर्वक सबको अपने परिवार का ही व्यक्ति समझ कर अन्न वस्त्रादि को सबके लिए सुलभ करने वाले

वैश्य नाम को सार्थक करने वाले व्यक्ति हैं, उन वैश्य नाम को सार्थक करने वाले महाजनों में सबके लिए प्रीति उत्पन्न कर।

इसी प्रकार अपने परिश्रम से जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के कार्यों में एवं राष्ट्र की समृद्धि में जो अपने श्रम का दान करने वाले हैं, उनमें भी प्रीति उत्पन्न हो। और जब सब में ही प्रीति हो तो मैं भी उस सार्वभौम प्रीति से क्यों वंचित रहूं अतः मुझ में भी सब के लिए अनन्त प्रीति हो। सर्वराट् की भावना जाग्रत् करने के लिए निम्न मन्त्र की आराधना करनी होगी। इसका सदा जाप करना होगा और तदनुकूल आचरण बनाना होगा—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्ववेद १९।६२।१)

देव, विद्वान् ब्राह्मणों में मुझे प्रिय बनाइये, राजकार्य में रत क्षत्रियों में मुझे प्रिय बनाइये, वैश्य और शूद्रों में भी प्रिय प्रतीत होने वाला बनाइये। जिस राज्य की प्रजा इस उच्च भावना वाली होगी वही —अदीनाः स्याम शरदः शतम्— के आधार पर स्वच्छन्द जीवन व्यतीत कर सकते हैं और वे ही—

अपहता असुरा रक्षाᳬसि वेदिषदः। (यजुः २।२९)

जो दुष्ट स्वभाव वाले, मूर्ख तथा औरों को स्वार्थवश कष्ट देने वाले जन इस पृथिवी पर रमण करते हैं उनकी मूर्खता और स्वार्थमयी घातक वृत्तियों को अपने सदुपदेश एवं व्यवहार से नष्ट करने में समर्थ हो सकते हैं।

राष्ट्र-शासन के लिए कार्यों का विभाजन

राष्ट्र में कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए कर्मों का विभाजन करना होगा और तत्तद्-गुणविशिष्ट व्यक्तियों को सौंपना होगा। अतः वेद कहता है—

विभक्तारᳬ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम्॥ (यजुः ३०।४)

जो राष्ट्र में सब के निवास, भूमि आदि अन्न, वस्त्र धनादि, अद्‌भुत ऐश्वर्यों का समान एवं यथायोग्य विभाजन करने वाला ऐश्वर्य की उन्नति के लिए प्रेरित करने वाला तथा —नृचक्षसम्— राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की सुख सुविधा आदि को वितरित करने का पूर्ण ध्यान रखने वाला है—उसको हम सब चाहते हैं। उसको अपने मध्य चाहते हैं। उसके इन गुणों के कारण हम उसकी प्रशंसा एवं स्तुति करते हैं।

इस मन्त्र से प्रकट होता है कि सब को समान एवं यथायोग्य भूमि, अन्न, ऐश्वर्य आदि का वितरण समाज या राष्ट्र में शासन ने करना चाहिए। इस निमित्त जन-गणना, प्रति घर-गणना, वर्गीकृत गणना, नगर-गणना और सम्पत्ति, उत्पत्ति आदि की गणना होनी चाहिए, जिससे विभाजन ठीक हो सके।

नियुक्तियां योग्यता एवं क्षमता के आधार पर हों

व्यक्तियों को कार्यों में विभक्त करने वाली, नियुक्त करने वाली तथा अन्न सम्पत्ति आदि का समान विभाजन करने वाली सरकार ही —सवितारं — प्रसवितारं — उत्पादन को करने में समर्थ होनी चाहिए और उसे ही—नृचक्षसम्—जन-गणना से, कार्य से, अन्नादि से, वास स्थान आदि से कोई छूट न जावे इसका भी ध्यान रखना होगा और कोई व्यक्ति अपनी शक्ति या राष्ट्र की सम्पदा का दुरुपयोग या अनुचित प्रयोग न करे इसका भी ध्यान रखना होगा। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं
तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयाया
अयोगूं कामाय पुंश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम् ।। (यजुर्वेद ३०।५)

(१) **ब्रह्मणे ब्राह्मणम्**—ब्राह्मणोचितकर्म करने के लिए ब्राह्मण गुणयुक्त व्यक्ति प्राप्त होंगे। क्योंकि जिसकी जिस राष्ट्रोपयोगी कार्य करने में रुचि होगी वह उसमें निश्चिन्त होकर लग सकेगा। आज भी तो अच्छा वेतन प्राप्त होने पर अनेक प्रकार के कठिन या जिन कार्यों को कोई करने की इच्छा भी न करे उनको भी करने को उद्यत हो जाते हैं। इस प्रकार अनिच्छापूर्वक,केवल अर्थ-प्राप्ति की कामना-वश उन कार्यों को करने को बाध्य होकर करते हैं। ऐसी दशा में जिस कार्य में धन कम मिलता हो उसकी ओर लोग प्रवृत्त नहीं होते। यदि परिस्थितिवश उन्हें कम वेतन के स्थान पर काम करना भी पड़े तो वे अनिच्छा से वहां कार्य करते हुए दूसरे अच्छे वेतन के स्थान की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहेंगे। इस प्रकार अनिच्छा से कार्य होने पर पूर्ण योग्यता से कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता।

धन की प्रभुता न हो

परन्तु यदि सब को समान भूमि एवं धन का वितरण हो और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के आवश्यक हितों को पूर्ण करने का ध्यान रखा जाय तो राष्ट्र की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रजा अपना जीवन दे सकती है और पूर्ण योग्यता से एवं रुचि से कार्य करेगी। अर्थ-वितरण का वैषम्य मन को विचलित कर देता है। अर्थ की वैषम्य स्थिति में व्यक्तियों का मन स्वकर्म से, स्वधर्म से विचलित हो जाता है। अर्थ की वैषम्यता से वस्तुओं के भावों में उतार चढ़ाव होते रहते हैं। और व्यक्ति से अधिक महत्त्व धन का हो जाता है। राष्ट्र को धन का प्रलोभन इतना नहीं बढ़ने देना चाहिए कि लोग धन के लोभ में अधर्म करने को भी उद्यत हो जावें।

जिस राष्ट्र में धन से धर्म बेचा जाता हो, जिस राष्ट्र में धन से असत्य और अन्याय का प्रभुत्व स्थापित होता हो और सत्य तथा न्याय की हिंसा होती हो, जिस राष्ट्र में धन की कामना के लिए राष्ट्रघाती कार्य गोवध सदृश होता हो, जिस राष्ट्र में धन के लोभ में दुराचार की ओर प्रवृत्ति को प्रोत्साहन प्राप्त होता है और आचार का मूल्य न हो उस स्वराज्य में नरक का साम्राज्य है। वहां के लोगों की बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। केवल स्वार्थ, छल, कपट का ही आधिपत्य रहता है। अतः राष्ट्र की जनता में धन का अत्यधिक प्रभुत्व नहीं होने देना चाहिए।

धन की प्रभुता को घटाने के लिए ब्राह्मण वृत्ति को प्रोत्साहित करें

धन का महत्त्व घटाने का प्रकार यह है कि समाज में, देश या राष्ट्र में ब्राह्मण को, ब्राह्मण वृत्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जावे। ब्राह्मण, त्यागी, तपस्वी, निर्लोभी होता है, वह निःस्वार्थ रूप से विद्याओं का अध्ययन करके आर्थिक लोभवश नहीं परन्तु उत्तम शिष्य बनाने का प्रयत्न करता है। ब्राह्मण को बड़े से बड़ा प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता, बड़े से बड़े ऐश्वर्य के आगे वह अपने सत्य को प्रकट कर देता है। ऐसे तपस्वी त्यागी ब्राह्मणों के आगे संसार के चक्रवर्ती सम्राट् भी झुकते हैं। ब्राह्मण का त्याग ही धन है। वही उसका ऐश्वर्य है। अतः ब्राह्मण की, त्याग की प्रतिष्ठा राष्ट्र में सर्वाधिक होने पर धन का अनावश्यक महत्त्व घटेगा तो राष्ट्र में धार्मिक विचारों तथा सदाचार का उदय होगा।

आश्रम व्यवस्था भी धन की प्रभुसत्ता को घटाती है

दूसरा प्रयत्न यह होना चाहिए कि सबको समान रूप से व्यक्ति के आधार पर एवं आश्रम

के आधार पर जीवन-निर्वाह के लिए धन, भूमि, वास स्थानादि प्राप्त होने चाहिएं। इस प्रकार से भी धन का अनावश्यक प्रभुत्व राष्ट्र में से, शासन को समाप्त कर देना चाहिए। इस कार्य में राष्ट्र के ब्राह्मणों को ही जाग्रत् होना पड़ेगा या शासन को ब्राह्मणों को जाग्रत् करना पड़ेगा। ब्राह्मण ही राष्ट्र के पुरोहित हैं। पुरोहित लोभवश राजा के दास हो जाते हैं, वे ब्राह्म साम्राज्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। वेद कहता है—

इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा
सोमोस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा ।। (यजु० ६।४०)

अमुक पिता के पुत्र को, अमुक माता के पुत्र को, इस प्रजा के लिए इस राजा को अभिषिक्त करो। यह उन प्रजाजनों का, तुम राज-सभासदों का राजा हो। हम ब्राह्मणों का तो राजा सोम है।

ब्राह्मणों की राज्य में पूजनीय स्थिति हो

यह मन्त्र बताता है कि राष्ट्र के ब्राह्मण, राज्य में दक्षिणा, भेंट, दान आदि प्राप्ति के अधिकारी हैं परन्तु उनको सेवक बनाकर नहीं रखा जाना चाहिए। उनकी पूजनीय स्थिति होनी चाहिए और उनमें त्याग होना चाहिए। वेद कहता है—

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा। (यजु० ६।२३)

राष्ट्र के पुरोहित ब्राह्मण अपनी सत्क्रियाओं द्वारा जाग्रत् होवें। इस निमित्त उनमें स्वयं—वयं राष्ट्रे जागृयाम—का मधुर एवं उच्च घोष व्याप्त हो। राष्ट्र के अन्य सब जन भी इसके साथ प्रति दिन परमात्मा से प्रार्थना करें कि—

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। (यजु० २२।२२)

हे प्रभु! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों। जिस प्रकार से हम किसी कार्य के लिए नियुक्त करने के लिए योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता घोषित करके उनमें से हम व्यक्तियों का चुनाव करते हैं। उस प्रकार से ब्रह्मवर्च्चस्वी ब्राह्मण प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि वे धन की कामना से कार्य नहीं करते। वे तो अपनी लंगोटी और कमण्डल को लेकर जो कामना करता है उस गरीब के घर भी पहुंच जाते हैं और जो कामना नहीं करता, जिसके मन में उनके प्रति आदर भाव नहीं है उस सम्राट् को दर्शन भी नहीं देते।

राष्ट्र को सर्वप्रथम उत्तम ब्राह्मणों की आवश्यकता है अतः वेद ने सबसे प्रथम इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए—ब्रह्मणे ब्राह्मणम्—ब्राह्मणोचित कर्म के लिए ब्राह्मणों का उपयोग लेने का आदेश दिया है। यदि ब्राह्मणोचित कर्म के लिए ब्राह्मणों की, त्यागी तपस्वियों की नियुक्ति नहीं होगी और स्वार्थी तथा लोभी उन पदों पर कार्य करेंगे तो राष्ट्र का कार्य सर्वथा अस्त व्यस्त हो जायगा। इसलिए सर्वप्रथम उच्च पदों पर ब्राह्मणों की नियुक्त होने–ब्रह्मणे ब्राह्मणं—का पालन होने से राष्ट्र में अन्याय, भ्रष्टाचार, कर्त्तव्य हीनता आदि दोष उनके विभाग में से दूर हो जायेंगे। राष्ट्र का नेता वर्ग जब निर्लोभी, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मण होगा तब उत्तम शासन हो सकेगा। ब्रह्मणे ब्राह्मणं—के लिए तथा—ब्रह्मवर्चसी जायतां—के लिए राष्ट्र को साधना करनी पड़ेगी।

(२) **क्षत्राय राजन्यम्**—राष्ट्र के संरक्षण के लिए सेना, आरक्षीदल, व्यवस्था आदि क्षत्रियोचित कर्म करने के लिए रक्षण, पालन, न्याय, सुव्यवस्था शासकीय गुण सम्पन्न व्यक्तियों को राष्ट्र को नियुक्त करना चाहिए या उनको ये काम सौंपे जावें।

वैदिक शासन तन्त्र में शासक में क्षत्रिय गुण होना आवश्यक है। क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः—

के अनुसार क्षत्रिय में प्रजा के कष्टों के निवारण का गुण धर्म होना ही चाहिए। वह शासक ही क्या जिसकी प्रजा दुःखी हो। प्रजा के कष्टों को दूर करने के लिए इतनी उत्कृष्ट भावना कि प्राणों की भी आहुति देना मेरा कर्त्तव्य है—वही शासक होने योग्य है। केवल ऐश्वर्य एवं अधिकार के मद में प्रजा को त्रस्त करना और उनके कष्टों को निवारण न करना क्षत्रियत्व नहीं है। यह पतन है। पतितों का शासन पापमय होता है।

जो जाति देश की सेवा में अपना जीवन बलिदान करने को उद्यत हैं ऐसे क्षत्रिय—राजन्यों की शासन को चलाने के लिए नियुक्ति करनी चाहिए। वेद ने कहा कि इस कार्य के लिए योग्यतम क्षत्रियों को बनाना पड़ेगा—

राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। (यजु० २२।२२)

हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय वीर, बाणादि अस्त्रों को चलाने में निपुण, शत्रुओं को नष्ट करने में अत्यन्त कुशल, एक एक योद्धा जो एक सहस्र को पराजित करें ऐसे महारथी उत्पन्न हों। ऐसे गुण सम्पन्न क्षत्रियों को बनाने के लिए प्रारम्भ से ही उनके संस्कारों को बनाना पड़ेगा।

संस्कारों का सम्बन्ध तात्कालिक परिस्थितियों तथा वातावरण से भी बहुत अधिक सम्बद्ध है। क्षत्रिय में ऐश्वर्य-प्राप्ति की कामना होनी चाहिए। परन्तु वह कामना अपने कोश को भरने के लिए नहीं अपितु राष्ट्रकोश को समृद्ध करने के लिए होनी चाहिए। वह तो उस कोश का रक्षक है और उसका पूरक है। क्षत्रिय का व्यक्तिगत कोश तो यही है कि उसने सुशासन करके प्रजा के दुःखों को दूर करके यश प्राप्त किया है या प्रजा की रक्षा के लिए अपने प्राणों का किंचित् भी लोभ नहीं किया है इस सुयश रूपी ऐश्वर्य की प्राप्ति। इस सुयश के आगे क्षत्रिय के लिए सब ऐश्वर्य तुच्छ हैं। शासन को इस भावना को क्षत्रियों में जाग्रत् करना चाहिए और एतद्गुणसम्पन्न क्षत्रियों की नियुक्ति शासन में करनी चाहिए।

(३) **मरुद्भ्यो वैश्यम्**—वायु के समान इधर-उधर गमनशील तथा जिस स्थान में जावे वहां पदार्थों के आयात-निर्यात करने का कार्य वायु के समान करने में कुशल हों ऐसे व्यक्तियों को व्यापारादि वैश्यवृत्ति के लिए राष्ट्र में नियुक्त करे या ऐसे व्यक्तियों को व्यापार में प्रवृत्त करे तथा सहयोग देवे।

वायु एक स्थान के गन्ध को इस प्रकार से ले जाता और प्रसारित करता है कि वह किसी को ज्ञात ही नहीं होता और सर्वत्र प्रसारित हो जाता है। वायु अपने अन्दर जल की अपार राशि धारण करके सारी पृथिवी पर वृष्टि कर देता है परन्तु किसी को ज्ञात नहीं होता। उसको इतनी जलराशि ऊपर ले जाने के लिए पहले बहुत तपन—गर्मी सहनी पड़ती है और उतनी गर्मी को अपने अन्दर धारण करना पड़ता है तभी वह सफल हो पाती है। वायु अपने साथ अग्नि और पृथिवी को भी लेकर उड़ता है। एक स्थान के रेत के टीले को उठा कर दूसरी तरफ रख देती है। एक स्थान की रज को दूर देश में आंधी एवं तूफान के साथ ले जाती है। वैश्य में भी वायु के समान गतिशीलता, कष्ट, तपन सहने का स्वभाव, एक स्थान से दूसरे स्थान में पदार्थों को लाने ले जाने का स्वभाव तथा सदा, जीवन भर व्यापारिक स्पन्दन, हलचल करने का गुण होना चाहिए।

उत्पादन, यातायात कार्यों, वाणिज्य व्यवसाय आदि के लिए राज्य में पृथक् विभाग हो। इसमें वैश्यों को नियुक्त करना चाहिए।

(४) **तपसे शूद्रम्**—कठोर श्रम के कार्यों द्वारा सम्पन्न होने वाले उद्योगों का कार्य, श्रम करने में समर्थ व्यक्तियों को सौंपना चाहिए। शूद्र शब्द को लोग कुछ हीन दृष्टि से देखने लगे हैं। परन्तु यह शब्द हीनार्थ द्योतक नहीं, अपितु वैदिक दृष्टि से श्रम—तप—का प्रतीक है। तप से तो प्रत्येक वस्तु पवित्र होती है। अतः हीनता द्योतक लौकिकार्थ का ग्रहण वेद में नहीं करना चाहिए। वेद ने तो—तपसे शूद्रम्—तप के लिए शूद्र का वरण करने को कहा है अतः शूद्र वर्ण का पावनत्व सिद्ध है।

श्रम के काम में श्रम करने वाले की नियुक्ति से ही योग्य नियुक्ति होगी और कार्य भी सुचारु रूप से सम्पन्न होगा। उद्योग धन्धों में जहां वैश्य की आवश्यकता है वहां शूद्र की भी आवश्यकता है। विना शूद्र के सहयोग के उद्योग धन्धे चल नहीं सकते हैं। उद्योग-धन्धे एवं श्रम प्रतिष्ठानों की आर्थिक एवं व्यापारिक नीति में वैश्यों का प्रभुत्व होना चाहिए और श्रम तथा निर्माण कार्य में शूद्रों का प्रभुत्व होना चाहिए। श्रमजीवी—शूद्र— तपस्वी वर्ग समाज का तथा उद्योग-धन्धों का आधार-स्तम्भ है।

(५) **तमसे तस्करम्**—राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के अनेक कार्यों एवं अन्धकारयुक्त क्षेत्रों में कार्य करने के लिए विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति चाहिएं जो अन्धकार में भी कार्यरत रह सकें और गुप्त रूप से भी कार्य कर सकें। अप्रकट या अज्ञात रूप से रहते हुए कार्य करना भी एक कला है।

पाण्डवों को अज्ञातवास में रहना पड़ा। यह तमस विद्या है। तमस विद्या में निपुणों की संज्ञा वेद ने तस्कर दी है। अतः गुप्त विभाग का कार्य तस्कर विभाग के अन्तर्गत समझना चाहिए और इस कार्य में निपुण तस्करों को यह कार्य सौंपना चाहिए। तस्कर शब्द चोर के लिए वर्तमान में रूढ़ हो गया है। तस्कार का अर्थ किसी प्रकार से चोर है ही नहीं। अन्धकार में या गुप्त रूप से, अप्रकट रूप से अज्ञात रहस्य के साथ कार्य करने में कुशलों की वेद की परिभाषा में तस्कर संज्ञा है। हीनार्थ में नहीं है अपितु राष्ट्र के लिए उपयोगी कार्यकर्ता होने से वह गौरवशाली व्यक्ति है। अतः वेद ने कहा—

तस्कराणां पतये नमः। (यजु० १६।२१)

तस्करों के स्वामी के लिए हमारा आदरभाव, सत्कार, उनका अन्नादि से सत्कार और नमस्कार हो। परन्तु लोक में जो चौरादि चोरी का कार्य करते हैं वे भी गुप्तरूप से, अन्धकार में ही करते हैं। अतः अन्धकार में कार्य करने या गुप्त रूप से किये जाने से उस कार्य की संज्ञा का शब्द तस्कर प्रचलित हुआ। और उसका कार्य तस्कर वृत्ति कहलाया। चूंकि लोक में प्रचलित तस्कर कर्म निन्दनीय एवं दण्डनीय है और इसके व्यापक अर्थ को लोग भूल गये। अतः यह शब्द वर्तमान समय में केवल चोर के अर्थ में रूढ़ हो गया तथा निन्दनीय अर्थ में व्यवहृत होने लगा। राष्ट्र में तस्कर विभाग गुप्त रूप से तथा गुप्त कार्यों का पता लगाने वाला आवश्यक है। इसमें इस कार्य में विशेष प्रवीण की ही नियुक्ति होनी चाहिए।

(६) **नारकाय वीरहणम्**—कारागारादि बन्धनों की व्यवस्था के लिए वीरों को भी दबाने में समर्थ व्यक्तियों को नियुक्त करे। कारागार के बन्धनों में जिन अपराधी व्यक्यिों को भेजा जाता है वे प्रायः बड़े साहसी, उद्दण्ड एवं बलवान् होते हैं। अतः उनको भी जो अपने नियन्त्रण में रख सकें ऐसे **'वीरहणम्'** पुरुष की कारागार की व्यवस्था के लिए नियुक्ति होनी चाहिए। शासन को चाहिए कि कारागृह विभाग एवं उसके लिए उपयुक्त योग्यता के प्रशिक्षण की व्यवस्था करके प्रशिक्षित व्यक्तियों की इस विभाग में नियुक्ति करे या इस कार्य में नियोजित करे।

(७) **पाप्मने क्लीबम्**—राष्ट्र में अपराधों को रोकने के लिए केन्द्रों का स्थापन होना चाहिए जिससे पाप की वृत्तियाँ क्लीबत्व, निर्वीर्यता, निस्तेजता एवं पुरुषार्थहीनता को ही प्राप्त हो जावें। उनका उन्मूलन हो जावे एवं उनका उद्गम ही न हो। यह कार्य सदाचार सम्बन्धी प्रवचनों, शिक्षण-केन्द्रों, दण्ड प्रदर्शनादि द्वारा जनता के मन को ही अपराधों के प्रति स्वयं घृणा के भाव जाग्रत् करने से होगा। प्रजा को आचारवान् बनाने का यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण कार्य है।

दूसरा प्रकार दण्ड-प्रदर्शन का है। जिसको—'पाप्मने सैलगम्' (यजु० ३०। १८) बताया है। साम नीति के अनुसार—'पाप्मने क्लीबम्' का विभाग कार्य करे और दण्डनीति के अनुसार—'पाप्मने सैलगम्'—का विभाग कार्य करे। 'पाप्मने क्लीबम्' की प्रणाली से जनता का नैतिक स्तर उच्च बनता है। अतः राष्ट्र में यह विभाग होना चाहिए इससे अपराधों की न्यूनता होती है।

(८) **आक्रयाया अयोगूम्**—जिन स्थानों पर प्राणियों का अत्यधिक आवागमन है और अनियन्त्रित स्थिति है वहाँ पर लोह नियन्त्रण करने वालों की नियुक्ति की जानी चाहिए। यातायात मार्गों, मेलों और अनियन्त्रित जनता की स्थिति आदि में यातायात नियन्त्रक इस विशिष्ट विभाग के कार्य की आवश्यकता राष्ट्र को रहती है। अतः राष्ट्र में यह विभाग होना चाहिए और इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को प्रशिक्षण द्वारा तैयार करके यह कार्य उन्हें सौंपना चाहिए।

(९) **कामाय पुंश्चलूम्**—कामवासना के नियन्त्रण के लिए व्यभिचारी एवं व्यभिचारिणी के निन्दनीय, अशोभनीय, हानिकारक, पतित जीवन एवं उसके परिणामों का दर्शन करना चाहिए जिससे व्यभिचार की प्रवृत्ति समाज में या राष्ट्र में जाग्रत् न हो। तथा जो व्यक्ति व्यभिचारादि कर्म करके समाज में पतित आचार को प्रोत्साहित करते हैं या समाज को दूषित करते हैं उनपर शासन की ओर से कठोर दृष्टि और नियन्त्रण का विभाग होना चाहिए। समाज एवं राष्ट्र को व्यभिचार दोष से छुड़ाना शासन का धर्म है। सदाचार धर्म है। आज के उछृङ्खल जीवन में सदाचार उपहास की वस्तु हो गया है जिससे ब्रह्मचर्य का शब्द, शब्दकोश की ही सीमा में रह गया है।

(१०) **अतिक्रुष्टाय मागधम्**—किसी कार्य के अत्यन्त विरुद्ध या अनुकूल प्रचार के लिए इसका विभाग होना चाहिए जिसे मागध संज्ञा दी जा सकती है। उसमें इस कार्य में कुशल व्यक्तियों को जो परम्परागत प्रत्येक कार्य या प्रमुख व्यक्तियों के इतिहास को जानने वाले एवं सुरक्षित करने वाले हों और कुशलता से उसको गीतादि द्वारा भी प्रकट करके कार्य को सिद्ध कर सकते हों उनको तथा अन्य प्रचारादि के द्वारा कार्य को सिद्ध कर सकें उनको इसके लिए नियुक्त करे।

इस प्रकार पंचम मन्त्र में १० प्रकार की राष्ट्र में कार्य करने वालों की नियुक्तियां करने वालों को लिखा है। इसी के आगे और भी मन्त्रों में निम्न प्रकार वर्णन है—

(११) **नृत्यविभाग**—इसके लिए—नृत्ताय सूतम्—नृत्य कर्म के लिए सूत की नियुक्ति करे।

(१२) **संगीतविभाग**—इसके लिए—गीताय शैलूषम्—गायन, गीत आदि के लिए गायकों की नियुक्ति करे।

(१३) **धर्मविभाग**—इसके लिए—धर्माय सभाचरम्—धर्म के लिए बहुशास्त्रज्ञ सभा चतुरों की नियुक्ति करे।

(१४) **दुष्टजन-दलनविभाग**—इसके लिए—नरिष्ठायै भीमलम्—दुष्ट जनों के दलन के लिए जो भीम सदृश भयंकरों को भी शान्त करने में समर्थ व्यक्ति हों उनकी नियुक्ति करे।

(४१) **न्यायविभाग**—मर्यादायै प्रश्नविवाकम्—न्याय व्यवस्था के लिए धाराशास्त्री (वकील) को नियुक्त करे। (यजुः ३०। १०)

(४२) **हस्तिविभाग**—हाथी एवं हाथी सदृश विशालकाय एवं हाथी सदृश मध्यम गति वाले वाहनादि के संरक्षणविभाग में—अर्मेभ्यो हस्तिपम्—इनके संरक्षण में चतुरों की नियुक्ति करे।

(४३) **अश्वविभाग**—अश्व, घोड़ा आदि एवं अश्वादि सदृश तीव्र गति वाले वाहन यानादि के पालन, संरक्षण, देख रेख में कुशल—जवायाश्वपम्—अश्वादि एवं अश्व सदृश शीघ्रगामी रथ, यानादि संरक्षण व्यवस्था में कुशलों की नियुक्ति करे या उनको संरक्षण प्रदान करे।

(४४) **गोविभाग**—गौ आदि दूध देने वाले पशु जिनसे पुष्टि प्राप्त होती है ऐसे पशुओं के संरक्षण, संवर्धन आदि के लिए—पुष्ट्यै गोपालम्—गौ आदि पशुओं के पालकों को नियुक्त करे या उनको संरक्षण प्रदान करे।

(४५) **भेड़विभाग**—ऊन आदि देने वाले पशुओं की रक्षा, उत्पत्ति, वृद्धि आदि के लिए—वीर्यायाविपालम्—भेड़ रक्षण कार्य में कुशलों की नियुक्ति करे या संरक्षण प्रदान करें जिससे पराक्रम की वृद्धि हो।

(४६) **बकरीविभाग**—बकरी सदृश छोटे दूध देने वाले उपयोगी पशुओं के संरक्षण एवं वृद्धि के लिए—तेजसेऽजपालम्—बकरी पालन में कुशलों को नियुक्त करे जिससे राष्ट्र में तेज की वृद्धि हो।

(४७) **अन्नविभाग**—देश में अन्नादि उत्पत्ति के लिए—इरायै कीनाशम्—कृषकों को संरक्षण प्रदान करे।

(४८) **सुराविभाग**—विविध प्रकार के अन्न, फलादि के रसों को निष्पन्न करने एवं उनको सुरक्षित कर सब ऋतुओं एवं सब स्थानों में पहुंचाने के लिए प्रस्तुत करने की कला में कुशल—कीलालाय सुराकारम्—सुराकारों की नियुक्ति करे या उनको प्रोत्साहन, संरक्षण आदि प्रदान करे।

(४९) **गृहरक्षकविभाग**—कल्याण के निमित्त—भद्राय गृहपम्—गृह की रक्षा करने वालों को नियुक्त करे।

(५०) **अर्थविभाग**—राष्ट्र एवं समाज के कल्याण कार्यों के लिए—श्रेयसे वित्तधम्—अर्थ विभाग में धनवान् पुरुषों को नियुक्त करे।

(५१) **सारथ्यविभाग**—राष्ट्र के रथ, वाहन, यान, विमान आदि के संचालन निरीक्षण कराने में कुशल—आध्यक्षायानुक्षत्तारम्—अनुकूल सारथियों को राष्ट्र में नियुक्त करे। (यजुः ३०। ११)

(५२) **इंधनविभाग** राष्ट्र की इंधन समस्या के हल के लिए—भायै दार्वाहारम्—लकड़हारों को नियुक्त करे।

(५३) **प्रकाशविभाग**—ग्राम, नगरादि की प्रकाश व्यवस्था के लिए—प्रभाया अग्न्येधम्—अग्नि प्रदीप्त करने वाले को नियुक्त करे।

(५४) **सूर्यरश्मिमार्ग-सेचकविभाग**—सूर्य की रश्मियों के ताप से रक्षा के लिए—ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेकारम्—छिड़काव, सेचन आदि कार्यों द्वारा वातानुकूलित शीतल स्थानों का निर्माण करने में कशलों की नियुक्ति करे।

(५५) **सौख्य-वितरणविभाग**—राष्ट्र में सुख साधनों का वितरण उचित रूप से सब को प्रदान करने के लिए—वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्—उत्तम परोसागर, वितरकों को नियुक्त करे।

(५६) **विद्वद्-गणनाविभाग**—राष्ट्र में विविध विद्या एवं कलाओं के ज्ञाताओं का वर्गीकृत ज्ञान रखने वालों को—देवलोकाय पेशितारम्—नियुक्त करे।

(५७) **जनगणनाविभाग**—राष्ट्र की सब प्रकार से उन्नति करने के लिए जनगणना एवं अन्य प्रकार की गणनाओं का बहुत महत्त्व है। गणना का कार्य प्रसारित कार्य है। इस बहुप्रसारित कार्य के लिए इस प्रसारण कार्य में कुशल जनों की नियुक्ति करे जैसा कि—मनुष्यलोकाय प्रकरितारम्—इस वाक्य में बताया है।

(५८) **सिंचाई विभाग**—राष्ट्र में सिंचाई कार्य के लिए सबको सुविधा पहुंचाने के लिए—सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारम्—उपसेवन कार्य में कुशल की नियुक्ति करे।

(५९) **वस्त्र-प्रक्षालनविभाग**—जन सम्पर्क आदि कार्यों में अपने वस्त्र तो शुद्ध होने ही चाहिएँ परन्तु जनता के भी वस्त्रों की शुद्धता, पवित्रता भी ठीक प्रकार की बने इसके लिए—मेधाय वासः पल्पूलीम्—वस्त्र प्रक्षालन करने वाली स्त्रियों को नियुक्त करे।

(६०) **रंग-पुताईविभाग**—राष्ट्र में रंगाई पुताई आदि द्वारा स्वच्छता एवं सौन्दर्य वृद्धि के लिये—प्रकामाय रजयित्रीम्—रंगने आदि कार्य में कुशल की नियुक्ति करे। (यजुर्वेद ३०।१२)

(६१) **गुप्त हिंसाविभाग**—राष्ट्र के लिए विघ्नकारी अवांछनीय तत्त्वों को नष्ट कराने के लिए या शत्रु के जनपद या उसके सैन्य शिविरों में हत्या के लिए—ऋतये स्तेनहृदयम्—जो अपने हृदय में रहस्य को छिपाकर, गुप्त रूप से हत्यादि कार्य करने में कुशल हो उनको नियुक्त करे। इसी प्रकार वैर हत्या कार्य के लिए—वैरहत्याय पिशुनम्—चुगली करने, निन्दा करने में कुशल हैं, जो अकारण ही दो व्यक्तियों में वैर विरोध कराकर हिंसा को भड़काते हैं उनकी नियुक्ति करे तथा—विविक्त्यै क्षत्तारम्—जो कूटनीति, भेदभाव उत्पन्न करने में कुशल हैं उनकी नियुक्ति करे।

(६२) **निरीक्षणविभाग**—राष्ट्र में जितने भी कार्य होते हैं उनका सम्यक्तया निरीक्षण होना चाहिए अतः—औपद्रष्ट्र्चातानुक्षत्तारम्—योग्य निरीक्षकों की नियुक्ति करनी चाहिए।

(६३) **सहायक बलविभाग**—राष्ट्र में सेना, आरक्षीदल आदि तो होते ही हैं परन्तु जनता को अपना अनुगामी बनाकर उसमें जो बल अपने पक्ष के व्यक्तियों का होता है वह—बलायानुचरम्—के अन्तर्गत है।

(६४) **गर्भाधानविभाग**—स्वाभाविक या कृत्रिम गर्भाधान-केन्द्रों के स्थापन द्वारा पशुओं की वृद्धि एवं उनकी जाति के सुधार के लिए—भूम्ने परिष्कन्दम्—के अन्तर्गत कार्य सम्पन्न होगा। उसमें इस कार्य के कुशलों की नियुक्ति हो।

(६५) **मधुर सम्पर्कविभाग**—राष्ट्र का मधुर सम्पर्क विभाग प्रजाजनों के साथ मधुर एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों के लिए—प्रियाय प्रियवादिनम्—के अन्तर्गत हो और मधुरभाषियों की उसमें नियुक्ति हो।

(६६) **मनोरंजन का विभाग**—विशिष्ट सुख विशेष के स्थानों पर व्यवस्था के लिए कर संग्रह-कर्त्ताओं की नियुक्ति—स्वर्गाय लोकाय भागदुघम्—के अन्तर्गत करनी चाहिए।

(६७) **सामाजिक कल्याणविभाग**—दीर्घकालीन सुख प्रजा को प्राप्त हो इस निमित्त—वर्षिष्ठाय-नाकाय परिवेष्टारम्—के अनुसार परिवेष्टा (विशेषज्ञ विद्वान्) की नियुक्ति करे। (यजुः ३०।१३)

(६८) **गुप्त क्रोधविभाग**—राष्ट्र का मन्यु गुप्त भी रखना पड़ता है और ऊपर से सौहार्द की बातें देश के आन्तरिक एवं बाह्य कार्यों के लिए करनी पड़ती है। यह नीति का कार्य है अतः—मन्यवेऽयस्तापम्—के अन्तर्गत ऐसे ही व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिए जो अपने मानसिक रोष को अपने भीतर सहन कर सकें और अपने लक्ष्य पर आघात करके कार्य को अपने अनुकूल और सुन्दर बना लें जिस प्रकार की स्वर्णकार अग्नि के तेज को सहनकर स्वर्णादि धातुओं को गलाकर अपने अनुकूल ढालकर सुन्दर अलंकार बना देता है।

(६९) **आक्रमणविभाग**—जिनके प्रति हमारी शत्रुता है या जो हमसे द्वेष रखकर आक्रमणादि करते हैं उनके प्रति आक्रमण के लिए—क्रोधाय निसरम्—आक्रमणकारी को नियुक्त करे।

(७०) **योगविभाग**—राष्ट्र में योग सीखने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए योग-शिक्षाविभाग होना चाहिए जिससे आध्यात्मिक शक्तियों की राष्ट्र में जागृति हो। इस विभाग की स्थापना से जनता बहुत उच्च कोटि की बनती है अतः—योगाय योक्तारम्—के अनुसार इस कार्य की स्थापना से यम—नियमादि का व्यवहार भी प्रचलित होता है जो जनता के आचार को पवित्र करने वाला है।

(७१) **समवेदनाविभाग**—शासन की ओर से स्वदेश एवं विदेश के व्यक्तियों की दुर्घटना, मृत्यु, विपत्ति आदि के अवसरों पर समवेदना प्रकट करने के कार्य के लिए—शोकायाभिसर्त्तारम्—के अनुसार विभाग स्थापित करके योग्य व्यक्ति को नियुक्त करना।

(७२) **स्वागतविभाग**—राष्ट्र में विशेष अतिथियों के आगमन या उनके जाने पर या राष्ट्र के विशिष्ट व्यक्तियों के यात्रा, दौरे आदि पर जाने पर कुशलपूर्वक विदा करने और स्वागतादि के लिए—क्षेमाय विमोक्तारम्—मन्त्र पद इस विभाग की स्थापना और उसमें कुशल व्यक्ति की नियुक्ति करनी चाहिए का संकेत दे रहा है।

(७३) **दुर्गमगन्ताविभाग**—राष्ट्र में अनेक ऐसे स्थान ऊंचे, नीचे नदी के किनारे के सदृश खादर एवं पर्वतीय स्थान हैं जहां मार्ग निर्माण संभव नहीं है परन्तु वहां पर भी पहुंचने के लिए—उत्कूल-निकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनम्—जल-स्थल एवं नभ में गमन करने में प्रशिक्षित को नियुक्त करे।

(७४) **शरीरविभाग**—इसके द्वारा शरीर को सुसंगठित, बलवान्, आरोग्य, बुद्धिमान्, व्यायामादि कलाओं तथा आसनों से योग्य, आदि बनाने के लिए—वपुषे मानस्कृतम्—विचारक व्यक्तियों को नियुक्त करना चाहिए—जिससे वे विविध प्रकार के खेल, कूद, व्यायाम, आसनादि द्वारा शरीर को योग्य बना सकें।

(७५) **चित्रकलाविभाग**—चित्रों के द्वारा मनुष्यों के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है अतः—शीलायाञ्जनीकारीम्—सुन्दरशील स्वभाव के निर्माण के लिए चित्रकारिणी की नियुक्ति करे।

(७६) **आपत् कोषविभाग**—राष्ट्र को अनेक आपत्तियों के समय द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है अतः—निर्ऋत्यै कोशकारीम्—के अनुसार विपत्ति के समय कोषवृद्धिकारीनीति अंगीकार कर इस कार्य में कुशल की नियुक्ति करे।

(७७) **दण्डविभाग**—अपराधियों को दण्ड देने के लिए—यमायासूम्—पक्षपात रहित व्यक्ति को नियुक्त करे।

(यजुर्वेद ३०।१४)

(७८) **संविधान-निर्माणविभाग**—समय-समय पर राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर तथा जनता की सुविधा को देखकर नियम, उपनियमादि बनाने के लिए—यमाय यमसूम्—नियमोपनियम बनाने में कुशल की नियुक्ति करे।

(७९) **गर्भ-विज्ञानविभाग**—इसके अंतर्गत गर्भ की विविध स्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पृथक्-पृथक् प्रजनन काल भेद से विलंबित रूप से प्रसव करने वालियों का संग्रह करके उसके कारणों का ज्ञान प्राप्त करना जैसा कि—अर्थर्वभ्योऽवतोकां संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जरां संवत्सराय पलिक्नीम्—इसमें वर्णन है।

(८०) **चर्मविभाग**—राष्ट्र के पशुओं के चर्म का विविध प्रकार से उपयोग लेने के लिए—ऋभुभ्योऽजिनसंधँसाध्येभ्यश्चर्मम्नम्—के अनुसार चर्म-सन्धाता और चर्म-कार्य में कुशलों की नियुक्ति करे। (यजुः ३०।१५

(८१) **सरोवरविभाग**—तालाब, सरोवर आदि राष्ट्र की सम्पदा हैं। इनकी सुरक्षा, व्यवस्था के लिए—सरेभ्यो धैवरम्—धीवरों की नियुक्ति करे।

(८२) **उपवनविभाग**—उपवनों के लिए सेवक को नियुक्त करे—उपस्थावराभ्यो दाशम्।

(८३) **दलदल-भूमिविभाग**—राष्ट्र की दलदल भूमियों का ज्ञान, उसकी सीमा का अङ्कन तथा उसको वासयोग्य या कृषियोग्य बनाने के लिए—नड्वलाभ्यः शौष्कलम्—दलदल को सुखाने की विद्या जाननेवाले की नियुक्ति करे।

(८४) **नौ-प्रशिक्षणविभाग**—नाव आदि द्वारा नदी तालाब आदि में शिक्षण की व्यवस्था करने तथा जल के आर पार ले जाने के लिए—अवाराय कैवर्त्तम्—मल्लाहों को नियुक्त करे।

(८५) **सेतुबन्धविभाग**—राष्ट्र में नदी नालों के पुलों का निर्माण एवं उनके निरीक्षण के लिए—तीर्थेभ्य आन्दम्—पुल बनाने वालों को नियुक्त करे।

(८६) **जल-गहराई-मापकविभाग**—तालाब, सर, नदी, नद, समुद्रादि में विविध स्थानों पर कितनी गहराई है इस ज्ञान के लिए—विषमेभ्यो मैनालम्—मत्स्य विद्या में निपुणों की नियुक्ति करे।

(८७) **वन्य शब्द-ज्ञानविभाग**—पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पतियों के विविध शब्दों के ज्ञान के लिए—स्वनेभ्यः पर्णकम्—भील आदि वन जाति के व्यक्तियों को नियुक्त करे।

(८८) **गुहाविभाग**—भूगर्भ में निवास स्थान बनाने एवं उनका उपयोग करने के लिए—गुहाभ्यः किरातम्—किरातों को नियुक्त करे।

(८९) **पर्वत-मार्गविभाग**—इसके द्वारा पर्वतों पर मार्ग बनाने और पर्वतीय कार्यों के लिए सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम्—पर्वतों को काट कर मार्ग बनाने वाले तथा वनवासियों को नियुक्त करें। (यजु० ३०।१६)

(९०) **बीभत्स-कर्मविभाग**—बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जो बीभत्स होते हैं। उन कार्यों को सब व्यक्ति नहीं कर सकते। उनको करने के लिए वैसे ही व्यक्ति चाहिएं जो बीभत्स काम को निःसंकोच, सरलता से कर सकें—इसलिए—बीभत्साये पौल्कसम्—भंगी या वन्य, जंगली व्यक्ति जिनको अभ्यास हो उनको नियुक्त करे। राज्य में सब प्रकार के अच्छे बुरे कार्य कराने पड़ते हैं अतः इनकी भी आवश्यकता रहती है। उनकी भी गणना होनी चाहिए। उनका भी पोषण राज्य से होना चाहिए।

(९१) **अलंकार-निर्माणविभाग**—सुवर्णादि के अलंकार, आभूषणों की परीक्षा, निर्माण आदि के लिए—वर्णाय हिरण्यकारम्—स्वर्णकार की नियुक्ति करे जिससे वर्ण रूप सम्पादन होता रहे।

(९२) **तौलविभाग**—राज्य में नाप-तौलविभाग होना चाहिए जिस से तौल नाप का प्रमाणीकरण कार्य हो और पदार्थों को तौला या मापा जा सके अतः—तुलायै वाणिजम्—तौल के कार्य के लिए वैश्य को नियुक्त करे।

(९२) **कुष्ठविभाग**—इस विभाग के द्वारा सब प्राणियों के हित के लिए कुष्ठियों को एक स्थान पर रख कर कुष्ठ रोग को प्रजा में न फैलने देने के लिए प्रयत्न करना और उन पर उपचार के परीक्षण करके जनता का हित करने के लिए—विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलम्—के अनुसार यह विभाग बनाना।

(९४) **उपद्रवविभाग**—इस विभाग द्वारा राजनीति की भेद नीति के अन्तर्गत उपद्रव भी कराने पड़ते हैं और एतदर्थ बकवादी व्यक्तियों का ऐसे समय उपयोग लेना होता है अतः—आर्त्यै जनवादिनम्—की नीति के अनुसार बकवादी को नियुक्त करे। (यजुः ३०।१७)

(९५) **घोषणाविभाग**—राजकीय घोषणा तथा प्रजाजनों की घोषणा के प्रसारार्थ कुशल घोषणा-प्रसारक इस कार्य को करने में समर्थ होते हैं। अतः—घोषाय भषम्—बड़ी आवाज वाले या वाचाल को नियुक्त करे।

(९६) **सिद्धान्त-पोषणविभाग**—राजकीय सिद्धान्तों या कार्यशैली को समुचित रीति से जनता के मध्य समझाने एवं उपस्थित करने के लिए—अन्ताय बहुवादिनम्—बहुभाषी को नियुक्त करे।

(९७) **वाद्यविभाग**—अनेक प्रकार के वाद्यों की उपस्थिति एवं उनके प्रयोक्ताओं को राज्य को आश्रय देना चाहिए। अतः कहा—

शब्दायाडम्बराघातम्—शब्द के लिए ढोल बजाने वाले को नियुक्त करे।

महसे वीणावादम्—महोत्सवों के लिए वीणावादकों को।

क्रोशाय तूणवध्मम्—आक्रोश के लिए भेरी वाले को।

अवरस्पराय शंखध्मम्—आर पार ध्वनि पहुंचाने के लिए शंख बजाने वाले को नियुक्त करें।

(९८) **वनविभाग**—राज्य के वनों की रक्षा आदि के लिए तथा वन्य सम्पदा के संशोधन के लिए यह विभाग आवश्यक है अतः कहा—वनाय वन्यपम्—वन के लिए वनपाल को नियुक्त करे।

अन्यतोरण्याय दावपम्—वनों के लिए अग्नि से रक्षा वरने वालों को नियुक्त करे। (यजु० ३०।१९)

(९९) **बहुरूपियाविभाग**—राज्य के आवश्यक अंगों में यह भी है इस कार्य की अनेक अवसरों पर अवश्यकता रहती है। उपहासादि के लिए वेद में इसका प्रयोग लिखा है—हसाय कारिम्।

(१००) **जलजन्तुविभाग**—जल जन्तुओं का संरक्षण, संग्रहालय आदि अनेक रूप कार्यों के लिए—यादसे शाबल्याम्—शबल जाति विशेष व्यक्ति को नियुक्त करे।

(१०१) **आतिथ्यविभाग**—इस विभाग में, ग्राम नेता, ज्योतिषी एवं सूचना देने वालों को नियत करे—जैसा कि—ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे—इसमें लिखा है।

(१०२) **वाद्य-नृत्यविभाग**—इसमें वीणा बजाने वाले, ताली बजाने वाले, तबला बजाने वाले, मजीरा बजाने वाले आदि को आनन्द मंगल कार्यों के लिए रखे, जैसा कि—वीणावादं पाणिघ्नं-तूणवध्मं तान्नृतायानन्दाय तलवम्—इस मन्त्र पद में है। (यजु० ३०।२०)

इसी प्रकार अग्निविभाग, पृथिवीविभाग, वायुविभाग, आकाशविभाग, द्युलोकविभाग, सूर्य-विभाग, नक्षत्रविभाग, चन्द्रविभाग, दिनरात्रिविभाग, तथा और भी बहुत से विभागों का इसमें उल्लेख मिलता है। राज्य में तो इनका कम-से-कम एक व्यक्ति प्रमुख रूप से अपने-अपने कार्य का प्रतिनिधि रूप से रहे और प्रजा के मध्य भी इस प्रकार के व्यक्ति रहें। अर्थात् राष्ट्र में बहुविध प्रवृत्तियां एवं उनके गुणी जन होने चाहिएं।

यजुर्वेद के १६वें अध्याय में भी इसी प्रकार बहुत से शासनाधिकारियों के नाम आते हैं। इस तीसवें अध्याय में नियुक्तियों का क्रम ब्राह्मण से प्रारम्भ होता है। ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय की नियुक्ति और उसके बाद वैश्य और शूद्र की नियुक्ति का क्रम है। इन्हीं चारों वर्णों में से अन्य सब गुण वालों की नियुक्तियां हैं।

राष्ट्र के लिए वर्ण-व्यवस्था

यदि शासन इन चार वर्णों को जो शासन के सर्व प्रकार से आधार-स्तम्भ हैं, अपने-अपने कार्य में नियोजित करे तो इनको राज्याश्रय प्राप्त होने से रुचि होगी और योग्यता की वृद्धि होगी। अतः शासन चारों वर्णों को अपने-अपने धर्म कर्म में प्रवृत्त करे। इन चारों वर्णों की आचार की पवित्रता होनी चाहिए। इसीलिए—पाप्मने क्लीबम् और कामाय पुंश्चलूम्—ये दो वाक्य या मन्त्र भाग आचार की पवित्रता के लिए रखे हैं। आचार से राष्ट्र की रक्षा होती है। जितने भी अनैतिक कार्य हो रहे हैं वे आचार की अशुद्धता से ही प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित हो रहे हैं।

आज के समाज में एवं शासन में आचार को उच्च स्थान प्राप्त नहीं है अतः भ्रष्टाचार जीवित है। वेद आचार को राष्ट्र के लिए आवश्यक मानता है जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥ (यजु० ११।५।१७)

राष्ट्र का अधिकारी राजा एवं शासक वर्ग, ब्रह्मचर्य,; सदाचार, संयम, वीर्य रक्षण के साथ विद्या-प्राप्ति के तप कर्म के द्वारा राष्ट्र के संरक्षण करने में समर्थ होता है। जहां राजन्य वर्ग के सदाचार की राष्ट्र के लिए आवश्यकता है वहां अन्य वर्गों के व्यक्तियों के लिए भी सदाचार की आवश्यकता है।

ब्राह्मणों के आचार पतित होने से राष्ट्र के मनुष्य, पशु आदि पर भी प्रभाव पड़ता है यह निम्न मन्त्र में प्रतिपादित है—

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ (अथर्व० ५।१७।१८)

अर्थात् उस राष्ट्र में गाय हितकर दूध नहीं देती तथा बैल गाड़ी की धुरा को ओढ़ने के लिए समर्थ नहीं होता कि जिस राष्ट्र में अपनी पत्नी को छोड़कर ब्राह्मण पापी स्त्री के साथ रात्रि में रहता है।

आज के राष्ट्र, आज के धुरंधर विद्वान्, आज के राजनीतिज्ञ, और आज के वैज्ञानिक ऊपर के वेद मन्त्र को बार बार पढ़ें और सोचें कि यह क्या रहस्य है। यह क्या दिव्य सन्देश है। ब्राह्मण के आचारभ्रष्ट, ब्रह्मचर्य नष्ट करने से, परस्त्री गमन करने से मनुष्य तो क्या पशुओं पर भी प्रभाव कैसे पड़ जाता है।

आज के शासक, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक और विद्वान् तो परस्त्री गमन, विषयों का सेवन, व्यभिचार आदि को कोई दोष नहीं मानते और इन बातों को मानने वालों को धर्मभीरु, पिछड़े हुए मानते हैं। सांस्कृतिक कार्यों की आड़ में विषयासक्ति एवं दुराचार को राज्याश्रय प्राप्त हो रहा है। यह प्रगतिवाद है। भोगवादी, एवं विलासी जन वेद के आचार-रहस्य को नहीं समझ सकते।

वेद परमात्मा का ज्ञान है यह मानते हुए यह पूर्ण सत्य है—यही मानकर चलना होगा और अपने पवित्र आचार से सब विश्व को पवित्र करना होगा। यदि वेदों को ऋषिकृत मानते हैं तो ऋषियों ने

इसकी रचना अनुभव के आधार पर की है ऐसा मानना पड़ेगा। तब तो यह उनका अनुभूत सत्य है। उनका यथार्थ दर्शन है। हमें उसको शिरोधार्य करना ही चाहिए।

इस प्रकार इस मन्त्र से स्पष्ट है कि दुराचार का प्रभाव कितना भयंकर पड़ता है। अतः राष्ट्र के लिए प्रजा और शासक वर्ग के आचार की शुद्धता परमावश्यक है। वेद का ब्रह्मचर्य शब्द शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक आचार की परम पवित्रता का प्रतीक है और उसके साथ श्रेष्ठ विद्या का भी द्योतक है। इसलिए राष्ट्र को ब्रह्मचर्य की सब दिशाओं एवं सब क्षेत्र में आवश्यकता है।

राष्ट्र में विविध कार्यों के विभागों में योग्य व्यक्तियों की नियुक्तियों के प्रकरण में निम्न वाक्य भी आता है—

श्रेयसे वित्तधम् । (यजुः ३०। ११)

अर्थात् राष्ट्र के कल्याण के लिए धन को संग्रह करने व रक्षण करने वालों को नियुक्त करे। अर्थात् प्रजा का भी कोष बल हो और राष्ट्र का भी राष्ट्रीय कोष होना चाहिए, अर्थमन्त्री या अर्थाध्यक्ष होना चाहिए। आय व्यय व्यवस्था और अर्थनीति ठीक रीति से चले। परन्तु विशेष आवश्यकता या आपत्ति के समय के लिए सामान्य कोष के अतिरिक्त विशेष कोष की आवश्यकता हो जाती है अतः ऐसी स्थिति के लिए—

निर्ऋत्यै कोषकारीम् । (यजुः ३०। १४)

विपत्ति के समय, उस निमित्त कोष वृद्धिकारी नीति को राष्ट्र संचालकों को अपनाना चाहिए अर्थात् विपत्ति के लिए आपद् कोष भी रहना चाहिए जिससे राष्ट्र की रक्षा हो।

राष्ट्र के सामान्य व्यय एवं आपत्कालीन व्यय के लिए राष्ट्र की निधि की पूर्ति राष्ट्र की सम्पदा से, राष्ट्र के व्यक्तियों की आय से पूर्ति करनी होगी। राष्ट्र को अपनी जल-सम्पदा, समुद्र-सम्पदा, वन-सम्पदा, पृथिवी-सम्पदा, वायु-सम्पदा, अग्नि-विद्युत-सम्पदा का प्रजा के उपयोग के लिए, उद्योग धन्धों के लिए, व्यापार व्यवसाय के लिए प्रजा को देना होगा। उस पर व्यापार का अपना ही प्रभुत्व नहीं रखना होगा। शासन तो उस आय में से अपना कर रूपी भाग ग्रहण करेगा। जिस शासन में ऐसा नहीं होगा और शासन ही एकतन्त्र रूप से व्यवसायकर्त्ता भी बन जावेगा तो वहाँ की प्रजा, प्रजा रूप में न रह कर केवल मात्र शासन की नौकर मात्र रह जावेगी। वहां प्रजातन्त्र नहीं रहेगा—नौकरतन्त्र रहेगा शासन कर भाग ग्रहण करे इस बारे में वेद ने कहा—

स्वर्गाय लोकाय भागदुघम् । (यजुः ३०। १३)

अर्थात् सुख विशेष के स्थानों, मार्गों, प्रकारों एवं कार्यों पर राष्ट्र को नियत कर भाग का प्रजा से दोहन करना होगा। यही भागदुघम्—से प्राप्ति राशि राजस्व है। राज्य का—राष्ट्र का स्व अर्थात् अपना भाग है। इसी कर-नीति के आधार पर, सामान्य कोष सुरक्षा निधि, आपत् कोष आदि राष्ट्र के पास संग्रह हो पाते हैं और होने चाहिएं जिससे राष्ट्र के सब विभागों का कार्य व्यवस्थित रूप से चल सके।

सुरक्षा

ब्रह्मचर्य की आवश्यकता

राष्ट्र को अपनी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिए। जो राष्ट्र अपनी आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा नहीं कर सकता वह समाज या राष्ट्र जीवित ही कैसे रह सकता है। वेद कहता है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। (अथर्व० ११।५।१७)

राजा ब्रह्मचर्य रूपी तप के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है। आज राष्ट्र की रक्षा के लिए इस मूल मन्त्र को भूल कर राष्ट्रों ने अनेक अस्त्र-शस्त्र, सेना बल का संग्रह किया है, परन्तु ब्रह्मचर्यरूपी तप का बल एकत्र नहीं किया है। जिस राष्ट्र के पास अन्य सब अस्त्र शस्त्र, सेना बल के साथ ब्रह्मचर्य का भी बल होगा वह राष्ट्र सब से बलवान् एवं प्रतापी होगा।

असुर एवं राक्षस वृत्ति का तथा ऐसे व्यक्तियों से रक्षा

राजा जब ब्रह्मचारी होगा तो राजसेवक भी सब ब्रह्मचारी होंगे। राजा के दुराचारी होने से शासन में दुराचार फैलेगा, प्रजा में अनाचार फैलेगा। अतः राष्ट्र की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य का तप चाहिए। दुराचारी रक्षक दुराचार के वशीभूत होकर राष्ट्र की यथार्थ में रक्षा नहीं कर सकते हैं। जब हम अपने पर ही आक्रमण करने वाले कामासुर को नष्ट नहीं कर सकते तो जो दूसरे असुर, राक्षस वृत्ति के विध्वंसक व्यक्ति या शत्रु हैं उनको कैसे नष्ट कर सकेंगे? वेद कहता है—

अपहता असुरा रक्षाᳬसि वेदिषदः। (यजु:० २।२९)

जो पृथिवी पर असुरवृत्ति के व्यक्ति हैं और राक्षसवृत्ति के व्यक्ति हैं या जो आसुर भाव एवं राक्षस भाव हैं वे नष्ट करने योग्य हैं, निश्चय से वे उन्मूलन करने योग्य हैं। अतः राष्ट्र के व्यक्तियों में आसुर भाव, दुष्ट भाव, राक्षस भाव एवं विघातक भाव उत्पन्न ही नहीं होने देना चाहिए और यदि किसी कारण ऐसे असुर या राक्षसवृत्ति वाले व्यक्ति राष्ट्र में जाग्रत् हो जावें तो उनको दण्डादि द्वारा नष्ट कर देना भी राष्ट्र का कर्त्तव्य है।

असुर एवं राक्षस दण्डनीय हैं

वेद इस प्रकार के दण्डनीय व्यक्तियों के वध करने का स्पष्ट आदेश देता है—

इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि। (यजु० ६।१)

मैं राष्ट्र के अन्दर विद्यमान विनाशक व्यक्तियों की गर्दन को काटता हूं। विना इस नीति के राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती। यदि असुर एवं राक्षस राष्ट्र में बढ़ जायेंगे तो पग-पग पर उत्पात होंगे। राष्ट्र में अनीति का प्रचार बढ़ेगा। अन्याय और पापाचारों की वृद्धि होगी। प्रजा में दुःख, आतंक और असुरक्षा का वातावरण फैल जाएगा। अतः शासन में सुरक्षा के लिए दण्डनीति अत्यावश्यक है। इसीलिए शास्त्रकारों को 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः' वेदों का शासन कार्य के लिए सार रूप में लिखना पड़ा। अध्यात्मविद्या में रत ब्रह्मनिष्ठ योगियों ने भी सृष्टि विद्या में इसका दर्शन करके कहा—भीषा-

द्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। —वायु भय से ही बह रहा है । इसको भय न हो तो यह ठहर जावे । सूर्य भी भय से उदित होता है । यदि उसे भय न रहे तो वह भी आलसी, प्रमादी बन जावे । विद्युत् और अग्नि भय से ही अपना कार्य कर रहे हैं और मृत्यु भी भय के ही कारण इधर से उधर दौड़ती फिरती है । इन सब को किसका भय है । अपने से महान् शक्तिशाली परब्रह्म का इनको भय है । अर्थात् ब्रह्माण्ड का शासन उसके शासक के भय के कारण चल रहा है । उसी प्रकार हमारे शासन में भी शासक का भय दण्डनीति के कारण होना चाहिए ।

दण्डनीति शासन में सुरक्षा के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है । वेद ने कहा है—

ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना असुराः अन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ।। (यजुः २।३०)

ऐसे दुष्ट व्यक्ति जो भीतर से तो असुर वृत्ति के हैं और ऊपर से अपने रूप को, अपने आन्तरिक हृदयगत भावों को बाह्य रूप में बदल कर अपनी राष्ट्रीय उपयोगिता प्रकट करके राष्ट्र में अपना स्वार्थ-साधन करने में लिप्त हैं, ऐसे व्यक्ति राष्ट्र का अहित करने वाले हैं । अतः जो राष्ट्र की अग्नि है, उसका जो तेज है, उसकी मन्यु रूपी जो अग्नि है या दण्डनीति रूप जो राष्ट्र की अग्नि है वह ऐसे गुप्त असुरों को इस लोक से ही दूर कर दे– अर्थात् विनष्ट कर दे । इस लोक में उन्हें अस्तित्वहीन ही कर दे ।

शासक के गुण

राष्ट्र को इस प्रकार सुरक्षित करने के लिए प्रजा को चाहिए कि वह अपने अग्रनायक राजा, राष्ट्रपति या सेनापति को नियुक्त करें तथा ऐसे सेनापति या राजा में क्या गुण होने चाहिए यह निम्न मन्त्र में प्रकट किया गया है :—

नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ।। (यजु० ११।७६)

जो हमारा राजा या राष्ट्रपति हो या सेनाध्यक्ष हो, जिसको हम इस पद पर बुलाते हैं या इस पद पर प्रतिष्ठित करते हैं उसको—बृहते रायस्पोषाय—राष्ट्र की महान् लक्ष्मी के पोषण के लिए — पृथिव्या नाभौ—राष्ट्र के मध्य, केन्द्रीय पद पर—समिधानेऽअग्नौ—राष्ट्र की आत्मा रूपी अग्नि में, अथवा राष्ट्र की सेना के मन्यु रूपी अग्नि में—पृतनासु सासहिम्—सेनाओं में अत्यन्त सहनशील—इरम्मदम्—अन्नादि से आनन्दित होने वाले—बृहदुक्थम्—बड़ी प्रशंसा से युक्त—यजत्रम्—संग्रामादि करने योग्य—अग्निम्—विद्युत् समान शीघ्रता से संगति करने वाले, जेतारम्—विजयशील, इस गुणों से युक्त होना चाहिए ।

इस मन्त्र में भी समिधानेऽअग्नौ—अच्छी प्रकार प्रज्वलित अग्नि को विजय के लिए, रक्षा के लिए बताया है । इस मन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि जिससे राष्ट्र की लक्ष्मी बढ़े, जो सहनशील हो, स्वयं अन्न मात्र से सन्तुष्ट होने वाला हो, संग्रामादि विद्याओं में निपुण हो, शीघ्रकारी हो और जयशील हो ऐसा सेनापति बनाना चाहिए या राष्ट्रनायक बनाना चाहिए । ऐसा राष्ट्रनायक ही शत्रुओं एवं दुष्टों पर विजय प्राप्त कर सकेगा । उन्हें अच्छी प्रकार दण्ड भी दे सकेगा । इस प्रकार राष्ट्र की सुरक्षा बनी रहेगी और शासन सुदृढ़ हो सकेगा ।

सुरक्षा के लिए न्याय एवं दण्डरूपी अग्नि

सुरक्षा के लिए अग्नि का निम्न मन्त्र में भी वर्णन है—

याः सेनाऽअभित्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत ।
ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये ।। (यजु० ११।७७)

या अभित्वरीराव्याधिनीरुगणा सेना—जो सम्मुख होकर युद्ध करने कराने वाली, बहुत प्रकार के उपद्रवों से युक्त, कलेश देने वाली, शस्त्रों को लेकर विरोध में उद्यत हुई सेना है,
उत ये स्तेना—और जो सुरंग लगाकर, या दूसरों के पदार्थों को हरण करने वाले हैं,
ये च तस्करा:—जो कपट आदि द्वारा या अन्धकार में गुप्त रूप से कार्य करके हानि करने वाली सेना है,
तांस्ते अग्नेआस्ये अपिदधामि—उनको राष्ट्र की जो दण्डनीति रूप अग्नि या जो सेना की मन्युरूपी अग्नि है उसमें जला कर नष्ट करता हूं।

अग्नि जिस प्रकार से पदार्थों को भस्म कर देती है या जठराग्नि में पड़कर जैसे कोई वस्तु पच कर आत्मसात् हो जाती है, उसी प्रकार राष्ट्र रूपी अग्नि के मुख में शत्रुओं और दुष्टों को रखकर दण्डनीति का विधान वेद निम्न मन्त्र में सुरक्षा के लिए कर रहा है।

दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून जम्भ्यैस्तस्करां २ उत ।
हनुभ्याँ स्तेनान्भगवस्तांस्त्वं खाद सुखादितान् ।। (यजु० ११।७८)

हे भगवंस्त्वं जम्भ्यै दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून—हे ऐश्वर्य वाले सभा सेना के स्वामी ! आप राष्ट्र में अपराधियों को पकड़ने के विविध साधनों से मलिन आचरण करने वालों को,
उत हनुभ्यां स्तस्करान्सुखादितांस्तां स्तेनान् खाद—और कठोर पकड़ के साधनों से चोरों के समान वर्तमान अन्याय से दूसरों के पदार्थों को भोगने वाले हैं, उन रात्रि में सुरंग आदि लगा कर फोड़ तोड़ करके पराया माल मारने वाले मनुष्यों को जड़ से नष्ट कर दे।

इस प्रकार इस मन्त्र में राष्ट्र के जीभ, मुख, दाढ़, दांत, मसूड़ों आदि के द्वारा खाने का वर्णन आलंकारिक रूप से वर्णित है। जिस प्रकार मुख में रखी हुई वस्तु चबाकर नष्ट कर दी जाती है और उसको पेट में उतार कर पचा दिया जाता है, उसी प्रकार दुष्टों को कठोर रूप से पकड़ने में और उनको नष्ट कर देने का यहां मन्त्र में राष्ट्र रक्षार्थ संकेत है। इसी प्रकार का वर्णन निम्न वेद-मन्त्र में भी है—

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः ।। (यजु० ११।७९)

हे राष्ट्रपते ! मैं दण्डाध्यक्ष, जो मनुष्यों में मलिन स्वभाव वाले हैं, गुप्त वीर हैं, जो वनों में डाकू, लुटेरे आदि हैं और जो मकानों में गुप्त रूप से पापमय जीवन-यापन करते हैं, उन सबको आपकी दण्डनीति के मुख में धरता हूं।

अर्थात् राष्ट्र के अन्दर मलिन स्वभाव वाले चोर, दुष्ट, डाकू, ठग, लुटेरे एवं पाप वृत्ति के जो व्यक्ति हैं उनको अच्छी प्रकार पकड़ कर कठोर दंड देना राष्ट्र के जीवन का कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि हमारे लिए भोजन अनिवार्य है। भोजन के विना जीवन चल नहीं सकता उसी प्रकार दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा को सुखी करना राष्ट्र के दैनिक जीवन का अंग है। इससे राष्ट्र में पवित्र जीवन एवं सदाचार की स्थापना होती है।

इस मन्त्र में राष्ट्र की दण्डनीति को जठराग्नि के रूप में वर्णित किया है। अर्थात् राष्ट्र में अग्नि की, शासन के तेज की अत्यन्त आवश्यकता है जिससे राष्ट्र का वर्च्चस्व बढ़े और उसकी तेजस्विता बढ़े। निम्न मन्त्र में अग्नि द्वारा शत्रुओं को भस्म करने का विधान है—

योऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।

निन्दाद्योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥ (यजुः ११।८०)

हे राष्ट्र या सेना के स्वामिन् ! आप, जो मनुष्य हम धर्मात्माओं के राष्ट्र से शत्रुता करे, जो हमारे साथ दुष्टता का आचरण करे, जो हमारे राष्ट्र की निन्दा करे और जो हमारे राष्ट्र को दम्भ दिखावे तथा जो हमारे साथ छल करे उन सबको जलाकर सम्पूर्ण रूप से भस्म कर दीजिये ।

इस प्रकार राष्ट्र की सुरक्षा के लिए, दुष्टों के उन्मूलन के लिए, राष्ट्र के नेताओं में तीव्र अग्नि होनी चाहिए, अन्यथा दुष्ट राक्षसों का दमन नहीं हो सकता ।

राष्ट्र रक्षा के लिए अनेक प्रकार की अग्नियां

इन मन्त्रों में राक्षसों, असुरों, शत्रुओं एवं दुष्टों को अग्नि के द्वारा दूर करने का उल्लेख है । राष्ट्र में अनेक प्रकार की अग्नियां होती हैं । उन अग्नियों से विविध कार्य करने चाहिएं ।

अग्नि प्रकाशयुक्त है । अतः हमारे नेत्रों में यदि अन्धकार को भेदन करके अर्थात् गुप्त भेदों को देखने एवं समझने की शक्ति आ जावे तो हमारे नेत्र वास्तव में अग्नि नेत्र हो जावेंगे । राष्ट्र की रक्षा के लिए राष्ट्र में अग्नि नेत्रों की भी आवश्यकता है ।

राष्ट्र की रक्षा के लिए दुष्टों के प्रति यम नेत्र की भी आवश्यकता है जिससे शत्रु या दुष्ट व्यक्ति यम नेत्रों को देखकर ही भयत्रस्त हो जावे और दुष्टता करना छोड़ दे । अतः राष्ट्र को यम दृष्टि या यम नेत्रों की आवश्यकता है ।

इसी प्रकार राष्ट्र को गुणवानों के प्रति पूजनीय, आदर भाव की दृष्टि भी रखनी चाहिए । शासन की प्रजा के प्रति दृष्टि मित्र एवं प्रिय सहयोगी की होनी चाहिए । उसको अपनी दृष्टि वायु के तुल्य प्राण प्रिय, जीवनीय तथा सौम्य, शान्त भी बनानी चाहिए जिससे प्रजा पर, सुशासन स्थापित हो सके । वेद में शासन के लिए विभिन्न दृष्टियों को अपनाने के बारे में आदेश निम्न मन्त्र में है—

ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा
ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा
ये देवा विश्वदेवनेत्रा पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा
ये देवाविश्वदेवनेत्रा पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा
ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा
ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥

(यजुः ९।३६)

यह मन्त्र राजसूय यज्ञ प्रकरण का है । अतः राष्ट्र की विभिन्न लोकदर्शन-शक्ति का परिचायक है । इस मन्त्र में उन सब चतुर राजपुरुषों को जो विविध प्रकार की दृष्टि से राष्ट्र की आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टि से रक्षण एवं पोषण करते हैं उनके लिए सत्कार प्रकट किया गया है । अर्थात् ऐसी दृष्टियां राष्ट्र के लिए हितकारी होने से सत्कार योग्य हैं ।

अग्निनेत्र

मन्त्र में अग्निनेत्र, यमनेत्र, विश्वदेवनेत्र, इस प्रकार पांच प्रकार की राष्ट्र की दर्शन शक्ति को बताया गया है । इनमें से अग्निनेत्र वाले व्यक्ति गुप्तचर विभाग के समझे जा सकते हैं, जो अग्नि के इस धर्म से युक्त हैं, कि जैसे अग्नि अन्धकार को नष्टकर प्रकाश करके वस्तुस्थिति का दर्शन कराती है उसी प्रकार जो व्यक्ति छिपे हुए भेदों का अपनी तेजस्वी एवं तीक्ष्ण दृष्टि से या बुद्धि से भेद-पता लगा

लेता है। अग्नि पदार्थों में गुप्त रूप से भी रहती है। अतः राष्ट्र का गुप्तचर-विभाग अग्निनेत्र गुण-धर्म वाला जितना उत्तम होगा उतना ही अच्छी प्रकार से राष्ट्र के हितों की रक्षा होगी।

यमनेत्र

यमनेत्र से तात्पर्य आरक्षीविभाग (पुलिसविभाग) एवं दण्डविभाग है। अपराधियों को पकड़ने एवं दण्ड देने की क्षमता वाला यह विभाग आवश्यक है। यदि राष्ट्र में अपराधी पकड़े न जावें और उन्हें दण्ड प्राप्त न हो तो बिना भय के अपराध बढ़ते ही जावेंगे। सब दण्डों में मृत्युदण्ड सर्वोपरि है। मृत्यु का अधिष्ठाता यम है। अतः यमनेत्र शब्द राष्ट्र के आरक्षीदल एवं दण्डविभाग के व्यक्तियों के लिए उपयोगी है। यदि आरक्षीदल (पुलिस) व दण्डविभाग (न्यायविभाग) की दृष्टि यमनेत्र नहीं होगी तो बिना भय एवं दण्ड के अपराधों की वृद्धि ही होती रहेगी जो कि राष्ट्र के लिए अहितकर है।

विश्वेदेवादि नेत्र

शेष तीन प्रकार की दृष्टियाँ प्रजा के सभ्य जनों के प्रति राष्ट्र के शासकों को अपनानी चाहिएँ। असुर एवं राक्षसजनों को छोड़कर शेष प्रजा पर सत्कार युक्त, प्रेमयुक्त, सौम्य एवं शान्त दृष्टि रखनी चाहिए। इस प्रकार की प्रेम-दृष्टि में प्रेम भी रहे और प्रेमवश किसी के साथ अन्याय भी न हो, अतः—मित्रावरुण नेत्र—का भी वेद ने संकेत किया। राष्ट्र के प्रजाजनों पर मित्र की दृष्टि शासकों की रहनी चाहिए परन्तु साथ में वरुण का जो न्याय कार्य है वह भी साथ में रहना चाहिए।

सुरक्षा से प्रजा के प्रेम की प्राप्ति

इस प्रकार का राष्ट्र का नायक अपने राष्ट्र को पराजित नहीं होने देता क्योंकि उसने विश्वदेव-नेत्र, मित्रावरुणनेत्र और सोमनेत्रों से प्रजा का अमित प्रेम-सम्पादन किया हुआ है। वह अपनी राष्ट्रीय एकता के कारण शत्रु-सेनाओं को भगाने में समर्थ होता है और राष्ट्र को ओज से पूर्ण कर देता है, जैसा कि वेद के निम्न मन्त्र में प्रतिपादित है—

अग्ने सहस्व पृतनाऽअभिमातीरपास्य।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्च्चो धा यज्ञवाहसि॥ (यजु० ९।३७)

हे राष्ट्रपते! तू सेनाओं को पराजित कर। शत्रुओं को दूर भगा। स्वयं दुर्धर्ष होकर तू शत्रु सेना को अभिभूत करते हुए अपने राष्ट्र में ओज भर दे।

पूर्वोक्त प्रकार से राष्ट्र की रक्षा और प्रेम-सम्पादक राजा या राष्ट्राध्यक्ष राष्ट्र की बागडोर से, उत्तम नीतियों से नियन्त्रित रख सकता है। अतः प्रजा को भी सदा उसके अनुकूल रहना चाहिए जिससे वह शत्रुओं पर विजय पा सकें। वेद ने इस बारे में कहा है—

मा तऽइन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम।
तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वान्॥ (यजुः १०।२२)

हे इन्द्र अर्थात् शत्रुविजेता राजन्! हम तेरे प्रजाजन तुमसे विरुद्ध न होवें तथा जो हममें अब्रह्मता—नास्तिक भाव हैं, या वेद अथवा सृष्टि-विद्या के विरुद्ध अनाचार हैं, उसको नष्ट कर दें। हे राजन् वज्रहस्त! तुम राष्ट्र रूपी रथ पर आरूढ़ होओ जिससे तुम अच्छे घोड़ों की बागडोरों के समान राष्ट्रनीति एवं प्रबन्धकों को नियन्त्रित कर सको।

दण्डनीति का मित्र और वरुण से साहचर्य हो

इस प्रकार राष्ट्राध्यक्ष के प्रति प्रजा का प्रेम राष्ट्र में सृष्टि-नियम के विरुद्ध, अनाचार को नष्ट करने और राष्ट्र पर सुनियन्त्रित शासन स्थापित करने का वेद ने प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार सुशासन के लिए निम्न मन्त्र में भी वर्णन है—

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा
युनज्मि । अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टो अर्जुनो मरुतां
प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण ।। (यजुः १०।२१)

शासन के लिए दण्ड आवश्यक है अतः शासन का दण्ड इन्द्र अर्थात् जो कि इस राष्ट्र के ऐश्वर्य का अध्यक्ष है उसका दण्ड वज्र-तुल्य प्रहार करने वाला हो। उस शासन को मित्र एवं वरुण प्रशासन कर्त्ताओं के प्रशासन में प्रजा को दुःखों से दूर करने एवं अन्नादि सुख समृद्धि के लिए संयुक्त करता हूं। ऐसा शासन अहिंसित एवं रमणीय होने से विद्वानों की प्रेरणा में विजयी होता है। उससे प्रजा को मानसिक एवं ऐन्द्रियिक सुख प्राप्त होता है।

इस मन्त्र में वज्र शब्द—दण्ड एवं शासन का द्योतन कर रहा है और उस शासन पर मित्र और वरुण शक्ति का पूर्व शासन हो।

मित्र और वरुण शक्तियों का काम पृथक्-पृथक् है। मित्र का तात्पर्य प्रीति-भावयुक्त नीति है। राष्ट्र की प्रजा को, शासन अपना परम सुहृद् समझे और प्रजा भी राष्ट्र-प्रशासकों को अपना परम हितैषी—मित्र समझे। इस प्रकार के मैत्री प्रशासन में राष्ट्रकी क्रियाशीलता, राष्ट्र की शक्ति, उसका बल और तेज बहुत बढ़ जाता है। राष्ट्र अनेक प्रकार के व्यर्थ के विवादों में समय का अपव्यय न करके एकदम उन्नति की ओर अग्रसर हो जाता है। मित्र-नीति का प्रशासन राष्ट्र के लिए अत्यन्त ग्राह्य है। यही मित्र की नीति अन्य राष्ट्रों के प्रति भी लाभदायक है।

वरुण का कार्य है मित्र का सहयोग करना तथा न्याय भी करना। मित्र नीति के कारण भी अन्याय न हो सके या पक्षपात न हो सके इसका भी समुचित ध्यान रखना चाहिए। अर्थात् दया, कृपा के साथ न्याय का वर्त्तन, मित्रावरुण का प्रशासन है। अकेले मित्र के शासन में भ्रष्टाचार की भी संभावना है परन्तु वरुण की सहकारिता से पक्षपात या भ्रष्टाचार का अभाव हो जाता है।

प्रशासन के लिए ब्रह्म एवं क्षत्रशक्ति

मित्र और वरुण का अन्य तात्पर्य ब्रह्म और क्षत्रशक्ति से भी है। राष्ट्र में ब्रह्मशक्ति का कार्य राष्ट्रिय मन्त्रिमण्डल के हाथ में रहता है और क्षत्रशक्ति का कार्य सैन्य-सञ्चालक मण्डल के हाथ में रहता है इन्हीं दोनों के द्वारा राष्ट्र का पूर्ण हित सम्भव होता है। इसीलिए मन्त्र में कहा—अव्यथायै—दुःखों से दूर करने के लिए और—स्वधायै—अन्नादि की समृद्धि के लिए अर्थात् दोनों प्रकार के प्रशासन से राष्ट्र आपदाओं से बचता है और देश की खाद्य एवं उत्पादन शक्ति अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होती है जिससे शारीरिक और मानसिक शान्ति एवं सुख सम्पन्न होते हैं।

मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् । (यजुः ९।३९)

इस मन्त्र-वाक्य में मित्र को सत्य का अधिपति और वरुण को धर्म का पति बताया है। अर्थात् मित्र और वरुण का, राष्ट्र में प्रशासन करने का अर्थ सत्य और धर्म का प्रशासन है। यह तो राष्ट्रों के लिए परम आदर्श की बात है।

प्रजा ही राष्ट्र का जीवन है

जिस राष्ट्र में ऐसा सुशासन हो उस राष्ट्र की प्रजा राष्ट्र को सब प्रकार से पुष्ट और समृद्ध करने वाली होती है। वह सब प्रकार की शक्तियों का स्रोत होती है। वेद ने ऐसी प्रजा के लिए कहा है—

वृष्ण ऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
वृष्ण ऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ (यजुः १०।२)

हे प्रजा ! तू अर्जित राष्ट्र-शक्ति को देने वाला एक अजस्र प्रवाह है जो राष्ट्र में एक सिरे से दूसरे सिरे तक तरंग रूप में व्याप्त है। मैं उस तरंग को अच्छी प्रकार देख रहा हूं। उस तरंग की गतियां मुझको भी राष्ट्र-तरंगों में व्याप्त कर दें और इसको भी राष्ट्रीयता से परिपूर्ण करें।

हे प्रजा ! तू बलवान् सेना का अजस्र स्रोत है। मुझको भी राष्ट्र की बल-शक्ति से सम्पन्न कर और इसमें भी राष्ट्र की बल-शक्ति भर दे।

इस प्रकार इस मन्त्र में बल, शक्ति, साहस, शौर्य, उत्साह और सैन्यशक्ति का दाता प्रजा को बताया है। प्रजा को अर्थ, धनादि का दाता भी वेद ने बताया है। जैसा कि निम्न मन्त्र में है—

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त
ओजस्वतीस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त
आपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
आपः परिवाहिणीस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त
अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि
अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं देहि स्वाहा
अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ (यजुः १०।३)

हे प्रजाओ ! तुम राष्ट्र को अर्थ प्रदान कराने वाली होने से राष्ट्र को देने वाली हो। अतः मुझ को और राष्ट्र को अर्थ और राज्याधिकार से सम्पन्न करो। इस प्रकार प्रजा को राष्ट्रिय कोश का निर्माता और राजा को राज्याधिकार प्रदान करने वाला बताया है। अर्थात् प्रजा में राष्ट्र के निर्माण की पूर्ण शक्ति वेद ने प्रतिपादित की है। मन्त्र पुनः आगे प्रतिपादित करता है कि—

हे प्रजाओ ! तुम राष्ट्र को ओज, बल, शक्ति, साहस, शौर्य आदि प्रदान करके राष्ट्र का निर्माण एवं रक्षा करने वाली हो अतः मुझको और राष्ट्र को बल, ओजादि से संयुक्त करो। अर्थात् राष्ट्र का मूल बल प्रजा ही है।

हे प्रजाओ ! तुम राष्ट्र में सब ओर से जलवत् प्राण, जीवन, शान्ति और सुख की धारा बहाने वाली होने से राष्ट्र को देने एवं समृद्ध करने वाली हो अतः मुझको और राष्ट्र शक्ति को सुखप्रद राष्ट्र सम्पन्न करो। अर्थात् प्रजा ही राष्ट्र को प्राण देने वाली, सुख, शान्ति, मंगल एवं जीवन देने वाली है।

हे प्रजाध्यक्ष ! तुम प्रजा के अन्दर एवं राष्ट्र के अन्दर विविध प्रकार की जो उत्तमोत्तम विचार-

धाराएँ एवं कार्य-प्रणालियां राष्ट्र को समुन्नत करने के लिए प्रवाहित हो रही हैं उनके स्वामी आप हैं। अतः मुझको और इसको भी राष्ट्र-सेवा कार्य प्रदान कीजिए। अर्थात् प्रजा ही समस्त कार्यशक्ति की जननी है।

हे प्रजाध्यक्ष ! तुम राष्ट्रिय कार्यों, योजनाओं एवं समस्त गतिविधियों को बीज रूप से प्रजा में वपन करने वाले होने से राष्ट्र को प्रेरणा प्रदान करने वाले हो। अतः मुझमें और इसमें भी राष्ट्रिय कार्यों की प्रेरणा और राष्ट्र के प्रति प्रेम जाग्रत् करो।

इस प्रकार इस मन्त्र में प्रजा की राष्ट्र के लिए उपयोगिता प्रकट की है। अर्थात् प्रजा से ही कर द्वारा अर्थ की प्राप्ति होने से राष्ट्र का कोष बढ़ता है। प्रजा के ही प्रेम व उत्साह से प्रत्येक कार्य के लिए शक्ति, बल प्राप्त होता है। प्रजा ही राष्ट्र की सब योजना और कार्यों का प्राण है। अतः राष्ट्राध्यक्ष को प्रजा के कार्यों को समुचित संचालित करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और उस प्रजा में योग्य विचारों का और कार्यों का वपन भी करना चाहिए। अनुचित विचारधारा एवं कार्य-प्रणालियों को जो राष्ट्र के लिए विघातक हैं उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए।

राष्ट्र के लिए प्रजा का महत्त्व

प्रजा के उपरोक्त राष्ट्रिय महत्त्व को प्रकट करने के अनन्तर वेद अगले मन्त्र में प्रजा के महत्त्व को निम्न शब्दों में प्रकट कर रहा है—

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त
सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र मे दत्त स्वाहा
सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त,
मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त,
व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त
वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त
शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र मे दत्त स्वाहा
शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त,
शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त,
जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मं दत्त,
विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र मे दत्त स्वाहा
विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त,
अपः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र ममुष्मै दत्त
मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानां ऽ
अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥ (यजुः १०।४)

इस मन्त्र में निम्न ११ विशेषणों से प्रजा को सम्बोधित किया है—

(१) **सूर्यत्वचसः**—त्वचा से जिस प्रकार आच्छादन एवं रक्षण होता है और त्वचा के स्पर्श गुण के कारण सुखादि का अनुभव आत्मा को होता है, उसी प्रकार प्रजा से राष्ट्र की रक्षा के आवरण, व्यूहरचना, रक्षण आदि कार्य होते हैं। प्रजा के सम्पर्क से राष्ट्र के सुख दुःख का ज्ञान भी होता है। यदि प्रजा सुखी है तो राष्ट्र समृद्ध एवं सम्पन्न है। यदि प्रजा दुःखी है तो राष्ट्र की असमर्थता प्रकट होती है।

त्वचा के साथ सूर्य का विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड रूपी राष्ट्र में सूर्य सब जगत् का प्राण एवं जीवन दाता है और ऋतुओं का निर्माण करके उत्पत्ति करता है उसी प्रकार राष्ट्र की प्रजा से राष्ट्र में प्रकाश, तेज, दीप्ति, जीवन, प्राण एवं उत्पत्ति आदि सब प्रकार से होती है। अतः प्रजा राष्ट्र के लिए प्राण तुल्य है। जिस प्रकार त्वचा की व्याप्ति अपने सम्पूर्ण शरीर में सुख आदि का संचार करती है उसी प्रकार सूर्य की किरणों की व्याप्ति ब्रह्माण्ड में प्राण के संचार की व्यवस्था करती है। अतः राष्ट्र की प्रजा को—सूर्यत्वचसः—का उत्तम विशेषण दिया गया है। इसके अतिरिक्त सूर्य के समान अपने तेज से सब को आच्छादित करने वाली प्रजा होवे यह भी इससे प्रकट होता है।

(२) **सूर्यवर्चसः**—प्रजा के लिए दूसरा विशेषण सूर्य के समान वर्चस्वी, तेजस्वी, तेज, बल, पराक्रम धारण करने वाली है—यह विशेषता बताई है। यदि प्रजा निस्तेज हो तो शासक की स्वेच्छा-चारिता का भाग उसे बन जाना पड़ता है। प्रजा के शासन में प्रजा को निस्तेज नहीं होना चाहिए, अपितु तेजस्वी ही होना चाहिए।

(३) **मान्दाः**—प्रजा का तीसरा गुण आनन्दप्रद होना है। दुःखी प्रजा में, शोषित और अन्याय प्रताड़ित प्रजा में आनन्दप्रदायक गुण नहीं हो सकता। प्रजा को आनन्दित रखना शासन का कर्त्तव्य है। जिस राज्य की प्रजा दुःखी हो वह राजा दण्डनीय है। प्रजा में आनन्द मंगल, मनोरंज, क्रीड़ा, नृत्य, गायन, वादन, उत्सव आदि की वृत्ति और उसके साधन अवश्य होने चाहिएं।

(४) **व्रजक्षितः**—व्रज का अर्थ समूह, संघ होता है उसमें जो रहे वह व्रजक्षित है। राष्ट्र की प्रजा, संघ रूप में, समूह रूप में रहती है और संघ से ही प्रजा की शक्ति बनती है। अतः प्रजा को संघ, समूह, सहकारिता की भावना रखनी चाहिए।

व्रज का अर्थ गौ आदि के निवास का स्थान भी है। उसको बसाने वाली प्रजा व्रजक्षित संज्ञक हुई। अर्थात् गौ आदि पशुओं का पालन और उनकी वृद्धि तथा उनके निवास आदि में प्रजा का प्रेम, रुचि और निपुणता होनी चाहिए जिससे राष्ट्र में यातायात, वाहन तथा घृत दूधादि की पूर्ति हो सके और प्रजा पुष्ट हो सके। अतः राष्ट्र की सुरक्षा के लिए प्रजा व्रजक्षित—होनी चाहिए।

(५) **वाशाः**—कामना वाली होना यह भी प्रजा की विशेषता है। कामनाहीन प्रजा के जीवन में उन्नति का, आविष्कारों का तथा प्रतिभा का अभाव रहता है। बुद्धि और शरीर में सुस्ती आलस्य एवं अकर्मण्यता कामनाहीनता से, इच्छाओं के न होने से प्रजा में होती है। अतः प्रजा का कामनापूर्ण होना राष्ट्र की हितवृद्धि एवं रक्षा में आवश्यक है।

(६) **शविष्ठाः**—प्रजा बलवान् होनी चाहिए। बलवान् प्रजा ही पूर्ण रूप से अपने अन्य गुणों के साथ राष्ट्र की सुरक्षा कर सकती है। प्रजा का बल अनेक प्रकार का है। शरीर बल, मानसिक बल, विद्या बल, धन बल, व्यापार बल, श्रम बल, बौद्धिक बल आदि आदि अनेक प्रकार के बलों से प्रजा को

बलवान् बनाना चाहिए। अतः शासन को चाहिए कि प्रजा को सर्व बलों से सुसम्पन्न करने के लिए विविध प्रकार के साधनों को स्थापित एवं प्रचलित करे।

(७) **शक्वरीः**—सामर्थ्ययुक्त भी प्रजा को होना चाहिए। बलवान प्रजा में यदि विविध कार्य करने की योग्यतापूर्ण सामर्थ्य नहीं है तो बल का उचित उपयोग नहीं हो सकेगा। सामर्थ्यवान्, साहसी व्यक्ति यदि बलहीन होगा तो भी वह बहुत कुछ करने में समर्थ हो जायगा। और जन बल तथा सामर्थ्य दोनों ही जिसके पास होंगे तो वह अत्यन्त ही सफलता को प्राप्त कर सकेगा। अतः प्रजा को शक्वरी बनाना चाहिए।

(८) **जनभृतः**—जनों का, सज्जनों का भरण पोषण करने वाली प्रजा होनी चाहिए। स्वार्थी प्रजा में त्याग की मात्रा नहीं होती। त्याग के विना परोपकार का भाव उदय नहीं होता। परोपकार-वृत्ति के अभाव में सज्जनों के भरण-पोषण की भावना उत्पन्न नहीं होती। जो सज्जन प्रजा के हित में लगे हुए हैं उनके भरण-पोषण का ध्यान शासन यदि रखता है तो रखे परन्तु प्रजा का ही यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह उसका भरण-पोषण करे जिससे प्रजा में सज्जनवृत्ति एवं परोपकार-वृत्ति की वृद्धि हो।

प्रजा में सज्जनों के प्रति भरण की प्रवृत्ति तभी अच्छी प्रकार सफल हो सकेगी जब प्रजा की सामर्थ्य भी देने की हो। अतः श्रेष्ठ प्रजा में सज्जनों के पालन-पोषण की, उनको अपने मध्य में निवास देने की क्षमता चाहिए।

(९) **विश्वभृतः**—समस्त संसार के भरण-पोषण करने की भावना, संसार के हित की कामना, संसार का उपकार करने का महान् संकल्प भी प्रजा में होना चाहिए। प्राणिमात्र के कल्याण की भावना—मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्—कोई दुःखी न हो—सर्वे भवन्तु सुखिनः—सब सुखी हों—इसके लिए क्रियात्मक प्रयत्न करने वाली प्रजा ही विश्वभृत् हो सकती है।

(१०) **स्वराजः**—प्रजा का स्वराज्य सम्पन्न होना, स्वयं पर नियन्त्रण होना, स्वतन्त्र भी होना और अपने गुणों से प्रकाशित भी होना ये सब राष्ट्र की सुरक्षा के हित में है।

(११) **मधुमतीः**—मन्त्र में यह एक अन्तिम गुण और भी प्रजा के लिए बताया है। प्रजा मधुरभाषिणी हो। मधुर कार्यों एवं व्यवहारों को सम्पादन करने वाली होनी चाहिए। मधुमती प्रजा ही जनभृत् और विश्वभृत् गुणों को धारण कर सकती है।

उपरोक्त गुण युक्त प्रजा मुझमें इन राष्ट्र शक्तियों को प्रदान करे, मुझमें उन शक्तियों का उदय होना चाहिए और मैं जिसके साथ वर्त्ताव करता हूं उसका ये गुण प्रदान करे। अस्मद् और युष्मद् से व्यवहार की जाने वाली सब प्रजा में ये गुण हों। मैं और तू में ही समस्त जगत् है। इसी में सब प्रजा हैं। अर्थात् सब प्रजापूर्ण अधिकारयुक्त हो और प्रत्येक को राष्ट्र की बड़ी-से-बड़ी सेवा का अधिकारी बनने का अधिकार है।

राष्ट्र की अजेय प्रजा एवं अजेय सेना

इस प्रकार की हे मधुरभाषिणी प्रजाओ! तुम मुझ क्षत्रिय के लिए महान् क्षत्र को स्थापित करती हुई अन्य मधुरभाषिणी प्रजाओं से परस्पर मिल कर रहो और बल पराक्रम सहित राष्ट्र की क्षात्र-शक्ति—सेना के लिए बड़े राज्य को धारण करती हुई शत्रुओं के वश में न आने वाली—अजेय बन कर रहो। इस प्रकार वेद राष्ट्र-रक्षा के लिए प्रजा को अजेय बनने के लिए उपरोक्त गुणों से युक्त करने का आदेश देता है। जब प्रजा उपरोक्त गुणयुक्त होगी और उसकी सेना सुदृढ़ होगी तो—

अवेष्टा दन्दशूकाः । (यजुः १०।१०)

राष्ट्र के हिंसक प्राणी—दुष्ट प्राणी नष्ट हो जावेंगे। राष्ट्र का अन्तरिक्ष विघ्नकारी शत्रुओं से रहित हो जायगा और राष्ट्र की अजेय सेना—

प्राचीमारोह। (यजुः १० । १०)

प्राची दिशा में अपने ब्राह्म एवं क्षात्रबल के साथ आक्रमण कर सकेगी और वहां के क्षेत्र की सहायक शक्तियां तुम्हारी रक्षा करेंगी। इस प्रकार प्राची दिशा में अपने राष्ट्र के अनुकूल स्थिति बनाकर—

दक्षिणामारोह। (यजुः १० । ११)

दक्षिण दिशा में आक्रमण करके अपने अनुकूल स्थिति बनानी चाहिए और फिर—

प्रतीचीमारोह। (यजु० १० । १२)

पश्चिम दिशा में भी आक्रमण करके राष्ट्र के अनुकूल स्थिति, अपनी नीति के अनुकूल परिस्थिति बनानी चाहिए और फिर—

उदीचीमारोह। (यजु० १०।१३)

उत्तर दिशा में भी जो प्रतिकूल स्थिति है उस पर आक्रमण करके अपने अनुकूल परिस्थिति बनानी चाहिए औरफिर—

ऊर्ध्वामारोह। (यजु० १० । १४)

ऊपर की दिशा में भी आक्रमण करके राष्ट्र के अन्तरिक्ष को, उसके वायु मार्गों को सुरक्षित बनाना चाहिए जिससे—

प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः। (यजुः १०।१४)

दुष्टों, राक्षसों, विघ्नकारियों का मस्तक नष्ट भ्रष्ट हो जावे या उनकी विचारधारा नष्ट हो जावे। इस प्रकार राष्ट्र की सुरक्षा का उपाय ब्राह्म-बल और क्षात्र-बल के द्वारा की जानी चाहिए जैसाकि—

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्। (यजु० ३२ । १६)

ब्राह्मी विजय

मेरे राष्ट्र का ब्राह्म-बल एवं क्षात्र-बल दोनों श्री को, ऐश्वर्य, यश एवं कीर्ति को प्राप्त करें। ब्रह्म बल के द्वारा विचारधाराओं का प्रचार और उसका वैचारिक प्रशासन किसी भी राष्ट्र की प्रजा में किया जा सकता है। राजनीतिक प्रशासन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण यह कार्य है। अपनी विद्या, सभ्यता, सस्कृति, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों का प्रचार और उसका प्रशासन चारों दिशाओं में, अपने राष्ट्र के बाहर की प्रजा में भी करना अपने राष्ट्र की ब्राह्मी विजय है।

क्षात्र विजय

राजनीतिक शासन स्थापित करना क्षात्र बल की विजय है। क्षात्र बल के द्वारा विजय के लिए जैसा पूर्व मन्त्र में—ऊर्ध्वामारोह—ऊपर की ओर आक्रमण करने को भी कहा है। ऊपर अन्तरिक्ष में जाने के लिए वेद ने साधन का भी निर्देश निम्न मन्त्र में किया है—

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच ऽ इयानाः।
ता ऽ आववृत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः।
विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥ (यजुः १० । १९)

अर्थात् वर्षणशील मेघों के ऊपर के प्रदेश में, जिस प्रकार स्थलीय सागर पर नावें चलती हैं उसी प्रकार अन्तरिक्ष समुद्र पर जो मेघ-मण्डल से ऊपर का प्रदेश है उसमें भी नौका रूपी विमान चलते

हैं। वे विमान अपनी स्वचलित शक्ति से गमनशील हैं। वे विमान मेघ के समान इतस्ततः गमनशील हैं। नीचे और ऊपर गति करने वाले हैं। अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले अन्य विमानों का अनुसरण भी करते हैं। वे व्यापक ईश्वर के इस जगत् में पराक्रमयुक्त हैं। व्यापक वायु में अनेक प्रकार की गति करने वाले हैं। व्यापक बिजली के बीच उनके चलने का आधार है।

राष्ट्र रक्षा के लिए प्रयत्न

राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सदा ही जागरूक रहकर अनेक प्रकार के प्रयत्न करने चाहिएं अतः इस निमित्त वेद हमें निम्न उपदेश दे रहा है—

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूरऽ
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वा-
नाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयोयुवास्य
यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो नऽ ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (यजुः २२। २२)

इस मन्त्र में राष्ट्र के अन्दर निम्न ११ आवश्यकताओं की पूर्ति करने को बताया है जिससे राष्ट्र सुरक्षित रह सकता है—

(१) **आ ब्राह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्**—हे ब्रह्मन्! राष्ट्र में सर्वत्र ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों- राष्ट्र की रक्षा के लिए एवं राष्ट्रकी उन्नति के लिए यह सबसे प्रथम आवश्यकता है कि राष्ट्र के बुद्धिशाली व्यक्ति विविध विद्याओं में पारंगत हों और वे अध्यात्म विद्या में भी निपुण हों जिससे उनके सामने केवल भौतिकवाद का आदर्श ही न हो।

जिनके सामने केवल भौतिकवाद का ही आदर्श है वे उसकी प्राप्ति के लिए स्वार्थ के वशीभूत होकर, कामनाओं की तृप्ति के लिए मानवता से पतित भी हो सकते हैं। परन्तु जिन तत्त्ववेता, ब्रह्मज्ञानी दार्शनिकों के सामने भौतिकवाद के अतिरिक्त उससे कहीं उत्कृष्ट अध्यात्मवाद का आनन्द रसमय समुद्र लहरें ले रहा है उनकी वृत्तियां बाह्य जगत् से उपरत होकर शान्त हो जाती हैं अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल हो जाता है। संसार के भोग उनके सामने दुःखप्रद, कांटे सदृश प्रतीत होने लगते हैं। स्वार्थहीन बनकर परमार्थप्रेम से जनहित कार्यों में रत रहने वाले ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण ही राष्ट्र का सच्चा नेतृत्व कर सकते हैं। अतः राष्ट्र के लिए सर्वप्रथम सच्चरित्र, निस्वार्थी, तपस्वी, त्यागी ब्राह्मणों के आधिपत्य एवं नेतृत्व के लिए ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मणों की आवश्यकता है।

(२) **आ राष्ट्रे राजन्यः शूरः इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्**—राष्ट्र-रक्षा के लिए दूसरी आवश्यकता राष्ट्र के व्यक्ति क्षत्रिय गुणसम्पन्न हों, महारथी हों। महारथी उसे कहते हैं जो एक सहस्र से युद्ध करने की सामर्थ्य रखता है। यह क्षमता जिस रथ पर आरूढ़ होकर प्राप्त हो वह महारथ है।

महारथ में बैठकर महारथी व्यक्ति पर एक सहस्र व्यक्ति भी आक्रमण तो नहीं कर सकते अपितु वह सहस्रों पर चारों ओर आक्रमण कर सकता है। अतः सुरक्षा की दृष्टि से पूर्वोक्त गुणयुक्त राष्ट्र का रक्षण करने वाले राजन्य वर्ण क्षत्रिय प्रचुर मात्रा में होने चाहिएं। और वे अस्त्र-शस्त्र सचालन-कार्य में निपुण और युद्ध-कार्य में कुशल होने चाहिएं। उनके पास उत्तमोतम सुसज्जित रथ जो जल, स्थल एवं आकाश में चल सकें होने चाहिएं तथा उत्तमोतम अस्त्र शस्त्र भी होने चाहिएं।

(३) **दोग्ध्री धेनुः**—उपरोक्त ब्रह्म-शक्ति एवं क्षत्र-शक्ति के विकास एवं संवर्धन के लिए राष्ट्र में प्रचुर मात्रा में दूध देने वाली गौवें भी होनी चाहिएं।

गौ राष्ट्र की महान् सम्पदा है। जिस देश के पास जितनी अधिक गौएं होंगी उस देश के व्यक्ति उतने ही बलवा , तेजस्वी, बुद्धिमान्, दीर्घजीवी, आत्मनिर्भर, धनवान्, प्रसन्न एवं सुखी होंगे।

गौ पृथिवी को भी कहते हैं। जिस राष्ट्र के पास भूमि न हो वह राष्ट्र अस्तित्वविहीन है। उसी प्रकार जिस राष्ट्र के पास गोधन नहीं वह राष्ट्र असमर्थ, असहाय, दीन, पराश्रित, अन्यों की दया और कृपा पर जीने वाला, बल, बुद्धिहीन हो जाता है। इसीलिए वेद ने गौ को 'अघ्न्या'—अर्थात् अहिंसनीय कहा है। अतः जिस राष्ट्र को सर्व प्रकार से समृद्ध होना है उसे अपने देश की गौओं की पूर्णरूप से रक्षा करनी चाहिए।

गौ का अर्थ पृथिवी होने से यह भी तात्पर्य प्रकट होता है कि—ऐसी भूमि जो दोग्ध्री—अर्थात् जिससे अनेक प्रकार के अन्न, रस, धातु आदि पदार्थ प्राप्त हों—वह राष्ट्र के पास होनी चाहिए जिससे राष्ट्र समर्थ बन सके। जो राष्ट्र अपनी भूमि की रक्षा नहीं कर सकता वह अपने अस्तित्व को नष्ट कर देता है।

इसी प्रकार के पदार्थ, यन्त्रादि जिनके द्वारा उत्पादन-शक्ति की वृद्धि होती है वे भी धेनु संज्ञक हैं। उनका उत्पादन कार्य ही उस धेनु रूपी यन्त्र का दूध है।

गौ वाणी को भी कहते हैं। वाणी सार्थक होनी चाहिए। सार्थक वाणी का प्रभावशाली एवं फलवती होना भी आवश्यक है। जिस राष्ट्र की वाणी का प्रभाव नहीं उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं। अतः राष्ट्र में गौ का अत्यन्त महत्त्व है। और गौ के उपरोक्त प्रकार, समर्थ एवं फलदायी हों जिससे राष्ट्र की सुरक्षा हो।

(४) **वोढाऽनड्वान्**—राष्ट्र में उत्तम बैल हों जो सामान ढोने में समर्थ हों। राष्ट्र में वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की व्यवस्था सुरक्षा की दृष्टि से भी आवश्यक है। विना इस क्रिया के राष्ट्र का कार्य नहीं चल सकता। अतः जिन साधनों से, वाहनों से इस कार्य की पूर्ति होती है उनका आदि प्रतीक बैल है। बैल की इस सामर्थ्य की पूर्ति करने वाले यन्त्र भी अनड्वान् संज्ञक हैं। राष्ट्र-रक्षा के साधनों में, वाहनों की अत्यन्त आवश्यकता है।

(५) **आशुः सप्तिः**—शीघ्रगामी अश्व, राष्ट्र की यातायात-व्यवस्था, सुरक्षा एवं युद्ध-कार्यों के लिए आवश्यक हैं। आशुगमन के इस प्राथमिक साधन की तथा और भी अधिक द्रुतगति के यातायात-व्यवस्था के साधनों का अनुसन्धान इसी क्रम के अंगभूत हैं। राष्ट्र की सुरक्षा का यह भी प्रमुख अंग है। अतः राष्ट्र के पास शीघ्रगामी वाहन, यान आदि प्रचुरमात्रा में होने आवश्यक हैं।

(६) **पुरन्धिर्योषा**—बहुत प्रकार की कला कौशल, विद्यादि व्यवहारों को और गृहस्थ धर्म को धारण करने वाली राष्ट्र में नारियाँ होनी चाहिएँ। या पुरून् बहून् दधाति सा पुरन्धिः। अथवा सर्वगुण रूपालंकार को धारण करने वाली स्त्रियाँ राष्ट्र में होनी आवश्यक हैं—पुरं शरीरं सर्वगुणसम्पन्नं दधाति सा पुरन्धिः।

पुर का अर्थ नगर एवं राष्ट्र भी मान लेने पर नगर और राष्ट्र की समस्याओं के हल करने में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण भाग होना चाहिए। राष्ट्र की स्त्रियाँ जितनी ही अधिक योग्य होंगी, उतना ही अधिक राष्ट्र सुदृढ़ एवं बलवान् बनेगा। राष्ट्र के निर्माण में अनेक प्रकार से स्त्रियों का अनिवार्यतः

महत्त्व है। यदि उस महत्त्व को अनुभव करके राष्ट में स्त्रियों को उचित शिक्षण एवं स्थान प्रदान किया जावे तो राष्ट्र अवश्य उन्नति के शिखर पर पहुंच सकता है।

(६) **जिष्णू रथेष्ठाः**—जयशील रक्षण एवं युद्ध की इच्छा रखने वाले रथ स्थित आरक्षीदल या सेना, राष्ट्र की रक्षा के लिए आवश्यक है। जिस राष्ट्र के पास जयशील रथवाहिनी जल, स्थल एवं नभसेना नहीं होगी वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

रथ का तात्पर्य केवल स्थल पर बैल या घोड़े से चलने वाले शकट, वाहन, रथादि से ही नहीं है। अपितु वे सब रथ के अन्तर्गत हैं जिनमें अश्व की प्रतीक, शक्ति, यन्त्र लगे हैं और उस यन्त्र-शक्ति से गति उत्पन्न होकर वाहनों को जल, स्थल, एवं नभ में चलने की गति करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। ये जितने ही उत्तम होंगे, उनके आश्रय से उनमें बैठे सैनिक भी उतने ही जिष्णु जयशील बन सकेंगे—अन्यथा नहीं। अतः मन्त्र दोनों को उत्तम बनाने का संकेत करता है।

सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्—हमारे इस यजमान के या राष्ट्रपति के राष्ट्र में सभ्य, युवावीर सन्ततियां हों। सभ्य, युवा एवं वीर सन्तति राष्ट्र की सबसे उत्तम निधि है। यदि राष्ट्र में सब वृद्ध या बालक ही हों तो युवा व्यक्तियों के अभाव में कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। युवा व्यक्ति भी यदि निर्बल होंगे तो भी कार्य नहीं चल सकेगा। उनका बलवान् होना आवश्यक है। परन्तु बल के साथ सभ्य भी होना चाहिए।

सभ्यतारहित बलवान् सन्तति अनियन्त्रित रहती है और उसे उचित-अनुचित का भी ध्यान नहीं रहता है। असभ्यों के बल से देश को हानियां होती है। अतः राष्ट्र की युवा सन्तति वीर-बलवान् हो, साथ ही सभ्य भी हो। सभ्यता, विद्यादि शुभ गुणों एवं सच्चरित्रता से प्राप्त होती है। अतः देश की वीरता, निरक्षरता एवं आचारहीनता के साथ न हो अपितु विद्यादि शुभ गुणों एवं आचार के साथ हो।

(९) **निकाम-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**—राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के साधनों में जब-जब राष्ट्र को वर्षा की आवश्यकता हो मेघों से वृष्टि हो और जब-जब वर्षा की राष्ट्र को आवश्यकता न हो तब वर्षा न भी हो, वर्षा बन्द हो जावे।

वर्षा राष्ट्र के जीवन एवं रक्षण के लिए परम आवश्यक है। अतः वर्षा की समुचित व्यवस्था राष्ट्र को करनी चाहिए। वर्षा राष्ट्र के लिए जीवन तुल्य है अतः राष्ट्र का वर्षा पर नियन्त्रण हो सके ऐसा प्रयत्न सुरक्षा की दृष्टि से अत्यावश्यक है जिससे अतिवृष्टि और अनावृष्टि पर नियन्त्रण प्राप्त कर बाढ़ की समस्या, खाद्य की समस्या और सिंचाई की व्यवस्था सुदृढ़ हो सके।

(१०) **फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्**—फलवाली वनस्पतियां, वृक्ष, लताएँ, अन्न, ओषधि आदि राष्ट्र में बहुत प्रमाण में बहुतायत से पकें जिससे राष्ट्र को अपने खाद्यान्न एवं भोज्य पदार्थों पर पराश्रित न रहना पड़े। क्योंकि—'अन्नं वे साम्राज्यानामधिपतिः'—अन्न साम्राज्यों का, राष्ट्रों का भी अधिपति है। जो राष्ट्र अन्नादि से सम्पन्न हैं वे सुखी हैं। परन्तु जो राष्ट्र अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न उत्पन्न करके अन्य देशों की भी खाद्य समस्या का हल करता है वह उन राष्ट्रों पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करता है। अतः राष्ट्र को अपनी खाद्य-स्थिति में आत्मनिर्भर होना अत्यन्त आवश्यक है।

(११) **योगक्षेमो नः कल्पताम्**—अर्थात् हमारी अन्य जो आवश्यकताएँ हैं या समय-समय पर जो राष्ट्र की आवश्यकताएँ उत्पन्न हों उनकी यथोचित व्यवस्था करना योग्य है और उससे जो लाभ,

आनन्द प्राप्त होता है वह क्षेम है। अलब्ध की प्राप्ति और द्रव्यों का संयोग, वृद्धि योग है और उससे अपना परिपालन करना क्षेम है।

इस प्रकार राष्ट्र के संचालन एवं संरक्षण के लिए वेद ने इस मन्त्र में जिन ११ बातों की ओर ध्यान दिलाया है उनका पालन करके राष्ट्र सुखी, समृद्ध एवं सुरक्षित हो सकता है।

सुरक्षा की कामनाएँ

राष्ट्र में सुरक्षा के लिए हमारे अन्दर और क्या-क्या उत्तमोत्तम भावनाएं होनी चाहिएँ और किस प्रकार की प्रार्थनाएँ करनी चाहिएँ उसका संकेत निम्न मन्त्र से प्राप्त होता है—

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शᳬंस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ (यजुः ३।३७)

(१) **हे शंस्य। भूर्भुवः स्वः प्रजाभिः सुप्रजाः स्याम्** - हे प्रशंसनीय! स्तुति करने योग्य परमेश्वर वा राष्ट्रपति! आपकी कृपा या सुव्यवस्था से मैं प्राण, बल का हेतु जो उदान है तथा सब चेष्टादि व्यवहारों का हेतु जो व्यान है, उनके साथ युक्त होकर अपने अनुकूल स्त्री, पुत्र, विद्या, धर्म, मित्र, मृत्यु, पशु आदि पदार्थों के साथ उत्तम विद्या धर्मयुक्त प्रजा के सहित नित्य होऊं।

(२) **वीरैः सुवीरः स्याम्**— शौर्य, धैर्य, विद्या, शत्रुओं के निवारण प्रजा के पालन में कुशल वीरों के साथ उत्तम शूरवीर युक्त होऊं और।

(३) **पोषैः सुपोषः स्याम्**—पुष्टिकारक पूर्ण विद्या से उत्पन्न हुए व्यवहारों के साथ उत्तम पुष्टि-उत्पादन करने वाला नित्य होऊं।

(४) **हे नर्य! मे प्रजाम्पाहि**—हे नीतियुक्त! मनुष्यों पर कृपा करने वाले परमेश्वर, या राष्ट्रपति! आप मेरी पुत्र, प्रजा आदि की रक्षा कीजिए।

(५) **मे पशून्पाहि** मेरे गौ, घोड़े, हाथी आदि पशुओं की रक्षा कीजिए।

(६) **हे अथर्य! मे पितुं पाहि**—हे सन्देहरहित जगदीश्वर या राष्ट्राध्यक्ष! मेरे अन्न की रक्षा कीजिए।

इसी प्रकार वेद में अपने से उच्च शक्ति जो अपने राष्ट्र की है और जो सर्वोच्च शक्ति अखिल विश्व रूपी राष्ट्र की है उससे रक्षा की प्रार्थना है। इसलिए राष्ट्र की जो सर्वोच्च शक्ति राष्ट्रपति में है उसको लक्ष्य करके रक्षा की प्रार्थना, उत्तम प्रजा की कामना, रक्षा के लिए वीरों की कामना, बल के लिए अन्नादि की कामना, अन्नादि की उत्पत्ति के लिए पशुओं की कामना और प्रजा, पशु एवं अन्नादि सबकी रक्षा की कामना स्वाभाविक है।

दुष्ट एवं ठगों से रक्षा

राष्ट्र में जो उपद्रवी, दुष्ट, हिंसक, चोर, ठग, डाकू हैं, उनके निवारण के लिए वेद ने कहा है—

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघाᳬंसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥ (यजुः १६।२१)

अर्थात् राजपुरुषों को चाहिए कि जो छल से दूसरों के पदार्थों को हरने वाले सब प्रकार कपट के साथ वर्त्तमान पुरुष को वज्र का प्रहार और चोरी से जीने वालों के स्वामी को वज्र से मारें। चोरी करनेहारों को एवं उस कर्म में चलानेहारों को वज्र और जो मारने की इच्छा वाले हों उनको भी मारे। चोरी करते हुओं को दण्ड-प्रहार से पृथिवी में गिरानेहारे का सत्कार करें। उत्तम शस्त्रों से युक्त होकर रात्रि में घूमने वाले लुटेरे व डाकुओं को शस्त्रों से मारें। विविध उपाय से गांठ काटकर पर पदार्थों को हरनेवाले गठकटों को मार कर गिराने वालों का राष्ट्र को सत्कार करना चाहिए।

इत्यादि अनेक प्रकार से राष्ट्र में आन्तरिक सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना चाहिए। बाह्य सुरक्षा के लिए युद्धादि उपाय हैं उनका भी आवश्यकता पड़ने पर उपयोग करना ही पड़ता है।

सैन्य एवं युद्ध

राष्ट्र की रक्षा के लिए, अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए और पीड़ित एवं शोषित समाज या राष्ट्र को दुःख-निवृत्त कर सुखी करने के लिए युद्ध राष्ट्रिय जीवन का प्रमुख अंग है। युद्ध की शाश्वत प्रतीक शक्तियों को वेद में इन्द्र, रुद्र आदि नामों से सम्बोधित किया है। अतः वेद के रुद्र और इन्द्र भी भयंकर बली, योद्धा, विजय कराने वाले सेनाध्यक्ष या सेनापति आदि के लिए मानुषी क्षेत्र में भी प्रयुक्त होते हैं।

मन्यु की आवश्यकता

युद्ध के नेता सेनाध्यक्ष या सेनापति का युद्ध-कार्य जिस वृत्ति के आश्रित होकर प्रवृत्त होता है उसके लिए वेद ने मन्यु संज्ञा दी है। इसलिए युद्ध का कार्य मन्यु के आश्रित होता है। सेनाध्यक्ष के मन्यु के आगे राष्ट्र की प्रजा नतमस्तक हो जाती है क्योंकि जो वीर राष्ट्र की रक्षा करते हैं, जो राष्ट्र को संकटों से दूर करते हैं और अपने जीवन को राष्ट्र के लिए अर्पण करते हैं उनको सर्वप्रथम नमस्कार, सत्कार, अस्त्र, शस्त्र और अन्न पानादि से परिपूर्ण करना चाहिए। वेद का निम्न मन्त्र इस बात को प्रतिपादित कर रहा है—

नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः।
बाहुभ्यामुत ते नमः।। (यजु० १६।१)

हे सेनापति या सेनाध्यक्ष, तुम दुष्ट एवं पापी जनों को रुलाने वाले हो। अतः दुष्टों के प्रति तेरे प्रकोप—मन्यु युक्त वीर सेना के लिए नमस्कार अर्थात् आदर है। पापियों के ताड़न मारणादि के लिए जो तुम्हारे साधन हैं—उनके लिए भी नमस्कार है। और जो आपकी एवं आपकी सेना की वीर भुजाएं हैं या भुजावत् सहायक साधन अस्त्र-शस्त्रादि को चलाने के हैं, उनको भी नमस्कार है।

राष्ट्र की शक्तियों को नमस्कार क्रिया

सर्वप्रथम सेनापति, सेना, उसके अस्त्र-शस्त्र, उनकी युद्ध की इच्छा और उनकी भुजा तथा भुजावत् सहायक अस्त्र-चालक यन्त्रों के लिए नमस्कार क्रिया जहाँ आदर को प्रकट करती है वहाँ यह क्रिया इन सबके आद्योपान्त, नख से शिख पर्यन्त अवलोकन अर्थात् निरीक्षण कार्य करने को भी प्रकट करती है।

नमस्कार जिसको करते हैं पहले मुख व दृष्टि उसके सम्मुख होती है पुनः ऊपर से नीचे की ओर दृष्टि जाती है। इस प्रकार शिर से दृष्टि नीचे की ओर झुकती है। नमस्कार की इस क्रिया पर ध्यान देने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

नमस्कार की क्रिया जहाँ नमन व सत्कार को भी प्रकट करती है वहां इस क्रिया से नख से शिख पर्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण का कार्य भी स्पष्ट रूप से हो जाता है। सैनिकों का निरीक्षण, उनकी वृत्तियों का निरीक्षण, उनके अस्त्र-शस्त्रों का निरीक्षण और उनके रक्षण के साधनों का निरीक्षण करने के लिए इस मन्त्र द्वारा वेद ने उपदेश दिया है।

नमस्कृत सेना अपनी रक्षक तथा शत्रुओं की नाशक होती है

अस्त्र-शस्त्रों से युक्त वीर सेना का कर्त्तव्य है कि जो सज्जन, सभ्य, विद्वान् एवं धार्मिक जन हैं ऐसे धार्मिक जगत् का तो नाश नहीं होने दे तथा उसकी सब प्रकार से रक्षा करे। इस प्रकार अपने अस्त्र और बल को सज्जनों के प्रति मंगल, सुखकारी बनावें इस प्रकार की शुभ मनोवृत्ति सैनिकों की व सेनाध्यक्ष की होनी चाहिए। इस प्रकार की नीति को अंगीकार करने के लिए वेद निम्न मन्त्र से उपदेश कर रहा है—

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु माहि९ँ सीः पुरुषं जगत् ॥ (यजु० १६।३)

हे स्वकीय आज्ञा द्वारा सेना को संचालित करने वाले सेनापति ! तुम्हारे हाथ में—अधिकार में—जो अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा संहार करने की शक्ति है उसको तू मंगलकारिणी कर तथा हे राष्ट्र आज्ञा रूपी शब्दों की रक्षा व पालनकर्त्ता सेनापति ! तू जो धर्मात्मा, सज्जन, न्यायप्रिय, सभ्य एवं विद्वान् हैं, ऐसे पुरुषार्थयुक्त संसार के मनुष्यों का हनन मत कर अपितु उनकी तो रक्षा ही कर और केवल मात्र दुष्टों का ही हनन कर, जैसा कि अगले दो मन्त्रों में स्पष्ट कहा है—

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्म९ँ सुमना ऽअसत् ॥ (यजु० १६।४)

हे राष्ट्र के आज्ञा-पालन रूपी शब्दों के पालन में ही अपना जीवन-यापन करने वाले सेनाध्यक्ष ! मंगलमय वचनों के द्वारा हम सब भली-भांति प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे लिए सारा जगत् या राष्ट्र राजनीतिक व्याधियों से रहित शुभ मन वाला—उत्तम वातावरण वाला हो। तथा—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥ (यजु० १६।५)

प्रथमो दैव्योऽधिवक्ता भिषक् सर्वानहीन् जम्भयन्नध्यवोचत्—सर्वश्रेष्ठ सैन्य एवं राजनीति के संचालन में प्रसिद्ध और उसके अधिवक्ता तथा राष्ट्र के रोग रूप घातक स्थितियों के निदान करने वाले आप, जो राष्ट्र के लिए सर्पतुल्य, दुःखदायी एवं घातक प्राणी हैं उनको नष्ट करते हुए आदेश प्रसारित करें कि—सर्वान्यातुधान्योऽधराचीः परासुव—जो राष्ट्र की यातनाएं राष्ट्र को अधोगति की ओर ले जाने वाली हैं उनको दूर करो।

शत्रुओं के विनाशार्थ अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग

इस प्रकार इन दोनों मन्त्रों के द्वारा श्रेष्ठों के पालन एवं दुष्टों के विनाश के लिए वेद का आदेश है। दुष्टों के—शत्रुओं के विनाश के लिए अस्त्रों का प्रयोग करने का वेद में विधान है, जैसा कि निम्न मन्त्र से प्रकट है—

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥ (यजु० १६।९)

हे ऐश्वर्ययुक्त सेनापते ! तेरे हाथ में जो बाण हैं—प्रक्षेपणास्त्र आदि तेरे अधिकार में शत्रु पर प्रहार के लिए हैं उनको धनुष के—प्रक्षेपणसाधनयन्त्र के—पूर्वापर किनारों की प्रत्यञ्चा में जोड़ के शत्रुओं पर तू बल के साथ छोड़ और जो तेरे पर शत्रुओं के बाण छोड़े हुए हों उनको दूर कर।

अस्त्र-शस्त्रों की विपुलता हो

इस मन्त्र में शत्रुओं के छोड़े हुए बाणों—प्रक्षेपणास्त्रों को विफल कर देने का महत्त्वपूर्ण

संकेत है। अतः उस कुशलता को जानने वाली सेना युद्ध में विजयी होने योग्य होती है। युद्ध के लिए उद्यत सेना को अधिकाधिक मात्रा में अस्त्र-शस्त्र एवं युद्ध-साधनों से पूर्ण करना चाहिए जिससे इनकी न्यूनता युद्ध के अवसर पर न हो सके। यदि न्यूनता होगी तो बलवान् सेना की भी पराजय प्राप्त होगी। अतः वेद अस्त्र-शस्त्रों की पूर्ति करने के लिए निम्न मन्त्र में आदेश देता है—

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ २ उत।
अनेशन्नस्य याऽइषवऽआभुरस्य निषङ्गधिः ॥ (यजु० १६।१०)

हे अस्त्र-शस्त्र-निर्माण करनेहारे एवं उनको सेना को देने वाले पुरुषों! इस प्रशंसित सेनापति को जो जटाजूट की तरह शिरस्त्राण को धारण किये हुए है, उसका धनुष प्रत्यंचारहित न होने पावे। अर्थात् जिन यन्त्रों या साधनों से प्रक्षेपण क्रिया की जाती है वे सदा पूर्ण एवं कार्यक्षम बने रहें। उनकी विपुलता एवं सान्निध्य में उपस्थिति सदा पूर्ण रहे—इसका प्रयत्न करना चाहिए। बाण या प्रक्षेपणास्त्र भी अपने-अपने अग्रभाग से क्षत विक्षत या रिक्त न होने पावें और जो इसके अन्य बाण या प्रक्षेपणास्त्र हैं उनकी भी न्यूनता न होने पाये—ऐसी व्यवस्था राष्ट्र को करनी चाहिए।

धनुर्विद्या

इन मन्त्रों में धनुष के द्वारा शत्रुओं को जीतने को लिखा है। धनुष युद्ध का प्रमुख अस्त्र है। वर्त्तमान समय में हम धनुष शब्द से जिस सीमित अस्त्र-शस्त्र का अर्थ ग्रहण करते हैं वह तो एक प्रतीक मात्र है। उसकी क्रिया पर ध्यान देना चाहिए। अर्थात् उसके आश्रय से एवं बल से अस्त्रों को फेंकते हैं। एक बाण, गोली या गोला फेंकने वाला भी धनुष हो सकता है और सैकड़ों, बाणों, गोली, या गोलों को फेंकने वाला—शतधन्वा—(यजु० १६।२६) भी धनुष हो सकता है। बाण, गोली गोलों के अतिरिक्त भी उससे अन्य साधनों को भी दूर देश में फेंकने की क्रिया हो सकती है। अर्थात् हम धनुष के इस प्रक्षेपण गुण-धर्म के कारण उसे प्रक्षेपणास्त्र यन्त्र भी कह सकते हैं। जितनी ही अधिक यह सामर्थ्य उसमें होगी, उतनी ही अधिक गति से और दूरी पर प्रक्षेपणीय वस्तु को भेज सकते हैं।

यदि प्रक्षेपणीय वस्तु में ऐसे साधन लगा दिये जावें जो कि—स्वसिच—(यजु० १०।१९) स्वयमेव ही उत्तरोत्तर गति को प्राप्त करने के लिए शक्ति उत्पन्न होती रहे तो उसकी गति बहुत काल तक भी बनी रह सकती है। और यदि इसका सम्बन्ध कक्ष्य केन्द्र-शक्तियों से कर दिया जावे जैसा कि—शरव्ये ब्रह्मसशिते०—(यजु० १७।४५) इन शब्दों से प्रतिभासित होता है तो उसका संचालन, उसकी गति का रोधनादि एक ही स्थान से हो सकता है अतः वेद की धनुर्विद्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

धनुर्विद्या के महत्त्व को समझने के लिए निम्न मन्त्र पर ध्यान देना चाहिए—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥ (यजु० २९।३९)

धनुष या धनुर्विद्या से हम उत्तरोत्तर पृथिवियों को जीतें, धनुर्विद्या से हम विविध मार्गों को जीतें और धनुर्विद्या से तीव्र वेग वाली शत्रु-सेना को जीतें। धनुर्विद्या से शत्रु की सब कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, अतः इसके आश्रय से समस्त दिशाओं को जीतें। इस मन्त्र में धनुर्विद्या के द्वारा समस्त दिशाओं को जीतने का उपदेश है अतः जितना विकसित, आधुनिकतम रूप से इसका विकास होगा उतनी ही अधिक इससे सफलता प्राप्त होगी।

धनुष का प्रमुख अंग प्रत्यंचा है जिसके आश्रय से प्रक्षेपण क्रिया है। इसके बारे में वेद निम्न मन्त्र में वर्णन करता है—

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियँ सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयँ समने पारयन्ती॥ (यजुः २९।४०)

कर्णम् आगनीगन्ति—कान तक खेंची जाने पर अर्थात् प्रक्षेपण की पूर्ण सामर्थ्य से गति एवं बल का संस्कार किये जाने पर—

इज्यया धन्वन् अधि वितता शिङ्क्ते—यह प्रत्यंचा धनुष के ऊपर विस्तृत हुई अव्यक्त शब्द करती है जो कि—

समने पारयन्ती—संग्राम में विजय को प्राप्त करने वाली है।

इस प्रकार इस मन्त्र में धनुष के उस भाग का जिससे प्रक्षेपणीय वस्तु में गति का संस्कार भरा जाता है उसका वर्णन है। गति के संस्कार को भरने के लिए सरल एवं प्राथमिक प्रकार प्रत्यंचा का है और उसको कर्णपर्यन्त खींचने का है और इसे वेग से छोड़ने का है जिससे एक अव्यक्त ध्वनि उत्पन्न होती है। इसके परिष्कृत रूप एवं परिष्कृत क्रियाएँ अनेक हो सकती हैं जिनको आवश्यकता, समय एवं विज्ञान बनवा लेता है।

इससे अगले मन्त्र में धनुष की दोनो कोटि अर्थात् दोनों सिरों को जिनमें प्रत्यंचा लग कर कार्य करती है उस अंग के महत्त्व का वर्णन है—

ते ऽ आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यताँ संविदाने आर्त्नी ऽ इमे विष्फुरन्तीऽअमित्रान्॥ (यजुः २९।४१)

अमित्रान्विस्फुरन्ती इमे संविदाने आर्त्नी शत्रून् अपविध्यताम्—ये धनुष की कोटि जो कि शत्रुओं को कम्पायमान करने वाली हैं वे अच्छे प्रकार विज्ञान के निमित्त से शत्रुओं को दूर-दूर तक ताड़ना करें। ये धनुषकोटियां किस प्रकार प्रेम एवं समान रूप से आचरण करती हैं इस निमित्त दो उदाहरण वेद ने मन्त्र में दिये हैं—

(१) ते समनेव योषा आचरन्ती—वे दोनों कोटि समान स्वभाव वाली स्त्रियों के समान आचरण करती हैं—विपरीत आचरण नहीं करती हैं और

(२) मातेव उपस्थे पुत्रं विभृतां—जिस प्रकार माता अपने गोद में पुत्र को रखती है तद्वत् ये दोनों कोटियां अपने मध्य में ज्या पर वाण को स्थापित करती हैं।

धनुष की प्रत्यंचा को बल एवं वेग का संस्कार इन्हीं दोनों कोटियों से ही प्राप्त होता है। ये दोनों कोटियां समान ही होनी चाहिएं। इसलिए वेद ने—ते आचरन्ति समनेव—दोनों को समान मन वाला आचरण करने वाला बताया है। यदि धनुष की दोनों कोटियां समान नहीं होंगी तो उनका आचरण भी समान नहीं होगा। समान आचरण न होने से प्रत्यंचा पर बल और वेग का संस्कार समान नहीं पड़ेगा और विषम वेग का संस्कार पड़ने से फेंकने की क्रिया निष्फल होगी। अतः वेद ने धनुष की कोटियों को बिलकुल समान कार्य करने वाला बनाने का उपदेश दिया है। और प्रक्षेपणीय वस्तु को प्रक्षेपक अस्त्र के मध्य में इस प्रकार रखने को बताया है जैसे माता बालक को अपने गोद में बैठा लेती है। अर्थात् प्रक्षेपण यन्त्र चारों ओर से समान बल एवं वेग का संतुलित संस्कार करने वाला हो और

उसके मध्य में प्रक्षेपणीय अस्त्र को संतुलित रखना चाहिए जिससे शत्रु-सेना पर ठीक प्रकार से प्रहार होकर विजय हो सके।

धनुष के साथ तूणीर की भी आवश्यकता रहती है। तूणीर में बाण रखे जाते हैं और उसमें से लेकर धनुष पर रखे जाते हैं। वेद ने इसके महत्त्व को निम्न मन्त्र में प्रदर्शित किया है—

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥ (यजुः २९।४२)

बहुत से बाणों का पितावत् रक्षक जिसके बहुत पुत्र हैं ऐसा तूणीर संग्रामों को प्राप्त होकर चीत्कार शब्द करता है तथा पीठ की ओर बंधा हुआ यथावसर प्रयुक्त हुआ संकीर्ण तथा विस्तृत संग्रामों को जीतता है।

मन्त्र का तात्पर्य प्रकट होता है कि धनुष अर्थात् प्रक्षेपक यन्त्र के लिए उसी के समीप ही बाण या प्रक्षेपणीय अस्त्रों का उत्तम संग्रह विद्यमान रहना चाहिए जिससे यथावसर उनका प्रयोग करके छोटे-बड़े संग्रामों में विजय-प्राप्ति हो सके।

अस्त्र-शस्त्रयुक्त सेना

वेद विविध अस्त्र-शस्त्र युक्त सेना का अनेक मन्त्रों में उपदेश देता है—

नमो निषङ्गिणे—(यजुः १६।२१)—बहुत से अच्छे बाण, तलवार, भुशुण्डि, शतघ्नी अर्थात् तोप, बन्दूक और तोमर आदि जिस सेना के पास हैं उसके लिए हमारा नमस्कार हो। उसके लिए हम अन्न की व्यवस्था करें। उसके लिए हम अस्त्र-शस्त्रों की भी पूर्ण व्यवस्था करें। निषंग शब्द शस्त्रों के व्यवस्थित समूह को कहते हैं। समयानुसार जो भी शस्त्र होते हैं वे इस शब्द की परिधि में आ जाते हैं। आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों के व्यवस्थित समूह के धारण करने वाले निषंगिन् वाची हुए। फिर चाहे वे अणु आयुध हों या सम्मुख लड़ने के बरछी आदि शस्त्र हों।

इषुधिमते—(यजुः १६।२१)—प्रशंसित बाणों को धारण करने वाले। इषु शब्द का अर्थ है जिससे मारते हैं—इष्यते हिंस्यतेऽनेन। इष का अर्थ जाना और सरकाना भी है। अतः इन दोनों हिंसा और सरकाना या जाने की क्रिया की पूर्ति प्राचीन काल में बाण के द्वारा भी करते थे। धनुष से बाण को सरकाने की क्रिया होती है और वह बाण जाने की क्रिया करता है—गति करता है और अपने लक्ष्य पर, अपने तीक्ष्णाग्र भाग से बेधन करके हिंसन कर्म को सफल करता है अतः वह इषु शब्द की परिधि में आ जाता है।

इषु अस्त्र · इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इषु का अर्थ केवल लोकप्रचलित बाण से ही वेद में अभिप्रेत है। परन्तु इस प्रकार के सभी नवीनतम अस्त्र जो एक स्थान से गति द्वारा सरकाए जाते हैं या फेंके जाते हैं वे इषु की परिधि में आते हैं और इसके साथ जिनमें हिंसन क्रिया भी होती है वे भी इषु ही हैं। देश, काल, परिस्थिति एवं स्वसामर्थ्यानुसार इषु के रूप बदलते रहते हैं और बदलने भी आवश्यक हैं। अतः समस्त प्रक्षेपणास्त्र इषु हैं। सेना के पास इषु हों—अर्थात् दूर-मारक अस्त्र हों—प्रक्षेपणास्त्र विविध प्रकार के हों। प्रशंसित इषुओं को धारण करने वाली सेना ही आदर को प्राप्त हो सकती है अतः उसी के लिए राष्ट्र की प्रजा का नमस्कार—आदर हो। उसके भरण-पोषण के साधन, अन्नादि की पूर्ति प्रजा के द्वारा हो। उसके अस्त्र-शस्त्रों की विपुलता के लिए प्रजा का कठोर परिश्रम भी आवश्यक है।

सैन्य विभाग

सेना के कतिपय विभाग एवं उनके सहायकों के बारे में वेद ने निम्न प्रकार बताया है—

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो ऽ रथेभ्यश्च वो नमो नम क्षत्तृभ्यः संगृहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः ।। (यजुः १६।२६)

सेना के लिए सत्कार हो सेनापतियों के लिए सत्कार हो। सेना के उस विभाग के लिए सत्कार तथा सब आवश्यक साधनों की भेंट हो जो रथारूढ़ है या रथ वाली सेना है। अर्थात् जिस सेना के पास पृथिवी पर शीघ्र गमनागमन के यानादि रथों के साधन हैं। अथवा वायु के मार्ग से जाने के लिए वायु-रथ—विमानादि यान हों। अथवा जलादि मार्ग में गमनागमन साधन युक्त जल रथ, नौका, पोतादि साधन युक्त सेना है उसके लिए भी नमस्कार सत्कार, अन्नादि साधन जुटाते हुए सत्कृत करना चाहिए।

रथ के संरक्षक, अधिष्ठाता एवं संचालक वर्ग और जो रथों के संग्रहकर्ता विभाग के हैं उनके लिए भी सत्कार हो क्योंकि वे अपने संग्रह-स्थान में उन्हें रखकर उनकी रक्षा, देखभाल, न्यूनता की पूर्ति करके कार्य-क्षम बनाये रखते हैं। इस सेना के दो और विभाग बताये। एक जो विशाल रूप से प्रत्यक्ष दीखती है और दूसरी अर्भक अर्थात् गुप्त रूप से विविध प्रकार से रहती है। इन दोनों प्रकार की सेना के लिए सत्कार व साधन प्रसूति होनी चाहिए। इस प्रकार इस मन्त्र में सेना के निम्न विभाग एवं सैनिकों की स्थिति के पद बताए हैं

सेना	पदाधिकारी
(१) सेना सामान्य जो सबको सैनिक रूप में दीखते हैं।	सेनापति—सेनानायक
(२) रथ-सेना	महारथी
(३) रथ-सचालक वर्ग	सारथि
(४) संग्रहीता सेना	संगृहीता
(५) अर्भक सेना	गुप्त रूप से विचरण करने वाली सेना का विभाग

रथ का महत्त्व

इस मन्त्र में रथ, यानादि वाहनयुक्त सेना का भी वर्णन है। रथ, वाहन, यानादि की युद्ध में अनिवार्य आवश्यकता है। वेद के निम्न मन्त्र में रथ की महिमा प्रदर्शित की गई है—

रथवाहनँ हविरस्य नाम यत्रायुध निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुप शग्मँ सदेम विश्वाहा वयँ सुमनस्यमानाः ।। (यजुः २६।४५)

हे वीर पुरुषो ! इस योद्धाजन के जिस यान में, जिससे विमानादि चलते हैं वह हवि अर्थात् ग्रहण करने योग्य अग्नि, ईंधन, द्रवादि, काष्ठ और धातु आदि सामग्री तथा बन्दूक, तोप, खड्ग, धनुष-बाण शक्ति और पद्म, फांसी आदि शस्त्र तथा इस योद्धा के कवच और नाम स्थित हैं उस यान में सुन्दर विचार करते हुए हम लोग सुख तथा उस रमण करने योग्य यान को सब दिन निकट से प्राप्त होवें।

वेद के निम्न मन्त्र में रथ के सारथि और उसकी रश्मिओं का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र-यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ।। (यजुः २६।४३)

अच्छा सारथि संग्राम में पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं जल में चलने वाले यानों में स्थित हुआ जहां-जहां चाहता है वहां-वहां अश्वशक्ति को जो अग्न्यादि के सहयोग से यान्त्रिक भी होती हैं, उनको अग्रसर करता है। यतः मन के पीछे सारथि की इच्छानुसार लगामें नियन्त्रण करती हैं। अतः हे विद्वानो ! लगामों की महिमा को प्रशंसित करो।

रथ सैनिक

इन रथों पर जो रथी सवार होकर युद्ध में जावें वे कैसे शूरवीर हों इस बारे में वेद का निम्न मन्त्र वीरों की योग्यता का वर्णन कर रहा है—

स्वादुषँ सदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।

चित्रसेना ऽ इषुबला ऽ अमृध्राः सतोवीरा ऽ उरवो व्रातसाहाः॥ (यजुः २६।४६)

हे युद्ध करने वाले वीर पुरुषो ! तुम लोग भोज्य पदार्थों को अच्छी प्रकार सेवन करने वाले बनो। अधिक अवस्था वाले बनो। उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए कष्ट सहन करने वाले बनो। शक्तिशाली बनो। अगाध आशय के बनो। आश्चर्य गुणयुक्त सेना वाले बनो। अस्त्र शस्त्र रूपी बलों के धारक बनो। दृढ़ शरीर वाले, बड़ी जंघा व छाती वाले, वीरों के समूहों के सम्मुख साहसी बने रहने वाले, सैन्य के मध्य में वीर एवं विजयी कहलाने वाले तथा राज्य के पालक बनो।

सैनिकों का शारीरिक एवं मानसिक बल

हमारी सेना के शूरवीर कैसे हों इसके बारे में वेद ने उपदेश किया अश्मा भवतु नस्तनूः। (यजुः २६।४६) अर्थात् हमारे शरीर पत्थर के सदृश दृढ़ हों। जिनके शरीर पत्थर सदृश दृढ़ होंगे वे ही वीर शत्रुओं के आघातों को सह सकेंगे और शत्रुओं पर भी प्रहार कर सकेंगे।

जो व्यक्ति दुर्बल एवं कोमल गात्र वाला है वह युद्ध में कुछ नहीं कर सकेगा। अतः वेद ने शरीरों को पत्थर के समान, वज्र के समान कठोर एवं बलवान् बनाने का आदेश दिया है। पत्थर जिस प्रकार अनेक आघातों को सहता रहता है तथा असह्य प्रतीयमान बोझ एवं आघातों को शान्त रूप से सहता रहता है उसके सदृश गुण हमारे में भी आने चाहिएं। इसी प्रकार वीरता के भाव भरने एवं मानसिक बल तथा साहस उद्दीपनार्थ वेद ने कहा—

अद्रिं रुजेम् (ऋ० ४।२।१५)

मैं पर्वत के समान विशाल, दृढ़, दुर्भेद्य एवं सबसे टक्कर लेनेवाले को भी चूर चूर कर दूं और सीमा का अचल प्रहरी बनूं। अद्रि का अर्थ पर्वत भी है और सूर्य भी है। अतः मैं सूर्य समान तेजस्वी, प्रचंड, शत्रुओं को भी अपने तेज से झुलसा देने वाला बनूं। ऐसी तेजस्वी स्थिति में ही वीर के अन्दर निम्न भावना जाग्रत् होती है—

अङ्गिरसो भवेम। (ऋ० ४।२।१५)

मैं अंगारे के समान सबको तप्त करके भस्म कर देने वाला बनूं। मेरा यह अग्नि का गुण इतना प्रचंड हो कि—

विश्वं समत्रिणं दह। (ऋ० १।३६।१४)

विश्व के सैन्य को मैं अपनी प्रचंड अग्नि से तिनके के समान भस्मीभूत कर सकूं। ऐसी तेजस्विता से ही—

अनाम्योज आ चक्रे। (ऋ० ३।६२।५)

मैं कभी न झुकने वाला बन सकूंगा। जो व्यक्ति हर किसी के आगे झुक जाता है वह बलवान् होने पर भी उपयोगी सिद्ध न होगा। सबके सामने झुक जाने वालों की सेना अपने अस्त्र-शस्त्रों के सहित दूसरों को आत्म-समर्पण के सिवाय और क्या कर सकेगी। उससे शत्रु-पक्ष ही प्रबल होकर विजयी हो जाता है। अतः अपने सैनिकों की इतनी तेजस्विता होनी चाहिए कि वे शत्रु-पक्ष के सामने झुकने वाले न बनें अपितु—

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः। (अथर्व० ५।३।१)

अर्थात् मेरे लिए चारों दिशाओं के लोग नमन करें। मेरा बल, तेज ऐसा हो कि उसके प्रभाव से वे मेरे अनुकूल बनें एवं मेरे वश में हो जावें, क्योंकि—

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये। (ऋ० १०।४८।५)

मैं इन्द्र हूं। परम तेजस्वी हूं। मैं कभी पराजित नहीं हो सकता। ऐसी भावना हमारे वीरों में होनी चाहिए तभी—वयं जयेम—(ऋ० १।१०२।४) हम विजयी हों—इस आशा को पूर्ण कर सकेंगे।

सेना के साधनों का निर्माण करने एवं सहयोग देने वालों का सत्कार

नमः सेनाभ्यः (यजु: १६।२६) में रथ-सेना का उल्लेख है तथा अन्य भी मन्त्रों में रथादि का वर्णन है। इसके आगे के मन्त्र में रथ सेना के साधनों को बनाने वालों का वर्णन निम्न प्रकार है—

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः (यजु: १६।२७)

सेना के लिए रथादि निर्माण की आवश्यकता होने पर राष्ट्र के पास उत्तम शिल्पी जिनकी बुद्धि के कौशल से नाना प्रकार के पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं जल पर या जल के भीतर अच्छी प्रकार से सेना का गमनागमन हो सके या सामान का वहन हो सके ऐसे रथ यानादि बनाने के लिए उत्तम शिल्पियों की आवश्यकता है और उनका उचित सम्मान भी पद एवं आर्थिक दृष्टि से होना चाहिए। उनके निर्देश में कार्य करने वाले कुशल कारीगर रथ यानादि बनाने वाले होने चाहिएं।

मिट्टी के पात्र आदि बनाने के कार्य में कुशल और लोहे के कार्य करने में कुशल व्यक्ति भी चाहिएं। जिससे सेना के लिए खड्ग, बन्दूक, तोप आदि अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण का कार्य सम्पन्न हो सके। राष्ट्र की सेना के सहयोग के लिए वन, पर्वतादि में रहकर दुष्ट जीवों को ताड़ना देने वाले एवं राष्ट्र के वन पर्वतों की रक्षक सेना के लिए नमस्कार हो। अर्थात् पर्वतीय सेना का भी निर्माण राष्ट्र ने करना चाहिए।

ऐसे व्यक्ति जो विविध प्रान्तों या जाति की भाषाओं के ज्ञान में प्रवीण हों उनका भी राष्ट्र की सेना के सहयोग के लिए राष्ट्रको संग्रह करना चाहिए अतः उनके लिए भी सत्कार हो। कुत्तों को शिक्षा देकर जो विविध प्रकार के गुप्त भेदों का पता लगा सकते हैं उनका भी राष्ट्र को रक्षण करना और उनका यथोचित उपयोग राष्ट्र-रक्षा व सेना की सहायता के लिए प्रयोग करना चाहिए। और जो अपने शिकार का पीछा करके उसे प्राप्त करने के कार्य में कुशलता सम्पादन किये हुए व्यक्ति हैं उनका भी यथोचित उपयोग सेना के कार्य की सहायता में करना चाहिए।

राष्ट्र के पास श्रेष्ठतम अस्त्र एवं साधन हों

राष्ट्र या सेना के पास अद्भुत युद्ध साधन होने चाहिएं इसके लिए वेद कहता है कि—

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च। (यजु: १६। २९)

सेना के पास ऐसे सूक्ष्म निरीक्षक एवं दूरवीक्षक यन्त्र होने चाहिएं कि जिनकी दर्शन-शक्ति सामान्यदर्शन शक्ति से सहस्रगुनी अधिक हो, जिससे दूर से दूर और परोक्ष देशों की स्थिति का भी सूक्ष्म रीति से दर्शन किया जा सके और उनके गुप्त रहस्यों का पता लग सके। ऐसे सहस्राक्ष यन्त्रों की उपस्थिति सेना के लिए अत्यावश्यक है और ऐसे यन्त्रों के द्वारा दूर देशों की स्थिति को जानने में कुशल व्यक्तियों की भी आवश्यकता है। अतः नमः सहस्राक्षाय च—यह वेद ने कहा।

दूसरा यन्त्र सेना के पास शतधनु-अस्त्र होना चाहिए। शतधन्वस्त्र का तात्पर्य है जिस अस्त्र के द्वारा एक ही क्षण में सैकड़ों बाण, गोली, गोले आदि का प्रयोग हो सके। ऐसे अस्त्र से युक्त सेना का एक ही वीर सैकड़ों को युद्ध में मार सकता है और विजय को प्राप्त कर सकता है। वेद ने इसी स्थिति के बारे में निम्न शब्द कहे हैं—

एकवीरः शतँ् सेना ऽ अजयत्साकमिन्द्रः। (यजुः १७। ३३)

पूर्वोक्त अस्त्र-शस्त्रों से युक्त एकाकी वीर सैकड़ों की सेना को जीतता है। युद्ध के लिए सेना के अन्य प्रकारों का वर्णन करते हुए वेद में आया है—

अतिरिक्त सेनाएं एवं सहायक श्रेणियां

नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय च। (यजुः १६। २९)

पर्वतीय सेना

हमारी ऐसी भी पर्वतीय सेना हो जो गुप्त रूप से अगम्य पर्वतों में जहां कोई पहुंच न सके, ऐसे गुप्त स्थानों में सुरक्षित रहने वाली भी हो। अभी पूर्व १६ अध्याय के २६वें मन्त्र में हमने जिस पर्वतीय सेना का उल्लेख किया था वह निषाद गुण विशिष्ट व्यक्तियों से निर्मित सेना का किया था परन्तु इस मन्त्र में जिसका वर्णन है वह उससे भिन्न सेना है। वह निषाद पर्वतीय सेना प्रकट रूप में रहने वाली सेना ही है जिसको पर्वतकों में इतस्ततः भ्रमण करना होता है। इस मन्त्र में वर्णित पर्वतीय सेना गिरिशायी—गुप्त रूप सेना की छावनी है जो अगम्य पर्वतों के मध्य गुहा कन्दराओं में निवास कर रही है और अपने गुप्त अभ्यास करती रहती है।

शिपिविष्ट श्रेणी

इसके अतिरिक्त शिपिविष्ट, सेना का वह अंग है जो सेना के पशुओं की रक्षा एवं देख भाल करता रहता है तथा उनको पालता है।

मीढुष्टम श्रेणी

मीढुष्टम, सेना का वह अंग है जो सेना को साधन, सामग्री, वस्तु आदि पहुंचाने में सदा सचेत रहता है और उनकी खान, पान आदि की सुविधा प्रदान करने की व्यवस्था करता है। इस प्रकार इस मन्त्र में सेना और उसके सहायक अंगों का वर्णन किया गया है।

शीघ्रगामी सेनाएँ

सामान्य गति वाली सेना और शीघ्रगामिनी सेना इस प्रकार वेद ने सेनाओं का भेद बताया है—

नम आशुषेणाय चाशुरथाय च। (यजुः १६। ३४)

शीघ्रगामी सेना और शीघ्रगामी रथ-सेना के लिए और उसके चालकों के प्रति हमारा सत्कार हो। यजुः १६।२६ में जो रथ-सेना का वर्णन है उसी में और भेद-प्रदर्शन करने के लिए—आशुषेणाय और आशुरथाय—ये शब्द वेद में प्रयुक्त हुए हैं।

आशु सेना अर्थात् शीघ्रगामी सेना से तात्पर्य उसका भी हो सकता है जो सदा, प्रतिक्षण अपने आदेश के प्रति सजग है और गमन के लिए या अन्य कार्य के लिए तत्काल कार्यवाही करने में जाग्रत् रहती है। इन शब्दों से उस सेना का भी तात्पर्य है जो यान्त्रिक साधनों से तीव्र गति से चलने वाले हैं एवं आशुरथ सेना—तीव्रतम गति वाले वाहनयानादि के सहाय से गमन एवं युद्ध करने में जो अभ्यस्त हैं उनके लिए है। ऐसी सेना के—

प्रहारक सेना

नमः शूराय चावभेदिने च। (यजुः १६।३४)

शूर वीरों का और जो शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने की सामर्थ्य रखने वाले हैं उनका भी हम सत्कार करें जिससे वे विजयी हो सकें। इसी मन्त्र से आगे के मन्त्र में सेना के और भी अंगों का निम्न वर्णन है—

श्रुत सेना

नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च। (यजुः १६।३५)

सेना में एक विभाग श्रुताय—सुनने के लिए हो जो अपनी स्थिति की सूचना अपने केन्द्र को देकर सम्पर्क स्थापित करता रहे और अपनी सेना को प्रोत्साहित करता रहे और इसी का एक विभाग ऐसा भी हो जो सब शत्रु-पक्ष के समाचारों को, संदेशों को सुनने का प्रयत्न करता रहे। आधुनिकतम पूर्णता प्राप्त सेना के लिए यह व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सेना के लिए वाद्य

सेना को प्रोत्साहन देने के लिए वाद्यों के उपयोग के लिए वेद कहता है :—

नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च। (यजुः १६।३५)

दुन्दुभि आदि वाद्य जो कि वायु के आघात से बनते हैं उनके बजाने वालों के लिए और जो आघात से बजने वाले ढोल, मृदंग, नगाड़ा आदि वाद्य हैं उनके बजाने में कुशलों के लिए सत्कार करना चाहिए जिससे वे अपनी वादन-कुशलता से सेना में वीरता, तेजस्विता एवं प्रचंडता की वृद्धि करके विजय प्राप्त कराने में सहायक हो सकें।

दुन्दुभि रण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। दुन्दुभि के बारे में वेद में कहा गया है—

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो ऽअप सेध शत्रून्॥ (यजु० २९।५५)

हे दुन्दुभि! वह तू पृथिवी एवं द्युलोक को गुंजा दे जिससे तेरी महिमा को सर्वत्र विविध जगत् मान जाय। राजा तथा विद्वान् सेनाध्यक्षों के द्वारा सुसेवित हुई तू दूर से तथा अतिदूर से शत्रुओं को दहला दे।

आक्रन्दय बलमोजो न आधा निष्टनिहि दुरिता बाधमानः।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना ऽइत ऽइन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व॥ (यजु० २९।५६)

हे दुन्दुभि! तू शत्रुओं को रुला कर हमारे में तेज को धारण करा। विघ्नों को हटाते हुए निनादित हो। दुष्ट, दुःखदायी शत्रुओं को यहाँ से दूर कर दे। यतः तू राजा की मुष्टि वज्र के समान है अतः हमें दृढ़ कर।

अमूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ।। (यजु० २६।५७)

हे राजन् अमुक शत्रु सेना को भली प्रकार दूर फेंकिए। इन अपनी सेनाओं को लौटा लीजिए । दुन्दुभि विजय-ध्वजावाली ध्वनि कर रही है और हमारे घुड़सवार भली भांति विचर रहे हैं । हमारे सारथि लोग विजय प्राप्त करें । इस प्रकार वेद ने दुन्दुभि वाद्य की रक्षा के लिए उपयोगिता एवं विजय-प्राप्ति में साहाय्य की बात प्रकट की है ।

बहुत प्रकार के अस्त्र शस्त्र हों

सेना के पास हजारों प्रकार के अस्त्र शस्त्र होने चाहिएँ । इसके लिए वेद ने कहा है

यास्ते सहस्रँ् हेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः ।। (यजु० १६।५२)

हे सेनाध्यक्ष ! तुम्हारे पास जो असंख्यात प्रकार के वज्रादि अस्त्र हैं वे हमसे भिन्न दूसरे शत्रुओं को निरन्तर छेदन करें ।

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ।। (यजु० १६।५३)

हे ऐश्वर्यशाली सेनापति ! जो आपके भुजाओं सम्बन्धी वज्रों की प्रबल गतियां हैं उनके स्वामिपन को प्राप्त आप हजारों शत्रुओं के मुख पीछे फेर कर दूर कर दीजिए ।

इन मन्त्रों में असंख्यता प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का शत्रु के नाश के लिए प्रयोग करने का संदेश है । अतः सेना के पास हजारों प्रकार के असंख्य अस्त्र शस्त्र होने चाहिएँ ।

सेनाओं के पृथक्-पृथक् शिविर

राष्ट्र की अपरिमित, असंख्य सेना का पृथक्-पृथक् क्षेत्रीकरण करते हुए, क्षेत्र के अन्तर से हजारों मीलों के क्षेत्र में नियन्त्रण स्थापित करे और उनको अस्त्र शस्त्रादि से संयुक्त रखना चाहिए। इसके लिए वेद निम्न मन्त्र में निर्देश करता है—

भू सेना

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधिभूम्याम् ।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ।। (यजु० १६।५४)

जो राष्ट्र की सेना के सैनिक, विशाल संख्या में, असंख्य प्रतीत होने वाले इस पृथिवी पर हैं और व्यवस्थानुसार निर्धारित क्षेत्रों को स्वनियन्त्रण में रखे हुए हैं एवं स्थित हैं, उनके सम्बन्ध से उन प्रदेशों में शस्त्रास्त्रों की प्रसारण की व्यवस्था करें ।
इस प्रकार की व्यवस्था पृथिवी, समुद्र, अन्तरिक्ष, नदी, वन, मार्ग आदि सर्वत्र करनी चाहिए ।

इस मन्त्र में—ये रुद्रा अधि भूभ्याम्—शब्द आये हैं अर्थात् जो सैनिक पृथिवी पर हैं उनके लिए संकेत किया है इसके आगे के मन्त्र में—अन्तरिक्षे भवा (यजु० १६।५५) पाठ आता है। अर्थात् जो सैनिक अन्तरिक्ष में हैं उनके लिए भी अस्त्र-शस्त्रों की व्यवस्था का आदेश है। इसी प्रकार ५६वें मन्त्र में—नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवँ् रुद्रा ऽ उपश्रिताः—अर्थात् सूर्यादि लोक लोकान्तरों में रहने वाले रुद्र रूपी सैनिक नील ग्रीवा वाले और श्वेत कण्ठ वाले हैं उनको भी अस्त्र शस्त्रों से शासन को सुसज्जित करना चाहिए अर्थात् लोक लोकान्तरों में भी अपना शासन रहे इसको वेद ने स्पष्ट कहा ।

भूगर्भ-सेना

इसी प्रकार भूगर्भ के सैनिकों के लिए भी वेद ने कहा—

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा ऽ अधः क्षमाचराः । (यजु० १६।५७)

नीले व श्वेत रंग के चिह्न ग्रीवा पर धारण करने वाले हिंसाशील सैनिक जो कि पृथिवी के गर्भ में रहने एवं चलने वाले हैं उनको भी अस्त्र-शस्त्र प्रसारित करने चाहिएं। राष्ट्र-रक्षा के मोर्चों को बनाने एवं युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए एवं आत्मरक्षार्थ आज कल खाई एवं सुरंग रूप के मार्ग बनाए भी जाते हैं। पूर्व काल में भी प्रयोग करते थे। परन्तु भूगर्भ की सेना का भी संगठन करने का वेद उपदेश देता है। इसी प्रकार—

मार्ग, स्थान विशेष एवं अन्न रक्षक सेना

ये पथां पथि रक्षयः । (यजु० १६।६०)

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः । (यजु० १६।६१)

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् । (यजु० १६।६२)

इन मन्त्रों में मार्गों की रक्षक सेना, तीर्थ सेना और जो शत्रु के अन्न जलादि को दूषित करके नष्ट करने वाली सेना के विभाग हैं उनका संकेत है। परन्तु इतने सैनिकों का वर्णन करने पर वेद कहता है कि इतने ही नहीं अपितु और भी बहुत प्रकार के यथावश्यक सैनिक होने चाहिएं—

विविध स्थान स्थित सेना

य ऽ एतावन्तश्च भूयाँसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे । (यजु० १६।६३)

जो इतने व्याख्यात किये गये सैनिक हैं और इतने जो अधिक प्रकार के सैनिक दिशाओं में विविध प्रकार के स्थित हैं—उनको भी युद्ध की सामग्री, जीवन-निर्वाह की सामग्री व्यवस्थापूर्वक सम्पन्न करते रहना चाहिए। इस प्रकार अधिक एवं अतिरिक्त सैन्य भी रखने का वेद संकेत देता है।

वर्षणशील द्यु-सेना

द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय एवं पृथिवीस्थानीय सेनाओं के कार्य युद्ध एवं रक्षण तो हैं ही, परन्तु इनके और भी विशेष कार्यों का वर्णन निम्न मन्त्र में मिलता है—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः । (यजुः १६।६४)

उन रुद्रनामक सैनिकों को नमस्कार है जो द्युलोक में हैं और जिनका कार्य ऊपर से किसी भी पदार्थ की वर्षण क्रिया द्वारा शत्रुओं की हानि और स्वकीयों की रक्षा एवं पालन करना है। अर्थात् ऐसी सेना जो ऊपर से—आकाश से प्रहार करने वाली या अस्त्रों को ऊपर से नीचे की ओर यानों के माध्यम से छोड़कर शत्रुओं का उच्छेदन करने में समर्थ है या अपनी सेना को अस्त्र शस्त्र, खाद्यादि पदार्थ द्युलोकस्थ प्रदेशों से भौतिक या आध्यात्मिक विज्ञान के माध्यम से प्रसारित करते हैं। इस प्रकार की वर्षण क्रिया ही जिनके प्रमुख बाण रूप हैं और इनके द्वारा शत्रुओं का संहार कर सकते हैं या जिनमें जल की वर्षा कराने एवं रोकने की सामर्थ्य है, उन द्युलोकस्थ रुद्रों का राष्ट्र में उचित सम्मान होना चाहिए। इसी प्रकार—

वात विज्ञानयुक्त सेना

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात ऽ इषवः । (यजुः १६।६५)

उन रुद्र सैनिकों को जो अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं और जिनके आयुध—अनेक प्रकार की वायु हैं, उनका सत्कार हो। जिस सेना को वायु के नियन्त्रण करने एवं वायु को वेगपूर्वक चलाने की विद्या आती हो अर्थात् प्रचंड आंधी को चलाने और उसको रोकने की भी सामर्थ्य रखने वाली सेना अपने वात रूपी आयुधों से शत्रुओं का नाश एवं स्वकीयों के प्राण की रक्षा करने में समर्थ होती है। अथवा वायु में रोगोत्पादक एवं विनाशक द्रव्यों का मिश्रण करके शत्रुओं का नाश करने की विद्या में प्रवीण हो, इसी प्रकार विषाक्त रोगयुक्त एवं घातक वायुओं का शोधन रूप प्रतिकार करने की कला वायु युद्ध (गैस युद्ध) करने में प्रवीण सेना का सब प्रकार से सम्मान, सत्कार आदि करना चाहिए। इसी प्रकार—

अन्नायुध सेना

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः। (यजुः १६।६६)

पृथिवीस्थानीय उन रुद्र सैनिकों को जिनके बाण अन्न रूप में हैं उनका भी सत्कार हो। रोग ग्रस्त क्षेत्रों में अन्न दूषित होने पर अन्न ही प्राण घातक, वाणरूप बन जाता है। अन्नाभाव क्षेत्र में दुष्काल के समय अन्न का अभाव रूप बाण प्राणघातक बन जाता है। अतः जो राष्ट्र के अन्न की रक्षा एवं समृद्धि करते हैं, अधिक अन्न उत्पन्न करने के वैज्ञानिक प्रकारों का अन्वेषण करते हैं तथा अन्न को दूषित करने के प्रकार जानते हैं या अन्न की उत्पत्ति के विनाशन की विद्यादि के द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने के कार्य में कुशल हैं या इसमें संलग्न हैं उनको भी सत्कृत करना चाहिए। यह भी युद्ध की कलाएँ हैं। अनेक प्रकार के प्रयोग युद्ध में आवश्यक होते हैं।

युद्ध के लिए अद्भुत शक्तियां

युद्ध के लिए उपरोक्त प्रकार के अस्त्र-शस्त्र और क्रियाओं का वर्णन वेद में है। परन्तु इसके अतिरिक्त युद्ध के लिए अन्य भी साधनों को अपनाने का वेद में वर्णन है। वेद के निम्न मन्त्र में 'अप्वा' नामक एक शक्ति या अस्त्र का नाम आता है जिससे शत्रुओं को मूर्छा हो जाती है। वह शत्रुओं के अंगों को जकड़ लेती है और उनको भस्म भी कर देती है। आजकल जैसे अश्रुगैस, हास्य गैस, मूर्छना एवं शिथिलांग कारक गैस आदि हैं। तत्सदृश इसको कोई शक्तिशाली गैस ही समझ सकते हैं या अन्य किसी प्रकार की कल्पना की जा सकती है एवं तदनुसार उसका निर्माण हो सकता है। मन्त्र में निम्न प्रकार वर्णन प्राप्त होता है—

(१)

अमीषां चित्तं प्रति लोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ (यजुः १७.४४)

अप्वा का तात्पर्य है जो शत्रुओं के प्राणों को नष्ट करती है। अप्वा उस व्याधि या भय को भी कहते हैं जिससे युक्त होने पर प्राणों का ह्रास होने लगता है। सुख एवं प्राणों को हरने वाली अप्वा है। इस मन्त्र में अप्वा को सम्बोधित करते हुए कहा है—

१. अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती—उन शत्रु-सेना के चित्त को मोहग्रस्त करती हुई।
२. अङ्गानि गृहाण—उनके अंगों को तू जकड़ ले—पुनः
३. परेहि—दूर हो। अर्थात् जब तक उनके अंगों को जकड़कर पूर्ण निष्क्रिय न कर दे तब तक वहीं रह और—

४. अभि प्रेहि—पुनः वहां से अन्य शत्रु-सेना पर जाकर अपना प्रभाव दिखा और उन शत्रुओं को—
५. निर्दह—अच्छी प्रकार भय, रोग, शोक, चिन्ता आदि से जला दे या उष्णता, तीव्र तापादि से जला दे जिससे—
६. अमित्राः हृत्सु शोकैः अन्धेन तमसा सचन्ताम्—शत्रुजन अपने हृदयों में शोकों से गाढ़ अन्धकार युक्त हो जावें।

शत्रु-सेना की ऐसी स्थिति करने की कल्पना विशेष प्रकार के धूम्र या गैस-प्रयोग से या चित्त को तीव्र मानसिक शक्ति के द्वारा प्रभावित करने से हो सकती है। धूम्र या गैस का प्रयोग अग्नि के माध्यम से सरलता से होता है परन्तु यन्त्र-साधनों के साहाय्य से उनको यथेच्छ स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है। अतः एक स्थान पर धूम्र का निर्माण करके उसको किसी में भरकर इच्छित स्थान पर ले जाया जा सकता है तथा ऐसे भी साधन हो सकते हैं कि उनको यथेच्छ प्रयोग स्थान पर यन्त्रों द्वारा तत्काल उत्पन्न किया जा सकता है। प्रयोग-विधियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं।

इसके आगे के मन्त्र में एक ऐसे ही अस्त्र का प्रयोग है जिसको यन्त्र से छोड़ने से वह शत्रुओं का अच्छी प्रकार उन्मूलन करता है—

(२)

अव सृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसँशिते।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व माऽमीषां कञ्चनोच्छिषः॥ (यजु: १७।४५)

१. शरव्ये ब्रह्मसंशिते अवसृष्टा—हिंसा के लिए शरमयी वज्र जो वेद-विज्ञान में कुशल व्यक्ति द्वारा विधि एवं विचारपूर्वक छोड़ा जाता है। वह—
२. परा पत—दूर—सुदूर तक जाकर वहां गिरे, और
३. अमित्रान्गच्छ—शत्रुओं को प्राप्त हो, उनको मारने से विजय को—
४. प्र पद्यस्व—प्राप्त हो।
५. अमीषां कञ्चन मा उच्छिषः—उन दूर देश में ठहरे हुए शत्रुओं में से मारे विना किसी को मत छोड़े।

इस मन्त्र में—शरव्ये ब्रह्मसंशिते—शब्द महत्त्वपूर्ण है। इनसे यह ज्ञात होता है कि सामान्य बाणादि से अधिक शक्तिशाली भी किसी प्रकार के बाण हैं जिनका इसमें संकेत है। ऐसे शस्त्र के प्रति—अमित्रान्गच्छ परा पत। प्रपद्यस्व। अमीषां कञ्चनोच्छिषः। आदि का आदेश देना, उसके संचालन या निर्देशक के नियन्त्रण के सूचक हैं। इसी के कारण ब्रह्मसंशिते—शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् छोड़ा गया शस्त्र, छोड़ने वाले के अत्यन्त नियन्त्रण में, उसके संकेतानुसार ही गति करे और कार्य भी सम्पादन करे। इस प्रकार छोड़े गये शस्त्रों पर उनकी गति पर भी, एक कोष्ठ से नियन्त्रण भौतिकविज्ञान या अध्यात्मविज्ञान के आश्रय से ही हो सकता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के विज्ञान का वेदवेत्ता व्यक्तिकरण कर सकता है।

इसी प्रकार शत्रु की जो सेना अत्यन्त बलवान् है, अपनी सेना जिसका सामना न कर सके उसको परास्त करने के लिए वायु सेनाध्यक्ष या विज्ञानवेत्ता या यज्ञ की धूम्रक्रियाओं को युद्ध के उपयोग में प्रयुक्त कर सकने वाले उत्तम कर्मकाण्डी याज्ञिक विद्वान्, किस प्रकार परास्त करें इसका वर्णन निम्न मन्त्र में है—

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथाऽमी अन्यो अन्यन्न जानन्॥ (यजुः १७।४७)

हे वायुसेनाध्यक्ष ! यह जो शत्रुओं की सेना अति वल के कारण हमारी सेना से स्पर्धा करती हुई सम्मुख वढ़ी आ रही है, उसको अपने कर्म से रहित कर देने वाले अन्धकार से कृत्रिम धूम्र-निर्माण क्रिया द्वारा, धूम्र के पर्वत या मेघादि उनके सम्मुख या चारों ओर निर्मित करके अच्छी प्रकार छिपा दो जिससे ये शत्रु-सेनाजन एक दूसरे को परस्पर देख भी न सकें और पहिचान भी न सकें।

स्थलसेना, नभसेना, जलसेना सभी के पास ऐसी सामर्थ्य चाहिए कि जिससे धूम्रविद्या — तामसविद्या के द्वारा अन्धकार को उत्पन्न कर शत्रुओं की सेना पर विजय प्राप्त हो सके।

सेनाओं के ध्वज

सेनाओं के पृथक्-पृथक् ध्वज-चिह्न हों जिससे अपने-अपने संगठन में, अपने-अपने सेनापतियों की अध्यक्षता में सैनिक कार्य कर सकें और उन सैनिकों के भी चिह्न हों जिससे उन सैनिकों से उनकी योग्यता के अनुकूल कार्य लिया जा सके। ध्वजा के वारे में वेद के निम्न मन्त्र में वर्णन है —

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ ऽ उ देवा अवता हवेषु॥ (यजुः १७।४३)

ध्वजा इस निमित्त होती है कि जिससे स्वपक्ष एवं परपक्ष का, मित्र एवं शत्रु-पक्षों का भेद भी जाना जा सके। अतः अच्छी प्रकार अपने पराये का प्रकाश कराने के समय में ध्वजों के परस्पर युद्ध-कार्य में संयुक्त भिड़न्त होने पर इन्द्र अर्थात् परमात्मा एवं सेनापति हमारा रक्षक होवे। उस समय हमारे द्वारा प्रयुक्त बाण शत्रु-सेना का विनाश करे और जो हमारे शूरवीर हैं वे शत्रु-सेना के वीरों से उत्कृष्ट हों और विजयेच्छुक विद्वान् संग्रामों में हमारी और तुम्हारी रक्षा करें।

अर्थात् सेना जनसभा और सभापति आदि को चाहिए कि अपने-अपने रथ आदि पर भिन्न-भिन्न चिह्न को स्थापित करें जिससे यह इस का रथ आदि है यह भी सब जान सकें।

सेनानायक एवं रक्षकों का क्रम

युद्ध के समय सेना की विभिन्न दिशाओं में रक्षा करने वाले नायक होते हैं इसके लिए निम्न मन्त्र में वर्णन है—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर ऽ एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ (यजुः १७।४०)

युद्ध में शत्रु की सेनाओं को सब ओर से मारती और शत्रुओं को जीतने से उत्साह को प्राप्त होती हुई इन विद्वानों की सेना का जो अपने युद्धकला और युद्धविज्ञान में सर्व प्रकार से उत्कृष्ट हैं, उनका नेता, नायक अर्थात् सेनापति इन्द्र—उत्तम ऐश्वर्य वाला शिक्षक पीछे की ओर चले। यज्ञ— सबको यथावत् संगत एवं पृथक् करने की क्रिया में कुशल अथवा अग्नि, धूम्रादि निर्माण एवं प्रक्षेपण करने वाले साधन आगे-आगे रहें और सब अधिकारियों का अधिपति—बृहस्पति जो अपनी वाणी से सेना का नियन्त्रण करने वाले हैं वे सेना के दक्षिण और सोम अर्थात् सेना को प्रेरणा और उत्साह देने वाला

एवं जीवन, प्राण देने वाला आरोग्यविभाग अधिकारी बाईं ओर चले ओर—मरुतः यन्त्वग्रम्—मरुत् अर्थात् नभसेना के यानों की टुकड़ियां सबके आगे-आगे चलें।

अर्थात् शत्रुओं पर प्रहार करने के समय मरुत्सेना (वायुसेना) आगे रहे, उसके बाद, आग्नेयास्त्र का प्रयोग करने वाला विभाग व सेना, उसके पीछे, संचालक सेनापति रहे। इस सेना के दाईं ओर सेना के गण बृहस्पति और बाईं ओर सोम अधिकारी गण रहें।

इस मन्त्र से ज्ञात होता है आक्रमण के समय पृथिवी पर यज्ञविभाग—आग्नेयास्त्र प्रयोग करने वाली सेना आगे रखनी चाहिए और नभ में उसके ऊपर एवं आगे वायुसेना चले। आग्नेयास्त्र प्रयोग करने वाली स्थलसेना के पीछे पीछे, दूसरी सेनाएँ रहनी चाहिए और सेना पति सबके पीछे रहना चाहिए। सेना की अनेक टुकड़ियां, दल होते हैं उनको आदेश देकर संचालन करने का कार्य जिन अधिकारियों को दिया जाता है वे बृहस्पति संज्ञक हैं। ये अपने अपने दल के दाहिनी ओर चलते हैं और बाईं ओर सैनिकों की सार-संभाल एवं चिकित्सा आदि के लिए, उनकी उत्साह हीनता एवं शिथिलता को दूर करने के लिए सोमविभाग के कार्यकर्त्ता सेना के बाईं ओर चलने चाहिएं। इस प्रकार सेना का संचालन एवं नियन्त्रण करने की वेद से प्रेरणा प्राप्त होती है।

—मरुद्विद्या—

युद्धविद्या में मरुद्विद्या का जानना अत्यन्त आवश्यक है। मरुद्विद्या का युद्ध में अनेक प्रकार से उपयोग होता है। इसलिए वेद में मरुद्विद्या का बहुत महत्त्व है। वायु में जो सोम-शक्ति है वह प्राण एवं जीवन के लिए उपयोगी है। हम जो श्वास ग्रहण करते हैं उसमें से सोम का—प्राण का—अंश हम ग्रहण कर लेते हैं और जो असोम—सोमरहित भाग होता है उसका त्याग कर देते हैं। सोम में अमृत भाग है। वह जीवन का पोषण एवं वृद्धि करता है। सोमरहित वायु भाग में प्राणों के नष्ट करने का भाग है। यदि हम क्षेत्र विशेष की वायु में से सोम को खींच लें तो उस क्षेत्रका अवशिष्ट वायु का भाग प्राणों को—जीवन को—नष्ट करने वाला हो जायगा। यदि ऐसी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है तो उसका युद्ध विद्या में प्रयोग करके शत्रुओं का नाश भी किया जा सकता है और राष्ट्र की सब ओर से रक्षा की जा सकती है। इस युद्धकला को निम्न वेदमन्त्र प्रकट कर रहा है—

सजोषा ऽ इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँ २ रप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः॥ (यजु० ७।३७)

(१) हे इन्द्र सजोषा मरुद्भिः सगणः वृत्रहा सोमं पिब—हे शूरवीर सेनापति! तू सबसे समान प्रीति करने वाला है। तू मरुतों—वायुओं के—सगण—समान रूप पदार्थों के साहचर्य से, विविध स्थानीय वायुओं में से सोम-प्राण अंश को ग्रहण कर, संग्रह कर, स्ववश में कर। इस क्रिया से तू—वृत्रहा—असुरपक्ष, शत्रुपक्ष का नाश करने वाला हो जाता है। तू विद्वान् है। अर्थात् इस मरुत्-क्रिया को जानने में कुशल है। इस प्रकार मरुद्विद्या में कुशल तू सोमांश का ग्रहण करके।

(२) जहि शत्रून्=शत्रुओं को नष्ट कर

(३) अथ मृधोपनुदस्व=इसके अनन्तर संग्रामों को जीत। इस प्रकार—

(४) अभयं कृणुहि विश्वतो नः=हम लोगों को सब ओर से भयरहित कर।

इस प्रकार इस मन्त्र ने विविध स्थानीय वायुओं में सोम भाग को खींच लेने की कला का

संकेत किया है। यह किस प्रकार हो सकती है इसके लिए—शूर—विद्वान् शब्द मन्त्र में विचारणीय है। वे विद्वान् या वैज्ञानिक जो बल-वृद्धि से युद्ध द्वारा विजय कराने में संलग्न हैं, उनकी ज्ञान-विज्ञान की प्रतिभा से यह क्रिया संभव है। इस मन्त्र की तीसरी पंक्ति में भी इसी भाव को प्रकट करने वाले निम्न शब्द हैं—

उपयाम गृहीतोऽ सीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते। (यजुः ७।३७)

जो मन्त्र के पूर्व भाग में कहा गया—शूर विद्वान् है उसे—

(१) मरुत्वते इन्द्राय उपयामगृहीतोऽसि=जिस युद्ध में प्रशंसनीय मरुदस्त्र हैं उस मरुत्सेना के लिए तुझे अनेक रक्षा-साधनों से, अनेक प्रयत्नों से गृहीत किया गया है, नियंत्रित किया गया है। अतः—

(२) त्वा मरुत्वते इन्द्राय=मरुदस्त्रों के प्रयोग-विद्या में निपुण, युद्ध के लिए तुझे यह उपदेश करता हूं कि—

(३) एष ते योनिः=यह जो एष पद से इंगित किया जा रहा स्थान, पात्र या यन्त्रादि है वह इन मरुदस्त्रों के निर्माण करने वाली—कारण रूपा है। अतः इस योनि स्थान, मरुज्जनक यन्त्रसे अपना पूर्ण रूप से सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिए, यह भाव प्रकट होता है।

इस मन्त्र से मरुद् विद्या के ऊपर तथा उसका युद्ध के लिए उपयोग एवं उन मरुतों के उत्पादन के मूल के तन्त्र और उससे यन्त्र बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रत्येक यन्त्र का आधार तन्त्र है। यन्त्र की चित्रमय स्थिति तंत्र है जिसमें विविध शक्तियों के बीजों का प्रदर्शन होता है। तन्त्र बिना मन्त्र के शब्दों के बन ही नहीं सकता है। अतः मन्त्रों से यन्त्रों की स्थिति की उत्पत्ति होने से मन्त्रों का युद्ध में उपयोग स्वयं सिद्ध है।

मरुत् शक्ति का युद्ध में एवं विजय के लिए उपयोग करने के अनेक मन्त्र वेद में आते हैं। निम्न वेदमन्त्र में वायु के २७ भेदों का उल्लेख है—

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्त वि ँ शतिः।
ते ऽ अग्रेऽश्वमयुञ्जंस्ते ऽ अस्मिन् जवमादधुः ।। (यजु० ९।७)

वायु और मन गन्धर्व हैं। गन्धर्व वे कहलाते हैं जो अपने अन्दर किसी को धारण कर लेते हैं और ले जाने की या गमन करने की भी शक्ति रखते हैं। मुख्य रूप से वात के ४९ भेद हैं परन्तु उनमें से २७ वात ऐसी हैं जो विविध प्रकार से गन्धर्व शब्द को सार्थक करते हैं। शेष २२ प्रकार के वात गन्धर्व गुण विशिष्ट नहीं हैं। जिन २७ प्रकार के वातों में गन्धर्व गुण है उनके प्रारम्भ में यदि अश्वशक्ति, प्रेरक बलवती शक्ति अग्नि, विद्युत् आदि के द्वारा या इनके यन्त्र द्वारा प्रयुक्त कर दी जावे तो इनके अन्दर इन २७ वातों में बल, गति, वेग आदि उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वेद ने इस मन्त्र द्वारा वायु के लिए प्रेरक शक्ति का प्रयोग करने का संकेत किया है जिससे वायु में शक्ति, गति एवं बल विशेष उत्पन्न किया जा सकता है और उसका उपयोग लिया जा सकता है। इसी बात को वेद ने—मरुतां प्रसवेन जय—(यजु० १०।२१) में कहा कि वायुओं को निर्माण करके जय को प्राप्त करो। वायु में वेग एवं शक्ति से जय को प्राप्त करो। वायु के इस वेग को जिस किसी में—यन्त्रादि में स्थापित करेंगे तो उसको बल एवं गति देने वाला होगा। इसका निम्न मन्त्र में उपदेश मिलता है—

वातर्ँ͂ हा भव वाजिन् युज्यमानऽ इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस ऽ आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ (यजु० ९।८)

हे बलवान्, अश्वशक्ति ! जब तुझे किसी के साथ नियोजित करें तो तू वायु के समान वेग वाला हो। विद्युत् के समान दीप्तियुक्त, वृद्धि को प्राप्त होने वाला एवं शीघ्रकारी होकर सर्व-कर्म कुशल हो। उस तुझ अश्वशक्ति को विश्ववेदस मरुद्गण प्राप्त करें और विज्ञानवेत्ता तेरे गमन साधन यानों में उस वेग को स्थापित करें।

यानादि में यह यान्त्रिक शक्ति व्यापक या फैली हुई नहीं रखनी चाहिए अपितु सुरक्षित गुप्त स्थान में रखनी चाहिए जिससे संग्रामादि में विजय हो। इसके लिए निम्न वेदमन्त्र में प्रेरणा मिलती है—

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तोऽ अचरच्च वाते ।
तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः ।
वाजिनो वाजजितो वाजर्ँ͂ सरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥ (यजु० ९।९)

हे बलवान् अश्वशक्ति ! तेरा जो बल, गुप्त स्थान, गुहा रूपी स्थान जिसमें आकर के तुम अपनी शक्ति का संचालन करते हो उसके द्वारा श्येन पक्षी के आकार के यानादि में और वायु में विविध प्रकार की गति करते हो। उस बल के द्वारा हे अश्वशक्ति ! तू हमारे लिए बलवान् तथा संग्राम-विजेता हो और संग्रामादि में विजय कराने वाली हो। इस शक्ति के द्वारा बलयुक्त हुए वायु सैनिको ! तुम लोग संग्रामों में जाते समय अपने आज्ञापक सेनापति के सेवनीय आदेश को नतमस्तक होकर स्वीकार करो।

इस प्रकार वायु में प्रेरक शक्ति लगाने पर और उसको एक केन्द्र स्थान में सुरक्षित स्थापित कर यानादि में प्रयुक्त करके वायु में विचरण करने की शक्ति या उड्डयन शक्ति जो प्राप्त होती है उससे अन्तरिक्ष में उत्तरोत्तर उत्तम, सुख एवं सुरक्षित स्थानों में चढ़ना चाहिए इसका निम्न मन्त्र में उपदेश है—

देवस्याहर्ँ͂ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकर्ँ͂ रुहेयम् ।
देवस्याहर्ँ͂ सवितुः सवे सत्यसवसऽ इन्द्रस्योत्तमं नाकर्ँ͂ रुहेयम् ।
देवस्याहर्ँ͂ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम् ।
देवस्याहर्ँ͂ सवितुः सवे सत्यप्रसवस ऽ इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम ॥ (यजु० ९।१०)

पूर्वोक्त प्रकार से जो शक्ति उत्पादन करने एवं उसको यानादि में प्रयुक्त करके सत्य करने वाले विद्वान् की प्रशंसनीय कृति, रचना में उसके उपयोग में प्रवृत्त हुआ मैं उन यानादि के द्वारा लोक की नियन्त्रक कक्षा के श्रेष्ठ, सुखदायक स्थान पर, इस अन्तरिक्ष में ऊपर की ओर चढ़ूं अर्थात् इस यान को ऊपर के उत्कृष्ट भाग में ले जाऊं। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में जो विद्युत्-मण्डल का क्षेत्र है जिसे Ionosphere नाम से कह सकते हैं उसके ऊपर के स्थान पर भी मैं पहुंचूँ।

इस मन्त्र में पूर्व की दो पंक्तियों में रुहेयम्=मैं चढ़ूं का प्रयोग है और बाद की दो पंक्तियों में अरुहम्=मैं चढ़ा इस प्रकार का प्रयोग है। पहले से पृथिवी से ऊपर जाने का संकल्प प्रकट होता तो उत्तर दो पंक्तियों से ऊपर के उन स्थानों पर पहुंच चुकने का कर्त्तव्य सिद्ध हुआ

यह ज्ञात होता है। और इसको प्रत्यक्ष सिद्ध करने पर सत्यप्रसव=उड्डयनशक्ति के सत्य रूप से यथार्थ रूप से उत्पन्न होने का द्योतन होता है।

युद्ध में जय-प्राप्त करने के लिए वेद में वैज्ञानिक शक्ति का उपयोग करने के अन्य बहुत मन्त्र आते हैं जैसा कि निम्न मन्त्र से प्रकट होता है—

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय।। (यजु० २९।५४)

इस मन्त्र में देवरथ विमान का वर्णन है। वह देवरथ यान जिस प्रकार के इन्धन, हव्य से चलता है उसको सेवन करता हुआ ग्राह्य वस्तुओं को ग्रहण करे। इसके हव्य की ओर संकेत करके मन्त्र इस यान की विशेषताओं को बताता है कि यह—

(१) इन्द्रस्य वज्रोऽसि=इन्द्र का यह वज्र है। इन्द्र की वज्रशक्ति का पात ऊपर से होता है अतः यह अन्तरिक्ष-स्थान से प्रहार करने वाला, देवरथ वायुयान है। इसका प्रहार इतना कठोर एवं सुनिश्चित होता है कि जिस पर प्रहार करे वह नष्ट हो जाता है। इसको युद्ध के कार्य का बनाया जाने से यह—इन्द्रस्य वज्रोसि—इन्द्र का वज्र है।

(२) मरुतामनीकम्=मरुत्सेना का यह बल है। विमान-सेना का बल उसके युद्ध विमानों, वज्र-वर्षक विमानों, रक्षक विमानों, आदि से ही होता है। अतः यह देव रथ—मरुतामनीकम्—वायु का बल है, अन्तरिक्ष का बल है।

(३) मित्रस्य गर्भः=इसके अन्दर हमारे मित्र सैनिक वीर चारों ओर से सुरक्षित रहते हैं और इसके अन्दर गर्भ तुल्य विराज कर सब प्रकार का रक्षण एवं पोषण प्राप्त करते हैं। अतः यह देवरथ—मित्रस्य गर्भः—मित्रों का आश्रय स्थान है। इसके अतिरिक्त वायु के अन्दर जो प्राण शक्ति है—आक्सीजन (Oxygen) है। वह इसमें गर्भ तुल्य स्थापित की है जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग हो। क्योंकि अन्तरिक्ष में ऊपर जाने पर वायु के भार में कमी होने से प्राण की—आक्सीजन की—मात्रा कम हो जाती है। उस समय विमान में बैठे लोगों को प्राणवायु देने की आवश्यकता पड़ती है अतः उसको देवरथ विमान एवं अन्य विमानों में रखने की आवश्यकता रहती है उससे यह पूर्ण है।

(३) वरुणस्य नाभिः=जल, मित्र और वरुण से बनता है। मित्र आक्सीजन है और वरुण हाइड्रोजन है। यह देवरथ विमान वरुण की—हाइड्रोजन की—नाभि है। केन्द्र संचालक, पोषक शक्ति नाभि है। मध्य भाग में समान रूप से हाइड्रोजन अर्थात् वरुण की स्थिति है। वरुण को ही उदान कहा जाता है। उदान वायु हलका होता है और उससे ऊपर की गति होती है। केन्द्रीय जनन-शक्ति नाभि है। अतः वरुण की हाइड्रोजन की उत्पादन-शक्ति विमान में होने से उसकी वृद्धि और क्षय से ऊपर नीचे की ओर गति में सहायता होती है। उसके हलका एवं भारी करने में भी सहायता होती है। अतः वरुणस्य नाभिः—देवरथ को कहा गया है।

एक अन्य मन्त्र में इन्हें वायुरथ के नाम से भी कहा गया है—

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरा गहि। (यजु० २७।३२)

हे वायुसेनाध्यक्ष ! जो तेरे हजारों वायु के रथ हैं उनके द्वारा शीघ्र आओ।

इस प्रकार वेद में मरुद्विद्या का अनेक प्रकार से उपयोग है। मरुदस्त्र भी बनाने का संकेत वेद से प्राप्त होता है।

इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा
वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ (यजु० १।२४)

इस मन्त्र में—द्विषतो वधः—शत्रु के नाश के लिए दो अस्त्र विशेष बताये हैं जिनमें से एक शततेजा है और दूसरा तिग्मतेजा है। शततेजा का तात्पर्य जिसमें से सैकड़ों संहारक ज्वालाएं या किरणें निकलती हैं। ऐसे अस्त्र विशेष को वेद ने सहस्रभृष्टिः कहा है। अर्थात् हजारों को भूंज दे, जला दे, भस्म कर दे या नष्ट कर दे ऐसा वह शततेजा अस्त्र होता है। शततेजा यन्त्रास्त्र जो बना कर उसको उत्तरोत्तर बलवान् बनाएगा वह शत्रुओं पर विजय शीघ्र प्राप्त कर सकेगा। शततेजा अस्त्र की श्रेणी में वे सब दूरमारक अस्त्र आ सकते हैं जिनका आजकल अनेक प्रकार से प्रयोग होता है तथा मृत्यु किरण सदृश अस्त्रों का यह द्योतक है।

तिग्मतेजा अस्त्र वज्र के समान तेजस्वी होता है। इनसे भी शत्रुओं का संहार होता है परन्तु इसमें वायु की प्रधानता रहती है। वेद ने तिग्मतेजा के लिए—वायुरसि—कहा है। अर्थात् ये अस्त्र वायु, गैस प्रधान हैं। अनेक प्रकार की संहारक वायु हो सकती है। अतः वेद ने अग्नि और वायु प्रधान अस्त्रों के निर्माण का संकेत विजय के लिए, शत्रुओं के नाश के लिए बताया है।

कवच

रक्षक साधनों में कवच की महिमा वेद ने वर्णित की है जैसा कि—

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि। (यजु० १७।४९)

तेरे मर्म स्थलों को वर्म अर्थात् कवच से आच्छादित करता हूं। कवच से आच्छादित करने से शरीर की रक्षा होती है। कवचधारी पुरुष संग्राम में शत्रुओं की सेना में घुसकर उनको मारकर विजय को प्राप्त करता है अतः कवच का युद्ध के लिए अत्यन्त महत्त्व है। कवच की महिमा को प्रकट करने के लिए वेद एक स्थल पर कहता है—

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वं ँ स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्त्तु ॥ (यजु० २९।३८)

जब जो व्यक्ति कवच धारण करने के कारण विना क्षत, घाव, चोट, हानियुक्त शरीर से युद्ध के अन्दर उपस्थित होकर अपने प्रतीक चिह्न को प्राप्त होता है, वह उस समय मेघमण्डल में जैसे विद्युत् प्रहार करती हुई प्रकाशित होती है तद्वत् वह प्रतीत होता है। अतः हे शूरवीर! विद्वन्! कुशल-वीर! आप जिससे कवच की महिमा को जान कर उसको धारण कर रहे हैं, उससे आप शत्रुओं पर विजय प्राप्त कीजिये। इस प्रकार वेद ने कवच को युद्ध के लिए अति आवश्यक बताया है। शस्त्रों से युद्ध हो या गैस युद्ध हो कवच की आवश्यकता सर्वत्र रहती है।

निम्न वेद मन्त्र में शरीर के विभिन्न भागों के लिए तथा सम्पूर्ण शरीर के रक्षण के लिए विभिन्न प्रकार के कवचों का वर्णन किया है—

नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च। (यजु० १६।३५)

सेना के पुरुषों के पास उनके अंग रक्षा के लिए बिल्म हों, कवच हों और वर्म हों। इससे

उनके शरीर के अंगों की रक्षा होती है और वे जिस रथ पर हों उस रथ पर भी रक्षण के लिए लौह-आवरण हों ऐसा वेद मन्त्र कहता है।

१. जिससे शिर की रक्षा की जाती है उस आवरण—रक्षक-साधन को—बिल्म—कहते हैं। उसे शिर पर रक्षा के लिए धारण किया जाता है। वर्त्तमान भाषा में शिरस्त्राण इसे कहा जा सकता है।

२. जिससे शरीर के अंगों की रक्षा होती है उस रक्षक आवरण को—कवच—कहते हैं।

३. जो लौहमय शरीर रक्षक आवरण होता है उसे—वर्म—कहते हैं।

४. लौहमय आवरण जो गृह या कोष्ठ के अनुरूप हो उसे—वरुथी कहते हैं। आजकल का टैंक वरुथी के अन्तर्गत आ जाता है।

५. हाथी पर जो अम्बारी कोष्ठाकार होती है वह भी—वरुथी—रक्षक आवरण है। रथादि की रक्षा के लिए लोहमय कोष्ठ वरुथी के अर्थ के अन्तर्गत आ जाता है।

इस प्रकार सेना के रक्षक साधनों में कवचादि के निर्माण का वेद उपदेश करता है। सेना के लिए युद्धादि कार्यों में रथ आवश्यक है जैसा कि पूर्व वर्णन किया है। उन रथों के चलाने के लिए अश्वादि की आवश्यकता रहती है। अश्वशक्ति के द्वारा चलाने की उपयोगिता को देखकर द्रुतगामी अश्वशक्ति-यन्त्रों का वाहनों, रथों आदि में उपयोग करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। इसी अश्व के वेग कार्य के वैज्ञानिक-विकास से ही पृथिवीस्थ शीघ्रगामी यान, वाहन आदि तथा अन्तरिक्षस्थ विमान आदि यानों को गति प्राप्त होती है।

युद्ध के लिए घोड़ों का शिक्षण

वेद ने अश्व एवं अश्वशक्ति के नियामक एवं संचालकों के लिए कहा है—

नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमः। (यजु० १६।२४)

अश्वों के लिए सत्कार हो, उनका पालन-पोषण होना चाहिए और जो अश्वपति हैं, अश्वों के पालक हैं, उनके सिखाने वाले हैं या अश्वशक्ति के निर्माता हैं, उनके लिए भी आदर, सत्कार होना चाहिए। अर्थात् अश्वविद्या की उन्नति युद्ध कार्य के लिए आवश्यक है।

अश्व अर्थात् घोड़ों को शिक्षा देने वाले शिक्षक भी होने चाहिएं। घोड़ों को परेड आदि कराने, दौड़ाने, कुदाने, चलाने, बैठने आदि की विविध गतियाँ कराने, सामूहिक रीति से चलाने आदि विविध कार्यों का शिक्षण देने के लिए अश्व-शिक्षक होने ही चाहिएं। वेद में अश्वपति शब्द ऊपर के मन्त्र में प्रयुक्त हुआ ही है और अश्वाजनि (यजुः २९।५०) भी आता है। अश्वपति का अर्थ—अश्वपालन की विद्या जानने वाले से है और अश्वाजनि का तात्पर्य घोड़ों की शिक्षा देने वाले से है तथा अश्व-शिक्षक की कशा (चाबुक) से भी है। निम्न मन्त्र में घोड़ों को शिक्षण देने के बारे में वर्णन है—

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ २ऽउप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥ (यजु० २९।५०)

हे अश्वों को शिक्षण देने वाले! तेरे द्वारा इन अश्वों के उभरे हुए अंग को आघात करते हैं तथा जंघाओं को ताड़ित करते हैं, तथा तू संग्रामों में शिक्षा से विशेष कर चेतन किये घोड़ों को प्रेरणा कर।

प्रहार कार्य

इस प्रकार वेद युद्ध के लिए घोड़ों के शिक्षण के लिए संकेत करता है। कुत्तों आदि के शिक्षण के लिए पूर्व ही मन्त्रों में बताया गया है। वेद ने हमारे शरीरों को सुदृढ़ बनाने के लिए कहा, हमारे

अन्दर जय की भावना भरने को बताया और शत्रुओं पर प्रहार करने का तथा उनको नष्ट करने को कहा जैसा कि निम्न मन्त्र-वाक्यों से प्रकट होता है—

१. भ्रातृव्यस्य वधाय—शत्रु के वध के लिए (यजु० १।१७)

२. इदमहँ् रक्षसां ग्रीवा ऽ अपिकृन्तामि—यह मैं दुष्टों की गर्दन काटता हूं। (यजु० ६।१)

३. अपहता ऽ असुरा रक्षाꣳसि वेदिषदः—पृथिवीस्थ असुर एवं राक्षसों को नष्ट किया या दूर भगा दिया। (यजु० २।२९)।

४. सपत्नहा, अभिमातिहा, अरातीयतो हन्ता, शत्रूयतो हन्ता, विक्रमस्व, शत्रुहन्ता—अभिमानी जनों का हन्ता, अदानशीलों का हन्ता, द्वेष करने वालों का हन्ता, पराक्रम कर आदि(यजु० १२।५)

प्रहारक अस्त्र-शस्त्रादि के नाम

हत्यादि प्रकार के अनेक प्रयोग जिन क्रियाओं को प्रकट करते हैं वे क्रियाएँ आयुधों के साथ की जाती हैं अर्थात् जिन साधनों से हम युद्ध करते हैं वे आयुध हैं। युद्ध में आयुध प्रधान हैं। इनके विना युद्ध नहीं हो सकता। अतः वेद ने कहा—

स्थिरा वः सन्त्वायुधाः। (ऋ० १।३९।२)

तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र सुदृढ़ हों जिससे तुम संग्रामादि में शत्रु को पराजित कर सको। तुम्हारी सेना विजय को प्राप्त हो। किसी मायावी, कपटी के बन्धन में नहीं पड़े। अतः युद्ध के लिए सेना को अच्छी प्रकार अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित करना चाहिए। वेद में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के नाम उपलब्ध होते हैं जिनमें से कुछ यहां लिख रहे हैं—

वज्र—वे कठोर अस्त्र जो प्रहार करने पर शत्रु को सुनिश्चित रीति से नष्ट कर दें। इनमें संहारकशक्ति, तोड़ने, भेदने, खंड-खंड करने, भस्म करने, मृत्यु करने की शक्तियां होती हैं। विविध प्रयोजनों के लिए विविध प्रकार के वज्र होते हैं। ये अस्त्र एवं शस्त्र दोनों रूप के होते हैं। जो फेंककर या प्रक्षेपणास्त्रादि द्वारा समीप एवं दूर के स्थानों पर प्रयुक्त किये जाते हैं वे अस्त्र हैं। जो सम्मुख रूप से हस्तादि में पकड़कर प्रयुक्त किये जाते हैं वे शस्त्र हैं। तलवार, असि, खड्ग, परशु, क्षुर आदि शस्त्र हैं। तोप, बन्दूक, बाण, इषु, शर, बम, राकेट आदि अस्त्र हैं।

१. वज्रेण शतपर्वणा—(यजुः ३३।९६) सौ धारवाला या शताधिक धारवाला वज्र। इसकी कल्पना करने पर या तो यह चक्राकार सौ तीक्ष्ण शरों या क्षुरों युक्त बनाया जा सकता है, या ऐसा अस्त्र जो फेंकने पर फूटकर अपने में से चारों ओर सैकड़ों संहारक पदार्थों को प्रसारित कर दे और उस क्षेत्र के उपस्थित शत्रुओं का नाश कर सके। वर्तमान समय के कई प्रकार के बम इसके अन्तर्गत माने जा सकते हैं। यह शतपर्वा वज्र है।

२. इन्द्रस्य वज्रोऽसि—(यजुः १०।२१), वज्रहस्ता—(यजुः १०।२२) यहाँ वज्र का रूप दूसरा है। यह सामान्य वज्र है जो शतपर्वा नहीं है अपितु हाथ से ही प्रयोग किया जाने वाला है।

३. तिग्मतेजा—(यजुः १।२४) तेजोमय वज्र है जो सैकड़ों शत्रुओं को अपनी रश्मियों से नष्ट करने की सामर्थ्य वाला है। यह वायवीय पदार्थों—गैसों का बना होता है। इसलिए वेद ने इसे वायुरसि—वायु सम्बन्धी है यह कहा है।

४. हेति—(यजुः १६।११) यह भी वज्र है जिससे हनन क्रिया की जाती है। इसे भी हस्त से संचालित बताया है।—हस्ते बभूव—(यजुः १६।११)

५. प्रहेतिः—(यजुः १५।१६,१७,१८,१९) प्रबल वज्र को कहते हैं। ये हेति-वज्र अपने-अपने पृथक् कार्य के लिए तो होते ही हैं परन्तु हेति और प्रहेतियों के निर्माण के भी भेद उनके प्रयोजन, पदार्थ-भेद एवं प्रयोक्ता-भेद से होते हैं। तथा इनके प्रतीकारक तत्त्व भी हैं। यजुर्वेद अध्याय १५ के मन्त्र १०, ११, १२, १३, १४ में इन प्रतीकारकर्त्ताओं का उल्लेख है—

अग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता—इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता—वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता—सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्ता—बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता—अर्थात् अग्नि, विद्युत्, वरुण, सोम और बृहस्पति तत्त्व या शक्तियों से उनका प्रतीकार होता है तथा इनसे निर्माण भी होता है।

६. त्रिषंधि वज्र –(अथर्व० ११।१०।२)—तीन जोड़ या सन्धियों से निर्मित वज्र होता है। त्रिसन्धि वज्र से ऐसे राकेट की भी कल्पना की जा सकती है जिसमें उत्तरोत्तर तीन सन्धि स्थानों से पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में प्रक्षेपण क्रिया होती है। तीन बार जो अपने अस्त्र को गति दे सके जिससे उत्तरोत्तर दूर गति हो। जैसे त्रिसन्धि वज्र का निर्माण हो सकता है उसी प्रकार से अनेक सन्धि युक्त वज्र का भी आवश्यकतानुसार निर्माण हो सकता है।

७. अयोमुख वज्र—(अथर्व० ११।१०।३) जिनके अग्रभाग में या जिनके भीतर तीक्ष्ण लौह के टुकड़े भरे हुए हैं।

८. सूचीमुखा वज्र—(अथर्व० ११।१०।४) जिनके मुख के अग्रभाग में सूई सदृश पैनी चीजें किसी में घुस जाने के लिए लगी है या जिनके भीतर सूई सदृश तीक्ष्ण वस्तुएं भरी हुई हैं।

९. विकंकतीमुखा वज्र—(अथर्व० ११।१०।५)—लम्बे, पैने मुख वाले वज्र।

१०. धूमाक्षी वज्र—(अथर्व० ११।१०।६) वे वज्र जिनके द्वारा अन्धकार फैल जाता है या आंखों पर जिनके धूम्र का प्रभाव होकर दर्शन-शक्ति नष्ट हो जाती है ऐसे द्रव या गैस पूर्ण अस्त्र।

११. कृधुकर्णी वज्र—(अथर्व० ११।१०।७) ऐसे वज्र जो कि संमोहन कर देते हैं।

१२. अश्रुमुखी वज्र –(अथर्व० ११।९।७) जिनके छोड़ने से अश्रुपात होता है।

१३. अग्निजिह्वा वज्र—(अथर्व० ११।९।१९) जिनके प्रयोग से भयानक विनाश अग्नि लगने से होता है।

१४. धूमशिखा वज्र—(अथर्व० ११।१०।१९)—जो धूम्र की ऊंची-ऊंची शिखाओं का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार से अनेक प्रकार के वज्रों का वर्णन वेद में आता है।

पाश—वेद में अनेक पाशों का भी वर्णन है। पाश वे हैं जो शत्रु को बांध देने वाले, जकड़ देने वाले, कर्त्तव्य विहीन कर देने वाले होते हैं। यह कार्य शत्रुओं की गतियों को घेर लेने के लिए और अपने वश में करने के लिए होते हैं। यजुर्वेद १२।१२ में वरुण के तीन पाश –उत्तम, मध्यम एवं अधम बताये हैं। इसी प्रकार से मानवीय पाशों से युद्ध में भी उपयोग लिया जा सकता है।

१. ज्यापाश—(अथर्व० ११।१०।२३)—यह पाश स्थूल पाश है और जालीदार बुना हुआ प्रतीत होता है जिस प्रकार प्रत्यञ्चा की डोर होती है इसी प्रकार के पतले तन्तु, स्नायु, लौहतार आदि से निर्मित हो सकते हैं।

२. कवचपाश—(अथर्व० ११।१०।२३)—यह पाश कठोर आवरणयुक्त प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त—

नागपाश, चक्रपाश, पद्मपाश आदि व्यूह रचना के पाश होते हैं उनका भी युद्ध में प्रयोग होता है। अनेक प्रकार के पाश इस प्रकार के हैं जो युद्धनीति सम्बन्धी होते हैं। उन नीति पाशों का भी युद्ध में अत्यन्त महत्त्व होता है और उनके कारण भी जय पराजय पर प्रभाव पड़ता है। इनके अतिरिक्त अग्नि, वायु, अन्न जलादि के भी पाश होते हैं।

अग्नि एवं वायु के पाशों से सेना के चारों ओर या शत्रु के मध्य में अग्नि, धूम्र, आंधी, तूफान आदि उत्पन्न करके शत्रुओं को भस्म करना, अन्धा करना, विकलांग करना, मूर्छित करना आदि होता है। जैसा कि यजुर्वेद के १७वें अध्याय के ४७वें मन्त्र में—तांगूहत तमसाऽपव्रतेन यथामी ऽ अन्यो ऽ अन्यन्न जानन्—से प्रकट होता है। अर्थात् तामसविद्या का भी युद्ध में प्रयोग होता है। यह तामस पाश है।

यजुर्वेद १७।४४ में अप्वापाश का वर्णन है जिससे शत्रुओं के चित्त, मन एवं हृदयों को अनुत्साहित करके उनको शोक मग्न करके निराश कर सकें। वे ज्ञान शून्य हो जावें तथा उनको दीखना बन्द हो जावे और अन्धकार ही अन्धकार दृष्टिगोचर हो और अंगों को जकड़ दे। इस प्रकार के पाश वायु अग्नि के संयोग से बन सकते हैं।

धूमाक्षी, धूमशिखा, अश्रुमुखी आदि का वर्णन वज्र में किया है वे भी पाश रूप से शत्रुओं पर कार्य करते हैं।

मृत्यु किरण—वेद से इस बारे में भी पर्याप्त प्रोत्साहन युद्ध के लिए प्राप्त होता है।

१. शततेजा—(यजुः १।२४) में कहा है—सहस्रभृष्टिः शततेजा—सैकड़ों हजारों को भूंज देने वाला शततेजा हजारों किरणों वाला होता है।
२. तिग्मतेजा—(यजुः १।२४) में इसे वायुरसि कहा है। वायु का स्पर्श से अनुभव होता है दर्शन से नहीं। शततेजा की किरणें दृश्यमान होती हैं और तिग्मतेजा की किरणें दीखती नहीं परन्तु तीक्ष्ण रूप से कार्य करती हैं।
३. विद्युत्प्रहेति—(यजुः १५।१६) विद्युत् किरणों द्वारा प्रहारक अस्त्र का द्योतक है।
४. भूतास्त्र—पंच तत्त्वों को अस्त्र के रूप में प्रयोग करना। वेद में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के संकेत हैं यथा—

वर्षमिषवः, वात इषवः, अन्नमिषवः (यजुः १६।६४-६६)

वर्षा का बाण रूप से उपयोग—अतिवृष्टि कराना या वर्षा रोकना हो सकता है। वायु का बाण रूप में प्रयोग—वायु को तीव्र गतिमान् बनाकर आंधी तूफान उत्पन्न करना, वायु में से प्राण-शक्ति को खींच लेना, वायु को विषाक्त कर देना आदि हैं। अन्न का बाण रूप से प्रयोग—अन्न को विषयुक्त करना, अन्नाभाव कर देना या अन्न प्रदान करके स्ववश में करना आदि हैं।

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्। (साम० ४)

इसमें अग्नि ने वृत्रों को मारा आदि अग्नि की मारक शक्ति के द्योतक हैं जिनके द्वारा आग्नेयास्त्रों का संकेत मिलता है। इस प्रकार आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र, वातास्त्रादि का वेद प्रयोग बताता है। पार्थिव आयुधों का भी वेद ने प्रतिपादन किया है। उनमें से कतिपय निम्न हैं।

१. क्षुर—(अथर्व० ८।१।२)—छोटा सा शस्त्र जो हाथ में सरलता से रह सके। छुरी, छुरा, चाकू, उस्तरा सदृश एक ओर या दोनों ओर या त्रिफलक, नोंक वाला आदि हो सकते हैं।
२. सृक—(यजुः १८।७१) तीक्ष्ण अस्त्र जो पर्वतों पर प्रहार करने पर उसको भी भेदन करके घुस जावे।

३. पवि—(यजुः १८।७१)—प्रहारक वज्र जो क्षुरादि से बड़ा तथा असि आदि से छोटा होता है।
४. असि—(यजुः १६।२२)—तलवार आदि।
५. निषंग—(यजुः १६।६१)—बरछी: संगीनादि सदृश तथा तरकसादि।
६. धनुः—(यजुः ३।६१) प्रक्षेपण कार्य करने के लिए इसकी आवश्यकता है। सामान्य धनुषों की इसमें गणना होती है।
७. पिनाक—(यजुः ३।६१) यान्त्रिक प्रक्षेपणकर्त्ता धनुष जिसको चलाना रहस्यपूर्ण होता है।
८. इषु—(यजुः १६।१) जिनसे लक्ष्य को या शत्रु को बींधा जाता है और जो लक्ष्य में घुस जाता है वह इषु है। उसी के शर, बाण आदि भेद हैं।
९. शर—(यजुः ३०।७) तीक्ष्णाग्र भाग वाले को शर।
१०. बाण—(यजुः १७।४८) जिनके अग्रभाग में शर नहीं है, विना फलक का बाण।
११. वृष—(यजुः २६।४४) वे धनुष जो युद्ध में प्रति व्यक्ति के पास अपने बाण, गोली, आदि को चलाने के लिए होते हैं और अनेक बाणों को लगातार फेंकने की सामर्थ्य वाले होते हैं।
१२. शल्य—(यजुः १६।१३)—पैने, पतले, नुकीले तथा शीघ्र भीतर घुसने वाले कांटे, बरछी, कीलें, खूंटी आदि सदृश अस्त्र-शस्त्र।

सन्य शिक्षण

सैन्य शिक्षण के भी अनेक शब्दों का ज्ञान वेद से प्राप्त होता है। वेद में कहा है :—

उत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व। (यजुः १५।७)

उत्तम शरीर से शरीर को जीतो। अर्थात् अपने शरीरिक बल को बढ़ा कर हम दूसरों को जीत सकते हैं। शारीरिक बल बढ़ा कर शारीरिक बलों को जीता जा सकता है, और नीति के बल को बढ़ा कर अन्य नीतियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। सुवीरो वीरैः (यजुः ३।३७) में उत्तस वीरों से वीर बनूं। वीर बनने का यह प्रकार भी वेद ने बताया। अर्थात् हमारे पास अनेक उत्तम वीर हों। अनेक वीरों से ही सुसेना का निर्माण होता है जिसे वेद में सुषेणः (यजुः १७।८३) कहा है। यही सुसेना अन्य सेनाओं को जीतने वाली भी हो अतः वहां—सेनजित्—भी कहा है। सेना के साथ मित्र सेना भी सहयोग करे अतः कहा—अन्तिमित्रः—मित्र सेना समीप में रहे और— दूरे अमित्रश्च गणः—शत्रु सेना दूर पर रहे—इस नीति का वेद ने इसी मन्त्र में प्रतिपादन किया है।

सेना के शिक्षण के निम्न शब्द अनेक प्रकार से प्रेरणा देते हैं :—पांक्तेन त्वा च्छन्दसा सादयामि—तुझ को पंक्ति के क्रम से स्थापित करता हूं।

गायत्रेण त्वा च्छन्दसा सादयामि—गायत्री के छादन कर्म के समान तुम्हें भी तीन पंक्तियों में ८-८ की संख्या में स्थापित करता हूं।

इस प्रकार गायत्र दल में २४ सैनिक हो जाते हैं।

त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा सादयामि—ग्यारह-ग्यारह सैनिकों को चार पंक्तियों में स्थापित करता हूँ। इस त्रैष्टुभ दल में ४४ सैनिक हो जाते हैं।

जागतेन त्वा च्छन्दसा सादयामि—बारह-बारह सैनिकों को ४ पंक्तियों में स्थापित करता हूं। इस दल में ४८ सैनिक हो जाते हैं। (यजुः १३।५३)

इसी प्रकार छन्दों के मान से अनेक संख्या एवं पंक्तियों का निर्माण हो जाता है। पुनः एक दल

में दो छन्द भी संगठित होते हैं जिस प्रकार कि एक मन्त्र में दो छन्द भी होते हैं उसी प्रकार सैन्यों का गठन हो सकता है।

यजुर्वेद १५।८ में प्रतिपद, अनुपद, संपद शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनकी उपयोगिता सैन्य शिक्षण में भी ली जा सकती है—एक-एक कदम, एक के पीछे एक कदम—सब के साथ-साथ या कदम पैरों के चलाने में, शिक्षण में व्यवहृत हो सकते हैं।

यजुर्वेद १५।६ में त्रिवृत, प्रवृत, संवृत, विवृत, आक्रम, संक्रम, उत्क्रम, उत्क्रान्ति आदि शब्द तीन आवरण वाले चक्र व्यूह अधिक आवरण वाले, संकुचित घेरे वाले, और खुले घेरे वाले चक्रों को बनाने का शिक्षण युद्ध में शत्रुओं को घेरे में लेने के लिए प्रेरणा देते हैं। इसी प्रकार संक्रम, उत्क्रम एवं उत्क्रान्ति आदि शब्द विविध प्रकार की सैन्य गतियों एवं क्रियाओं की वोधक हो सकती है। साधारण गति संक्रम हो सकती है। तीव्र गति उत्क्रम हो सकती है और दौड़ने की गति उत्क्रान्ति हो सकती है। इसी मन्त्र में आक्रमादि शब्द भी हैं।

यजुर्वेद ८।३० में पठित—एक पदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीं अष्टापदीम् आदि शब्द एक दो तीन, चार, आठ आदि कदम आगे या पीछे बढ़ने के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं एवं एक दो, तीन, चार, आठ पंक्तियों के निर्माण में भी प्रयुक्त हो सकते हैं।

यजुर्वेद १६।४० में—उग्राय, भीमाय, अग्रेवधाय, दूरेवधाय, हन्त्रे हनीयसे—आदि शब्द सेना के आक्रमण की विविध स्थितियां, उग्र, भयंकर, आगे मारती हुई, दूर प्रहार करती हुई, शस्त्र प्रहारकरने के लिए उद्यत होने की सैन्य स्थितियों को प्रकट करती हैं।

यजुर्वेद १६।३५ में—बिल्मिने, कवचिने, वर्मिणे, वरुथिने आदि शब्द शरीर की रक्षा के कवच आदि सदृश आवरण तथा तत्सदृश रक्षण रथादि के भी द्योतक हैं जिनमें सुरक्षित रूप से बैठ कर सेना युद्ध करती है।

वादन यानादि

वेद में शकट, विमान, चित्ररथ, देवरथ, वायुरथ, विद्युद्रथ, प्रतिरथ, वरुथी, सुपर्ण, श्येन, गरुत्मान् आदि अनेक प्रकार के वाहन, यान विमान आदि का वर्णन है। उनका सैन्य एवं युद्ध में उपयोग प्रधानतया होता है।

इस प्रकार वेद सैन्य एवं युद्ध के बारे में सदा नेतृत्व प्रदान करता रहेगा। वेद की प्रेरणा से मनुष्य अपने बौद्धिक एवं शारीरिक सामर्थ्य से बहुत कुछ विकास एवं आविष्कार कर सकता है।

शिक्षा-विज्ञान

वर्तमानकालीन शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का प्रश्न आज हमारे सामने एक ज्वलन्त प्रश्न है। क्या हमने शासन के कार्यों की पूर्ति के लिए कर्मचारियों को ही उत्पन्न करना है, या कारखानों के लिए मजदूर वर्ग तैयार करना है या पेट भरने के लिए कुछ भी व्यवसाय को करने वालों को तैयार करना है।

शिक्षा में रोजी रोटी वाद का आधिपत्य

क्या मनुष्य जीवन रोटी रोजी प्राप्त करने के लिए ही है और उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य को शिक्षित करने की आवश्यकता है ? रोटी रोजी ही आज के मानव के सामने प्रमुख समस्या रह गई है और वह उसी के लिए शिक्षण प्राप्त करता है और इसी की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। उसे यदि रोटी रोजी मिल गई तो वह अपने जीवन को सफल समझता है।

इस रोटी रोजी वाद नें मनुष्य को शिक्षा के आदर्श से पतित कर दिया है। वह एक पशु के सदृश केवल मात्र आहार और विहार की चिन्ता में निमग्न रहता है और इस कार्य के लिए भयंकर से भयंकर आन्दोलन, संघर्ष और युद्ध करने को उद्यत है। इसको उसी प्रकार की शिक्षा चाहिए जो अधिक से अधिक रोटी और रोजी दे सके।

वर्तमान शिक्षा से अनैतिकता की भूख

ऐसी अवस्था में वर्तमान शिक्षा से मनुष्य को आहार-प्राप्ति की योग्यता प्राप्त होती है पुनः चाहे उसे आहार-विहार, रोटी रोजी मिले या न मिले। रोटी रोजी न मिलने पर उसकी शिक्षा —उसे उद्विग्न कर देती है, चिन्तित कर देती है और अशान्त कर देती है। इसके विपरीत जिनको रोटी-रोजी मिल जाती है, जब उनकी दशा पर दृष्टिपात करते हैं तो उनकी भूख की तृप्ति नहीं होती है। वे दिन में कमाते हैं, रात में कमाते हैं, अनैतिकता से कमाते हैं, चारों ओर से गुप्त रूप से कमाते हैं—फिर भी भूख की ज्वाला शान्त नहीं होती और वह भूख बढ़ती ही जाती है। अनैतिक उपायों से आय को बढ़ाने को वह पाप नहीं समझता अपितु चतुराई एवं बुद्धिमानी समझता है।

अनैतिकता का प्रत्यक्ष शिक्षण यद्यपि शिक्षण-संस्थाओं में नियमित पाठ्यक्रम में स्वीकृत नहीं है तथापि जो शिक्षा का परिणाम व्यापक रूप से होता है वह यही है। अतः विना शिक्षण के ही और विना प्रयास के ही यह सब स्वभाव रूप से वर्तमान शिक्षा के कुप्रभाव से होता जा रहा है।

वर्तमान शिक्षा में न्यूनता

इसका कारण यही है कि हमारी शिक्षा में आचार, चरित्र, कर्त्तव्य-परायणता, जीवन का उद्देश्य, मनुष्य क्यों उत्पन्न हुआ, वर्तमान जीवन का कारण क्या है और आगे भी क्या जीवन प्राप्त होगा, संस्कार एवं वृत्तियाँ दूषित क्यों होती हैं और उनको किस प्रकार सुधारा जा सकता है, मानव के अन्दर एक अपूर्व खजाना है, आत्मा और परमात्मा क्या है, संयम और सन्तोष, चरित्र एवं शुभ संकल्प, ब्रह्मचर्य तथा तप आदि को किसी प्रकार का स्थान प्राप्त नहीं है।

भुक्कड़वादी शिक्षा का दुष्परिणाम

रोटी और रोजी की साधना के लिए वह अपनी विद्या को दरवाजे-दरवाजे बेच रहा है। पहले गुरु के पास शिष्य पढ़ने आता था। आज गुरु शिष्य के पास पढ़ाने जाता है, पढ़ाने नहीं अपितु रोटी रोजी के लिए जाता है। वह अपनी कला को बाजारों के चौराहों पर और फुटपाथ पर खड़े होकर बोली लगाकर बेच रहा है। वह अपने सम्मान और चरित्र को बेचकर भी अधिक से अधिक सग्रह को प्राथमिकता दे रहा है। यह सब क्यों ? भूख बढ़ गई है, पेट की भूख नहीं बढ़ी, वह तो घट गई है परन्तु नाना प्रकार की वासना एवं भोगों की ज्वालाएं इसमें धधकने लगी हैं। इन वृत्तियों की चंचलता ने उसे बेचैन कर दिया है। दिन-रात वह तड़पता रहता है।

वर्तमान शिक्षा में परिवर्तन की आवश्यकता

क्या शिक्षा ऐसी नहीं हो सकती जिसमें इस अशान्त मन को शान्त एवं स्ववश में करने का पाठ पढ़ाया जावे और अभ्यास कराया जावे। क्या शिक्षा ऐसी नहीं हो सकती कि अपनी वृत्तियों को पतन के मार्ग से हटाकर शुभ कर्मों की ओर लगाने का प्रकार सिखाया जा सके। क्या शिक्षा ऐसी नहीं हो सकती कि मनुष्य एकान्त में शान्त रूप से प्रतिदिन कुछ समय 'मैं कौन हूं, इस सृष्टि का रचयिता कौन है, मैं संसार में किसलिए आया हूं'—इन बातों पर विचार कर सके। रोटी और उसकी प्राप्ति के लिए रोजी में भटकते हुए मानव के अन्दर शिक्षा ने आत्मा की भूख को जाग्रत् नहीं किया। उसने परमात्मा की प्राप्ति की भूख को जाग्रत् करने के पाठ्यक्रम एवं अभ्यास को शिक्षा में समाविष्ट नहीं किया। और परिणामतः सारी भूख रोटी रोजी में केन्द्रित हो गई।

वर्तमान समय का विद्यार्थी

आज का विद्यार्थी विद्यालय में ऐश्वर्य के साथ जाता है। रौब दाब के साथ जाता है और वह अपने अध्यापकों को भी अपने रोटी रोजी के ऐश्वर्य से दबाना चाहता है अतः उसमें विनम्रता कहां से आवेगी। गुरु के प्रति आदरभाव कहां से आवेगा। वह सब को अर्थ का - पैसे का—दास समझता है। वैदिक काल में विद्यार्थी गुरु के पास नम्र हो कर जाता था और उनकी कृपा को अपनी सेवा से प्राप्त करके विद्या-प्राप्ति का अधिकारी बनाता था। वह गुरु के पास ऐश्वर्य के साथ नहीं जाता था—लंगोटी लगा कर, सादा और तपस्वी बन कर जाता था और ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करके गुरु के सान्निध्य से विद्या ग्रहण कर ब्रह्म-प्राप्ति के महान् ऐश्वर्य को भी प्राप्त करता था।

शिक्षा में शासन का अंकुश न हो

शिक्षा का उद्देश्य शासन अपने स्वार्थ के लिए कुछ योग्य सेवकों को तैयार करके अपनी आवश्यकता की पूर्ति—यदि यही सोचता है तो वह मानवजाति को पथभ्रष्ट कर रहा है। इसलिए शिक्षा के कार्य में शासन को अपना पूर्ण नियन्त्रण या अंकुश नहीं रखना चाहिए। तथा केवल शासन-कार्य चलाने के लिए कर्मचारी-निर्माण की मशीन उसे नहीं बनाना चाहिए।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य

यदि गम्भीर दृष्टि से देखा जाए तो शिक्षा का उद्देश्य अविद्यादि बन्धनों से मुक्ति दिलाने का है। सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वही है जो मुक्ति, अनेक प्रकार के अविद्यादि बन्धनों एवं क्लेशों से छुड़ाती है। जीव अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पंच क्लेशों के पाशों से अनेक जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के संस्कारवश कैदी बना हुआ है। उसको मुक्त कराने के लिए विद्या-शिक्षा देनी है। जीव अविद्यादि के घोर अन्धकार में पड़ कर पथभ्रष्ट हो रहा है—उसे सन्मार्ग

पर लाने के लिए शिक्षा=विद्या की आवश्यकता है। असतो मा सद् गमय—तमसो मा ज्योतिर्गमय—मृत्योर्मामृतं गमय—जो इस आदर्श की पूर्ति करे वह शिक्षा वास्तव में शिक्षा है। क्या वर्तमान शिक्षण-प्रणाली में इस महान् आदर्श की पूर्ति की गन्ध आती है।

वर्तमान शिक्षा का निवास फैशन में है

यह मानव जीवन अत्यन्त बहुमूल्यवान् है। इसको रोटी रोजी का ईंधन नहीं बनाना चाहिए। इसको विषय भोगों का ईंधन भी नहीं बनाना चाहिए और न इसको दासता का ही ईंधन बनाना चाहिए। आज की शिक्षा से हमें अपटूडेट फैशन में रहने को बाध्य होना पड़ता है। यदि हमारा रहन सहन गरीबी का है, यदि हमारे वस्त्र अच्छे नहीं हैं, यदि वस्त्रों की काट और प्रैस ठीक नहीं है, यदि हमारे बाल एवं दाढ़ी मूंछ का कटिंग ठीक नहीं है, यदि हमारे जूते की पालिश ठीक नहीं है या हम नंगे पैर हैं तो हम अशिक्षित हैं— असभ्य हैं। आज की शिक्षा का प्रमाण पत्र हमारा बाह्य बनावटी आडम्बर मात्र है जिसके प्रमाणपत्र दाता एवं निर्माता नाई, दर्जी, धोबी एव चमार हैं।

वर्तमान शिक्षण संस्थाएँ फैशन यूनिवर्सिटी हैं

यदि नाई ने कटिंग ठीक नहीं की तो हम असभ्य रह जावेंगे। यदि दर्जी ने कपड़े नये कट के नहीं बनाये तो हम असभ्य रह जावेंगे। यदि धोबी ने कपड़ों को ठीक स्वच्छ करके अच्छी प्रैस नहीं की तो हम असभ्य रह जावेंगे। और यदि चमार ने माडर्न कट का जूता नहीं बनाया और उस पर पालिश नहीं की तो हम असभ्य, अशिक्षित और जंगली माने जावेंगे। आज स्कूल कालेजों में भाषाओं का बोध कराया जाता है परन्तु आत्मा का बोध नहीं कराया जाता। इसलिए फैशन-वाद पनप रहा है और शिक्षण-संस्थाएं फैशन यूनिवर्सिटी बनती जा रही हैं।

इनका परिणाम चरित्रहीनता

आज की शिक्षा को प्राप्त कर हमें क्लबों में बैठना आना चाहिए। वहां बैठकर जुआ खेलना, शराब पीना, परस्त्रियों के साथ गुप्त संभाषण करना और उनके साथ नृत्य करना आना चाहिए इसे आज की भाषा में सोशल बनना, सामाजिक बनना कहा जाता है। क्या ऐसी शिक्षा हमारे चरित्र का भी निर्माण कर सकेगी और हमें अपने लक्ष्य पर पहुंचा सकेगी ?

विद्या का लाभ

आज शिक्षा हमें जिन विविध कार्यों के योग्य बनाती है उनका सम्बन्ध सांसारिक क्षेत्र से ही है। केवल भौतिक क्षेत्र या भौतिकवाद से ही है। भौतिकवाद के नशे में वह अपने को भी नहीं पहचान रहा है और न अपने अन्दर निहित शक्तियों को पहचान कर उनका विकास कर पाता है। विद्या का क्या प्रयोजन है, यह समस्या वर्त्तमान शिक्षा-जगत् आज तक घोषित नहीं कर सका। वेद स्पष्ट शब्दों में घोषित कर रहा है—

विद्ययाऽमृतमश्नुते (यजु० ४०।१४)

विद्या से अमृत, अमरणभाव, जन्म-मरण के बन्धन से रहित, परमानन्द, मोक्ष की प्राप्ति होती है। नित्य आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। अमृत की प्राप्ति करनी चाहिए—मोक्ष की प्राप्ति करनी चाहिए—इस उद्देश्य को लेकर शिक्षा का कार्यक्रम बनना चाहिए।

अमृत-प्राप्ति की आवश्यकता

अमृत प्राप्त क्यों करना है—इसलिए कि हम मृत=मरण से बंधे हुए हैं। इससे मुक्त होने का तात्पर्य यह नहीं कि हम आत्महत्या कर लेंगे तो बंधनों से मुक्त हो जायेंगे और मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। इससे बन्धन और बढ़ेंगे, कटेंगे नहीं। बन्धनों को काटने के लिए यह देहरूपी साधन दिया है। इसकी आयु सौ वर्ष की दी है। इसको शतायु बनाने का भी प्रयत्न करें और इसके द्वारा अमृत-प्राप्ति का भी प्रयत्न करें। अर्थात् अमृत-प्राप्ति के लिए विद्या का आश्रय लेवें मृतभाव—शरीर की नियत आयु को बनाने का भी पुरुषार्थ करें। जिस प्रकार से अमृत-प्राप्ति के लिए विद्या की आवश्यकता है उसी प्रकार इस शरीर के लिए अविद्या की भी आवश्यकता है। अर्थात् लोक-व्यवहार सिद्धि की शिक्षा का नाम अविद्या है। यह अविद्या उस विद्या की अपेक्षा से है जो अमृत प्रदाता है। यही लोक-परलोक प्राप्ति कार्य है।

वर्त्तमान शिक्षा केवल लौकिक है

संसार में रहते हुए सांसारिक कार्यों को भी पूर्ण करना चाहिए परन्तु उनमें इतना निमग्न नहीं हो जाना चाहिए कि हम अपने मूल उद्देश्य को ही न जान सकें और बन्धन में ही पड़े रहें, अविद्या में ही ग्रस्त रहें। वर्त्तमान शिक्षा का उद्देश्य केवल—अविद्या के शिक्षण का है। इसको ही मनुष्य सब कुछ न समझ बैठे, और इसी में ही जीवन की सम्पूर्ण आयु व्यतीत न कर दे अतः वेद ने अविद्या से प्राप्त होने वाले फलों को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। (यजु० ४०।१२)

जो लोग अविद्या की प्राप्ति के प्रयत्नों में संलग्न रहते हैं। और तदनुकूल जीवन व्यवहार चलाते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम सांसारिक व्यवहार की शिक्षा को न जानें। वह परमावश्यक है और प्राथमिक है। उसके विना जीवन को शतायु भी नहीं बनाया जा सकता है। अतः वेद ने पुनः कहा—

लौकिक एवं पारलौकिक दोनों शिक्षाओं की आवश्यकता

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु० ४०।१४

अविद्या से ही इस मृत्युमय जीवन को पार कर सकोगे और तभी उससे अमृत भी प्राप्त होगा। अर्थात् विद्या की साधना के लिए अविद्या की साधना की भी आवश्यकता है।

अविद्या और विद्या ये दोनों ही साथ-साथ जाननी चाहिएं। दोनों की शिक्षा साथ-साथ होनी चाहिए। दोनों का संतुलन रहना चाहिए। असंतुलित शिक्षा से जीवन भी असंतुलित बन जायेगा और हम विद्या या अविद्या के प्रवाह में बह जायेंगे। दोनों में आकर्षण है। अविद्या अर्थात् संसार के जीवन में प्रत्यक्ष पद-पद पर आकर्षण है और विद्या के मार्ग में भी जो उसमें प्रवेश कर लेता है वह संसार को असार समझकर उधर ही लग जाता है। परन्तु ये दोनों स्थितियां पृथक्-पृथक् रूप से हानिकारक हैं। एक की ही साधना नहीं करनी चाहिए। दोनों की ही साधना करनी चाहिए अतः वेद ने स्पष्ट कहा है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाँ रताः॥ (यजु० ४०।१२)

वे लोग घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो अविद्या या लोकव्यवहार की शिक्षा एवं कार्यों में संलग्न हैं और उससे भी अधिक अन्धकार में वे हैं जो केवल विद्या में ही संलग्न हैं। अतः स्पष्ट वेद का उपदेश है कि शिक्षा का कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे संसार और मोक्ष दोनों का ही शिक्षण हो। जिस प्रकार से पक्षी दोनों पंखों से आकाशगमन में समर्थ होता है उसी प्रकार से मनुष्यों के लिए विद्या और अविद्या रूपी शिक्षा के दोनों अंगों की आवश्यकता है। इसलिए हमारे जीवन की शिक्षा के पाठ्यक्रम में दोनों का समावेश होना चाहिए।

वैदिक शिक्षा का प्रथम पाठ

वेद ने जीवन-व्यवहार की शिक्षा के पाठ्यक्रम में इसका बड़े सुन्दर ढंग से समावेश करके पालन करने का निम्न शब्दों में उपदेश दिया है—

ईशा वास्यमिदँ् सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (यजु० ४०।१)

इस समस्त संसार के अन्दर, इसकी छोटी-से-छोटी गति एवं स्थिति के अन्दर और इस विशाल संसार के भी बाहर, सब ओर परमात्मा है, इस शिक्षा को जानो और इस कारण, इस सांसर का त्यागभाव से भोग करो। किन्तु किसी के भी धन, वस्तुमात्र की अन्यायाचारण से ग्रहण करने की इच्छा भी मत कर।

ईश्वर सर्वत्र व्यापक है

इस प्रकार यह मन्त्र अपने जीवन व्यवहार में विद्या एवं अविद्या का प्रयोग करने का आदेश दे रहा है। 'ईशावास्यमिदँ् सर्व यत्किं च जगत्यां जगत्'—यह विद्या का मार्ग है। और 'तेन त्यक्ते भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'—यह अविद्या का मार्ग है। इन दोनों को साथ-साथ लेकर चलना चाहिए। इस संसार में जो सदा, सर्वत्र ईश्वर को मानते हैं और यह सोचकर ईश्वर से डरते हैं कि वह हमको सदा, सब ओर से देखता है। यह जगत् ईश्वर से व्याप्त है और ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, इस प्रकार व्यापक, अन्तर्यामी परमात्मा का निश्चय करके, अन्याय के आचरण से किसी का जो कुछ भी ग्रहण नहीं किया चाहते हैं वे धर्मात्मा होकर इस लोक के सुख और परलोक में मुक्ति रूप आनन्द को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहते हैं।

वर्त्तमान शिक्षा के प्रथम पाठ और उनका कुप्रभाव

इसके विपरीत आज के पाठ्यक्रमों में से ईश्वर के अस्तित्व की बातों को हटा दिया गया है। पहले ही पाठ में बिल्ली, चूहा, कुत्ता, अंडा, मछली, सूप आदि का पाठ पढ़ाकर बिल्ली और कुत्ते जैसे झपट कर खा जाते हैं उस वृत्ति को ये जाग्रत् करते हैं। अंडा, मछली, चूहा, सूप आदि को खाद्य बताया जाता है। दूध, दही, मक्खन आदि तथा परमात्मा की भक्ति, गोसेवा आदि का पाठ में समावेश न करके पाशविक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाता है, तो इनसे निर्मित संस्कारों का जीवन पर कालान्तर में कुप्रभाव पड़ता है और समाज दूषित शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित हो जाता है। वह—मा गृधः कस्य स्विद्धनम्—का पालन कैसे कर सकेगा?

वैदिक शिक्षा का द्वितीय पाठ

वेद ने पूर्व मन्त्र में बताये इस मार्ग के बारे में पुनः दूसरे मन्त्र में कहा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजु० ४०।२)

इस संसार में पूर्व मन्त्र में बताये मार्ग के अनुसार ईश्वर को सर्वत्र जानकर अलिप्त होकर संसार का भोग करोगे और किसी के धन, वस्तु आदि को अन्यायादि से प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते हुए सौ वर्ष पर्यन्त जीने के लिए ब्रह्मचर्यादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करोगे, तो जीवन-व्यवहार के कर्मों से असंग बने रहोगे। वे कर्म तुम्हें भोग-लालसा में लिप्त नहीं कर सकेंगे। वे तुमको वशीभूत न कर सकेंगे और तुम्हें स्ववश में भी नहीं कर सकेंगे अपितु तुम उनके स्वामी बन सकोगे। इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है।

मन्त्र ने स्पष्ट कह दिया है कि मार्ग यही एकमात्र है अन्य नहीं है अतः हम—ईशावास्यम्—इस मूल उपदेश को जो भूले हुए हैं उसे ही सर्वप्रथम ग्रहण करना पड़ेगा। आज की शिक्षा दीक्षा में—ईशावास्यम्—दृष्टिगोचर नहीं होता। संसार का व्यवहार जैसा अब चलाते हो, वैसे ही तब भी चलाना परन्तु ईश्वर को सर्वत्र व्यापक मानकर चलाना। उसको एकदेशी मानने से भी काम नहीं चलेगा। परन्तु अभिमानी मनुष्य अपने अभिमान में अपने पिता को भी भूल गया—भूला नहीं है, अपितु उसके अस्तित्व को भी मानने को उद्यत नहीं है। ऐसी दशा में—अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्या-मुपासते—मनुष्य के सामने अन्धकार है, अविद्या है और क्लेशों के पाश से बद्ध, कारावास का जीवन है। वासनाएँ अपना दास बनाकर उसे भटकाती, नचाती और दौड़ाती रहती हैं।

आत्मा एवं परमात्मा को न मानने का परिणाम

यह सब स्थिति मानव की क्यों है? उसने अपनी शिक्षा में से—ईशावास्यम्—को बड़े गर्व से निकाल फेंका है। जिन्होंने परमात्मा को निकाल फेंका है उसने आत्मा को भी निकाल फेंका है। इस प्रकार वह आत्मघाती बन बैठा है। वेद कहता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ (यजु० ४०।३)

अर्थात् जो लोग आत्मा एवं परमात्मा की सत्ता को न मानकर आत्मविघातक, आत्मा की उन्नति के विपरीत अपने प्राण-पोषणादि कार्यों में अविद्यादि के कारण निमग्न हैं वे घोर अन्धकार रूप अज्ञान से सब ओर से आवृत, घिरे हुए हैं। वे—असुर्या नाम—असुरों के तुल्य नाम से प्रसिद्ध होते हैं। ऐसे व्यक्ति मृत्यु के बाद, इस जीवन के पश्चात् और जीते हुए भी अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों को प्राप्त होते हैं।

वर्त्तमान शिक्षा-दीक्षा ने आत्मा एवं परमात्मा के अस्तित्व का खंडन कर दिया है। अतः मृत्यु के पश्चात् जन्म होने की बात पर उसे विश्वास नहीं है। ऐसी दशा में संसार को ही वह पहचानता है। उसी की आराधना करता है और अविद्या तथा अज्ञान में निमग्न रहकर विद्या से विमुख रहता है और मोक्ष को, जो जीवन का ध्येय है, उसे प्राप्त नहीं कर पाता और बन्धन के चक्र में पड़ा रहता है।

तृतीय पाठ—आत्मा एवं परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग

मनुष्य संसार में रहकर सांसारिक पदार्थों के गुण-धर्म का अध्ययन करके सांसारिक कार्यों की उन्नति कर लेता है। परन्तु विद्या की प्राप्ति एवं उन्नति का मार्ग क्या है जिससे वह आत्मा एवं परमात्मा का भी साक्षात्कार कर सके। संसार का दर्शन तो वह करता ही है परन्तु मानव जीवन में उसे परमपद की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए, वह कैसे सम्भव हो, इसका उत्तर निम्न मन्त्र में वेद ने दिया है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाआप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।

तद्धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।। (यजु: ४०।४)

अर्थात् वह परमात्मा एक ही है। अद्वितीय है तथा अचलायमान है। वह मन के, विचार-शक्ति के वेग से भी अधिक वेग वाला एवं सर्वत्र व्यापक है । उस परब्रह्म परमात्मा को चक्षु आदि इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकती हैं। वह परब्रह्म अचल होता हुआ अपनी अनन्त व्याप्ति से, विषयों को ओर गिरते हुए आत्मा के स्वरूप से विलक्षण मन, वाणी आदि इन्द्रियों का उल्लंघन कर जाता है। उस सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की स्थिरता में जीव क्रिया को धारण करता है—तो उसकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् उस अति सूक्ष्म, इन्द्रियों से अगम्य, परमात्मा में क्रिया को धारण करने के लिए, धर्मात्मा विद्वान् योगिजन योगयुक्त विद्यामार्ग का आश्रय लेते हैं।

इस प्रकार वेद ने विद्या और अविद्या के मार्ग का, और इनकी शिक्षा का उपदेश दिया तथा दोनों को ही जानने एवं अंगीकार करने का आदेश दिया है। इसी विद्या और अविद्या को उपनिषत्कारों ने परा और अपरा नामों से सम्बोधित किया है।

वर्तमान शिक्षा हमें इसी धरातल पर रखती है। उसने हमें आत्मा और परमात्मा की विचारधारा से विमुख बना दिया है। अत: उस पंगु शिक्षा से हम भी अपंग बन गये हैं। और जिस प्रकार से अपंग दूसरों से रोटी मांगकर जीवन-निर्वाह करता है, उसी तरह हम भी रोटी रोजी को मांग में ही निमग्न रहते हैं और रोटी रोजी को देने वाली शिक्षा की ओर ही ध्यान देते हैं।

गुरुकुल शिक्षा—प्रणाली

हमें वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के संचालन सूत्र में परिवर्तन करना चाहिए। तभी जीवन में परि-वर्तन हो सकेगा और मानव अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर भी प्रयत्न कर सकेगा। हमारे देश में प्राचीन समय में वैदिक काल में दो प्रकार की शिक्षण-प्रणाली प्रचलित थी। एक प्रकार की शिक्षा-प्रणाली में विद्यार्थी को गुरु के पास जाकर ब्रह्मचर्य के पालन के साथ अन्तेवासी बनकर रहना पड़ता था जैसा कि—

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते। (अथर्व० ११।५।१७)

ब्रह्मचर्य के द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी की प्राप्ति की कामना करता है। तथा—

आचार्यऽ उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त:। (अथर्व० ११।५।६)

आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपनी रक्षा में लेता है। यह कार्य गुरुकुल ऋषिकुल, विद्यापीठ आदि के रूप में शिक्षण-स्थलों के रूप में चलता था। इनमें ब्रह्मचारी को लोक की शिक्षा तथा ब्रह्म की शिक्षा दोनों दी जाती थी। जैसा कि—

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे ऽ इमे ऽ उर्वीऽगम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।

ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवा: संमनसो भवन्ति ।। (अथर्व० ११।५।८)

अर्थात्—आचार्य ब्रह्मचारी को पृथिवी की और द्युलोक की विद्याएँ भी पढ़ाता है। वह ब्रह्मचारी उन विद्याओं से पृथिवी और द्युलोक की रक्षा करता है। इस पृथिवी और द्युलोक में रहने वाले देव विद्वान् आदि तथा सृष्टि के तत्त्व उस ब्रह्मचारी के साथ एकमन हो जाते हैं। अर्थात् आचार्य की शरण में विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचारी के रहने पर उसको समस्त विद्याओं का अभ्यास कराया जाता

था, जिससे वह पृथिवी एवं द्युलोक की रक्षा करने में समर्थ होता था, जिसका प्रमुख कारण सृष्टि के तत्त्वों पर उसका अधिकार विद्या एवं विज्ञान के आश्रय से होता था। तथा—

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ऽ ओषधयः पयः ।
जीमूता ऽ आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ।। (अथर्व० ११।५।१४)

अर्थात् उस ब्रह्मचारी के आचार्य, मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधियां, जल, मेघ आदि सब सहयोगी होते हैं और वह मोक्ष सुख का अधिकारी बनता है। इस प्रकार ब्रह्मचारी को लौकिक एवं मोक्ष प्राप्ति की शिक्षा—अविद्या और विद्या की शिक्षा से दीक्षित किया जाता था। इस ब्रह्मचर्य की शिक्षा से लाभ का वर्णन एक मन्त्र में निम्न प्रकार है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ।। (अथर्व० ११।५।१९)

अर्थात् ब्रह्मचर्य की तपस्या से विद्वानों ने मृत्यु को पराजित किया और इन्द्र ने ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही स्वर्ग का राज्य लाभ प्राप्त किया। इसी प्रकार—

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ।। (अथर्व० ११।५।२४)

अर्थात् ब्रह्मचारी ब्रह्मज्ञान से दीप्त होता है। उसमें सारे दिव्य गुण आते हैं। प्राणापान के द्वारा मनन करता हुआ ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बनता है। तथा—

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ।। (अथर्व० ११।५।२६)

आचार्य रूपी विद्या के तप्यमान एवं तेजस्वी समुद्र में विद्यारूपी जल के ऊपर ब्रह्मचारी तप का अनुष्ठान करते हुए आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शक्तियों का निर्माण करता है। इस प्रकार तप के जल से निर्मल होकर ब्रह्मज्ञान एवं तेज का धारण करता हुआ, निरभिमानी होकर पृथिवी पर बहुत प्रकार से सबका आदरणीय होता है एवं शोभित होता है।

इस शिक्षा के क्रम में गुरु से साक्षात् सब विद्या और अविद्याओं का अध्ययन-क्रम चलता था। इस शिक्षा-क्रम में आचार्य भी ब्रह्मचारी बनकर जीवन व्यतीत करता था अर्थात् सांसारिक वासनाओं पर विजय प्राप्त करके अपनी शक्ति एवं समय का विद्या-दान में उपयोग करता था। इसी प्रकार विद्यार्थी भी ब्रह्मचारी नाम को ग्रहण कर पूर्ण तपस्वी, सांसारिक वृत्तियों को दमन कर ब्रह्म तेज को धारण करते हुए सृष्टि के छोटे से छोटे पदार्थ से लेकर ब्रह्म पर्यन्त सब लौकिक विद्या और ब्रह्म-विद्या के अध्ययन में अपनी शक्ति एवं समय का उपयोग करता था। दोनों का प्रीतिपूर्वक व्यवहार माता और पुत्र के जैसा होना चाहिए वैसा होता था। जैसा कि वेद ने—तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति (अथर्व० ११।५।३) कहा है। अर्थात् उस ब्रह्मचारी को तीन रात्रि आचार्य अपने उदर में धारण करता है। अर्थात् सर्वात्मना वह ब्रह्मचारी आचार्य के अधीन ही रहता है।

ब्रह्मचारी अपने उस काल में ओषधि, वृक्ष, वनस्पति, दिन-रात, ऋतु, वर्ष, बैल, घोड़ा, ग्रामीण तथा जंगली पशु एवं पक्षी सबमें ब्रह्मचारी की ही दिव्य भावना देखता है। उसको समस्त सृष्टि से ब्रह्मचर्य की प्रेरणा प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

ब्रह्मचारी का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् वेद, उत्तम ज्ञान, तदनुसार चर्य-आचरण करना। उत्तम ज्ञान पूर्वक व्यवहार करना ब्रह्मचर्य का एक अर्थ है। दूसरा अर्थ है— ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करते हुए अर्थात् अपनी काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकारादि वासनाओं को जीतकर चरित्रवान् बनकर विद्या का अध्ययन करना। अतः चरित्र-निर्माण के लिए ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ साधन है।

वर्तमान शिक्षा में ब्रह्मचर्य का अभाव

परन्तु आज की शिक्षा में ब्रह्मचर्य एवं चरित्र का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए आज शिक्षा से विद्यार्थियों का कुछ भी चरित्र-निर्माण नहीं होता। वे ब्रह्मचर्य के अभाव से निस्तेज, बलहीन, बुद्धिहीन एवं गूढ़ विषयों के ज्ञान को ग्रहण करने में असमर्थ प्रतीत होते हैं।

ब्रह्मचर्य से वीर्य-रक्षा और उससे शरीर की सब भौतिक एवं दैवी शक्तियों का विकास होता है। आज ब्रह्मचर्य के अभाव में मानव में दैवी शक्तियों का विकास नहीं होता। ब्रह्मचर्य तप का प्रतीक है। परन्तु आज के समय में विद्यार्थी तप से जीवन व्यतीत करने के स्थान पर, आराम, आलस्य, शृङ्गार, द्रव्य का अपव्यय एवं शारीरिक शक्तियों के भी अपव्यय को प्रधानता दे रहा है। शिक्षा के बारे में विचार करते समय आज ब्रह्मचर्य की कोई उपयोगिता जब शिक्षाशास्त्रियों को प्रतीत नहीं होती है, तब चरित्र-निर्माण हो ही नहीं सकता है। चरित्रहीन शिक्षा से मानव का निर्माण नहीं होता है अपितु मानव के जीवन का तथा उसके धन, स्वास्थ्य एवं समय का दुरुपयोग ही होता है।

शिक्षा-क्षेत्र में वेदों के प्रति भ्रान्त धारणा

इसी प्रकार ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचारी वेदों का अध्ययन करता है। आज के समय में ब्रह्म का ही अस्तित्व शिक्षा के क्षेत्र में नहीं है तो परब्रह्म के 'शब्द-ब्रह्म' के अध्ययन को भी शिक्षा के क्षेत्र में स्थान प्राप्त नहीं है। आज जिन के हाथ में शिक्षा का संचालन-सूत्र है, उनके विचार एवं विश्वास में वेद एक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक ग्रन्थ मात्र है, जिसे पूर्व समय में लोगों ने बनाया है। ऐसी स्थिति में उनकी दृष्टि में वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं है। जब वह वर्तमान समय की अपेक्षा से अविकसित समय के मानवों की रचना है तो वर्तमान समय के लिए व्यावहारिक दृष्टि से भी उपयोगी नहीं है और वर्तमान समय की अपेक्षा से अविकसित मानवों की कृति होने से विविध विद्याओं का जो आज वर्तमान में प्रचलित हैं उनका उनमें सर्वथा अभाव ही और वर्तमान समय की समस्याओं के हल प्रस्तुत करने की सामर्थ्य से रहित है। अतः उनके पठन-पाठन से कोई लाभ नहीं है। वे प्राचीन समय की भाषा के विकास, सभ्यता, रहन-सहन, तत्कालीन समाज एवं शासन-व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड आदि के प्रदर्शक मात्र हैं और इस प्रकार से जो उनका अध्ययन करना चाहें वे अपनी लालसा की तृप्ति के लिए उसका अध्ययन करें। उनका सब के लिए अध्ययन आवश्यक नहीं है और न वर्तमान समय की शिक्षण-प्रणाली में उनके प्रवेश की आवश्यकता है।

शिक्षा के क्षेत्र में वेद के विषय में ऐसी भ्रान्त धारणा, वर्तमान समय की शिक्षा, सभ्यता एवं अधूरे ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अनुसन्धानों का परिणाम है, उनकी यह धारणा नितान्त असत्य है। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। उसके अन्दर उच्च-से-उच्च दार्शनिक विचार हैं। उसके अन्दर उच्च भौतिक विज्ञान भी है और आध्यात्मिक विज्ञान भी है। उसके अन्दर उच्च से उच्च शिक्षाएँ भी हैं। वेद में समस्त विद्याओं की विद्यमानता बीज रूप से है। जिस प्रकार से गणित या विज्ञान में संक्षिप्त एवं

गूढ़ार्थ की सूत्र रूप भाषा होती है और उनका विस्तार पृथक् करना पड़ता है उसी प्रकार वेदों की भी स्थिति है। विज्ञान के फार्मूलों को यदि इतिहास के जानने वालों को हल करने को दे दिया जावे तो वह उसको रद्दी में फेंक देने योग्य समझेगा। उसी प्रकार की दशा वर्तमान समय की शिक्षा-दीक्षा से वेद के विषय में अनभिज्ञ होने के कारण हुई है।

वेदों की शिक्षा से देश की प्रतिभा एवं चरित्र का विकास संभव

शिक्षा के क्षेत्र में सदाचार, चारित्र्य, सादगी, तप, संयम, ब्रह्मचर्य का पालन, बुद्धि विकास के लिए प्राणायामादि, योग का शिक्षण, ईश्वर की मान्यता आदि अनेक आवश्यक एवं आदर्श विषयों के प्रवेश एवं उनकी उपयोगिता की प्रेरणा वेदों से ही प्राप्त होगी। इसके विना जीवन अधूरा ही रहेगा। इनके बिना शिक्षा केवल वस्त्रों के बाह्य आडम्बर में लिपटी रहेगी। नये-नये फैशनों का उद्गम होता रहेगा और अन्दर-अन्दर मानवता और आत्मा अविकसित ही रह जावेंगे। हमारा देश शिक्षा के क्षेत्र में विदेशी शिक्षा-दीक्षा का पूर्णतया दास बना हुआ है। इसकी प्रतिभा का विकास नहीं हुआ है। इसकी प्रतिभा का विकास विद्यार्थी-जीवन को ब्रह्मचारी बना कर, योग आदि शिक्षण के द्वारा जाग्रत् किया जा सकता है। तभी यह शिक्षा के क्षेत्र में विदेशियों की दासता से मुक्त होकर जगद् गुरु बनने के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा।

शिक्षा का द्वितीय आदर्श प्रकार

वर्त्तमान समय में कुछ वर्ष पूर्व तक शिक्षणालयों में शिक्षण का कार्य बालक की ६ एवं ७ वर्ष की अवस्था से किया जाता था। इस अवस्था से पूर्व की अवस्था में भी बालक की कोई शिक्षा हो सकती है, इस बात से शिक्षाशास्त्री कुछ काल पूर्व अनभिज्ञ थे। पुन: उन्होंने अनुभव किया कि बालकों को इससे भी छोटी अवस्था से शिक्षण दिया जा सकता है और बालक की सुप्त शक्ति को जाग्रत् किया जा सकता है। तदनुसार बाल-मन्दिरों के द्वारा २॥-३ वर्ष के बालकों का भी शिक्षण प्रारम्भ हुआ। परन्तु शिक्षाशास्त्री अभी भी अनभिज्ञ हैं। बालक बालिकाओं को शिक्षा इससे भी पूर्व दी जा सकती है और वह प्रकार हमारे देश में प्रचलित था। इस प्रकार का शिक्षण जीवन की अविकसित एवं निर्माण की अवस्था में ही दिया जाता था। इस पद्धति को संस्कार-पद्धति कहते थे। इस प्रकार संस्कार की शिक्षण-पद्धति और विद्यालयकालीन पद्धति इन दोनों का प्रचलन था।

संस्कार-प्रणाली से जन्म से पूर्व शिक्षण

हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने देखा कि वेद में संस्कार-पद्धति का शिक्षण विद्यमान है। अत: बालक की उत्पत्ति से पूर्व, बालक के गर्भावस्था में आने पर एवं उससे भी पूर्व की अवस्था में, गर्भ की विभिन्न स्थितियों में, उत्पन्न होने पर भी विविध विकास की अवस्था में बीज रूप से शिक्षण संस्कार-पद्धति से हो सकता है और जैसा बालक को बनाना हो, उसको वैसा बनाने के लिए माता और पिता अपने संस्कार एवं प्रयत्नों से वैसा बना सकते हैं। रानी मदालसा ने इसी परीक्षण को सिद्ध करके बताया था कि राजकुल में उत्पन्न होने पर भी पुत्र वैरागी हो सकते हैं। वामदेव ऋषि ने गर्भ में ही शयन करते हुए ज्ञान प्राप्त किया और अभिमन्यु ने भी चक्रव्यूह भेदन का ज्ञान गर्भावस्था में ही प्राप्त किया। अत: माता के गर्भ से जन्म लेने के बाद एवं उससे भी पूर्व गर्भावस्था तथा उससे भी पूर्व की अवस्था में जीव जिस वीर्य रूप अवस्था में रहता है उस पर भी संस्कारों का, विचारों का, परिस्थिति का प्रभाव शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के ऊपर पड़ता है।

जन्म से पूर्व शिक्षा की प्रभावशीलता

हमारे शरीर के स्वास्थ्य, बुद्धिबल एवं तेज के ऊपर जहां आहार विहार का प्रभाव पड़ता है, वहाँ विचारों का भी गंभीर प्रभाव पड़ता है। शरीर की सब धातुओं का सार एवं तेज वीर्य रूप में निर्मित होता है। उसमें तेज केन्द्रित होता है अतः शरीर को जिस विशेष प्रकार के विचारों से प्रभावित किया जायेगा उसका प्रभाव वीर्य पर भी पड़ेगा और बीज रूप से उन विचारों का भी उसमें समावेश होगा। माता के गर्भ में भी माता के संस्कारों का प्रभाव पड़ेगा या माता पर जैसे संस्कार डाले जावेंगे वैसे प्रभाव पड़ेंगे। यही क्रिया उत्पन्न होने के बाद उसकी अविकसित मानसिक अवस्था पर प्रभाव डालने के लिए संस्कार से एवं चारों ओर का वातावरण बनाकर प्रभावित किया जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को किसी के प्रति विरोधी बातों के निरन्तर सुनाने से उसके प्रति उसमें घृणा एवं क्रोध के भाव भर जाते हैं और पुनः वह उन्हीं भावनाओं के वशीभूत होकर क्रिया करने लगता है, उसी प्रकार संस्कार की एक सामान्य परम्परा से मानव जाति के मन को एक समान विकसित भी किया जा सकता है। अतः १६ संस्कारों के द्वारा शिक्षण क्रम का निर्माण वेदों से ज्ञात हुआ।

षोडश संस्कार

संस्कारों के क्रम से गर्भाधान को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। द्वितीय संस्कार पुंसवन है जो गर्भ स्थित होने से दूसरे या तीसरे मास में होता है। इस समय तक गर्भ में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं होता और इसके बाद ही इन दोनों में से किसी शक्ति का विकास होता है अथवा जिस शक्ति का विकास करना हो उसका प्रयत्न किया जाता है। तीसरा संस्कार सीमन्तोन्नयन चतुर्थ मास में अथवा छठे या आठवें मास में किया जाता है। इससे गर्भिणी स्त्री के मन को सन्तुष्ट किया जाता है, जिसका प्रभाव बालक की मनःशक्ति पर पड़ता है और गर्भ को स्थिर तथा संस्कारों से उत्कृष्ट करने के लिए होता है। चौथा संस्कार जातकर्म जब बालक उत्पन्न होता है तब किया जाता है जिससे बालक मेधावी और वीर बने। पांचवाँ संस्कार नामकरण का है जो बालक के उत्पन्न होने पर ११वें दिन या १०१वें दिन किया जाता है। इसका उद्देश्य बालक को जिस प्रकार का बनाना है उसी प्रकार की भावना वाला नाम उसे देकर उसमें उन गुणों को विकसित करना। छठा संस्कार निष्क्रमण संस्कार है। जब बालक की शारीरिक स्थिति ऐसी हो जावे कि उसे बाहर के वात एवं ताप को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो गई है तब उसे घर से बाहर सूर्य-रश्मि में तथा चन्द्र-रश्मि में निकाला जाता है। सप्तम संस्कार छठे महीने में अन्नप्राशन किया जाता है, जब बालक में अन्न-ग्रहण एवं पाचन-शक्ति का विकास प्रारम्भ हो जाता है। अष्टम संस्कार जन्म से तृतीय वर्ष में चूड़ाकर्म—केशच्छेदन का होता है जिससे शिर के कपाल की पुष्टि होने का सम्बन्ध है। नवम संस्कार जन्म से तीसरे या पांचवें वर्ष में होता है जो कर्णवेध का होता है। इससे अनेक रोगों की रक्षा का सम्बन्ध है तथा नेत्र एवं श्रोत्र-शक्ति की वृद्धि एवं रक्षा का सम्बन्ध है। दसवां संस्कार यज्ञोपवीत है जो ५वें या छठे वर्ष से प्रारम्भ होता है इसके द्वारा बालक को गुरु के समीप अध्ययन के लिए भेजा जाता है और ग्यारहवां संस्कार गुरु के द्वारा यज्ञोपवीत के साथ ही वेदारम्भ का होता है जिसमें ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा, प्राणविद्या का शिक्षण, सन्ध्योपासनादि द्वारा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास एवं वेदाध्ययन द्वारा समस्त विद्याओं का शिक्षण दिया जाता है। इसके पश्चात् विद्याध्ययन समाप्ति पर समावर्त्तन, गृहस्थ में प्रवेश करने के लिए विवाह, गृहस्थ से निवृत्त होकर ५१वें वर्ष में वानप्रस्थ और ७६वें वर्ष में संन्यास और मरने पर अन्त्येष्टि संस्कार होते हैं।

संस्कारों का प्रभाव

इन संस्कारों के क्रम पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि जब-जब, जिस-जिस स्थिति में जीवन का एक स्थिति से दूसरी स्थिति में संक्रमण है उस समय एवं उस-उस स्थिति में संस्कार है। अर्थात् जीवन की एक स्थिति के प्रारम्भ में ही निर्माण की भावना के विचार एवं संस्कारों का आधान इस प्रकार किया जाता है। इन संस्कारों के अवसर पर अन्य इष्ट मित्र एवं कुटुम्बीजन भी एकत्र होते हैं और उन सबकी मनोभावना एवं वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

जब बालक उत्पन्न होता है तब उसकी जीभ पर सोने की शलाका से घी और शहद से ओ३म् लिखा जाता है। स्वर्ण के स्पर्श के साथ घी व मधु से जिह्वा पर लेखन से स्वर्ण का प्रभाव भी बालक पर पड़ता है और इससे बुद्धि की वृद्धि होती है। इसे मेधाजनन कर्म कहते हैं और इसके साथ सरस्वती मन्त्र मेधा-मन्त्रों का उच्चारण होता है। उनका भी नवजात शिशु पर ध्वनि से प्रभाव पड़ता है। उसी समय बालक के कान में उत्पन्न होते ही पिता पूछता है—कोऽसि—तू कौन है ? यह जिज्ञासा जाग्रत् करता है और वेदोसि—तू वेद है, तू वेद का है, तू वेद के लिए है। ज्ञान है, ज्ञान का है और ज्ञान के लिए है—यह बात बालक के कान में पिता कह देता है। क्या बालक, पिता के या वेद के मन्त्रों को समझता है? हम समझते हैं कि नहीं समझता है। वह अभी एक दिन का भी नहीं हुआ है। १ घंटे मात्र का ही है। तो फिर किस प्रयोजन से यह सब होता है ? बालक का शरीर घंटे भर का ही है—इन्द्रियां विकास को प्राप्त नहीं हुई हैं, मन भी विकास को प्राप्त नहीं हुआ है। परन्तु ध्वनि तो प्रवेश कर रही है। ध्वनि का कम्प कोमल त्वचा को कम्पित करके समस्त रक्त को मन्त्र की ध्वनि में कम्पायमान कर रहा है। जिस प्रकार झूले के कम्प से बालक निद्रित अवस्था में हो जाता है उसी प्रकार मन्त्र-ध्वनि के कम्प से उसके आत्मा पर जो बालक नहीं हैं—जो अजर अमर है, जो बाल, वृद्ध युवा भी नहीं है उस पर संस्कार पड़ता है। आत्मा पर पड़े संस्कार कालान्तर में मन, बुद्धि, चित्तादि पर भी पड़ते हैं और वह स्वभाव रूप से प्रकट होता है।

उत्पन्न हुए बालक पर और भी संस्कार उत्पन्न होते ही जातकर्म में डालने के लिए अश्मा-भवतु न स्तनूः (यजुः २९।३९) के अनुसार अश्मा भव परशुर्भव—आदि बालक के स्कन्धों को स्पर्श करके कहा जाता है। अर्थात् तू पत्थर के समान दृढ़ शरीरवाला, सहन शक्तिवाला बनना और परशु के समान तेजस्वी, विरोधी शक्तियों को छिन्न करनेवाला, वीर, विजयी संसार में बनना। इस प्रकार के संस्कार डालने के लिए बालक के उत्पन्न होने के कुछ ही क्षणों में यह क्रिया की जाती थी। यह महान् शिक्षा का क्रम ही है।

उत्पन्न होने के बाद ११वें दिन ही बालक के प्राण के साथ पिता अपनी अंगुली लगाकर पूछता है—कोऽसि, कतमोऽसि, कस्याऽसि, को नामाऽसि—ये ४ प्रश्न प्राण के माध्यम से अपनी ध्वनि से उत्पन्न शारीरिक कम्पन से बालक के प्राणों को कम्पित करते हुए पूछता है। बालक के प्राणों में, उसकी हर श्वास में उसको यह प्रश्न बड़े होने पर जाग्रत् करने और उसका समाधान प्राप्त करने के लिए और ब्रह्म की प्राप्ति की ओर अग्रसर करने के लिए बीज रूप से गर्भित किया जाता है।

बालकों के उत्तम निर्माण के लिए गर्भिणी-गृहों की आवश्यकता

इस प्रकार संस्कार की शिक्षा-पद्धति बालक की उत्पत्ति से भी पूर्व प्रारम्भ होती है और जीवन में भी चलती है। आज भी यदि गर्भवती माताओं की सन्तानों की उन्नति के लिए ऐसे विहार-

स्थल बनाये जावें जहां वे गर्भिणी स्त्रियां प्रतिदिन कुछ घंटे बितायें और उनको उत्तमोत्तम शिक्षा-प्रद कथा, कहानी, भजन आदि सुनने को मिलें। महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ने एवं सुनने को मिलें। उनके बड़े-बड़े चित्र जीवन की घटनाओं के साथ बने हों। अश्लील चित्र, अश्लील गाने, अश्लील वार्तालाप एवं निरर्थक शब्द एवं अपशब्द सुनने को न मिलें तो उनकी भावी सन्तानों पर उत्तम चरित्रवान्, वीर बालक बनने के संस्कार पड़ सकते हैं। क्या वर्तमान-शिक्षा शास्त्रियों के पास संस्कार-पद्धति की शिक्षा के समान कोई तेजस्वी शिक्षा की योजना है। वेद ही इस दिशा में शिक्षा देता है। अतः वेद मानव जाति के सदा पथ-प्रदर्शक हैं तथा रहेंगे।

वेद में प्रश्नोत्तर शैली से शिक्षण का प्रकार

वेद में शिक्षण के अनेक प्रकार हैं। स्तुति रूप से प्रयुक्त मन्त्र 'अग्निमीळे, शं नो वातः पवताम्' आदि स्तुति प्रयोजन को सिद्ध करने के साथ पदार्थों की योग्यता एवं उनकी सामर्थ्य तथा गुण को भी प्रकट करते हैं। इस प्रकार सृष्टि के विविध तत्त्वों का गुण धर्म वेद से ज्ञात होता है।

कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें परमात्मा मनुष्यों को अपने ही लिए कैसा व्यवहार करना इसको मनुष्यों के द्वारा पुरुष में कहलाता है। जैसे—कस्मै देवाय हविषा विधेम — हम उस सुखस्वरूप परमात्मा की उपासना करें। इसी प्रकार कहीं वह स्वयं वक्ता बनकर अपनी सामर्थ्य का उपदेश — अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि—अर्थात् मैं ही इस समस्त बन का पति हुआ—और मैं ही धनों का अच्छे प्रकार विजेता हूं। यह सब संभाषण की कला विविध रूप से वेदों में प्रतीत होती है और पदार्थों के गुणों का बोध होता है और उनसे क्या क्रिया करनी चाहिए यह भी बोध होता है।

कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें विधि—आदेश हैं। जैसे—पशून्पाहि, घृतैर्बोधयतातिथिम्—आदि हैं। इनके द्वारा द्रव्यों के साथ क्रिया करने का व्यवहार करने का बोध होता है। इसी प्रकार उपदेशात्मक मन्त्र तथा अन्य अनेक प्रकार से शिक्षण कार्य प्रस्तुत करते हैं। पदार्थों के नाम, गुण, प्रभाव, प्रयोजन, प्रयोग उनके निमित्त क्रिया आदि के प्रकार से वेद विविध विद्याओं की शिक्षा देता है। यह शिक्षण का परोक्ष प्रकार है जिससे हम अर्थापत्ति एवं सम्भव प्रमाण के द्वारा वेद के अपौरुषेय शब्द में प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि द्वारा ज्ञान के विपुल भण्डार का दर्शन करने में समर्थ हो जाते हैं और वेद में विविध विद्याओं का स्रोत विद्यमान है, यह ज्ञात होने लगता है।

परन्तु वेद में शिक्षा का एक प्रत्यक्ष रूप से भी महत्त्वपूर्ण प्रकार है। इस विषय में वेद ने हमें बताया है—

आ शिक्षायै प्रश्निनम्—उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम्। (यजु० ३०।१०)

अर्थात् पूर्ण शिक्षा के लिए प्रश्नकर्त्ता की आवश्यकता है और उप-शिक्षा के लिए प्रश्नोत्तरों को आवश्यकता है। जब तक हमारे मन में किसी बात की जिज्ञासा या प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता तब तक ज्ञान की वृद्धि एवं प्राप्ति भी संभव नहीं। अतः प्रश्नों से ज्ञान की उपलब्धि होती है और हम जितने ही अधिक प्रश्न, उपप्रश्न करेंगे उनके उत्तरों से उतने ही अधिक समाधान भी प्राप्त होते जावेंगे और विश्व के रहस्य एवं विज्ञान को ज्ञात करते जावेंगे।

प्रश्नोत्तरों से अज्ञात गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान होता है। इसीलिए प्रश्न या संवाद शैली से अगोचर, सर्वव्यापक, जगद्रचयिता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेद ने कहा—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधाऽ एकऽएव तँ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्याः ।। (यजु० १७।२७)

जो हम सब का पिता है, समस्त विश्व का उत्पादक है, जो इस समस्त संसार का विविध प्रकार से धारण-पोषण कर रहा है और समस्त संसार के समस्त स्थानों का ज्ञाता है, जो सब विद्वानों में एक-मात्र पूजनीय एवं उपास्य है उसको अच्छे प्रकार से प्रश्नों के द्वारा प्राप्त होते हैं ।

जब गूढ़ से गूढ़ परमातम तत्त्व का भी ज्ञान प्रश्नोत्तरों से प्राप्त हो सकता है तब प्रश्नोत्तर प्रकार शिक्षा का एक श्रेष्ठ प्रकार है यह सिद्ध हो जाता है । आज विश्व में दर्शन– तत्त्वज्ञान—का उद्गम और प्रचार—'क्यों ?' इसी एक शब्द ने किया है । मन में कुतूहल पैदा हुआ और "क्यों ?" ने मन और बुद्धि को ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्थान में भी प्रवेश कराकर उसका उत्तर ढूंढ़ निकाला और वह 'क्यों'—एक विशाल दर्शनशास्त्र के रूप में परिणत हो गया। क्यों के साथ पुनः जब —"कैसे ?" का प्रश्न उपस्थित होता है तब उसके समाधान से विश्व का विज्ञान प्रत्यक्ष होने लगता है । इसी "कैसे ?" की जिज्ञासा से आज विश्व में विविध प्रकार का विज्ञान मानव को प्राप्त हुआ है ।

प्रश्नों के रूप में वेद में अनेक स्थानों पर मन्त्र आये हैं और उनके द्वारा अद्भुत एवं रहस्य-पूर्ण तथा गूढ़ प्रश्नों से जिज्ञासा का प्रकार या शिक्षा की शैली का दर्शन कराया है और हमारी ज्ञान-जिज्ञासा को बढ़ाने का सूत्र दिया है । ऐसे प्रश्नात्मक मन्त्रों की पद्धति में कहीं एक मन्त्र में प्रश्न है तो उसका उत्तर दूसरे ही मन्त्र में दिया गया है। कहीं-कहीं ऐसा भी है कि प्रथम प्रश्न का उत्तर उसके पश्चात् के दूसरे प्रश्न से ही प्राप्त होता है और दूसरे प्रश्न का उत्तर तीसरे प्रश्न में हो जाता है और आगे की जिज्ञासा जाग्रत् होती जाती है । इस प्रकार इन प्रश्नों की शृंखला क्रमशः उत्तरों की भी शृंखला का निर्माण करती जाती है।

सामान्य प्रश्नोत्तर शैली से वेद ने एक स्थल पर एक मन्त्र में प्रश्न और उत्तरों को निम्न प्रकार प्रकट किया है—

कस्त्वा युनक्ति—स त्वा युनक्ति
कस्मै त्वा युनक्ति—तस्मै त्वा युनक्ति । (यजु० १.६)

प्रश्न—तुझे कौन नियुक्त करता है ? उत्तर—वह प्रजापति परमात्मा ही नियुक्त करता है। प्रश्न—किस प्रयोजन के लिए तुझे नियुक्त करता है ? उत्तर—वह उस प्रजापति के लिए नियुक्त करता है ।

इस मन्त्र में दो प्रश्न स्पष्ट हैं और दो ही उत्तर उनके हैं। परन्तु इन दोनों प्रश्नों में भी उनका उत्तर है । यथा—कस्त्वा युनक्ति—तुझे कौन नियुक्त करता है ? इसका उत्तर भी—कस्त्वा युनक्ति—है । कः का अर्थ प्रजापति भी है अतः प्रजापति तुझे नियुक्त करता है यह उत्तर भी प्रश्न से ही प्राप्त होता है । इसी प्रकार—कस्मै त्वा युनक्ति—में भी प्रश्नोत्तर साथ ही हैं। किस प्रयोजन के लिए तुझे नियुक्त करता है– तो उत्तर में कस्मै शब्द प्रजापति के लिए अर्थ करने से—प्रजापति के लिए तुझे नियुक्त करता है– यह उत्तर भी प्राप्त हो जाता है ।

निम्न मन्त्र में प्रश्न के रूप से एक गम्भीर प्रश्न मानवजाति के लिए आत्मनिरीक्षण के बोध के लिए वेद प्रस्तुत करता है—

कोऽसि—कतमोऽसि—कस्याऽसि—को नामाऽसि । (यजु० ७।२९)

इस मन्त्र द्वारा पूछा है कि तुम कौन हो ? इसको सोचो, विचारो। इस प्रश्न का उत्तर दर्शनशास्त्र देगा, विज्ञान देगा, संसार का अज्ञात रहस्यवाद देगा। एक पर एक उत्तर आते चले जावेंगे। जानने के बाद भी प्रश्न नवीन ही रहेगा। तुम किसके हो और किस नाम वाले हो—मानो जीवन की गुत्थी सुलझाने के लिए एक महान् पहेली प्राप्त हो गई। इस चिन्तन में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अपनापन खो बैठेंगे और आनन्द का अनुभव करेंगे। इन प्रश्नों में शिक्षा का महान् रहस्य भरा हुआ है।

इस प्रकार वेद ने सृष्टि के गम्भीर प्रश्नों को और उनके उत्तरों को भी मन्त्रों में उपस्थित किया है—

कि॑ᳬस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ (यजुः १७।१८)

१. इस जगत् का आधारभूत क्या था ? २. इसका आरम्भक कारण क्या था ? ३. और वह आरम्भक कारण कैसा था ? जिस कारण से विश्व साक्षी, विश्वरचयिता परमेश्वर ने अपनी महिमा से भूमि और द्युलोक को उत्पन्न करते हुए प्रकट किया। इस प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में निम्न प्रकार दिया—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (यजुः १७।१९)

इस जगत् का आधारभूत क्या था इत्यादि पूर्वोक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर इसमें दिया है कि वह परमात्मा समस्त जगत् में दर्शन-शक्ति देने वाला है, सर्वत्र उपदेष्टा है, सर्वत्र शक्ति वाला है तथा सर्वत्र व्याप्त गतिमान् है। वही एक अद्वितीय परमात्मा प्रगतिशील परमाणुओं से द्युलोक को उत्पन्न करता हुआ निज बलवीर्य से जगत् को सम्यक् प्रकार गति देता है।

वेद पुनः सृष्टि-विषयक एक प्रश्न पूछता है और साथ में कहता है मनीषी विद्वान् इन प्रश्नों को पूछें जैसा कि निम्न मन्त्र में है—

कि॑ᳬस्विद्वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ (यजु० १७।२०)

कौन-सा वह वन और कौन-सा वह वृक्ष था जिससे द्युलोक तथा पृथिवीलोक को विश्वकर्मा जगदीश्वर ने गढ़ा। हे मननशील विद्वानो ! विचारपूर्वक यह प्रश्न पूछो और यह भी पूछो कि समस्त भुवनों को धारण करता हुआ वह विश्वकर्मा किसके ऊपर स्थित था ?

इसी प्रकार ब्रह्मोद्य ऋचाओं द्वारा तो प्रश्न एवं उत्तर की सुन्दर झड़ी लगा दी है और अनेक गूढ़ रहस्यों के प्रश्न एवं उत्तर उसमें हैं। इन प्रश्नों से बुद्धि का विकास होता है अतः शिक्षा के लिए एवं सृष्टि, जीव, परमेश्वर के ज्ञान के लिए तथा इनके विज्ञान को ज्ञात करने के लिए शिक्षा का सूत्रपात करता है—उदाहरणार्थ यहां एक-दो मन्त्र ही प्रस्तुत कर रहे हैं :

प्रश्न— **कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।**
कि॑ᳬस्विद्धिमस्य भेषजं किं वावपनं महत्॥ (यजुः २३।४५)

(१) अकेला कौन विचरता है ? (२) कौन पुनः पुनः प्रकट होता है ?
(३) शीत की भेषज क्या है ? (४) महान् बोने का स्थान क्या है ?

उत्तर सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ (यजु० २३।४६)

(१) सूर्य अकेला विचरता है।(२) चन्द्रमा पुनः पुनः प्रकट होता है। (३) हिम की ओषध अग्नि है। (४) बौने का महान् स्थान भूमि है।

इसी प्रकार से अनेक सृष्टि के गूढ़ रहस्यों के प्रश्न और उत्तर १८ मन्त्रों में हैं

ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी इसी प्रकार से अनेक मन्त्र प्रश्नों के हैं। और उनके द्वारा शिक्षा, दर्शन, विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, शरीरशास्त्र, अध्यात्म परमात्मा आदि आदि विविध विषयों के ज्ञान की वृद्धि होती है। प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने की बुद्धि की क्षमता हो जाने पर उत्तर के लिए पुस्तकों की आवश्यकता नहीं रहती है। उत्तर रूप से तो यह संसार विद्यमान है। अपनी ज्ञान-दृष्टि ऐसी प्रखर हो जाये कि पुस्तकों का भार बुद्धि की प्रतिभा को दबाने में समर्थ न हो सके।

वेद ने जहां प्रश्नों के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का मार्ग दर्शाया है वहाँ उसने सूक्ष्म एवं दूरदर्शन के प्रकार के लिए ज्ञानदृष्टि प्राप्त करने का भी संकेत किया है। वेद में एक स्थल पर आता है—

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम् (यजुः ३०।१०)

विशेष ज्ञानवृद्धि के लिए नक्षत्र-दर्शनविद्या का आश्रय लेवे। इसी प्रकार से शिक्षा के अनेक माध्यमों का वेद में उल्लेख आता है। इस प्रकार से वेद शिक्षा कार्य में बुद्धि की प्रतिभा को मौलिक ज्ञान प्राप्ति की दिशा देता है जिससे विशाल पुस्तक रूपी ज्ञान का निर्माण होता है।

वेद ने शिक्षा के लिए दर्शन एवं श्रवण शक्ति को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। जो कुछ भी ज्ञान है वह सृष्टि के तत्त्वों के आश्रित है। उसका नेत्रों के साथ ज्ञानपूर्वक दर्शन करना चाहिए। मनन एवं चिन्तन करना चाहिए और शब्द माध्यम से शब्द का पदार्थ में जो अर्थ घटित होता है उसका नेत्रों के साथ ज्ञानपूर्वक दर्शन करना चाहिए। दर्शन, श्रवण, प्रश्न, मनन आदि के साथ शिक्षा से ज्ञान की पूर्णता, परिपक्वता होती है। वर्त्तमान समय की शिक्षा में पुस्तकों का अत्यधिक भार मानव की प्रतिभा को विकसित करने में बहुत कम सहायक होता है। पुस्तकों के भारी बोझ से विद्यार्थी पुस्तक ज्ञान में ही समय व्यतीत कर देता है और बहुत-सा जीवन का समय उसी उलझन में व्यतीत हो जाता है। विद्यार्थी ऐसी स्थिति में अध्ययन के प्रति उदासीन ही नहीं होता अपितु घबराने भी लगता है। अतः शिक्षा के प्रति उत्साह जाग्रत् करने के लिए पुस्तक एवं लेखन-पद्धति का इतना ही समावेश होना चाहिए जिससे शिक्षा की ओर रुचि जाग्रत् हो और विद्यार्थियों में प्रतिभा का उदय हो।

आज की शिक्षण-पद्धति में अर्थ एवं कामविषयक शिक्षा के विषयों का समावेश है और उनका ही अध्ययन होता है धर्म और मोक्ष इन दो विषयों का शिक्षण नहीं होता है। मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है और धर्म का सम्बन्ध बुद्धि से है। अतः शरीर के इन दोनों पदार्थों को उनकी उन्नति की शिक्षा एवं साधन प्राप्त नहीं होते। अर्थ से शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं अर्थ से उपार्जित काम द्वारा मन की तृप्ति तक ही गति हो पाती है अतः शिक्षा में धर्म और अर्थ दोनों का ही समावेश होने से उनके फल काम और मोक्ष दोनों प्राप्त हो सकते हैं और मानव की सम्पूर्ण उन्नति हो सकती है।

वेद में विज्ञान

इस समस्त संसार की रचना में महान् विज्ञान, विचित्र कला, चातुर्यपूर्ण कौशल, सर्वहितकारी नीति, अतुल न्याय, अपार कृपा, अमित प्रेम, अद्भुत सौन्दर्य, अप्रतिम शासन और अनन्त आश्चर्य भरा पड़ा है। इसके एक-एक पदार्थ से इन सब की अनेक धाराएँ बड़े वेग से बह रही हैं। ज्ञानी, तपस्वी, ऋषि, मुनि अपनी ज्ञानदृष्टि से उनको देखते हैं, और उनमें निमग्न होकर आनन्द प्राप्त कर हम लोगों के लिए उस ज्ञान का एवं उसके यथार्थ दर्शन का उपदेश करते हैं। विश्व का दर्शन अनन्त विज्ञान का स्रोत है। इस विश्व के रचयिता का दर्शन विज्ञान की परा गति है। रचयिता की रचना में उसका जो ज्ञान सर्व प्रकार से प्रकाशित हो रहा है,उसी का प्रतिपादक वैदिक वाङ्मय ज्ञान वेद है। अतः वेद ज्ञान-विज्ञानमय हैं। सर्वविज्ञानमय है। उनका अध्ययन-अध्यापन अत्यन्त आवश्यक है। उस वेद-ज्ञान से महान् प्राप्ति होती है। वेद-मन्त्रों का सृष्टि की महान् प्रयोगशाला में, सृष्टि के तत्त्वों—अग्नि, वायु, जल आदि में दर्शन करते हुए उनसे उपयोग लेने का ज्ञान एवं प्रकार प्राप्त करें।

अग्नि

सृष्टि में अग्नि-तत्त्व की क्रियाशीलता से संसार की रचना में महत्त्वपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई है। परमात्मा ने भी तप की अग्नि से ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है जैसा कि—ऋतं च सत्यं चाभीद्धा-तपसोऽध्यजायत। (ऋग्वेद० १०।१९०।१) इस मन्त्र में तप से ही सृष्टि का प्रारम्भ बताया है। अतः सृष्टि में अग्नि तत्त्व की व्यापकता, उसकी क्रियाशीलता एवं प्रत्येक कार्य के लिए उसकी उपयोगिता है। इसलिए अग्नि का ज्ञान जितना अधिक हम प्राप्त करेंगे, उतना ही इस जीवन में हम सुखी और उन्नत हो सकेंगे।

अग्नि पृथिवी पर भी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पृथिवी के प्रत्येक पदार्थ में और उसकी रचना में भी प्रकट या अप्रकट रूप से वह विद्यमान है। अन्तरिक्ष के मध्य से भी वह विद्युत् रूप में मुख्य रूप से विद्यमान है और द्युलोक में सूर्य के रूप में मुख्य रूप से विद्यमान है। इन तीनों स्थानों की अग्नियों अपने-अपने केन्द्र एवं स्थानों से उष्णता, प्रकाश, शक्ति एवं गति रूप में उसका प्रसारण होता रहता है। अतः वेद के लिए अग्नि का गुण-धर्म आदि का निर्देश करना परम आवश्यक है। वेद की सर्वाधिक ऋचाएँ अग्नि के ही बारे में हैं। यही सर्वप्रथम ज्ञात करने योग्य तत्त्व है।

जब हम ऋग्वेद को उठाते हैं तो उसका पहला ही मन्त्र अग्नि से प्रारम्भ होता है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ (ऋग्वेद० १।१।१)

इस मन्त्र में—अग्निमीळे पुरोहितम्—पद अग्नि के लिए सर्वप्रथम परिचय दे रहा है कि अग्नि सर्वतः हित करने में अग्रणी है। हम उसकी स्तुति करें। गुणों को जाने विना स्तुति नहीं हो सकती है अतः उसके गुणों को जानना चाहिए। उसके गुणों का अच्छी प्रकार दर्शन करना चाहिए।

ऐसी स्थिति में हमें वेद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अन्वेषण में सर्वप्रथम इसी के बारे में विचार करना चाहिए। इस मन्त्र में अग्नि को सर्वाधिक हित करने वाला बताया है और इस निमित्त उसके गुण भी जानने का उपदेश है।

(१) भाषाविज्ञान का प्रेरक अग्नि

'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐतरेयोपनिषत्—प्रथमोऽध्यायः। द्वितीयः खण्डः। श्लोक ४।) अग्नि वाणी रूप होकर मुख में प्रवेश कर गया। इससे ज्ञात होता है कि अग्नि ही शब्द में परिवर्त्तित हो जाती है। अर्थात् शब्द का व्यवहार भी अग्नि शब्द के प्रारम्भ से हुआ है। वेद का प्रारम्भ का शब्द अग्नि होने से वाणी का भी यह प्रारम्भक एवं जनक है।

अग्नि शब्द का 'अ' अक्षर वर्णमाला का प्रारम्भ अक्षर है। प्रायः विविध भाषाओं के वर्ण 'अ' से ही प्रारम्भ हुए हैं। अतः अ-अक्षर भाषा का मूल है। ध्वनि का मूल है। अ-अक्षर को मुख कण्ठादि के विविध स्थानों से बोलने से समस्त स्वरों की ध्वनियां प्रकट होने लगती हैं और व्यंजनों के उच्चारण में यह अग्रणी है ही। यदि व्यंजन के साथ स्वर का संयोग न हो तो उच्चारण नहीं होता। वाणी एवं भाषा के विकास में 'अ' का उतना ही महत्त्व है जितना अग्नि का सृष्टि के तत्त्वों के लिए। वेद ने सूर्य रूपी अग्नि को समस्त जगत् का आत्मा—प्राण—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'—(यजु० ७।४२) इन शब्दों में कहा है। वास्तव में सूर्य-जगत् का आत्मा रूप ही है। इसी प्रकार अ-अक्षर भी ध्वनि एवं भाषा का प्राण, सूर्य या आत्मा ही है। प्राण या आत्मा के निकल जाने पर शरीर मृत हो जाता है तथा निश्चेष्ट हो जाता है। सूर्य के न रहने पर सर्वत्र अन्धकार छा जाता है। उसी प्रकार यदि ध्वनि या भाषा में से 'अ' की ध्वनि को या 'अ' के अस्तित्व को समाप्त कर दें तो सारा संसार वाणी रहित निश्चेष्ट एवं अन्धकारमय हो जावे। अतः वेद का प्रथम शब्द अकार से ही प्रारम्भ होकर भाषा-विज्ञान के मूल की हमें प्रेरणा दे रहा है। इस प्रकार हमें अपनी मेधा से, प्रज्ञा से भाषा का या ध्वनि का अनेक प्रकार से विकास करने का मूल तत्त्व प्राप्त हो गया।

अग्नि शब्द अक्षरों एवं वर्णों के मेल से बना है। इससे ज्ञात हुआ कि भाषा में स्वरों का प्रयोग स्वतन्त्र भी होगा और व्यंजनों के साथ भी। अर्थात् भाषा के एवं ध्वनि के विकास के लिए स्वर एवं व्यंजन दोनों का ही प्रयोग करना होगा। जैसा कि अग्नि शब्द की रचना में स्पष्ट है। स्वर एवं व्यंजन दोनों की सत्ता स्पष्ट है। व्यंजनों का संयुक्त रूप से भी प्रयोग—'ग्न' अक्षर में विद्यमान है। अर्थात् भाषा के विकास में अक्षरों की सन्धियां भी होनी आवश्यक हैं। भाषा के एवं ध्वनि के विकास के लिए यह कार्य भी आवश्यक है। इस प्रकार शब्द रचना एवं भाषा तथा ध्वनि के विकास के लिए वेद ने विकास करने की प्रेरणा दे दी एवं उदाहरण उपस्थित कर दिया।

अब यदि इस मन्त्र पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें प्रथम स्वर—अ—का ज्ञान होगा। वेद कहता है—

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ
द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषम् ॥(यजु० ९।३१)

अग्नि ने अपने प्रथम अक्षर से प्राणों पर विजय प्राप्त की है अर्थात् सब प्राणों को अपने वश में कर रखा है अतः जहां अग्नि होता है वहां प्राण भी होता है। इस प्रकार से जहां ध्वनि या भाषा का विकास होगा उसमें उतना ही प्राणमय जीवन होगा। अतः हम भी एकाक्षर 'अ' को प्राप्त कर

भाषा को जीवित करें। अग्नि से जिस प्रकार प्रकाश और गति होती है उसी प्रकार हम भी भाषा का प्रकाश करें और भाषा की प्रगति करें। अग्नि ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार 'अ' एवं सम्पूर्ण स्वर तथा व्यंजन अपना अस्तित्व रखते हुए भाषा की रचना कर देते हैं। उसी प्रकार से हमें भी भाषा एवं ध्वनि की रचना करनी चाहिए।

अग्नि के प्रबुद्ध होते ही, उसके अस्तित्व के प्रकट होते ही प्रकाश एवं गर्मी—उष्णता—प्रकट हो जाती है। इन दो गुणों से वह अश्विनी संज्ञक होकर दो अक्षरों से मनुष्यों पर विजय प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार मैं भी अग्नि के दो अक्षरों को प्राप्त कर भाषाशास्त्र के व्यवहार से मनुष्यों को जीतूं। अग्नि के इस द्वितीय शब्द में दो अक्षर हैं और सब मिलकर तीन अक्षर हो जाते हैं और स्वर की पृथक् गणना से चार अक्षर हो जाते हैं। इस प्रकार शब्दों की रचना चलने लगती है।

पर यह रचना चलेगी तभी जब और स्वर एवं व्यंजनों का भी संकेत प्राप्त हो जावे तो भाषा की प्रहेलिका हल करने में सुविधा होगी। अतः इस प्रथम मन्त्र पर विचार करते हैं तो हमें प्रथम स्वरों का ज्ञान इसके निम्न शब्दों से प्राप्त हो जाता है—

अग्निम् —इस शब्द से 'अ' और 'इ' का बोध हो जाता है। अ के बाद दूसरा स्वर—इ है।

ईळे —इस दूसरे शब्द से दीर्घ—ई—और पूर्व बताये—'अ'—और 'इ'—से निर्मित—'ए' का भी बोध हो जाता है।

पुरोहितम्—इस पद में 'उ' स्वर का और 'ओ' का बोध हो जाता है—'अ'—और 'उ'—के पश्चात् 'ओ' की रचना से इन दोनों स्वरों की सन्धि का भी ज्ञान हो जाता है।

ऋत्विजम् —इससे वेद का विशिष्ट स्वर 'ऋ' का बोध हो जाता है।

होतारम् —इस शब्द से दीर्घ—'आ'—का बोध हो जाता है।

इस प्रकार—अ, आ, इ, ई, उ, ऋ, ए, ओ इन स्वरों का स्पष्ट बोध वेद के प्रारम्भ होते ही हो जाता है। जिस प्रकार मन्त्र में ह्रस्व एवं दीर्घ स्वर पठित हैं उसी प्रकार से अवशिष्ट दीर्घ ऊ, ऐ, और औ को भी प्रकट करने की शक्ति के विकास से इनको अनुक्त रखा।

इसी प्रकार व्यंजनों का भी बोध इस मन्त्र से होता है—

अग्निम् —इस शब्द में क वर्ग का तृतीयाक्षर ग और प वर्ग का म अक्षर विद्यमान है। एक वर्ग के एक अक्षर से उसी स्थान प्रयत्न से अन्य अक्षरों का भी उच्चारण कार्य सरल हो जाता है।

ईळे —इस पद में ट वर्ग का तृतीयाक्षर ड पठित है।

पुरोहितम्—इसमें प वर्ग, त वर्ग के प, त म अक्षर पठित हैं और अन्तस्थ के र और ह भी पठित हैं।

यज्ञस्य —इस पद में च वर्ग के ज और ञ् से संयुक्त अक्षर ज्ञ का बोध है। य और स अन्तस्थ और ऊष्म के वर्ण हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण मन्त्र को अक्षरविज्ञान, भाषाविज्ञान एवं ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से देखें तो वेद के प्रारम्भ करते ही एक बड़ा भाषा या अक्षरविज्ञान दृष्टिगोचर होता है और निम्न वर्णों का बोध हो जाता है—

स्वर —अ, आ, इ, ई, उ, ऋ, ए, ओ=८ स्वर
व्यंजन—क वर्ग में से — ग
च वर्ग में से —ज, ञ्
ट वर्ग में से —ड
त वर्ग में से —त, द, ध, न

प वर्ग में से —प, म
अन्तस्थ —य, र, ळ, ल, व
ऊष्म —स, ह =१७ व्यंजन

अयोगवाह रूप—अनुस्वार—रं=अं, विसर्जनीय रूप—पुरोहितं इस शब्द में पद पाठ करने पर पुरः हितम् है अतः रः=अः यह विर्जनीय रूप भी इसमें है।

यम —पुरोहितं यज्ञस्य—यहां अनुस्वार को ँ अनुनासिक भी होता है यदि ठीक प्रकार से शुद्ध उच्चारण करें। होतारँ रत्नधातमम् में भी अनुस्वार को अनुनासिक हो जाता है।

इस प्रकार मन्त्र में २५ स्वर एवं व्यंजन तथा ३ अयोगवाह रूपों का वर्णों का ज्ञान होने से भाषा का विकास प्रथम मन्त्र से सरलता से हो जाता है।

(२) ऋतु-विज्ञान का संचालक अग्नि

इस प्रथम मन्त्र में ऋतु-विज्ञान का भी मूल है। अग्नि के लिए—ऋत्विजम्—विशेषण प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् सृष्टि में जो तीनों प्रकार की अग्नियाँ हैं उनमें ऋतुओं के निर्माण की शक्ति है। सूर्य के उत्तरायण-दक्षिणायन के कारण पृथिवी पर ऋतुओं का निर्माण होता ही है। यह भौतिक एवं विद्युत् अग्नि भी अपने-अपने घरों में ऋतु का निर्माण करने में समर्थ होते हैं। शीत ऋतु में अग्नि के साहचर्य से ग्रीष्म का निर्माण, ग्रीष्म में विद्युत् की सहायता से शीत वातावरण का निर्माण आदि कार्य अपने इच्छित क्षेत्र में ऋतु का निर्माण करते हैं। फलों को तोड़ कर उनको पकाने के लिए विविध प्रकार की उष्णता को देना उनमें ऋतु प्रभाव की वृद्धि करना ही है। अग्नि, विद्युत् एवं सूर्य इनके माध्यम से यज्ञ द्वारा वृष्टि की ऋतु का निर्माण एवं अवर्षण की ऋतुओं का निर्माण अग्नि से ही होता है। वसन्त ऋतु में नव पल्लव पुष्प आदि आते हैं उसी प्रकार से जो वृक्ष वनस्पति पुष्पित एवं पल्लवित नहीं होते हैं उनको यज्ञ के द्वारा पुष्पित पल्लवित किया जा सकता है। इसी प्रकार बहुत सा ऋतु-विज्ञान इस मन्त्र से प्राप्त होता है विशेष ऋतु-विज्ञान तो वेद में अन्यत्र है ही। यहां तो केवल बीज मात्र का संकेत किया है।

(३) भू-तत्त्व विज्ञान में अग्नि की प्रधानता

इसी प्रथम मन्त्र में भू-तत्त्वविज्ञान का भी बीज है। मन्त्र में—रत्नधातमम्—पद है जिसका अर्थ है कि जो पृथिव्यादि में सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह आदि अनेक प्रकार की धातुएं हैं एवं हीरा, पन्ना, माणिक्य, नीलम, वैदूर्य आदि रत्न हैं उनका अतिशय धारण करने कराने वाला अर्थात् निर्माण करता है। पृथिवी के भीतर अग्नि से विविध पदार्थों का पाक होता रहता है और उस पाक-क्रिया से अग्नि की न्यूनाधिकता से अनेक प्रकार के पदार्थों में परिवर्तन एवं रूपान्तर होता है। ताप और काल-क्रम के अनुसार इस प्रकार अनेक धातुओं के भेद हो जाते हैं। पत्थर, कोयला, हीरा आदि अग्नि के विविध ताप के परिणाम हैं। इसका सम्बन्ध अग्नि से अत्यधिक है और उसका निरीक्षण करने के लिए ही वेद ने अग्नि को रत्नधातमम्—कहा है।

अग्नि के ही साहचर्य से धातुओं का शोधन हम करते हैं और उसी से हम उन धातुओं में अनेक प्रकार का एवं शक्ति का ताप देकर अनेक शक्ति, स्थायित्व एवं घनत्व का उसे बनाते हैं। पृथिवी में से भी उनका पता ज्ञात करने के लिए अग्नि का उपयोग होता है। अतः अग्नि के रत्नधातमम् विशेषण से भू-तत्त्व-विज्ञान का बीज रूप से ज्ञान इस मन्त्र में दिया है। विशेष ज्ञान वेद में अन्यत्र है ही।

(४)

पदार्थ-विज्ञान

इस मन्त्र में पदार्थां का विविध कार्यों के लिए गुण जान कर उनका संगतीकरण, दोष जानकर उनका पृथक्करण का ज्ञान एवं व्यवहार का भी बीज रूप से उपदेश है। इस ज्ञान के उत्पन्न करने के लिए इस मन्त्र में—यज्ञ—देवं और होतारम् पद हैं। यज्ञ शब्द से पदार्थों का संगतीकरण व्यवहार तथा दान अर्थात् पृथक्करण कार्य का बोध होता है। संगतीकरण कार्य से पदार्थों का मिश्रण सिद्ध होता है और दान से विभागीकरण होता है जिनसे पदार्थ-विज्ञान की विद्या की उन्नति होती है।

इसी प्रकार देवं पद भी पदार्थों की क्रीड़ा, पदार्थों के गुणों की वृद्धि, पदार्थों के व्यवहार, पदार्थों के बल एवं तेज संरक्षण एवं वृद्धि तथा उनसे सुख साधन ज्ञात करने से पदार्थ-विज्ञान का विकास होता है। होतारम् पद अग्नि के उस गुण का द्योतक है जिससे वह हव्य पदार्थों को ग्रहण करने अर्थात् आकर्षित करने और त्यागने—दूर करने, बाहर फेंकने की गति को करता है। अर्थात् अग्नि के होता गुण से वह शक्ति यन्त्र भी तैयार हो सकता है जिसमें ये दोनों गतियां स्थापित करने से चक्राकार गति का जन्म होता है। इस प्रकार इन शब्दों में महान् विज्ञान का बीज विद्यमान है।

विज्ञान का मूल केन्द्र यज्ञ

यज्ञ-शब्दार्थ और हमारी उपलब्धि

वैदिक साहित्य का यज्ञ शब्द अपने में बहुत प्रकार के अर्थों को समेटे हुए है। हमारे जीवन में कला एवं काल के प्रवाह के कारण इसके अर्थों की अनुभूति में, विविध शिखरों के रूप में, अपनी-अपनी स्मृति से इसके अर्थ के किंचित् अंश का आभास प्रत्येक को होता है। जो जितना अपनी स्मृति से या उपलब्धि से इसका स्पर्श कर पाता है, वह उसी तथा उतने ही अर्थ को पूर्ण मान लेता है।

कालचक्र में यज्ञ शब्द का रूढ़ अर्थों में प्रवेश

विविधार्थ में से किसी विशेष अर्थ में ही शब्द का रूढ़ हो जाना मानव जीवन के विविध प्रकार के विकास से सम्बन्धित है। एक अर्थ के पश्चात् शब्द के दूसरे अर्थ में रूढ़ होने में शताब्दियों का अन्तर हो जाता है। रूढ़ अर्थ संकुचित है। वह अपनी विशालता को त्यागकर एक केन्द्र में आकुञ्चित हो जाता है। ऐसा क्षुद्रार्थ मानव जीवन के व्यवहार रूपी कर्मकाण्ड का, अपने समय का एक आकर्षक केन्द्रबिन्दु या प्रमुख आधार बन जाता है और तत्कालीन व्यवहार के इतिहास को साक्षिवत् प्रस्तुत करने की सामर्थ्य रखता है।

मानव की उत्पत्ति से भी पूर्व यज्ञ की स्थिति—

जब हम 'यज्ञ' शब्द को सुनते हैं, तो पूर्व परम्परा से जो रूढ़िवादी अर्थ मानवजाति ने अपने जीवन में प्रचलित किया था, उसका ही ग्रहण सरलता से कर पाते हैं। यज्ञ मानव जीवन के व्यवहार एवं इतिहास से भी सम्बन्ध रखता है। परन्तु मानव की उत्पत्ति से भी पूर्व यज्ञ का अस्तित्व विद्यमान रहता है। अतः मानवीय इतिहास के अतिरिक्त सृष्टि के इतिहास एवं उसकी क्रियाओं से भी यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध रहने से, यज्ञ का अर्थ और अधिक व्यापक है।

यज्ञ और परमात्मा—

परमात्मा भी यज्ञरूप है। परमात्मा ने सृष्टि की रचना भी यज्ञ से की है। सृष्टि का आधार एवं इसकी रचना भी जब दैवी यज्ञों—सृष्टि यज्ञों—के द्वारा हुई है तो यज्ञों का अस्तित्व भी प्रकृति में

सदा विद्यमान रहता है—यह स्वीकार करना ही पड़ता है। उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय में जो क्रियाशीलता है वही यज्ञ है। इसका मानव बुद्धि सूक्ष्मदृष्टि से दर्शन करके उन्हीं सृष्टि-नियमों—यज्ञों के आधार पर जब अपना व्यवहार करती है तो वही मानवकृत यज्ञ हो जाते हैं। अतः मनुष्य द्वारा अपने व्यवहार मात्र से सम्बन्धित गृहीत मात्र अर्थ यज्ञ का पूर्ण अर्थ नहीं है। उसे तो सृष्टि और परमात्मा के कार्यों एवं व्यवहार के साथ संगत करके भी देखना होगा।

यज्ञ (१) देवपूजा—

यज् धातु से यज्ञ शब्द की उत्पत्ति हुई है। परन्तु इस शब्द की प्रथम उत्पत्ति परमात्मा में हुई पुनः उसकी सृष्टि में क्रियाशीलता व्याप्त हुई, तत्पश्चात् प्राणियों में हुई। यज् धातु का अर्थ देवपूजा, संगतिकरण एवं दान है। पूजा का अर्थ सत्कार है। सत्कार की भावना गुणों के ज्ञान से ही होती है। देव अर्थात् सृष्टि के विविध तत्त्वों एवं पदार्थों का गुणज्ञान एवं उनकी उपयोगिता का ज्ञान होने से व्यवहार के लिए जो श्रद्धा जागरित होती है, उससे प्रभावित प्रथम प्रयत्न अर्थात् तत्त्व के प्रति अपनी अभिलषित कामना से उसकी ओर आकर्षित होना देवपूजा का ही अंग है।

यज्ञ=(२) संगतिकरण, (३) दान—

इस प्रथम क्रिया के पश्चात् तत्त्व या पदार्थ को ग्रहण करना या एक तत्त्व के साथ दूसरे तत्त्व का संयोग करने की दूसरी क्रिया होती है। इसे ही संगतिकरण नाम से यज् धातु के अर्थ में दूसरी स्थिति में रखा गया है। संगतिकरण करने पर जो पदार्थों का वियोगात्मक कार्यसम्पन्न होता है या पदार्थ से जो फल-निष्पत्ति होती है वही यज् धातु के अर्थ में दान या त्याग से कथित है।

यज्ञ=यज्ञ—

यज्ञ की प्रक्रिया सर्वप्रथम परमेश्वर में ही होती है। अतः परमात्मा भी यज्ञ है। यज्ञ शब्द का पूर्ण अर्थ उसके खण्डितार्थ वाची शब्दों में नहीं है। यज्ञ तो यज्ञ ही है। यज्ञ केवल देवपूजा ही नहीं है। देवपूजा भी यज्ञ के अन्तर्गत है। संगतिकरण मात्र ही यज्ञ नहीं है अपितु संगतिकरण यज्ञ के अन्तर्गत है। दान या त्याग ही यज्ञ नहीं है अपितु दान या त्याग भी यज्ञ का ही अंग है। अतः यज्ञ का अर्थ उसके अंशार्थ वाची शब्दों से पूर्ण प्रकट नहीं होता। सम्पूर्ण अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द तो स्वयं यज्ञ ही है।

यज्ञ के पर्यायवाची शब्द अपूर्ण हैं—

अग्नि में होम करना मात्र ही यज्ञ है—ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं। अपितु यह भी यज्ञ है ऐसा मानना चाहिए। मनुष्य ही यज्ञ करते हैं ऐसा नहीं है अपितु मनुष्य भी यज्ञ करते हैं या कर सकते हैं। यज्ञ का अर्थ बहुत व्यापक है। कुछ व्यक्तियों ने यज्ञ का अपर पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी भाषा का 'सेक्रिफाइस' मान कर एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान की परिधि में उसे बांधकर प्रकट किया है। परन्तु यज्ञ शब्द 'सेक्रिफाइस' से भी अत्यन्त परे के अर्थों का द्योतक है। अतः यज्ञ के अपर पर्यायवाची शब्द की कल्पना न करके इसी यज्ञ शब्द को ग्रहण करना चाहिए और इसी शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

'सेक्रिफाइस' शब्द से यदि हम त्याग का ही ग्रहण करें तो वह किसी अंश में ठीक है। परन्तु इस शब्द से नरबलि या पशुबलि सदृश किसी अर्थ का यदि ग्रहण करेंगे तो वह यज्ञ के अर्थ से विपरीत

ही होगा। 'सेक्रिफाइस' शब्द इस बलि अर्थ में विशेष रूढ़ होने से यज्ञ के वास्तविक अर्थ के साथ भ्रान्ति का भी प्रसारक हो जाता है। अतः इस शब्द का यज्ञ के लिए प्रयोग असंगत है।

प्रथम यज्ञकर्त्ता—परमात्मा

सर्वप्रथम वह परमात्मा ही यज्ञ प्रारम्भ करता है। वहां बलि कौन, किसके लिए किसकी देवे। वह परमात्मा तो सर्वप्रथम तप करता है। अपने में एक गुप्त अग्नि को संसिद्ध करता है। यही उसकी प्रथम देवपूजा का कार्य है, तप है, परमात्मा के तीव्र ताप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति होती है और इनका परस्पर में एक-दूसरे के साथ संगतिकरण कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यह संगतिकरण कार्य—'अभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' मन्त्र पद में निर्दिष्ट 'तपसः'—तप से उत्पन्न होता है। तप से व्रत एवं सत्य फलों की निष्पत्ति की क्रिया ही दान-क्रिया है।

यज्ञ से सृष्टि का निर्माण

इस प्रकार परमात्मा के यज्ञ से ऋत और सत्य का उद्गम होने से इनमें भी यज्ञ का क्रमशः प्रवाह चलता है। इन दोनों से—'ततो रात्र्यजायत' रात्रि की स्थिति उत्पन्न होती है। रात्रि सृष्टि की वह स्थिति है जिनमें समस्त सृष्टि अविकसित, एक रूप में—साम्यावस्था के रूप में रहती है। इसी रात्रि तत्त्व में ऋत एवं सत्य के साथ यज्ञ के क्रियाशील होने पर समुद्र और अर्णवात्मक अर्थात् धूममय एवं द्रवरूप तत्त्वों की स्थितियों का प्रादुर्भाव होता है और जब उसमें काल चक्रात्मक संवत्सर का उद्गम होता है तब सृष्टि के तत्त्व देश, काल स्थिति से अनेक बन्धनों में बँधते जाते हैं और कार्य करने लगते हैं।

देवयज्ञात्मक स्थिति

काल एवं देश के बन्धन में आने पर अनेक केन्द्र तत्त्व क्रियाशील हो जाते हैं और उनमें अपने सजातीय तत्त्वों को एक नियत परिधि में रखने तथा मात्रा से अधिक सजातीय तत्त्वों और विजातीय तत्त्वों को परिधि से बाहर करने की सामर्थ्य क्रियाशील हो जाती है। यह तत्त्वों की आदान, विसर्गात्मक बुभुक्षित एवं त्यागात्मक स्थिति है। बुभुक्षित स्थिति में अपनी न्यूनता की पूर्ति के लिए अपने में अन्य तत्त्वों को ग्रहण एवं आत्मसात् करने की स्वाभाविक क्रिया होती है। त्यागात्मक स्थिति में अपने में से त्याग, दान की क्रिया होती है। आदान और विसर्ग या ग्रहण और त्याग की क्रिया से तृप्ति-अवस्था उत्पन्न होती है। इस तृप्ति-अवस्था में निवृत्ति की स्थिति हो जाती है। आदान, विसर्गात्मक स्थिति की पूर्व जागृति, तत्त्वों में यज्ञ के देवपूजा अर्थ को चरितार्थ करती है। जब तत्त्व बुभुक्षित होकर तत्त्वों या पदार्थों को दूसरे तत्त्वों से लेकर अपनी न्यूनता को पूर्ण कर लेते हैं तब वही यज् धातु के दूसरे अर्थ संगतिकरण को भी प्राप्त कर लेते हैं। यह क्रिया विना अन्य तत्त्वों के आदान-प्रदान से संभव नहीं हो सकती। अतः यज् धातु के तीसरे अर्थ की भी पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार यज्ञ का सम्पूर्ण अर्थ-सृष्टि कार्य में देव यज्ञों में घटित हो जाता है।

सृष्टि के मूलभूत तत्त्व-ऋत और सत्य

सृष्टि में परमाणु से लेकर महत् परिमाण तक यह यज्ञमय क्रिया चलती रहती है। एक तत्त्व में अनेक यज्ञ अपने-अपने उपकेन्द्रों में और उनके भी अवयवों में चलते रहते हैं। अतः सृष्टि का यह सारा कार्य यज्ञमय है और यज्ञ से ही चल रहा है—यह स्पष्ट हो जाता है। यह कार्य परमात्मा के तप से प्रादुर्भूत है। उसके तप से उत्पन्न ऋत और सत्य से ही सृष्टि का द्विविध शक्तिमय रूप बनता है

और क्रमपूर्वक चलता है। जो मूल में या बीज में है वही तूल या विराट् में भी दृष्टिगोचर होता है। 'ऋत' गतिशील तत्त्व है और सत्य केन्द्र भूत तत्त्व है। सत्य अथवा केन्द्र गति करता हुआ भी स्थिर प्रतीत होता है। ऋत से आवृत सत्य, केन्द्र में ही प्रतिष्ठित रहता है। ऋत तत्त्व सत्य के चारों ओर गति करता है। अतः सत्य के आश्रय से ऋत अनेक रूपों में भासित होता है। वह 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" की स्थिति को उत्पन्न करता है।

ऋत=इलेक्ट्रोन (Electron) सत्य=प्रोटोन (Proton)

वर्तमान विज्ञान ने भी सृष्टि के मौलिक तत्त्व परमाणु का अन्वेषण किया और जब उसका भी और अन्तर्निरीक्षण किया तो उन्हें भी उसमें ऋत (इलेक्ट्रोन) गति करता हुआ और सत्य (प्रोटोन) केन्द्र में स्थित हुआ दृष्टिगोचर हुआ जिससे समस्त संसार निर्मित हुआ। यही नाना रूपमय स्थिति देश-काल के प्रभाव से एवं ऋत सत्य की विविध मात्राओं की स्थिति से विविध छन्दों, परिधियों में ग्रथित होकर अपने अजस्र प्रवाह से सृष्टि की स्थिति को तथा नियति के चक्र को बनाये रखती है। सृष्टि में यह यज्ञ का क्रम चलता रहता है। यह यज्ञ ऋत एवं सत्य के आधार पर है अतः यज्ञ भी ऋत एवं सत्य की विविधरूपता जो देश, काल एवं मात्रा से बद्ध होकर नित्य नवीन-नवीन रूप में प्रकट होती है वह ऋत है। ऋत गतिशील—परिवर्तनशील है। ऋगतौ धातु से ऋत शब्द बना है अतः उसमें गतिशीलता है ही।

यज्ञ से सृष्टि में ऊर्जा का संभरण

किन्हीं तत्त्वों में ऋत के तत्त्वों की मात्रा में न्यूनाधिकता हो जाने से, उन दोनों में भी आदान-विसर्गात्मक यज्ञ की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, और जब न्यूनाधिकता की आदान-प्रदान क्रियापूर्वक संगतिकरण द्वारा सम्पूर्णता हो जाती है तब वह यज्ञक्रिया पूर्ण हो जाती है। यही तृप्ति है। इस क्रिया से दोनों पदार्थों में जो आकर्षण, विकर्षण एवं गतिशीलता उत्पन्न होती है उससे तत्त्वों में ऊर्जा उत्पन्न होती है। सृष्टि में ऊर्जा का निर्माण एवं संभरण यज्ञ की इस क्रिया द्वारा होता रहता है।

विविध ऋत मण्डलों का निर्माण—

सृष्टि के किन्हीं तत्त्वों में सत्य तत्त्व की न्यूनाधिकता के परिणाम से अन्य तत्त्वों के निर्माण की तथा मिश्रित तत्त्वों के निर्माण की क्रिया होती है क्योंकि केन्द्र में परिवर्तन होने से उसके ऋत-मण्डल में भी परिवर्तन हो जाता है। ऋत के परिवर्तन से स्वरूप का भी परिवर्तन हो जाता है। ऋत और सत्य की विविध मात्रा में छन्दोमय स्थिति ही विश्व का परम सौन्दर्य एवं आश्चर्य है। इसी सौन्दर्य एवं आश्चर्य में समस्त विज्ञान ओत-प्रोत है।

मानवकृत यज्ञों में यथार्थ की सार्थकता

सृष्टि के यज्ञ या विज्ञान को देखकर जब मनुष्य उनका उपयोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए करता है तब उसे भी यज् धातु की क्रियाओं का ही अनुसरण करना पड़ता है। तभी वह अभीष्ट सुख लाभ प्राप्त कर सकता है। कामना की पूर्ति जिस तत्त्व से होगी, उसके गुणों को जानकर उसके उपयोग लेने के लिए जो मनुष्य में इच्छा की जागृति है- वही देवपूजा का भाव है। वही तत्त्व का सत्कार है। तत्त्व का गुण-दर्शन एवं उसके प्रति प्रीति ही सत्कार भाव है। प्रयत्न ही संगतिकरण क्रिया है और प्रयत्न को फलीभूत करने के लिए जो अनुकूल एवं प्रतिकूल तत्त्वों का प्रयोग तथा व्यवहार है वही दान क्रिया है।

यज्ञों में अग्नि की प्रधानता

पदार्थों के संयोग वियोगात्मक कार्यों के विना हमारी कामनानुकूल सफलता नहीं हो सकती है। यही संगतिकरण एवं दानक्रिया अग्नि के विना सम्पन्न नहीं हो सकती है अतः हमें भी तप-ताप—अग्नि के द्वारा ही अपना यज्ञ करना पड़ता है। इस अग्नि-स्थापना का कार्य चाहे भूमि के आश्रय से करें या अन्तरिक्ष के आश्रय से करें—हमें करना ही होगा। वह अग्नि चाहे भौतिक ईंधनों की किसी भी प्रकार की हो या विविध प्रकार के तैजस् द्रव द्रव्यों (एसिड, तेजाब, पेट्रोलियम) एवं धूमजन्य हो या विद्युत् सम्बन्धी हों—हमें किसी न किसी का आश्रय लेना होगा। तत्त्वों के गुणों को जानकर अग्नि के साहचर्य से उनके विविध मिश्रण निर्मित करके अपने उपयोग में लाने का कार्य सृष्टि-प्रक्रिया के अनुकूल होने से विज्ञान-मार्ग का अनुसरण करने वाला है। वेद की परिभाषा में इन्हें यज्ञ ही माना गया है। सृष्टि के नियमों को जानकर, उनके विविध तत्त्वों की योग्यता तथा शक्ति के आधार पर उनका विधिवत् विज्ञान सिद्ध उपयोग लेना यज्ञ की परिधि के अन्तर्गत ही है।

भौतिक यज्ञ

ऐसी स्थिति में सृष्टि के तत्त्व के गुण-धर्मों को जानकर अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न होगा उसमें संयोग वियोगात्मक कार्य अग्नि के विना संभव नहीं। अतः अग्नि के माध्यम से क्रिया करना और उसके माध्यम से सृष्टि-तत्त्वों का उपयोग लेना भौतिक यज्ञ है। कामना ही संकल्प है। तत्त्वों का गुण ज्ञान उसका मन्त्र है। गुणों का उपयोग लेने का प्रयत्न एवं प्रकार ही यज्ञ की विधि है। पदार्थों के संयोग-वियोग के लिए तत्त्वों का मिश्रण करके प्रयोग—हव्य द्रव्य का प्रयोग है। अग्नि के ताप एवं वर्च की वृद्धि के लिए पदार्थों का प्रयोग ही आज्य आहुति है। ईंधन ही समिधा है। प्रयोग की सम्पूर्णता ही पूर्णाहुति है। परिणाम ही फल या स्वर्ग-सुख विशेष की प्राप्ति है। अतः यज्ञ ही इस जीवन में स्वर्ग-सुखप्राप्ति का सोपान है। यज्ञ और विज्ञान, विज्ञान और सत्य, सत्य और यज्ञ एक ही हैं। उसके विविध नाम भी ऋत के ही कारण हैं।

यज्ञ से स्वर्ग सुखों की प्राप्ति

सुख एवं आनन्द की प्राप्ति की कामना सबको होती है। वह यज्ञ रूपी वैज्ञानिक पुरुषार्थ से सफल होती है और सुख एवं आनन्द की वृद्धि होती है। यह यज्ञ साम्प्रदायिक वस्तु या क्रिया नहीं है अपितु सृष्टि विज्ञानाश्रित क्रिया है। इसके द्वारा सृष्टि के तत्त्वों को विविध प्रकार से प्रभावित करके अपनी कामनानुकूल प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। एक वैज्ञानिक या याज्ञिक जो अपना प्रयोग करता है वह सृष्टि के विज्ञान को अनुभव करके तदनुसार अपने प्रयोग के द्वारा अपने एक क्षेत्र में उसका लाभ प्राप्त करता है। वह भी यज्ञ ही है।

यज्ञ=प्रकृति और पुरुष की साधना—
भौतिक विज्ञान=केवल प्रकृति की साधना—

ये यज्ञ जब केवल सृष्टि तत्त्वों को ही प्रबल साधन मानकर उनकी साधना के लिए किये जाते हैं और उनमें सृष्टि रचयिता की अवहेलना, उपेक्षा या उसके अस्तित्व को अस्वीकार करके किये जाते हैं तब हमारा प्रयोग—यज्ञ के प्रारम्भकर्ता या यज्ञ के रचयिता परमात्मा के प्रति तिरस्कार भावयुक्त हो जाता है। सृष्टि के विविध तत्त्व ही देवतत्त्व हैं। इन तत्त्वों में देवत्व का भाव एवं अस्तित्व परमात्मा के ही कारण आता है ऐसी अवस्था में यज् धातु के अर्थ देवपूजा के अर्थ से वह तत्त्व गुण-कथन मात्र में ही सीमित हो जाता है और संगतिकरण योग्य परमात्मा की संगति से भी वंचित हो जाता है। वह

अपने प्रयोग को विराट् देव के क्षेत्र से हटाकर एक जड़ तत्त्व की साधना में लग जाता है। अतः ऐसा जड़ यज्ञ केवल भौतिक ज्ञान-विज्ञान का स्थल मात्र रह जाता है।

यज्ञ-विज्ञान की श्रेष्ठता

वैदिक यज्ञ-विज्ञान, यज्ञ के सूत्रधार परमात्मा की मूल शक्ति का सृष्टि में दर्शन कराता हुआ अपने प्रयोग, यज्ञ के द्वारा सम्पन्न करता है। अतः उसके यज्ञ में आस्तिकता, श्रद्धा, विनय, समर्पण आदि के पवित्र भाव होते हैं यह याज्ञिक शिष्टाचार है। यह यज्ञ-विज्ञान चैतन्य तत्त्व आत्मा को, परम चैतन्य तत्त्व परमात्मा की ओर अभिमुख करता है। यह इसकी विशेषता है। सृष्टि में रमण करते हुए भी प्रकृति के इतने दास न हो जायें कि हम उस प्रभु को ही भूल जायें। मानव कृत यज्ञों में सृष्टि सम्बन्धित यज्ञ मात्र का ही प्रतिबिम्ब नहीं है अपितु सृष्टि-यज्ञ के साथ आध्यात्मिक यज्ञ का भी प्रतिबिम्ब रहता है। अतः जो क्रिया भौतिक एवं अध्यात्म इन दोनों यज्ञों का अपने में समावेश करती है वह यज्ञ के व्यापक अर्थ को वास्तव में अभिव्यक्त करती है।

भौतिकविज्ञान अध्यात्मविज्ञान से युक्त होने पर यज्ञविज्ञान हो सकेगा

वैदिक कर्मकाण्ड के इस यज्ञमय स्वरूप में जो भौतिकविज्ञान का अंश है उसके समझने की उपेक्षा के कारण यज्ञकार्य केवल एक रूढ़िवादिता से देखा जा रहा है और उसे विज्ञान के क्षेत्र में कार्य कारण भावरहित, कौतूहलपूर्ण एवं अवैज्ञानिक कर्म समझा जा रहा है। भौतिकविज्ञान उसे अपने समकक्ष में नहीं रखना चाहता वह यज्ञ के अध्यात्म विज्ञान के अंश को उपहास्य समझता है। वह भौतिक विज्ञान एवं अध्यात्मविज्ञान का सम्मिश्रण भी करना नहीं चाहता। वर्तमान युग भौतिक विज्ञान का है, इसलिए वह यज्ञ को अपनाने में संकोच अनुभव करता है।

भौतिकविज्ञान सुख दे सकता है शान्ति और आनन्द नहीं।

यज्ञ की भावना से रहित विज्ञान मानव को सुख दे सकता है, शान्ति और आनन्द नहीं दे सकता है। शान्ति और आनन्द अध्यात्मविज्ञान से प्राप्त होते हैं। भौतिक विज्ञान की उन्नति से स्वार्थ, हिंसा, अन्याय, दमन और कूटनीतियों को बल एवं आश्रय प्राप्त होता है। हमें इस भौतिक विज्ञान के साथ आध्यात्मिक विज्ञान का भी सम्मिश्रण करके इसको यज्ञमय बनाकर सुख-प्रसार का यत्न करना चाहिए।

यज्ञ-विज्ञान से भौतिक सुखों की भी वृद्धि होती है—

आज देश पर जो संकट वृष्टि, जल, अन्नादि के अभाव का है उसकी पूर्ति यज्ञ के विज्ञान से अच्छी प्रकार हो सकती है। यज्ञ-विज्ञान में भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों विज्ञानों का सम्मिश्रण होने से यह अधिक बलवान् एवं श्रेष्ठ प्रकार का है। अतः हमें इसका अवलम्बन लेना चाहिए। यज्ञ की विधियों का, प्रयोगों का, इसके द्रव्यों का, यज्ञ के प्रभाव का वर्तमान भौतिक विज्ञान के आधार पर विश्लेषण करके इसकी वैज्ञानिकता का प्रसार एवं प्रतिपादन करना चाहिए और इसे प्रयोगात्मक एवं अनुसंधानात्मक दोनों रूप से भौतिक क्षेत्र में अवतरित करना चाहिए।

यज्ञ-विज्ञान के अनुसन्धान की आवश्यकता

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है—यह सत्य है इस बात की भी नितान्त आवश्यकता है कि वेद में से उन सब सत्य विद्याओं को या उनमें से कतिपय सत्य विद्याओं को संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया जाये, उन विद्याओं से संसार को लाभान्वित किया जाये और उन विद्याओं को व्यवहारो-

पयोगी बनाकर विश्व के जीवन के इतने निकट स्थापित कर दिया जाये कि मानवमात्र को वेद एवं वैदिक यज्ञ-विज्ञान बलात् अपनाना ही पड़े। ऐसी स्थिति में मानव जाति को अपने ज्ञान एवं प्रेरणा के स्रोत के लिए वेद को ही अंगीकार करना होगा और अपने समस्त व्यवहार के लिए वैदिक यज्ञ-विज्ञान पर ही आश्रित होना होगा। 'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ, विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है' अतः वेद की विद्या और उसको व्यवहारोपयोगी बनाकर मानव-मात्र को आदि मूल परमेश्वर के निकट लाने का जो भी प्रयत्न हम करेंगे वह निःसन्देह चतुर्विध फल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने-कराने वाला ही होगा। राष्ट्र को अन्य सब योजनाओं एवं कार्यों को प्राथमिकता न देकर यज्ञ-विज्ञान के अनुसन्धान को ही पूर्ण महत्त्व देते हुए इसके लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। संसार का उपकार करने का यही सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। इसके लिए उदासीनता या उपेक्षा-भाव आत्मघात के तुल्य है।

क्या वर्तमान वैज्ञानिक युग में वेद की विद्या और उसका यज्ञ-विज्ञान उपयोगी हो सकेंगे? क्या यज्ञ के विज्ञान द्वारा कोई ऐसे भी कार्य किये जा सकते हैं, जिससे उनका प्रभाव आज के विश्व के मस्तिष्क एवं हृदय-पटल पर पड़ सके? क्या वेद के विज्ञान के उपयोग से ऐसे भी कार्य हो सकते हैं जिनको वर्त्तमान विज्ञान अभी तक नहीं कर सका है? यदि इसका उत्तर हाँ में दिया जा सकता है तो उसके लिए हमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिए और उसके लिए सर्व प्रकार से सहयोग भी देना चाहिए।

वेद के विज्ञान के अनुसन्धान कार्य के लिए हमें जीवन को अर्पण करना होगा और अपने बल एवं धन को वेदों के लिए अर्पण करना होगा। वेद को शब्दब्रह्म कहा गया है। यही वेद की मन्त्र राशि ब्रह्म का परम पवित्र, श्रेष्ठतम, सत्य, पूर्ण निर्भ्रान्त ज्ञान मानव जाति का परम आश्रय रूप सार्वकालिक पथ-प्रदर्शक है। वेद शाश्वत परम ज्योति है। वेद का पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण तथा उसमें ज्ञान एवं कर्म की प्रवृत्ति मानव जाति के लिए परम-धर्म है। इस परम-धर्म की साधना से हमें अनेक विद्या एवं विज्ञानों की प्राप्ति हो सकेगी और उससे विश्व को लाभान्वित किया जा सकता है।

वेदों के स्वाध्याय के तथा अब तक के अपने प्रयोग एवं प्रयत्नों के आधार पर अनेक कार्यों को हम अपने अनुसन्धान का क्षेत्र बनाकर विश्व को आशातीत सफलता के क्षेत्र में प्रवेश करा सकते हैं। वैदिक यज्ञ-विज्ञान की सफलता से विश्व के लाभान्वित होने पर शिक्षा, विज्ञान, समाज, राजनीति आदि क्षेत्रों में भी वेद को महत्त्वपूर्ण स्थान विश्व में स्वतः ही प्राप्त हो सकेगा। "अग्निहोत्रफला वेदाः" यह निष्कर्ष प्राचीन ऋषियों ने वेद की साफलता एवं यज्ञ के विज्ञान को सत्य सिद्ध करने तथा व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए घोषित किया था। अतः हमें भी वेदों के यज्ञ-विज्ञान के द्वारा वर्त्तमान समय की समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

वेद विद्याओं एवं विज्ञान से पूर्ण हैं—और उन विद्याओं एवं विज्ञान की सबसे उत्कृष्ट प्रयोगशाला यज्ञ-वेदी—यह मानव देह ही है। जब इस देहरूपी प्रयोगशाला से विश्व में प्रयोग किये जाते हैं तो उसका प्रभाव विश्व पर भी पड़ता है। जब तक ये प्रयोग पंच तन्मात्राओं से ऊपर की शक्तियों द्वारा किये जाते हैं तब तक संकल्प शक्ति के आधार पर सफलता को प्राप्त करते हैं। यह वैदिक विज्ञान की सूक्ष्म एवं उच्च स्थिति है। परन्तु जब वैदिक विज्ञान का स्थूल रूप, स्थूल जगत् के पदार्थ एवं उनकी शक्तियों के आश्रय से सम्पन्न किया जाता है तो उसकी प्रयोग-शाला बाह्य यज्ञ-वेदी को ही बनाना पड़ता है। उसमें सर्व प्रकार के क्रिया कलापों की सिद्धि के लिए अग्नि-स्थापन करके द्रव्यों की आहुतियों द्वारा उनको सूक्ष्म करके संयोग, वियोग एवं विभाग क्रियाओं द्वारा विश्व में यथास्थान, यथाशक्ति तत्त्वों की

वृद्धि एवं ह्रास द्वारा इच्छित क्रिया की जाती है जो कि इष्ट-प्राप्ति कराती है। यदि इसके साथ मानसिक शक्तियों का भी प्रयोग किया जाता है तो और भी शीघ्र सफलता प्राप्त होती है।

वैदिक विज्ञान की इस प्रक्रिया को यज्ञ कहते हैं। इसीलिए वेद ने यज्ञ को "कामधुक्" कहा। गीता में भी यज्ञ को "कामधुक्" कहा गया है। अर्थात् सर्वकामनाओं की प्राप्ति, दोहन कार्यवत् यज्ञ से हो सकती है। कामनानुकूल इष्ट-प्राप्ति के लिए जो विविध प्रकार के प्रयत्न एवं क्रिया समूह हैं वे ही पृथक्-पृथक् यज्ञों के रूप में विविध नाम व रूप से कहे जाते हैं। इस प्रक्रिया को समझकर यज्ञ द्वारा अनुसन्धान-कार्य बडी सफलता से सम्पन्न हो जाता है। इसी यज्ञ-विज्ञान के आधार पर—

(१) यज्ञों द्वारा असमय में अन्तरिक्ष में सोम भरा जा सकता है और उससे मेघों का निर्माण इच्छित समय पर हो सकता है। यज्ञनिर्मित इन मेघों को यथेच्छ स्थानों पर बरसाया भी जा सकता है। आज बड़े-बड़े बांध बनें हुए हैं यदि वर्षा न हो तो वे शीघ्र ही निष्फल हो सकते हैं। अतः इच्छित रूप से वर्षा कराने के सुलभ विज्ञान पर यज्ञ-विज्ञान द्वारा संसार को लाभान्वित किया जा सकता है जिससे कृषि एवं उद्योग विकसित बनें रह सकते हैं।

(२) अतिवृष्टि को रोकने के प्रयत्न वर्तमान विज्ञान नहीं कर सका—परन्तु अवर्षण की स्थिति निर्माण करने या अतिवृष्टि को रोकने की क्रिया भी यज्ञों द्वारा सम्पन्न होती है और उसमें सफलता भी दृष्टिगोचर हुई है। इस क्रिया द्वारा वर्षा पर सन्तुलन एवं नियन्त्रण स्थापित होने से नदियों की बाढ़ समस्या को नियन्त्रित किया जा सकता है और देश को जन, धन, अन्नादि की हानि से मुक्त किया जा सकता है।

(३) यज्ञ द्वारा वर्षा कराने एवं वर्षा रोकने की यज्ञ-प्रक्रिया तथा विज्ञान के आधार पर ही ऋतुविज्ञान पर भी इच्छित नियन्त्रण स्थापित हो सकता है। अर्थात् यज्ञ द्वारा ऋतुओं के तापमान में न्यूनता एवं वृद्धि की जा सकती है। शीत ऋतु में यदि आवश्यकता से अधिक शीत लहरें वातावरण को अतिशीतल बना दें अथवा ग्रीष्म ऋतु में ग्रीष्म की प्रचण्डता से जनहानि की सम्भावना हो तो दोनों अवस्थाओं में अपने अनुकूल वातावरण में परिवर्तन यज्ञ के द्वारा सम्भव है अथवा ऋतुओं की स्थिति क्षीण, प्रभावहीन एवं असमर्थ हो तो उसको समर्थ एवं प्रभावयुक्त भी यज्ञ के द्वारा किया जा सकता है।

(४) यज्ञ द्वारा मरुभूमि को उर्वरा भूमि में परिवर्तित करने की क्रिया भी की जा सकती है। आज मरुभूमि को रोकने के उपायों में बबूल के वनों को लगाने का उपाय व्यवहार में लाया जा रहा है। कांटों को बोने का फल कांटे के रूप में ही भोगना पड़ता है। मरुपन पृथ्वी का क्षय रोग है। इस क्षय की चिकित्सा यज्ञ द्वारा हो सकती है। यदि नियत क्षेत्र में ५ वर्ष परीक्षण का अवसर प्राप्त हो तो इसमें सफलता प्राप्त हो सकती है। पृथ्वी के तत्त्वों में जो विपरीत क्रिया विघटनात्मक प्रारम्भ हो गई है उस क्रिया के प्रति विपरीत रूप में क्रिया करने से मरुभूमि में अनुकूल परिवर्तन होने लगेंगे।

(५) यज्ञ द्वारा राष्ट्र की खनिज सम्पदा की भी वृद्धि हो सकती है। पृथ्वी में खनिज पदार्थों का संग्रह पृथ्वी के अतिरिक्त अन्तरिक्ष व द्युलोक में स्थित इनकी सूक्ष्म स्थितियों के कारण भी होता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के पदार्थों का सूक्ष्म एवं बीजात्मक अंश विविध प्रकार की वनस्पतियों में भी केन्द्रित होता रहता है। इस प्रकार विविध तत्त्वों से प्रधान रूप से युक्त ओषधि वनस्पतियों के यज्ञ के द्वारा उनके धूम के अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी में प्रसारित होने से उन-उन प्रकार की खानों में उसी प्रकार के खनिजद्रव्यों के सूक्ष्म अंश को स्थूलरूप में अपने केन्द्र के साथ संगृहीत होने में सहायता होती है और खनिज द्रव्यों में उन्हीं-उन्हीं पदार्थों की वृद्धि हो सकती है। यदि प्रत्येक धातु अभी द्रव्य रूप में और गैस

रूप में भी परिणत की जा सकती है तो कभी वह द्रव्य एवं गैस रूप में भी थी और अब भी वह इन रूपों में न्यूनाधिक मात्रा में पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में विद्यमान है। कभी उसकी अधिकता पृथ्वी में होती है तो कभी उसकी अधिकता अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में हो जाती है। यज्ञ-प्रक्रिया द्वारा उसका आकर्षण पृथ्वी में सम्भव होने से यज्ञ से खनिज पदार्थों की वृद्धि सम्भव है।

यज्ञ-विज्ञान के उपयोग द्वारा उपरोक्त प्रकार से जहाँ स्थूल जगत् में परिवर्तन किये जा सकते हैं वहाँ विश्व के मानसिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में भी परिवर्तन किये जा सकते हैं—

(६) यज्ञ द्वारा विश्व के मानव क्षेत्र में शान्ति, प्रेम, आस्तिकता, अभ्युदय, अनुशासन आदि की भावनाओं को जागरित किया जा सकता है और सुबुद्धि तथा सत्कर्मों की वृद्धि की जा सकती है।

इसी प्रकार के अनेक कार्य यज्ञ-विज्ञान से सम्पन्न हो सकते हैं। हमने यज्ञ द्वारा वृष्टि कराने, वृष्टि रोकने, रोग दूर करने, आरोग्यता प्रदान करने, बुद्धि की वृद्धि सम्पादन करने, सम्पदा वृद्धि, वाक्शक्ति के विकास आदि में लाभ होते देखा है। यदि और भी अधिक परीक्षण करने का अवसर और एतदर्थ सहयोग प्राप्त हुआ तो यज्ञ-विज्ञान के अनेक कार्यों में सफलता से विज्ञान का विकास करने में हम समर्थ हो सकेंगे। पुरोहित नाम की सार्थकता निम्न मन्त्र प्रकट करता है—

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्।
सहस्रदाऽअसि सहस्राय त्वा॥ (यजुः १३। ४०)

यह अग्नि ज्योति से ज्योतिष्मान् है। सुवर्ण सदृश सुखदायक वर्च से वर्चस्वान् है। अग्नि में ज्योति और वर्च होने से तू सहस्रों सुखों का दाता है। अतः सहस्रों प्रकार के सुखों की प्राप्ति के लिए स्वीकार करता हूं। ज्योति को अंग्रेजी भाषा में लाइट (Light) और वर्च को एनर्जी (Energy) कहते हैं। इन दोनों गुणों से अग्नि विविध प्रकारों से असंख्य सुखों का देने वाला है। यह मन्त्र ने प्रतिपादित किया है। इसलिए अतुल सुखों की प्राप्ति के लिए अग्नि के उपयोग लेने की विद्या को विज्ञान एवं शिल्प-विधि से जाने। यदि हम अग्नि के थोड़े से भी गुण जानकर उनकी सिद्धि का प्रयत्न करें तो संसार को सुखी कर सकते हैं।

अग्नि दूत है

अग्नि सहस्रों प्रकार से सुखदाता इसलिए बनता है क्योंकि वह दूत के समान सर्वत्र पहुंचने वाला एवं सम्बन्ध करने वाला है जैसा कि निम्न मन्त्र में कहा है—

अग्निं दूतं पुरो दधे। (यजुः २२।१७)

मैं अग्नि को दूत रूप से अपने सामने स्थापित करता हूं। इस मन्त्र में अग्नि को दूत की उपमा दी गई है। जिस प्रकार दूत के द्वारा हम समस्त राष्ट्रों से अपना विविध प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होते हैं उसी प्रकार हम अग्नि के द्वारा सृष्टि के समस्त पदार्थ जातों से तथा प्राणियों से भी सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। वेद ने अग्नि के इस गुण को उसमें दूतवत् कर्म की सामर्थ्य होने के कारण बताया है। अग्नि क्यों और कैसे दूत कर्म कर सकेगा? यह प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। अतः इसकी प्रक्रिया ज्ञात करनी चाहिए। यह अग्नि क्यों दूत कर्म करेगा, इसके लिए वेद ने कहा—

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्॥ (यजुः १५। ३३)

यह अग्नि मेरा अकेले का ही दूत नहीं है, अपितु अखिल ब्रह्माण्ड का अमृत दूत है, अमर दूत है—निश्चय से ही संसार का यह अमृतमय, परम हितकारी दूत है। अर्थात् अग्नि दूत कर्म इसलिए करेगा क्योंकि उसकी पहुंच सृष्टि में सर्वत्र है। सर्वत्र गति करने की उसकी सामर्थ्य है और वह अमृत अमर, नाशरहित है अर्थात् उसका रोधक तत्त्व कोई ऐसा नहीं है जो उसके मार्ग को, उसकी गति को रोक या काट सके। अतः वेद से ज्ञात हुआ कि अग्नि अमृत होने और विश्व में व्याप्त होने से विश्व का दूत बना हुआ है। परन्तु यह अपना दूत कर्म कैसे कर सकेगा इसके लिए वेद ने कहा—

अग्नि गतिशील है

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः ।। (यजुः १५ । ३४)

वह अग्नि अच्छे प्रकार क्रियासिद्ध एवं प्रकाशित किये जाने पर शीघ्र गति करता है। निश्चय से वह अग्नि, विविध प्रकार की प्रदीप्त करने की क्रियाएँ करने पर विविध प्रकार की तीव्र गतियां करता है। इससे ज्ञात हुआ कि अग्नि गतिशील है और उसकी गतियों को हम अपनी क्रियाओं से बढ़ा सकते हैं। उसकी गति यद्यपि तीव्र है परन्तु उसकी गति और भी तीव्रतर और तीव्रतम हो सकती है। इस अग्नि की विविध प्रकार की गतियाँ व्यक्त और अव्यक्त रूप में प्रभावशाली होती हैं और उनसे विविध प्रकार के कार्य सिद्ध हो सकते हैं। इस विश्व-दूत से समस्त विश्व में अपना सम्बन्ध स्थापित हो सकता है और समस्त विश्व में इसके माध्यम से हमारी क्रियाएँ भी सम्पन्न हो सकती हैं।

अग्नि की गतिशीलता अत्रुटित, अक्षुण्ण हो

अग्नि क्रियाशील किये जाने पर शीघ्रता से गति करता है परन्तु वह किन कारणों से शीघ्र गति करता है और दूत कर्म करता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुंचता है इसका वर्णन निम्न वेद मन्त्र में है—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
सऽइद्देवेषु गच्छति ।। (ऋ० १ । १ । ४)

हे अग्ने ! तू जिस अध्वर, अहिंसित, अत्रुटित, यज्ञ-क्रिया को सब ओर से व्याप्त होकर पालन करता है वही देवों को प्राप्त होकर सबको लाभकारी होता है।

इस मन्त्र में अग्नि के लिए बताया है कि जब अग्नि की क्रिया अध्वर रूप से सब ओर से वेष्टित करके होती है तो उससे उत्पन्न हमारी याज्ञिक दीप्तियां, किरणें या तरंगें अन्य स्थान एवं पदार्थों में भी पहुंचेंगी। अर्थात् अग्नि एक पदार्थ है। उसके प्रयोग-स्थल में क्रिया-यज्ञ है। उस यज्ञ-स्थल पर यज्ञ में अग्नि को अध्वर रूप से बनाना है। अर्थात् उसका जो एक पूर्ण मार्ग है उसको त्रुटिरहित, भग्नादि दोषरहित एवं अग्नि की गतिरोधक, बाधाओं एवं विघ्नों से रहित बनाना चाहिए जिससे निर्दोष एवं निर्विघ्न रूप से अग्नि की क्रिया हो सके। वह गति क्रिया सब ओर से व्याप्त होकर करनी चाहिए तब उसकी ऊर्मियां—तरंगें निर्मित होकर प्रसारित होंगी।

माना कि ———————— यह एक लौहदंड है। यही यज्ञस्थली है जिसपर अग्नि को वेष्टितकरके अध्वर रूप से बनाकर ऊर्मियां उत्पन्न करना है जो कि प्रसारित हो सकें। अतः इसको—विश्वतः परिभूः—बनाने के लिए अर्थात् चारों ओर से विद्युत की गतियों को करने के लिए विद्युत्प्रवाहिका

तारों से अवगुंठित करना होगा जैसा कि  इस चित्र में प्रतीत होता है। इसको अध्वर बनाने के लिए अर्थात् विद्युत् की गति अत्रुटित बनाने के लिए तारों को ही प्रथम अत्रुटित रखना होगा और उस शक्ति स्थिति को इसी में केन्द्रित करने के लिए विद्युत् निरोधक आवरण से तारों को आवृत करना होगा। इसमें विद्युत् रूपी अग्नि का यज्ञ होगा। इसमें उस की स्थापना होगी। वह इसमें रहेगी और इससे गति, शक्ति, प्रकाश एवं तरंगें उत्पन्न होंगी जिनमें इस केन्द्र से अन्य स्थानों पर जाने की शक्ति होगी और जा सकेंगी।

गति में सर्वप्रथम है

इस मन्त्र ने अग्नि की गति तीव्र है यह तो बता दिया, परन्तु अन्यों की भी तीव्र गतियां हो सकती हैं अतः तीव्रों में भी इसकी तीव्रता कितनी है, इसका वर्णन निम्न मन्त्र में है—

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे-विशे॥ (यजु० ३। १५)

यह अग्नि इस ब्रह्माण्ड में प्रथम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ होता है। होता का तात्पर्य है जो पदार्थों को लाने और ले जाने में समर्थ है। हव्य पदार्थों का दाता और ग्रहीता होने से दोनों गतियों को यह करने वाला है। इस प्रकार के होतृ-कर्म में यह सर्वप्रथम है। अर्थात् इस प्रकार की क्रिया में यह सबसे अग्रणी है—सर्वाधिक गति वाला है। यह अग्नि इसीलिए अन्य पदार्थों की अपेक्षा यजिष्ठ भी है अर्थात् सर्वाधिक संगतिकरण का हेतु है। इसीलिए यह अध्वरों—यज्ञों में पूजनीय, उपास्य एवं अनुसन्धान का हेतु है। उसी अग्नि को ज्ञानशील एवं यज्ञविद्या—अग्नि के उपयोग की विद्या को क्रिया सहित जानने वाले विद्वान् लोग इस संसार में अच्छे प्रकार सेवन योग्य कार्यों में प्रत्येक प्रजा के लिए व्यापक एवं आश्चर्य गुण वाले विशेष प्रकार से प्रकाशित करते हैं। मन्त्र में अग्नि को चित्रम्=आश्चर्य गुण स्वभाव वाला और विभ्वम्=व्यापक भी बताया है। अतः—अयमिह प्रथमः—यह अग्नि ही इस संसार में सबसे तीव्र गति वाला है।

यह अग्नि गति में तीव्रतम क्यों होता है इसके लिए वेद ने कहा—

स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्ने पुरीषवाहणः॥ (यजुः ११। ४४)

मन्त्र में अग्नि के लिए अर्वन् शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है जो पदार्थों के प्रति शीघ्र गमनशील है एवं गमन कुशल है। वह—स्थिरो भव—उसको एक स्थान में स्थापित करने—स्थिर करने से अपने अर्व शब्द के गुण को सार्थक करेगा। क्या अग्नि को अर्वा बनाने के लिए एक स्थान में स्थिर कर देने से ही हो जाता है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए वेद ने कहा—वीड्वङ्गः=जहां तुमको स्थिर किया है वहां तुम्हारे कार्य करने के जो अंग, उपांग यन्त्रादि साधनों से बनाये गये हैं उनके साथ दृढ़ांग वाला होकर के—स्थिरो भव। और पुनः—आशुर्भव वाजी—बलवान् होकर शीघ्र गति वाले बनो। अर्थात् यन्त्रस्थ अग्नि को जब बलयुक्त करते हैं तो वह शीघ्रगमन भी करता है। इस प्रकार का तू सुषद अच्छे प्रकार स्थापित अग्नि—पृथुर्भव=तू व्यापक, विस्तृत हो। फैलना, विस्तृत होना व्याप्त होना तुम्हारा गुण है अतः तीव्र शक्तियुक्त अग्नि के बल से तुम्हारी व्यापक होने की शक्ति विस्तृत होती है—क्रियाशील हो जाती है। ऐसी अग्नि की क्या सामर्थ्य हो जाती है—इसके लिए वेद ने उसे—पुरीषवाहण पालनादि शुभ कर्मों के वहन करने वाला, प्राप्त कराने वाला बताया है। अर्थात् अग्नि में गति, बल,

फैलने की शक्ति और इसके द्वारा उसको प्रयोग में ले सकने की सामर्थ्य है अतः उसकी गति अन्य पदार्थों की गति से तीव्र है।

अग्नि की तरंगें होती हैं

अग्नि की इन गतियों का रूप कैसा होता है इसके लिए वेद ने कहा—

यद्देवानां मित्रमहः पुरोहितो ऽन्तरो यासि दूत्यम्।
सिन्धोरिव प्रस्वनितास ऽऊर्मयो ऽग्नेर्भ्राजन्ते ऽअर्चयः॥ (ऋ० १।४४।१२)

हे मित्रों में बड़े पूजनीय अग्नि ! जो आप विद्वानों में पुरोहित होकर हमारे मध्य में दूतकर्म में प्राप्त होते हो, तब आपको शब्द करती हुई लहरें, आवर्तन, प्रत्यावर्तन रूप ऊर्ध्वाधःगमनशील, समुद्र की तरंगों की गतियों के सदृश, आपकी दीप्तियां जिनसे विविध गुण कर्मों का प्रकाशन होता है वे अत्यन्त सुशोभित होती हैं। अर्थात् अग्नि से दीप्ति, प्रकाश होता है। प्रकाश से शक्ति, गति होती है और उससे ध्वनि-तरंगों का निर्माण, प्रकाश एवं संचालन होता है।

इस मन्त्र में अग्नि पदार्थ से एवं उसके माध्यम से जो शब्द की तरंगों की गति होती है उसकी उपमा समुद्र की लहरों से दी गई है। साथ ही—अर्चयः भ्राजन्ते—शब्दोंसे उन तरंगों का प्रकाश, रूपमय होना भी बताया है। अर्थात् उस ध्वनि की आग्नेय या विद्युन्मय तरंगों का साधनों से भी दर्शन होता है जिससे—भ्राजन्ते अर्चयः' को प्रत्यक्ष किया जा सके।

समुद्र की लहरें जिस प्रकार एक स्थान से चारों ओर गति करती हुई व्याप्त होती जाती हैं और उन तरंगों में ऊर्ध्वाधःक्षेपण रूप से जो आवर्तन, प्रत्यावर्तन क्रिया  इस रूप में होती है, इन दोनों का ही वर्णन मन्त्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है जिससे अग्नि का दूत-कर्म सफल होता है। यतः अग्नि से यह अत्यन्त उत्तम रीति से होता है इसलिए मन्त्र में मित्रमहः—बड़ा मित्र और पुरोहितः—कल्याण करने में अग्रणी, ये विशेषण दिये गये हैं।

अग्नि के इसी दूत कर्म को अन्य मन्त्र में भी निम्न प्रकार बताया गया है—

जुष्टो हि दूतोऽसि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम्।
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत्॥ (ऋ० १।४४।२)

हे अग्ने ! निश्चय से आप प्रीति से सेवन—संगति करने योग्य दूत हैं। अर्थात् विविध उपयोगों के लिए अनिवार्य रूप से आपका उपयोग लेना होता है। आप हव्यवाहन हैं—अर्थात् आपके माध्यम से जो कुछ भेजा जाता है उसको आप अच्छी प्रकार ग्रहण करने वाले और ले जाने वाले हैं तथा अध्वरों अर्थात् निर्बाध पथ-प्रदायक माध्यम में आरूढ़ होकर गति करने वाले रथी हैं। इस प्रकार के आप—सजूः अश्विभ्याम्—जो समान ही सेवा करते हैं इस प्रकार के दोनों प्राणापान, सूर्य, चन्द्र, उत्तर एवं दक्षिण वैद्युतिक शक्तियां, ऋण धनादि विद्युत् दो परस्पर विरुद्ध गुणों से युग्म रूप में ग्रथित होकर रचनात्मक, प्राणप्रद, जीवनदायक कार्य करते हैं ऐसे अश्वियों—सदा युवा एवं गतिशील तत्त्वों की—उषसा—अर्थात् दीप्ति एवं पराक्रम से सिद्ध होकर—अस्मे धेहि श्रवो बृहत्—हमारे लिए महान् श्रवण की शक्ति को धारण करते हैं।

इस मन्त्र में अग्नि को संगति करने वाला, हव्य को ग्रहण करने वाला, हव्य को ले जाने

वाला, मार्ग का रथी अर्थात् माध्यम और शब्द को ग्रहण करने वाला प्रकट किया है। परन्तु ये सब कार्य अश्वियों की दीप्ति एवं पराक्रम से होते हैं यह ज्ञान वेद ने प्रकट किया है। अश्विनौ शब्द वेद में अनेक युग्म तत्त्वों के लिए आता है। यहां पर अग्नि-प्रकरण में इससे ऋण एवं धनात्मक विद्युदग्नि का ग्रहण संगत एवं उपयुक्त है। इसी प्रकार अग्नि का वह क्षेत्र जहां वह अहिंसनीय होकर, निर्बाध रूप से क्रियाशील रहे, वह इसका अध्वर—यज्ञक्षेत्र है। इसलिए वह व्याप्त एवं गतिमय अग्नि एवं उसकी तरंगें—

स देवाँ एह वक्षति। (ऋग्वेद १।१।२)

देव अर्थात् सभ्य, सुशिक्षित, वैज्ञानिक एवं सृष्टि तत्त्व के उपयोग को जानने वाले विद्वानों के व्यवहार में अच्छी प्रकार प्राप्त होकर यहां पर कथन क्रिया, वाणी की उच्चारण क्रिया को करता है। अर्थात् कथन-क्रिया को, ध्वनि को प्रकट करता है, वहन करता है, एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचाता है।

अश्वियों की -वाणी के लिए उपयोगिता

ध्वनि रूपी हव्य को ग्रहण करने से होता बनकर ध्वनि के प्रसारण का कार्य अग्नि से होता है परन्तु इस कार्य में अश्वियों का प्रमुख सहयोग होता है। इस ज्ञान का प्रदर्शन वेद के निम्न मन्त्र से होता है—

अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया।
धिष्ण्या वनतं गिरः ॥ (ऋग्वेद १।३।२)

हे विद्वानो तुम लोग जिनसे शिल्पविद्या के लिए अनेक कर्म सिद्ध होते हैं और जो कि वेगादिकों की तीव्रता उत्पन्न करने में प्रबल है उन फलप्रद, वेग देने वाले अश्वियों को बुद्धिपूर्वक क्रिया से यन्त्रस्थ युक्त करके वाणियों का सेवन करो। इस मन्त्र में इस प्रकार निम्न विज्ञान बताया गया है।

१. अश्विनी (दोनों प्रकार की विद्युत्) से बहुत प्रकार के कर्म होते हैं—इससे उसे पुरुदंससा—कहा है।

२. ये दोनों अश्विनी—शिल्पविद्या द्वारा फल को प्राप्त कराने वाले हैं अतः—नरा—कहा है।

३. किसी भी गति के साथ यदि इनको संयुक्त कर दें तो उसके वेग में तीव्रता उत्पन्न करने वाले हैं अतः—धिष्ण्या—पद कहा है।

४. वेग को भी देने वाले हैं अतः—शवीरया—पद कहा है।

इन गुणों से धिया—प्रज्ञापूर्वक क्रिया से गिरः वनतं—वाणियों का सेवन करो। ये मन्त्र ध्वनि-यन्त्र-निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा देते हैं। इस मन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि विद्युत् या अग्नि से वेग अर्थात् गति उत्पन्न होती है और वेग में तीव्रता अर्थात् शक्ति भी उत्पन्न होती है। वैसे शक्ति से ही गति उत्पन्न होती है और गति भी शक्ति उत्पन्न करती ही है।

अग्नि ध्वनि का जनक, धारक एवं वाहक है—

निम्न मन्त्र में अग्नि को ध्वनि का उच्चारक कहा है—

अग्ने अच्छा वदेह नः। (यजु० ६।२८)

हे अग्नि! तुम हमसे यहाँ अच्छे प्रकार वार्त्तालाप करो। अर्थात् अग्नि के माध्यम से उसको यन्त्रस्थ करने से दूरदेश स्थित व्यक्ति से वार्तालाप-क्रिया अच्छे प्रकार हो सकती है।

अग्नि के पूर्वोक्त कथन गुण के विषय में निम्न मन्त्र में भी वर्णन प्राप्त होता है—

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः। (यजु० १५।३१)

अर्थात् उस तुझ अग्नि को मनुष्य, प्रजाओं के मध्य में प्रसारित करते हैं। क्योंकि वह अद्भुत प्रकार से श्रवण-श्रावण कार्य में साधक है। अन्य पदार्थ भी श्रवण-श्रावण कार्य में साधक हैं परन्तु अग्नि इस कार्य में सर्वतः प्रधान है, सर्वाग्रणी है तथा सर्वश्रेष्ठ भी है। अग्नि के इस अद्भुत श्रवण कर्म या गुण के कारण उसका उपयोग इन कार्यों के लिए विविध युक्तियों एवं उपायों से विविध यन्त्रों का निर्माण करके किया जा सकता है। अग्नि के इसी गुण का वर्णन निम्न मन्त्र में भी उपलब्ध होता है—

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥ (यजु० १९।६४)

इस मन्त्र में अग्नि को कव्यवाहन शब्द से सम्बोधित किया है। कव्यवाहन शब्द का अर्थ है जो शब्द, छन्द, राग, संगीत आदि ध्वनियां अपने-अपने विषयों के विद्वानों या कलाकारों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं उनका वाहन रूप से अग्नि है। अर्थात् अग्नि के माध्यम से वे कव्य-ध्वनियां एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचती हैं और पहुंचाई जा सकती हैं तथा समय-काल की दृष्टि से भी एक काल के शब्दों का कालान्तर में भी इस गुण के कारण देश काल भेद से—तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यम्—अर्थात् वह अग्नि हमारे लिए कोमल, मधुर वाणियों से सुनने योग्य हो जाता है। इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा अग्नि का कव्यवाहन गुण ज्ञात हो जाता है या उसके द्वारा यह उपयोग लेने का आदर्श वेद से प्रकट होता है।

अग्नि वाणियों का वक्ता

पूर्वोक्त मन्त्र के पश्चात् के मन्त्र में उस कव्यवाहन अग्नि के बोलने के गुण, कर्म का भी वर्णन—

प्रेदु हव्यानि वोचति। (यजु० १९।६५)

इन शब्दों से मिलता है। अर्थात् वह अग्नि जो कव्यवाहन है वह अच्छे प्रकार उस कव्यरूपी—वाक् या ध्वनिरूपी हव्य को जिसके कारण शब्दरूपी हव्यों को वहन करने से उसकी कव्यवाहन संज्ञा दी गई है, उनको—प्र वोचति—अच्छी प्रकार देशकाल भेद से जब हम चाहते हैं उच्चारित करता है। इस प्रकार के कव्यवाहन यन्त्रों को वर्त्तमान में हम कुछ भी नाम दें। वर्त्तमान समय में उपलब्ध जो रेडियो, रेडियोग्राम, टेपरिकार्डिंग, एम्पलीफायर, ब्राडकास्टिंग यन्त्र आदि हैं वे इसी कव्यवाहन गुण के द्योतक यन्त्र हैं।

अग्नि वाणियों का धारक है

अग्नि के इसी शब्द-ग्रहण धर्म से अग्नि की वेद में गन्धर्व संज्ञा की है—

अग्निर्गन्धर्वः (यजु० १८।३८)

अग्नि गन्धर्व है। गन्धर्व शब्द का अर्थ है—यो गां वाचं धारयतीति गन्धर्वः—जो वाणी को अपने में धारण करता है वह गन्धर्व है। वेद कहता है कि अग्नि गन्धर्व है—अतः अग्नि के सम्मुख होकर या अग्नि के मध्य या अग्नि के माध्यम से हम जो बोलते हैं उन ध्वनियों को अग्नि अपने में धारण कर लेता है। इसीलिए वेद ने एक स्थल पर कहा है—

अग्निर्जुषत नो गिरः। (ऋ० ५।१३।३)

हे अग्नि ! हमारी वाणियों का सेवन करो। अर्थात् हम तुम्हारे सम्मुख या तुम्हारे माध्यम

से जिन शब्दों को बोलते हैं उनको सेवन करो—अपने में ग्रहण करो। वाणी को ग्रहण करने के अग्नि के इस धर्म के लिए वेद में एक स्थल पर आता है—

श्रुत्कर्णं॑ स प्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा। (यजु० १२।१११)

अर्थात् यह अग्नि श्रुत्कर्ण है। इसके सुनने के साधन हैं। इसमें ध्वनि को ग्रहण करने की सामर्थ्य है। उस अग्नि को जो—स प्रथस्तमम्—अत्यन्त विस्तृत, व्यापन धर्म वाला है तथा जो—दैव्यम्—जो अद्भुत गुणों के प्रकाशन में कुशल है उसमें ध्वनियों को—जनाः पुरो दध्रिरे—प्रजायें स्थापित करती हैं। अर्थात् विविध प्रकार से उसमें शब्दों का—ध्वनियों का—प्रयोग करती हैं। इसी महान् गुण के कारण यह अत्यन्त प्रशंसनीय रूप से प्रकाशित है तथा सर्वस्थानों में स्थापनीय है। इसीलिए वेद ने कहा है—

अग्नि से लोकान्तर में शब्द का गमन

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो (यजु० १२।१०६)

है विभावसो अग्ने! महान् सुनाने में समर्थ तेरी युवा प्राप्त शक्तियां और दीप्तियाँ प्रकाशित हो रही हैं। इस मन्त्र में अग्नि को विभावसो नाम से सम्बोधित किया है। विभावसु का अर्थ है जिसकी किरणें विशेष रूप से प्रकाशित होती हैं वही जिसका ऐश्वर्य है। अर्थात् अत्यन्त दीप्ति, कान्ति, तेज का केन्द्र विभावसु संज्ञक है। उसकी शक्ति और दीप्ति दोनों होती है। वयः शब्द से युवावस्था का सम्बन्ध होने से यौवन पूर्ण कान्ति का ग्रहण है। वी धातु कान्ति अर्थ में है। अग्नि की वयः रूप शक्तियां दूसरे लोक में भी सुनाने की सामर्थ्य का संकेत करती हैं अतः महि=महान् भी उन्हें कहा है। इसी की व्याख्या में—'धूमो वा अस्य श्रवो वयः सह्येनममुष्मिल्लोके श्रावयति'—यह श्रुति-वाक्य प्राप्त होता है जिससे यहां की अग्नि से दूसरे लोक में श्रवण-कर्म की सिद्धि वेद-विज्ञान से ज्ञात होती है। इस मन्त्र में 'महि श्रवो वयो अर्च्चयो भ्राजन्ते' अग्नि की वे शक्ति और अर्चियां जो शब्द को ले जाती हैं उनके लिए कहा है कि प्रकाशित हो रही है। अर्थात् इस शक्ति और दीप्ति को प्रयोगविशेष—यन्त्र विशेष—के माध्यम से देख सकते हैं और माप सकते हैं।

अग्नि परोक्ष का भी दर्शक है

अग्नि के इसी श्रवण गुण को तथा परोक्ष वस्तु के दर्शक गुण को निम्न मन्त्र में उपलब्ध करते हैं—

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे। (यजुः १५।२५)

अर्थात्—मेध्याय वृषभाय वृष्णे कवये वन्दारु वचः अवोचाम - यज्ञ योग्य, संगति करने योग्य, बली, वर्षणशील, सेचन-समर्थ, क्रान्तदर्शक अर्थात् अतीत, परोक्ष, प्रत्यक्षदर्शन असिद्ध का जो दर्शन कराने वाला है तथा शब्दों का उत्पत्तिकर्त्ता है, उस अग्नि के लिए वन्दनशील वचनों को कहें।

वन्दनशील वचनों को कहने का तात्पर्य यह है कि—जो अग्नि के विविध प्रकार के प्रशंसनीय गुण हैं जिनसे उसका अनेक प्रकार से उपयोग लेकर प्रजा में सुख सम्पादन कर सकते हैं—उनका हम वर्णन करें। उनका हम अध्ययन, अध्यापन, निरीक्षण एवं परीक्षण करके व्यवहारोपयोगी बनावें।

इस मन्त्र में अग्नि को कतिपय विशेषणों से युक्त बताया है। उन विशेषणों से युक्त उसके उपयोग का लाभ प्राप्त करें। वह अग्नि कवि है—शब्दमय है। शब्द को अपने गर्भ में रखने वाला है। शब्द का जनक है। मधुर छन्द एवं रागों द्वारा आनन्द का उत्पादक है। वह क्रान्तदर्शक है। अतीत

का, परोक्ष का भी वह दर्शक है तथा जो अदृष्ट तत्त्व हैं उनका भी वह दर्शक है।

वह अग्नि मेध्य है। यजन योग्य है। संगतिकारक गुण वाला है, पवित्र है। स्वीकरणीय है। अत्यन्त बली है। सेचन सामर्थ्य युक्त है। उत्पादक शक्ति युक्त है। जिस प्रकार का हव्य या कव्य इसमें प्रदान किया जाता है उसका ही अन्यत्र सेवन करने वाला, प्रदाता एवं उत्पादक है तथा उसी हव्य एवं कव्य को प्रवृद्ध करने वाला भी है।

अग्नि हव्यवाहन है

अग्नि के हव्यवाहन गुण के लिए वेद ने कहा है—

वह्निरसि हव्यवाहनः (यजुः ५।३१)

वह्नि=अग्नि, हव्यवाहन=अग्नि में प्रयुक्त की गई हवि को ले जाने वाला है। वह्नि शब्द का अर्थ है—वहति प्रापयति—जो किसी को ले जाती है, दिलाती है उसको वह्नि कहते हैं। अग्नि को वह्नि कहने से उसका ले जाने का धर्म ज्ञात होता है। इसी वह्नि को हव्य वाहन भी मन्त्र में कहा है। अतः पुनः भी ज्ञात हुआ कि अग्नि में जो पदार्थ डाला जाता है उसको वह ले जाने वाली है।

हव्य अनेक प्रकार के हो सकते हैं। शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्धादि विविध गुण वाले द्रव्य हव्य के अन्तर्गत आते हैं। अग्नि इन सब को वहन करने वाला—एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने वाला होने से हव्य नाम को सार्थक करता है। अग्नि को कव्यवाहन भी कहते हैं। कव्यवाहन नाम भी इसके अन्तर्गत कुछ गुणों का द्योतक है जिससे ध्वनि एवं रूप का साक्षात्कार होता है। कव्य शब्द को कहते हैं अतः अग्नि का कव्यवाहन नाम सार्थक है।

अग्नि रूप का भी वाहक है

अग्नि के शब्द एवं रूप गुण प्रकाश या वाहक गुणों का वर्णन निम्न मन्त्र में प्राप्त होता है—

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः। (यजुः १२।१११)

अर्थात् अग्नि ऋतावान है। ऋत का अर्थ सत्य और जल है। अतः अग्नि सत्यवान् है। जैसा उस अग्नि में कहते हैं वैसा ही वह सुनता है और वैसा ही वह बोलता है। अतः वह यथावत् सत्य का कहने वाला तथा सत्य रूप का ही दर्शन कराने वाला है। जिस प्रकार से शब्द के प्रति वह सत्यवान्—ऋतवान् है उसी प्रकार से रूप के दर्शन कराने में भी वह सत्यवान्-ऋतवान् है। इसके अतिरिक्त अग्नि ऋतवान् अर्थात् जलों का धारणकर्ता है और उसका सेवनकर्ता भी है। वह—महिषम्—महान् भी है। महान् होने से व्यापक भी है। व्यापक होने से अविनाशी—मरणधर्म रहित भी है तथा—विश्वदर्शतम्—सब पदार्थों का दर्शन कराने वाला है। यह कार्य उसके मरणधर्म रहित होने से अर्थात् उसके जीवन की स्थिति बने रहने से—निरन्तर गतिमय बने रहने से और प्रसारित होने से होता है। भौतिक रूप में, एक रूप से प्रकट रूप में अग्नि के नष्ट हो जाने पर भी वह प्रकारान्तर से विद्यमान रहने वाली है।

अग्नि का अविनाशक गुण

इस अविनाशी गुण की अग्नि में विद्यमानता निम्न मन्त्र प्रकट कर रहा है—

अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिः। (यजु० १२।२५)

अर्थात् वह अग्नि व्यापक गुणों से नाशरहित प्रकट होता है। प्रकट होने पर भी वह अमृत है—नाशरहित है। क्योंकि वह किसी न किसी रूप में बना रहता है। वह व्यापक है और गतिशील है

अतः ब्रह्माण्ड में वह सर्वत्र स्पन्दनशील, बहता सा रहता है। जिस प्रकार नदी की धारा बहती रहती है उसी प्रकार से अग्नि तत्त्व भी सर्वत्र बहता—प्रवाहित होता रहता है। उसकी धाराएँ सर्वत्र प्रसारित हो रही हैं।

अग्नि की धाराएँ बह रही हैं

वेद ने इस विज्ञान को अपने एक मन्त्र में बड़े स्पष्ट शब्दों में निम्न प्रकार प्रकट किया है—

अग्निर्ऋषिः पवमानः। (यजु० २६।६)

अर्थात् अग्नि पवमान है। ब्रह्माण्ड में वायु तत्त्व भी पवमान है। जल तत्त्व भी पवमान है। सोम भी पवमान है। परन्तु यहाँ मन्त्र में अग्नि को भी पवमान—बहता हुआ, धारा या लहरों सदृश गति करता हुआ, चलता हुआ, स्पन्दनशील बताया है। इसी प्रकार—

विभूरसि प्रवाहणः (यजु० ५।३१)

इस मन्त्र में अग्नि को विभुः=व्यापक, विशेष रूप से कान्तिमान्, प्रकाशयुक्त एवं—प्रवाहणः=प्रवहणशील, बहने वाला, नदी की तरह गति करने वाला बताया है। अतः अग्नि की व्यापनशीलता, गतिशीलता और तरंग रूप में प्रवहित होना वेद से स्पष्ट ज्ञात होता है।

पवमान शब्द का जहां बहने के अर्थ में प्रयोग है वहां पवमान का अर्थ पवित्र करने वाला भी है। अतः अग्नि बहने वाला है, सर्वत्र रमणशील ज्ञात होने के साथ पवित्रकर्त्ता भी ज्ञात हुआ। इस अग्नि को ऋषि भी कहा है। ऋषि का तात्पर्य है द्रष्टा, यथार्थ द्रष्टा, गूढ़ से भी गूढ़ को देखने वाला और उसका दर्शन कराने वाला, अप्रकट रहस्यों को प्रकट करने वाला है। अतः—

अग्नि गूढ़ पदार्थों का भी दर्शक है

जैसा कि निम्न मन्त्र में वर्णित है—

पूषा राजानमाघृणिरप गूढं गुहाहितम्।
अविन्दच्चित्रबर्हिषम्॥ (ऋ०१।२३।१४)

यह अग्नि—आघृणिः=जिसकी रश्मियां अत्यन्त दीप्तिमान् हैं और जो पुष्टि करने वाला है वह—गुहाहितम्=गुहा रूप से अत्यन्त भीतर छिपा हुआ या आवरणों में स्थित होने से जो अत्यन्त छिपा हुआ, अदर्शनीय, अप्रकट, अपगूढम्=अत्यन्त गुप्त, राजानम्=विराजमान, स्थित वस्तु को अविन्दत्=प्राप्त करता है—प्रकट करने में समर्थ होता है। चित्रबर्हिषम्=जो अनेक प्रकार के कार्य करने वाला है। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि—अपगूढम्, गुहाहितं राजानम् अविन्दत्=अत्यन्त गूढ़, आवरणों में स्थित को अग्नि प्रकट करने वाला है। अतः पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अग्नि के साहचर्य से हम गूढ़ से भी गूढ़ वस्तु का दर्शन कर सकते हैं फिर वह गूढ़ता चाहे हमारे शरीर की हो तो उसे भी हम अग्नि के साहचर्य से, इसकी ज्योति से अन्दर का निरीक्षण कर सकते हैं और वह चाहे पृथिवी के भीतर की हो या अतिदूरस्थ देश की हो।

आज भी तो एक्सरे द्वारा शरीर के अन्दर के भागों का दर्शन करते हैं भूगर्भ के तत्त्वों, समुद्र के अन्तस्तल के पदार्थों को अग्नि विद्या के साहचर्य से हम दर्शन करने में समर्थ हो पाते हैं और सुदूर आकाश में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की दिव्य चक्षु (रेडार यन्त्र) आदि द्वारा दर्शन करते ही हैं। अतः अग्नि द्रष्टा है। द्रष्टा होने से ही उसे वेद ने ऋषि कहा है। यह अग्नि द्रष्टा अर्थात् ऋषि होने के साथ पवमान, गतिशील एवं व्यापक भी है। अतः उसके द्वारा तत्त्वों के रूप का साक्षात्कार होना सिद्ध हो जात्ता है। अग्नि का गुण रूप है। अतः जहां-जहां अग्नि की गति है वहां-वहां रूप का प्रसारण इसके

माध्यम से हो सकता है और उसे प्रभव, प्रकट किया जा सकता है। अग्नि के इसी रूप गुण के प्रसारित करने के कारण आज टेलीविजन आदि का उपयोग हो रहा है।

पूर्वोक्त मन्त्र—ऋतावानं में अग्नि के लिए—विश्वदर्शतमग्निम् शब्द—प्रयुक्त हुआ है और अन्य मन्त्रों में उसे ऋषि और पवमान कहा है अर्थात् अग्नि सब कुछ दर्शन कराता है, गूढ़ का भी दर्शक है और बह रहा है इत्यादि कारणों से इसके विश्वदर्शक गुण को जितना ही हम दर्शनोपयोगी बनाते जावेंगे उतनी ही उससे दृष्टि की सिद्धि प्राप्त होगी और उसके द्वारा एक स्थान पर बैठे ही विश्व का भी सूक्ष्म दर्शन कर सकेंगे जिस प्रकार आज रेडार, टेलीविजन आदि यन्त्रों के साहचर्य से दर्शन प्रयास प्रचलित हैं।

विद्युत् की लहरें अन्तरिक्ष में चल रही है

विद्युत् अग्नि के पवमान गुण को वेद ने निम्न शब्दों में भी प्रकट किया है—

चरन्ति विद्युतो दिवि। (ऋ० ६।४१।३)

अर्थात् आकाश में, अन्तरिक्ष में, द्युलोक में, इस पृथिवी में, दसों दिशाओं में विद्युत् अग्नि प्रवाहित हो रही है। वह अग्नि पवमान होने से सर्वत्र पवित्रता भी कर रही है।

पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ, ये सृष्टि में—ब्रह्माण्ड में परस्पर आधार—आधेय रूप से बने हुए हैं। ये ही स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म या कारण माध्यम है। इनमें से जो तत्त्व जिस माध्यम में गति करता है, वह उसका वाहन है। चरन्ति विद्युतो दिवि—से ज्ञात होता है कि विद्युत् की सूक्ष्म गति द्युतत्त्व के आश्रित है। अर्थात् द्युतत्त्व अति सूक्ष्म एवं व्यापक है जिसमें कम्पन, क्रीड़ा एवं गति हो रही है, उसके माध्यम से व्यवहार भी हो रहा है। गति में, कम्पन में एवं व्यवहार में अर्थात् उपयोगिता में यह आधार भूत तत्त्व है अतः इसकी गति एवं इसका कम्पन सर्वाधिक है। इसलिए उस द्युतत्त्व के माध्यम से सुदूर सूर्य की रश्मियां कुछ ही क्षणों में विश्व में व्याप्त हो जाती है विद्युत् की तरंगें इसी के माध्यम से सर्वत्र प्रसारित हो जाती हैं। पांच भौतिक विश्लेषण में इसकी गणना आकाश में होती है। आकाश यद्यपि अवकाश का भी वाचक है परन्तु उस अवकाश में जो सर्वाधिक व्यापक होकर सब की गति एवं व्यवहार का आधार तत्त्व है वह—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः—उत्पन्न आकाश तत्त्व है जो स्थिति एवं क्रियाशीलता का आधार है। प्रलयावस्था में इस आकाश का या द्युतत्त्व का भी प्रलय अपने कारण में हो जाता है।

हिरण्यगर्भ, अदिति, द्यु आदि संज्ञाएँ भी उसी प्राकृत तत्त्व की हैं। आधार का भी आधार, कारण का भी कारण जानने से उत्तरोत्तर मूल तत्त्व के समीप पहुंच जाते हैं और जो द्यु का भी—आकाश के भी मूल को पहचानेगा वह परम आत्म तत्त्व का भी दर्शन कर सकेगा। यही द्यु अन्तरिक्ष में भी है और पृथिवी में भी है। अर्थात् सर्वत्र इसकी व्याप्ति है। इसमें जनन करने की, उत्पन्न करने की, आत्मवत् प्रसव करने की शक्ति है और पालन करने की भी शक्ति है। नवीन-नवीन शक्तियों से यह समृद्ध होती रहती है। यही शक्ति सविता भी है। इस प्रकार सृष्टि में उत्तरोत्तर कार्य भूत पदार्थ एक दूसरे के आधार या वाहक होते जाते हैं। अतः चरन्ति विद्युतोदवि—वेद वाक्य द्युलोक या द्यु-मण्डल में, इस अन्तरिक्ष में विद्युत् की धाराओं का जो चलना प्रकट कर रहा है वह उसके आधार-तत्त्व का भी संकेत कर रहा है।

अग्नि के पवमान गुण के कारण अन्तरिक्ष और द्युलोक से भी वार्त्तालाप

इस प्रवाहित विद्युत् के माध्यम से हम उन लोगों से जो अन्तरिक्ष में हैं, द्युलोक में हैं या इससे भी ऊपर के लोकों में हैं या इस पृथिवी पर हैं उनसे आपना वाक् सम्बन्ध या सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। उनसे वार्तालाप कर सकते हैं। उनको अपना सन्देश दे सकते हैं और उनसे सन्देश भी प्राप्त कर सकते हैं। उनका दर्शन भी कर सकते हैं और उनको अपने समीप भी बुला सकते हैं। अन्तरिक्ष में, सूर्य लोक के भी परे से तथा अन्य लोकों के भी वहां के लोगों को जिनकी देव संज्ञा, उत्तम लोकों के कारण है उनसे सम्पर्क कर सकते हैं। और उनको यहां पृथिवी पर अपने स्थान पर उपस्थित कराने की सामर्थ्य भी अग्नि में है। अतः अग्नि द्वारा लोक-लोकान्तर गमन के विज्ञानयुक्त कार्य का उपदेश वेद निम्न मन्त्र द्वारा कर रहा है—

विश्वेदेवाः शृणुतेमं हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यविष्ठ। (यजु० ३३।५३)

अर्थात् हे विविध स्थानों एवं लोकों में रहने वाले समस्त विद्वानो ! आप लोग जो अन्तरिक्ष में हैं अर्थात् जो लोकों के पृष्ठ भागों पर नहीं हैं अपितु आकाश में विचरण कर रहे हैं और जो प्रकाशमय लोकों में स्थित हैं, वे मेरे हव्य को— मेरे वचन रूपी हव्य को जिसको हम अग्नि या विद्युत् के माध्यम से प्रसारित कर रहे हैं, उसको —उपश्रृणुत—अच्छी प्रकार निकट से सुनें। अतः इस मन्त्र में लोक-लोकान्तरों के जनों तथा जो आकाश में ही विमानादि यानों द्वारा या अन्य साधनों से विचरण कर रहे हों उनको सन्देश देने का, उनसे वार्त्तालाप करने के प्रयत्न का संकेत मिलता है। इसी मन्त्र के उत्तरार्ध भाग में—

लोक लोकान्तरों से आगमन

ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वम्। यजुः ३३। ५३)

इसके द्वारा लोक लोकान्तरों के जनों को अपने स्थान पर बुलाने और बैठाने तथा प्रसन्न करने को कहा है। इस प्रकार लोक लोकान्तरों से आगमन का कार्य अग्नि द्वारा सिद्ध हो सकता है इसका वेद से संकेत प्राप्त होता है। इस मन्त्र भाग में—अग्निजिह्वा—और—यजत्रा—आगत अतिथियों के विशेषण हैं। अग्निजिह्वा—का तात्पर्य वाक्-कर्मप्रधान व्यक्तियों से है क्योंकि—अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्—अग्नि ही वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुई। अथवा अग्नि जिह्वा वाले वे वैज्ञानिक व्यक्ति हैं जो शब्द को अग्नियों के माध्यम—इलैक्ट्रोनिक मीडियम से, उनकी विविध गतियों के निर्माण के ज्ञाता हैं और यजत्रा का तात्पर्य उन कर्मशीलों से है जो अग्निजिह्व मंत्रों के प्रयोक्ता हैं।

अग्नि श्रुत्कर्ण है

अग्नि के अन्दर ध्वनि को सुनने अर्थात् आभ्यन्तर ग्रहण करने की सामर्थ्य है और बाह्य क्षेपण की भी सामर्थ्य है। आभ्यन्तर शब्द ग्रहण सामर्थ्य के बारे में—वेद में आता है—

श्रुधि श्रुत्कर्ण। (यजुः ३३।१५)

अर्थात् हे अग्नि ! तुम श्रुत्कर्ण हो। तुममें शब्द को ग्रहण करने की सामर्थ्य है। अतः—श्रुधि सुनो। हमारी वाणियों को श्रवण करो और उनको अच्छी प्रकार धारण करो। अर्थात् अग्नि के माध्यम से ध्वनि को अच्छी प्रकार से स्थिर करने के साधन बनाने चाहिएँ, जिससे उनका उपयोग यथासमय लिया जा सके।

अग्नि को केन्द्र में स्थापित करें

अग्नि का उपयोग लेने के लिए उसको एक यान्त्रिक केन्द्र में स्थापित करना होगा। उसकी परिधि का निर्माण करना होगा। यथेच्छ स्थान पर प्रयोग के लिए साधन बनाना होगा। वेद में अग्नि को परिधि में स्थापित रखने एवं उसके संग्रह करने के लिए एक मन्त्र में निम्न प्रकार वर्णन प्राप्त होता है—

यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्गु ह्यमानः।
तन्त एतमनु जोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाता
अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम् ॥ (यजुः २।१७)

अर्थात् हे अग्ने! दिव्य गुणों के व्यवहार के अन्वेषण करने वालों के द्वारा जिस परिधि—सीमा—में संवरणशील होकर अनुकूलता से अच्छी प्रकार स्थित होते हो उस तुझ अग्नि को उसी परिधि में अनुकूलता से पुनरपि भरता हूं, स्थापित करता हूं या उसको समृद्ध करता हूं। मैं कभी इसके प्रतिकूल व्यवहार को या स्वयं के लिए घातक व्यवहार को करके इसको नष्ट न करूं। क्योंकि—अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्—अग्नि से उपयोग के लिए, उसकी दीप्ति के जो अनुकूल साधन हैं या मार्ग हैं, उनको ग्रहण किया है।

अग्नि या विद्युत्कलश

पूर्व मन्त्र में अग्नि को परिधि में रखने, उसको उस परिधि में भरने एवं उसको समृद्ध-प्रदीप्त रखने के साधनों को ग्रहण करने का उपदेश है। पात्र भी परिधिमय होते हैं। कलश भी परिधिमय होते हैं या जिनमें वह अग्नि स्थापित की जा सकती है उन यन्त्र भागों के अन्य भी नाम रखे जा सकते हैं। उन पात्रों, कलशों या यन्त्र भागों में अग्नि विद्युदादि के भरने की क्रिया की जानी चाहिए। उन्हीं में अग्नि या उसकी शक्ति के संग्रह की क्रिया भी हो सकती है। उनमें पाक क्रिया और प्रदीप्त करने आदि की प्रक्रिया भी हो सकती है। निम्न मन्त्र में इस प्रकार के पात्र का वर्णन है—

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया।
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्त्तु गर्भ आ।
मखस्य शिरोऽसि ॥ (यजुः ११।५७)

अर्थात् उखा नामक पात्र की रचना अदिति की सामर्थ्य और अपनी बुद्धि से, कर्म और पराक्रम से बनावे। उस उखा नामक पात्र में सुरक्षित—गर्भ रूप से—अग्नि को स्थापित करें। जिस प्रकार माता की गोद में बालक बिना भेद भाव के, प्रेम से, आनन्दित हो, निःशंक बैठ जाता है, उसी प्रकार इस पात्र में अग्नि की स्थापना निरापद, सुरक्षित एवं अनुकूलता से की जाती है। इस उखा पात्र में स्थापित अग्नि—मखस्य शिरोसि—व्यवहार रूप यज्ञ का शिर सदृश उत्तम भाग है।

इस मन्त्र में अदिति की शक्ति से उखा पात्र को बनाना लिखा है। अदिति देवमाता है। अतः सबसे प्रचण्ड अग्निदेव जिसके अंक में, गोद में या गर्भ में सुखपूर्वक रह सकें और वृद्धि को प्राप्त हो सकें तथा बाहर के आघातों से सुरक्षित रह सकें एवं जिसमें स्थित हैं उसको अपने तेज से हानि न पहुंचा सकें, वह उसका मातावत् स्थान है। अखंडित होने से अदिति संज्ञा है। अग्नि जिसको खंडित न कर सके और जिसके गर्भ में बैठ सके, उस प्रकार के तत्त्वों से बुद्धिपूर्वक, उसके कर्म एवं वीर्य को प्रकट करने वाली दो भुजा रूपी दो शक्ति—बाहुभ्यामदितिः—से युक्त उखा पात्रों की स्थिति ज्ञात होती है।

इसी उखा पात्र को मातृ समान बनाकर इसी के मध्य में अग्नि को स्थापित करने के लिए एक अन्य मन्त्र में निम्न वर्णन प्राप्त होता है—

सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे ।। (यजुः १२।१५)

अर्थात् हे अग्नि ! तुम इस मातृ स्थान उखा कलश या पात्र में अच्छी प्रकार निवास करो क्योंकि इन उखा पात्रों में स्थित होकर तुम—

विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् । (यजुः १२।१५)

समस्त कर्म व प्रजा सदृश कर्मों को करने में कुशल रह सकोगे या समर्थ बन सकोगे और—

मैनां तपसा मार्चिषाभि शोचीः ।। (यजुः १२।१५)

इसके अन्दर निवास करते हुए तुम्हारी सामर्थ्य, तेज, बल एवं पराक्रम से इस उखा को संतप्त या विचलित मत करना । इस उखा पात्र की सामर्थ्य के अनुसार ही इसमें अग्नि का स्थापन, निसीदन होना चाहिए जिससे—

अन्तरस्या शुक्रं ज्योतिर्विभाहि ।। (यजुः १२।१५)

इस उखा-कलश के अन्दर अवस्थित अग्नि—शुक्र ज्योतिः—शुक्ल एवं तीव्र ज्योति से देदीप्यमान हो सके । यहां—शुक्रज्योतिः—शब्द है और पूर्व मन्त्र में—बाहुभ्यां—द्विवचनयुक्त शब्द से विद्युत् की दोनों ऋण धनात्मक भुजाओं से प्रकाशित होने के सामर्थ्यवान् कलशों से विद्युत् बल्बों एवं तत्सदृश पात्रों का सादृश्य प्रतीत होने लगता है ।

उखा-कलश एवं योनि-कलश

इस पूर्वोक्त मन्त्र के पश्चात् आने वाले दोनों मन्त्र भी इसी भाव को अन्य प्रकार से अच्छी प्रकार प्रकट करते हैं—

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे ।
तस्यास्त्वं हरसा तपन् जातवेदः शिवो भव ।।
शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम् ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहा सदः ।। (यजुः १२।१६, १७)

अर्थात् हे अग्नि तुम उखा के अन्दर अपने स्थान में दीप्ति से युक्त विराजमान होओ । तथा हे जातवेद ! उस उखा में तुम तेज से प्रदीप्त होकर कल्याणकारी होओ । हमारे लिए कल्याणकारी, शिव, शान्त एवं स्थिर होकर और भी अच्छी प्रकार रहो । समस्त दिशाओं को कल्याणकारी करते हुए अपने कारण स्थान, जहाँ से प्रदीप्त होने की सामर्थ्य प्राप्त होती है, उस योनि में विराजो ।

इस मन्त्र से उखा और योनि दोनों पृथक् ज्ञात होते हैं । योनि उन स्थानों को कह सकते हैं, उन यन्त्रों को कह सकते हैं, उन पात्रों या कलशों को कह सकते हैं जहाँ से अग्नि विद्युदादि का निर्माण होता है या संरक्षण होता है । उखा पात्र या उखा-कलश में अग्नि या विद्युत् की दीप्ति प्रकट होती है और योनि-कलश में उसका मूल निवास स्थान है जहां से उखा में वह—बाहुभ्यामदितिर्धिया—के द्वारा आती है और—शुक्रज्योतिर्विभाहि—के रूप में देदीप्यमान एवं शोभायमान होती है । अर्थात् योनि-कलश वह स्थान है जहां पर वह अपने मातृस्थान में विराजमान रहती है और वहां से दो भुजाओं के माध्यम से युक्तिपूर्वक उखा पात्र में—मखशीर्ष—होने के लिए गमन करता है ।

विद्युत्समिधा

इन्हीं बाहुरूपी विद्युत्-संचरण साधनों का समिधा की उपमा के रूप में भी वेद में वर्णन मिलता है—

शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे ।। (यजुः ६।२०)

अर्थात् अग्नि की समिधाएँ मेरी हव्य रूप वाणी को सुनें, उसे ग्रहण करें—क्योंकि समिधा से ही अग्नि का अस्तित्व होता है और उसी का आश्रय लेकर जहां तक समिधा का सम्बन्ध होगा वह भी विचरण करेगी। समिधाओं में अग्नि का गुप्त रूप से वास भी रहता है। समिधा से अग्नि की स्थिति एवं जीवन विद्यमान रहता है।

विविध प्रकार की अग्नियों के लिए विविध प्रकार की समिधाएं होती हैं। समिधाओं से जहाँ अग्नि प्रज्वलन होता है तथा प्रकाश होता है वहां उसके आश्रय से वह अग्नि भी रह सकती है एवं गुप्त रूप से उस माध्यम द्वारा इतस्ततः आ जा भी सकती है। विद्युत् की समिधा जिसके माध्यम से वह इतस्ततः संचरण करती है वे प्रवाहिका तन्तु-तार ही हैं। उनके ऊपर भी आवरण चढ़ाकर विद्युत् को गुप्त रूप से रखकर निरापद एवं उपयोगी बनाया जाता है।

समिधा की परिभाषा करते हुए गृह्य सूत्रों ने उसको वृक्ष की आवरक त्वचा सहित—छाल सहित—प्रयुक्त करने का विधान यज्ञ में किया है। अग्नि में जिन समिधाओं की आहुति एवं स्रुवादि हव्य की आहुति के लिए प्रयुक्त होते हैं उनको भी—त्वग्विला - अर्थात् जिनके ऊपर वृक्ष की आवरक छाल, त्वचा विद्यमान हो उसका उपयोग करने को लिखा है। अतः जिस अग्नि को हम अपनी वाणी से सुनाना चाहते हैं उसमें प्रयुक्त हमारी समिधा आवरणयुक्त हो, जिससे उस अग्नि में अपनी वाणी को प्रक्षिप्त कर सकें और वह उसे हव्य रूप से ग्रहण करके प्रसारित कर दे। एक स्थान की अग्नि का सम्बन्ध समिधा से जहां तक विस्तृत कर देंगे, अग्नि का क्षेत्र उस मार्ग से या उस माध्यम से वहां तक प्रसारित हो जायगा और हमारी वाणी भी दूर तक अग्नि के माध्यम से वहां तक चली जावेगी।

अग्नि के लिए शरीर

इसी विज्ञान को वेद दूसरे शब्दों में निम्न प्रकार प्रकट कर रहा है—

अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम्। (यजुः १।१५)

अर्थात् हे अग्नि! तुम्हारी जो शरीर रूप समिधाएँ या शरीर रूप से स्थित करने का जो यन्त्रमय शरीर है या जहां तक तुम्हारी व्याप्ति के क्षेत्र में जितना तुम्हारा अहिंसित, निर्विघ्न अध्वर—यज्ञ कर्म या गति का व्यापार हो रहा है उसके द्वारा वाणी के विसर्जन का कर्म अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर वाणी के प्रसारण का कर्म होता है अतः उस अग्नि को—

देववीतये त्वा गृह्णामि। (यजुः १।१५)

दिव्य गुणों के प्रकाशन के लिए हम ग्रहण करते हैं। वीतये—शब्द वी धातु से बनता है अतः अग्नि को ज्ञान की प्राप्ति के लिए, प्रापण कर्म अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर किसी को पहुंचाने के लिए या उसकी प्राप्ति कराने के लिए, विविध प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति के लिए, प्रकाश के लिए तथा ऐसे प्रकाशों के लिए भी कि जिनको हमारे चक्षु सामान्य प्रकाश में नहीं देख सकते एवं जो परोक्ष या अन्तर्निहित पदार्थ हैं उन पदार्थों का प्रत्यक्ष कराने के लिए, या प्रकाश विशेष को उत्पन्न करने के लिए, विविध प्रकार की स्थितियों के निर्माण, संरक्षण आदि कार्य के लिए एवं विविध प्रकार के भोगों,

सुखों एवं ऐश्वर्यों की सिद्धि के लिए—इत्यादि अनेक कार्यों की सिद्धि के लिए अग्नि की सामर्थ्य है यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अग्नेस्तनूरसि—इस पूर्वोक्त मन्त्र-वाक्य में अग्नि के शरीर का वेद ने संकेत किया है जिससे ज्ञात होता है कि अग्नि जिसमें सुखपूर्वक रह सकता है वह अग्नि का शरीर होता है या उसका यथोचित उपयोग लेने के लिए यन्त्र रूपी शरीर बनाये जाने पर उसमें अग्नि का निवास हो सकता है और उसके द्वारा उससे अनुकूल व्यवहार सिद्धि के कार्य हो सकते हैं।

अग्नि विद्युत्-विज्ञान के ज्ञाता महर्षियों ने वेद ज्ञान से अग्नि माध्यम द्वारा वाणी का प्रवेश, विस्तार, गमनादि का अनुभव किया था और तदनुसार लिखा—

सा वागपचक्राम। सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश॥ (शतपथ १।१।४।१६-१७)

यह अनुभूति, शब्द का जाना और यज्ञ एवं यज्ञपात्रों में प्रवेश वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा ही होता है। अर्थात् वह वाणी चली और वह यज्ञ में एवं यज्ञपात्रों में प्रवेश कर गई। आज भी ध्वनि-यन्त्रों में रिसीवर—ध्वनि ग्रहण करने वाला और स्पीकर—ध्वनि को उच्चारित करने वाले यन्त्र प्रयुक्त होते हैं। विविध प्रकार के यज्ञों के पात्र भी विविध प्रकार के होंगे। जिस कार्य के लिए जो उपयोगी पात्र हो उसी की आवश्यकता रहेगी।

शरीर का लक्षण दर्शनकारों ने निम्न प्रकार किया है—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। (न्याय दर्शन १।१।११)

अर्थात् जिसके आश्रय से प्रयत्न और विविध प्रकार के ज्ञानाश्रित कर्म विविध अंगों या विभागों द्वारा होते हैं वह शरीर है। अग्नि के निवास स्थानों और उनके द्वारा क्रियाशीलता एवं व्यवहार-संचालनार्थ अग्नि के लिए शरीर-निर्माण की आवश्यकता है।

अग्नि के धातुमय शरीर से वाक्-संचालन

अग्नि के शरीर के बारे में निम्न मन्त्र में कुछ और भी विशेष विवरण प्राप्त होता है—

या ते अग्ने ऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा। उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत स्वाहा। या ते अग्ने रजःशया तनूः···याते अग्ने हरिशया तनूः॥ (यजुः ५।८)

अर्थात् हे अग्ने! जो तेरा लोहे में एवं तत्सदृश धातुओं में शयन करने वाला, सुप्त रूप से, सु-गुप्त रूप से व्याप्त रहने वाला शरीर है—चेष्टाश्रय स्थल है, वह अत्यन्त विस्तीर्ण है। इसका व्यवहार या उपयोग लेने वाले को इच्छित फल देने वाला है। इसी प्रकार हे अग्नि! तेरा जो चाँदी आदि धातुओं में गुप्त रूप से व्याप्त रहने वाला शरीर है एवं जो सुवर्णादि धातुओं में सुगूढ़ व्याप्त रहने वाला शरीर है, वह अनुकूल रूप से व्यवहार करने वालों को अतिशय इष्टफल देने वाला है।

इन धातुमय शरीरों में अभ्यन्तर रूप से जो अग्नि रहने वाला है वह—उग्रं वचो अपावधीत्—उग्र वाणी को दूर करता है अर्थात् नष्ट करता है। इससे ज्ञात होता है कि अग्नि, विद्युतादि के साहचर्य से उग्रवाणी, तीव्र शब्द या कोलाहल आदि अप्रिय ध्वनियों को अन्तरिक्ष में से, ध्वनि प्रतिरोधक यन्त्र द्वारा नष्ट कर, शान्त मण्डल बना सकते हैं और—त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा—अनुकूल क्रिया से सिद्ध करने पर वह अग्नि प्रकाशयुक्त वाणी को दूर करता है अर्थात् दूर ले जाता है। इस प्रकार—अपावधीत्—क्रिया पद से नष्ट करने और दूर ले जाने के गुण अग्नि के ज्ञात हो जाते हैं।

इस मन्त्र में अग्नि विद्युतादि के लोहे, चाँदी और स्वर्णादि धातुओं में निवास कर सकने, उनमें

गुप्त रूप से अप्रकट रूप में रहने के गुण को बताया है और इन माध्यमों से—इन शरीरों से—वाणी को एक स्थान से दूर स्थान पर ले जाया जा सकता है और किसी स्थल को उग्रध्वनि रहित, शान्त भी किया जा सकता है। इस मन्त्र से इस विज्ञान का संकेत प्राप्त होता है।

यही बात इसी—अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम्—में विसर्जन शब्द से भी प्रकट होती है। विसर्जन का अर्थ है छोड़ना या त्याग करना। अतः अग्नि के माध्यम से किसी स्थान विशेष के शब्दों से छुड़वाया जाना अर्थात् शब्द रहित करने की क्रिया की सिद्धि हो सकती है। विसर्जन से वह अर्थ तो पूर्व ही बताया था कि अग्नि के शरीर द्वारा शब्दों को दूर स्थान में ले जाया जा सकता है। परन्तु वि+सर्जन=विशेष रूप से सर्जन, निर्माण कार्य के अर्थ से उसके द्वारा शब्दों की, ध्वनियों की गति एवं तीव्रता विशेष रूप से बढ़ाई जा सकती है, यह भी ज्ञात होता है। इस प्रकार—विसर्जनम्—तथा—अपावधीत्—शब्दों से अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों विरुद्ध व्यवहारों की सिद्धि का ज्ञान वेद के इस मन्त्र से प्राप्त होता है। शब्द की ध्वनि या गर्जन को कम करना और तीव्र करना दोनों का एक यन्त्र में मिश्रण करने से ध्वनि की न्यूनाधिकता भी सिद्ध हो जाती है।

ध्वनि-यन्त्र में अग्नि की जिह्वा की आवश्यकता

—वाचो विसर्जनम्—इस मन्त्र वाक्य की क्रिया की पूर्ति के लिए निम्न मन्त्र में अग्नि के मध्य जिह्वा की स्थापना का संकेत है—

जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्। (यजुः १३।१५)

अर्थात् हे अग्ने! तुम शब्द रूपी हव्य को वहन करने वाली जिह्वा का कार्य करती हो। अथवा हम विज्ञानयुक्त बुद्धि एवं कर्म से अग्नि में जिह्वा-कर्म-सम्पादन के लिए, वाणी सदृश उच्चारण क्रिया उत्पन्न करने का साधन निर्मित करें। अग्नि से श्रवण-कर्म-सम्पादन के लिए उसका श्रोत्रयन्त्र, श्रवणयन्त्र, कर्णयन्त्र बनाना चाहिए और उच्चारण कर्म के सम्पादन के लिए उसकी जिह्वा भी बनानी चाहिए जिससे अग्नि द्वारा विविध शरीर रूपी यन्त्रों के साहचर्य से सुनने-सुनाने एवं बोलने के कार्य विशाल क्षेत्र में हो सकते हैं। आजकल के पी० ए० इक्विपमेण्ट्स इन्हीं के अन्तर्गत समझे जा सकते हैं। अग्नि की वाक्-शक्ति या जिह्वा के बारे में एक मन्त्र में आता है—

शुचिजिह्वो अग्निः। (यजुः ११।३६)

अर्थात् अग्नि पवित्र जिह्वा वाली है। पवित्र जिह्वा वाला अत्यन्त शुद्ध, एवं स्पष्ट बोल सकता है। अतः अग्नि के माध्यम से जैसा हम बोलते हैं वैसा ही यथार्थ में उसको वह उच्चारित भी कर देता है। इस—शुचिजिह्व—अग्नि को जब तक पूर्व प्रतिपादित मन्त्रानुसार—रजःशया, हरिशया—नहीं बनायेंगे अर्थात् अग्नि का यन्त्रमय शरीर नहीं बनायेंगे तब तक उससे उक्त प्रकार का लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

विद्युत् वाक्

अग्नि के इसी वाक् कर्म के लिए विद्युत् से सम्पन्न होने के बारे में एक स्थल पर वेद में आता है—

मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा। (यजुः २३।३५)

इस मन्त्र में विद्युत्-वाणी के नाम का स्पष्ट रूप से उल्लेख है अर्थात् वह वाणी जो विद्युत् के माध्यम से व्यवहृत होती है वह विद्युत् वाक् है। उसका विशेषण—मैघी—दिया है। मैघी का अर्थ

मेघ सम्बन्धी है। मिह सिंचने धातु से मेघ शब्द बनता है। अर्थात् जिसमें सिंचन की सामर्थ्य हो वह मेघ संज्ञक हैं। इसी प्रकार जो वाणी के सिंचन-कार्य में समर्थ है वह मैघी विद्युत् वाक् है। जिस प्रकार एक स्थान से जलों से परिपूर्ण होकर मेघ दूसरे स्थान पर जाकर उस जल को वहां वर्षाने की सामर्थ्य रखते हैं उसी प्रकार विद्युत् वाक् में भी एक स्थान के शब्द को दूसरे स्थान में ले जाने और देने की सामर्थ्य है।

ऐसी विद्युत्-वाक्—सूचीभिः—सूची सदृश कर्मों के द्वारा अर्थात् सुई अपने साथ सूत्र को लेकर लक्ष्य तक पहुंचकर पूर्वापर स्थलों को जोड़ देती है उसी प्रकार के सन्धियुक्त कर्म से दूरस्थ स्थलों को परस्पर दृष्ट या अदृष्ट, स्थूल या सूक्ष्म, सूत्र, तन्तु, तार आदि से सम्बन्ध स्थापित करने से सबको सुख देने वाली हो जाती है। अतः यह मन्त्र स्पष्ट रूप से—सूचीभिः—शब्द से कार्य का प्रत्यक्ष साम्य रूप उदाहरण बताकर विद्युत् वाणी को दृष्ट एवं अदृष्ट सूत्रवत् या तार आदि के स्थूल एवं सूक्ष्म माध्यम से व्यवहार सिद्ध करने का संकेत कर रहा है।

इसके अतिरिक्त जब हम—सूचिभिः—इस शब्द पर और भी गम्भीर रीति से विचारते हैं और सूई की गति को देखते हैं तो वह जिस धरातल पर चलती है उसमें नीचे ऊपर  इस प्रकार गति करती है। जिस प्रकार से तालाब के पानी में लहरें ऊपर नीचे गतियां करती हुई व्याप्त हो जाती हैं। या एक थाली में पानी भरकर एक सिरे में उसमें आघात करने पर जल में जो कम्प ऊपर नीचे लहरों के रूप में जल के ऊपरी धरातल पर दृष्टिगोचर होता है तद्वत् विद्युत्-वाक् की लहरें वायुमण्डल में व्याप्त होकर अभीष्ट सुख को प्राप्त कराती हैं। सूई की ऊपर नीचे की गति ऊर्ध्वाधः गमन करती हुई आवर्त्तन प्रत्यावर्तन रूप वृत्तों का निर्माण करती जाता है। शब्द की इस सूक्ष्म गति का ज्ञान भी वेद के उपरोक्त सूचिभिः—शब्द से ज्ञात होता है। वर्तमान वैज्ञानिक परिभाषा में इसे फ्रीक्वेन्सी कहते हैं।

विद्युत् शब्द की इस सूचीवत् गति को जितना ही तीव्र करते जायेंगे उतना ही यह—शम्यन्तु—सुख देने वाली तो होती ही है परन्तु वाणी को भी गुप्त रूप से अपने में धारण करने वाली होती है। अर्थात् उस अवस्था में शान्त रूप में शब्द प्रसारित होता है और वह शब्द व्यक्त से अश्राव्य एवं अव्यक्त रूपों में विद्युत् वाक् का सूची कर्म—शम्यन्तु त्वा—वाणी को गतिमय, परन्तु शान्त बना देता है और दूर, अत्यन्त दूर तक भी वह शब्द का सम्बन्ध बना देता है।

विद्युत्-वाक् का दर्शन

चरन्ति विद्युतो दिवि—के आधार पर जब हम अपनी वाणी को चुम्बकीय विद्युत् तरंगों के साथ प्रसारित करते हैं तब उसकी प्रकाशमय विद्युत् तरंगों को हम बल्ब या ट्यूब में दर्शन करने में भी समर्थ हो जाते हैं, इसका वर्णन निम्न वेद मन्त्र में बहुत स्पष्ट है—

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः॥ (यजु० १३।३८)

इस मन्त्र की पूर्व पंक्ति में शब्द की धाराएँ नदी की धारा के समान चलती हैं और वे किसी अन्तस्तल, गुह्य, हृदयरूपी केन्द्र से मनसदृश शक्तिवान् एवं अप्रकट शक्ति से परिष्कृत होकर चलती हैं। यह बताया है। द्वितीय पंक्ति में बताया है कि तेजस्वी प्रकाशमान वेतस रूप (बेंत सदृश—काच की ट्यूब) पदार्थ के मध्य अग्नि की तेजस्वी धाराओं को अच्छी प्रकार देखता हूं।

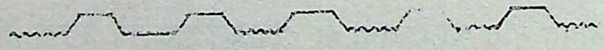
सम्पूर्ण मन्त्र के मुख्य पदों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि—धेना वाचः हिरण्ययो वेतसो-

ऽग्नेर्मध्ये अभिचाकशीमि—वाणी की धाराओं को प्रकाशयुक्त वेत (नली) के मध्य में अच्छी प्रकार से देखता हूं। अर्थात् शब्द की धाराएँ जो नदी की धाराओं के समान अच्छी प्रकार केन्द्रीय गुप्त शक्ति से प्रभावित एवं परिष्कृत होकर जो अग्नि माध्यम से बहती हैं उनको गति करती हुई देख सकते हैं। घृतस्य धारा—का तात्पर्य है जो दीप्ति या तेज की धाराओं से युक्त है। इस प्रकार शब्द की विद्युन्मय धाराओं के दर्शन का तथा उसके दर्शक यन्त्र का भी कुछ संकेत है।

विद्युत् वाक् की धाराओं की गति का चित्रण

पूर्व मन्त्र में वाणी की जो चुम्बकीय विद्युत् धाराएँ होती हैं उनके अस्तित्व का ज्ञान तथा अस्तित्व का दर्शन भी होता है यह वेद ने बताया है। इन्हीं धाराओं की वेगपूर्ण गति किस प्रकार की होती है उसका चित्रण एवं निरूपण निम्न मन्त्र में बहुत स्पष्ट है—

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः॥ (यजुः १७।९४)

पूर्व मन्त्र और इस मन्त्र की प्रथम पंक्तियाँ एक ही हैं। अर्थात् पूर्व पंक्ति में शब्द की चुम्बकीय विद्युत्तरंगें हैं जो बह रही हैं उनका उल्लेख है। नीचे की पंक्ति में उन धाराओं की गति का निरूपण इस प्रकार किया गया है कि ये लहरें इस गति से बह रही हैं जिस प्रकार कोई शिकारी जब मृग का शिकार करता है तो उसके भय से मृग की दौड़ की जो चाल होती है उस प्रकार उसकी गति होती है। एते घृतस्य ऊर्मयः—ये शब्द की दीप्ति की लहरें, क्षिपणोरीषमाणा मृग इव अर्षन्ति—हिंसक जन के भय से भागते हुए हरिण के तुल्य होती है। ऐसी स्थिति में हिरण की चाल पर ध्यान दें तो प्रतीत होगा कि वह दो चार पाँव दौड़ के पृथिवी पर चलकर छलांग लगाता है और फिर दो चार पाँव दौड़ के चलकर फिर छलांग लगाता है। यही उसकी दौड़ का क्रम रहता है। इसी गति को यदि चित्रित करें  तो यह रूप होता है।

इन आग्नेय तरंगों के सैकड़ों व हजारों की संख्या में आरोहण एवं अवरोहण अर्थात् आवृत और उपावृत होते हैं जैसा कि निम्न मन्त्र में है—

अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः। (यजु० १२।८)

अर्थात् हे अंगिरा अग्ने! तेरे सैकड़ों आवृत एवं हजारों उपावृत हैं। अग्नि की लहरों के आरोह अवरोह  इस रूप में होते हैं ये ही आवृत एवं उपावृत हैं। आवृत ऊपर वाला भाग है  जो ढकने सदृश हो जाता है और नीचे का भाग  उपावृत है।

लहरें सर्पणशील हैं

शब्द की लहरें सर्पणशील अर्थात् जैसे सूर्य की किरणें सर्पणशील हैं एवं जैसे सर्प की गति होती है उस प्रकार से होती है। उनसे शब्द-श्रवण की समस्या का हल करना चाहिए। इस विषय में वेद का निम्न मन्त्र आदेश देता है—

सꣳ सर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्व। (यजुः १५।७)

अर्थात् श्रुताय=श्रवण कार्य के लिए, सꣳ सर्पेण—अच्छी प्रकार सर्पण क्रिया द्वारा, श्रुतं जिन्व—सुनने को प्राप्त करो। अर्थात् अच्छी प्रकार शब्द की सर्पण क्रिया जिन साधनों से होती है उनसे इस कार्य में सफलता प्राप्त होती है। सामान्य रूप में उच्चारित की गई शब्द की ध्वनि भी सर्पण क्रिया द्वारा

प्रसारित होती है। उसकी उत्तरोत्तर सर्पण-क्रिया क्षीण होने से वह शब्द कुछ दूर पर जाकर श्राव्य स्थिति में नहीं रह पाता है। माना कि हमने एक शब्द का उच्चारण किया और उसकी श्राव्य सर्पण-शक्ति ५० फीट तक रही परन्तु ५० फीट के आगे की सर्पणशीलता में जितने समय और स्थान में सैकड़ों और हजारों की संख्या में आवृत उपावृतों का निर्माण होना था उसमें सहसा न्यूनता आ गई तो वह श्राव्य स्थिति में नहीं रहा। अतः श्राव्य-सर्पण, अश्राव्य-सर्पण, अव्यक्त ध्वनि-सर्पण आदि का ज्ञान प्राप्त करने से और उनकी उसी शक्ति सीमा सामर्थ्य से अधिक सीमा सामर्थ्य वाली सर्पण-शक्ति निर्माण करने से दूर तक शब्द की श्राव्य स्थिति बनती है। इस सर्पण शक्ति को वर्तमान वैज्ञानिक शब्दों में फ्रीक्वैन्सी नाम से समझ सकते हैं।

सर्पणशीलता की तीव्रता

शब्द की गतियों के वर्णन करने में वेद ने पूर्वोक्त मन्त्रों में नदी की धारा, समुद्र की लहरें, हिरण की बचाव की दौड़, आदि की उपमाएँ दी हैं एवं सर्पण शब्द का उल्लेख करके गति को समझाया है। परन्तु निम्न मन्त्र में गति की तीव्रता को काल के सूक्ष्म अंश के वेधन करने वाला बताकर तीव्रता को भी एक प्रकार से नापा गया है—

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः॥ (यजुः १७। ९५)

इस मन्त्र में विज्ञानयुक्त वाणी धाराओं की गति की तीव्रता बताने के लिए दो उपमाएँ दी गई हैं। प्रथम उपमा में विषम मार्ग में अर्थात् पर्वतीय मार्ग में जैसे नदी का तीव्र वेग होता है एवं वात के एक झोंके से ही जैसे तुरन्त उसमें गति हो जाती है इससे भी अधिक तीव्रता इसकी होती है। और जिस प्रकार वेगवान् घोड़ा अपने श्रम से स्वेद द्वारा पृथिवी को सिंचित करता है इस स्वेद के गिरने में जो अल्प समय लगता है तद्वत् शीघ्रता से गति करती हुई विज्ञानयुक्त वाणी की धाराएँ समय के छोटे से काल को भी भेदन करती हुई श्राव्य होती हैं।

काष्ठाः का अर्थ दिशा भी है—अतः दीप्तियुक्त तेजोमय तीव्रगति वाली वाणी की धाराएँ दिशाओं का भी भेदन करती हैं अर्थात् दूर-दूर तक पहुंचती हैं। काष्ठाः का अर्थ संग्राम एवं सीमा भी है अतः उनमें प्रतिरोधक एवं सीमाओं का भी भेदन करने की सामर्थ्य है। काष्ठाः काल का अत्यन्त लघु अंश है उसको भेदन करने का तात्पर्य उतने अल्प काल में बहुत गति करने वाला है अर्थात् प्रतिकाष्ठा अमुक गति व वेग को करने वाली विज्ञानयुक्त तेजस्वी विद्युत् वाक् की धाराओं की गति होती है। इस प्रकार वेद ने गति की तीव्रता को काल और देश दोनों प्रकार से नापने को प्राकृतिक पदार्थों की गति से बताया है। इसी नाप-क्रिया-विधि के लिए विविध यन्त्र निर्मित कर लेने से गतियों की अनेक प्रकार की माप के प्रमा-यन्त्र बन सकते हैं।

ध्वनि-उत्पादक यन्त्र का निर्माण

इस ध्वनि उत्पादन कार्य के लिए अग्नि या विद्युत् को यन्त्र द्वारा प्रयुक्त करने के लिए वेद में निम्न मन्त्र प्राप्त होता है—

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा। (यजुः ४। १८)

इस मन्त्र के देवता वाक् और विद्युत् दोनों ही हैं। अतः इस मन्त्र का अर्थ वाणी और विद्युत् दोनों में ही घटित होता है। उस वाणी एवं विद्युत् के यथार्थ उत्पन्न कार्यों के लिए यन्त्रमय शरीर प्राप्त

करें अर्थात् यन्त्र का निर्माण करें। इस मन्त्र में अग्नि का विशेषण-सत्यसवसः—है, जिसका अर्थ है सत्य अर्थात् यथावत् है सव, सन्तान-उत्पादन जिसका वह—सत्यसवस—है। जो वाणी, रूप, गन्ध, रस, श्रवण, स्पर्शादि इसके माध्यम से प्रसव अर्थात् उत्पन्न किये जाते हैं, अर्थात् इसके माध्यम से निष्पन्न या सिद्ध होते हैं, वे सत्य ही, यथावत् उसी प्रकार के होते हैं, जिनसे इस अग्नि ने अपने अन्दर गर्भ धारण करके प्रसव-क्रिया की है। अतः- सत्यसवसः—विशेषण से शब्द के अतिरिक्त रूप, रस, गन्ध, उष्णता, शीतलता आदि का भी इसी प्रकार वह उत्पादक है, यह इस शब्द से ज्ञात होता है। इन क्रियाओं की सिद्धि के लिए—तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा यन्त्र रूपी शरीर को क्रिया कौशल द्वारा प्राप्त करें। अतः वेद से इस प्रकार के यन्त्र-निर्माण का भी उपदेश प्राप्त होता है। एक अन्य मन्त्र में भी शब्द के निमित्त यन्त्र बनाने के लिए निम्न प्रकार लिखा है—

सरस्वती यन्त्र

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।

सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि॥ (यजु० ९।३०)

अर्थात् उस दिव्य गुण युक्त अग्नि वा विद्युत्के विविध ऐश्वर्यों के सम्पादन-कर्म में—अश्विनोर्बाहुभ्यां दोनों प्रकार की ऋण धनात्मक विद्युतों के बाहुओं से, अर्थात् जिनके द्वारा अग्नि की प्रसारण-क्रिया की सिद्धि हो सके, इस प्रकार के बाहु रूपों से और पोषण रूप हस्तादिवत् उनके विविध क्रिया सिद्ध करने वाले विभागों से—सरस्वत्यै वाचः—ज्ञानयुक्त वाणी को—यन्तुः—नियमन में चलाने वाले या यन्त्र-निर्माता के यन्त्रिये—यन्त्र से सिद्ध किये गये प्रशासन में,—दधामि—धरता हूं या स्थापित करता हूं। मन्त्र में पूष्णोहस्ताभ्याम्—पद विद्युत् का पूषा की क्रिया से उपयोगी होना बताता है। विना पूषा के विद्युत् हमारे लिए पोषक—हितकारी नहीं बनता। पूषा के हाथ का इसमें संकेत है। जिस प्रकार हाथ में अंगुली उनके पोर्वे आदि अनेक विभाग हैं ऐसी ही रचना ट्रान्सफर्मर की होती है। ट्रान्सफर्मर ही विद्युत् को अपने कार्य के लिए उपयोगी एवं नियन्त्रित करता है अतः वह पूषा है।

सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि॥ (यजु०१८।३७)

यहां पर भी पूर्वोक्त प्रक्रिया से वाणी को—अग्नेः साम्राज्येन – अग्नि के साम्राज्य से अभिसिंचित करने का अर्थात् विद्युत् यन्त्र के अधिकार-क्षेत्र में चारों ओर से विद्युत्-धाराओं से युक्त करने का उल्लेख है। पूर्व मन्त्रों में—अश्विनोर्बाहुभ्याम्—शब्दों से दोनों प्रकार की विद्युत् का ग्रहण किया था अतः यहां पर भी इन दोनों मन्त्रों में सरस्वती यन्त्र को जिस अग्नि के साम्राज्य से युक्त करने को कहा है वह दक्षिण एवं वाम भुज वाली विद्युत् अग्नि ही है। उसी के साहचर्य से पूषा के द्वारा हमारे कार्यों के पोषण के लिए उसको उपयोगी बनाया जाता है।

विद्युदग्नि का द्विमातृत्व

पूर्वोक्त मन्त्रों में—अश्विनी से दोनों प्रकार की विद्युत् का ग्रहण किया है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि निम्न मन्त्र में अन्य प्रकार से की गई है—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम्।

विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे॥ (ऋ० १।३१।२)

यहां पर विद्युत् अग्नि के लिए—द्विमाता शयुः—दो माताओं में शयन करने वाला कहा है। ये दो माताएँ विद्युत् की ऋण धनात्मक शक्तियां अशनि एवं इन्द्र ही हैं, जिनके सम्मिलन से ही प्रकाश

और गतिशीलता भी उत्पन्न होती है। ये—अङ्गिरस्तम—अग्नि समस्त संसार के लिए संगतिकरण योग्य, मेधायुक्त क्रिया से विद्वानों, सभ्यजनों के लिए कविरूप से कार्य कर रहा है और अनेक प्रकार के व्रतों—कर्मों—को अच्छी प्रकार सिद्ध कर रहा है। निर्धूम अंगारे के तुल्य प्रकाशमान रहने में अत्यन्त समर्थ होने से विद्युत् की अङ्गिरस्तम संज्ञा ठीक है। इस अग्नि की दो से उत्पत्ति प्रदर्शनार्थ द्विमातृत्व इस मन्त्र से वैज्ञानिक आधार पर बताया है इसी को अन्य रूप में अर्थात् विद्युत् की उत्पत्ति दो शक्तियों से होती है यह निम्न मन्त्र में दृष्टिगोचर हो रहा है—

अग्नेर्जनित्रमसि वृष्णो स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरुरवा असि।
गायत्रेण त्वा च्छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा
मन्थामि जागतेन त्वा च्छन्दसा मन्थामि ॥ (यजु० ५।२)

इस मन्त्र का देवता विष्णु=यज्ञ है। अर्थात् ब्रह्माण्ड में व्यापक विद्युत् अग्नि का संगतिकरण से होने वाला कार्य है। मन्त्र में बताया है कि विष्णु=यज्ञ विद्युत् अग्नि का जनक है। इस अग्नि की सेचन समर्थ एवं उत्पन्न करने वाली दो शक्तियां हैं। इन्हीं को—अश्विनोर्बाहुभ्याम्—से अन्यत्र कहा गया है। ये ही ऋण धनात्मक विद्युत् हैं। यह विद्युत् उर्वशी—है,—आयु है, और—पुरुरवा है। विष्णु=यज्ञ द्वारा इसकी प्राप्ति के लिए गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द संज्ञक क्रमशः उत्तरोत्तर बड़े एवं अधिक मात्रा एवं शक्ति वाले यन्त्रों से उनका मन्थन अर्थात् उत्पत्ति के लिए मन्थन तथा उनको स्थिर एवं विभाजित करने की क्रिया इनके द्वारा करता हूं। मन्त्र में पठित—वृषणो—शब्द मेगनेट एवं जनरेटर सदृश यन्त्र का सूचक है जिनसे बिजली का सेवन तथा उत्पादन-कार्य होता है।

इस मन्त्र में उर्वशी और पुरुरवा अत्यन्त महत्त्व के शब्द हैं। यह जो विष्णु यज्ञ—विद्युत् निर्माण कार्य होता है इसमें वृषण शक्ति से जो विद्युत्-धाराएँ प्रवाहित होती हैं वे जीवन की देने वाली होने से या आरोग्यता को प्रदान करने वाली होने से—आयुरसि—हैं। इसके अतिरिक्त ये उर्वशी भी हैं।

उर्वशी का अर्थ है जो रूपातिशय से सबके चित्त को हरण करने वाली है, जो बहुतों को वश करती है। अर्थात् विद्युत् की वे लहरें जो रूप का वहन करती हैं वे उर्वशी हैं। उर्वशी विद्युत् है इसको दुर्गाचार्य ने निरुक्त में स्वीकार किया है। उरून् बहून् अश्नुते व्याप्नोति इस व्युत्पत्ति से व्यापक होना उसका ज्ञात होता है। अतः उर्वशी का तात्पर्य हुआ जो अपने अन्दर बहुत धारण, ग्रहण, आत्मसात् करने वाली है, जो बहुत प्राप्त कराने वाली है, जो बहुत व्याप्त होने वाली है। यह गुण उर्वशी नाम से प्रकट होते हैं। उर्वशी रूप के लिए विख्यात है अतः विद्युत् की उर्वशी शक्ति रूप को धारण करने की है यह ज्ञात होता है।

पुरुरवा का अर्थ है जो बहुत शब्द करने वाला है। ध्वनियों का जनक है। विद्युत् में ध्वनि उत्पादन-शक्ति है। अतः विद्युत् उर्वशी है और पुरुरवा भी है। रूप धर्म के प्रसारित करने का विज्ञान उर्वशी शब्द से और शब्द के प्रसारण का विज्ञान पुरुरवा से वेद ने प्रकट किया।

उर्वशी एवं पुरुरवा को ऋण-धनात्मक विद्युत् रूप में भी समझ सकते हैं ये दोनों—वृष्णो स्थः—सेवन समर्थ हैं। इन दोनों से विद्युत् की उत्पत्ति होती है। उर्वशी और पुरुरवा दोनों की विविध मन्थन शक्ति से इसकी उत्पत्ति होती है। ये ही अरणिद्वय हैं, जिनके गर्भ में सुप्त रूप से अग्नि रहती है और दोनों के मन्थन से पृथिवीस्थानीय एवं अन्तरिक्षस्थानीय या उत्तर, दक्षिण की विद्युत् अग्नि प्रकट

होती है। इन्हीं उर्वशी और पुरुरवा अथवा दोनों अश्वियों से ऋण धनात्मक रूप से विद्युत् अग्नि उत्पन्न होने से अगले मन्त्र में इन्हीं दोनों शक्तियों के लिए निम्न मन्त्र में विष्णु यज्ञ का रूप पुनः प्रकट किया—

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञँ हिँसिष्टं
मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ।। (यजु० ५।३)

इस मन्त्र में अग्नि के लिए सर्वत्र द्विवचन का ही प्रयोग हुआ है क्योंकि दो तत्त्वों से इसका रूप प्रकट होता है। वह अग्नि जो उर्वशी और पुरुरवा के मन्थन से उत्पन्न होती है वह—जातवेद—है। वह उत्पन्न हुए सब पदार्थों में व्याप्त है और उनके द्वारा उसके गुणों का उद्‌बोधन किया जाता है। उसकी ये दोनों उत्पादन-शक्तियां—समनसौ भवतम्—एक मन अर्थात् एक रूप वाली हो।—सचेतसौ भवतम्—जिस प्रकार से समान चित्त वाले दो व्यक्ति परस्पर एक चित्त होते हैं उस प्रकार होवें और—और अरेपसौ भवतम्—दोष रहित हों, विनाशकारी, प्रतिकूल या कष्टदायक न हों। प्रयोग के लिए और प्रयोक्ता के लिए भी इन दोनों के लिए इस प्रयोगकाल में - शिवौ भवतम्—कल्याणकारी होवें।

इसी प्रकार—द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते—(यजु० ३३।५) में भी अग्नि के दो रूपों का और उनसे उत्पन्न एवं पोषित एक वत्स का वर्णन भी विद्युत् अग्नि में घटित होता है।

अग्नि पुरुरवा है

इसी विद्युत् अग्नि के द्वारा पुरुरवा सामर्थ्य से एक स्थान के शब्द को दूर देश में श्रवण कर सकते हैं इसका निम्न मन्त्र में वर्णन आता है—

शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ।। (ऋ० ९।४१।३)

अर्थात् जिस प्रकार एक स्थान के जल को पवमान बनाकर मेघ दूसरे स्थान में ले जकर वर्षा करा देता है उसी प्रकार शब्द को भी पवमान तत्त्व के बल से हम एक स्थान के शब्द को अन्यत्र सुनने में समर्थ हो सकें।

शब्द अनेक प्रकार के तत्त्वों के माध्यम से उनके पवमान गुण, शक्ति या गति सम्प्रसारण गुण की सामर्थ्य के आधार पर इतस्ततः ले जाया जा सकता है। इस मन्त्र में वेद ने उत्कृष्ट पवमान तत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा—चरन्ति विद्युतो दिवि—आकाश में, द्युलोक में, विद्युत्-धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। उनको हम यथेच्छ रीति से पवमान जानकर और आवश्यकतानुसार पवमान बनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करें।

विद्युत् की उत्पत्ति

इस विद्युत् अग्नि की उत्पत्ति के लिए एक मन्त्र में निम्न वर्णन प्राप्त होता है—

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ।। (यजुः ११।३२)

जो संसार में सर्वोपरि श्रेष्ठ है उस तुझ विद्युत् रूपी अग्नि को शब्दविद्या द्वारा, ज्ञान का प्रकाश करने वाले, विश्व की प्राणापान विद्या—अश्विनौ,—ऋण—धनात्मक विद्युत् तत्त्वों को जानने वाले विद्वान् अन्तरिक्ष का मन्थन करके प्राप्त करते हैं। अर्थात् यह विद्युत् अग्नि अन्तरिक्ष मन्थन क्रिया द्वारा उत्पन्न होती है। मन्थन क्रिया किसी वस्तु को घुमाने से तीव्र गति से चलाने से होती है

और वह मन्थन-क्रिया किसी द्रव्य के मध्य होती है तथा उस मन्थन के परिणामस्वरूप एक तत्त्व प्रकट हो जाता है। यही सब विद्युत् अग्नि की प्राप्ति में भी घटित होता है।

जलों से विद्युत् की उत्पत्ति

एक अन्य मन्त्र में विद्युत् अग्नि की उत्पत्ति का वर्णन प्रकारान्तर से निम्न प्रकार बताया गया है—

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानँ सरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाम्॥ (यजु० १३।४२)

यहां अश्व शब्द विद्युत् अग्निवाची है। क्योंकि वह शीघ्र गमनशील है। वह अग्नि वायु के तुल्य बलवाला, जल का नाभिवत् धारण केन्द्र तथा जनक है। वह नदियों के जल की मध्य धाराओं से उत्पन्न होने से उनका शिशु रूप है तथा—जज्ञानं सरिरस्य मध्ये—जल के मध्य उत्पन्न होने वाला भी बताया है। मेघ रूप जलों के मध्य में विद्युत् प्रकट होती ही है। अतः पृथिवीस्थानीय और अन्तरिक्षस्थानीय जलों से भी इसकी उत्पत्ति वेद से ज्ञात होती है। एक अन्य मन्त्र में—

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ (यजु० १५।३२)

इस अग्नि को जो—ऊर्जो नपातम्—विशेषणयुक्त है, इसको इन्धनादि द्वारा भी निर्मित करते हैं। जो कि सबके लिए प्रिय है। अत्यन्त चेतना, शक्ति एवं दीप्ति युक्त है, जो सब कार्यों को करने में पर्याप्त है। जिसके सुन्दर प्रयोगस्थल हैं जो कि समस्त संसार में दूतवत् हमारे सन्देश को ले जाने वाला, सम्बन्ध एवं भेद स्थापित करने वाला है और अमरण धर्मा है।

यहां पर जो—ऊर्जोनपातम्—विशेषण है वह अद्भुत है। उव्वट और महीधर ने इस शब्द का अर्थ—अपां पौत्रम्—जलों का पोता किया है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि जल और उससे निर्मित विद्युत् के मध्य जब कोई मध्यगत वस्तु हो, जिससे इसका निर्माण होता हो तो उससे यह जलों का पोता शब्द सार्थक हो जाएगा। जब जल की धाराओं से यन्त्र का चालन और उस यन्त्र द्वारा विद्युत की उत्पत्ति की क्रिया होगी तो वह—ऊर्जोनपातम्—अर्थात् अपां पौत्रम्—इस नाम को सार्थक करने वाला हो जाता है।

विद्युत्-प्रकाश से भी उत्पन्न होती है

प्रकाश से भी विद्युत् का निर्माण संभव है इस बारे में निम्न वेद मन्त्र में वर्णन प्राप्त होता है:—

हस्काराद्विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः।
मरुतो मृडयन्तु नः॥ (ऋ० १।२३।१२)

अर्थात्—हस्काराज्जाता विद्युतो नः अवन्तु—अति प्रकाश से प्रकट हुई विद्युत् हमारी रक्षा करे—हमारे सुखों की वृद्धि करने से हमारी रक्षा ही करती है। अर्थात् अति तीव्र प्रकाश विद्युत् की उत्पत्ति करता है। अतः उनको—अतः परि—सब ओर से अच्छे प्रकार से साधें। उनका शिल्पादि साधनों से उपयोग लें। जिससे—मरुतो नो मृडयन्तु—वायु हम लोगों को सुखयुक्त करती है। इस प्रकार इस मन्त्र से प्रकाश से विद्युत् की उत्पत्ति का वर्णन एवं विद्युत् का वायु-चालक यन्त्रों में उपयोग का संकेत है।

वायु से विद्युत् का निर्माण

पूर्व मन्त्र में प्रकाश से विद्युत् का निर्माण, विद्युत् से वायु के निर्माण का विज्ञान संकेत रूप से प्रदान किया— इस मन्त्र में वायु से विद्युत् निर्माण का संकेत, सूत्रमय ज्ञात प्राप्त होता है—

मरुत्वन्तं हवामह इन्द्रमासोमपीतये ।
सजूर्गणेन तृम्पतु ॥ (ऋ० १।२३।७)

अर्थात्—सोमपीतये मरुत्वन्तं इन्द्रं हवामहे—संसार में हम लोग पदार्थों के भोग भोगने के लिए पवनों के सम्बन्ध से प्रसिद्ध होने वाली बिजली को ग्रहण करते हैं। जो—सजूः गणेन आतृम्पतु—सब पदार्थों में एक-सी वर्त्तने वाली, पवनों के समूह के साथ हम लोगों को अच्छी प्रकार तृप्त करती है।

विद्युत् एवं वायु के अद्भुत कर्म

विद्युत् एवं उससे उत्पन्न गतिशील तरंगें या पवन के उपयोग को जानकर बहुत लाभ प्राप्त किया जा सकता है इसका वर्णन निम्न मन्त्र से प्राप्त होता है—

इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये ।
सहस्राक्षा धियस्पती ॥ (ऋ० १।२३।३)

अर्थात्—विप्राः, ऊतये—विद्वान लोग क्रियासिद्धि की इच्छा, रक्षा, पालन आदि के लिए,—सहस्राक्षा धियस्पती मनोजुवाविन्द्रवायू हवन्ते—हजारों प्रकार के जिनसे इन्द्रियवत् साधन, देखने, सुनने, जानने आदि के साधन सिद्ध होते हैं तथा जिनके द्वारा अद्भुत बुद्धियुक्त शिलपकार्य सम्पन्न होते हैं, तथा जो अत्यन्त वेग वाले हैं उन विद्युत् और पवनों को विविध क्रियाओं से सिद्ध करते हैं।

इस मन्त्र में—सहस्राक्षा—विद्युत् एवं पवन को कहा है। अर्थात् इनमें हजारों नेत्रों की दर्शन-शक्ति की सामर्थ्य है उसे विद्वान् लोग क्रियासिद्धि के प्रयत्न से उपयोग में ले सकते हैं। विद्युत् से तो अक्षशक्ति रेडार, टेलीविजन, एक्सरे आदि द्वारा आजकल के वैज्ञानिकों ने प्राप्त की है तथा और भी प्रकार की दर्शनशक्ति प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु यह शक्ति पवनों के संग से भी प्राप्त होती है। अतः ज्ञात करना चाहिए कि क्या यह शक्ति इस वायु से भी प्राप्त हो सकेगी अथवा विद्युत् के द्वारा विद्युत् तरंग रूपी वात गतियों से ही होती है यह परीक्षण एवं अनुसन्धान के द्वारा ज्ञात हो सकेगा।

विद्युत् एवं वायु का द्युलोक से स्पर्श

जिन विद्युत्, विद्युत प्रवाह एवं वायुओं का यज्ञ से हम निर्माण करते हैं वे द्युलोक का स्पर्श करती हैं, अर्थात् वहां तक पहुंचती हैं। इसका वर्णन निम्न मन्त्र से प्राप्त होता है—

उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे ।
अस्य सोमस्य पीतये। (ऋ० १।२३।२)

अर्थात् विद्युत् और वायु दिव्य गुण वाले एवं द्युलोक—प्रकाशमय आकाश का स्पर्श करने वाले, अर्थात् वहां तक पहुंचने वाले हैं अतः—हवामहे—उनको यज्ञ की क्रियाओं द्वारा सिद्ध करते हैं। क्यों सिद्ध करते हैं—अस्य सोमस्य पीतये— इसलिए कि पृथिवी और द्यु के मध्य भाग में जो सोम है अर्थात् मध्य का वह क्षेत्र जिसमें पदार्थों की उत्पत्ति, गति आदि निष्पन्न होती हैं उसके—पीतये—अर्थात् पान करने, ग्रहण करने के लिए।

इसका तात्पर्य यह है कि हमारी पृथिवी के ऊपर जो आकाश का क्षेत्र है उसमें एक ऊंचे भाग में द्यु स्थान है, प्रकाशमय भाग है। हमारे यज्ञ द्वारा, विज्ञान एवं शिल्प युक्त विद्युत् एवं पवन की लहरें उसका स्पर्श कर लेती हैं और इतने मध्य में जो तत्त्व होता है उसको ग्रहण कर लेती हैं। वर्तमान वैज्ञानिक पृथिवी से लगभग ४०० किलोमीटर पर आइनोस्फियर की स्थिति आकाश की मानते हैं। जहाँ पर विद्युत्गति उत्पन्न करने वाले गतिमान् परमाणु रहते हैं। पृथिवी मण्डल पर के आकर्षण क्षेत्र के भीतर का यह द्युस्थान है। इसी प्रकार और भी द्यु स्थान हैं जो हमारी पृथिवी के आकर्षण मण्डलों से परे भी हैं।

वेद का विज्ञान पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ के आश्रित है। पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष से ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। अतः कार्य में जब इनका विकास हुआ है तो इसके कारण में भी इनकी स्थिति अवश्य होनी चाहिए। इससे ज्ञात होता है ब्रह्माण्ड का निर्माण जिन परमाणुओं से होता है उन परमाणुओं में भी इनकी स्थिति होती है। दर्शनकारों ने प्रकृति को मूल द्रव्य मानकर उसमें सत्, रज और तम इन की स्थिति घोषित की है। सत् को प्रकाशमय, रज को गतिमय और तम की अन्धकारमय जड़त्व स्थिति मानी गई है।

परमाणु की आज की वैज्ञानिक स्थिति बताती है कि उसमें इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन होते हैं। प्रोटोन ही सत् है, इलेक्ट्रोन रज है जो गतिशील रहते हैं और प्रोटोन सत् होने से केन्द्र में रहने वाला है जिसके चारों ओर इलेक्ट्रोन चक्कर काटते रहते हैं। रज में ही गतिशीलता है अतः इलेक्ट्रोन है। न्यूट्रोन तम भाग है। सत् प्रकाशमान है अतः वही भाग द्यु भाग तत्त्व है, रज गतिशील भाग है जो मध्य का अन्तरिक्ष है जिसमें गति होती है और तम जड़त्व, पृथिवी भाग है। अतः पृथिवी द्यु और अन्तरिक्ष की स्थिति परमाणु से लेकर सारे ब्रह्माण्ड में है।

इस प्रकार पृथिवी में भी पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ है। परन्तु पृथिवी के परमाणुओं में तम की प्रधानता है अतः रज और सत् क्रमशः न्यून हैं। ऐसे परमाणु जब एक स्थान पर संग्रहीत हो जाते हैं तब वे एक कठोर स्थिति बना लेते हैं और इन्हीं की न्यूनाधिक स्थिति से पृथिवी के अन्य तत्त्वों का निर्माण होता है।

अन्तरिक्ष के परमाणुओं में तम और सत् की न्यूनता एवं रज की प्रधानता है। अतः अन्तरिक्ष का पोला भाग बना हुआ है जिससे आवागमन आदि बनता है और द्यु के परमाणुओं में सत् की प्रधानता अर्थात् प्रकाश की मात्रा अधिक है अतः वह प्रकाशमय स्थान है। आइनोस्फियर यही मण्डल है। वेद ने बताया कि पृथिवी से तरंगित हुई विद्युत् की धाराएं इस द्युलोक का स्पर्श करती हैं और मध्य का जो सोम भाग है उसको ग्रहण करती हैं। यह विज्ञान पूर्व मन्त्र में हमें बताया।

यज्ञ का द्युलोक से स्पर्श करने पर प्रत्यावर्तन

इसी विज्ञान को निम्न मन्त्र में भी वर्णन करते हुए पात्र विशेष में निषिंचन करके प्राप्त होने का वर्णन है—

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः।
अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयꣳ शुक्रो अयामि ते॥ (यजुः ३३।८५)

अर्थात् हे वायो! हमारे द्युलोक को स्पर्श करने वाले यज्ञ में आप उत्तम संकल्पों के साथ आइए और आकार पात्र के मध्य में स्थान विशेष पर जो होतृचमस से निषिच्यमान यह निर्मल, शुद्ध, अस्पष्ट, अनएक्सपोज्ड, सोम, उत्पत्ति सामर्थ्य का तत्त्व अनडेवलप्ड स्थिति में है वह तुम्हारा भाग है वह तुमको

प्राप्त करा रहा हूं या तुम्हारे लिए नियत, स्थिर कर रहा है।

पूर्व मन्त्र—उभा देवा दिवि स्पृशेन्द्रवायू०—में बताया था कि विद्युत् एवं उसकी धाराएं पृथिवी एवं द्यु के मध्य भाग में जो जो निष्पन्न होने वाले तत्त्व हैं उनको सूक्ष्म रूप से अपने में ग्रहण कर लेता है उसी ग्रहण किये हुए को प्रसन्न रूप से यज्ञ स्थल के पात्र विशेष के अन्दर स्थित शुद्ध तत्त्व में उसको प्रक्षिप्त कर देता है। अर्थात् विद्युत् की प्रवाहित तरंगें द्युलोक को स्पर्श करके वापस आती हैं तो उनको पात्र विशेष में निर्मल तत्त्व पर नियत, स्थिर किया जा सकता है। अर्थात् यह क्रिया यज्ञ की अन्तरिक्ष के सूक्ष्म तत्त्वों का दर्शन, यज्ञ के पात्र विशेष में भरे शुद्ध तत्त्व पर प्रतिबिम्बित होकर कराती है।

इसी बात को निम्न मन्त्र भी प्रकट कर रहा है कि यज्ञ का द्युलोक से प्रत्यावर्तन हमारे सुख के लिए होता है।

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः। (यजुः ८।४)

अर्थात्—देवानां यज्ञः सुम्नं प्रत्येति—विद्वान् वैज्ञानिकों का यज्ञ सुख-प्राप्ति के हेतु प्रत्यावर्तित होता है अर्थात् वापस आ जाता है। पूर्व मन्त्र में जो यज्ञ को दिविस्पृशं बताया था वह यज्ञ—प्रत्येति —द्युलोक से वापस आ जाता है। यह यज्ञ का प्रत्यावर्तन सुख के लिए होता है। हे सूर्यवत् तेजस्वी पूर्ण विद्या वाले लोगो! तुम लोग भी वैसे ही सुखकारी हमारे लिए बनो जैसे कि यज्ञ सुखकारी होता है।

यज्ञ का यह प्रत्यावर्तन—द्युमण्डल से जिसे पूर्व हमने आयनोस्फियर बताया था वहां से हो जाता है क्योंकि वहां के सत्त्वप्रधान प्रकाशशील एवं रजोयुक्त, गतिशील परमाणुओं के तेज से प्रत्यावर्त्तित हो जाता है। लघु त्रिलोकी में यही द्युलोक है। यज्ञ रूपी विष्णु इस त्रिलोकी में व्याप्त हो जाता है और पुनः वहां से प्रत्यावर्तित हो जाता है। यज्ञ की दीप्तियां या उससे उत्पन्न विद्युत् तरंगें द्युलोक को स्पर्श करके तो लौटती ही हैं परन्तु पृथिवी और अन्तरिक्ष के भाग से भी लौटती हैं यदि वे इतनी शक्तिशाली न हों कि द्युलोक तक पहुंचे। इस स्थिति को निम्न मन्त्र में वेद ने बताया है:—

यज्ञ का द्युलोक एवं मध्य स्थानों से भी प्रत्यावर्त्तन

दिवि विष्णुर्व्यक्रँस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो
यो ऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रँस्त
त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो यो ऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं
द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रँस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो
निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः…॥ (यजुः २।२५)

अर्थात् यज्ञ जगती छन्द के द्वारा द्युलोक को प्राप्त होता है वहां से वह विभाग को प्राप्त होकर जो हमसे द्वेष करता है या हम जिससे द्वेष करते हैं उसको नष्ट करता है। इसी प्रकार यज्ञ अन्तरिक्ष लोक में भी त्रिष्टुभ छन्दों से जाता है और वहां से भी वह विभाग को प्राप्त कर लौटता है और जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं उसका नाश करता है तथा यज्ञ गायत्री छन्द से पृथिवी पर विचरण करता है और वहां से विभाग को प्राप्त होकर पुनः लौटकर जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं उनको नष्ट करता है।

दिव्य चक्षु से द्युमण्डल का दर्शन

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि छन्दों की विविध शक्ति से यज्ञ की भी गति पृथक्-पृथक् होती है। और इस प्रकार यज्ञ जिस-जिस शक्ति से जिस-जिस स्थान पर पहुंचता है वहां से वह पुनः प्रत्यावर्त्तित भी होता है। यज्ञ से उत्पन्न तरंगों की इस गति एवं आगति को विद्वान् वैज्ञानिकगण या योगी विद्वान् भौतिक दिव्य चक्षुओं से या जो आध्यात्मिक दिव्य चक्षु हैं उससे देखते हैं। वह चक्षु इस विशाल ब्रह्माण्ड में फैली हुई आँख के सदृश है जैसा कि निम्न मन्त्र में बताया है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ (यजुः ६।५)

इस मन्त्र में विष्णु अर्थात् यज्ञ का जो परम पद—स्थान है उसको विद्वान् लोग सदा देखते हैं मानो जैसे प्रकाशमय मण्डल द्युभाग में चक्षु फैली हुई है।

यज्ञ का या विष्णु का परम पद द्युलोक आदित्य मण्डल या द्युमण्डल ही है। उसको वैज्ञानिक भौतिक यज्ञ के द्वारा क्रियामय दिव्य एवं व्यापक यान्त्रिक विस्तृत चक्षु से एवं योग यज्ञ में रत ब्रह्मनिष्ठ योगी दिव्य आध्यात्मिक चक्षु से या समाधि से सदा देखते हैं। उस द्यु को सदा देखने से, उसका ज्ञान प्राप्त होता है और उसके अन्दर होने वाली गतियों एवं परिवर्तनों का ज्ञान होता है तथा विद्युत्, प्रकाश, महान् शक्ति आदि का ज्ञान एवं दर्शन होता है।

दिव्य चक्षु का निर्माण

शिल्प-विज्ञानियों की यह विस्तृत चक्षु भौतिक साधनों से निर्मित होती है और उसमें विद्युत् शक्ति से ही कार्य होता है। नेत्र की काली पुतली के सदृश पृष्ठ भाग से उभरा हुआ भीतर से खात वाला ४-६ फुट या जैसी आवश्यकता हो इतने व्यास का केन्द्र में जिसका ढाल सीधा होता है। (।) 

 इस आकार की दिव्य चक्षु होती है जिसे एण्टिना कहते हैं और वेद में कनीनिका कहते हैं। इसमें बालों सदृश अत्यन्त सूक्ष्म एवं मुलायम ताम्र के तारों की कुंडलिनी जिसे अंग्रेजी में काइल कहते हैं होती हैं। जिस प्रकार से हमारे शरीर-यन्त्र की दर्शन-शक्ति नेत्र की बाह्य पुतली से दर्शन कराती है, पदार्थों के रूप को बाहर से ग्रहण करती है और शरीरस्थ आभ्यन्तर यन्त्रों के द्वारा दर्शन होता है उसी प्रकार इस यन्त्र की यह एण्टिना अपने में से इलेक्ट्रोमेगनेट वेव नियत शक्ति से बाहर प्रसारित करती है और वे वेव्स जब द्युमण्डल—आयनोस्फियर तक पहुंचती हैं तो वहां से उन.ा प्रत्यावर्त्तन होता है और वह प्रत्यावर्त्तन इसी एण्टिना के द्वारा होता है और उसका दर्शन सम्बन्धित यन्त्र में होता है। उस प्रत्यावर्त्तन में अन्तरिक्ष में जहां व्यवधान होता है, उस व्यवधान का आकार यन्त्र में प्रदर्शित होने लगता है। अर्थात् तद्रूप विद्युत् धाराओं का प्रदर्शन हो जाता है।

वेद ने दर्शन-शक्ति के लिए कहा है—

चक्षुषे मशकान्। (यजुः २४।२९)

अर्थात् दर्शन-शक्ति के लिए मशक—मच्छर सदृश अत्यन्त सूक्ष्म प्राणियों के दर्शन की शक्ति को प्राप्त करे। मच्छर हमारे पास आने पर भी नहीं दीखता है। कुछ बड़े-बड़े मच्छर तो समीप में दीख जाते हैं परन्तु सूक्ष्म तो बहुत कम ही दीख पाते हैं। परन्तु जब वे हमसे कुछ थोड़े भी दूर हों तो हमें नहीं दीखते और यदि वे अत्यधिक दूर हों तो वे दीख भी नहीं सकते। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में अति दूर होने पर जो पदार्थ हमारे समीप में हमें दृष्टिगोचर होते हैं वे भी मशकवत् दूर हो जाने पर हमसे अदृश्य हो

जाते हैं। अतः अपनी दर्शन-शक्ति को बढ़ाने के लिए हमें उनके दर्शन का प्रयत्न करना चाहिए जिससे अन्तरिक्ष की दूर से दूर एवं सूक्ष्म वस्तु का दर्शन कर सकें।

वेद ने पुनः इसके बारे में और अधिक आगे बढ़ने के लिए निम्न मन्त्र में प्रेरणा दी—

मशकान् केशैः (यजुः २५। ३)

मच्छरों का दर्शन केश प्रणाली से हो सकता है। अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म दर्शन-शक्ति के लिए केशवत् अत्यन्त सूक्ष्म एवं मुलायम ताम्र के तन्तुओं की कुण्डलिनी—कायल-बनाकर प्रयोग करे और—

विद्युतं कनीनकाभ्याम्। (यजुः २५। २)

इन कनीनिकाओं का विद्युत् से प्रीणन—सिंचन करे। इस प्रकार कनीनिका क्रियाशील होती है। ये कनीनिका सूक्ष्म केशों की कुण्डलिनी-कायल-से बनती है जिसको वर्तमान वैज्ञानिक परिभाषा में अंग्रेजी में एण्टिना कहते हैं। एण्टिना के सूक्ष्म तन्तु ही वास्तव में सूक्ष्म विद्युत् तरंगों को ग्रहण करते हैं। उन्हीं को ग्राहक यन्त्र-रिसीवर यन्त्र ग्रहण करके—विस्तारक यन्त्र-एम्प्लीफायर को प्रदान कर देते हैं और ये अन्य ग्राहक यन्त्र को—रिसीवर को दे देते हैं और उनसे पुनः दृश्य एवं श्राव्य यन्त्रों के माध्यम से वे रूप या शब्द को दृश्य या श्राव्य रूप में परिणत कर देते हैं।

मशकान् केशैः—के अर्थ को अच्छी प्रकार समझने के लिए हमने अंग्रेजी कोष में जब—एण्टिना—शब्द के अर्थ को देखा तो उससे ज्ञात हुआ कि वे सूक्ष्म केश सदृश तार जिनके द्वारा मच्छर आदि सूक्ष्म जीवों का दर्शन होता है। अतः मशकान् केशैः वेद-वाक्य का अर्थ इससे अति स्पष्ट हो गया।

इस प्रकार के अनेक वैज्ञानिक रहस्य वेद में भरे हुए हैं और वर्तमान विज्ञान को भी अग्रसर होने में प्रेरणा देते हैं। वेद के एक-एक शब्द में महान् विज्ञान भरा हुआ है उसकी साधना भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों साधनों से हो सकती है। आध्यात्मिक साधन के लिए आध्यात्मिक आश्रमों की आवश्यकता है और भौतिक साधनों से वेद के विज्ञान के विकास के लिए प्रयोगशाला की आवश्यकता है। आज जितनी अपार राशि प्रत्येक देश में इस भौतिक विज्ञान के विकास के लिए व्यय की जा रही है यदि वैदिक विज्ञान के लिए भी अर्पित की जाती तो वैदिक विज्ञान व्यवहारोपयोगी स्थिति में प्रवर्त्तमान होता।

(२)

अग्नि विज्ञान द्वारा अन्तरिक्ष गमन

वेद-मन्त्रों में अग्नि को दिव्य और सुपर्ण कहा गया है। सुपर्ण का तात्पर्य है जिसके द्वारा आकाश में गमन होता है। दिव्य का अर्थ है जो अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में होने वाला है। अतः अग्नि द्वारा विमानादि यानों से आकाश में उड़ने की क्रिया सिद्ध होती है। इस निमित्त निम्न मन्त्र वेद में आता है—

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम्॥ (यजुः १८। ५१)

इस मन्त्र में अग्नि का प्रयोग अन्तरिक्ष के ऊपर के सुखमय, श्रेष्ठ लोगों में जाने के लिए किया है। इस अग्नि के विशेषण—दिव्यं, सुपर्णं, वयसा बृहन्तम्—ये प्रयुक्त किये हैं। अर्थात् यह अग्नि दिव्य है, साधारण अग्नि से भिन्न है और श्रेष्ठ भी है क्योंकि उसको विद्वान् लोग उत्पन्न करते हैं। वह

दिव्य अग्नि—सुपर्ण है, जिसके द्वारा उत्तम रीति से आकाश में पक्षिवत् गमन क्रिया और अन्य स्थानों पर जाने की क्रिया होती है। वह अग्नि धूम्र से महान्—आकार या आयतन में होने की तथा उसके द्वारा बल वृद्धि की सामर्थ्य रखती है। इस अग्नि में धूम्र – गैस – से महान् शक्ति निर्माण करने के लिए, जिसके बल से इसमें गतिशीलता आती है, उसके लिए—शवसा घृतेन—घृत के बल से यह शब्द आया है। घृत का तात्पर्य तरल, तेजस्वी, ज्वलनशील पदार्थ है तथा घृत का अर्थ जल भी है, जिसकी वाष्प रूप परिणति आयतन में विस्तार को प्राप्त होकर चालक यन्त्र को गति देती है।

इस प्रकार मन्त्र स्पष्ट रूप से कहता है कि हम दिव्य, सुपर्ण और महान् अग्नि में तरल तेजस्वी पदार्थों के बल से अन्तरिक्ष के श्रेष्ठ, सुखमय स्थानों पर तथा लोक लोकान्तरों के ऊपर के भी लोक में पहुंच सकते हैं।

इसी प्रकार का वर्णन यन्त्र की चालक शक्ति के ईंधन के लिए निम्न मन्त्र में उपलब्ध होता है—

यत्र धारा अनपेता मधोर्घृतस्य च याः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥ (यजु० १८।६५)

अर्थात् जिस अग्नि में निरन्तर, अनुकूल, तरल एवं तेजस्वी पदार्थ की धारा और मधु सदृश गाढ़ द्रव द्रव्य की धाराएँ पड़ती हैं या जिसमें दो विभिन्न प्रकार की धाराओं से निरन्तर अग्नि से ऊर्जा समृद्ध होती रहती है, वह निरन्तर प्रदीप्त रहने वाली अग्नि – वैश्वकर्मण – संज्ञक है, जो कि सब कार्य को सिद्ध करने वाली है। वह अग्नि हमें स्वर्गलोक जो कि पृथ्वी मण्डल से बाहर, सूर्य मण्डल के भी परे के लोक में, देवताओं के समीप पहुंचाती है। अतः इस मन्त्र में अग्नि द्वारा लोक लोकान्तर गमन के कार्य का उल्लेख है।

इस मन्त्र में मधु और घृत दोनों शब्द विचारणीय हैं। घृत जल को भी कहते हैं और घृत तेजस्वी पदार्थों को जिनसे अग्नि समिद्ध होती है और जिनका धूम्र गैस रूप में,आयतन में बढ़ कर यन्त्र को चलाने में समर्थ बनाता है उसको भी कहते हैं। यानों के यन्त्रों के संचालन में जल और जल सदृश तेजस्वी पदार्थ पैट्रोलियम आदि की आवश्यकता रहती है और मधु का तात्पर्य मधु सदृश गाढ़ा द्रव्य जों यन्त्र के पिस्टनादि की गति को स्नेहसहित रखकर गति संचालन करने में सहायक होता है, ऐसे द्रव्य की भी आवश्यकता रहती है जो कि मोबिल आयल सदृश कार्य करें। अतः वेद ने यान, विमान आदि की अग्नि के लिए ईंधन का इसमें ज्ञान दिया है।

स्वशक्ति चालित विमान

परन्तु अन्य भी प्रकार हो सकते हैं और उनके द्वारा भी यान, विमानादि की गति का संचालन हो सकता है इसका ज्ञान निम्न मन्त्र से होता है :—

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठात् नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः।
ता आ ऽववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः॥ (यजु० १०।१९)

अर्थात् - वृषभस्य पृष्ठात् स्वसिच इयाना नावः प्रचरन्ति—मूल एवं महान् उत्पादक शक्ति को सेचन करने की सामर्थ्य वाले, पर्ववान्, अनेक आवरणों से युक्त उच्च स्थान के ऊपर अधिष्ठित अर्थात् आश्रित होकर शक्ति को स्वयं सिंचित अर्थात् शक्ति को पुनः-पुनःसतत रूप में उत्पन्न करनेवाली, गतिशील क्रिया से आकाश में नावें चलती हैं जिस प्रकार से पृथ्वीस्थ विशाल समुद्र में नावें चलती हैं उसी

प्रकार अन्तरिक्षस्थ समुद्र में भी नावें—यान विमान आदि चलते हैं। अर्थात् समुद्र और अन्तरिक्ष में जिस प्रकार से नाव, जहाज, यान, विमान आदि चलते हैं उसी प्रकार की गति पर्वतस्य पृष्ठात्—ऐसे उच्च शिखर से जिसमें—वृषभ—शक्ति-वर्षण की सामर्थ्य है उसके द्वारा अन्तरिक्ष में नावों को, यान, विमानों या राकेटों को चला सकते हैं। परन्तु उन नावों या राकेटों में—स्वसिच इयानाः—स्वयमेव गति संचित करने की, अर्थात् स्वयमेव शक्ति-निर्माण की, विना बाह्य ईंधन के प्राप्त किये होनी चाहिए।

ऐसी नावें-विमान, राकेटादि—उदक्ताः बुध्न्यं अहिम् अनुरीयमाणाः अधराक् आववृत्रन्—ऊपर को जाते हुए अन्तरिक्षस्थ मेघों की गतियों का अनुसरण करते हुए नीचे उतरें। अर्थात् उस पूर्वोक्त-स्वसिचशक्ति से गति मेघों के ऊपर के प्रदेश द्युलोक में, मेघों के प्रदेश अर्थात् मध्यस्थ भाग अन्तरिक्ष में एवं पृथिवी पर भी होती है। इस प्रकार की त्रिविध गति हो।

यही-स्वसिच-शक्ति जो अनेक आवरणयुक्त होने से केन्द्र में अतिसूक्ष्म है। विष्णु रूप से वामन, अत्यन्त लघु-परमाणु रूप है। यह परमाणु शक्ति अत्यन्त शक्तिशाली है। स्वसिच होने से स्वयं शक्ति का अजस्र केन्द्र है। वैदिक विज्ञान की भाषा में यह वैष्णवी-शक्ति है जिसे एटामिक एनर्जी कह सकते हैं। परमाणु-परमाणु में सृष्टि के लघुतम रूप में वह शक्ति वामन रूप से व्याप्त है। उस शक्ति का जब हम विमान, यान, राकेटादि में प्रयोग करते हैं तो उसके पराक्रम से वह पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थ लोकों की ओर भी गति करता है और पुनः अधराक् आववृत्रन्-उसी शक्ति से पृथिवी पर भी उसका आगमन हो जाता है। इस प्रकार इस मन्त्र से गति प्राप्त करने के अन्य साधनों का भी ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

अश्वि शक्तियों से विमान का संचालन

शक्ति के स्रोतों का वेद और भी संकेत प्रदान करने के लिए अश्वियों के उपयोग का निम्न मन्त्र में वर्णन प्राप्त होता है—

या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा।
अश्विना ता हवामहे ॥ (ऋ० १।२२।२)

अर्थात् यौ दिविस्पृशौ, रथीतमौ, सुरथौ, देवौ, अश्विनौ स्तः, तावुभौ हवामहे स्वीकुर्मः—हम लोग जो द्युलोक को स्पर्श करने वाले, अत्यन्त प्रशंसनीय रथों को सिद्ध कराने वाले, उत्तम रथ जिनसे सिद्ध होते हैं, वे प्रकाशादि गुण वाले, व्याप्ति स्वभाव वाले अग्नि और जल विद्युत् और वायु, ऋण धनात्मक उभयशक्तियुक्त विद्युत् है। इनको ग्रहण करते हैं। अर्थात् रथ, यान, विमानादि का दिविस्पृशा द्युलोक तक ले जाने की सामर्थ्य इनके द्वारा प्राप्त हो सकती है।

इस मन्त्र में—अश्विनौ—शब्द है। यह दो संयुक्त शक्तियों का द्योतक है। जो-जो दो-दो शक्तियां मिलकर पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में रथ, यान, विमानादि की गति को सिद्ध कर सकती हैं वे अश्विनौ पद वाक्य हैं। अग्नि-जल, अग्नि-वायु, वायु-विद्युत्, ऋण-धनात्मक विद्युत्, इलेक्ट्रोन प्रोटीन आदि-आदि तत्त्वों की द्वन्द्वात्मक शक्तियां जो शक्ति को उत्पन्न करके गमनागमन क्रिया को सिद्ध करें अश्विनौ हैं। वायु या गैस की शक्ति के द्वारा ऊर्ध्वाधः गमन की यन्त्र में जो क्रिया होती है वह भी अश्विनौ संज्ञक है। जल शब्द जहां प्रत्यक्ष जल का बोधक है वहाँ वैज्ञानिक परिभाषा में तरल पदार्थों का भी बोधक है।

अश्वियों के तीव्र गतियुक्त रथ

अश्वियों के प्रयोग से जो रथ चलते हैं वे दूरी को शीघ्र पार करने की सामर्थ्य रखते हैं अतः तीव्र गति वाले होते हैं यह ज्ञान निम्न मन्त्र से प्रतीत होता है—

नहि वामस्ति दूरके यत्रा रथेन गच्छथः ॥
अश्विना सोमिनो गृहम् ॥ (ऋ० १।२२।४)

अर्थात् जिस रथ में अश्वियों का प्रयोग होता है, उन रथों से, यानों से, विद्या, शिल्प, विज्ञान-वेत्ता लोग अपने यथेच्छ घर को जाते हैं। वह दूर स्थान भी अश्वियों की शीघ्र गति के कारण दूर नहीं रहता है।

विमान-विज्ञान

विमानों द्वारा लोकान्तरगमन

वेद ने विमान, यानादि की गति के साधन के बारे में अनेक प्रकार से हमें प्रेरणा दी है—और लोक लोकान्तर में भी गमन सामर्थ्य तथा जाने की प्रेरणा दी है। निम्न मन्त्र में और भी विशेष वर्णन लोक लोकान्तरों में गमन के लिए प्राप्त होता है—

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याᳩ रक्षाᳩ स्यपहᳩ स्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥ (यजुः १८।५२)

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि अग्नि जिस प्रकार के यन्त्रमय शरीर में स्थापित किया जायगा उसमें वह क्या करेगा? मन्त्र में बताया है कि—हे अग्नि! इस यन्त्रमय विमानरूपी शरीर में जिसमें आरूढ़ होकर हम अन्तरिक्ष में जाना चाहते हैं उसके ये जो उत्तर एवं दक्षिण भाग में दो सुदृढ़ पंख हैं, जो कि—पतत्रिणौ—अर्थात् जिनके द्वारा इधर उधर नीचे ऊपर गमन होता है और उन पंखों से उड्डयन की विघ्न बाधाओं का संरक्षण होता है। उनके आश्रय से हम उन उत्तम कर्ममय लोकों को प्राप्त हों, जहां पर कि पहले के ऋषि-मेधावीजन विज्ञान के आश्रय से जा चुके हैं जैसा कि—यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः—इन शब्दों से स्पष्ट है। अतः लोक लोकान्तरों में भौतिक साधन एवं विज्ञान से विमान आदि द्वारा अवश्य गमनागमन हो सकता है इसके अत्यन्त दृढ़ विश्वासार्थ पहले के ऋषि भी गये यह सनातन सिद्धान्त भी दर्शाया है।

विमान की रचना

वेद में एक ही मन्त्र में, एक ही स्थल पर वर्तमान में प्रचलित विद्याओं का पूर्ण दर्शन नहीं होता, अपितु उसमें किसी एक अंग का एक मन्त्र में वर्णन प्राप्त होता है तो उसकी अन्य बातों का अन्य अनेक स्थलों पर विविध मन्त्रों में पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है। उपरोक्त विमान विषयक उड्डयन यन्त्र के पंखों का वर्णन पूर्व मन्त्र में उपलब्ध है। परन्तु विमान के अन्य अंगों के नामों का वर्णन एक अन्य मन्त्र में निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ।
स्तोम आत्मा छन्दाᳩ स्यङ्गानि यजूंषि नाम।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत॥ (यजुः १२।४)

अर्थात् गरुत्मान् संज्ञक विमान शोभन पंख वाला है, अतः इसकी सुपर्ण संज्ञा भी है। प्राचीन समय में—सुपर्णचिति याग एवं श्येनचिति याग द्वारा इस प्रकार के विमान बनाने का शिक्षण, प्रदर्शन एवं कार्य किया जाता था। इन यागों द्वारा किस प्रकार उन यानों की इष्टकाओं-अंगरूप भागों का, यन्त्रादि-चयन करना, उनका परस्पर संयोग करना, यान का अग्र भाग कैसा और कैसे बनाना, पंख कैसे बनाना, अग्नि का स्थापन कहाँ होना आदि सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता था तथा उसको पृथिवी मण्डल के कक्ष्य में ही परिक्रमण कराते रहना, अन्य लोक-लोकान्तर में भेजनादि कार्य यज्ञशाला रूपी बृहत्प्रयोगशाला से अथवा केन्द्रीय शाला में किये जाते थे।

सुपर्णचिति यान लोकलोकान्तरों में गमन करने वाले होते हैं अतः मन्त्र में उनके द्वारा लोक-लोकान्तर-गमन का वर्णन है। परन्तु श्येनचिति यान छोटे यान होते हैं। वे बहुत ऊंचे नहीं उड़ते हैं और श्येन की तरह एकदम नीचे भी आ जा सकते हैं। घरों पर भी आ जा सकते हैं। वेद में श्येनचिति यानों के बारे में आता है—

श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान्गच्छ तन्नौ संस्कृतम्। (यजुः ४।३४)

अर्थात् जो यजमान एवं ऋत्विजों द्वारा सुसंस्कृत, परिष्कृत यान है यह श्येन रूप से आकाश में गमन करता हुआ यजमान के गृह को पहुंचे। आज भी यानों के अनेक भेद हैं। श्येनचिति यान छोटे होते हैं और—नौ—शब्द से हम तुम दोनों के ही अर्थात् दो व्यक्तियों के बैठने एवं उड्डयन के लिए ही उपयोगी होते हैं, यह भी ज्ञात होता है और घरों पर या छोटे स्थानों पर भी श्येन पक्षी के तुल्य एकदम नीचे भी उतर सकते हैं, यह प्रतिपादन किया। इनकी गणना वर्तमान समय में हेलीकाप्टर यानों के अन्तर्गत हो जाती है।

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्० यह मन्त्र गरुत्मान् संज्ञक सुपर्णचिति यान के अंगों का वर्णन करता है जो—दिवं गच्छ स्वः पत—द्युलोक में भी जा सकता है और सुख विशेष के लोकों में पहुंचता है। आज के बड़े-बड़े जेट आदि यान तथा तीव्र गति वाले लोकान्तरों की कक्षा में उड़ने वाले एवं लोकान्तरों में पहुंचने वाले राकेटादि सुपर्णचिति यान के चयन भाग के ही विविध रूप हैं। भेद केवल यही है कि वेद ने इन विमानों से मनुष्यों को उन लोकों में पहुंचने को भी लिखा और अभी हमारा पाश्चात्य विज्ञान वहां मानव को भेज नहीं सका है, अपितु मानव को भेजने के प्रयत्न में संलग्न है।

यान का अग्रभाग कैसा हो

इस मन्त्र में यान की रचना के लिए बताया है कि—त्रिवृते शिरः—तेरे यान के शिर का भाग अर्थात् आगे का जो भाग है या जो शिरोवत् प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण भाग है, जैसे हमारे शिर में संचालन का केन्द्र है उसी प्रकार यान में भी संचालन-यन्त्र अग्रभाग में ही रहते हैं वहीं यान का सर्व प्रकार है शिरोभाग है, वह—त्रिवृत्—तीन आवरण वाला है। तीन आवरण, सुरक्षा, गति और संचालन की दृष्टि से होने चाहिएं। आज तो सामान्य मोटरों के अग्रभाग में भी तीन आवरण रक्षार्थ रहते हैं। पहला रक्षक आवरण बम्पर का, दूसरा हेड कवर का, तीसरा भीतर का होता है अतः यानों के भी तीन आवरण होने चाहिएं। यान के बाह्य शरीर के साथ आवरण प्रथम आवरण है। उसके पश्चात् यन्त्र भाग का आवरण है। जिसमें यन्त्र होते हैं। तीसरा आवरण यन्त्र एवं यन्त्र संचालक के मध्य का है जिससे निर्विघ्न रूप से यान-संचालक यान-यन्त्रों का संचालन करता है और बैठकर क्रिया करता है। इस प्रकार यान का शिर या अग्रभाग तीन आवरण वाला होता है और होना भी चाहिए।

संचालन-कक्ष

यन्त्र भाग के समाप्त होते ही जहाँ यान-संचालक-कक्ष है वह संचालकों के यन्त्रों के देखने का स्थान तथा बाह्य प्रदेश के देखने का स्थान है इसको वेद ने—गायत्रं चक्षुः—गायत्र भाग दर्शन-कार्य के निमित्त बताया है इस स्थान से देखते हुए संचालनादि क्रिया, यान को ऊपर, नीचे ले जाने की क्रिया, बाह्य आपत्तियों, विघ्नों को देखने और उनसे रक्षा करके बचाने आदि की क्रिया करने का ज्ञान एवं सुविधा होती है अतः उसे चक्षु संज्ञक कहा। अतः रक्षण, मार्गदर्शनादि कार्य सम्पन्न करने का ज्ञान जिस स्थल से यान-चालक प्राप्त करते हैं वह—गायत्रं चक्षुः—वेद में कहा है। इसके अतिरिक्त त्रिविध प्रकार की दर्शन-शक्ति, स्थूल, सूक्ष्म एवं अतिसूक्ष्म—समीप दूर एवं परोक्ष, देश, काल एवं दिशा का दर्शन, गति, स्थिति एवं लय—विकार, विपत्ति एवं विनाशसूचक भाग जहां प्रथम एवं स्पष्ट रूप से दीखता है वह उस यान का गायत्र संज्ञक भाग है।

यान के पंख

इन यानों के पंखों के लिए इसी मन्त्र में कहा है—बृहद्रथन्तरे पक्षौ—अर्थात् बृहत् और रथन्तर इसके दोनों पंख हैं। बृहत् का तात्पर्य है बड़ा और रथन्तर का तात्पर्य है जो रथ को, यान को ले जाने वाला हो। पंखों के आधार से जैसे पक्षी आकाश में यथेच्छ गति करता है उसी प्रकार यान में भी पंखों से उड्डयन गति में महान् सहायता प्राप्त होती है। वेद में विमान के लिए रथ शब्द का भी प्रयोग आता है।—वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरागहि—(यजु० २७।१२) यहां विमानों के लिए वायु के रथ शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः विमानों के पंखों का नाम रथन्तर अत्यन्त सार्थक है। इन पंखों की विमान को ले जाने में अत्यन्त उपयोगिता है ही।

यान की ध्वनि

इस मन्त्र में—स्तोम आत्मा—स्तोम को आत्मा कहा गया है। आत्मा से ही जीवन माना जाता है। जीवन की स्थिति स्तोम से है। ध्वनि, नियमित ध्वनि जीवन का चिह्न है। जब कोई यन्त्र या विमान का जीवन-संचालक इंजन गति करता है तो उसमें से ध्वनि—स्तोम—उत्पन्न होता है जिसमें से यह ध्वनि उत्पन्न ही न हो वह निष्क्रिय, निश्चेष्ट है। अतः स्तोम रहित विमान जीवन रहित, गति रहित, उड़ने में असमर्थ ही है। स्तोम—स्तुति, गीत, लयबद्ध ध्वनि को कहते हैं। इसके अतिरिक्त समूह को तथा सामूहिक अनुपात को भी स्तोम कहते हैं। विमान यान में यन्त्र-समूहों का अपने-अपने क्षेत्र में संघटन, संग्रह तथा उनका परस्पर अनुपात और उसके द्वारा अपने-अपने कार्य की गति से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वही उस विमान, यान की आत्मा है। वही ध्वनि उसका जीवन-चिह्न है। जिस यान के यन्त्र चलते ही नहीं उसमें ध्वनि—स्तोम—उत्पन्न नहीं होता। अतः स्तोम की आत्मा रूप से यान में उपमा वेद ने दी है जो कि अत्यन्त संगत एवं समुचित होती है।

यान के अंग

यान के यन्त्र-समूहों की पृथक्-पृथक् स्थिति—छन्दांस्यङ्गानि—के रूप में मन्त्र में कही गई है। विविध छन्दों से यान के अंगों का निर्माण हुआ है। छन्द पृथक्-पृथक् हैं। विविध कार्य के यन्त्रों के समूह जो एक प्रकार के कार्य का सम्पादन करते हैं वे अलग-अलग छन्दों के नाम से कहे जाने योग्य हैं। उन यन्त्रों के पृथक्-पृथक् विभाग - यजूंषि नाम—यजु रूप हैं। छन्द एक ही प्रकार के यन्त्रों का समूह है जो कि एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया को पूर्ण करते हैं। परन्तु उनमें जो यन्त्र होते हैं उनकी

भी पृथक्-पृथक् संज्ञा है अतः वे अंग रूपी यन्त्र यजुः संज्ञक हैं। यजुः से यजन अर्थात् कर्म होते हैं। अतः छन्दों के कर्म का ये अंग रूप यन्त्र-कलायें कर्म-सम्पादन करती हैं।

विमान का तनू भाग

विमान का तनू भाग, विस्तार भाग अर्थात् शरीर न हो तो उसका उपयोग कैसे होगा। यन्त्र-भाग एवं संचालन-भाग के पश्चात् जो बैठने के लिए भाग होता है वही विमान का तनू है। इसके लिए वेद ने कहा—साम ते तनूर्वामदेव्यम्—जो लम्बायमान रिक्त स्थान बठने के लिए है वह इसका वामदेव्य संज्ञक साम शरीर है। वामदेव्य संज्ञा का कारण यह है कि मूल ऋचा से जो वामदेव्य साम बनता है वह उससे अधिक बड़ा होता है और उस वामदेव्य साम का प्रयोग सुख और शान्ति निमित्त होता है। अतः यान का मध्य भाग जो शरीरवत् आकार में बढ़ाया गया है और जिसमें सुख एवं शान्ति से निवास एवं गमन होता है वह वामदेव्यम् भाग है।

पुच्छ भाग

प्रत्येक गृह में जिस प्रकार उपयोगी वस्तुओं के संग्रह का स्थान होता है और जिन वस्तुओं का उपयोग ले लिया और उनकी पुनः आवश्यकता रहती है या आवश्यकता न रहे तो उनको किसी सुरक्षित स्थान पर रख देते हैं, उसी प्रकार विमान में भी एक नियत स्थान पर आवश्यक एवं अनावश्यक वस्तुओं के रखने का संग्रह-स्थान बनाना पड़ता है। वह भाग आगे भी नहीं होना चाहिए। मध्य में भी नहीं होना चाहिए अपितु ऐसे भाग में होना चाहिए जो प्रमुख न हो। अतः ऐसा स्थान पीछे ही होगा। विमान का पीछे का भाग ही पुच्छ भाग है। जैसे पक्षी का पुच्छ भाग पीछे होता है उसी प्रकार विमान का भी पक्षी की पुच्छ सदृश जो भाग होता है वह विमान की पुच्छ है और उस भाग में ऐसा संग्रह-स्थान होना चाहिए। वेद ने इस मन्त्र भाग से यह संकेत दिया। यह ऐसी वस्तुओं का प्रतिष्ठा भाग है।

यान के पृथिवी पर ठहरने का भाग

यान जिस भाग से किसी स्थान पर अपना निवास करता है और जिस भाग के बल से वह पृथिवी से शक्ति लगाकर ऊपर को गति करने में समर्थ होता है उसकी वेद ने धिष्ण्य संज्ञा दी है।—धिष्ण्याः शफाः—पक्षी की उपमा के साथ जिन शफवत् पंजों के आधार पर वह ठहरता है वह धिष्ण्य संज्ञक हैं—शफवत् हैं। विमान अपने नीचे के आधार रूप जिन पाद रूप पहियों के आधार पर निवास करता है वे शफवत् हैं। इस प्रकार के हे गरुत्मान् संज्ञक विमान! तुम सुपर्णोऽसि—अच्छे पंख वाले हो। दिवं गच्छ=अन्तरिक्ष में उड़ो और स्वः पत=सुख विशेष के स्थानों एवं लोकों में पहुंचो। इस प्रकार इस मन्त्र में विमान के विविध अंगों का और उनके कार्यों का वर्णन प्राप्त होता है।

विमान की गतियों का वर्णन

पूर्व मन्त्र के पश्चात् का मन्त्र विमान की अनेक प्रकार की गतियों का दिग्दर्शन निम्न प्रकार करा रहा है—

विष्णोः—क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽ आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व।
विष्णोः—क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दऽ आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व।
विष्णोः—क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽ आरोह दिवमनु विक्रमस्व।
विष्णोः—क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्दऽ आरोह दिशो नु विक्रमस्व। (यजु० १२।५)

यज्ञ अपने विचक्रमण क्रम के कारण अग्नि संयोग से सूक्ष्म एवं व्यापक होता है। अर्थात् आयतन में विस्तार को प्राप्त होता है। जब यज्ञाग्नि द्वारा किसी एक छोटे ही स्थान में आहुति शक्ति से धूम्र या गैस विस्तार को प्राप्त होगी तो वह ऊपर को ही गति करती है। यदि वह अपनी शक्ति से उसके बाह्य शरीर युक्त आवरण को ऊपर ले जाने में समर्थ हो जाती है तो वह उस शरीर को अथवा यान को ऊपर ले जायेगी। यदि उसकी उस शक्ति का पात इतस्ततः किसी मार्ग से एक दिशा या एक स्थान पर किया जाये तो वही अत्यन्त शक्ति से वहां से निर्गमन करेगी। यदि उस निर्गमन के मध्य में चालक-यन्त्र का संयोग कर दिया जाये तो वह शक्ति उस यन्त्र को चलाने में समर्थ हो जाती है।

इस प्रकार क्रमपूर्वक अवरोधक शक्तियों को जो चालक शक्ति के विघ्न या शत्रु रूप हैं उनको नष्ट करते हुए और विमान के भार को जो अवरोधक शक्तियों के रूप में हैं उनको शक्ति-संतुलन के द्वारा परास्त कर दिया जावे तो सर्वप्रथम वह गायत्र छन्द की गति को प्राप्त करता है। उससे उस विमान की गति पृथिवी के चारों ओर हो जाती है। परन्तु यदि इसी शक्ति को द्विगुण से कुछ न्यून कर दिया जावे तो उससे पृथिवी के ऊपर के अन्तरिक्ष में गति हो जाती है और इससे भी अधिक शक्तिपात करने पर द्युलोक के मण्डल में गति हो जाती है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् छन्द शक्तियों के समूह द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं लोक लोकान्तरों में गति होने का ज्ञान वेद से होता है।

जल-विज्ञान

(१)

जल की विविध उपयोगिता

जल तत्त्व अग्नि के विपरीत शीतलादि गुण वाला है। अग्नि उर्ध्वगमनशील है तो जल अधोगमनशील है। परन्तु जिस प्रकार से अग्नि तत्त्व के द्वारा अनेक प्रकार के उपयोगों से लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं, उसी प्रकार के अनेक लाभ जल से भी प्रकारान्तर से और पूरक रूप में भी प्राप्त किये जा सकते हैं। जिस प्रकार अग्नि तत्त्व की आवश्यकता विश्व के जीवन के लिए अनिवार्य रूप से है उसी प्रकार जल तत्त्व की भी विश्व के जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकता एवं उपयोगिता है।

जल माता के समान है

जल तत्त्व के बारे में वेद कहता है—

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु। (यजुः ४।२)

जल हमारी माताओं के तुल्य है। अतः हमारे मलों, विकारों, रोगों और दोषों आदि को अच्छी प्रकार शुद्ध करता है। जल जिस प्रकार से हमारी शुद्धि करता है उसी प्रकार से वह पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की भी शुद्धि करता है।

जल का पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में निवास

पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में जल द्वारा शुद्धि होने के कारण जल का निवास भी तीनों स्थानों में होना आवश्यक है। अतः वेद ने तीनों स्थानों में उसका निवास निम्न प्रकार बताया है—

त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम्। (यजुः १३।३१)

अर्थात् जलों का स्वामी, वर्षयिता, कामनाओं की पूर्ति के लिए, सुख प्राप्त कराने हारे, तीन प्रकार के—ऊपर नीचे और मध्य में रहने वाले समुद्रों में अच्छी प्रकार प्राप्त होता है। इस प्रकार जलों की स्थिति केवल पृथिवी पर ही नहीं है अपितु पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु इन तीनों स्थानों में समुद्र रूप से है। समुद्र के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में आता है—

समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः।

अर्थात् समुद्र स्रोतों का अधिपति है। यदि पृथिवी पर समुद्र न हो तो पृथिवी के जल के सोते सब शुष्क हो जावें। यदि अन्तरिक्ष का समुद्र न हो तो वृष्टि, मेघ और पृथिवी के सुन्दर-सुन्दर जल-प्रपात, झरने, नदी, तालाब, वन जीवनदायिनी कृषि तथा हिमाच्छादित पर्वतों की हिम सभी साकार न रहकर कल्पना की ही चर्चाएँ रह जावें। यदि द्युलोकस्थ समुद्र न हो एवं सूर्यमण्डल के चारों ओर

का अर्णव रूप समुद्र न हो तो काल चक्र का संवत्सरात्मक जीवन क्रम, हमारी दर्शन-सामर्थ्य एवं जीवन-सामर्थ्य नष्ट हो जावे।

सूर्य के चारों ओर वरुण तत्त्व

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। (ऋ० १।२४।८)

अर्थात् वरुणो राजा सूर्याय अन्वेतवे उरुं पन्थां चकार—वरुण राजा अर्थात् प्रकाश हेतु वायु सूर्य को गमनागमन के लिए विस्तारयुक्त मार्ग को सिद्ध करती है। इस मन्त्र में वरुण जिसकी संज्ञा है वह एक वायु है जो राजा है। राजा जैसे सर्वोपरि होता है उसी प्रकार से वरुण वायु सर्वोपरि है। राजा शब्द राजृदीप्तौ से बनता है अतः यह वरुण वायु विशेष सर्वोपरि होने के साथ दीप्तिमान् है। इसी वरुण को अपामधिपतिः—(अथर्व ५। २४। ४) जलों का स्वामी कहा है। अतः जल का यह स्वामी वरुण है। तथा—मित्रावरुणौ वृष्ट्याअधिपती (अथर्व० का० ५। २४। ५) मित्र और वृष्टि के अधिपति हैं अतः वरुण का सम्बन्ध जलों के निर्माण करने वाले तत्त्व से है।

इसी वरुण तत्त्व को उद्रजन - हाइड्रोजन—हमने आगे वृष्टि-प्रकरण में प्रमाणित किया है। इसी वरुण को उदान भी कहते हैं क्योंकि ऊपर की ओर गति प्रदान करने वाला है जैसा कि—उत् ऊर्ध्वम् अनतीत्युदानः—इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है। यह उदान—वरुण तत्त्व—सब से हलका होने से उदान है अतः राजा बनकर सब के ऊपर विराजमान है। इस मन्त्र में कहा है कि वरुण तत्त्व, उदान हाइड्रोजन ही सूर्य को मार्ग देता है। अर्थात् सूर्य के चारों ओर हाइड्रोजन गैस रूप में है उससे अपने तेज से बना रहता है और उसकी किरणों को उससे मार्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार वरुण तत्त्व का प्रकाश से सम्बन्ध है।

वरुण का नेत्र से सम्बन्ध

उस द्युलोकस्थ वरुण के अर्णव के माध्यम से सूर्य की विविध रश्मियां हमारे लिए, हमारी पृथिवी और हमारे अन्तरिक्ष के लिए अनुकूल बनकर जीवन को सांवत्सरिक क्रम से पुष्ट एवं संवर्धित करती हैं। जिस प्रकार सूर्य मण्डल का अर्णव रूप, समुद्र से आवृत होकर, परिस्थिति अनुकूल व्यवहार योग्य बना हुआ है उसी प्रकार सूर्य का प्रतिनिधि नेत्र भी जल के आवरण से आवृत होकर दर्शन क्रिया योग्य बना हुआ है। यदि नेत्र में जलीय तत्त्व न हो, वरुण तत्त्व की प्रधानता न हो तो हम देख भी नहीं सकते। नेत्रों का सम्बन्ध सूर्य एवं जल से है। अतः वरुण तत्त्व चक्षु में भी प्रधान है। यह निम्न वेद-मन्त्र प्रेरणा देता है—

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि॥ (यजुः ३३। ३२)

हे सूर्य! जिस पवित्र दर्शक शक्ति से रक्षण करते हुए तुम प्रजा का पालन करते हो उस पवित्र दर्शक-शक्ति से हे वरुण! तुम हमारे अन्दर नेत्र-शक्ति में अवस्थित होने से देख रहे हो। अर्थात् दर्शन शक्ति वरुण के आधीन है। वरुण तत्त्व की यदि न्यूनता हो जाये सूर्य की शक्ति कम हो जाये यदि नेत्र में वरुण-तत्त्व, जलीय भाग कम हो जाये तो नेत्र दर्शन-शक्तिहीन हो जायेंगे। इसी प्रकार निम्न मन्त्रों में भी आता है—

जल का नेत्र से सम्बन्ध

चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि। (यजुः २ । १६)

चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि। (यजुः ४ । ३)

पहले मन्त्र का देवता द्यावापृथिवी है और मित्रावरुणौ भी है। इस मन्त्र के अन्त में यह वाक्य है। और उसमें अग्नि के लिए कहा गया है कि हे अग्नि ! तुम नेत्र के पालनकर्त्ता हो अतः मेरे नेत्र की रक्षा करो।

मन्त्र के देवताओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि दर्शन-शक्ति का सम्बन्ध द्युलोकस्थ-अग्नि (सूर्य) एवं पृथिवीस्थ जल-तत्त्व से है। मित्र और वरुण का सम्बन्ध भी इसी क्रम से द्युलोक और पृथिवीलोक से है। द्युलोक एवं पृथिवीलोक पर मित्र एवं वरुण देवताओं के सम्मिश्रण से जल की उत्पत्ति होती है। ये दोनों जल के सूक्ष्म अंश के रूप में पृथक्-पृथक् भी विद्यमान रहते हैं और उनके माध्यम से सूर्य की अग्नि, अर्चि, दीप्ति या रश्मियां प्रकाशयुक्त रूप को प्राप्त होकर हमारे नेत्रों का पालन एवं रक्षण कर रही हैं। अतः यह मन्त्र सूर्य (अग्नि) एवं जल का चक्षु से उसकी दर्शन-शक्ति से सम्बन्ध प्रकट करता है।

दूसरा मन्त्र जल-देवता का है। इसमें जल-देवता से कहा गया है कि तुम मेरे लिए चक्षु का व्यवहार सिद्ध करने वाले हो। अतः मेरे लिए दर्शन-शक्ति दो। इस प्रकार दर्शन-शक्ति के लिए जल-तत्त्व की आवश्यकता है। जल-तत्त्व में वरुण की प्रधानता है। अतः दर्शन शक्ति के लिए वरुण का वेद में उल्लेख हुआ। जल का दृष्टि से सम्बन्ध है इसलिए निम्न जल देवता के मन्त्र में कहा है—

महेरणाय चक्षसे। (यजु० ११ । ५०)

अर्थात् हे जलो ! तुम अत्यन्त रमणीय दर्शन के लिए सामर्थ्य देते हो। इससे ज्ञात होता है कि दर्शन-शक्ति के लिए सूर्य की आवश्यकता के साथ-साथ जल-तत्त्व की भी आवश्यकता है। नेत्रों के बनावट और उसमें जल की स्थिति तथा जल के आवरण को देखकर सहज ही अनुमान हो जाता है कि सूर्य-मण्डल के चारों ओर के अन्तरिक्ष में यदि समुद्र का आवरण न होता तो सूर्य संसार का जीवनदाता न रहकर संहारक ही बन जाता।

सूर्य एवं जल से नेत्र-ज्योति-प्राप्ति

उपरोक्त वेद-वाक्यों से स्पष्ट है कि सूर्य एवं जल का हमारी दर्शन-शक्ति से सम्बन्ध है। अतः यदि दर्शन-शक्ति में न्यूनता है तो उसकी पूर्ति भी इन्हीं दोनों से हो सकती है। हम सूर्य के चारों ओर वरुण का मण्डल या जलीय मण्डल प्रत्यक्ष रूप में नहीं बना सकते जो हमारे नेत्रों की सूर्य-शक्ति एवं वरुण-शक्ति को सक्रिय कर सके। हमारे नेत्रों में शक्ति की न्यूनता हो गई है अतः आंख के वरुण-तत्त्व एवं सूर्य-तत्त्व को सक्रिय करना पड़ेगा।

सूर्य-मण्डल को समीप में लावें

यह क्रिया सूर्य-मण्डल को कुछ समीप में लाने से हो सकेगी। क्या हम आकाश में उड़कर सूर्य-मण्डल के पास पहुंचें या सूर्य-मण्डल को ही नीचे ले आवें। परन्तु ये दोनों ही प्रयत्न संभव नहीं हैं। पुनः कैसे इनको सक्रिय किया जाये ? क्या सूर्य को देखा जाये ? यह भी प्रकार लाभकारी नहीं है। अपितु हानिकर ही है। परन्तु सूर्य को देखे विना यह भी संभव नहीं है। अतः इस क्रिया को अत्यन्त सरल विधि से निम्न प्रकार किया जा सकता है—

प्रयोग-विधि

एक चीनी की थाली में जो १ इंच या पौन इंच किनारे वाली हो उसमें वर्षा का पानी भर दें। उसमें एक गोल आइना ४ गुणे ४ का डाल दें। इस आइने के ऊपर आधा इंच पानी रहे। इसमें नेत्र के बिम्ब का दर्शन १५ मिनट प्रति दिन करें तो नेत्रों में जो दर्शन एवं वरुण-शक्ति है वह सक्रिय हो जाने से नेत्र-दृष्टि सुधर जाती है। परन्तु सूर्य अपनी पीठ पर होना चाहिए। इस प्रकार सूर्य को भी हम नेत्रों के लिए समीप में ला सकते हैं और उसको वरुण के मण्डल से भी आवृत कर लेते हैं। दोनों क्रियाएँ इस प्रकार हो जाती हैं और—चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि—का प्रयोग बन जाता है।

अन्तरिक्ष में जल की स्थिति एवं वृत्र-वध

पूर्वोक्त प्रकार से जल की स्थिति को द्युलोक में—आदित्य मण्डल के पास, उसके चारों ओर समुद्र की स्थिति ज्ञात हो जाती है।

अन्तरिक्ष में भी जलों की स्थिति है। वेद ने इस बारे में बताया है—

वृत्रस्यासि कनीनकः। (यजुः ४। ३)

हे जलो! तुम अन्तरिक्षस्थ मेघों के प्रकाशक हो इस प्रकार जल अन्तरिक्ष में मेघ रूप से, ओस एवं कुहरे के रूप में भी विद्यमान रहते हैं। जल—ओस, कुहरा एवं मेघ आदि अनेक रूपों को धारण करता है अतः ये उसके बदले हुए रूप वृत्र हैं। उस वृत्र को हनन करना अर्थात् उसको पुनः जल रूप में परिणत करके पृथिवी पर अपने उपयोग में लाना ही वृत्र का वध है। इस प्रकार वर्षणक्रिया की प्रक्रियाएं वृत्रवधविद्या के अन्तर्गत हैं।

पृथिवी पर भी जल है

पृथिवी पर भी जल का विशाल भंडार है। इस निमित्त पूर्व मन्त्र का प्रारम्भ ही इसीसे होता है :—

महीनां पयोऽसि। (यजुः ४। ३)

अर्थात् पृथिवी में जल है। पृथिवी आदि के जल, रसादि सब जल-तत्त्व के ही आश्रित हैं। इस प्रकार प्रारंभ में जो मन्त्र ने बताया था कि—आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु—जल हमारी माताएँ हैं वे हमें शुद्ध करें। यह कार्य जलों का तीनों स्थानों में पृथिवी द्यु एवं अन्तरिक्ष में जल की स्थिति के कारण होता है।

जल शोधक है

अग्नि शोधन कार्य करता है परन्तु वह अपनी प्रक्रिया से एवं सामर्थ्य से करता है। जल भी शोधन करता है परन्तु उसकी शोधन की क्रिया अपनी विशेषता रखती है। अतः इसकी प्रक्रिया से भी शोधन होना अनिवार्य है। अग्नि और जल दोनों मिलकर भी इस सृष्टि में कार्य करते हैं और शोधन करते हैं। जल शोधक गुणयुक्त है पवित्रकर्ता है और सुखदाता है। निम्न मन्त्र में उसके शोधन गुण का वर्णन है।

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्। (यजुः ६। १७)

अर्थात् ये जल जो कुछ भी अकथनीय, निन्द्य कर्म और दोषादि मल हैं उनको अच्छी प्रकार बहा ले जाते हैं। दोषों को, मलों को, अकथनीय निन्द्य कर्मों से ब्रह्माण्ड को एवं शरीर मन आदि को शुद्ध करने वाले होने से ये जल सुखकारी हैं।

जल सुखकारी है

जलों को सुखकारी बताने के लिए वेद ने कहा—

इमा आपः शमु मे सन्तु। (यजुः ४।१)

अर्थात् ये जल मेरे लिए सुखकारी हों। इसीलिए एक स्थान पर वेद ने कहा—

उशतीरिव मातरः। (यजुः ११।५१)

अर्थात् प्रीतियुक्त माताएँ अपने स्तन से जिस प्रकार बालक को दूध पिलाती हैं। उसी प्रकार—

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः (यजुः ११।५१)

अर्थात् जलों का जो कल्याणकारक रस है वह हमें प्राप्त कराइए। एक अन्य मन्त्र में जलों के गुणों के लिए आता है :—

आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।

अर्थात् जल अत्यन्त कल्याणकारी हैं। अत्यन्त शान्ति देने वाले हैं। वे हमारी ओषध रूप से परिचर्या करें।

जलों में भेषज तत्व हैं

जलों में भेषज तत्त्व हैं इसका प्रतिपादन वेद के निम्न मन्त्र में प्राप्त होता है:—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः॥ (ऋ० १।२३।२०)

अर्थात् सोम मेरे लिए जलों के बीच में सब ओषधि—भेषज गुण को सब जगत् के सुख करने वाली तेजस्वी सामर्थ्य या रोगों को शमन करने वाली अग्नि को प्रसिद्ध करता है। इसी प्रकार जिस जल के निमित्त से ये सब ओषधियां उत्पन्न होती हैं वे जल भी अपने में उक्त सब ओषधियों और उक्त गुण वाली अग्नि रूप सामर्थ्य को स्वभाव रूप से ग्रहण करते हैं। इस मन्त्र में जलों को विश्वभेषजी—समस्त प्रकार का भेषज तत्त्व कहा है। इसी प्रकार—

आपः पृणीत भेषजं वरुथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ (ऋ० १।२३।२१)

अर्थात् जल मेरे शरीर में श्रेष्ठ रोग नाशक प्रभाव को परिपूर्ण करते हैं। उनका युक्तिपूर्वक सेवन करने से बहुत काल तक सूर्यलोक के देखने दिखलाने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

इन मन्त्रों से जलों में भेषज तत्त्व हैं और वे जल समस्त रोगों की ओषध हैं। वे रोगनाशक गुणों से युक्त हैं। इसी प्रकार जलों का रोगनाशक गुण निम्न मन्त्र में भी प्रकट किया गया है—

श्वात्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्मा कमन्तरुदरे सुशेवाः।
ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः॥

(यजुः अ० ४।१२)

अर्थात् हे जलो ! तुम शीघ्रतापूर्वक पेयरूप में ग्रहण करने योग्य होओ, अतएव तुम हमारे उदरों के मध्य अच्छे प्रकार सुख से निवास करो और वहां रहकर हमें यक्ष्मादि रोगों, अन्य रोगोत्पादक कीटाणुओं से रोगरहित करते हुए सुख को प्राप्त कराओ। इसी प्रकार—

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः॥ (यजुः ३६।१२)

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि जल दिव्य गुण वाले हैं, उनसे हम अभीष्ट, अनेक प्रकार के कार्य कर सकते हैं। उनसे हमारे लिए सर्वत्र सुख की वर्षा, आनन्द ही आनन्द हो सकता है।

उपरोक्त मन्त्रों से जल के जीवनीय गुण, सुखकारक गुण, रोगनाशक गुण, ओषधि रूप होने, दर्शन-शक्ति, तेज, बल, शान्ति, शोधनादि के अपरिमित गुण ज्ञात होते हैं। हम इनका विधिवत् प्रयोग पूर्वक अनुसन्धान करके सुखी हो सकते हैं। जल-चिकित्सा, नागरिक स्वच्छता, पृथिवी-शोधन, ऋतु अनुकूल सुख-सम्पादन, कृषि आदि अनेक विद्याओं का संकेत उपरोक्त मन्त्रों में विद्यमान है।

ज्वलनशील जल या—वारुणी—विद्या

जल शीतल हैं, शान्ति देने वाले हैं तथा अग्नि को भी शान्त करने वाले हैं। परन्तु—अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्—जलों में ज्योति भी प्रतिष्ठित है। जल में अंगारे प्रतिष्ठित नहीं हैं क्योंकि जल द्रव है। तेजाब, अल्कोहल आदि तथा पेट्रोलियम आदि द्रव पदार्थों में अग्नि है। अल्कोहल की उत्पत्ति जल में ही होती है यह ज्वलनशील, ज्योतियुक्त है। यह सब अपनी प्रक्रिया से सिद्ध हो जाते हैं। जल का पैट्रोलियम में रूपान्तर भी किसी न किसी प्रकार प्रकृति में होता ही है। समुद्र के जल भी शीतल गुण वाले हैं परन्तु इसके विपरीत उनको ज्वलनशील भी बनाया जा सकता है ऐसा वेद से संकेत प्राप्त होता है। इस बारे में वेद का निम्न मन्त्र हमें प्रयत्न करने के लिए प्रेरणा दे रहा है—

सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत। (ऋ० ७।४७।३)

अर्थात् समुद्र से, अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए घृत के समान ज्वलनशील तैजस, तरल पदार्थ की हवि प्रदान करो। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि समुद्र जल से वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा पैट्रोलियम सदृश, तरल, तेजस्वी, ज्वलनशील, जलवत् स्पर्श में शीतल पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं। जिनकी अग्नि में हवि घृत के समान अग्नि को बढ़ाने वाली हो सकती है। इस प्रकार की प्रक्रिया को वारुणी विद्या का अंग कहा जाना संगत होगा।

(२)

वृष्टि-विज्ञान

वृष्टि-विज्ञान वेद का प्रमुख विज्ञान है। इसके द्वारा—निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु—(यजुः २२।२२) जब-जब हम चाहें तब वर्षा हो और जब न चाहें तब वर्षा न हो—इस प्रकार का वर्षा पर नियंत्रण करके पृथिवी को धन-धान्य से पूर्ण, सुखी कर सकते हैं और अतिवृष्टि से होने वाली बाढ़ आदि की धन एवं जन हानि से बचा सकते हैं और असमय की वृष्टि के निवारण द्वारा कृषि को हानि से भी मुक्त कर सकते हैं। वैदिक वृष्टि-विज्ञान इस कार्य में बहु परीक्षित, प्राचीन काल से अब तक व्यवहार सिद्ध है। मेघों के न होने पर भी यज्ञ द्वारा मेघों का निर्माण भी होता है। और मेघ होने पर उनको वर्षाया भी जा सकता है। वर्तमान विज्ञान इस बारे में अभी बहुत पीछे है। वह मेघों के होने पर उन्हें बरसाने की क्रिया मात्र कर सकता है। बादलों के न होने पर उसकी क्रियाएँ निष्फल हैं। और अति वृष्टि को रोकने या असमय की वृष्टि को रोकने में भी असमर्थ है।

यद्यपि इस विज्ञान का अन्तर्भाव वारुणी विद्या के अन्तर्गत है, और इसकी निष्पत्ति का आधार भी इसी विद्या का अंग है, तथापि इस विद्या के अन्तर्गत अनेक जल-विज्ञानों में से इस दृष्टि का प्रमुख स्थान है। यह मधु विद्या है। विना इस विज्ञान के अथवा बिना वृष्टि के इस पृथिवी पर सृष्टि नहीं रह

सकती है और प्राणियों का जीवन स्थिर नहीं रहसकता है।

सृष्टि-निर्माण के पूर्व जल ही था

यह जल-तत्त्व सृष्टि का जीवन है अतः यह अपनी अनेक स्थितियों, परिवर्तनों एवं रूपों से विविध स्थानों में विश्व का पालन पोषण कर रहा है। अपो वा इदमग्र आसीत्—उपनिषद् का यह वाक्य जल की प्रधानता एवं उसकी प्राथमिकता का भी द्योतक है। स्थूल रूप से दृश्यमान जल यद्यपि —मैत्रावरुणग्रह—का कार्य रूप है, तथापि सृष्टि-निर्माण में जो जल, प्रारम्भिक एवं मौलिक तत्त्व हैं, जिसको उपनिषद् ने घोषित किया है वह यह कार्य रूप जल-तत्त्व नहीं है, और उपलब्ध जल-तत्त्व का निकटतम मौलिक तत्त्व भी नहीं है अपितु यह सृष्टि का—आदि सृष्टि का परम मौलिक तत्त्व है।

सृष्टि-निर्माण के पूर्व का जल

सृष्टि-निर्माण के मौलिक तत्त्व को जल, सलिल, अम्भस एवं कुहक आदि शब्दों से भी प्रकट किया जाता है। वेद ने -सरिरं छन्दः—(यजुः १५।४) कहकर इस सरिर अर्थात् सलिल का छादन कर्म एवं छादन स्थिति की व्यापकता को ब्रह्माण्ड के चारों ओर भी इंगित किया है। यह तत्त्व समस्त ब्रह्माण्ड को आवृत किये रहता है। और इसी अम्भस के आवरणों में से सृष्टि को जीवन तत्त्व प्राप्त होता रहता है। मातृगर्भ में जिस प्रकार शिशु के चारों ओर कलल-रस विद्यमान रहता है और उस कलल रस से शिशु का संवर्धन एवं पोषण होता रहता है, उसी प्रकार इस महान् ब्रह्माण्ड के चारों ओर रजस् स्थिति में या कुहक स्थिति में जल विद्यमान रहता है। ऋग्वेद में इस स्थिति का संकेत निम्न मन्त्र में किया गया है :—

किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् (ऋ० १०।१२९।१)

यहां पर जल की जो गहन एवं गम्भीर कुहक (कुहरा, रजस् की स्थिति बताई है, उससे सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह कुहक—रजस्—की स्थिति प्रकृति की साम्यावस्था रूप है। यही रात्रि संज्ञक स्थिति में सृष्टि को अपने गर्भ के रूप में छिपाये रहती है। इसी बात को निम्न मन्त्र भी प्रकट कर रहा है।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ (ऋ० १०।१२९।३)

यह सब जगत् सृष्टि के पहले अन्धकार से आवृत, रूप से जानने के अयोग्य, सलिल रूप से वर्तमान था और वह सलिल अवस्था तुच्छ सदृश अर्थात् जो कठोर सदृश नहीं थी, ग्रहण करने के अयोग्य थी, उससे यह सब आच्छादित था। उसको परमात्मा ने अपने तप रूप सामर्थ्य से, कारण रूप से कार्य रूप में परिवर्तित कर दिया। तुच्छ होने से रजःस्थिति में होने से, रात्रि की स्थिति में जानने एवं ग्रहण करने में अयोग्य होने से कुहक स्थिति में उस जलीय अवस्था का वर्णन विभिन्न नामों से हुआ।

जल की एक स्थिति रात्रि रूपा है

सृष्टि के निर्माण में कुहक रूप साम्यावस्था जब प्रसवोन्मुख थी तो उस अवस्था में वह रात्रि में परिवर्तित, जल की अवस्था हो जाती है। दार्शनिक शब्दों में इसे महत्तत्व के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।

ततो रात्र्यजायत। (ऋ० १०।१९०।१)

इसी स्थिति का इस मन्त्र में वर्णन है। यही वह रात्रि रूप जल-स्थिति है, जिससे उत्तरोत्तर द्युलोक, अन्तरिक्षलोक एवं पृथिवीलोक के एवं समुद्र, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप से विकास को प्राप्त हुए। जैसा कि –

रात्रि रूपी जल से समुद्रों का निर्माण

ततः समुद्रो अर्णवः (१।१९०।१)

इस मन्त्र में वर्णन है तथा इस प्रकार तीनों लोकों में अर्णव एवं समुद्र रूप अति सूक्ष्म, सूक्ष्म और उत्तरोत्तर स्थूल जलों के आवरण से अहोरात्र एवं सूर्य चन्द्र का प्रसव करने वाला या उसका जनक संवत्सर जो अर्णवादि की विकृति, परन्तु अहोरात्रादि की प्रकृति है, उसकी उत्पत्ति हुई। जैसा कि—

समुद्र से संवत्सर का निर्माण

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। (ऋ० १०।१२९।२)

इस मन्त्र में सृष्टि निर्माण की पूर्णावस्था का वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि जल तत्त्व का सृष्टि-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्थूल जलों का निर्माण

ब्रह्माण्ड के चारों ओर समुद्र है। मध्य भाग – अन्तरिक्ष में भी समुद्र है और सृष्टि के स्थूल भाग में पृथिवी पर भी समुद्र है। अन्तरिक्ष में जो समुद्र है उसकी रचना में, उससे ऊपर के जल और पृथ्वीस्थ जल दोनों का सम्मिश्रण होता रहता है। अन्तरिक्ष से ऊपर के जलों के अंश भी अन्तरिक्ष में आते रहते हैं और अन्तरिक्षस्थ समुद्र को बनाये रहते हैं, तब तक यह समुद्र दृश्यमान नहीं होता। परन्तु जब पृथिवीस्थ समुद्र के जल को वे आकर्षित कर पर्जन्य एवं मेघ रूप में होकर मंडराने लगते हैं, तब अन्तरिक्षस्थ समुद्र स्थूल रूप में प्रकट होने लगता है या दृश्यमान हो जाता है। गुरुत्व के कारण उन जलों की पृथिवी पर पतन की क्रिया प्रारम्भ होने लगती है। इसका प्रधान कारण अन्तरिक्षस्थ उन जल के मौलिक तत्त्वों को जो अन्तरिक्ष से भी ऊपर के स्थानों में से आये हैं उनका पुनः ऊपर की ओर आकर्षण और पृथ्वीस्थ समुद्र के जलों का नीचे की ओर आकर्षण-क्रिया होती है।

प्रारम्भ में जब इन दोनों जलों में आकर्षण होता है तब इन दोनों प्रकार के जलों में मैथुन, परस्पर संघर्षण एवं एकीभाव की क्रिया होती है। पृथिवीस्थ जल सूर्य किरणों के आकर्षण अर्थात् रश्मि-मार्ग से अन्तरिक्ष में अप्सरा बनकर जाते हैं और वहां पर उन जलों को धारण करने वाले जो जल गन्धर्व रूप से रहते हैं, उन दोनों प्रकार के जलों का मैथुन, सम्मिश्रण होता है। और जब तक द्युलोकस्थ जलों में से जो पितृ रूप है उनका मातृस्थानीय जो पृथिवीस्थ जल है उनमें गर्भ-स्थापन नहीं होता अर्थात् उत्पादन-शक्ति, जीवनीय शक्ति एवं प्राण-शक्ति पृथिवीस्थ जलों को प्राप्त नहीं होती तब तक दोनों शक्तियाँ आकाश में क्रीड़ा एवं कौतुक करती रहती हैं। और जैसे ही पृथिवीस्थ जलों को जो अप्सरा बनकर ऊपर पहुंचे थे, उनकी अपनी अभिलषित कामना की पूर्ति होते ही, अर्थात् न्यूनता की पूर्ति होते ही, द्युलोकस्थित पितर जलों का कार्य पूर्ण हो जाता है। उसी समय दोनों जलों में विकर्षण रूप क्रिया प्रारम्भ हो जाने से पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। इस प्रकार पृथिवीस्थ जल पुनः पृथिवी पर अन्तरिक्ष से नव जीवन एवं नव प्राण लेकर हमारे लिए वर्षण द्वारा अवतरित हो जाता है और समस्त पृथिवी में उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में वर्णित है—

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ।। (अथ० ११।४।५)

जब वृष्टि जल प्राणों से पूर्ण होकर इस विशाल पृथिवी को वर्षण क्रिया द्वारा अच्छी प्रकार वर्षा से तृप्त करते हैं तब समस्त प्राणी उससे अति प्रसन्न होते हैं इससे हमारे लिए अन्न, जल, खाद्य एवं पेय समस्या की समृद्धि होने से प्राण, जीवन की वृद्धि होगी। उपनिषत्कारों ने इसी अनुभूति को निम्न समानान्तर शब्दों में प्रकट किया है—

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति ।।

(प्रश्नोपनिषद्, द्वितीय प्रश्न –१०)

निःसंदेह वृष्टि आनन्दरूपा है। हम सन्ध्या के मन्त्रों में भी शंयोरभिस्रवन्तु नः—कहकर परमात्मा से सुख की वृष्टि की कामना करते हैं परन्तु वृष्टि तभी सुखकारक है, जब तक वह हमारी अनुकूलता की सम्पादिका हो। यदि वह वृष्टि हमारी अनुकूलता को सम्पादित करने वाली न हो तो वह आनन्दरूपा न हो सकेगी। न वह सुखदायिनी ही बन सकेगी अतः वृष्टि को आनन्दरूपा एवं सुख-दायिनी बनाने की मधु-विद्या को जानना आवश्यक है। अर्थात् वृष्टि को अपने अनुकूल बनाने के लिए वृष्टि-विज्ञान का जानना और उसका प्रायोगिक ज्ञान भी आवश्यक है।

जलों को संस्कारित कर सकते हैं

जलों को हम इच्छित कामनानुसार यज्ञ प्रक्रिया से सुसंस्कृत करके और भी उपकारी बना सकते हैं। यह क्रिया अन्य किसी भी प्रकार से सिवाय यज्ञ के संभव नहीं है। वर्तमान विज्ञान यद्यपि अभिमान से अपने को सर्वोच्च मान रहा है, परन्तु वैदिक विज्ञान की इस मधु-विद्या के सामने वह एक अबोध बालक के समान ही है। न तो वह वृष्टि-जल को शुद्ध करने की बात को सोच सका है और न उसको संस्कारित करने की ही बात को सोच सका है। पृथिवी एवं पृथिवी के जल को शोधन करने के उसने प्रयत्न किये परन्तु अन्तरिक्षस्थ वायु को दूषित तो वह अनेक प्रकार से कर रहा है और उसको शोधन करने की आवश्यकता पर भी सोच न सका। इससे अन्तरिक्षस्थ जल भी उस दूषित वायु के प्रभाव से दोषयुक्त हो जाते हैं।

संस्कारित जलों का लाभ

यज्ञ से सुसंस्कृत एवं संस्कारित जलों से ही जब पृथिवी पूर्ण होगी तब—

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।। (यजुः १३।२७-२९)

उस समय वायु मधुर रस बहाती है। नदियां मधुर रस बहाती हैं। ओषधियां भी मधुर रस बहाती हैं। दिन और रात मधुर हो जाते हैं। पृथिवीलोक मधुर हो जाता है और हमारा पालक द्युलोक भी मधुर हो जाता है। वृक्ष वनस्पति मधुर हो जाती हैं। सूर्य मधुर हो जाता है और सूर्य की

किरणें तथा गौएं भी मधुरता सम्पादन करने वाली हो जाती हैं। इसलिए वेद ने कहा—

संस्कारित जलों से पृथिवी को पूर्ण कर दें

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह। (यजुः १२।१०३)

इस पृथिवी को यज्ञ के जल से अच्छी प्रकार चारों ओर से आवृत कर दो। इस क्रिया के निमित वेद ने बताया कि यह क्रिया कठिन नहीं है। यज्ञ के द्वारा हो सकती है। इस निमित्त—

वपां ते अग्निरिषितो अरोहत्। (यजुः १२।१०३)

अर्थात् यज्ञ के जल को भावित करके पृथिवी को आप्लावित करने के लिए प्रेरित किया गया। अग्नि इस क्रिया को करने के लिए उद्यत एवं समर्थ होता है। अर्थात् यज्ञिय जलों को बनाने के लिए अग्नि का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार यज्ञ की प्रक्रिया से जलों को कामनानुकूल संस्कारित करके अनुकूल वृष्टि कराई जा सकती है। अतः वेद ने कहा—

यज्ञ से संस्कारित जलों का निर्माण

वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजुः १८।९)

अर्थात् हमारी वृष्टि, मेघों की वर्षण-क्रिया, यज्ञ के द्वारा सम्पन्न हो। अयज्ञिय वृष्टि अनियन्त्रित वृष्टि तो होती ही है परन्तु असंस्कारित जल की वृष्टि होती है और वह न्यून गुण वाली होती है। अनियन्त्रित वृष्टि से अति वृष्टि और अनावृष्टि, बाढ़ और दुर्भिक्ष, जन एवं धन की हानि होती है। प्रति वर्ष हमारे देश में कहीं बाढ़ आती है, कभी कहीं वर्षा का अभाव भी होता है। यदि यज्ञ द्वारा वर्षा कराने और रोकने की वैदिक यज्ञ प्रक्रिया का अनुसरण किया जावे तो प्राणिमात्र सुखी एवं समृद्ध हो सकते हैं। अतः—निकामे—निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु—(यजुः २२।२२) इस मन्त्र का विज्ञान प्राप्त करना होगा। अर्थात् जब-जब हम इच्छा करें तब-तब मेघ वर्षा करें। इच्छा करने पर ही वर्षा हो। इस प्रकार का मेघों एवं वर्षा पर नियन्त्रण भौतिकविज्ञान एवं अध्यात्मिकविज्ञान के आश्रय से करना होगा। भौतिक एवं आध्यात्मिकविज्ञान को श्रेष्ठ प्रयोगशाला यज्ञ की वेदी ही है। अतः पूर्व मन्त्र में वर्षा के लिए यज्ञ का आदेश वेद ने दिया है।

स्वाभाविक वर्षा का जल भी अत्यन्त उत्तम होता है। उसे दिव्य जल भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति द्युलोकस्थ सूर्य की रश्मियों के प्रभाव से होती है और वे जल द्युलोक में जाकर पुनः वृष्टि द्वारा प्राप्त होते हैं अतः दिव्य हैं। पृथिवी से जलों का सूर्य के ताप एवं रश्मियों से तथा वायु की विविध गतियों से वाष्प रूप से ऊर्ध्वगमन होता है। यद्यपि यह वाष्प प्रधानतया समुद्र जल, जलाशयों, नदियों एवं हिमाच्छादित स्थानों आदि से उत्पन्न होती है तथापि वृक्ष वनस्पतियों से भी यह उत्पन्न होती है और यह वाष्प सब के साथ मिल जाती है। इस प्रकार इन ओषधि आदि की सूक्ष्म वाष्प समुद्र से उत्पन्न वाष्प में मिश्रित होकर उस जल को पौष्टिक एवं आरोग्यकारक बना देती है और पृथिवी पर हमारे द्वारा उत्पन्न मलों की जो वाष्प वहां जाती उसकी अपवित्रता का भी शोधन कर देती है। यही क्रिया यज्ञ द्वारा की जाती है। यज्ञ द्वारा अनेक ओषधियों का धूम्र, वाष्प, घृत संयुक्त वायु अन्तरिक्षस्थ जलों को और भी पवित्र करता है और विशेष प्रभावशाली बना देता है।

यज्ञ से अति दिव्य जल का निर्माण

इस प्रकार सामान्य वर्षा के जलों में जो दिव्यता होती है यज्ञ द्वारा उसी दिव्यता को और भी

अधिक वृद्धि की जाती है और इच्छानुसार दिव्य गुणों की न्यूनाधिकता युक्त संस्कारित अति दिव्य जल की वर्षा कराई जा सकती है। अतः यज्ञ द्वारा अति दिव्य वर्षा-अमृतमय सुखकारी वर्षा—होती है। वह वर्षा अति दिव्य गुणों से सुसंस्कारित जलों द्वारा पृथिवी, द्यौ, एवं अन्तरिक्ष को पूर्ण करके विश्व को शुद्ध एवं पुष्ट करेगी, तथा ऐसे जलों से उत्पन्न अन्न, रस, दूध, घृत, फल आदि सभी उत्तम सुसंस्कारित एवं दिव्य ही होंगे। वे जल, रोगनाशन में भी अपूर्व सामर्थ्य रखेंगे। इसीलिए वेद ने कहा—

दिव्या वृष्टिः सचताम्। (यजुः १३।३०)

अर्थात् दिव्य गुण से युक्त वर्षा प्राप्त हो। इस सम्पूर्ण कार्य के लिए वृष्टि-विज्ञान के अन्तर्गत मधु-विद्या को याज्ञिक विज्ञान के साथ उसके अन्तर्गत पर्जन्यविद्या को जानकर विविध गुणों से युक्त वर्षा इच्छित समय पर कराई जा सकती है। पृथिवीस्थ जलों को यन्त्र द्वारा ऊपर से बरसाना, मेघों द्वारा वर्षा कराना इस कार्य में और यज्ञ द्वारा अति दिव्य, अमृतमय, सुखकारी, आरोग्यताप्रद जलों का निर्माण कराकर उनको वर्षाना इन दोनों में महान् अन्तर है। जो लाभ सामान्य पार्थिव जलों से होता है उससे कई गुना अधिक लाभ मेघ के जलों से होता है और मेघ के जलों से जितना लाभ होता है उससे कई गुना अधिक लाभ यज्ञ द्वारा निर्मित दिव्य जलों की वृष्टि से होता है। अतः इस माध्वी विद्या का बहुत अधिक महत्त्व है।

यज्ञ द्वारा विश्व को मधुमय बनाना

इस माध्वी विद्या के द्वारा समस्त विश्व को मधुमय बनाया जा सकता है और विश्व के विविध तत्त्वों को पुष्ट एवं समर्थ बनाया जा सकता है। इस माध्वी प्रक्रिया के लिए तथा अन्य अनेक प्रकार की कामनाओं की सिद्धि के लिए ब्रह्माण्ड की नाभि केन्द्रवत् स्थली में क्रिया करनी होगी। उसमें मधु—अमृत का भण्डार स्थापित करना होगा और उस केन्द्र से विश्व के समस्त स्थानों और केन्द्रीय तत्त्वों में उस अमृत को—मधु भाग को—भेजने की क्रिया करनी होगी।

इस प्रक्रिया के लिए करोड़ों या अरबों रुपये का व्यय नहीं है वेद की अति सरल, सर्वत्र एवं सुलभ तथा अल्प व्यय की याज्ञिक प्रक्रिया ही सर्वोत्तम साधन है। वेद ने कहा है—

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। (यजुः २३।६२)

अर्थात् यह जो यज्ञ शाला के मध्य में वेदी बनाई जाती है और जिसमें अग्नि का स्थापन किया जाता है वही वेदी इस पृथिवी पर किये जाने वाले कार्यों के लिए परम श्रेष्ठ साधन है। यह परम श्रेष्ठ या श्रेष्ठतम कर्मों के लिए परम अन्तिम साधन है और इस वेदि के मध्य में अग्नि को स्थापित कर—घृतैर्बोधयतातिथिम्—(यजु० ३।१) उत्तम घृत की धाराओं से—पूजनीय, अतिथि तुल्य अग्नि को प्रदीप्त करके यज्ञ को करने के लिए वेद ने उपदेश दिया है वही यज्ञ इस विश्व की नाभि है। इस नाभि में—आस्मिन्हव्या जुहोतन—(यजु० ३।१) घृतादि तथा आवश्यकतानुसार अन्य हवि का प्रयोग करना चाहिए।

कौन सी हवि, कैसी एवं किसकी समिधाएँ, किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयुक्त की जानी चाहिएं जो इस रहस्य को जितना जानेगा वह माध्वी विद्या को उतनी ही सफलता से कर सकेगा। इस यज्ञ में प्रयुक्त घृत के लिए जो गुप्त शब्द वेद ने प्रयुक्त किये हैं वे इसके रहस्य को और भी प्रकट कर देते हैं। वेद में घृत के लिए कहा है—

घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः। (यजुः १७।८९)

अर्थात् घृत का गुप्त नाम—देवों की जिह्वा—और—अमृत की नाभि—ये हैं। देव-जिह्वा का अर्थ है देवों की जीभ। अर्थात् जिस प्रकार से हमारे शरीर के लिए जीभ के द्वारा अन्न, जलादि का ग्रहण होकर हमारी तृप्ति और पुष्टि होती है और उससे हमारे प्राण पुष्ट होकर जीवन की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार इस विशाल सृष्टि के विविध केन्द्रीय तत्त्वों को उनका पोषक, तृप्तिकारक प्राण एवं जीवन दायक खाद्य अग्नि के द्वारा प्राप्त हो जाता है। अतः यज्ञाग्नि में घृत एवं द्रव्यों का होम जो साधारण बुद्धि वाले जन के लिए नष्ट करना प्रतीत होता है वह वास्तव में नष्ट करना नहीं है, अपितु महान् फलदायक है। जिस प्रकार कृषक को क्षेत्र में बीज फेंकता हुआ देखकर कोई कहे कि यह बीजों को फेंक-कर नष्ट कर रहा है, परन्तु वह उसके महान् फल से अनभिज्ञ है, उसी प्रकार यज्ञ के प्रति वस्तुओं के नष्ट करने की बात भी अज्ञता की ही बात है। अतः यज्ञ में घृत के प्रयोग से विश्व के दैवत तत्त्वों की, केन्द्रीय तत्त्वों की पुष्टि होती है ऐसा सुनिश्चित मानना चाहिए।

घृत का दूसरा नाम—अमृत की नाभि—वेद ने बताया है। अर्थात् वह अमृत का—मधु का—केन्द्र है, अक्षय कोष है, भण्डार है, एवं उसका जनक भी है। जिस प्रकार गर्भ में बालक का पोषण उसकी नाभि केन्द्र से भीतर ही भीतर गुप्त रूप से होता रहता है, उसी प्रकार उस हिरण्यगर्भ परमपुरुष के गर्भस्थ पदार्थ यज्ञरूपी नाभिकेन्द्र से उसके अन्दर प्रयुक्त घृत की आहुति से जो विश्व में व्याप्त अग्नि, जल, वायु, सूर्य एवं चन्द्र-रश्मियां हैं उनके माध्यम से विश्व के तत्त्वों को पुष्ट करता है। अमृत में जीवनदायिनी शक्ति होती है। अतः घृत को अमृत की नाभि कहने का तात्पर्य है कि वह विश्व को जीवन देने वाला है। इसीलिए यज्ञ के लिए वेद में निम्न शब्द आते हैं—

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः। (यजुः १।४)

यज्ञ समस्त विश्व की आयु है। इससे विविध प्रकार की रचना होती है और वह समस्त विश्व का पोषण करने वाला है। अतः याज्ञिक प्रक्रिया बहुत वैज्ञानिक एवं लाभप्रद है।

यज्ञ द्वारा अनेक प्रकार के जलों की वृष्टि

यज्ञ द्वारा जीवनीय तत्त्वों की समृद्धि से परिपूर्ण वृष्टि हो सकती है। यज्ञ द्वारा रोगनाशक जलों की वृष्टि हो सकती है यज्ञ द्वारा बौद्धिक शक्तिजनक जलों की वृष्टि हो सकती है। यज्ञ द्वारा विश्व के मानस क्षेत्र की अशान्त वृत्तियों को शान्त करने वाले जलों की वर्षा हो सकती है और भोग-विलास में निमग्न, अतृप्त, दुःखी और बेचैन विश्व को अध्यात्म प्रेरणा देकर उनमें तृप्ति एवं शान्ति प्रदान करने वाली वर्षा भी हो सकती है। क्योंकि—

अप्स्वन्तरममृतमप्सु भेषजम्। (यजुः ९।६)

जलों में अमृत तत्त्व हैं। उस अमृत तत्त्व को घृतादि के साहचर्य से और भी बढ़ाया जा सकता है। जलों में रोग-निवारक गुण हैं। जल में ओषधि की शक्ति है। इसीलिए प्रत्येक ओषधि को जलों के साथ प्रयुक्त करने से उनका उचित रीति से गुण एवं लाभ प्राप्त किया जाता है। जलों में जो अमृत-तत्त्व है उससे समस्त संसार का जीवन-पोषण अनेक प्रकार से हो रहा है। अमृत देवों का भी भाग है, अतः उससे दैवत तत्त्व की भी वृद्धि होती है। उन जलों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध तापों को शमन करने की परम सामर्थ्य है।

यज्ञ से विश्व के भौतिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को लाभ

यज्ञ से जल को इच्छानुसार संस्कृत एवं भावित किया जा सकता है। और इस क्रिया को करने

के पूर्व ही यज्ञ की आहुति से वातावरण की भी शुद्धता एवं पुष्टि हो जाती है। तथा मन्त्र ध्वनि क माध्यम से अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म तत्त्वों की भी शुद्धि हो जाती है। यदि आज यज्ञ की प्रक्रिया के द्वारा होने वाले विश्व के प्रति उपयोग को समझकर इसका प्रयोग होने लगे तो विश्व का बहुत उपकार हो सकता है।

यज्ञ से विश्व के स्वास्थ्य को उन्नत किया जा सकता है। आज बी० सी० जी० के केन्द्र, मलेरिया उन्मूलन आन्दोलन, चेचक रोधक कार्य, टायफाइड निरोधक आदि-आदि अनेक प्रकार के कार्य व्यापक रूप में पृथक् पृथक् किये जा रहे हैं और मनुष्य के शरीर में अनेक इन्जेक्शनों को भरा जा रहा है। इनकी एक बार पूरी कल्पना करें तो शरीर एक औषधि भण्डार बन गया है। परन्तु इन सबसे कहीं अधिक उपयोगी और उत्तम कार्य, उससे बहुत कम व्यय में—अयक्ष्मा अनमीवा—(यजुः १ । १) बनाने का अर्थात् यक्ष्मादि रोग एवं अन्य रोगाणुओं को नष्ट करके जन स्वास्थ्य एवं जीवन को सुरक्षित एवं स्वस्थ करने के लिए यज्ञ से किया जा सकता है तथा इसी यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा जनों की अवांछनीय प्रवृत्तियों को सुधार कर अनागस, पाप रहित भी किया जा सकता है। इससे जीवन की वृत्तियों में परिवर्त्तन होगा और—

मा वस्तेन ईशत माघशंसः। (यजुः १ । १)

चोरी एवं पाप की वृत्तियां भी शान्त हो सकेंगी। अतः यज्ञ का व्यापक रूप में प्रचार करके विश्व को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ, स्वच्छ एवं सुखी बनाया जा सकता है।

जलों के निर्माता तत्त्व

जब-जब हम इच्छा करें तब-तब यज्ञादि द्वारा वर्षा हो ऐसा उपदेश वेद से प्राप्त होता है। अतः इच्छित जलों की वृष्टि के लिए वर्षा किस प्रकार हो सकती है, किस प्रकार जल का निर्माण हो सकता है यह ज्ञान आवश्यक है और इसके लिए विविध परीक्षण करके सुन्दर परिणामों को विश्व के वैज्ञानिकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकता है। अतिवृष्टिरोधक तथा अनावृष्टिकारक यज्ञ प्रक्रिया द्वारा संसार को उपकृत किया जा सकता हैं। इस विषय में वेद हमें बहुत सी बातों के बारे में दिग्दर्शन कराता है। एक मन्त्र में इस बारे में निम्न वर्णन मिलता है :—

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णंन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिचन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥ (यजुः १० । १)

अर्थात् विद्वान् लोग जिन क्रियाओं से मित्र और वरुण को अच्छी प्रकार सिंचित करने के लिए विद्युत को संयुक्त करते हैं उन क्रियाओं से मधुर रस युक्त बल पराक्रम को बढ़ाने वाले, चैतन्यता उत्पादक, प्रकाश युक्त जलों को ग्रहण करते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं। इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि जल के निर्माण में मित्र और वरुण दो प्रकार के तत्त्व होते हैं। उनको संयुक्त करने के लिए बिजली का प्रयोग करके मधुर एवं उत्तम जलों को प्राप्त किया जा सकता है। एक अन्य मन्त्र में मित्र और वरुण द्वारा जल बनाने के बारे में निम्न प्रकार वर्णन है :—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥ (ऋ० १ । २ । ७)

इस मन्त्र में बताया है कि जो मित्र तत्त्व हैं **वे**—पूत दक्ष—है अर्थात् पवित्र करने में अत्यन्त समृद्ध एवं चतुर हैं, और जो वरुण तत्त्व है वह—रिशादस—है अर्थात् जो हिंसक तत्त्व या घातक तत्त्व हैं

उनका विनाशक है। इस प्रकार के गुण वाले इन दोनों तत्त्वों को--हुवे--अग्नि की क्रिया से संयुक्त करते हैं। किसलिए ? घृताचीं साधन्ता--जल बनाने की क्रिया सिद्ध करने के लिए।

इस मन्त्र में जिस मित्र तत्त्व का वर्णन है वह प्राण तत्त्व है जो कि सर्वत्र न्यूनाधिक परिमाण में सृष्टि में व्याप्त है। सबका प्राण होने से वह सबका प्रिय मित्र है। वरुण तत्त्व उदान तत्त्व है क्योंकि—प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ—ऐसा शतपथ में कहा गया है। अतः वरुण तत्त्व ही उदान तत्त्व है। उन्नयनादुदानः--ऊपर ले जाने वाला होने से उदान है। इसीलिए योगदर्शन में--उदानजयाज्जलपङ्ककंटकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिः (विभूतिपाद सूत्र ३९) उदान के जय करने से जल, कंटक, पंक आदि में निर्लिप्त गति होती है। यही उदान वरुण तत्त्व है। इसी वरुण को वेद में—वरुणोऽपामधिपतिः—(अथर्व ५। २४। ४) जलों का स्वामी कहा है। अतः वरुण या उदान तत्त्व जलों का अधिपति होने से जलों का मूल रूप से जनक भी है। उस वरुण तत्त्व में मित्र तत्त्व का जिससे जल पदार्थ पवित्र, शुद्ध एवं प्राणदायक बना रहता है उसका संयोग रहता है। इस प्रकार वेद ने जल की प्रकृति मित्र और वरुण को बताया हैं तथा उनके गुणों को भी प्रकट किया है। वर्त्तमान विज्ञान की परिभाषा में वरुण या उदान हाइड्रोजन है और प्राण या मित्र आक्सीजन है।

यजा नो मित्रवरुणा यजा देवाँ २ ऋतं बृहत्। (यजुः ३३। ३)

अर्थात् हे अग्नि। हमारे मित्र एवं वरुण तत्त्वों को संगत कीजिए। महान् जल के निर्माण के लिए विद्वानों—वैज्ञानिकों को प्राप्त कराइए। इस प्रकार यहां पर भी मित्र एवं वरुण को संगत करके ऋतं=जल की प्राप्ति का उपदेश दिया। इसी प्रकार एक स्थल पर--अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमऽऋतावृधा—(यजुः ७। ९)—अर्थात् हे मित्र और वरुण ! यह तुम्हारे द्वारा निष्पन्न किया गया सोम है जो कि ऋत अर्थात् जल की वृद्धि कराने वाला है। अतः—

उपयामगृहीतोसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा। (यजुः ७। ९)

ये जल--मित्र और वरुण से विद्या एवं विज्ञान की युक्ति से ग्रहण किये गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जल जब मित्र और वरुण-दशा में विलीन हो जाता है तब उसको सृष्टि-प्रक्रिया में जल का रूप धारण करने से पूर्व सोम रूप में आना पड़ता है। पुनः सोम से जलों की उत्पत्ति होती है। वह सोम पर्वतों में, अन्तरिक्ष में, वृक्षों के समूहों—वनों में, वनस्पति—ओषधियों में आता है। इनमें भर जाता है और उनमें उस सोम से जीवनीय तत्त्व की वृद्धि होती है। जहां सोम पदार्थ भरा रहता है वहां जीवनीय तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है। यह सोमतत्त्व पवमान भी है—बहने वाला पवित्रकारक है। वेद में इस सोम के लिए वर्णन आता है—

सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते
यजमानाय पवत इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्यऽओषधीभ्यः पवते
द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा
देवेभ्यः। एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥ (यजुः ७। २१)

इस मन्त्र में सोम मनुष्यों के लिए, जल के लिए, ओषधियों के लिए, द्युलोक और पृथिवीलोक के लिए, सब प्राणियों के सुख के लिए, अन्न और रसादि के लिए सर्वत्र गति कर रहा है--बह रहा है, यह बताया है और--एष ते योनिः—कहकर उस सोम के कारण तत्त्व की ओर या उसको एक स्थान पर मूल रूप से स्थापित करने को भी बताया है। अर्थात् सोम को एक केन्द्र-स्थान में भी संगृहीत किया

जा सकता है अथवा—एष ते योनिः—कहकर जिनसे सोम की उत्पत्ति होती है ऐसे द्रव्यों का निर्देश होता है अथवा सोम के भी जो कारणतत्त्व मित्र और वरुण हैं उनमें विलीन किया जा सकता है इत्यादि सब इस वेद मन्त्र से स्पष्ट प्रकट होते हैं।

वृष्टि रोकने के लिए जलों का कारणतत्त्वों में स्थापन

ये मित्र और वरुणतत्त्व जल के निर्माता होने से वृष्टि के जनक हैं तथा वृष्टि का भी इनसे निवारण कार्य हो सकता है। अतः वेद में कहा है—

मित्रावरुणौ वृष्ट्या अधीपती तौ मावताम्। (अथर्व० ५।२४।५)

अर्थात् मित्र और वरुण वृष्टि के स्वामी हैं क्योंकि मित्र और वरुण के मिलने से जल बनकर वर्षा होती है। उससे सब के जीवन की रक्षा होती है। अतः ये दोनों हमारी रक्षा करें। वर्षा कराकर भी हमारी रक्षा करें और अतिवर्षण की अवस्था में जलों को उनकी प्रकृति मित्र और वरुण में स्थापित होने से भी रक्षा होगी। इन दोनों बातों का ज्ञान इस मन्त्र वाक्य से होता है।

अतिवृष्टि से बचने बचाने के लिए वेद में आता है—

विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व। (यजुः १५।६)

वृष्टि की विष्टम्भनविद्या से वृष्टि को प्राप्त करो अर्थात् स्ववश करो। अतः वेद वर्षा कराने और रोकने इन दोनों प्रकार की विद्याओं के बारे में स्पष्ट संकेत कर रहा है। केवल मात्र प्रकृति के स्वाभाविक रूप से होने वाले कार्यों के ऊपर ही आश्रित होकर नहीं बैठे रहना चाहिए। अपितु प्रकृति के गुण धर्म एवं कर्मों को जान कर उनसे कामनानुकूल कार्य सिद्ध करने चाहिएँ, यह भावना वेद के आदेशों, उपदेशों और वर्णनों से अभिप्रेत है।

वर्षा को रोकने के प्रकारों के बारे में वेद में आता है—

अपां त्वा क्षये सादयामि। (यजुः १३।५३)

अर्थात् मैं जलों को उनके निवासस्थान में स्थापित करता हूं। जलों के निवासस्थान का तात्पर्य अनेक प्रकार से हो सकता है। जल जिन-जिन स्थानों में क्रमपूर्वक रहता है या जिन-जिन दशाओं में परिवर्त्तित हो कर रहता है या जिन स्थानों एवं दशाओं में स्थिर होकर सूक्ष्म, द्रव एवं कठोर रूप में परिणत होकर रहता है वे सब उसके निवासस्थान ही हैं। अथवा जिस मूल या कारण-अवस्था से जल इस व्यवहार रूप में परिणत होता है और पुनः अपने मूल कारण में विलीन होता है वे भी जलों के निवासस्थान हैं। यहां पर जलों को उनके निवासस्थान में स्थापित करता हूं। इस क्रिया वाक्य से जलों के उनके उन सब निवास स्थानों का ग्रहण किया जा सकता है एवं तदर्थ उनमें जलों को स्थापित करने की क्रिया की जा रही है या उसका प्रत्यक्ष प्रयोग किया जा रहा है, ऐसा प्रत्यक्ष एवं दृढ़सिद्धान्त जल के लिए प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार—

अपां त्वा योनौ सादयामि। (यजु० १३।५३)

जलों को उनकी योनि में—कारण तत्त्वों में—स्थापित करता हूँ। जलों की योनि का स्पष्ट तात्पर्य उनके उत्पत्तिस्थान, उनके मूल कारण तत्त्व जिनसे जल की उत्पत्ति होती है उनमें स्थापित करने से है। इस प्रकार इन मन्त्रों द्वारा जलों को अपनी पूर्व प्रकृतियों में स्थापित करने या परिवर्त्तित करने का वेद ने स्पष्ट रूप से संकेत किया है। जलों की पूर्व प्रकृतियों में मूल प्रकृतियां मित्र और वरुण ही हैं—जहां ये जल अपने कारण तत्त्वों में विलीन हो जाता है। इन मित्र और वरुण कारण तत्त्वों में जल

की स्थिति के लिए वेद के इसी मन्त्र में आगे कहा है—

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामि। (यजु० १३।५३)

अर्थात् जलों को विद्युत् के साहचर्य से जलों की योनि में स्थापित करता हूं। क्योंकि—विद्युद्वा अपां ज्योतिः—यह श्रुतिवाक्य विद्युत् ही जलों की ज्योति है, यह प्रतिपादित करता है। अतः विद्युत् में जलों को स्थापित कर अर्थात् विद्युत् क्रिया द्वारा जलों को फाड़कर उनकी मूल प्रकृति मित्र और वरुण में स्थापना हो सकती है।

वर्षा कराने के बारे में भी इसी मन्त्र के प्रारंभ से प्रक्रिया का निर्देश होता है—

अपां त्वेमन् सादयामि, अपां त्वोद्मन्त्सादयामि।

अपां त्वा भस्मन्त्सादयामि, अपां त्वा ज्योतिषि सादयामि। (यजु० १३।५३)

अर्थात् वृष्टि कराने के लिए जलों को वायु में स्थापित करता हूं। वायु में जलों को स्थापित कराने के लिए ओषधियों के योग से उनकी धारक शक्ति बढ़ाई जा सकती है। अतः ओषधियों के द्वारा उनकी धारकशक्ति बढ़ानी चाहिए जिससे जलों को भस्म में—बादलों के रूप में परिवर्त्तित किया जा सके। क्योंकि—अभ्रं वा अपां भस्म—बादल ही जल की भस्म हैं। अतः जलों को बादल रूपी भस्मों में परिवर्त्तित करने के लिए जलों को ज्योति अर्थात् अग्नि, तेज, तपन आदि की क्रिया करनी चाहिए। जल और ओषधियों के साथ अग्नि के द्वारा जो धूम्र उत्पन्न होगा वह वायु-मार्ग से अन्तरिक्ष में जाकर मेघों का निर्माण करने में समर्थ होगा। इस प्रकार यज्ञ-प्रक्रिया द्वारा मेघों का निर्माण होने से वर्षा हो सकती है।

जल-निर्माता तत्त्वों का परस्पर अनुपात

वर्षा-जल के निर्माण में मित्र और वरुण का परस्पर क्या-क्या भाग रहता है जिससे अनुकूल प्रमाण से जल अन्तरिक्ष में निर्माण होकर वर्षणक्रिया हो जाती है। इसका ज्ञान कराने में निम्न मन्त्र अत्यन्त सहायक है।

मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृत

एकविंश स्तोमः। (यजु० १४।२४)

सृष्टि-यज्ञ में या सृष्टि निर्माण-प्रक्रिया में किन तत्त्वों में कितनी इष्टकाएँ, परमाणु रूपी ईंटें हैं, घटक हैं या कितनी इष्टकाओं या घटकों या परमाणुओं से किन-किन तत्त्वों का या पदार्थों का चयन किस प्रमाण में हुआ है इसका वर्णन करते हुए वृष्टि-जल के निर्माण में मित्र और वरुण का किस प्रमाण में सम्मिश्रण होता है, इसका वर्णन है। यही मैत्रावरुण-ग्रहविद्या या विज्ञान है। इस मैत्रावरुण-ग्रह में=वरुणस्याधिपत्यम्—वरुण का आधिपत्य है, प्रभुता है क्योंकि उसका भाग अधिक है और मित्र-तत्त्व की प्रभुता नहीं है क्योंकि वह कम परिमाण में है। वह इतने कम परिमाण में भी नहीं है कि उसकी उपेक्षा की जावे या इतने कम परिमाण में भी नहीं है कि उसके बिना भी वरुण जल को बनाने में समर्थ हो सके। अतः मित्र समुचित परिमाण में उसके साथ भागीदारी में है, यह ज्ञात हो जाता है। इसलिए मित्रस्य भागोऽसि—मित्र तत्त्व का उसमें भाग है, ऐसा वेद ने स्पष्ट संकेत किया।

इससे स्पष्ट है कि जल के निर्माण में वरुण तत्त्व की प्रधानता और अधिक भाग हैं तथा उसके साथ में उससे कम प्रमाण में परन्तु अच्छी स्थिति में मित्र का सम्मिश्रण है जिससे द्युलोक से वृष्टि वायु के सम्पर्क से हम लोगों को प्राप्त होती है। सृष्टि-यज्ञ में मैत्रावरुणग्रह द्वारा जल-निर्माण में यह स्तोम इन दो तत्त्वों का समूह एकविंश के समूह का ज्ञापक है। स्तोम समूह को कहते हैं। दोनों तत्त्वों का समूह २ और १ से बने एकविंश २१ के रूप में अर्थात् दो और एक के अनुपात में (२:१) है। २१ के

अनुपात में विभक्त करने पर १४:७=२१ होते हैं। १४ संख्या ७ से २ बार विभाजित होने से भी २:१ का स्तोम सम्मुख रह जाता है।

इससे स्पष्ट हो गया कि वरुण तत्त्व जिसका जल-निर्माण में आधिपत्य बताया है वह २ भाग है और मित्र तत्त्व का उसमें साहचर्य १ भाग में हो कर दोनों से २१ का स्तोम अर्थाथ् समूह बना है जिससे वृष्टि वायु के सम्पर्क से हमें प्राप्त हो जाती है।

यहां पर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि वरुण और मित्र ने एकविंश स्तोम की रचना में जल का निर्माण किया और—दिवो वृष्टिर्वात स्पृत एकविंश स्तोमः—अर्थात् द्युलोक या अन्तरिक्ष लोक में जल और वायु का भी जब एकविंश स्तोम २:१ का अनुपात होता है तब वृष्टि हमें प्राप्त होती है। अर्थात् जब जल का भार अधिक हो जाता है और वायु का भार कम हो जाता है तो वृष्टि जल द्युलोक से पृथ्वी पर आ जाते हैं। जल का भार वायु के भार से अपने आयतन क्षेत्र में दुगुना होने की स्थिति में वृष्टि का होना अनिवार्य हैं। जैसा कि—मरुद्भि प्रच्युता मेघाः वर्षन्तु पृथिवीमनु—(अथर्व० ४।१५।७) अर्थात् वायुओं से गिराये गये या छोड़े गये मेघ पृथिवी पर बरसें—इसमें बताया गया है।

वैज्ञानिकों ने जल के दो मूल तत्त्व हाइड्रोजन और आक्सीजन माने हैं। उनमें से हाइड्रोजन के गुण वरुण के तुल्य हैं और आक्सीजन के गुण मित्र के तुल्य हैं और दोनों से जल का जो फार्मूला वैज्ञानिकगण लिखते हैं वह H_2O इस प्रकार है। अर्थात् हाइड्रोजन—वरुण तत्त्व २ भाग और आक्सीजन—मित्र तत्त्व १ भाग। दोनों संख्याओं का स्तोम—समूह २१ अर्थात् दो और एक (२:१) के अनुपात के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

वेदों में एक ही मन्त्र से वर्षा कराने और रोकने का ज्ञान

वृष्टि के विषय में एक मन्त्र निम्न प्रकार से है जिसमें वर्षा कराने और रोकने के बारे में वर्णन मिलता है —

विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायु रपो दत्तोदधिं भिन्त।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव॥ (यजु० १८।५५)

हे अग्नि! तुम वृष्टि से हमारी रक्षा करो। अर्थात् वृष्टि कर के हमारा पालन करो और अति वृष्टि को रोक कर भी वृष्टि से हमारी रक्षा करो। इस प्रकार दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं के प्रति इसकी संगति होती है। किस प्रकार रक्षा या पलन करें इसके लिए मन्त्र बताता है—दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्याः—द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, मेघ और पृथिवी से जहाँ-जहां जलों की स्थितियाँ हैं, उन-उन स्थानों से वृष्टि की आवश्यकता होने पर वृष्टि को कराना और जब जब रोकने की आवश्यकता हो तब तक विष्टम्भन-प्रक्रिया से वृष्टि-जल को रोकना चाहिये।

जल संसार के मूर्धारूप सूर्य के आश्रित हुए पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु इन तीनों स्थानों के हृदय देश में अर्थात् तीनों स्थानों के मध्य भाग में समुद्र रूप से विराजमान हैं। पृथिवी के ऊपरीस्तर के मध्य भाग में समुद्र है तथा अन्दर भी है। अन्तरिक्ष के मध्य भाग में समुद्र है और द्युलोक के मध्य भाग में भी समुद्र है। उन समुद्रों के जलों में—अप्सु आयुः—आयु का निवास है। अर्थात् जलों के आश्रित जीवन-मरण चक्र चल रहा है। अतः वर्षा की आवश्यकता होने पर—अपो दत्त—जलों को वृष्टि द्वारा प्रदान करो यह प्रार्थना एवं तदनुकूल प्राप्ति की क्रिया करनी चाहिए और जब वर्षा को रोकने की इच्छा हो या जल की आवश्यकता न हो तब—उदधिं भिन्त—उन समुद्रों को जिनसे मेघादि बन कर वर्षा होती है उनका भेदन करदो, अर्थात् विनष्ट कर दो। मेघ अन्तरिक्ष के समुद्र से बनते हैं अतः अन्त-

रिक्षस्थ जलों को उनकी पूर्व प्रकृति के रूप में और भी सूक्ष्म रूप में बदल दो। इस प्रकार यह मन्त्र वर्षा कराने और रोकने दोनों ही प्रकारों का संकेत करता है। इसी प्रक्रिया को आहुति द्वारा सम्पन्न करने के लिए निम्न मन्त्र उपलब्ध हो जाता है—

वसुभ्यस्त्वा………। व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा
मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो
नो वृष्टिमावह……॥ (यजु० २।१६)

अर्थात् जिस प्रकार से पक्षिगण अपने-अपने सुनिश्चित स्थानों को जाते हैं उसी प्रकार गायत्री आदि छन्दों से यज्ञ का अनुष्ठान करके हम लोग अपनी जो इच्छित आहुति अग्नि में डालते हैं वह वायु की नाड़ियों अर्थात् नालियों— नहरों या नदियों के तुल्य वायवीय मार्गों में होकर अन्तरिक्ष में विचरण करती हुई द्युलोक में पहुंचती है। वहां से वह आहुति वृष्टि को अच्छी प्रकार लाती है। इस प्रकार वर्षा कराने वाले द्रव्यों की गायत्री छन्दादि के द्वारा यज्ञ में आहुति से वायु, अन्तरिक्ष और द्युलोक के सम्बन्ध से वर्षा होती है—यह वेद ने बताया।

इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से—प्रोहामि—और—अपोहामि—इन दो पदों की अनुवृत्तियाँ भी आती हैं। प्रोहामि शब्द का अर्थ है—युक्तिपूर्वक संगत करता हूं और अपोहामि— शब्दका अर्थ है—युक्ति पूर्वक दूर करता हूं।

जब वर्षा करानी हो तब—प्रोहामि पद की संगति जहां-जहां आवश्यक हो वहां करते हुए तदनुकूल आहुतिपूर्वक क्रिया यज्ञ में करनी चाहिए। उस दशा में—ओं वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्य-स्त्वा प्रोहामि स्वाहा—इस प्रकार मन्त्र का यज्ञ में प्रयोग करना होगा। अथवा—ओं वसुभ्यस्त्वा प्रोहामि स्वाहा। ओं रुद्रेभ्यस्त्वा प्रोहामि स्वाहा। ओम् आदित्येभ्यस्त्वा प्रोहामि स्वाहा—इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र-वाक्य को बनाकर उसके साथ स्वाहापूर्वक वर्षा कराने वाले द्रव्यों की आहुति प्रयुक्त करनी चाहिए।

जब वर्षा रोकने की क्रिया इसी मन्त्र से करनी होगी तो—ओं वसुभ्यस्त्वाऽपोहामि स्वाहा। ओं रुद्रेभ्यस्त्वाऽपोहामि स्वाहा। ओम् आदित्येभ्यस्त्वाऽपोहामि स्वाहा।—इस प्रकार मन्त्रों से स्वाहान्त द्वारा वृष्टि रोकने के द्रव्यों से आहुति प्रयुक्त करनी होगी। इस प्रकार इस मन्त्र में भी वर्षा कराने और रोकने के दोनों प्रकारों का वर्णन मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि सृष्टि में ऐसे भी द्रव्य विद्यमान हैं जिनसे वृष्टि कराई जा सकती है एवं वृष्टि रोकी भी जा सकती है।

मेघ-निर्माण में वनस्पतियों का सहयोग

शतपथ में सुपर्णी एवं कद्रू इनको वृष्टि-यज्ञ में प्रयुक्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है। हमें अनुसन्धान के द्वारा ज्ञात हुआ कि सुपर्णी का सोम से सम्बन्ध है और सोम का मेघ-निर्माण एवं वृष्टि-कार्य से सम्बन्ध है। अतः जो द्रव्य आकाश में सोम का निर्माण करें वे सौपर्ण द्रव्य की श्रेणी में परिगण-नीय हैं। कद्रू द्रव्य मेघों को वृष्टि के लिए क्रियाशील करते हैं। अतः वे द्रव्य जो मेघों की वर्षण क्रिया को करते हैं, वे काद्रवेय द्रव्य हैं। वनस्पतियों से मेघों के निर्माण में सहयोग प्राप्त होता है इसकी पुष्टि वेद के निम्न मन्त्र से उपलब्ध होती है—

अद्रिरसि वानपस्पत्यः। (यजु० १।१४)

अद्रिः अर्थात् मेघ वनस्पति के निमित्त से उत्पन्न होने वाला है। अद्रि शब्द निघण्टु में मेघ नामों में

पठित है। इन द्रव्यों का यज्ञ में प्रयोग होता है और उससे वृष्टिकार्य सम्पन्न होता है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि इस वृष्टिकार्य में यज्ञ प्रधान कार्य है। अतः यह ज्ञात करना-कराना आवश्यक है कि वृष्टिकार्य में यज्ञ की क्यों और कैसे उपयोगिता है। इसका ही प्रतिपादन याज्ञिक वृष्टिविज्ञान है।

(३)

यज्ञिक वृष्टिविज्ञान

वृष्टिजनक यज्ञ

'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'—यज्ञ से मेघ होते हैं और 'अभ्राद् वृष्टि'—मेघों से वृष्टि होती है यह जितना प्रत्यक्ष एवं शाश्वत सत्य है, उतना ही 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' यज्ञ से मेघ होते हैं यह भी शाश्वत सत्य है। बादल होने पर भी वर्षा नहीं होती, तो भी यह कोई भी नहीं कह सकता कि यह असत्य सिद्धान्त है। उसी प्रकार यज्ञ से बादल न भी उत्पन्न हों, तो भी यह सिद्धान्त असत्य नहीं ठहर सकता। बादलों के निर्माण में यज्ञ का अन्तरिक्ष में जितनी मात्रा में विस्तार एवं सामर्थ्य प्रसारित होनी चाहिए, उतनी मात्रा में न होने से मेघों का निर्माण नहीं होगा। सृष्टि के अन्दर एक यज्ञचक्र चल रहा है। उससे मेघों का निर्माण होता है। परन्तु उसी यज्ञचक्र एवं सिद्धान्त के आधार पर यदि हम भी अपने क्षेत्र में यज्ञ का आयोजन करें तो उससे भी मेघों का निर्माण होता है और उस यज्ञ से वर्षा भी होती है। अतः वेद ने यज्ञ को—'वर्षवृद्धमसि' (यजु० १।१६) वर्षा की वृद्धि करने वाला कहा है और 'वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' (यजु० १८।९) यज्ञ के द्वारा मेरी वृष्टि-क्रिया समर्थ हो और उससे वृष्टि हो यह भी उपदेश किया है।

आहुति से वर्षा का सम्बन्ध

यज्ञ से वर्षा होने के प्रसंग में वेद में अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत मन्त्रों से प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के २५ वें मन्त्र में 'व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु'—ये शब्द आते हैं। अर्थात् जिस यज्ञ का हम अनुष्ठान करते हैं वह मेघमंडल में जाकर पृथ्वी के स्थान विशेष पर वर्षा करता है। इस वाक्य में यज्ञ का—यज्ञ की आहुति का मेघमंडल में गमन होने की क्रिया से वर्षा का सम्बन्ध बताया है। यजुर्वेद अध्याय २ के मन्त्र १६ में—'मरुतां पृषतीर्गच्छ वशी पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह' इसमें बताया है कि यज्ञ की अग्नि में हम जो आहुति देते हैं वह वायुमार्गों से गमन करती है और वह अन्तरिक्ष स्थान में से द्युलोक तक पहुंचती है तथा पुनः द्युलोक से वह वृष्टि को लाती है। पूर्व मन्त्र में यज्ञ का मेघ मण्डल से सम्पर्क होकर वर्षा कराना और दूसरे मन्त्र में मेघ न होने पर यज्ञ की आहुति का द्युलोक तक पहुंचकर वहां से वृष्टि का हेतु बनना बताया है। इन दोनों मन्त्र वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ की आहुति का वर्षा करने से पूर्ण सम्बन्ध है, अतः 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।' (यजु० २२।२२) जब जब हम इच्छा करें तब तब मेघ बरसें, यह वेदवाक्य प्रत्यक्ष सिद्ध किया जा सकता है।

वर्षा के लिए मित्र और वरुण

यजुर्वेद अ० २ के १६वें मन्त्र में—'मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्' ये शब्द भी आते हैं। अर्थात् हे मित्र और वरुण तुम दोनों वृष्टि से हमारी रक्षा करो। वर्षा पृथ्वी पर होवे तो हमारी रक्षा होती है। यदि अतिवर्षा हो तो उससे हानि होती है अतः मित्र और वरुण ये दोनों अतिवृष्टि से हमारा रक्षण करें

यह भाव हुआ। मित्र और वरुण दोनों को ही—'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ' प्राण एवं उदान कहा गया है। मित्र और प्राण नाम से जिस एक तत्त्व को कहा गया है वर्तमान विज्ञान की परिभाषा में उसे ओषजन (Oxygen) कहते हैं और वरुण या उदान नाम से जिस तत्त्व को वेद में कहा गया है उसे उद्जन (Hydrogen) कहते हैं। इन दोनों से जलतत्त्व का निर्माण होता है। इसलिए वेद ने मित्र एवं वरुण के गुणों को—'तुम दोनों वृष्टि के द्वारा हमारी रक्षा करो' यह कहा है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि वर्षा कराने में मित्र और वरुणतत्त्वों की भी आवश्यकता है और यज्ञ की आहुति से इन दोनों तत्त्वों का आकर्षण, निर्माण या वृद्धि आदि होती है जिससे वृष्टि होती है। इसलिए अथर्ववेद में—मित्रा-वरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम्। (अथर्व० ५।२४।५) मित्र और वरुण को वर्षा का स्वामी कहकर रक्षा की प्रार्थना की है।

मित्र और वरुण का निर्माण

उपरोक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि वृष्टि के लिए मित्र और वरुण दो पदार्थ हैं उनसे जल बनता है। यदि हमें वर्षा करानी हो तो दोनों पदार्थों को बनाकर वर्षा करावें। यदि वर्षा रोकनी हो तो मेघमण्डलस्थ सूक्ष्म जलों को मित्र एवं वरुण रूप में पृथक्-पृथक् स्थापित कर दें। क्या मित्र और वरुण-तत्त्व को हम उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रश्न का समाधान वेद का निम्न मंत्र कर रहा है—

'कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम्।' (ऋ० १।२।३)

इस मन्त्र के तुविजाता और उरुक्षया पद महत्त्वपूर्ण हैं। तुविजाता का अर्थ है बहुत कारणों से उत्पन्न और बहुतों में प्रसिद्ध। उरुक्षया का अर्थ है संसार के बहुत से पदार्थों में इनका निवास है। इस प्रकार वेद ने स्पष्ट बताया है कि ये मित्र और वरुण अनेक पदार्थों में रहते हैं और उन पदार्थों से उत्पन्न एवं प्रकट किये जा सकते हैं। उरुक्षया पद में क्षय शब्द का अर्थ निवासस्थान, घर आदि है। जैसे घर में हमारी स्थिति होती है, उसमें हमारा निवास, आवागमन होता है उसी प्रकार से मित्र वरुण के घर के रूप में अनेक पदार्थ हैं जिनमें उनको रखा जा सकता है और उनसे प्राप्त भी किया जा सकता है।

आहुति द्रव्यों का ज्ञान

किस तत्त्व से मित्र प्राप्त किया जा सकता है और किससे वरुण तत्त्व प्राप्त किया जा सकता है यह ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वर्षा कराने और रोकने के कार्य में सहायता प्राप्त होस कती है। एक पदार्थ में रहने वाले एक तत्त्व को निकालना और उसका दूसरे से संयोग करना यह अग्नि के माध्यम से होता है। अतः अग्नि में इनका आहुति रूप में प्रयोग करके वर्षा कराना तर्क एवं विज्ञान सम्मत कार्य है। यह आहुति वायुमार्ग से अन्तरिक्ष और द्युलोक तक पहुंचती है और वहां पर अपने समान पूर्व अनुकूल तत्त्वों में मिश्रित होकर परिमाण में वृद्धि को प्राप्त होकर वर्षारूप में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार ऐसे तत्त्व जो दोनों को मिलाने वाले, आवश्यक तापमान को बनाने वाले या उनमें आर्द्रता, घनत्व एवं शीतलता की अनुकूल वृद्धि करने में सामर्थ्य रखते हैं उनके उपयोग का सामर्थ्य एवं समयानुसार क्रिया को करने से यज्ञ द्वारा वर्षा कराने में सहायता होती है। इसीलिए वेद में कहा है—यजा नो मित्रावरुणा यजा देवां ऋतं बृहत्। (यजुः ३३।३) महान् जलों के निर्माण के लिए मित्र और वरुण को हे अग्नि! तुम संगत करो।

अग्नि का वायुमण्डल पर प्रभाव

यज्ञ प्रारंभ होने पर सबसे प्रथम प्रभाव वायु के तापमान पर पड़ता है। यज्ञस्थान की वायु में ऊष्मा की वृद्धि होती और उससे वह वायु नीचे से ऊपर की ओर गति करती है। जब नीचे की वायु

ऊपर जाती है तो नीचे के खाली स्थान में आस पास की वायु प्रवेश करने लगती है और वह वायु भी उष्ण होकर ऊपर की ओर गति करती है। वायु में उष्णता से प्रसारण क्रिया होती है । प्रसारण से घनत्व की न्यूनता तथा घनत्व की न्यूनता से अपेक्षाकृत भार की न्यूनता होने से वह वायु ऊपर गतिशील हो जाता है। इस कारण से यज्ञाग्नि की निरन्तर क्रिया से पृथिवी से अन्तरिक्ष तक वायु की ऊर्ध्व, शीर्ष गति लम्ब रूप में प्रारंभ हो जाती है। यह गति प्रारंभ में कुछ दूर तक अनुमानतः १ घंटे में २० किलोमीटर की गति से प्रारंभ होकर उत्तरोत्तर गति में न्यूनता प्राप्त करती जाती है। इस प्रकार अन्तरिक्ष में जितनी ऊंचाई तक यह वायु नीचे से ऊपर की ओर गति करने लगती है उसके अनुसार ऊपर की वायु भी इसी मार्ग से नीचे की ओर गति करने लगती है। इस प्रकार यज्ञस्थान से वायुमण्डल के एक विशाल तथा उर्ध्वक्षेत्र में वायु का चक्र चलने लगता है। और यज्ञ में प्रयुक्त आहुति द्रव्यों को वाष्पधूम्र एवं सूक्ष्म अंशयुक्त परमाणुओं से वह स्थान पूरित हो जाता है तथा क्रमशः अपने समीप के क्षेत्र को भी प्रभावित कर विशाल होता जाता है। वेद में आहुति शक्ति से वायु को ऊर्ध्वगतिशील बनाने के लिए लिखा है—

स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्। (यजु: ६।१६)

अर्थात् यज्ञ में स्वाहापूर्वक आहुति देने से वायु ऊपर आकाश में जावे।

वायुमण्डल में गन्धर्वशक्ति की वृद्धि और उससे जल का आहरण एवं धारण

यज्ञ के निरन्तर कुछ काल तक होने से यज्ञ प्रभावित वायुचक्र का क्षेत्र उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता जाता है और उसमें तापमान की वृद्धि से उस वायु की जल को अपने में आत्मसात् कर धारणाशक्ति बढ़ जाती है और ऊपर की आर्द्रता को भी वह नीचे आकर्षित करने में समर्थ हो जाती है। जितना ही उस वायु में यज्ञ से तापमान बढ़ता जाता है उतना ही वायु का जल को धारण करने का सामर्थ्य भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार यज्ञ से एक विशिष्ट प्रकार के तापमान युक्त वातावरण का जल-धारणा के साथ उस विशिष्ट क्षेत्र में निर्माण होता जाता है जो वर्षा का कारण बन जाता है। वायु की यह जल-धारणाशक्ति ही उसका गन्धर्वत्व है। गन्धर्व का अर्थ है—

यो गां जलं धारयति सो गन्धर्वः।

जो जलों को धारण करे वह गन्धर्व है।

यज्ञ से मरुद्गणों का निर्माण

यज्ञ में थोड़ी थोड़ी देर से घृत एवं हव्य पदार्थों की आहुति दी जाती है। घृत की आहुति देने से अग्नि की ज्वालाएँ एकदम तीव्र हो जाती हैं। पुनः दूसरी आहुति देने तक उसमें ज्वाला की न्यूनता का क्रम चलता है। इस प्रकार ज्वाला की एकदम तीव्रता और क्रमशः न्यूनता से वायुगति एवं ताप को उस क्षेत्र में वेगपूर्वक आगे बढ़ाने के लिए तीव्र आघात क्रमशः लगते जाते हैं। ये आघात उस क्षेत्र में आहुति द्रव्य के सूक्ष्म परमाणुओं से तथा वायु में ताप के न्यूनाधिक स्तरों के कारण वायु के विविध स्तरों के निर्माण करने में सहायक हो जाते हैं। जिनमें तापमान की क्रमिक न्यूनाधिकता समाविष्ट रहती हैं। दो आहुतियों के मध्य के समय में जो वायु प्रभावित होती है उसके तथा आहुति के समय में प्रभावित वायु के तापमान में न्यूनाधिकता हो जाने से एक विशिष्ट प्रकार के तापमान से युक्त अन्तरिक्ष में अनेक वायु की लहरें या स्तर बन जाते हैं इसलिए यज्ञ द्वारा अन्तरिक्ष में आहुति को भेजना पड़ता

है। और "अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा" (यजु: अ० ६।२२) यज्ञ में प्रयुक्त आहुति अन्तरिक्ष में जावे। इस निमित्त यज्ञ की क्रिया करनी पड़ती है।

यज्ञकुण्ड से अन्तरिक्ष-गति पर प्रभाव

उपरोक्त वातावरण का निर्माण पृथिवी से ही यज्ञकुण्ड द्वारा उत्तम रीति से होता है। विविध प्रकार के कुण्डों की आहुतियों से अन्तरिक्ष में भी विविध प्रकार का प्रभाव पड़ता है। यदि कुण्ड एक सा गहरा हो, जैसा की मिलों की चिमनी होती है तो उस से वायु-मण्डल में गति का क्रम ऊपर की ओर सीधा तो होगा परन्तु यह एक बड़े क्षेत्र की वायु को गति देने एवं प्रभावित करने में उतना समर्थ नहीं होगा जितना कि ऊपर से चौड़े एवं नीचे से संकरे कुण्ड से होता है। इस प्रकार के कुण्ड से क्षितिज क्षेत्रानुकल गति के वायुमण्डल में निर्माण होने में सुविधा होती है। अत: वायु-मण्डल या अन्तरिक्ष में जैसी स्थिति के निर्माण की आवश्यकता है वैसे कुण्ड का उपयोग करना चाहिए। इसलिए किन्हीं अवसर एवं स्थितियों में जब अनेक प्रकार के कुण्डों की आवश्यकता हो तो उनके द्वारा पृथिवी से द्युलोक तक के मण्डल को घृतादि की आहुतियों के सूक्ष्म अंश से भरा जाता है। वेद में कहा है—

घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथाम् (यजु: ६। १६)

यज्ञ के द्वारा घृतादियों से पृथिवी से द्युलोक के मध्य के अन्तरिक्ष को भर दो।

यज्ञ से मेघों का निर्माण

यज्ञाग्नि से अन्तरिक्षस्थ वायु में घर्म (ताप) की वृद्धि से जल का अधिक मात्रा में समावेश हो जाता है और यज्ञकुण्ड की क्रिया का क्रम जब समाप्त हो तो यज्ञ से प्रभावित वायुमण्डल में तापमान की उत्तरोत्तर न्यूनता होती जाती है और उस वायु में वाष्प के घनत्व का संकोच एवं आर्द्रता की वृद्धि का क्रमश: निर्माण होने लगता है जिससे मेघों का रूप आकाश में दृष्टि-गोचर होने लगता है। कभी-कभी अन्तरिक्ष तापमान के प्राकृतिक कारणों से मेघ-निर्माण में न्यूनाधिक परिवर्तन भी होते हैं उन अनुकूल प्रतिकूल कारणों के स्थापना एवं निराकरण की विधि का ज्ञान प्रयोक्ता को होना चाहिए।

यज्ञ से वर्षा

यज्ञ के द्वारा आहुति में प्रयुक्त घृतादि से सूक्ष्म अंश तथा हव्य द्रव्यों के मरुद्गण (विविध गैस एवं यज्ञ द्वारा उत्पन्न कार्बन तथा रजकणों का संयोग उन बादलों में मिश्रित होकर जमाने की क्रिया को उत्पन्न करता है। घृत के वाष्पकण जल के कणों से संयुक्त होने पर भार में उनसे हलके होने से उनके ऊपर के स्तर पर जमने एवं जमाने की क्रिया करते हैं। कुछ द्रव्य ऐसे भी होते हैं जो जल में वहां विलय हो जाते हैं तथा कुछ द्रव्यों के रज:कण एवं घृतावरणयुक्त कार्बन-कण वाष्प में मिश्रित होने पर घृत की अपेक्षा भारी होने से जलकणों के नीचे के भाग में जमकर बादलों में घनत्व, गुरुत्व आर्द्रता एवं शीतलता की वृद्धि उत्तरोत्तर करते जाते हैं और उनसे दूसरे जलकणों में भी समूहरूप में गुरुत्व, घनत्व आर्द्रता एवं सान्द्रता की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार जलकणों के दोनों शीर्ष विपरीत स्थिति एवं गति में परिवर्तन करते हैं और दोनों गतियों में चक्राकार गति क्रियाशील होकर घनत्व, गुरुत्व एवं हिमत्व की ओर अग्रसर होते जाते हैं। इस स्थिति से जल-कणों में सरलता से शीतलता एवं हिमत्व की वृद्धि होने से बादलों में भार बढ़ जाता है और उन मेघों से वर्षण-क्रिया प्रारम्भ होने लगती है।

मेघों में यज्ञ की क्रियाशीलता

जब मेघ आकाश में होते हैं तो अनुकूल स्थिति में यज्ञ द्वारा वे नीचे भी आने में समर्थ होते हैं और उनके साथ आहुति के द्रव्यों का संयोग हो जाने से पूर्वोक्त प्रकार से वर्षण-क्रिया भी शीघ्रता से हो जाती है और कभी प्रतिकूल स्थिति होने पर उस समय बादल हट भी सकते हैं परन्तु यज्ञ की समाप्ति के कुछ समय पश्चात् मेघ पुनः प्रकट हो जावेंगे या आ जावेंगे और इन पदार्थों के धूम्र के मिश्रण को प्राप्त कर उस क्षेत्र में बरस जावेंगे। यज्ञ से पूर्व अत्यल्प बादलों के होने पर ही प्रायः उनके कुछ काल के लिए अदृश्य होने की स्थिति होती है।

वर्षा के लिए हुत एवं हव्य पदार्थों की आवश्यकता

अग्नि प्रदीप्त करने मात्र से वातावरण में गति होने से ही वर्षा नहीं होती अपितु उसके साथ उस वाष्प में घनत्व, गुरुत्व, आर्द्रता, सान्द्रता, तरलत्व एवं हिमत्व सामर्थ्य उत्पन्न कराने के लिए घृतादि सदृश पदार्थ तथा अन्य द्रव्यों की भी आवश्यकता रहती है। रेल, कल कारखाने एवं मोटरों के धूम्रों से मेघ की उत्पत्ति या उनमें घनत्व तथा जमने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता है। यह क्रिया इच्छित अवसर पर वर्षा कराने के लिए यज्ञ में प्रयुक्त घृत एवं हव्य पदार्थों से ही होती है। इसलिए वेद ने कहा घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम् (यजु अ० ५। २८) अर्थात् हे यज्ञ! तुम द्युलोक और पृथिवी को घृताहुति से पूर्ण कर दो।

आहुतियों का अन्तरिक्ष में विभाजन

आहुतियों का अन्तरिक्ष में विस्तार एवं प्रभाव-क्षेत्र विभिन्न रूप में होता है। ऊपर के क्षेत्र में अति सूक्ष्म अंश पहुंचता है, उससे कुछ स्थूल अंश मध्य के क्षेत्र में और उससे भी स्थूल भाग और भी नीचे के क्षेत्र में पहुंचता है। इस प्रकार भारी तत्त्व पृथिवीमण्डल के समीप के अन्तरिक्ष में, उससे सूक्ष्म पदार्थ उससे ऊपर के अन्तरिक्ष क्षेत्र में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार एक आहुति अनेक रूप में विभक्त होकर अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाती है। यही यज्ञाहुति का पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ में गमन है। यही वेद में विष्णु (यज्ञ) का त्रिलोकी में गमन एवं व्याप्ति—'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' (यजु० ५।१५) इस मन्त्र में वर्णित है।

छन्दों द्वारा अन्तरिक्ष का विभाजन

यज्ञ में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता है और उनके अनुसार ही आहुति होती है। छन्दों के अनेक भेद होते हुए भी अन्तरिक्ष को स्थूल रूप से तीन स्थानों में विभाजित किया जाता है, पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ। अन्तरिक्ष का वह भाग जो पृथिवी से सम्बन्ध रखता है और उसके प्रभाव से प्रभावित रहता है वह पृथिवीमण्डल का अन्तरिक्ष है। यह पृथिवीमण्डल के ऊपर के अन्तरिक्ष से सम्बन्धित है। यह गायत्री छन्द की परिधि है। इसी परिधि में मेघों का निर्माण होता है। यही गायत्र-मण्डल है। इससे ऊपर के अन्तरिक्ष का क्षेत्र त्रैष्टुभमण्डल है और उससे भी ऊपर के अन्तरिक्ष का क्षेत्र जागतमण्डल है। इसलिए वेद ने कहा—'छन्दांसि गच्छ स्वाहा।' (यजुः ६।२१) यज्ञ की आहुतियां छन्दविभाग को प्राप्त हों।

यज्ञ-प्रक्रिया से छन्दों का सम्बन्ध

गायत्री छन्द के मन्त्रों में २४ अक्षर होते हैं अतः इनके उच्चारण काल के पश्चात् जो आहुति

दी जावेगी उनके काल में एक समान अन्तर होता चला जाएगा। एक आहुति के पश्चात् दूसरी आहुति का समय, नियत समय पर ही आएगा। परन्तु इन आहुतियों में कुछ आहुतियों के अग्नि में पूर्ण भस्म और द्रव्य के कुछ भाग की अर्धदग्धता भी रहेगी। अर्ध दग्ध आहुतियों के ऊपर आहुतियां होते रहने से उससे निष्पन्न धूम्र गैस या वाष्पीय भाग में सूक्ष्म भाग कम निष्पन्न होगा अपितु उसके धूम्र भाग में स्थूल भाग का प्रधानत्व होगा। अतः उन आहुतियों का अंश भारी होने से पृथिवी से ऊपर उठ कर गायत्रमण्डल में ही प्रमुख रूप से भ्रमण करेगा।

त्रिष्टुभ छन्द में ४४ अक्षर होते हैं अतः उसके उच्चारण में गायत्री के दुगने से कुछ कम समय लगेगा। इन मन्त्रों से क्रमपूर्वक आहुतियां देने से हुत पदार्थ पूर्वापेक्षा अधिक देर जलने से अच्छे प्रकार सूक्ष्म एवं वाष्पमय होकर गायत्रमण्डल से ऊपर के भाग में गमन करने में समर्थ होंगे और जगती छन्द ४८ अक्षर वाला होने से उसके उच्चारण में और भी विलम्ब होने से आहुति को अग्नि से अति सूक्ष्मत्व प्राप्त होने से तथा आहुतियों के क्रमानुसार होने से उसी प्रकार दीर्घ अन्तर के हुत द्रव्य मिश्रित वायवीय स्तर अन्तरिक्ष में बनेंगे। जिस प्रकार से आकाश में इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होता है और उसमें विविध रंग प्रतीत होते हैं उसी प्रकार से यज्ञ की छन्दोमय आहुतियों से हव्य द्रव्य के वाष्प या धूम्र के स्तरों का अन्तरिक्ष में निर्माण होता जाता है और उत्तरोत्तर आहुतियों से पूर्व पूर्व के स्तर उत्तरोत्तर ऊपर को बढ़ते जाते हैं। इसलिए वेद ने 'दिवं ते धूमो गच्छतु' (यजु० ६।२१) यज्ञ का धूम्र उत्तरोत्तर बढ़कर द्युलोक तक जावे इस प्रकार कहा है।

छन्दोमय आहुतियों से अन्तरिक्ष के निश्चित स्थल पर क्रियाशीलता और गायत्रमण्डल पर प्रभाव

पूर्वोक्त प्रकार से यज्ञ में छन्दपूर्वक आहुति देने से हमें अन्तरिक्ष के जिस स्थान पर आहुति को क्रियाशील करना हो वहां के अन्तरिक्ष को क्रियाशील किया जा सकता है। आकाश में यदि मेघ हैं और वे वर्षते नहीं हैं तो उनको वर्षाने के लिए या अधिक बरस रहे हों तो उनको दूर करने के लिए हमें यह निश्चय कर लेना चाहिए कि यह किस छन्द की सीमा में है। पृथिवी से अनुमानतः १० किलोमीटर तक की ऊंचाई की परिधि को हमने गायत्रमण्डल माना है अतः आकाश में बादलों की स्थिति गायत्रमण्डल के, अन्तर्गत हुई। ऐसी स्थिति में गायत्री छन्द के मन्त्रों से जो आहुतियां होंगी उनसे उत्पन्न धूम्र एवं वाष्प में घनत्व एवं भार अपेक्षाकृत अधिक होगा और छोटे-छोटे स्तरों का अन्तरिक्ष में निर्माण होगा और उसके अधिकांश भाग की पहुंच प्रधान रूप से गायत्र मण्डल की परिधि में ही विचरण करेगी तथा इस मण्डल के अन्तर्गत जो मेघ होंगे उन पर वह अपना प्रभाव करेगी। इसी भाव को वेद में 'पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण च्छन्दसा' (यजुः २।२५) यज्ञ रूपी जो विष्णु है वह गायत्री छन्द से पृथिवीमण्डल की परिधि में पहुंचता है—इस प्रकार प्रकट किया है।

त्रैष्टुभ एवं जागत मण्डलों पर प्रभाव

छन्दोच्चारणपूर्वक आहुति के विविध क्रम से उससे निर्मित वाष्पमय धूम्र पर उसकी सूक्ष्मता विरलता, गति एवं वायवीय स्तर निर्माण में अन्तर उत्पन्न हो जाता है। अतः त्रैष्टुभ छन्दों के साथ दी हुई आहुति के अधिकांश भाग की गति एवं पहुंच गायत्रमण्डल से ऊपर के अन्तरिक्ष क्षेत्र में प्रधान रूप से सक्रिय होगी और उस क्षेत्र के तत्त्वों को वह आहुति विशेष प्रभावित करेगी। जिस प्रकार से तालाब में उत्पन्न बड़ी लहरें वेग से प्रान्त भाग तक आघात करती हैं और उसमें बड़ी-बड़ी लहरों का ही रूप हो जाता है तथा छोटी लहरों का प्रभाव क्षेत्र प्रमुख रूप से मध्य क्षेत्र में ही प्रभावशील

रहकर प्रान्त भाग में नगण्य एवं प्रभावहीन होता है, उसी प्रकार छन्दरूप से विविध आहुतियों का विस्तार एवं प्रभाव अन्तरिक्ष में ही होता है। इसी स्थिति को वेद ने—'अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा' (यजुः २।२६) में प्रकट किया है।

इसी प्रकार त्रैष्टुभ मण्डल से भी ऊपर के मण्डल जिसमें द्युलोक आदि हैं उस पर जगती छन्द के मन्त्रों की आहुतियों से विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि आकाश में मेघ नहीं हैं तो गायत्रमण्डल से ऊपर के आकाश में से जलीय सूक्ष्म वाष्प एवं आर्द्रता को पृथिवीमण्डल की परिधि या गायत्र मण्डल के क्षेत्र में लाने के लिए यज्ञ द्वारा त्रैष्टुभ एवं जागत छन्दों के क्रमपूर्वक व्यवधान से आहुतियों के अग्नि में प्रयोग से उस क्षेत्र के अन्तरिक्ष में आहुति के सूक्ष्म अंशों के स्तर निर्माण करने होंगे। वे स्तर अपने अन्दर वहाँ की आर्द्रता को धारण कर गुरुत्वाकर्षण को प्राप्त होकर नीचे की की ओर स्वभावतः जावेंगे। इस प्रकार जब मेघ न हों तब मेघों के निर्माण का कार्य यज्ञ से हो जाता है। यह कार्य यज्ञ के प्रकार से उत्तम रीति से हो जाता है अतः यह इस निमित्त श्रेष्ठ उपाय है।

यज्ञ द्वारा आहुतिप्रधान कार्य से वर्षा

सृष्टि के अन्दर अनेक द्रव्य हैं उन द्रव्यों में अनेक प्रकार के गुण हैं। उन द्रव्यों के गुणों के ज्ञात होने पर उनका उचित स्थिति में प्रयोग करने से अपने अनुकूल स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। पदार्थों के इस प्रकार गुणागुण बल के ज्ञात हो जाने से अनेक प्रकार के कार्य हो सकते हैं। सृष्टि में किसी तत्त्व की वृद्धि एवं क्षय इसके द्वारा सम्भव है। वर्षा के अभाव में वर्षा कराने में सहयोगी तत्त्वों के प्रसारण से मेघ-निर्माण तथा वर्षा की उत्पत्ति होती है एवं वृष्टि रोकने के तत्त्वों का अग्नि के माध्यम से वायु में प्रसारण-क्रिया द्वारा इच्छित लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

वर्षा के लिए सोमत्व की आवश्यकता

वर्षा मेघों से होती है। मेघों के निर्माण में सोम तत्त्व की आवश्यकता है और सोम तत्त्व के लिए श्रद्धा-तत्त्व की आवश्यकता है। अर्थात् श्रद्धा से सोम का निर्माण, सोम से मेघ का निर्माण और मेघ में वृष्टि-जलों का निर्माण होता है यह क्रम है। यह सब जल की उत्तरोत्तर सूक्ष्म एवं विरल अवस्थाएं हैं। श्रद्धा अत्यन्त सूक्ष्म जल की अवस्था है। सूर्य की ऊष्मा से, पृथिवीस्थ ऊष्मा से तथा दोनों की सम्मिलित ऊष्मा से पृथिवी-मण्डल के ऊपर की परिधि में विचरण करनेवाले मातरिश्वा नामक वायु से उत्पन्न घर्म—ताप—पृथिवीस्थ जलों के एवं वृक्ष वनस्पतियों के रसों के जलीय अंश का वायु द्वारा शोषण एवं धारण होकर सूर्य रश्मियों के ताप से उन जलों की ऊपर गति होती रहती है। जल की अत्यन्त सूक्ष्म एवं विरलावस्था श्रद्धा संज्ञक है। जल की इस श्रद्धामय स्थिति में जल में कुछ घनत्व एवं आर्द्रता होती है तो वह सोम रूप में परिणित हो जाता है। यज्ञ की आहुतियों से श्रद्धारूपी सूक्ष्म जलों में उत्पन्न आर्द्रता एवं घनत्व की स्थिति रूप में परिवर्तन ही सोम है। वह बादलों की स्थिति नहीं है अपितु बादलों की पूर्व प्रकृति है। अर्थात् बादलों के बनने से पूर्व की निकट स्थिति सोम संज्ञक है। उसमें यज्ञ द्वारा आहुति को क्रियाशील करने के लिए—सोमं गच्छ स्वाहा (यजुः ६।२१) आहुति सोम को प्राप्त हो ऐसा कहा है।

यज्ञ का सुपर्णत्व

आकाशमण्डल में व्याप्त सूक्ष्म श्रद्धा नामक जलों को वर्षा के अभाव में सोम रूप में परिणत किया जा सकता है। यज्ञ द्वारा यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती है जैसा कि पूर्व विवेचन में वर्णित किया है। परन्तु यदि आहुति के द्रव्यों का विशेष ज्ञान हो तो उन पदार्थों की आहुति से सोमस्थिति का

अन्तरिक्ष के क्षेत्र में शीघ्र निर्माण किया जा सकता है। हुत द्रव्यों को अपने स्थान पर पहुंचा देने से सौपर्णत्व सिद्ध हो जाता है। अतः यज्ञ सुपर्ण होकर अन्तरिक्ष में जाता है और उससे वर्षा होती है। यही सुपर्ण आहुति है अर्थात् हुत द्रव्य को पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यो के क्षेत्र में यथावत् विभक्त करके स्व-स्व स्थान में क्रिया उत्पन्न करने के लिए पहुंचाना। यही भाव वेद के—भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः (यजुः १८। ४२) मन्त्र में वर्णित है। यहां यज्ञ का विशेषण सुपर्ण कहा है अर्थात् जिसके अन्दर अन्तरिक्ष में गमन करने का, पालन करने का एवं कार्य पूर्ण करने का सामर्थ्य है वह सुपर्ण है। यज्ञ आहुति द्रव्य को लेकर सुपर्ण होकर अन्तरिक्ष में गमन करता है अतः यज्ञ भी सुपर्ण है।

सुपर्ण तत्त्व और सौपर्ण पदार्थ

जिस पदार्थ का जो भाग अग्नि के संयोग से जितना ऊर्ध्व गमनशील है उसमें उतना ही सौपर्णत्व विद्यमान होता है। ऐसे पदार्थों में भी जिन पदार्थों से अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म जलों में घनत्व एवं आर्द्रता की वृद्धि होती है वे सौपर्णत्व प्रधान द्रव्य सौपर्ण श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ऐसे पदार्थों की यज्ञाग्नि में आहुति से वर्षा कराने की प्रक्रिया में सोम का निर्माण शीघ्र होता है। ऐसे कुछ द्रव्यों का अनुसंधान करके पता लगाया भी है और उनका कुछ परीक्षण करने का भी अवसर प्राप्त हुआ एवं सफलता भी देखने को मिली। सन् १९६१ के जून मास में दिल्ली में वर्षा यज्ञ के परीक्षण के अवसर पर ऋत्विजों को पूर्व ही बता दिया गया था कि प्रारम्भ में आकाश में सोम भरने की क्रिया की जावेगी और तदनुसार सौपर्ण द्रव्यों का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप वहां के पृथिवीमण्डल के वातावरण में आर्द्रता एवं घनत्व की वृद्धि का परिणाम दृश्य स्थिति में परिणत हुआ।

कद्रू तत्त्व एवं काद्रवेय द्रव्य

जल की सोम रूप इस विरल अवस्था में और भी घनत्व, सार्द्रता एवं सान्द्रता उत्पन्न करने से मेघों का रूप प्रकट हो जाता है। अतः सोम तत्त्व में और भी सान्द्रता, सार्द्रता एवं घनत्व वृद्धिकारक पदार्थों की आहुति से मेघ बनने प्रारम्भ होंगे। पदार्थों का वह भाग जो आकाश में जाकर वायवीय स्तरों के मार्ग से सोम रूप स्थिति में ऊर्ध्व गति न करके तिर्यक् गतिशील होकर सोम तत्त्व को बादल में परिणत करके तिर्यक् गतिशील तत्त्व बनता है वह कद्रू तत्त्व है और यह सामर्थ्य जिन पदार्थों में विशेष रूप से होती है वे काद्रवेय तत्त्व हैं। ऐसे द्रव्यों की भी एक श्रेणी अनुसन्धान से ज्ञात हुई है। सुपर्ण एवं कद्रू की आहुतियों से वर्षा कराने की शतपथ की कथा विज्ञान के मार्ग में प्रेरक होने से इस दिशा में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने वाली है। अतः सौपर्ण द्रव्य एवं काद्रवेय द्रव्यों की आहुति से वर्षा होती है।

वर्षा के लिए इन्द्रतत्त्व की क्रियाशीलता

जब सोम में कद्रू तत्त्व की प्रधानता हो जाती है तब सौपर्ण तत्त्वों की ऊर्ध्वगति में कद्रू तत्त्व की तिर्यक् गतियों से उसमें संघर्षण रूपी क्रिया विशेष प्रारम्भ होने से ज्योतिर्मय घटक तीव्र तिर्यक् गति करते हुए बिन्दु रूप में विभिन्न आकार के दीखने लगते हैं। किन्हीं किन्हीं में ज्योतिर्मय पुच्छ भी दृष्टिगोचर होती है। यह ऐन्द्रतत्त्व के जाग्रत् एवं उद्बुद्ध होने से होता है। बादलों में सान्द्रता, आर्द्रता एवं घनत्व की वृद्धि से वाष्प के घटकों के परस्पर आकर्षणपूर्वक गति होने से उनके संघर्षण से सैकड़ों स्फुलिंग उनमें स्थित कार्बन कोशों से प्रकाशमय रूप में परिवर्तित होकर मित्र और वरुणतत्त्वों को तरल जल रूप प्रदान कर देते हैं। ये स्फुलिंग क्रिया प्रारम्भ में थोड़ी मात्रा में उत्पन्न होकर कुछ ही काल में बहु संख्या में दृष्टिगोचर होने लगती है। यही ऐन्द्रतत्त्व जब एक श्रृंखला के धारा रूप धारण कर लेते हैं तो मेघ में

विद्युत् प्रकाशित होने लगती है। कभी कभी उस क्रिया के साथ मेघों के विशेष क्रियाशील होने से विद्युत् के साथ घनगर्जना भी होती है। उन मेघों की उस स्थिति को स्तनयित्नु कहते हैं। मेघों में इन्द्र तत्त्व के प्रहरण से ही वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। यही वृत्रासुर वध का रूपक है। इन्द्रतत्त्व की वृद्धि मेघों में जिन पदार्थों से आहुति के माध्यम से की जा सकती है वे ऐन्द्र द्रव्य हैं। इसका यज्ञ की आहुति से सम्बन्ध मेघों में इन्द्र (विद्युत्) तत्त्व की जागृति में होता है।

द्रव्य एवं ऋतु-विज्ञान

वृष्टि-यज्ञ में आकाश की स्थिति एवं ऋतु की स्थिति को देखकर उनमें किस स्थान पर क्या क्रिया करनी है यह निदान करके आहुति के लिए आवश्यक द्रव्य एवं छन्दों का उचित रीति से समुचित मात्रा में विनियोग करने से सफलता प्राप्त होती है। वर्षा-यज्ञ में द्रव्य, ऋतु एवं छन्दविज्ञान का समुचित ज्ञान आवश्यक है। जितना सूक्ष्म अध्ययन द्रव्य - एवं ऋतु स्थिति का होगा उतनी ही सफलता का सुनिश्चय प्रयोक्ता को होगा। इस याज्ञिक वृष्टि-विज्ञान की-सफलता याज्ञिक पर्जन्य-विज्ञान से सम्बन्धित है और दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। अतः इसका भी विवेचन आवश्यक है।

(४)

याज्ञिक पर्जन्य-विज्ञान

जल एवं पर्जन्य-विज्ञान के सम्बन्धों में ज्ञान की प्रेरणा देने वाला एक मन्त्र निम्न प्रकार है—

नमः कूप्याय चाऽवट्याय च नमो वीध्र्याय चाऽतप्याय च।
नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चाऽवर्ष्याय च॥ (यजु० १६।३८)

इस मन्त्र में जलविद्या को जानने वाले और उसके सम्पादनकर्ताओं की विविध ८ श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए आदर, सत्कार या नमस्कार-भाव प्रकट करने का आदेश दिया है क्योंकि इन आठ प्रकार के व्यक्तियों के राष्ट्र में न होने से जल के अभाव की पूर्ति विविध प्रकार से सम्भव नहीं है। आज भी हमारे देश में इन विभागों के लिए विविध प्रकार के प्रतिभा सम्पन्न-कुशल वैज्ञानिक व्यक्तियों की आवश्यकता हैं। वेद ने इस मन्त्र में ८ प्रकार के व्यक्तियों को जल की समस्या हल करने के लिए सम्मानित किया है। वर्तमान स्थिति में भी यदि इसी प्रकार के व्यक्तियों को राष्ट्र सम्मानित करे तो राष्ट्र में इस विद्या को प्रोत्साहन भी प्राप्त होगा और समस्या का हल भी निकल सकेगा।

मन्त्र में सम्मान-प्रदर्शित निम्न आठ प्रकार के कुशल वैज्ञानिकों का उल्लेख है—

(१) 'कूप्याय' = कूप निर्माण में कुशल व्यक्तियों के लिए
(२) 'अवट्याय' =जल गर्त निर्माण-कार्य में कुशल व्यक्तियों के लिए
(३) 'वीध्र्याय' =अवर्षणशील पर्जन्य, अभ्रविज्ञान में कुशल के लिए
(४) 'आतप्याय' =आतपविज्ञान में कुशल के लिए
(५) 'मेघ्याय' =वर्षणशील मेघों के निर्माण-विज्ञान में कुशल के लिए
(६) 'विद्युत्याय' =वर्षा निमित्त विद्युत्-विज्ञान में कुशल वैज्ञानिक के लिए
(७) 'वर्ष्याय' =वर्षा कराने में कुशल व्यक्ति के लिए
(८) 'अवर्ष्याय' =वर्षा को रोकने के कार्य में कुशल व्यक्ति के लिए

उपरोक्त प्रकार के व्यक्तियों से ही जल-समस्या हल हो सकेगी। इन्हीं के अनुसार योजनाएं

बनाने से कार्य हो सकेगा अन्य प्रकार से नहीं। इनमें से प्रथम और द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों का सम्बन्ध पृथिवी के जलों के सम्पादन, संग्रह एवं उनके संरक्षण कार्यों से है।

(१) कूप-कार्य

कूप-कार्य के अन्तर्गत वे सब कार्य हैं जिनसे पृथिवीस्थ जलों को हम अपने उपयोग में लाने में समर्थ होते हैं।

(२) अवट् कार्य

अवट् कार्य के अन्तर्गत बाँध, जलाशयादि का निर्माण कार्य करके जल-संग्रह कार्य होने से उन जलों का आवश्कतानुसार उपयोग लेने में हम समर्थ होते हैं।

परन्तु पृथिवीस्थ जलों की प्राप्ति के इन दोनों साधनों में जल की पूर्ति का मूल स्रोत तो वृष्टि ही है। पृथिवी के अन्दर जो अनेक प्रकार के स्रोत समुद्र सतह से ऊपर प्राप्त होते हैं उनकी वृद्धि, पूर्ति एवं निर्माण में वृष्टि जल, पर्वतीय हिमजल आदि ही परोक्ष रूप से कारण हैं। यदि हम पृथिवी के स्रोतों से उपलब्ध जलों को प्रत्येक कार्य में निरन्तर उपयोग में लाते जायें और साथ ही कुछ वर्षों तक वृष्टि न हो तो प्रतिवर्ष पृथिवीस्थ स्रोतों के जलों की राशि में न्यूनता ही होती जायेगी। इस प्रकार स्रोतों के जलों की राशि की गहराई में कमी हो जाती है और जल की सतह नीची होती जाती है। अनेक स्रोत जो पृथिवी में पहले ऊपर ही कुछ ही गहराई में प्राप्त हो जाते थे वे सूखते जावेंगे और क्रमशः नीचे के स्रोत भी सूखते चले जावेंगे।

वेद ने पृथिवी और द्यौ इन दोनों को जल का प्रदाता कहा है, जैसा कि—

येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान् स्वप्नसस्तां आदित्यां अनुमदा स्वस्तये॥ (ऋ० १०।६३।३)

अर्थात्—"येभ्यो माता मधुमत् पयः पिन्वते"=जिन आदित्य रश्मियों के लिए पृथिवी माता अति मधुर दूध को, विविध अन्न, फल, वृक्षादि द्वारा तथा विविध प्रकार के जलों को देती है—तथा "पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः (पिन्वते)"=मेघों से भरा हुआ प्रकाशमय अन्तरिक्ष एवं द्युलोक अमृतमय दिव्य जलों को देता है। "उक्थशुष्मान् वृषभरान् स्वप्नसः तान् आदित्यान्"=उन अत्यन्त बल वाली, पोषण करने वाली, शोभन कर्मयुक्त सूर्य रश्मियों को, "स्वस्तये अनुमद"=कल्याणकारक वृष्टि कर्म के लिये हमें प्राप्त कराइए।

इससे ज्ञात होता है कि जो भी जल वर्षा द्वारा उत्पन्न होता एवं वर्षता है वह पृथिवी को ही प्राप्त हो जाता है और उससे पृथिवी माता—"मधुमत् पयः पिन्वते"=मधुर जलों की दाता बनी रहती है। अतः पृथिवीस्थ जलों की पूर्ति के लिए वृष्टि की आवश्यकता रहती है।

(३) पर्जन्य-विज्ञान-कार्य

अन्ततोगत्वा वृष्टि पर ही पार्थिव जलों की निर्भरता के कारण वेद ने पूर्व मन्त्र में वृष्टि के लिए अन्तरिक्ष स्थानीय ६ साधनों का दिग्दर्शन कराया है इनमें प्रथम साधन 'पर्जन्यविज्ञान' है।

पर्जन्य उस प्रकार के बादलों की संज्ञा है जो अन्तरिक्ष में जलीय गर्भ के प्रथम स्थापक एवं धारक होते हैं। इनके द्वारा अन्तरिक्ष में जलों के गर्भ के स्थापन का कार्य होता है। जलीय गर्भ की प्रथम स्थिति इन्हीं से निर्मित होती है। ये शुक्र वर्ण के होते हैं। अन्तरिक्ष में श्वेत वर्ण वाले बादल ही प्रथम गर्भ चिह्न स्वरूप हैं। इनमें बरसने की सामर्थ्य नहीं होती है। अपितु फैलकर आयतन में विस्तृत

होने की सामर्थ्य होती है। ये पर्जन्य अभ्र संज्ञक भी हैं। अन्तरिक्ष में कहीं भी प्रकट होकर पुनः अन्तरिक्ष में विलीन होते रहते हैं। जो मेघ रूप को प्राप्त हो जाते हैं वे प्रायः विलयावस्था को प्राप्त नहीं होते हैं, अपितु वायु के द्वारा इतस्ततः कहीं न कहीं बरस कर ही अस्तित्वहीन हो जाते हैं। जलीय गर्भ के धारक पर्जन्य ही पुष्ट होकर मेघ रूप को प्राप्त होकर बरसते हैं। अतः वेद में गर्भस्थापक इस प्रथम पर्जन्य को—"पर्जन्य पिता"—(अथर्व० १२। १। १२) पिता की संज्ञा दी गई है।

जलीय गर्भों की पर्जन्यरूप पितृ स्थिति के बारे में निम्न वेद मन्त्र में बताया है—

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद् गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा॥ (यजु० १७। ३२)

इस वेद-मन्त्र में वृष्टि-विज्ञान को वेद ने एक अन्य प्रकार से समझाया है। अर्थात् पर्जन्य (अभ्र) की उत्पत्ति के लिए प्रथम विश्वकर्मा वायु की आवश्यकता होती है। अतः इस विश्वकर्मा-रचनात्मक वायु की उत्पत्ति की आवश्यकता है। इसके बिना जलीय वाष्प का ग्रहण एवं धारण नहीं होता है। इसी वायु के साहचर्य से जल पृथिवी से अन्तरिक्ष में पहुंचते हैं। विश्वकर्मा वायु उत्पन्न होकर जलीय वाष्प के संयोग से मरुत् संज्ञक हो जाता है और अन्तरिक्ष में पहुँचकर पर्जन्य या अभ्र संज्ञक हो जाता है।

इस कार्य के लिए दूसरी आवश्यकता गन्धर्वरूपी अग्नि की है। अतः गन्धर्व रूपी अग्नि की उत्पत्ति की आवश्यकता है। गन्धर्व रूपी अग्नि के द्वारा ही विश्वकर्मा वायु मरुत् रूप में परिवर्तित होकर जलों को धारण करके अन्तरिक्ष में पर्जन्य का स्वरूप निर्मित करता है। अर्थात् विश्वकर्मा वायु और गन्धर्व रूपी अग्नि की उत्पत्ति के पश्चात् 'तृतीयः पिता' तीसरी पर्जन्य रूप पिता की उत्पत्ति होती है जो कि 'अपां गर्भ—जलीय गर्भों को अपने में धारण करता है। अर्थात् ताप और वायु के बिना पर्जन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है तथा पर्जन्य के अभाव से अन्तरिक्ष जल गर्भित नहीं हो सकता। पर्जन्य की उत्पत्ति के अभाव से अन्तरिक्ष में जलीय गर्भ का भी अभाव रहेगा।

इस प्रकार मन्त्र से स्पष्ट है कि पर्जन्य गन्धर्व अग्नि के कारण अर्थात् जलों को धारण करने वाले ताप विशेष के कारण उत्पन्न होते हैं और इसके विपरीत ताप की न्यूनता से, आर्द्रता, घनत्व एवं द्रवत्व की स्थितियां क्रमशः उत्पन्न होने से वे पर्जन्य मेघरूप होकर बरसते हैं। अर्थात् जलीय गर्भों के अन्तरिक्ष में धारण करने वाले पर्जन्यों से लेकर बरसने वाले मेघों की स्थिति तक ताप की ही न्यूनाधिकता विविध स्थितियों की जनक है।

पर्जन्य रूप बादल जो जलीय गर्भ के धारक हैं वे विशेष ताप के कारण और ताप के न्यून होने की स्थिति में भी होते हैं। इस प्रकार के गर्भधारक पर्जन्यों को शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्मादि ऋतुओं में प्रायः देखा जा सकता है। इसके लिए वेद में 'वीध्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। वीध्र शब्द का अर्थ है विशेष ताप की स्थिति और विगत ताप अथात् ताप की न्यून स्थिति। अतः ज्ञात होता है कि इन दोनों स्थितियों के सम्मिश्रित काल एवं प्रान्त में, मेघों के निर्माण की प्रतिक्रिया में जलीय गर्भों के धारण करने की प्रारम्भिक स्थिति उत्पन्न होती है।

विना जलीय गर्भ के अन्तरिक्ष में स्थापित हुए उनका वर्षा काल में प्रसव सम्भव नहीं है। कार्तिक मास से अर्थात् अक्टूबर मास से ज्येष्ठ मास अर्थात् जून मास के अन्त तक प्राकृतिक कारणों से सूर्य की ऊष्मा द्वारा अन्तरिक्ष में जलीय गर्भों का स्थापन एवं पोषण कार्य होता रहता है। तभी उनका प्रसवकार्य वर्षा काल में होता है। यदि यह गर्भ-धारण की प्रक्रिया इन मासों में न हो

तो वर्षा-काल में वर्षा की न्यूनता हो जाती है या अवर्षण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि मध्य-काल में इन गर्भों का स्राव या पतन जितने अंश में हो जायेगा तो वर्षा काल में उतने ही जल की कमी हो जाती है। अतः अन्तरिक्ष को पूर्व से ही जल गर्भित करने का ज्ञान आवश्यक है।

कार्तिक मास से ज्येष्ठ मास तक अर्थात् अक्टूबर से जून तक का अन्तरिक्ष विविध ताप के प्रभाव से एवं विविध स्थितियों में तथा विविध नक्षत्रों के प्रभावों से विविध वायुओं की गति एवं विद्युतादि की स्थिति से प्रभावित होकर विविध शक्तियुक्त जलीयगर्भ के धारण, रक्षण तथा पोषण में सदा एक सदृश गर्भित एवं पुष्ट नहीं होता। अतः इनकी विविध स्थितियों के कारण गर्भादि का ज्ञान भी आवश्यक है।

वेद ने—"अपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा" ये जो शब्द कहे हैं तथा "तमिद् गर्भं प्रथमं दध्रं आपः" (यजु० १७। ३०) ये शब्द कहे हैं, उसी जलीय गर्भविज्ञान को किंचित् विस्तार से वेदांग ग्रन्थों में निम्न प्रकार वर्णित किया है :

चन्द्राद् द्यौर्गर्भमाधत्ते वातेनाभ्रेण विद्युता।
गर्जितेनाल्पवृष्ट्या च स गर्भः पंचलक्षणः ॥

अन्तरिक्ष में जो जलीय गर्भ-स्थापन होता है, वह चन्द्रमा तथा उसके सहचारी नक्षत्रों से दिशा विशेष की वायु की उत्पत्ति से, एवं उसकी गति से, सफेद बादलों की उत्पत्ति से, विद्युत् के मेघों में स्फुरण से, घन गर्जना से एवं अल्प वृष्टि होने से होता है। इस प्रकार इन पांच लक्षणों से अन्तरिक्ष गर्भित होता है। इनमें से जितने भी लक्षण अधिक होंगे, गर्भ की स्थिति की श्रेष्ठता भी उतनी ही होगी।

इन पांचों लक्षणों से जो गर्भस्थापन होता है वह ६॥ मास बाद अर्थात् १९५ दिन में बरसता है। इन १९५ दिनों में या ६॥ मास के काल में चन्द्रमा के १३ पक्ष हो जाते हैं। इस आधार पर जो गर्भ शुक्ल पक्ष में स्थापित होगा उसका प्रसव कृष्ण पक्ष में ही होगा। क्योंकि १९५ दिन के पश्चात् कृष्ण पक्ष ही आवेगा। कृष्ण पक्ष का गर्भ शुक्ल पक्ष में, दिन का रात्रि में, रात्रि का दिन में ६॥ मास बाद प्रसव समय आता है।

इसी प्रकार जिस नक्षत्र पर चन्द्रमा के रहते हुए गर्भ स्थिति होती है उसी नक्षत्र पर जब चन्द्रमा आठवीं बार आता है तो उसके १९५ दिन पूर्ण हो जाने से उसी नक्षत्र पर वर्षा होती है।

हमारा प्राचीन वैदिक वृष्टि-विज्ञान प्राकृतिक लक्षणों को देख कर ६॥ मास पूर्व एवं ९ मास पूर्व की तथा वर्ष भर पूर्व की भी वर्षा की भविष्यवाणी करने में समर्थ है। आज का ऋतु-सूचनाविभाग २४ घण्टे या ४८ घण्टे पूर्व तक की ही ६० प्रतिशत (साठ प्रतिशत) असत्य भविष्यवाणी वर्षा सम्बन्धी या ऋतु सम्बन्धी करने में समर्थ है, जब कि हमारी वैदिक वृष्टि-विज्ञान की पद्धति से ८० प्रतिशत ऋतु सम्बन्धी सूचना कई मास एवं वर्ष भर पूर्व भी की जा सकती है।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि अन्तरिक्ष गर्भविज्ञान के ज्ञाता थे। अतः महर्षि वाल्मीकि ने लिखा—

अष्टमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
रसं सर्वसमुद्राणां द्यौः प्रसूयते रसायनम् ॥

सूर्य की किरणों के द्वारा जो आठ मास जलीय गर्भों का धारण होता है, उसको सूर्य, द्युलोक चमकने वाले नक्षत्र चन्द्रादि समस्त समुद्र जलाशयों के रसायन रूप जल को वृष्टि द्वारा प्रसव करते हैं।

सूर्य के द्वारा प्रधान रूप से जिन जलों का आकर्षण होता है उनको चन्द्रमा के अपने सोमत त्व के शीतल गुण के कारण, देश एवं काल विशेष में स्थापित होने में सहयोग प्राप्त हो जाता है। "चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः"--यह वेद में कहा गया है। अतः चन्द्रमा के किसी न किसी नक्षत्र के साथ रहने से उसके साथ उस नक्षत्र के भी आकर्षण एवं तत्त्वों के साथ गर्भ को प्रभावित होना पड़ता है। यदि नक्षत्र सोमतत्त्व, वायुतत्त्व या अग्नितत्त्व प्रधान है तो गर्भ-स्थापन में उनका प्रभाव भी मिश्रित हो जाने से गर्भ पर विविध प्रकार की स्थितियों का प्रभाव पड़ जाता है।

यदि चन्द्रमा के साथ अग्नि या वायु प्रधान नक्षत्र की स्थिति हो जावे तो गर्भ स्थापन नहीं होगा। चन्द्रमा की सोम प्रकृति के अनुकूल प्रकृति वाले नक्षत्र यदि चन्द्रमा के साथ होंगे तो अनुकूलता होने से गर्भ-स्थापन होगा। इसी आधार पर आर्द्रा, अश्लेषा, मघा, स्वाति और शतभिषज नक्षत्रों में स्थापित गर्भों के प्रसव समय वर्षा की झड़ी कई दिन तक लगी रहती है और थोड़ा-थोड़ा जल रात दिन बरसेगा यह कहा जा सकता है।

यदि रोहिणी, पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्रपदा, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्रों में गर्भ स्थापित हुआ होगा तो उनके प्रसवकाल के समय अतिवृष्टि होगी क्योंकि रोहिणी आदि नक्षत्र गन्धर्व ताप (अग्नि) प्रभाव से अन्तरिक्ष में जलीय वाष्प को विशेष आकर्षित कर धारण करने कराने वाले हैं।

यदि उत्तम रीति से स्थापित गर्भ विपरीत स्थितियों के कारण गर्भनाश की स्थिति में परिवर्तित हो जाते हैं तो उनसे बचा हुआ जल वर्षा ऋतु में अल्प वृष्टि के रूप में आता है।

ऐसी स्थिति में इस सब वृष्टि-विज्ञान को समझकर हमें सम्पूर्ण वर्ष ही स्थिति को सुधारने एवं अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रायः लोग वर्षा-काल में वर्षा न होने पर उसके लिए उपाय प्रारम्भ करते हैं। उससे पूर्ण लाभ की कभी आशा नहीं करनी चाहिए। आंशिक लाभ अवश्य होगा। अतः पूर्ण लाभ की तथा समुचित लाभ की प्राप्ति के लिए आगामी वर्षा ऋतु के सुधारने के लिए कार्तिक मास से ही अर्थात् अक्तूबर मास से ही प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिए। इसी प्रणाली से अन्तरिक्ष में उचित प्रमाण में जल गर्भित हो सकता है और उसका संरक्षण भी हो सकता है।

अन्तरिक्ष के गर्भस्राव को रोकने की विद्या का ज्ञान भी आवश्यक है। यह गर्भस्राव—अवर्षण या वृष्टिरोधक क्रिया को जानने से ही रोका जा सकता है। इससे असमय में मेघों से वृष्टि होने पर उन्हें रोकने की क्रिया सम्पन्न होती है। इसी के द्वारा वर्षाकाल में अतिवृष्टि को रोककर बाढ़ पर सरलता से नियंत्रण स्थापित हो सकता है और वर्षा का आवश्यकतानुसार देश में विभाजन या प्रसारण कार्य सम्पन्न होने से वृष्टि द्वारा अन्न की समृद्धि से देश सुखी हो सकता है।

(४) आतपविज्ञान

प्रस्तुत प्रथम मन्त्र में चौथा उपाय--"आतप्याय"—शब्द के द्वारा आतपविज्ञान का संकेत प्रदान कर रहा है। अन्तरिक्षस्थ जलीय गर्भों के पोषण, संरक्षण एवं गर्भस्राव के निरोध के लिए "आतपविज्ञान" का आश्रय लेना होगा। अन्तरिक्ष सम्बन्धी प्रयत्नों में प्रथम पर्जन्य-विज्ञान का कार्य है जिससे गर्भ-स्थापन कार्य होता है। तत्पश्चात् दूसरा कार्य आतपविज्ञान का है, जिससे उसका संरक्षण एवं पोषण होता है। अतः "आतपविज्ञान" आवश्यक है।

ग्रीष्मकाल आतप प्रधान है, अतः गर्भ पोषण का काल वही है। गर्भस्थ ताप और गर्भ के बाहर के प्रदेश का ताप ज्ञान और उनके प्रभाव का ज्ञान आवश्यक है। गर्भ के बाह्य प्रदेश के अत्यधिक ताप से अथवा गर्भ में अत्यधिक शीतलता से, विकार हो सकते हैं और वह गर्भ अत्यधिक शीत से कठोर होकर

ओलों के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। बाह्य प्रदेश की अति गर्मी से गर्भ का ऊपर के प्रदेश में गमन तथा जलीय तत्त्वों का विभाजन होकर गर्भ नष्ट हो जाता है। विषम तापों की स्थिति में गर्भ स्रवित भी हो जाता है। अतः अन्तरिक्ष के ताप को अपने अनुकूल करने से हमें वर्षा कार्य में सफलता हो सकती है। अन्तरिक्ष के ताप को भी अनुकूल बनाने की क्रिया यज्ञ के वैदिक विज्ञान से पूर्णरूप से सम्भव है।

उपनिषद् में एक स्थल पर—"पञ्चविधो व्योमाः"—यह वचन आता है। अर्थात् व्योम= आकाश पांच प्रकार का है। लोक में आकाश शब्द पृथिवी से ऊपर के समस्त खाली प्रदेश के लिए सामान्य रूप से व्यवहार में आता है। परन्तु जब गम्भीर दृष्टि से विचारते हैं तो, अवकाश, आकाश, अन्तरिक्ष, द्यु, नभ, गगन आदि नाम आकाश की पृथक्-पृथक् स्थितियों के प्रतीत होने लगते हैं। व्योम का तात्पर्य है—विविधमवतीति व्योमः—जो विविध प्रकार के रक्षण करने वाला प्रदेश, आकाशस्थानीय या अन्तरिक्षस्थानीय अथवा द्युस्थानीय या पृथिवी से द्युलोक के मध्य का है उसमें व्योम की स्थिति है। यह व्योम पांच प्रकार का है। अर्थात् ये आकाश के प्रकार या विविध स्थितियां या आकाशीयस्तर अनेक प्रकार से पृथिवी तथा प्राणियों की रक्षा करने वाले हैं।

जब हम अपने ऊपर के अवकाश पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि पृथिवी से ऊपर के अन्तरिक्षमें विविध प्रकार के सूक्ष्म तत्त्वों के स्तर हैं और उनके कारण से अनेक प्रकार से हमारा रक्षण एवं पोषण कार्य हो रहा है। अतएव वे व्योम संज्ञक हैं। विविध स्तरों में होने के कारण इनका कार्य भी पृथक् होना चाहिए और उनकी तत्त्वमय स्थिति एवं ताप स्थिति भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए।

वर्त्तमान वैज्ञानिकों की गणनानुसार (१) पृथिवी से १० मील तक के ऊपर के प्रदेश का तापमान—५५° सेण्टीग्रेड है तथा इससे भी १० मील तक के ऊपर के प्रदेश में—६३° सेण्टीग्रेड है। अर्थात् पृथिवी से २० मील तक के क्षेत्र का तापमान भूपृष्ठ के तापमान से क्रमशः न्यून होकर -६३° सेण्टीग्रेड तक है। (२) पुनः इस प्रदेश के ऊपर के १० मील के प्रदेश में तापमान वृद्धि को प्राप्त होकर +२०° सेण्टीग्रेड हो जाता है। (३) इसके पश्चात् पुनः २० मील ऊपर अर्थात् पृथिवी से ३० मील से ५० मील के मध्य के व्योम का तापमान न्यून होकर—९०° सेण्टीग्रेड हो जाता है। (४) इसके आगे के क्षेत्र में तापमान बढ़ता जाता है। (५) इस प्रकार ७० मील पर+८०°, १५० मील पर+७५०° और पृथिवी से ३०० मील ऊपर के व्योम में+२३००° सेण्टीग्रेड का ताप प्राप्त होता है।

इन सब तापों की भिन्नता आकाश के विविध स्तरों के कारण ही है और तापों की भिन्नता मध्य स्थित सूक्ष्म तत्त्वों के कारण है जो कि सूर्यरश्मियों एवं मध्यवर्ती तापों की किन्हीं किरणों को अपने में से प्रवाहित कर देते हैं, किन्हीं को आत्मसात् कर लेते हैं और किन्हीं को इतस्ततः प्रक्षिप्तः कर देते हैं तथा किन्हीं को प्रत्यावर्त्तित कर देने की सामर्थ्य रखते हैं। वर्त्तमान वैज्ञानिकों ने आकाश की इन विविध स्थितियों को अनुभव करके पृथिवी-मण्डल के आकाश प्रदेश को निम्न पांच विभागों में विभक्त किया है।

(१) ट्रोपोस्फियर—यह ऋतु प्रभाव वाला अन्तरिक्ष है जो पृथिवी से लगभग २५ किलो-मीटर ऊपर तक है। इसमें वायु की प्रधानता है। घनी-भूत वायु इस प्रदेश में है।

(२) स्ट्रेटोस्फियर—ऋतु प्रभाव न्यून वाला यह प्रदेश है यहां ताप भी न्यून है। यह ७० कि० मीटर तक का क्षेत्र है। बर्फीली वायु इसके निचले प्रदेश में शान्त रूप से बहती है। परन्तु इस बर्फीली वायु से ऊपर के प्रदेश में ओज़ोन तत्त्व की प्रधानता है। सो वह ओज़ोन सूर्य की अल्ट्रावायलेट किरणों को अपने में शोषण करने से गर्मी को भी अपने में आत्मसात् कर लेता है, इसके कारण कुछ ताप वहां बढ़ जाता है।

(३) आयनोस्फियर—यह पृथिवी से ४०० किलोमिटर तक है। यहां परमाणु और मोलीक्यूल्स, आयन में परिवर्त्तित होते हैं जो परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा विद्युत् चार्जिंग करते हैं। तत्त्वों के परमाणुओं में वहां बुभुक्षित स्थिति होती है। बुभुक्षा ही आयन स्थिति है। विद्युत् चुंबकीय तरंगें (इलेक्ट्रोमेगनेट वेव्स), विद्युन्मय ध्वनि-तरंगें (रेडियो वेव्स) जो पृथिवी से प्रसारित होने पर अन्तरिक्ष में सर्पण करती हुई जब इस बुभुक्षित व्योमस्तर (आयनोस्फियर) पर पहुंचती हैं तो उनसे टकराकर पुनः पृथिवी की ओर प्रत्यावर्त्तित हो जाती हैं। इसी के आधार पर रेडियो, टेलीविजन, रेडार आदि की क्रिया सम्पन्न होती है।

(४) मेसोस्फियर—१००० किलोमीटर तक का क्षेत्र है इसमें ताप की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

(५) एक्सासस्फियर—यह ६००० किलोमीटर तक का पृथिवी से ऊपर का अन्तरिक्षका भाग है जहाँ तक पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति कार्य करती रहती है।

आकाश—व्योम—की यह विविधता या भेद तथा तापों की विभिन्न स्थितियां आकाश में विविध तत्त्वों के चयन के ही कारण हैं। मध्य का पोला आकाश जिसे हम समझते हैं उसमें अनेक तत्त्व सूक्ष्म वाष्प (गैस) रूप में अपने न्यूनाधिक भार के कारण ऊपर नीचे स्थिर हैं। वेद ने सृष्टि-निर्माण की विविध इष्टकाओं के चयन का वर्णन करते हुए बताया है कि :—"व्योमाः सप्तदश" (यजु० १४।२३) अर्थात व्योम (आकाश) की १७ प्रकार की स्तरें होती हैं।

वेद में बताया है कि सृष्टि-निर्माण में २८ प्रकार की ऐसी इष्टकाओं का चयन किया गया है जो मृत्यु के कारण भूत तत्त्वों के उस अनिष्टकारक प्रभाव एवं क्रियाओं को नष्ट, मूर्छित या वशीभूत कर लेती हैं जिनसे हमारे पृथिवीस्थ प्राणियों का या तत्त्वों का विनाश सम्भावित है। इनके ही कारण विविध प्रकार से हमारे प्राणों की उनके अनिष्टकारक प्रभाव से रक्षा होती है। यदि मध्य स्थान में ये रक्षक इष्टकायें न हों तो सूर्य तथा अन्य तत्त्वों के अनिष्टकारक प्रभाव का हमसे सीधा सम्बन्ध हो जाने पर हमारे लिए घातक प्रमाणित हो जाता है जिससे हमारा जीवन नष्ट हो सकता है और—"जीवेम शरदः शतम्" के लक्ष्य का भी उच्छेद हो सकता है।

सूर्य की रश्मियाँ यदि अन्तरिक्ष तत्त्वों के स्तरों में से सर्पण करके हमारे निकट न आकर सीधी ही आवें तो उनके तीव्र ताप को हम क्षणभर के लिए भी कदापि सह न सकेंगे। अतः इस अन्तरिक्ष के मध्यवर्ती व्योम-स्तरों में जो विशिष्ट-विशिष्ट प्रकार के तत्त्व हैं वे सूर्य रश्मियों के तापों को अपने में धारण करके तथा कतिपय को प्रत्यावर्तित करके हमारे लिए सौरशक्ति को जीवनोपयोगी रूप में प्राप्त करने में सहायक होते हैं। अतः इनके इस चयन को मृत्युमोहिनी इष्टकाओं के नाम से वेद में कहा गया है। ये मृत्युमोहिनी इष्टकायें व्योम की हैं जिनको कि वेद ने १७ प्रकार की बताया है। यह वर्तमान विज्ञान के अन्वेषण के लिए प्रेरणा दे रहा है।

ऊपर के ताप स्तर अन्तरिक्ष में विविध तत्त्वों के कारण ही निर्मित हैं। पृथिवीस्थ तापमान से ऊपर का तापमान कम होने से जो जल पृथिवी से वाष्प रूप होकर उड़कर ऊपर जाते हैं उनको शीतल तापमान मिलने से, वह वाष्प मेघ रूप में परिवर्तित होकर तथा शीतल होकर वर्षा के रूप में पृथिवी पर आ जाती है तथा वह वाष्प इस प्रकार अधिक ऊपर के प्रदेश में जाने से रुक जाती है।

यदि इस मध्य के प्रदेश का ताप किसी कारण से बढ़ जावे तो पृथिवी से उठी वाष्प को शीतलता की प्राप्ति के अभाव में मेघ रूप धारण करने का अवसर ही प्राप्त न हो सकेगा और वे जल अन्त-

रिक्ष में और भी ऊपर पहुंचकर अधिक उष्ण तापमान को प्राप्त होकर हमारी पृथिवी पर अवर्षण या न्यून वर्षण की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

निरन्तर अवर्षण की स्थिति से पृथिवी के कण सूर्य ताप से दग्धता को प्राप्त होकर अपनी उर्वरा शक्ति एवं संघ भाव को त्याग कर, विघटित होकर, मरु अवस्था को प्राप्त होने लगते हैं। अतः पृथिवी को उत्पत्ति सामर्थ्य युक्त बनाये रखने के लिए अन्तरिक्ष के भी ताप को यथोचित प्राकृतिक अवस्था में बनाने का प्रयत्न करना होगा।

अन्तरिक्ष को स्वाभाविक स्थिति में बनाये रखने के लिए तथा उसको क्षोभित, हिंसित या त्रुटित न करने के लिए वेद ने कहा—"द्यां मा लेखी अन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव।" (यजुः ५। ४३) अर्थात् द्युलोक के प्रकाशमय तत्त्वों एवं उनकी रश्मि तथा तरंगों की हिंसा मत करो। अन्तरिक्ष में जो विविध प्रकार से चयन द्वारा स्तरों का निर्माण है उसे मत बिगाड़ो और दोनों को अहिंसित रखते हुए उनको पृथिवी के उपयोग के लिए संयुक्त करो।

अर्थात् ऐसे ताप एवं क्रियाएं जो अन्तरिक्षस्थ हमारे रक्षक व्योम-स्तरों, चयनों का ही विध्वंसन करने वाले हैं उनमें प्रयोग एवं व्यवहार से अवर्षण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः वेद ने वर्षा के लिये अन्तरिक्ष के आतप विज्ञान को जानने का संकेत—'आतप्याय'—शब्द के द्वारा किया है।

(५) मेघविज्ञान

वर्षा के लिए आतपविज्ञान के जानने के पश्चात् मेघविज्ञान का भी ज्ञान होना चाहिए। अतः वेद ने—"नमो मेघ्याय च"—कहा है। अर्थात् गर्भस्थापक पर्जन्य रूपी बादल और वर्षणशील मेघरूपी बादलों के भेद को जानते हुए उनके वर्षणकाल एवं वर्षा की मात्रा का भी ज्ञान होना चाहिए।

मेघ, वर्षण की योग्यता रखने वाले बादलों की संज्ञा है। इन्हीं को वारिद, पयोद, वारिवाह जलधर, अम्बुभृत्, जलमुच आदि नामों से कहा गया है। पर्जन्य एवं अभ्र रूपी बादलों को पयोधर, वारिद आदि में परिणत करना तथा पयोधर, वारिद आदि बादलों को धाराधर, मेघादि में परिणत करके इन सब को बरसाने के योग्य बनाने का विज्ञान मेघ विज्ञान के अन्तर्गत है।

जब हम मेघवाची शब्दों पर दृष्टिपात करते हैं तो उनमें मेघों की अनेक स्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। बादलों का नाम धूमयोनि है। धूम से ही बादलों का निर्माण होता है। जलीय वाष्प भी जल का धूम्र है। यह तो मूल कारण है ही तथापि—'अग्निर्वैधूमो जायते धूम्रादभ्रम् अभ्राद् वृष्टि' इस शास्त्रवचन से यद्यपि जलीय धूम्र का ग्रहण भी हो सकता है तथापि प्रचलित धूम्र का इससे ग्रहण किया ही जाता हैं। इस धूम्र में कार्बन-द्वि-ओषित गैस होती है। यही गैस बादलों के निर्माण में तथा उनके बरसाने में भी सहायक होती है। अतः बादलों की प्रथम स्थिति का नाम —'धूमयोनि' उपयुक्त है।

द्वितीय स्थितिइ सकी "धूम्रादभ्रम्" के अनुसार तथा 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' के अनुसार अभ्र एवं पर्जन्य स्थिति है। 'पृषु सेचने' धातु से पर्जन्य शब्द बनाता है अतः अन्तरिक्ष में धूम का प्रथम सेचन कर्म गर्भ-धारणार्थ होने से बादल की द्वितीय स्थिति पर्जन्य रूप से निर्मित होती है। यही पर्जन्य पिता रूप होने से सेचन कर्म का मूल है।

इस द्वितीयावस्था में जब धूमयोनि पर्जन्य स्थिति में प्रकट होते हैं तो गतिशील होने से अभ्र संज्ञक है। अभ्र संज्ञक स्थिति में जो श्वेतवर्ण के बादल उत्पन्न होते हैं उनमे जलीय भार कम होने से वायु के द्वारा तथा ताप के द्वारा भी इधर-उधर विशेष रूप से ले जाये जाते हैं। वे एक स्थान पर प्रकट

होते हैं पुनः आयतन में बड़े भी हो जाते हैं और कुछ ही क्षण में वे वहीं विलीन व अदृशय भी हो जाते हैं। ये पर्जन्य एवं अभ्र संज्ञक 'जीमूत' संज्ञक भी हो जाते हैं। जब कि वे अपने आयतन में वढ़कर आकाश में छा जाते हैं। 'जयति नभः' आकाश को अपनी व्याप्ति से आच्छादित करके जीत लेते हैं अतः जीमूत संज्ञक हो जाते हैं तथा—जीयते वायुना—ये वायु से जीते हैं। वायु के विना मेघों का जीवन नहीं है अतः भी जीमूत संज्ञक हो जाते हैं तथा जीवनस्य (जलस्य) मूतः (पटबन्धः) पानी की गठरी के तुल्य आकार में विचरण करते हैं अतः भी जीमूत संज्ञक यह द्वितीय स्थिति है।

तृतीय स्थिति में जब उन श्वेत अभ्र या जीमूत में कुछ श्यामलता दिखाई पड़ती है तो वाष्प का जल रूप में परिवर्तन का लक्षण प्रकट होने से उनको वारिवाह—जल को वहन करने वाले, जलधर—जल को धारण करने वाले तथा अम्बुभृत् - जल के भरण करने वाले कहा जाता है।

जब उन बादलों में और भी अधिक श्यामलता एवं घनत्व की वृद्धि उत्तरोत्तर होती जाती है तो वे बादल एक दूसरे पर अनेक परतों में घनीभूत होकर दिशा विशेष में स्थिर हो जाते हैं। इनके इसी स्थिर भाव के कारण ही इन्हें 'बलाहक' संज्ञा दी जाती है। बलाहक का अर्थ है=बलं कम्पनं आजहाति—जो कम्पन को छोड़ कर स्थिर होकर जम जाते हैं। तथा घन—का अर्थ घनत्व, गाढ़ा, दृढ़, भरा हुआ बहुपुट युक्त तथा विशेष दबावयुक्त है। बादलों में यह स्थिति प्रारम्भ से ही उत्पन्न नहीं होती। जब अनेक परत वाले बादल किसी स्थान विशेष में एकत्र होकर स्थित हो जाते हैं और उनमें वाष्प घनीभूत होकर तथा शीतल होकर श्यामल मेघमाला के रूप में दृष्टिगोचर होती है तो वे घन एवं बलाहक संज्ञक होते हैं। यह चौथी अवस्था बादलों की है।

पांचवीं अवस्था तब उत्पन्न होती है जब इन घन संज्ञक बादलों में बिजली उत्पन्न होती है और चमकती है। इस स्थिति में उनकी स्तनयित्नु तथा तडित्वत् संज्ञा है। स्तनयित्यु की स्थिति उत्पन्न होने के पश्चात् ही घन गर्जना सुनाई पड़ती है। जब मेघों में गर्जना होती है तो वे 'ग्रावा'—संज्ञक होते हैं।

मेघों में विद्युत् की उत्पत्ति एवं गर्जना से जलों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हो जाता है। अतः छठी स्थिति वारिद या अम्बुद संज्ञक है। वारिद एवं अम्बुद शब्दों का अर्थ जल को देने वाले मेघ हैं। सभी बादल या उनकी सभी अवस्थाएं जल वर्षा नहीं कर सकती। उन्हें क्रमशः पूर्वोक्त स्थितियों को प्राप्त कर इस छठी अवस्था में वारिद की योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है।

इस योग्यता को जब बादल प्राप्त हो जाता है और जलों को अपने स्थान से बरसाना प्रारम्भ करता है तो सातवीं स्थिति में वे जलमुच् संज्ञक होते हैं। अर्थात् जलों को छोड़ने, त्यागने या वर्षाने वाला। बादलों ने पानी छोड़ा—वे जलमुच् स्थिति में आ गये और जब वही जल वृक्ष, वनस्पति एवं पृथिवी को प्राप्त होकर उसे सिंचित करता है तो वे ही जलमुच् संज्ञक बादल मेघ, मेह—सिंचन करने के अर्थ वाले हो जाते हैं।

इस प्रकार क्रमशः बादलों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जिन बादलों में घन स्थिति उत्पन्न नहीं हो रही है उनमें किन द्रव्यों के धूम्र से घन स्थिति उत्पन्न होगी ? घन की स्थिति मात्र होने पर यदि उनमें विद्युत्-स्फुरण नहीं होता है तो उनमें क्रियाशीलता का अभाव हो जाता है अतः किन क्रियाओं से विद्युत् की घन में उत्पत्ति होगी उसका ज्ञान होना चाहिए तथा उन्हें वारिद एवं मेह स्थिति में लाना चाहिए। अतः वेद ने—नमो मेघ्याय च—कहकर इस मेघ-विज्ञान के जानने वालों का सत्कार करने को कहा है।

(६) वर्षा निमित्त विद्युत् विज्ञान

विविध प्रकार के बादलों को वर्षणशील बनाने में जो सहयोगी कार्य हैं उनके ज्ञान के लिए—'नमोविद्युत्याय च'—शब्द वेद ने कहा है। वर्षा जो मेघों से होती है उसके लिए विद्युत् का प्रभाव अपेक्षित रहता है। जल के निर्माण में मित्र और वरुण तत्त्वों की आवश्यकता होती है। इन दोनों तत्त्वों का सम्मिश्रण स्वयमेव नहीं होता है अपितु विद्युत् के द्वारा ही दोनों तत्त्वों का सम्मिलन होता है, जैसाकि -

> अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः। याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्
> याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥ (यजुः० १०। १)

इस मन्त्र में बताया गया है। अर्थात्—हे मनुष्यो ! तुम लोग—देवाः याभि मित्रावरुणौ अभ्यषिञ्चन्—चतुर विद्वान् वैज्ञानिक लोग जिन विद्युत् शक्तियुक्त क्रियाओं से मित्र और वरुण तत्वों को परस्पर एक दूसरे से संयुक्त करके जल रूप में, सिंचित करते हैं और जिन क्रियाओं से—'इन्द्रः अरातीः अनयन्''—विद्युत को मित्र और वरुण में संयुक्त कर, परस्पर न मिलने के विरोधी भाव को जीतते हैं या उन विरोधी भावों पर विजय प्राप्त करते हैं, उन क्रियाओं से—मधुमती ऊर्जस्तीः चितानाः राजस्वः अपः अगृभ्णन्''—प्रशंसनीय, मधुरादि गुणयुक्त, बल पराक्रम बढ़ाने वाले, चेतना देने वाले आकारमय, प्रकाश युक्त जलों को प्राप्त करो।

इस प्रकार इस मन्त्र में बताया गया है कि जलों के निर्माता तत्त्वों को परस्पर संयुक्त करने के लिए विद्युत् के प्रयोग की आवश्यकता होती है और उससे उन दोनों तत्वों के परस्पर मिलने में जो विरोधी स्थितियां होती हैं या तत्त्व होते हैं उनका विनाश हो जाता है या दूरीकरण हो जाता है इस अन्तरिक्ष में विद्युत् के सहयोग से मित्र और वरुण तत्त्वों द्वारा जिन जलों का निर्माण होता है वे दीप्तिमान्, चैतन्यता अर्थात् जीवन-शक्ति प्रदान करने वाले और मधुरतादि गुणों से युक्त होते हैं। ऐसे जलों को वेद ने—मधुमती आपः—कहा है।

आज के वैज्ञानिक जिन क्रियाओं से वर्षा कराने का प्रयोग कर रहे हैं उनमें एक प्रकार बादलों पर नमक छिड़क कर वर्षा कराने का भी है। वैदिक विज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञान के द्वारा 'मधुमती आपः' मधुर जलों का सम्पादन होता है और अर्वाचीन विज्ञान उन मधुर दिव्य, जलों को क्षारयुक्त—लवणयुक्त जल बनाता है। उन मधुर जलों की सामर्थ्य को वेद ने—'चितानाः' शब्द के द्वारा, चेतना देने वाले, जीवनीय शक्ति देने वाले,—'ऊर्जस्वती'—बल पराक्रम बढ़ाने वाले, प्राणशक्तिदायक बताया है। इसके विपरीत वर्तमान वैज्ञानिक यदि लवणयुक्त जल की वर्षा-सम्पादन करेंगे तो वे जल कदापि मधुमती, ऊर्जस्वती, चितानाः—इन गुणों से युक्त नहीं हो सकेंगे और वे प्राणशक्ति सम्पन्न न होकर शक्तिदायक भी हो न सकेंगे।

वैदिक वृष्टि-विज्ञान के अन्तर्गत विद्युत्-विज्ञान के द्वारा वर्षा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ एक स्थान पर वेदांग से सम्बन्धित ग्रन्थ में आता है—"वाताय कपिला विद्युत्"—अर्थात् कपिला रंग की विद्युत् के मेघों में चमकने पर वायु चलती है। —"आतपाय तु लोहिता'—लाल रंग की बिजली उत्पन्न होने से ताप की वृद्धि होती है। तथा—"पीता वर्षाय विज्ञेया" पीली विद्युत् के बादलों में चमकने से वर्षा होती है और "दुर्भिक्षायासिता भवेत्"—काले रंग की विद्युत् चमकने से दुर्भिक्ष होता है। इस प्रकार वर्षा के निमित्त विद्युत्-विज्ञान का महत्त्व है और अनुसन्धान योग्य है। अतः वेद ने वर्षा के लिए विद्युत्-क्रिया-विज्ञान का संकेत किया है।

वर्षा के लिए पूर्वोक्त चार विज्ञानों (१) गर्भस्थापक पर्जन्य-विज्ञान, (४) गभ पुष्टिकारक आतपविज्ञान, (३) गर्भ की पूर्णता-सम्पादक वर्षणयोग्य मेघविज्ञान तथा (४) विविध गर्भों के परस्पर सम्मेलनार्थ विद्युत् क्रिया-विज्ञान का बीज रूप से ज्ञान देने के पश्चात् वारुणी विद्या के सप्तम अंग वर्षण-विज्ञान के लिए—"नमो वर्ष्याय च"—वर्षा कराने में कुशल के लिये सत्कार प्रकट करने का आदेश दिया तथा अष्टम अंग—वर्षा रोकने के ज्ञान के लिए—"अवर्ष्याय च—" वर्षा रोकने में कुशल के लिए भी सत्कार प्रकट किया है।

(७)-(८) वर्षण एवं अवर्षणविज्ञान

प्राकृतिक नियमों से प्राकृतिक कारणों के उपस्थित होने पर समय पर एवं असमय पर भी वर्षा होती है। हमें चाहिए कि हम भी प्रकृति के नियमों को जानकर वर्षा कराने एवं रोकने के उपायों का आश्रय लेकर, यथासमय, यथोचित मात्रा में वर्षा कराने का प्रयत्न करें और अनिच्छित तथा हानिकारक वर्षा को रोकने का भी प्रयत्न करें। वर्षण-विज्ञान की प्रक्रिया के बारे में वेद ने सरल ढङ्ग से हमें बताया है:—

शन्नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु॥ (यजुः ३६। १०)

वर्षा के लिए अनुकूल सुखकारी वायु हमारे लिए चले, इसकी अनुकूलता के साथ ही सूर्य भी तपे, इन दोनों के पश्चात् गरजता हुआ उत्तम गुणयुक्त पर्जन्य रूपी मेघ चारों ओर वर्षा करे।

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि वायु की दिशा एवं गति विशेष, सूर्य का ताप विशेष और मेघों में बिजली एवं गर्जना विशेष से चारों ओर अच्छी वर्षा होती है। अतः वर्षा के लिए वात का विज्ञान भी ज्ञात करना चाहिए। वेद ने उपरोक्त मन्त्र में अच्छी वर्षा के लिए कल्याणकारी वायु के चलने का उल्लेख किया है। किस प्रकार की वायु से मेघों की उत्पत्ति होगी, किस प्रकार की वायु से मेघों का विनाश होगा, किस प्रकार की वायु से मेघ बरसेंगे और किस प्रकार की वायु से मेघों की उत्पत्ति होगी यह वर्षा सम्बन्धी वातज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

वेद ने वात (वा=वायु+त=ताप)=(वायु +ताप)=तापित वायु को मेघ का मूल उद्गम बताने के लिए कहा है—

वाताय स्वाहा, धूमाय स्वाहा, अभ्राय स्वाहा,
मेघाय स्वाहा० (यजुः अ० २२। २६)

अर्थात् भौतिक अग्नि में क्रिया करने से, उसमें द्रव्यों की आहुति देने से अथवा सूर्य के ताप से तापित वायु धूम से युक्त (जलीय वाष्प को धारण करने वाली) होकर अभ्र स्थिति को प्राप्त होती है और वही मेघ बनती है—यह क्रम वेद ने बताया। ऐसी स्थिति में वात का ज्ञान इस कार्य के लिए आवश्यक है। जिस 'शं वातः' के चलने के लिए मन्त्र में प्रार्थना की गई है उसका विवेचन करते हुए वेदाङ्ग ग्रन्थों में लिखा है—

पूर्वो ऽभ्रजननो वायुरितरोऽभ्रविनाशनः।
उत्तरो वृष्टिजनको ऽवर्षत्येव च दक्षिणः॥

पूर्व की हवा बादल और वर्षा लाती है। पश्चिम की हवा मेघ एवं वृष्टि का नाशक है। उत्तर की हवा वृष्टि को उत्पन्न करके बरसाती ही है और दक्षिण की हवा केवल हवा ही चलाती है परन्तु

वृष्टि नहीं कराती। अतः पूर्व और उत्तर की वायु ही वृष्टि कार्य के लिए 'शं वातः'—सुखकारी वात है। यह 'शं वातः' भी भावक, स्थापक एवं ज्ञापक भेद से तीन प्रकार की होती है। भावक से बादल उत्पन्न होते हैं। स्थापक से बादल स्थित रहते हैं और ज्ञापक वायु से आने वाली वृष्टि का पहले से ही ज्ञान होता है।

दक्षिण, नैर्ऋत्य एवं वायव्य कोण की वायु मेघों का नाश करने वाली हाने से 'शं वातः' नहीं हैं। बादलों में शोष वायु के उत्पन्न होने पर बादलों की स्निग्धता नष्ट हो जाती है। वे फटे-फटे, रूक्ष से, बिखरे से हो जाते हैं और वर्षा नहीं होती। यदि अन्य प्रबल कारणों से वर्षा का योग हो भी जावे तो वायु की प्रचण्डता से थोड़ी ही वर्षा होती है या वह वायु जल-शोषण करने से अल्पवृष्टि ही होती है।

इसी प्रकार---शं नस्तपतु सूर्यः--के अनुसार जब सूर्य की तपन विशेष होती है तो वर्षा शीघ्र ही हो जाती है। वेद में—स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये···(यजुः ३८।६) सूर्य की वे रश्मियां जो वृष्टि लाती हैं उनके लिए क्रिया हो। इससे स्पष्ट है कि जब सूर्य की रश्मियों का वृष्टि कराने में ताप की विशेष रूप से क्रियाशीलता होती है तो वृष्टि दूर-दूर तक होती है। जैसा कि—

प्रावृट्काले यदा सूर्यः प्रखरो दुःसहो भवेत्।
तद्दिने वृष्टिदः प्रोक्तो घृतवर्णसम प्रभः॥

अर्थात् वर्षा-ऋतु में जिस दिन सूर्य अत्यन्त प्रखर और असह्य ताप देने वाला हो और घृत के वर्ण के सदृश प्रभा वाला हो तो उस दिन अवश्य वर्षा होती है। अतः 'शं नस्तपतु सूर्यः—यह प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार—शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यः" जब मेघ अपनी शुभ लक्षणयुक्त गर्जना करते हैं तब भी दूर-दूर तक वर्षा होती है। गर्जना विद्युत्-स्फुरण से होती है, अतः वर्षा के लिए विद्युत् ज्ञान की आवश्यकता है जैसा कि पूर्व प्रकट किया गया है।

आज कल लोग यह सोचते हैं कि वर्षा कराना और रोकना मानवकृत प्रयत्नों से सम्भव नहीं है। यह तो प्रकृति के ही आश्रित है। परन्तु जब थोड़ा भी विचारते हैं तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार प्राकृतिक कारणों से नदी अपना मार्ग बना लेती है उसी कारण को समझ कर यदि हम भी नहरें आदि अपनी बुद्धि एवं पुरुषार्थ के बल से बना लेंगे तो नदियों का जल उन मार्गों से भी बहने लगेगा। इसी आधार पर नदी प्रवाह को दिशा विशेष से रोककर दूसरी ओर भी किया जा सकता है। इसी प्रकार वर्षा विज्ञान को समझने से प्रकृति को अनुकूल बना कर समय पर वर्षा भी कराई जा सकती है और अनिच्छित वर्षा को रोक कर अवर्षण एवं अतिवृष्टि को रोककर देश की प्रजा को सुखी एवं समृद्ध किया जा सकता है।

प्रकृति को अनुकूल बनाने की प्रेरणा निम्न मन्त्र से प्राप्त होती है—

"भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः"। —ऋ० १।१६४।५१॥

अर्थात् भूमि को वर्षा के द्वारा मेघ तृप्त करते हैं और द्युलोक को अग्नियाँ तृप्त करती हैं। अतः द्युलोक में इच्छित क्रिया करके फल प्राप्ति के निमित्त अग्नियों के माध्यम से प्रयत्न करना चाहिए। इसी आधार पर अवर्षण की स्थिति में यज्ञ द्वारा आहुतियों से अन्तरिक्ष एवं द्युलोक को तृप्त किया जाता है और वर्षा सम्पन्न कराई जाती है।

मेघ से वृष्टि पृथिवी पर आती है और अग्नि के द्वारा ही पृथिवीस्थ जल ताप से वाष्पमय होकर, तापित वायु के साहचर्य से और वहाँ के ताप से अन्तरिक्ष में स्थापित हो जाता है। पृथिवी पर

से हुई इस क्रिया से उत्पन्न मेघ अग्निज हैं। पर्वतीय स्थानों में उत्पन्न होने वाले मेघ-अद्रिज हैं। आकाश, नक्षत्र और ग्रहों के योग से उत्पन्न होने वाले मेघ दिव्य हैं तीनों प्रकार से उत्पन्न मेघों का स्थान अन्तरिक्ष ही है अतः एक प्रकार के मेघों की वर्षा से दूसरे प्रकार के मेघों में भी वर्षा-क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

परन्तु जब ऐसी स्थिति हो कि पूर्वोक्त तीनों प्रकार के मेघों का निर्माण यथोचित न हुआ हो या अनेक प्रकार के दोषों के कारण अवर्षण की स्थिति उत्पन्न हो गई हो तो यज्ञ के द्वारा मेघों का निर्माण करके इसके साहचर्य से उन मेघों को भी बरसाया जा सकता है। यज्ञ द्वारा उत्पन्न इन मेघों को पर्जन्य तथा मेघ भी कह सकते हैं। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि यज्ञ द्वारा मेघों को उत्पन्न करते थे। जैसा कि "यज्ञाद् भवति पर्जन्यः" कहा है। अतः इस क्रिया को उन ऋषियों ने कुछ अधिक स्पष्ट शब्दों में निम्न प्रकार लिखा—

अग्निर्वा इतो वृष्ठिमुदीरयति। मरुतः सृष्टां नयन्ति"।—तै० ७२।४।१०॥

अर्थात् इस पृथिवी तल से जिसके लिए कि वेद ने—"पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निं आदधे" (यजु०: ३।५) कहा है, जो कि विद्वान् वैज्ञानिकों की प्रयोगस्थली है, उसी के पृष्ठ भाग पर अग्नि को स्थापित करने पर वह भी वृष्टि के लिए वायु, धूम्र एवं जल को ऊपर ले जाता है, तापित मरुतों का निर्माण करता है। वे तापित मरुद्गण जलों को अपने में धारण करके ऊपर चले जाते हैं। वे ही वृष्टि के स्रष्टा हो जाते हैं।

इसी यज्ञ विज्ञान को और भी स्पष्ट रूप से मनु महाराज ने निम्न श्लोक में कहा—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अर्थात् अग्नि में जो आहुति प्रदान की जाती है वह अच्छे प्रकार से आदित्य रश्मियों को प्राप्त होती है। उन आदित्य रश्मियों का सम्बन्ध अन्तरिक्षस्थानीय वाष्प जलों एवं मेघों से होने पर उन रश्मियों के प्रभाव में वृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त अग्नि में प्रयुक्त आहुति से अनेक प्रकार की धूम्र की उत्पत्ति होती है। उनका सम्बन्ध आदित्य रश्मियों से होता है और उन धूम्रों से मेघ उत्पन्न होते हैं। उन मेघों से सूर्यताप विशेष के कारण वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अकाल, दुर्भिक्ष, दुष्काल आदि का निवारण यज्ञ से हो जाता है।

वृष्टि के लिए कारणभूत सूर्यताप, पार्थिव अग्निताप, वायवीय ताप, अन्तरिक्ष ताप आदि की विविध स्थितियों में विविध तत्त्वों एवं जलों के धूम्र या वाष्प रूप मेघ बनकर वर्षा सम्पन्न कराते हैं। तापों की विभिन्नता एवं आपेक्षिक न्यूनाधिकता से ही शीत एवं ग्रीष्म संज्ञाएँ होती हैं। अतः ग्रीष्म एवं शीत इन दोनों के ही यथोचित प्रयोग एवं सहयोग से वर्षा कराई जा सकती है।

जिस समय आकाश में बादल न हों और उन्हें बरसाने की इच्छा न हो उस समय उन बादलों पर ग्रीष्म की अर्थात् उष्णता की तरङ्गों का प्रहार या प्रसारण किया जाये तो उष्णता के कारण वे विलीन हो सकते हैं। उष्ण तरंगों का प्रयोग अनेक माध्यमों से हो सकता है। पार्थिव एवं द्रव द्रव्यों को जला कर धूम्र के माध्यम से जो उष्णता का प्रसारण या पदार्पण किया जाता है वह अपना एक आयतन बनाकर कार्य करता है और उसमें अपने अन्दर ताप को धारण करने की सामर्थ्य कुछ समय के लिए रह जाती है।

जो द्रव्य जितना ठोस होगा उसमें उतनी ही अधिक मात्रा में गर्मी को धारण करने एवं अधिक काल तक स्थिर रखने की सामर्थ्य होती है। अतः ऐसे पदार्थ जो अग्नि में जल कर अपने धूम्र को उत्पन्न करते हैं। वे अपने में अग्नि ताप को भी ऊपर ले जाने में विशेष समर्थ होते हैं। अग्नि के द्वारा धूम्र को उत्पन्न करने के लिए क्रमशः धूम्रोत्पादक तत्त्वों को जलाने से धूम्र के माध्यम से गर्मी का प्रभाव एक मार्ग के रूप में ऊपर बढ़ता जाता है जैसे कि पतंग, डोर के सहारे ऊपर बढ़ती है।

यह धूम्र अन्तरिक्ष के तापमान के क्षेत्र में पहुंच कर अपने उष्णता के प्रभाव से पूर्व स्थित अभ्र, मेघादि को भी तापित एवं क्रियाशील करके उनको बरसने से रोकने में भी समर्थ होता है। जल, तेल एवं घृतादि की तीव्र वाष्प भी अपनी उष्णता के प्रभाव से मेघों को छिन्न भिन्न कर सकती है।

इसके अतिरिक्त कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो उष्णताप्रधान हैं, रूक्ष भी हैं और जल का शोषण करने वाले भी हैं। यदि ऐसे पदार्थों के धूम्र का प्रसारण घृतादि के धूम्र के साथ किया जाये तो और भी अधिक सफलता प्राप्त होती है। इस प्रकार की ऊष्मा, धूम्र माध्यम से, जलीय उष्णवाष्प के माध्यम से तथा तापित वायु के माध्यम से विविध साधनों द्वारा पृथिवी एवं अन्तरिक्ष से अपने इच्छित स्थान पर प्रयुक्त की जा सकती है। परन्तु ऐसे प्रयोग बादल व उसके समीप के क्षेत्र में ही सीधे करने चाहिएं। मध्य के मार्ग के अन्तरिक्ष या मध्य की वायु को प्रभावित करके प्रायः नहीं करने चाहिएं। यदि पृथिवी एवं मेघमण्डल इन दोनों के मध्य की वायु को भी ताप से प्रभावित कर दिया जायेगा तो पहले अनुकूल सफलता प्राप्त होने के पश्चात् विपरीत स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है।

एक स्थान में यदि बादलों का जमाव हो जावे तो उसको छिन्न-भिन्न करने के लिए किसी सुदूर स्थान में चाहे वह १०, २०, ५०, १०० या अधिक किलोमीटर दूर ही क्यों न हो, वहां पर देवयजनि पृथिवी के पृष्ठ भाग पर अग्नि स्थापित कर यज्ञ करने से, यज्ञ की प्रक्रिया से वहां की वायु हलकी हो जावेगी और जहां पर बादलों का जमाव होगा या मानसून का दबाव होगा उस स्थान की वायु यज्ञस्थल की ओर आकर्षित हो जायेगी, जिससे स्थान विशेष के बादल छिन्न-भिन्न हो सकते हैं या मानसून का दबाव घटकर अन्य स्थानों में विभक्त हो जाने से वर्षा को रोकने में या अतिवृष्टि के निवारण करने में सहायता प्राप्त हो जायगी।

इसी प्रकार यदि किन्हीं दो या अधिक स्थानों पर बादलों का जमाव या मानसून का दबाव हो तो उनमें से यदि किसी एक स्थान पर वर्षा हो जावेगी तो दूरस्थ दूसरे स्थान के बादलों का जमाव या मानसून का दबाव कम हो जावेगा। यज्ञ की अग्नि के द्वारा एक स्थान की वायु को तापित करके, चालित कर देने से अन्य स्थान की वायु में भी गति उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार कि किसी जलपात्र के किसी दिशा में छिद्र हो जाने पर समस्त जल-प्रवाह उधर ही हो जाता है उसी प्रकार यज्ञ-स्थल की ओर दूरस्थ अन्तरिक्ष की वायु की भी गति यज्ञस्थल की वायु के हल्के हो जाने से तथा वायु के भार एवं दबाव के कम हो जाने से स्वतः हो जाती है।

वर्षा कराने और रोकने के उपरोक्त सामान्य नियमों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक साधक एवं बाधक कारण हैं जिनका ज्ञान देश काल की स्थिति के अनुसार प्रयोग करने पर अनुकूल और प्रतिकूल परिणामों से ज्ञात होता है। प्रयोग काल में प्रतिकूल परिणाम प्राप्त होने से भी विज्ञान का विकास होता है।

वैदिक यज्ञ-विज्ञान की क्रियाओं के आधार पर, मेघों पर, वर्षा पर, अतिवृष्टि पर और अनावृष्टि पर नियन्त्रण सरलता से स्थापित किया जा सकता है। वर्षा का सम्बन्ध केवल वर्षा के ही

बादलों एवं मानसून पर आधारित नहीं है अपितु शेष वर्ष में जो स्थिति अन्तरिक्ष, वायु, विद्युत्, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य एवं बादलों की होती है उस पर भी प्रमुख रूप से आधारित है।

वर्तमान ऋतु-सूचनाविभाग सद्योजात लक्षणों के ही आधार पर १-२ दिन पूर्व होने वाली सम्भावित वर्षा या अवर्षण तथा हवा आदि की बात का अस्पष्ट संकेत दे सकता है। परन्तु वैदिक वृष्टि-विज्ञान प्रतिदिन की स्थिति से अनेक दिन, मास एवं वर्ष पूर्व भी स्थिति को कह सकता है। ऐसी स्थिति में इस विज्ञान के विकास के लिए तथा अनुसन्धान कार्य के लिए शासन एवं जनता को अवश्य सहयोग प्रदान करना चाहिए।

वर्षा से अतिरिक्त ऋतुओं के अन्तरिक्ष में विविध प्रकार की वायुओं, उस समय में निर्मित मेघों, उनमें विद्युत् से वर्षा के होने या न होने से अन्तरिक्ष स्थान में जलों की गर्भस्थिति या उनके गर्भपात के कारण ही वर्षा ऋतु में वर्षा या अवर्षण की स्थिति उत्पन्न होती है। यदि अन्तरिक्ष में कार्तिक मास से ज्येष्ठ मास तक जलीय गर्भ स्थापन न हो तो मानसून का प्रभाव वर्षा कराने में अत्यल्प ही होगा। यदि गर्भ-स्थापन के पश्चात् ही गर्भस्राव हो जावे अर्थात् समय से पूर्व वर्षा हो जावे तो भी वर्षाऋतु में अल्प-वृष्टि या सूखे की स्थिति हो सकती है।

वैदिक वृष्टि-विज्ञान के द्वारा वर्षा-ऋतु से कई मास पूर्व की अन्तरिक्ष की स्थिति को देखकर यह ज्ञान हो जाता है कि आषाढ, श्रावण एवं भाद्रपद में कौन सी तिथियों में कितनी वर्षा होगी और किन तिथियों में वर्षा नहीं होगी। इस दीर्घकालीन सम्बन्ध के ज्ञान से शरद् ऋतु से ग्रीष्म तक के अन्त-रिक्ष में जलीय गर्भ के स्थापन एवं पोषण कार्य के लिए जिन दिनों में बादलों के होने से गर्भ स्थित होता है उन दिनों पर्जन्यों के निर्माण का कार्य करना चाहिए तथा जिन दिनों में वर्षा हो जाने से गर्भ-स्राव हो जाता है उन दिनों में मेघों के होने पर अन्तरिक्ष को निरभ्र करके या वर्षा को रोकने की क्रियाओं को करके गर्भ स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए एवं वर्षा-ऋतु में मेघों की परिपक्व अवस्था में प्रसव कर्म द्वारा सुवृष्टि करानी चाहिए।

जलाभाव चिन्तापूर्ण स्थिति

जब पृथिवी प्यासी हो, नदी-नद प्यासे हों, ताल-तलैया सूखे हों, पृथिवी जल के अभाव से अन्न, वृक्ष, वनस्पति, घास, तृण आदि का पोषण करने में असमर्थ हो, पशु-पक्षी मनुष्यादि सभी प्राणी जल और अन्न के बिना भूखे प्यासे हाहाकार करते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हों—तब जल कहाँ से मिल सकेगा ?—यह चिन्ता व्याप्त हो जाती है।

पुरुषार्थ के पश्चात् भी चिन्तनीय स्थिति

ऐसी स्थिति में मनुष्य पुरुषार्थ करना प्रारम्भ करता है। वह कुवे, बावड़ी, तालाब आदि खोदकर पृथिवी के भीतर छिपे पानी को ऊपर निकालता है। परन्तु उसकी पूर्ति फिर भी नहीं होती यदि ऐसी ही स्थिति वर्षा के अभाव की २—४ वर्ष लगातार हो जावे तो क्या भविष्य होगा ? क्या प्राणी बच सकेंगे ? यह बड़ी चिन्तनीय स्थिति है। क्या जल के स्थान पर कोई दूसरा भी पदार्थ कार्य में ले सकेंगे - नहीं—कदापि नहीं।

जल-समस्या का समाधान वेद में

अतः इस भयंकर कष्टप्रद जल-समस्या का समुचित समाधान ढूंढना ही होगा। जब हम वेद को देखते हैं तो इसका हल हमें उससे प्राप्त होता है। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के १६वें मन्त्र में

यज्ञ, वायु एवं सविता के लिए—'वर्ष वृद्धमसि' (यजुः १।१६) कहा है। अर्थात् यज्ञ द्वारा वृष्टि की वृद्धि होती है, वायु द्वारा वृष्टि की वृद्धि होती है और सूर्य के ताप द्वारा भी वृष्टि की वृद्धि होती है तथा तीनों के सम्मिलित प्रयत्नों से भी वृष्टि की वृद्धि होती है।

यज्ञ से वृष्टि

प्राकृतिक कारणों से जो वर्षा होती है उसमें सूर्य एवं वायु की क्रियाशीलता से पृथिवीस्थ जल अन्तरिक्ष में वाष्प रूप से पहुंचते हैं और इन्हीं की क्रियाशीलता से वर्षा भी होती है। परन्तु मानवीय प्रयत्नों से सूर्य एवं वायु को विशेष क्रियाशील बना कर भी वर्षा कराई जा सकती है। मनुष्यों जिन प्रयत्नों से सूर्य एवं वायु को क्रियाशील विशेष बनाता है, उस प्रक्रिया को यज्ञ कहते हैं। इसलिए वेद ने यज्ञ को 'वृषणम् (यजु० ३४।१४) वर्षा का हेतु कहा।

यज्ञ में सब क्रिया अग्नि के माध्यम से होती हैं उस अग्नि के लिए वेद ने कहा—'वृषासि' (यजु० २२।१९) अर्थात् अग्नि वर्षा कराने वाला है। यज्ञ के इस रहमस्य विज्ञान को प्रकट करते हुए ऋषियों ने घोषित किया—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनु०)

अर्थात् यज्ञाग्नि में जो आहुति दी जाती है वह सूर्यमण्डल को पहुंचती है और उस मंडल को विशेष क्रियाशील करने से सूर्य द्वारा वृष्टि के निर्माण एवं वर्षने की क्रिया सम्पादित होती है। उससे अन्न की उत्पत्ति होती है और अन्न से प्रजाओं की उत्पत्ति, जीवन आदि का क्रम चलता है।

इसी यज्ञ-विज्ञान की अनुभूति को योगिराज श्री कृष्णचन्द्रजी ने गीता में निम्न शब्दों से उपदिष्ट किया—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (गीता० ३।१४)

अर्थात् यज्ञ से मेघों का निर्माण होता है जिससे वर्षा होती है। वर्षा से अन्न की उत्पत्ति होती है। अतः वृष्टि, जल, अन्न, विद्युत् आदि की समस्याओं का समाधान हमें यज्ञ के द्वारा प्राप्त हो सकता है। जल की समस्या का समाधान केवल वर्षा से ही प्राप्त होगा। वेद इस विषय में पुनः उपदेश करता है—

देवी ऊर्ज्जाहुति दुघे सुदुघे पयसेन्द्रं
वयोधसं देवी देवमवर्धताम्॥ (यजु० २८।३९)

अर्थात् पदार्थों को पूर्ण करनेहारी, सुन्दर कामनाओं को पूर्ण करनेहारी, सुगन्ध को देने वाली, अच्छे संस्कार की हुई अन्न की आहुति जल की वर्षा से प्राणधारी जीवन को बढ़ावे। अर्थात् यज्ञ की वर्षा निमित्त आहुतियों द्वारा वर्षा होने से जीवों को जीवन, रक्षा, आयु एवं सुख प्राप्त होते हैं।

यज्ञ की प्रक्रिया आहुति एवं ध्वनि के आश्रित होती है। अतः ज्ञात होता है कि वृष्टि कराने में ध्वनि एवं द्रव्यों की उपयोगिता है किस विशेष प्रकार की ध्वनि एवं किस प्रकार के हव्य द्रव्यों की कितनी उपयोगिता है तथा उनका किस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए, यह विविध-विधान वृष्टि यज्ञ संज्ञक है।

जल कहां-कहां से प्राप्त होता है

वेद में अनेक प्रकार से इस वष्टिविज्ञान के बारे में वर्णन प्राप्त होता है। वेद ने जल प्राप्ति के

स्थानों का निम्न मन्त्र में वर्णन किया है—

पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयोदिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ।। (यजु० १८।३६)

(१) पृथ्वी में जल है

पयः पृथिव्याम्—

जल पृथिवी में है और ऊपर भी है। पृथिवी पर नदियां वह रही हैं। पर्वतों से निर्झर बह रहे हैं। बड़े-बड़े सर-सरोवर, समुद्र सब इस पृथिवी पर हैं। पृथिवी के भीतर भी जलों के स्रोत बह रहे हैं। उन्हें कुवे, बावड़ी, तालाब एवं नलकूपादि के द्वारा हम प्राप्त कर लेते हैं।

आज जल के अभाव में हम पानी को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर इस पृथिवी पर भटक रहे हैं। कहीं पृथिवी में से जल का स्रोत मिल जावे। परन्तु जब सर्वत्र ही जल की कमी है तब इन प्रयत्नों से जल की पूर्ति नहीं हो सकती।

पृथिवी पर जो जल प्राप्त होता है वह कहीं क्षार-युक्त कहीं स्वाद-रहित, कहीं मीठा, कहीं स्वादु और कहीं ओषधि मिश्रित भिन्न-भिन्न प्रकार का प्राप्त होता है। उनमें से कतिपय प्रकार के जल केवल बाह्य उपयोग के लिए ही होते हैं और कतिपय जल अपने शरीर के आन्तरिक उपयोग के लिए होते हैं वे पय कहलाते हैं। पय ही पेय जल हैं। पेय जलों की प्रचुरता से उनका उपयोग बाह्य कार्यों के लिए भी होता है।

(२) वृक्ष वनस्पतियों में जल है

पय ओषधीषु—

अनेक प्रकार के स्वादु, बलवर्धक एवं रोगनाशक जल, पय,
ओषधि, वनस्पति एवं फलों में भी अनेक प्रकार के स्वादु, बलवर्धक एवं रोगनाशक जल, पय, —

ओषधि, वनस्पति एवं फलों में भी अनेक प्रकार के स्वादु, बलवर्धक एवं रोगनाशक जल, पय, क्षीर, रस भरे हुए हैं। नारियल, खरबूज, संतरा, नारंगी, माल्टा, मौसमी, अंगूर, टमाटर, आम आदि फलों में प्रचुर-मात्रा में पेय रस भरे हुए हैं। खजूर आदि वृक्षों के तनों में मधुर रस के स्रोत हैं। कई वृक्षों की शाखा एवं फलों में दूध भरा रहता है। अन्न जब खेतों में पकने से पूर्वावस्था में होता है, उस समय उनमें क्षीर-दूध भरा रहता है। अनेक फल जब अपक्व अवस्था में होते हैं उनमें क्षीर की पर्याप्त-मात्रा होती है और वही क्षीर पक्वावस्था के मधुर-रस में परिणत हो जाता है।

ओषधि, वनस्पति, फल एवं अन्नों के इन पयों से हमारी तृषा एवं क्षुधा की पूर्ति में सहायता प्राप्त होती है, जिससे जीवन एवं बल का संचार होता है। प्रकृति ने महान् अद्भुत एवं सुन्दर ढंग से विविध आकार प्रकार में इन पेय जलों को हमारे लिए प्रस्तुत किया है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी जल के महान् कोश हैं, जिनको वेद ने बताया है।

(३) अन्तरिक्ष में सूक्ष्म जल का समुद्र है

पयोऽन्तरिक्षे—

हमारे शिर के ऊपर के भाग में जो महान् रिक्त स्थान है वह अन्तरिक्ष है। इसमें कम से कम १० किलोमिटर तक ऊंचाई के क्षेत्र में पानी वाष्प रूप में भरा रहता है। पृथिवी के जलों का सूर्य ताप से वाष्पीकरण होकर ऊर्ध्वगमन होने से वे पृथिवीस्थ जल इसी अन्तरिक्ष में सर्वप्रथम वायु और

ताप के आश्रय से सूक्ष्म-रूप में विद्यमान रहते हैं। इसी को वैदिक विज्ञान की परिभाषा में अन्तरिक्षस्थ समुद्र कहते हैं जो जल की सूक्ष्म अवस्था के रूप में है।

इस अन्तरिक्षस्थ समुद्र का अस्तित्व जब मेघ रूप में प्रकट होता है और वृष्टि होती है तो सर्व-साधारण इस अन्तरिक्षस्थ समुद्र की अनुभूति प्राप्त करते हैं। परन्तु वैज्ञानिकों की दृष्टि में इस का अस्तित्व सूक्ष्म जलों के रूप में सदा विद्यमान रहता है। अन्तरिक्ष से वृष्टि होने पर, वहां का सब जल समाप्त नहीं होता अपितु विद्यमान रहता है।

अन्तरिक्षस्थ जलों से वृष्टि

वायु की भार-वहनशक्ति से अधिक जल संगृहीत होने से तथा वृष्टि के सहायक कारणों के उपस्थित हो जाने से अन्तरिक्ष में मेघों का निर्माण होकर वे अन्तरिक्षस्थ जलवृष्टि के द्वारा पृथिवी पर आ जाते हैं। इसलिए वेद ने कहा—

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु। (अथर्व ४।१५।७)

अर्थात् वायु से गिराये जाने की क्रिया से मेघ, वर्षा द्वारा पथिवी को जल से आप्लावित करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि अन्तरिक्षस्थ जलों को वायु ही धारण करता है और उन्हीं वायुओं में विविध क्रिया होने से उन जलों का पृथिवी पर आगमन होता है।

यज्ञ द्वारा वृष्टि को खरीदा जाता है

यज्ञ के द्वारा वृष्टि का व्यवहार इतना सुनिश्चित है जैसे कि हम नित्य के व्यवहार में वस्तुओं का मूल्य देकर उन्हें खरीद लेते हैं। जब चाहें तब हम खरीदें, मूल्य दें और वस्तु प्राप्त करें। पूरा मूल्य देने पर ही क्रय-विक्रय व्यवहार चलता है। इसी बात को वेद ने स्पष्ट शब्दों में निम्न प्रकार बताया—

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरा पत।
वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्ज्जँ् शतक्रतो॥ (यजु० ३।४९)

पूर्णा दर्वि परापत—जब हम पके हुए होम करने योग्य पदार्थों को धारण करने वाली, द्रव्यों से पूर्ण आहुति अग्नि में देते हैं तो वह अग्नि होमे हुए पदार्थों के अंशों को ऊपर अन्तरिक्ष में जलों को प्राप्त कर—सुपूर्णा पुनरापत—वृष्टि से पूर्ण होकर फिर अच्छे प्रकार पृथिवी में उत्तम जल रस को प्राप्त कराती है। वस्नेव विक्रीणावहै इषमूर्जम्—इस व्यवहार से वैश्यों के व्यवहारों के समान उत्तम अन्नादि पदार्थ एवं पराक्रमयुक्त वस्तुओं को खरीदें। अर्थात् जैसे वैश्य लोग रुपया आदि को ले देकर अनेक प्रकार के अन्नादि पदार्थों को खरीदते या बेचते हैं वैसे हम सब लोग भी अग्नि में शुद्ध द्रव्यों को छोड़ कर वर्षा वा अनेक सुखों को खरीदते हैं, खरीद कर फिर वृष्टि और सुखों के लिए अग्नि में हवन करते हैं।

जलों के विविध नाम एवं रूप

जल को धारण की हुई वायु की वेद में गन्धर्व संज्ञा है। अतः वायु के आश्रय से सूक्ष्म जलों की उपस्थिति न्यूनाधिक मात्रा में अन्तरिक्ष में सदा विद्यमान रहती है। इन्हीं अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म जलों के वात के ताप से प्रभावित होने से कुहरा, ओस, फुहार, वृष्टि, तुषार, हिमपात एवं ओलों आदि का पतन पृथिवी पर होता है। ये सब जल के ही रूपान्तर पदार्थ हैं।

अन्तरिक्षस्थ जल जब मेघरूप में परिणत होते हैं तो इसके भी अनेक रूपान्तर होते

हैं :—अद्रि, ग्रावा, पृथुबुध्न, पर्वत, अश्मा, गोत्र, वल, गिरि, व्रज, उपल, अहि, अभ्र, वलाहक, मेघ, वृत्र, स्तनयित्नु ये सब बादलों की विविध स्थितियां हैं।

पृथिवीस्थ जल ताप से ऊर्ध्वागमन करते समय वाष्प रूप में परिणत हो जाते हैं और पुनः वही वाष्प अन्तरिक्ष से जब पृथिवी पर अवतरित होती है तो मेघरूप में परिणत होकर वृष्टि द्वारा जल रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार पृथिवी से अन्तरिक्ष तक जल के ऊर्ध्व एवं अधोगमन में जल अनेक नाम वाचक हो जाता है और अनेक रूप में देखा जाता है। परन्तु इसके ऊपर के क्षेत्र में जलों की अनेक संज्ञाएं विभिन्न स्थान एवं स्थितियों से हो जाती हैं।

(४) द्युलोक में अति सूक्ष्म जलों की स्थिति

पयो दिवि—

अन्तरिक्ष से भी ऊपर के भाग में द्युमण्डल है। उस में जल विद्यमान है। इसीलिए वेद ने कहा=वर्षतु ते द्यौः ॥ (यजु० १।२५) तुम्हारे लिए द्युमण्डल से भी वृष्टि हो। 'वृष्टिं दिवः परिस्रव' ॥ (सामवेद ११८६)-- द्युलोक से वृष्टि करो।

द्युलोक में भी समुद्र है

वेद से ज्ञात होता है कि जल के दो महान् स्रोत अन्तरिक्ष एवं उससे ऊपर के द्युमण्डल में है। वेद में एक स्थान पर प्रश्न किया है—किँस्वित् समुद्रसमँ सरः ॥ (यजु० २३।४७) अर्थात् पृथिवि और अन्तरिक्ष के समुद्रों के समान अन्य कौन सा समुद्र है ?

सोम सरोवर

इसका उत्तर वेद ने निम्न शब्दों में दिया है—द्यौः समुद्रसमं सरः ॥ (यजु० २४।४८) द्युलोक ही पार्थिव एवं अन्तरिक्षस्थ समुद्रों के समान महान् समुद्र है। जब द्युलोक में समुद्र है तो वहां भी सर्वत्र जल अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में भरा हुआ है यह सुनिश्चित हो जाता है। द्युमण्डल के जल इन दोनों समुद्रों के जलों से और भी सूक्ष्म हैं। उनकी सोम संज्ञा है।

सोम से पर्जन्य का निर्माण

इस सोम से भी पर्जन्य का निर्माण होता है। यह सोम अन्तरिक्ष में एवं पृथिवी पर भी वायु के साथ वहता है। परन्तु जब वृष्टि के लिए अग्नि के द्वारा यज्ञ-प्रक्रिया से द्युलोक के सोम को वृष्टि के निमित्त सक्रिय किया जाता है तो—दिवो वृष्टिमैरय ॥ (यजु० १४।८) यह यज्ञ-क्रिया द्युलोक से अच्छी प्रकार वृष्टि को प्रेरित करती है अर्थात् द्युलोकस्थ जलों को पृथिवी पर प्रत्यावर्तित करती है।

(५) वृष्टि के लिए हमारा प्रयत्न

पयोधा –

वृष्टि कराने के निमित्त यज्ञ की क्रिया द्वारा अन्तरिक्ष में जलों की वृद्धि करनी चाहिए। यज्ञ में यदि पय-जल, दूध आदि द्रव द्रव्यों की आहुति दी जायेगी तो यह पय वाष्प होकर अन्तरिक्ष में धारण होगा। इस क्रिया से जब अन्तरिक्ष के क्षेत्र-विशेष में अन्य क्षेत्र की अपेक्षा से वाष्प का संचय अधिक होगा तो मेघादि निर्माण में सहायता होगी और इस प्रकार—

(६) जल-समस्या हल होगी

पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्

उपरोक्त प्रकार से यज्ञ की क्रिया को यदि विशेष प्रमाण में किया जावे तो चारों ओर की सब दिशाएं हम सबके लिए जल पूर्ण हो जायेंगी। इस प्रकार हम अपने चारों ओर जलों को स्थापित करके वृष्टि समस्या को हल कर सकते हैं। और यज्ञ द्वारा—

(७) नदी तालाब भर सकते हैं

यज्ञ द्वारा नदी, तालाब, कुवे, बावड़ी भर सकते हैं यदि विधिवत यज्ञ किया जाये, इस बात की पुष्टि निम्न मन्त्र कर रहा है—

होताध्वर्यु रावयाऽ अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ ऽउत श॑स्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा ऽआ पृणध्वम्॥ (यजु० २५।२८)

तेन यज्ञेन वक्षणा आपृणध्वम्—उस प्रसिद्ध वृष्टि-यज्ञ के द्वारा नदी, नाले, तालाब कुओं आदि को वृष्टि-जल से भर दो। वह यज्ञ कैसा हो—स्वरंकृतेन स्विष्टेन=अच्छे प्रकार अलंकृत, सुशोभित तथा सुन्दर, उत्तमोत्तम भावों से युक्त होना चाहिए। यह अलंकृत यज्ञ किन से होगा—होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शस्ता सुविप्रः—होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, अग्नीत्, ग्रावग्राभ, प्रशास्ता, ब्रह्मादि जिस यज्ञ में वरण किये गये अपने-अपने कार्य को सुचारु रूप से करें वह अलंकृत यज्ञ है।

वर्षा के लिए ध्वनि की उपयोगिता

होता=आह्वाता को भी कहते हैं, जो वृष्टि-यज्ञ में मेघों का आह्वाता हो। ध्वनि से वर्षा को बुलाया जाता है। वेद इस बात का प्रतिपादन करता है कि ध्वनि से वर्षा होने में प्रभाव पड़ता है। यजु० २४।३८ में वर्षाहू शब्द आता है जिसका अर्थ है जो वर्षा को बुलाता है इस प्रकार की ध्वनि वाला प्राणी। ग्रावग्राभ ऋत्विज वे हैं, जो मेघ को ग्रहण करने अर्थात् नियत स्थान में बादल प्रकट करने वाले हैं। इनको ग्रावस्तोता भी कहते हैं। इनका भी ध्वनि विशेष कर्तृत्व से सम्बन्ध है। प्रशास्ता ऋत्विजों का सम्बन्ध भी ध्वनि-विशेष को स्तुति रूप में उच्चारित करने वालों से है। यजु० ७।४० में—पर्जन्यो वृष्टिमाँ २ इव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे—से भी यह ज्ञात होता है ध्वनि का मेघ पर बढ़ाने के लिए प्रभाव पड़ता है। अग्नीत् का कार्य—अग्नि को प्रदीप्त करने वाले से है। इस प्रकार वर्षा के लिए यज्ञ में अग्नि, आहुति, ध्वनि आदि की विविध क्रियाओं को जानने वालों की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार यज्ञ करने से नदी तालाब सब भर सकते हैं।

ऊपर के जलों को नीचे कैसे लावें

पृथिवी के जलों से उत्तरोत्तर सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ जल अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में है। उनको मानवीय प्रयत्नों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पृथिवीस्थ जलों को उपलब्ध करने के लिए हम पृथिवी को खोदते हैं। कुएं आदि बनाकर उससे पात्रादि द्वारा जल प्राप्त करते हैं। अथवा उसमें नल, पम्प आदि लगाकर या बोरिंग आदि के द्वारा नल-कूपादि के यन्त्रादि लगाकर जल प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार अन्तरिक्षस्थ एवं द्युमण्डल के जलों को पृथिवी पर लाने के लिए उनमें स्थान विशेष पर विशेष प्रकार की खनन क्रिया करनी पड़ती है।

यज्ञ द्वारा अन्तरिक्ष में खनन-क्रिया

यदि अन्तरिक्ष एवं द्युमण्डल पृथिवी सदृश कठोर एवं स्थूल होते तो उसके खनन के लिए स्थूल एवं कठोर यन्त्रों की आवश्यकता पड़ती। ये स्थान वायवीय एवं ताप प्रधानयुक्त हैं तथा आकाशवत् पोल-युक्त हैं। अतः अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में खनन क्रिया वायु और ताप के आश्रय से करने से ही सम्पन्न होगी, तभी वहां के सूक्ष्म जलों को प्राप्त किया जा सकता है। वे जल मेघ रूप में ही परिणत होकर बरसेंगे।

अग्नि और वायु इस कार्य में सहयोगी हैं इसके लिए वेद कहता है।

घृताची स्थो धुर्यौ पातँ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम्।
यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे
सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व॥ (यजु० २।१६)

इस मन्त्र के देवता अग्नि और वायु हैं अतः ये दोनों घृताची स्थः—जल को प्राप्त कराने वाली क्रियाओं को करने वाले हैं। ये दोनों धुर्यौ पातम्– यज्ञ के मुख्य अंग, क्रियाओं की रक्षा करें। तुम दोनों वर्षा कराने वाले होने से सुख रूप हो। अतः—सुम्ने मा धत्तम्—यज्ञ द्वारा वृष्टि कराने वाले मुझको सुख में स्थापन कराओ। यज्ञ नमश्च ते—यज्ञ के लिए श्रद्धा, प्रेम एवं नम्रभाव से क्रिया करनी चाहिए जिससे उप च=तेरा उपचय, ऊपर की ओर चयन, विशेष संचय, स्थिति हो। यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व—ज्ञान और क्रिया से अनुष्ठित विधिपूर्वक यज्ञ कल्याण प्रदान करने में अच्छी प्रकार अन्तरिक्ष के अपने यज्ञ-मार्ग में वेदी से अन्तरिक्ष के मध्य भाग में लम्ब रूप में स्थित होता है अतः स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व—मेरा जो यज्ञ करने का प्रयोजन है उस कामना की पूर्ति के लिए अच्छी प्रकार स्थित हो। इस प्रकार वेद मन्त्र अग्नि और वायु को वर्षा के लिए यज्ञ द्वारा आकाश-स्थित करते हैं। इस यज्ञ के द्वारा निर्मित स्थिति में बार-बार आहुति देकर ठीक उसी प्रकार से खनन क्रिया उत्तरोत्तर ऊपर बढ़ती जाती है जैसे कि पृथिवी में लगे बोरिंग में क्रिया करते हैं।

मेघ निर्माण में शीत एवं उष्ण तापों की आवश्यकता

मेघों के निर्माण में तापक्रम की विभिन्नता बहुत सहायक होती है। जब शीत एवं उष्ण इन दो प्रकार की जलपूर्ण वायुओं का मिलन होता है तो उष्ण ताप वाली वायु के सूक्ष्म जल में शीत वायु के प्रभाव से वाष्प स्थिति दृष्टिगम्य रूप में परिणत हो जाती है। यही मेघों का स्वरूप में प्रकट होना है।

प्रकृति में शीत एवं उष्णता उत्पन्न करने वाले तत्त्व

वातावरण में प्राकृतिक ऊष्मा से पृथिवी की विभिन्न स्थितियों से न्यूनाधिक ताप की वायु लहरें या स्तर निर्मित होते हैं। प्रकृति के आग्नेय एवं शीत तत्त्व भौगोलिक स्थिति इस कार्य में अत्यधिक सहायक होती हैं। ये दोनों प्रकार के तत्त्व प्रकृति में विद्यमान हैं। अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि आग्नेय तत्त्वों के संघात हैं। जल, चन्द्र, मेघ, हिम आदि शीत तत्त्व के संघात हैं।

विभिन्न तापों से वायु-स्तरों का निर्माण

आग्नेय एवं शीत तत्त्वों के प्रसारण में अन्तरिक्ष में विविध प्रकार का तापक्रम भौगोलिक विभिन्न स्थितियों से वायु में प्रकट होता है। तदनुसार वायु में विभिन्न प्रकार की गतियां उत्पन्न होती हैं। यदि हम वातावरण में समुचित तापक्रम की न्यूनाधिकतायुक्त विविध वायुस्तरों का निर्माण करेंगे तो मेघ-निर्माण की क्रिया में सहायता प्राप्त होगी। इसीलिए वेद ने कहा—मातरिश्वनो घर्मोऽसि।(यजुः १।२)

अर्थात् यज्ञ वायु का शोधक है। शोधन कर्म उसमें तभी होता है जब उसमें ताप की यज्ञ के द्वारा विशेष वृद्धि होती है। यज्ञों से स्थान विशेष की वायु में ताप की वृद्धि होती है अतः यज्ञ द्वारा विविध तापयुक्त वायु-स्तरों का निर्माण होता है। यज्ञ द्वारा यह प्रक्रिया बड़ी सरलता एवं स्वाभाविक रीति से प्रारम्भ हो जाती है।

ताप से वायु में गति-संचालन

ताप के प्रसारण से वायु में ताप की वृद्धि होती है और उससे गतिशीलता, भी उत्पन्न होती है। वह वायु हलकी होकर ऊर्ध्व गतिशील हो जाती है। इस गति को कुछ काल तक ताप के द्वारा बनाये रखने से पृथिवी मण्डलस्थ वायु की ऊर्ध्वरूप में गमन-स्थिति रहती है और जितना ही अधिक प्रचण्ड ताप का इस कार्य में उपयोग करेंगे उतने ही वेग से वायु भी ऊपर अन्तरिक्ष में गमन करेगा जैसा कि निम्न मन्त्र में प्रतिपादित है—

वायु कूप का निर्माण

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम्।
शिवो नियुद्भिः शिवाभिः॥ (यजुः २७।३१)

अग्रेगा यज्ञप्रीः शिवो वायुः—आगे एवं ऊर्ध्व गतिशील, यज्ञ के ताप एवं आहुति से तृप्त होने वाली, उस ताप एवं हुतद्रव्य को धारण करने वाली, कल्याणप्रद वायु, शिवाभिर्नियुद्भिः—अनुकूल, कल्याणकारक, सुनियोजित क्रियाओं से, मनसा साकं यज्ञं गन्—यज्ञ के अनुष्ठाताओं की मनोनुकूल योजनाओं के साथ यज्ञ को प्राप्त होता है। अर्थात् यज्ञ के द्वारा वायु यज्ञ की स्थिति को प्राप्त कर अग्रेगा बनता है। यज्ञ की आहुति के साथ ताप के कारण ऊपर को तीव्रगति से गमन करता है। यज्ञ द्वारा निर्मित यह गति शिव, कल्याणकारी है। इसी प्रकार निम्न मन्त्र में बताया है—

सं बर्हिरङ्क्ताँ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः।
समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत्स्वाहा॥ (यजुः २।२२)

अर्थात् हे मनुष्यों! तुम जब हवन करने योग्य द्रव्य को होम करने योग्य घी आदि सुगन्धयुक्त पदार्थ से संयुक्त करके हवन करोगे तब वह बारह महीनों, अग्नि आदि आठों निवास के स्थानों और वायु के साथ अच्छी प्रकार क्रिया करता है, उनमें प्रकट होता है। जो यज्ञ में छोड़ा हुआ उत्तम क्रिया सुगन्ध्यादि पदार्थ युक्त हवि है वह सूर्यलोक को पहुंचता है और उससे अच्छी प्रकार मिश्रित होकर विविध शक्तियों के साथ अन्तरिक्ष से भी ऊपर का जो दिव्य नभोमण्डल है उसको अच्छी प्रकार क्रियाशील करता है।

इस क्रियाशीलता से दिव्य नभोमण्डल के जलों की वर्षा होती है जैसा कि—

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत।
अवाँस्या वृणीमहे॥ (यजुः २७.३४)

हे जलों के स्वामी, रक्षक, एवं पालक वायो! आप सूर्य के जामाता हैं क्योंकि सूर्य-रश्मियों से अन्तरिक्ष एवं द्युमण्डल में उत्पन्न जलों को आप लाकर उनके वर्षण योग्य बनाने के लिए उनमें गर्भ प्रदान करते हैं उससे वृष्टि होती है। इसलिए वायु को आदित्य का जामाता कहा जाता है। हे अद्भुत, आश्चर्य रूप एवं कर्म वाले वायो! हम तुम्हारे वृष्टि, अन्नादि रक्षण कर्म के लिए प्रार्थना करते हैं एवं तदनुकूल व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार यज्ञ के द्वारा उष्ण वायु का अन्तरिक्ष में ऊपर को वेगपूर्वक प्रवेश ठीक उसी प्रकार होता है जैसे पृथिवी में हम खोदकर या बोरिंग करके करते हैं। यहां यज्ञ की क्रिया अन्तरिक्ष की बोरिंग है एवं पाइप लाइन डालने सदृश कार्य है।

तापित वायु कूप द्वारा अन्तरिक्ष में जल-संग्रह

अन्तरिक्ष में प्रविष्ट वह उष्ण वायु अपने समीप के जलों का शोषण करने लगती है और सामान्य जल पूर्ण वायु से इसमें जल की मात्रा का संचय अधिक होने लगता है। उष्ण वायु का यह शोषण-कार्य पृथिवी एवं अन्तरिक्ष के जिस वायु-क्षेत्र में प्रभावशील होता है वहां के जल को भी यह वायु अपने में धारण कर लेती है और उस प्रभावित क्षेत्र की एक पक्षीय उस स्थान की वायु में जल की न्यूनता भी हो जाती है। इस प्रकार स्थान विशेष में बादलों के निर्माण में सहयोग प्राप्त हो जाता है।

इस क्रिया को वेद निम्न प्रकार प्रतिपादित कर रहा है—

नियुत्वान्वायवा गह्ययँ शुक्रोऽअयामि ते ।
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ।। (यजुः २७।२९)

हे वायो ! तुम यज्ञ तेज से युक्त होकर वृष्टिकार्य के लिए या अभीष्ट कार्य के लिए नियुक्त होकर अग्रगमनशील बनकर जिन स्थानों में उत्तम जल, रस, सोम प्राप्त हो सकता है उन स्थानों के प्रति आओ। अर्थात् यज्ञ की ताप से युक्त वायु अपने में जल, रसादि को ग्रहण करता है। इसी भाव को—

आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ।। (यजुः २७।३०)

इस मन्त्र भाग में भी कहा है। अर्थात् यज्ञ द्वारा प्रेरित वायु सोमपान करने के लिए प्राप्त होता है। यज्ञ के ताप से तापित वायु सोम-सूक्ष्म जल रसों का संग्रह अपने में करने लगता है। इसी प्रकार निम्न मन्त्र में भी वर्णित है—

आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके ।
अग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानँ स्वाध्यं जनयत्सूदयच्च ।। (यजुः ३३।११)

जब वर्षा के लिए अग्नि में घृतादि के पड़ने से निरन्तर बढ़ा हुआ, पवित्र यज्ञ से उठा तेज—जैसे राजा को व्याप्त होता है, वैसे—सूर्य को अच्छे प्रकार व्याप्त होता है। तब सूर्य रूप अग्नि बल हेतु, निर्दोष, युवावस्था को, बल को बढ़ाने वाले, जिसकी सब इच्छा चिन्तन आदि करते हैं ऐसे पराक्रमकारी वृष्टि-जल को आकाश के निकट उत्पन्न करता और वर्षा कराता है। अतः यज्ञ के तेज से अन्तरिक्ष में जल-संग्रह होता है यह प्रमाणित होता है।

मेघ-निर्माण में अतिरिक्त वाष्प का सहयोग

इसके अतिरिक्त यदि हम कुछ जलीय वाष्प को भी अन्तरिक्ष में प्रसारित करेंगे तो वायु में जलीय तत्त्व की मात्रा में वृद्धि अवश्य होगी। यज्ञ में दूध आदि द्रव्य पदार्थों की आहुति इस निमित्त भी दी जाती है। वाष्प की पर्याप्त मात्रा अन्तरिक्ष में पूर्व से ही विद्यमान होने से इस अतिरिक्त वाष्प की वृद्धि से असामान्य स्थिति स्थान विशेष में होगी। जिस ऋतु का वायु तापक्रम जितने वाष्पभार को वहन करने में समर्थ है उसकी अपेक्षा से इस प्रकार अतिरिक्त भार वृद्धि से, समीप के वायुमण्डल एवं

दिन रात्रि के न्यूनाधिक शीत एवं उष्ण तापमान के प्रभाव से अन्तरिक्ष में विभिन्न ताप स्थिति उत्पन्न करेगा और मेघों के निर्माण में विशेष सहायता होगी।

अतिरिक्त वाष्प के लिए वनस्पतियों का प्रयोग

वेद ने मेघ-निर्माण के लिए अद्रिरसि वानस्पत्यः (यजुः १।१४) वनस्पतियों को सहयोगी बताया है। वृक्ष वनस्पतियों से पूर्ण भूभाग के अन्तरिक्ष में मेघों का आगमन अधिक होता है और वहां वर्षा होती है। इसलिए वनों की उपयोगिता वर्षा के लिए है। परन्तु वनस्पतियों की यज्ञ में आहुति से भी मेघों का निर्माण होता है जैसा कि निम्न मन्त्र से स्पष्ट है—

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो

मधुशाखः सुपिप्पलो देवमिन्द्रमवर्धयत्। (यजुः २८।२०)

दिव्य प्रकाशमान गणों के साथ वर्तमान सुवर्ण के तुल्य चिलकते हुए पत्तों वाला, मीठी डालियों से युक्त सुन्दर फलों वाला, उत्तम गुणों का दाता सूर्य की किरणों में जल पहुंचाकर उष्णता की शान्ति से किरणों का रक्षक वनस्पति, उत्तम गुण वाले दरिद्रता के नाशक मेघ को बढ़ायें। अर्थात् अन्तरिक्ष में वाष्प की मात्रा अतिरिक्त बढ़ाने के लिए यज्ञ में सुवर्ण समान चिलकते पत्ते—वृक्षों की नई कोंपलें जो नये रस से पूर्ण होती हैं, ऐसे वृक्षों की शाखाएँ जिनमें मधुर रस भरे हों तथा मधुर पदार्थ एवं नये पके फलों का दूध, घृत, दही आदि के अतिरिक्त प्रयोग इस कार्य के लिए लाभदायक है जैसा कि—

मित्रावरुणाभ्यां पयस्या—(यजुः २९।६०) से ज्ञात होता है।

यज्ञ प्राकृतिक विज्ञान पर आश्रित है

पूर्वोक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि अग्नि और वायु के माध्यम से अन्तरिक्षस्थ एवं द्युलोकस्थ जलों को समय-समय पर वर्षाया जा सकता है। यज्ञ की विज्ञानयुक्त क्रियाओं से यह संभव है। यज्ञ का विज्ञान सृष्टि-विज्ञान के आश्रित है। प्रकृति के जिन-जिन नियमों के आश्रित मेघों का निर्माण होता है एवं उनसे वृष्टि होती है, उन कारणों को यदि हम भी उत्पन्न करने में सहायक होते हैं तो हमारे प्रयत्नों से भी वर्षा की क्रिया संभव हो जाती है।

यज्ञ द्वारा इच्छित अवसरों पर वर्षा

इस प्रकार के प्रयत्नों की ओर अग्रसर होने के लिए वेद ने कहा—

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु॥ (यजुः २२।२२)

अर्थात् जब-जब हम इच्छा करें मेघ जल-वर्षा करें। इससे ज्ञात होता है कि किसी भी ऋतु में वर्षा कराई जा सकती है। इस क्रिया को सिद्ध करने के लिए वेद आदेश देता है—

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह।

वपां ते अग्निरिषितो अरोहत्॥ (यजुः १२।१०३)

अर्थात् हे पृथिवी! यज्ञ द्वारा वृष्टि जल से चारों ओर से व्याप्त हो। इस क्रिया के वपन के लिए अर्थात् इस क्रिया के क्रमपूर्वक विकास एवं गति के लिए यज्ञ द्वारा प्रेरित किया गया अग्नि अन्तरिक्ष एवं द्युलोक तक आरोहण करे। तात्पर्य यह है कि यज्ञ के यथाविधि करने से अग्नि के ताप को पृथिवी से अन्तरिक्ष एवं द्युलोक तक चढ़ाना होगा, उससे वर्षा की कामना की पूर्ति होगी।

यज्ञ से स्वतः ही वर्षण-क्रिया क्रम-पूर्वक होती है

इस प्रकार वेद स्पष्ट प्रतिपादित करता है कि मानवकृत प्रयत्न जो यज्ञाश्रित होते हैं, वे प्राकृतिक विज्ञान के पूर्ण अनुकूल हैं और उनके द्वारा ऊपर के जलों को वर्षाया जा सकता है। यज्ञाग्नि एवं उसमें प्रयुक्त आहुतियों से अन्तरिक्ष एवं द्युमण्डल में ऐसी स्थितियों का स्वतः निर्माण होता चला जाता है जिससे मानवकृत प्रयत्नों से इच्छित समय पर वर्षा हो सकती है।

यज्ञ द्वारा अन्तरिक्ष में वाष्प भार की वृद्धि

यज्ञ के अन्तरिक्ष के प्राकृतिक तापमान की मात्रा में स्थान विशेष में ताप की वृद्धि होने से समीप के वायुमण्डल की अपेक्षा से विषमता उत्पन्न हो जाती है जिससे अन्तरिक्ष में मेघों की उत्पत्ति होने में सहायता होती है। यज्ञों में प्रयुक्त घृत, दही, मधु तथा हरित वनस्पतियों एवं अन्य हव्य की द्रव्य की वाष्प एवं उनके धूम्र का संयोग मेघों से होने पर इन पदार्थों की जलीय वाष्प अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की वाष्प में तथा मेघों में ऋतुस्थिति की अपेक्षा वैषम्य एवं आधिक्य उत्पन्न करती है। उससे स्थान विशेष में जलीय तत्व की वृद्धि हो जाती है। इसलिए यजुर्वेद २१ के ३०-४० मन्त्रों के अन्त में कहा—

"पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज" अर्थात् हे होता!! तू दूध, जल, ओषधि समूह निष्पन्न रस, घृत, मधु आदि अन्तरिक्ष में व्याप्त हों अतः इनके साथ घृत से यजन कर।

घृताहुति से वाष्प में घनत्व-वृद्धि

यज्ञ के अन्दर घृत की प्रधान रूप से आहुति होती है। इसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग अग्नि में जलकर अग्नि को प्रदीप्त करता है और दूसरा भाग जो दूध आदि तथा हरित वनस्पतियों के साथ अग्नि में पड़ता है उसका बहुत सा अंश उसी समय जल तो नहीं पाता अपितु दूध तथा हरित वनस्पतियों की वाष्प के साथ ऊपर गमन करता है। यही यज्ञीय वाष्प जब अन्तरिक्षस्थ जल-कणों के साथ मिश्रित होकर प्राकृतिक शीतलता के प्राप्त होने के कारण शीतल होने लगती है तो उसमें जमने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथा जो घृत अग्नि में जल जाता है उसकी गैस भी अन्तरिक्ष के जलों में प्रवेश करती है और वह भी जलों में गर्भ स्थिति को ग्रहण कर लेती है। इसके अतिरिक्त अन्य इनके धूम्रकण भी प्रवेश करके गर्भ का कार्य करते हैं जिसके आधार पर अन्तरिक्षस्थ बादलों में घनत्व एवं हिम-कणों की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। इसीलिए वेद में जिस जुहू से या उपभृत एवं ध्रुवा आदि स्रुचों से घृत-सेचन किया जाता है उनके लिए—घृताच्यसि। (यजु० २।६) विशेषण दिया है। इसका अर्थ यह है कि वह होम क्रिया जिससे अन्तरिक्षस्थ जलों को वर्षा के द्वारा प्राप्त किया जाता है। घृत का अर्थ जल भी निघण्टु में है। अतः यज्ञ द्वारा वर्षा कराने के लिए घृत का अत्यन्त महत्त्व है।

वर्षा के लिए यज्ञ की ही प्राथमिकता

इस प्रकार स्पष्ट ज्ञात होता है कि यज्ञ से वर्षा होना स्वाभाविक एवं विज्ञान के अनुकूल ही है। वेद ने इसीलिए यज्ञ को—वर्षवृद्धमसि। (यजु० १।१६) वर्षा का वर्धक कहा है अतः आज आवश्यकता है कि वर्षा कार्य के लिए—इममद्य यज्ञं नयताग्रे। (यजु० १।१२) इस यज्ञ-प्रक्रिया को प्राथमिकता देकर जल-समस्या का हल प्राप्त करें।

यज्ञाहुतियों से वृष्टि का द्युलोक से आगमन

यज्ञ द्वारा वृष्टि कराने के लिए वेद में एक स्थान पर वर्णन है—

मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम् ।
व्यन्तु वयोक्तँ रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ
वशापृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह ।। (यजु० २१।१६)

मित्र (आक्सीजन) और वरुण (हाइड्रोजन) वृष्टि के स्वामी तत्त्व हैं जिनके द्वारा जल-तत्त्व का निर्माण होता है। वे दोनों वृष्टि के द्वारा हमारी रक्षा करें। यह रक्षा कैसे होगी, इसका उत्तर मन्त्र स्वयं देता है कि जैसे पक्षी अपने-अपने अनुकूल निवास-स्थान को रचते हैं और प्रतिदिन उसे प्राप्त करते हैं इसी प्रकार वृष्टि यज्ञ की प्रक्रिया के ज्ञाता विद्वान् जब वृष्टि यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं तो यज्ञ में होमी हुई आहुति अन्तरिक्ष में स्थिर और सुशोभित होकर पुनः पवनों के विविध स्तर एवं मार्गों के संग से द्युलोक को भी प्राप्त होती है। वह वहां से हम लोगों के सुख के लिए वर्षा को अच्छे प्रकार बरसाती है—अतः वेद के अनुसार यज्ञ से वर्षा होना सुनिश्चित है, युक्तिपूर्ण और विज्ञान सिद्ध है।

यज्ञ द्वारा वृष्टि-जल की शुद्धि

स्वाभाविक वृष्टि होने की स्थिति में भी यज्ञ की आवश्यकता है क्योंकि यज्ञ द्वारा वृष्टि जल की भी शुद्धि होती है और उस जल में यज्ञ से गुणों की भी वृद्धि होती है। यज्ञ द्वारा वृष्टि-जलों में यथेच्छ गुणों को भी स्थापित किया जा सकता है। अतः वृष्टि कराने तथा वृष्टि को उत्तम गुण युक्त बनाने के लिए यज्ञ की अत्यन्त उपयोगिता है।

प्राकृतिक कारणों से निर्मित वृष्टि जल

इस बात को समझने के लिए हमें सामान्य वृष्टि-जल की स्थिति को समझना चाहिए। सूर्य के ताप से पृथिवी का जो जल वाष्प बनकर ऊपर उड़ता है उसमें उन सब पदार्थों का भी अंश सूक्ष्म रूप से अन्तरिक्ष में उसके साथ पहुंचता है जो पृथिवी पर जल भाग युक्त एवं मिश्रित पदार्थ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर से मलमूत्रविसर्जन करता है। ये सब मलमूत्र नदी, तालाबों एवं समुद्र में पहुंचते हैं और कुछ भाग पृथिवी पर भी रहता है। सूर्य के ताप से इन सब मलमूत्रों का जलीय अंश पृथिवी, नदी तालाब एवं समुद्र से उनके जल के साथ वाष्प बनकर उड़ता है और वह अन्तरिक्ष में संग्रह होता रहता है।

जिस प्रकार से वाष्प द्वारा गुलाब, केवड़ा आदि का अर्क निकाला जाता है और अर्क में उस पदार्थ के गुण विद्यमान रहते हैं तथा वह अर्क शक्तिशाली बनकर थोड़ी मात्रा में भी बहुत प्रभावशाली हो जाता है उसी प्रकार सृष्टि में भी सूर्य ताप से मलों का अर्क पृथिवी से खिचकर अन्तरिक्ष में संग्रह होता रहता है। ऐसे मल वाष्प से उत्पन्न मेघजलों की वृष्टि से मलार्क रूपी जल की ही प्राप्त होगी। अर्थात् जितना हम मल विसर्जन करते हैं वह सब अर्क रूप में प्रभावशील होकर हमें ही वापस मिल जाता है। क्या ऐसा जल पीना आप को स्वीकार है। यदि नहीं, तो इसका प्रतीकार आपके पास क्या है?

यज्ञ द्वारा जलों का शोधन-कार्य

इस गम्भीर समस्या का समाधान भी यज्ञ से ही प्राप्त होगा। वेद ने बताया है—

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् । (यजु० १।३)

अर्थात् यज्ञ असंख्यात पदार्थों का धारण करने वाला होने से निश्चय से असंख्यात प्रकारों से ही पवित्र एवं शोधन कार्य करने वाला है। अतः पूर्वोक्त दोष का वृष्टि के जल का प्रतीकार भी यज्ञ से ही सम्भव है।

यज्ञ के द्वारा अन्तरिक्ष को उत्तम, सुगन्धित, पुष्टिकारक एवं रोगनाशक औषधियों के रस, घृत, मधु आदि से पूर्ण करना चाहिए। जब यज्ञाग्नि में ऐसे उत्तम पदार्थ पड़ेंगे तो उनसे उत्पन्न वाष्प अन्तरिक्ष में प्रसारित भी होगी। सूर्य की ऊष्मा से जो जल अन्तरिक्ष में पहुंचता एवं विद्यमान रहता है, उसके साथ इस यज्ञ की वाष्प का भी संयोग होगा जिससे मल के परमाणुओं का विनाश होगा और पुष्टिकारक, रोगनाशक तथा जीवनीय तत्त्वों की जल में प्रधानता होगी।

इसके अतिरिक्त यज्ञिय वाष्प में यज्ञ की अग्नि का ताप भी रहता है और सूर्य का ताप भी रहता है। इन दोनों तापों के मिश्रण से यज्ञिय वाष्प के ताप की शोधन-सामर्थ्य केवल सूर्य-तापयुक्त वाष्प जलों से अधिक होना स्वाभाविक है। अतः यज्ञिय वाष्प के पदार्थों की सामर्थ्य उन पर आधिपत्य स्थापित कर लेती है और उनको विनष्ट कर देती है। इस प्रकार यज्ञ का पवित्रकारक कर्म अन्तरिक्ष में अनेक प्रकारक से क्रियाशील हो जाता है।

इस पवित्रकारक वैज्ञानिक स्थिति का आभास निम्न वेद मन्त्र में दृष्टिगोचर हो रहा है—

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्मां२ ऽआविवासति।
हविष्मान्देवो ऽअध्वरो हविष्मां २ ऽअस्तु सूर्यः (यजु० ६।२३)

अर्थात् हे यज्ञविज्ञान के जानने वाले विद्वानो! तुम उन यज्ञों की क्रियाओं को किया करो जिनसे ये पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोकस्थ जल अच्छे प्रकार यज्ञ की हवि से युक्त होकर नाना प्रकार के सुख एवं उपकार करने वाले बनें। यज्ञ द्वारा सुसंस्कृत किये गये जल एवं वायु अच्छे प्रकार सेवन योग्य बनते हैं। सुखों को प्रदान करने वाला यज्ञ हवियुक्त हो और उस यज्ञ की हवि से सूर्य भी तदनुकूल सुगन्ध्यादि युक्त हवि पदार्थों से युक्त होकर सुखदायी हो।

यज्ञ द्वारा शोधन का विशाल क्षेत्र

इस प्रकार यज्ञ की पवित्र-कारक क्रियाशीलता की व्याप्ति का क्षेत्र पृथिवी से द्युमण्डल तक विस्तृत होता है, इसका प्रतिपादन निम्न मन्त्र से हो रहा है—

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥ (यजु० ६।२५)

सोम का सम्बन्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ से है, यह पूर्व बताया है। अतः मेघ-निर्माण में भी सोम का सम्बन्ध है। सोम द्युलोकस्थ सूक्ष्म जल है जो अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हैं। सोम द्युलोक से अन्तरिक्ष एवं पृथिवी पर आता रहता है। परन्तु यज्ञ-क्रियाओं द्वारा भी सोम का निर्माण होता है और द्युलोकस्थ सोम को नीचे भी लाया जाता है, जैसा कि वेद ने—सोममवनयामि। (यजुः ७। २५) मैं सोम को नीचे लाता हूं, इत्यादि स्पष्ट कहा है।

यह 'हृदे त्वा मनसे त्वा'—मन्त्र सोम देवता का है। उस सोम को शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिए—द्युमण्डल में इच्छित क्रिया करने के लिए, सूर्य को अनुकूल क्रिया-सिद्धि में उपयोगी बनाने के लिए, उसके उत्पादन की एवं प्रसारण की क्रिया करते हैं। इस निमित्त यज्ञ-क्रिया को

कराने वाले विद्वान् प्राकृतिक तत्त्वों को क्रियाशील करने के लिए इस अग्निहोत्र रूपी यज्ञ को द्युलोक में ऊपर की ओर ले चलें।

पृथिवी पर यज्ञ से ही कार्य में सिद्धि

उपरोक्त मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पृथिवी पर से किया गया यज्ञ द्युलोक तक पहुंचाया जा सकता है या पहुंचता है। इसीलिए वेद में—पृथिवि देवयजनि (यजु० १।२५) कहा है। इस विज्ञान की साक्षी—इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेता निदधे पदम् (यजु० ५।१६) यह मन्त्र दे रहा है। अर्थात् यह यज्ञ विशेष रूप से गति करता हुआ पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में अपने स्थान को ग्रहण कर लेता है।

इस विज्ञान को और भी स्पष्ट रूप में वेद निम्न शब्दों में प्रकट कर रहा है—

दिवि विष्णुर्व्यक्रँस्त···।
अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रँस्त···।
पृथिवी विष्णुर्व्यक्रँस्त।। (यजु० २।२५)

अर्थात् यज्ञ द्युलोक में जाता है—यज्ञ अन्तरिक्ष में जाता है—और यज्ञ पृथिवी पर भी जाता है—व्याप्त होता है।

इस महान् सामर्थ्य के कारण तथा शोधक होने के कारण यज्ञ की विधि से अरबों टन मल-मूत्रादि का अनिष्टकारक अर्क थोड़े से हव्य द्रव्यों से ही प्रभावहीन हो जाता है और उस जल में लाभ-कारी तत्त्वों की प्रधानता भी हो जाती है। इसलिए यज्ञ करना श्रेष्ठतम कर्म है और अत्यन्त आवश्यक है। इसको सब कार्यों में प्राथमिकता देनी चाहिये।

यज्ञ द्वारा वायु-शुद्धि

यज्ञ वायु का भी शोधक है। यज्ञ में प्रधान हव्य द्रव्य घृत है। घृत बल एवं तेज का देने वाला है, रोग प्रतिरोधक है तथा शोधक शक्ति को उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त विष—नाशक भी यह है। इसको अग्नि में डालने से यह वायु को पुष्ट तो करता है परन्तु वायु को निर्विष करने में भी बहुत बड़ा कार्य करता है।

हम वायु को अत्यन्त दूषित करते हैं

श्वास प्रश्वास की क्रिया से तथा बीड़ी-सिगरेट आदि के प्रयोग से हम बहुत सा विष वायु में छोड़ते हैं। कल कारखानों के धूम्र यान; वाहन आदि में प्रयुक्त इन्धनों के विषाक्त धूम्र एवं मलमूत्रादि के विसर्जन से हम अपने चारों ओर के वायुमण्डल को भयंकर रूप से दूषित तो करते हैं परन्तु उसके शोधन का किंचित् भी उपाय नहीं करते जो कि अत्यन्त आवश्यक है।

पूर्ण शोधन के लिए हमें भी प्रयत्न करना होगा

प्राकृतिक तत्त्व अपनी नियत सामर्थ्य से उस विष एवं दोष को एक नियत परिमाण में शोधन कर पाते हैं अतः अतिरिक्त विष एवं दोष का शोधन करने के लिए यज्ञ द्वारा मानवकृत प्रयत्नों की अत्यन्त आवश्कता है।

वर्तमान समय के अन्न, जल, विद्युत् अभावों को यज्ञ द्वारा वृष्टि से निवारण किया जा सकता है और सूखा-अवर्षण दूर करता है।

अवर्षण अज्ञान और अनभिज्ञता का परिणाम है

अपने प्राचीन ग्रन्थ, विद्या आदि की उपेक्षा और अनभिज्ञता के कारण ये वैज्ञानिक और राजनीतिक जन सूखे का सामना करने चले हैं। अन्न का अभाव दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं—जल का संकट दूर करना चाहते हैं। जमीन खोद कर पानी प्राप्त करके, अरबों रुपया इन गड्ढों को खोदने में और मशीनें लगाने में लगा रहे हैं। पृथिवी के जल-स्रोत वर्षा के अभाव से उत्तरोत्तर नीचे ही होते जाते हैं। फिर—खुदाई—फिर और गहरी खुदाई—पानी और नीचे—और नीचे—और कम—और कम। पीने को भी बोतलों में पानी मिलेगा—क्यू लगाने पर—धक्के खाने पर—यदि यही चाल रही? ऐसी स्थिति में क्या कोई और उपाय भी है—या हो सकता है? हां हो सकता है—अवश्य उपाय है—सरल उपाय है। वर्षा के दाता प्रभु ने इस संकट को दूर करने का उपाय हमें तभी बता दिया था जब इस सृष्टि पर मानव को उत्पन्न किया था। वेद मानव मात्र का है। उसमें सूखे का उपाय बताया है—यज्ञ। गीता ने, शास्त्रों ने, ऋषि मुनियों ने, स्मृति और पुराणों ने, इतिहास ने भी इसी को अनुभवों से पुष्ट किया। परन्तु जानते और मानते हुए भी हमने उसे उपेक्षित कर दिया। न जानते हुए और न जानने की इच्छा करते हुए हमारे अहंकार ने उसे ठुकरा दिया। हम अपने अज्ञान और अहंकार का परिणाम भोग रहे हैं। जब तक हम वेद का आश्रय नहीं लेंगे हमारी समस्या हल नहीं होगी।

वर्षा कराने का सुगम उपाय—यज्ञ है

यज्ञ द्वारा वृष्टि कराने की विद्या का वेद तथा वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर उल्लेख है। अथर्व० ४।१५।१६ में 'तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा' कहा है। अर्थात् अवर्षण की स्थिति में या जब वर्षा कराने की आवश्यकता हो तब बहुत से यज्ञ विविध प्रकार से करने चाहिएं। अर्थात् वृष्टि-निमित्त अन्तरिक्ष की स्थिति के अनुसार अनेक प्रकार के यज्ञ करने से वर्षा का यथोचित लाभ प्राप्त हो सकता है।

वर्षा की प्रक्रिया में अनेक यज्ञ

बादल होने की स्थिति में वर्षा कराने के लिए यज्ञ, बादल न होने की स्थिति में बादलों के निर्माण के लिए यज्ञ, सोम को पर्जन्य-मण्डल में नीचे लाने के लिए यज्ञ, इत्यादि प्रकार के अनेक यज्ञ वृष्टि-यज्ञ की प्रक्रिया में आते हैं। यथावसर उनका उपयोग करना चाहिए। आज देश में भयंकर रूप से सूखा, काल, अवर्षण के कारण है जिससे जल, अन्न, विद्युत् का अभाव होने से दुःख दारिद्रय की वृद्धि हो रही है। इसका निवारण यज्ञ से ही संभव है। करोड़ों या अरबों रुपयों को बांटने से समस्या का हल नहीं होगा।

यज्ञ से सोम और पर्जन्य

अथर्ववेद में वृष्टि-यज्ञ की मूलभूत एक संक्षिप्त प्रक्रिया का निम्न मन्त्र में सुन्दर रूप से वर्णन किया गया है—

केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम्।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहित मनः ॥ (१०।२।१९)

इस मन्त्र में प्रश्न के रूप में क्रमशः उत्तर की शृंखला भी है। अर्थात्—पर्जन्य, बादल किससे प्राप्त होते हैं? इसका उत्तर इस मन्त्र के आगे के प्रश्न वाक्य में ही है। किससे अद्भुत सोम प्राप्त होता है? अर्थात अद्भुत सोम ही से पर्जन्य, मेघ, बादलों का निर्माण होता है यह प्रथम प्रश्न का

उत्तर भी है और द्वितीय प्रश्न भी है। इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर कि सोम किससे बनता या प्राप्त होता है—तृतीय प्रश्न—केन यज्ञं च श्रद्धां च—में है। अर्थात् सोमतत्त्व का निर्माण यज्ञ से और श्रद्धा नामक सूक्ष्म जलों से होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि सृष्टि-प्रक्रिया में सूक्ष्म जलों से सोम निर्माण प्रक्रिया होती रहती है और मानव प्रयत्नकृत यज्ञ-प्रक्रिया से भी सोम का निर्माण होता है।

यज्ञ के लिए श्रद्धा एवं संकल्प

मानव कृत प्रयत्नों में यज्ञ के लिए श्रद्धा—विश्वास भी आवश्यक है। अतः यह अर्थ भी—केन यज्ञं च श्रद्धां च—शब्दों से प्रकट होता है। परन्तु प्रश्न रूप में जब यह उपस्थित होता है कि यज्ञ और श्रद्धा को कौन प्राप्त कराता है तो इसका उत्तर मन्त्र के अन्तिम वाक्य—केनास्मिन्निहितं मनः—में ही है। अर्थात् मन ही श्रद्धा और यज्ञ का कारण है। परन्तु यहां पर भी प्रश्न की शृंखला ही है कि किसने यह मन इस मानव शरीर में रखा है। इसका भी उत्तर इसी प्रश्न में ही है कि केन—अर्थात् प्रजापति ने इस शरीर में मन स्थापित किया है। कः प्रजापति को कहते हैं। अर्थात् प्रजापति अथवा परमेश्वर या ब्रह्म ने शरीर में मन को स्थापित किया है और उस मन में श्रद्धा को यज्ञ करने के लिए स्थापित किया है। अतः यज्ञ कार्य जो मनुष्य करता है वह ब्रह्म का प्रजापति का, परमेश्वर का ही कार्य करता है।

परमात्मा ही यज्ञपति है

श्रद्धामय मन से जब यज्ञ के लिए मन संकल्प करता है तो वह परोक्ष रूप से परमात्मा का ही संकल्प होने से सबका एवं परमात्मा का भी प्रेम-भाजन हो जाता है। इसलिए जो भी यज्ञ होता है वह परमात्मा का होता है। वही उसका परोक्षरूप से यजमान या यज्ञपति होता है। इसी भाव को—एतं ते देव सवितर्यज्ञम् (यजु० २।१३) अर्थात्—हे सविता देव, यह तेरा ही यज्ञ है जिसको हम कर रहे हैं—इन शब्दों में प्रकट किया गया है।

सृष्टि-यज्ञ एवं मानवकृत यज्ञ दोनों से धूम्र निर्माण-प्रक्रिया

पर्जन्य—मेघों का निर्माण सोम से होता है। अर्थात् मेघ या घन जो घनीभूत पर्जन्य अवस्था है अपेक्षाकृत उसकी सूक्ष्म एवं विरल अवस्था या पूर्वावस्था—ही सोम स्थिति है। इस प्रकार के सोम के निर्माण की क्रिया सूर्य के प्राकृतिक ऋतु-यज्ञों के द्वारा उत्पन्न धूम से स्वाभाविक रूप से तो होती ही रहती है, परन्तु मानवकृत प्रयत्नों—यज्ञादि के द्वारा भी होती है। दोनों प्रकार के उपरोक्त यज्ञों से उत्पन्न धूम से उष्णता होती ही है। धूम, सोम एवं पर्जन्य में क्रमशः उत्तरोत्तर घनत्व, तापन्यूनता और आर्द्रता वृद्धि को प्राप्त होती जाती है।

प्रथम स्थिति में धूम्र

उष्णता के कारण धूम्र ऊर्ध्वगतिशील रहता है। उसमें से प्रकाश एवं ताप प्रवाहित होकर क्षीण होता रहता है। यह ताप एवं प्रकाश का अवरोधक तब तक नहीं बनता जब तक उसमें ताप है। ताप एवं प्रकाश के कारण उसमें पारदर्शक स्थिति रहती है जैसे उष्ण धूप तरल रूप में होकर पारदर्शक होता है और वही जमा हुआ होने पर पारदर्शक नहीं रहता है, उसी प्रकार धूम्र भी तरल, विरल, सूक्ष्म स्थिति में पारदर्शक ताप स्थिति के कारण रहता है।

द्वितीय स्थिति में धूम से सोम एवं तृतीय स्थिति में पर्जन्य

जब उसी धूम से उष्णता की न्यूनता होने लगती है तो पूर्वापेक्षया वही शीतल होने से कुछ स्थूल तथा दृश्य स्थिति को प्राप्त होने लगता है। परन्तु पर्जन्य या मेघ स्थिति से अपेक्षाकृत सूक्ष्म एवं कुछ उष्ण होने के कारण वही सोम संज्ञक हो जाता है और जब इस सोम स्थिति में और भी घनत्व एवं शीतलता बढ़ जाती है तो वह स्पष्ट रूप से पर्जन्य, मेघ या बादल स्थिति में प्रकट हो जाता है। इससे भी जब और अधिक घनत्व एवं शीतलता की वृद्धि हो जाती है और वायु के आयतन से भी इसका आयतन भार अधिक हो जाता है तो वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। अतः मानवकृत यज्ञों से उत्पन्न धूम से अन्तरिक्ष में सोमतत्त्व की वृद्धि होने से यज्ञ वृष्टि का हेतु माना गया है।

श्रद्धा तत्त्व का कार्य

इस सोमतत्त्व को जो तत्त्व आकाश में स्थित करके पृथिवी की ओर गति करने के लिए बाधित करता है वह श्रद्धा नामक तत्त्व है। श्रद्धा वै आपः—अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म जलीय तत्त्व ही श्रद्धा है जो कि सोम से भी सूक्ष्म स्थिति में अन्तरिक्ष में विद्यमान रहती है। जब यज्ञ से उत्पन्न धूम या सूर्य-रश्मियों के ताप से उत्पन्न धूम अपने ताप की न्यूनता के कारण गति एवं वेग में शिथिल हो जाते हैं तो वे अन्तरिक्षस्थ श्रद्धा के उस स्तर को भेदन नहीं कर पाते और ऊपर गति करने में असर्थ हो जाते हैं।

हवि से सोम का पृथिवी मण्डल में अवतरण

अन्तरिक्ष के जिस स्तर या प्रदेश में इन दोनों का सम्मिश्रण होता है वहां उस धूम या सोम को ठहरने का एवं एकत्र होने का अवसर प्राप्त हो जाता है। अब इसको गति देने वाला तत्त्व वायु ही होता है। इस प्रकार पृथिवीमण्डल का ताप और ऊपर की शीत लहर—श्रद्धा के सूक्ष्म जलीय स्तर से वह धूम या सोम प्रभावित होकर अन्तरिक्ष में स्थित एवं एकत्र होता रहता है। उस सोम में यज्ञ की हवि का संयोग होने से घनत्व एवं भार की वृद्धि होने लगती है। इस से वह और अधिक नीचे की ओर गति करता है। अथर्व० (७।६९।१) में यही बताया है कि—ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि।'' अर्थात् यज्ञ की हवियों से सोम को पृथिवीमण्डल के उस स्तर पर अन्तरिक्ष से और अधिक नीचे या निकट लाते हैं। जिससे मेघों के बनने की प्रक्रिया होकर वर्षा द्वारा सबको जीवन, हर्ष एवं आनन्द प्राप्त हो सके।

श्रद्धा एवं संकल्प की वर्षा में कृतकार्यता

इस श्रद्धा तत्त्व को जो अत्यन्त सूक्ष्म जल है सोम एवं पर्जन्य रूप में परिणत करने का कार्य मन की संकल्पशक्ति से प्रेरित होकर यज्ञक्रिया द्वारा भी होता है। यह हमारा ऐच्छिक कार्य है। जब चाहें तब वर्षा का संकल्प करके यज्ञ करें, वर्षा होगी। विना संकल्प के तथा विना यज्ञ के भी प्राकृतिक स्थितियों से अनुकूल स्थिति में वर्षा और प्रतिकूल स्थिति में अवर्षण होता है। इस स्थिति पर विजय यज्ञ के प्रति श्रद्धा एवं संकल्प के आधार पर प्राप्त की जा सकती है। संकल्प और क्रिया का सम्मिश्रण भी श्रद्धा है जो मन का विषय है—यह यज्ञ के द्वारा ही सम्पन्न होता है। अर्थात् पर्जन्य निर्माण की एक प्रक्रिया प्राकृतिक रूप से श्रद्धा रूपी सूक्ष्म जलों के सोम में मिश्रित तथा परिणत होने से होती है और वह वर्षा का हेतु बनती है। इसी प्रकार दूसरी प्रक्रिया मानवकृत प्रयत्नों से संभव है। जब हम अपने

मन एवं श्रद्धा से यज्ञ करते हैं तो उससे सोमतत्त्व की प्राकृतिक स्थिति में विशेष वृद्धि हो जाने से पर्जन्य निर्माण द्वारा शीघ्र एवं इच्छित समय में वर्षा हो जाती है।

यज्ञ का प्रधान तत्त्व, अग्नि

हवन यज्ञ विना अग्नि के नहीं होता है, अतः वृष्टि-यज्ञ में सर्वप्रथम आवश्यक तत्त्व अग्नि है वही हमारी अवर्षण, सूखा, जल, अन्न और विद्युत् की बाधाओं को दूर करने में समर्थ है। वही हमारे लिए अन्तरिक्ष में महान् समुद्र को उत्पन्न करके वृष्टि करता है। इसलिए वृष्टि की कामना होने पर अग्नि का उपयोग लेना पड़ता है जो कि यज्ञ का प्रधान तत्त्व है तथा यज्ञ का आत्मा ही है।

यह अन्तरिक्षस्थ बाधाओं को दूर कर वर्षा कराता है

अग्नि के इस वैज्ञानिक रहस्यमय गुण एवं प्रत्यक्ष स्पष्ट सत्य के कारण ही वेद ने कहा —

अग्ने बाधस्व विमृधो विदुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध।

अस्मात्समुद्राद्बृहतो दिवो नोपां भूमानमुप नः सृजेह ॥ (ऋग्वेद १०।९८।१२)

अर्थात् हे अग्ने ! तू प्रतिकूल परिस्थितियों, रोगों एवं विनाशक स्थिति या विनाशक तत्त्वों को दूर कर हमारी रक्षा कर। इस पार्थिव समुद्र से भी बड़े अन्तरिक्षस्थ समुद्र से हमारे लिए जलों को प्रदान कर। इस प्रकार यह मन्त्र अग्नि के अन्तिरक्ष से वर्षा कराने की महान् सामर्थ्य और अवर्षण या सूखे की कठोर स्थिति को निवारण करने की सामर्थ्य को प्रकट कर रहा है। अतः वैदिक विज्ञान के अनुसार वर्षा के लिए यज्ञ में अग्नि प्रथम एवं प्रधान मुख्य तत्त्व है।

यज्ञ का द्वितीय प्रधान तत्त्व घृत

उपरोक्त मन्त्र के आधार पर दूसरा तत्त्व खोजने के लिए यह परिणाम ज्ञात होता है कि जो तत्त्व अग्नि की विशेष वृद्धि करने वाले हैं उनका उपयोग भी करना चाहिए। अग्नि की लपटों को जो बढ़ाने वाला तथा थोड़ी सी भी अग्निशिखा को ऊर्ध्व उन्नत या अन्तरिक्ष की ओर ले जाने में सहायक हो परन्तु अन्तरिक्ष को दुर्गन्धित न करने वाला, रूक्षता उत्पन्न न करने वाला तथा वर्षा कराने में भी सहायक हो उसका वृष्टि-यज्ञों में प्रधान या मुख्य रूप से प्रयोग करना चाहिए। ऐसा पदार्थ घृत ही है जिससे अग्नि अत्यन्त प्रचण्ड होतो है। अग्निशिखा ऊर्ध्व एवं उन्नत होती है, अन्तरिक्ष को सुगन्धित करता है, शुद्ध करता है वातावरण में स्निग्धता भी भरता है तथा वृष्टि कराने में भी परम सहायक है।

घृत की धाराओं की हवि वृष्टि कराती है

घृत के वृष्टि कराने के इस महान् गुण को वेद ने निम्न मंत्र से स्पष्ट किया है।

घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः।

अस्मभ्यं वृष्टिमा पव (ऋग्वेद ९।४९।३)

अर्थात् यज्ञों में अत्यन्त गति, कान्ति उत्पन्न करने वाली घृत की धाराओं से अग्नि को तृप्त करो जिससे वह हमारे लिए वृष्टि को प्रदान करे। अतः वृष्टि-यज्ञों में अग्नि के पश्चात् अग्नि का सहयोगी या अग्नि का प्रधान द्रव इन्धन या अग्नि की आत्मा एवं वृष्टि कार्य में परम सहयोगी पदार्थ घृत की धारा रूप में आहुतियां ही हैं।

अन्य सहायक हविद्रव्य अन्नादि

अग्नि और घृत के अतिरिक्त अन्य स्नेह द्रव्य भी वृष्टि यज्ञ में सहायक है। स्नेह या स्नेह

द्रव्यों के अतिरिक्त अन्न की भी आहुति आवश्यक है। अन्न में घृत या स्नेह पदार्थ भी रहता है जो कि अप्रकट अवस्था में है तथा उसमें सोम अंश भी है। ये दोनों वर्षा कराने में अत्यन्त सहायक हैं। वर्षा कराने में इन की उपयोगिता का वर्णन निम्न मन्त्र में बहुत स्पष्ट एवं सुन्दर शब्दों में है:—

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।। (अथर्व० ४ । २७ । ५)

अर्थात् जल प्रपूरित वायुएँ जो कि अन्न की आहुति के धूम्र से सम्मिश्रित होने से परिपुष्ट होती हैं, जो घृताहुति के धूम्र से सम्मिश्रित होने से सम्पुष्ट होती हैं अथवा जो अन्य स्नेहपूर्ण पदार्थों से पुष्ट होती हैं—वे वर्षा कराती हैं वे हमें अवर्षण की बाधा, दुःख, क्लेश पाप से दूर करें। इस प्रकार इस मन्त्र से अन्न और स्नेहयुक्त पदार्थों का जल पूर्ण वायुओं—मानसून की हवाओं या मेघों में वर्षा कराने की सामर्थ्य प्रदान कराने का रहस्य ज्ञात होता है।

जल, दूध दही की हवि

इस मन्त्र में अद्भिरीशानाः—शब्द से यह भी प्रकट होता है कि दूध या जलीय तत्त्व प्रधान
पदार्थों या जल दूध आदि की आहुतियों से भी पर्जन्य में वर्षण की क्रियाशीलता उत्पन्न होना संभव है
क्योंकि विना जलीय तत्त्व के रूक्ष द्रव्यों का या शुष्क हवि का सोमरूप में शीघ्र परिवर्तन नहीं हो सकता
है तथा न उसका अपने समीपस्थ पृथिवी मण्डल के अंतरिक्ष में निवास ही हो सकता है। आहुति के
द्रव्यों को गुड़ शहद आदि मधुर द्रव्यों से मिश्रित जल, दूध, दही आदि से आर्द्र करके आहुति देना भी
अत्यन्त उपयोगी है। वेद ने इस रहस्य को एक स्थान पर सोम के निमित निम्न प्रकार प्रकट किया है—
पयः सोमो दधातु मे। सोमाय स्वाहा (अथर्व० १९ । ४३ । ५) अर्थात् सोम के निर्माण के निमित्त पय की
आहुति अग्नि में प्रदान करनी चाहिए। पय का तात्पर्य शुद्ध, पेय, मधुर जल, अन्न, ओषधि, वनस्पति
अथवा उनका मधुर रस या उनका दूध, गो आदि का दूध या दधि अथवा इन सबसे निष्पन्न सारभूत
घृत या स्नेह पदार्थ ही है।

हविद्रव्य घृत से सिक्त हों

सब पयों का सारभूत घृत पदार्थ ही है। अतः यज्ञ की हवि को अच्छे प्रकार घृत से सिक्त
करके आहुति देना सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी घृत सिक्त आहुति द्रव्य से यज्ञ द्वारा सोम का निर्माण बलवत्तम
होता है और अत्यन्त शीघ्र होता है। इस प्रकार के हवि-द्रव्यों से उत्पन्न सोम पृथिवीमण्डल के निकट
के ही प्रदेश में रहकर अंतरिक्षस्थ सोम एवं पर्जन्यों को आकर्षित कर वर्षा कराने में परम सहायक होता
है। इस प्रकार के सोम में पार्थिव तत्त्वों की विशेष प्राधान्यता रहती है। अतः घनत्व सम्पादन में यह
उपयोगी होता है। जल का ही सार, रस और दूध है जो वृक्ष वनस्पति एवं अन्नादि से भी प्राप्त होते
हैं। रस और दूध का ही सार घृत या स्नेह पदार्थ हैं। अतः जल का ही सार घृत है। इसीलिये घृत भी
जल-वाची है। जैसा कि—घृतमित्युदकनाम—निघण्टु में कहा है। घृत-सिंचित सामग्री बहुत अधिक
जल की आहुति का सोम निर्माण में प्रतिनिधित्व करती है यह उपरोक्त कारणों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता
है। तथा घृतवद्भिश्च हव्यैः—(ऋ० ७ । ३ । ७) एवं—सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन (अथर्व० ७ । ९८ । १)
इन मन्त्र-वाक्यों से घृत तथा घृत युक्त हवि का यज्ञ में प्रयोग करना ज्ञात होता है घृतरूपी हवि से यज्ञाग्नि
प्रचण्ड रूप से प्रदीप्त होती है उससे सोम बनकर वर्षा होती है।

यज्ञ में मन्त्र-उच्चारण के साथ हवि प्रदान करें

घृत, पय, दूध, अन्न आदि की हवि यज्ञ में मन्त्र-उच्चारण के साथ देवें। बिना मन्त्र के उसे जला देने मात्र से हम यथोचित वर्षा का लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। वेद-मन्त्र पूर्वक आहुति प्रदान करते हुए तथा अपने मन को भी उसी में लगाने के लिए निम्न मन्त्र में आदेश है—

अग्नि घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्।
स्वाधीभिर्वचस्युभिः ॥ (ऋ० ५ । १४ । ६)

अर्थात् हम अग्नि को घृत से बढ़ाते हैं और स्तोम मन्त्रों के साथ—क्योंकि वह विश्वचर्षणि है—सबमें व्याप्त होकर उनके गुणों का प्रकाशक एवं वर्धक है। अतः स्वाधीभिः वचस्युभिः—अपने ज्ञान एवं मनोयोग पूर्वक वाणियों से अग्नि की स्तुति के मन्त्रों के साथ आहुति देने से अग्नि की प्रचण्डता नियमित समय के अन्तरों से स्वाहा के समय होगी और मन्त्र के उच्चारण के समय प्रचण्डता में क्षीणता होगी जिससे अन्तरिक्ष में सोम विविध स्तरों में क्रमशः स्थान ग्रहण करता रहेगा।

वृष्टि-यज्ञों में मंत्र-ध्वनि से तत्त्वों पर प्रभाव

स्तुति मंत्रों का यज्ञ में प्रयोग करने से ध्वन्यात्मक प्रभाव तत्त्वों पर पड़ता है और उनसे अनुकूल प्रभाव प्राप्त करने में सुगमता होती है। वर्तमान वैज्ञानिकों ने कृषि में संगीत ध्वनि का प्रभाव उत्पादनवृद्धि में अनुभव किया ही है। परन्तु वेद तो—इन्द्राय साम गायत (सामवेद ३८८) स्पष्ट कहता है कि अन्तरिक्षस्थ इन्द्रतत्त्व विद्युत् के लिए तथा द्युलोकस्थ इन्द्र सूर्य के लिए साम का गान करो। 'पर्जन्याय प्रगायत' (ऋ० ७ । १०२ । १) पर्जन्य के लिए खूब गान करो। हमारे यहां पर्जन्य के लिए मेघमल्हार राग विख्यात ही है। अग्नि स्तोमेन बोधय (ऋ० ५ । १४ । १) अग्नि को स्तुतिमंत्रों से जाग्रत्, प्रबुद्ध एवं प्रवृद्ध करो। बृहदिन्द्राय गायत (यजु० २० । ३०) इन्द्र के लिए बृहत् साम का गान करो। उपास्मै गायता नरा पवमानायेन्दवे (साम० ६५) हे मनुष्यो इस बहने वाले या पवित्रकारक सोम के लिए समीप होकर गान करो इत्यादि अनेक मन्त्र-ध्वनि का प्रभाव प्राकृतिक पदार्थों पर प्रकट करते हैं। अतः मन्त्रपूर्वक हवि प्रदान करने से वर्षा में बहुत लाभ होता है। वृष्टि-यज्ञ के अवसरों पर सामूहिक रूप से उच्च स्वर में मन्त्र की ध्वनि वर्षा कराने में सहायक होती है। जैसे वर्षा में मेंढक जोर-जोर से बोलते हैं उसी सदृश ध्वनि का संकेत वृष्टि के लिए मन्त्रों द्वारा करने का ऋग्वेद ७ । १०३ । १ । में बताया गया है।

वृष्टि-यज्ञ के लिए आहुति संख्या

वृष्टि-यज्ञ के पदार्थ आदि के वर्णन के अतिरिक्त आहुतियों की भी संख्या इसमें महत्त्व रखती है। अन्तरिक्ष से वर्षा के लिए अनुकूल स्थिति होने पर कम संख्या में आहुति देने से शीघ्र वर्षा का लाभ हो जाता है। अतः ऐसे परिणामों को देखकर २ या ५ किलो अथवा १०-२० किलो घृत या हवि द्रव्य से वृष्टि हो जायेगी यह निर्णय करना उचित नहीं है। उससे थोड़ी वर्षा हो जाने पर आगे वृष्टि में विलम्ब हो जाता है। अवर्षण की स्थिति होने पर एक लक्ष या सवा लक्ष आहुति का यज्ञ करना चाहिए। यदि वृष्टि अल्प आहुतियों से भी हो जावे तो भी शेष आहुतियां देना आवश्यक है। जिससे अंतरिक्ष एवं द्युलोक के तत्त्वों की पुष्टि यथावत् हो सके और वे सामर्थ्यवान् बने रहें। जिस प्रकार किसी रोग की चिकित्सा प्रारंभ करने पर उसका लाभ थोड़ा सा ही प्रतीत होने पर औषधि प्रयोग बंद कर देने से असमर्थ शरीर पुनः रोगाक्रान्त हो जाता है और रोग गहरी जड़ पकड़ लेता है उसी प्रकार अपूर्ण आहुतियों के यज्ञ से इच्छित भावी परिणाम नहीं भी हो सकते हैं।

वृष्टि यज्ञ के लिए आहुतियों की संख्या के बारे में वेद ने हमे बहुत ही स्पष्ट निम्न शब्दों में उपदेश किया है—

एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा ।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि ॥ (ऋ० १०।९८।१०)

अर्थात् हे अग्ने, इन ९९ सहस्र आहुतियों के रथ पर आरूढ होइए । और हे पराक्रमशील उन आहुतियों से वृद्धि को प्राप्त होकर सूक्ष्मता तथा व्यापनशीलता से अन्तरिक्ष एवं द्युलोक से हमारे लिए वृष्टि की अनुकूलता सम्पादन करके वृष्टि प्रदान कीजिए । इस प्रकार वृष्टि-यज्ञ के लिए ९९ हजार आहुतियां यज्ञाग्नि में प्रदान करने का उपदेश है । जिस यज्ञ में ९९ हजार आहुतियां होंगी तो उसमें सामान्य यज्ञ की एवं कुछ अन्य विशेष आहुतियां भी होने से एक या सवा लाख आहुतियों की संख्या हो ही जावेगी ।

वृष्टि यज्ञ में देवताओं का महत्त्व

वृष्टि-यज्ञ में अग्नि, घृत, हविद्रव्य तथा आहुति संख्या के अतिरिक्त मन्त्र एवं देवता का भी महत्त्व है । मन्त्र का सम्बन्ध ध्वनि से है । ध्वनि का सम्बन्ध स्वर एवं गीत से है । स्वर एवं गीत का सम्बन्ध छन्द से है । छन्द का सम्बन्ध तत्त्व या शक्ति से तथा काल, सवन, ऋतु आदि से है । इन सब का सम्बन्ध समस्त जगत् से है । जगत् दिव्य शक्तिमय होने से देवतामय है । ऐसी स्थिति में यज्ञ द्वारा वृष्टि की कामना के लिए किस देवता के मन्त्रों का प्रयोग करना यह भी ज्ञान आवश्यक है ।

वृष्टि यज्ञ के देवताओं की स्थिति

इन्द्र, सूर्य, वरुण, मित्रावरुण, मरुत् सोम, पर्जन्य, स्तनयित्नु, विद्युत्, आपः इन्हीं देवों का प्रधान रूप से वर्षा से सम्बन्ध है । इनमें से इन्द्र और सूर्य का स्थान इन सबसे ऊपर है । वरुण और मैत्रावरुण का स्थान उससे बहुत नीचे है । सोम और मरुत् का जो वृष्टि से विशेष सम्बन्धित हैं उनकी मित्रावरुण के नीचे के प्रदेश में निकटस्थ स्थिति है और पर्जन्य तथा स्तनयित्नु विद्युत की इन के भी निकटस्थ नीचे के प्रदेश में स्थिति रहती है तथा उनका सम्बन्ध इनसे सबके पश्चात् की स्थिति में है । अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में स्थित इन देवों के स्थानों के सम्बन्ध के साथ इनका कालकृत सम्बन्ध भी रहता है । इसी सम्बन्ध के कारण वर्षा की प्रक्रिया ऊपर से क्रमशः नीचे की ओर विकसित या निर्मित होकर आपः स्थिति तक प्राप्त हो जाती है ।

इन्द्र एवं सूर्य के लिए त्रिष्टुप् एवं जगती छन्दों से आहुतियाँ

मेघ न होने की स्थिति में या जब अवर्षण की स्थिति हो तब यही आवश्यक है कि यज्ञाग्नि में इन्द्र एवं सूर्य देवता के मन्त्रों से आहुति दी जायें । त्रिष्टुप् एवं जगती छन्दों के मन्त्रों से जिनका इन्द्र या सूर्य देवता हो उनसे अत्यधिक आहुति दी जायें । सोमेनआदित्याः बलिनः (अथर्व० १४ । १ । २) सोम से सूर्य की रश्मियां बलवान् होती हैं और वर्षा के लिए तो और भी अधिक बलवान् होती हैं । इन्द्र तो सोम पान से बलिष्ठ एवं प्रसन्न होता है । वही प्रसन्न इन्द्र वर्षा भी कराता है । अतः यज्ञ में सोम प्रधान तत्त्वों की आहुति देने से सूर्य एवं इन्द्र तत्त्वात्मक शक्तियों से वर्षा कराने की प्रक्रिया उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है ।

इन्द्र और सूर्य देवों की आहुतियों का लाभ

सूर्य एवं इन्द्र के लिए आहुतियां विशेष देनें से द्युलोकस्थ सूर्य-रश्मियां और उनसे उत्पन्न होने वाली विद्युत् शक्ति जो इन्द्रवाचक है उनसे वृष्टि के प्रारम्भिक मूल-भूत कार्य ताप द्वारा धूम एवं सोम

का पृथिवीस्थ वृक्ष वनस्पतियों, जलाशय एवं समुद्रादि से निर्माण तथा मरुतों द्वारा उनका धारण कार्य प्रारम्भ होने लगता है तभी पर्जन्य-निर्माण होकर वर्षा होती है।

किस देवता के लिए कितनी आहुतियां

इन्द्र देवता के लिए सर्वाधिक हवि वर्षा के निमित्त देने के लिए वेद निम्न मन्त्र से उपदेश देता है—

एतान्यग्ने नवतं सहस्रा सम्प्र यच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम्। (ऋ० १०।९८।११) अर्थात् जो पूर्वोक्त मंत्र में ९९ सहस्र आहुतियां वृष्टि के लिए कही हैं उनमें से ९० हजार आहुतियां वृष्टिकर्त्ता इन्द्र देवता के लिए ही प्रदान करनी चाहिएं। इन्द्र और सूर्य इनको अभिन्न ही यहां मानना चाहिए। भिन्न रूप से भी मानकर कार्य करना होता है। अर्थात् इन्द्र शक्ति के लिए सोम पदार्थों की आहुतियां विशेष रूप से देने के बाद, ९ सहस्र आहुतियों से वरुण, मित्रावरुण, सोम, मरुत्, पर्जन्य, स्तनयित्नु विद्युत् एवं आप: देवता को देनी चाहिए। इनके लिए त्रिष्टुप् छन्द से लेकर गायत्री छन्द मन्त्रों की आहुतियां जो उपरोक्त देवताओं की हों देनी चाहिएं। तब वृष्टि-यज्ञ की पूर्ण प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत अन्तरिक्ष की स्थिति के अनुसार कब और कहां से प्रक्रिया आरम्भ करनी है यह ज्ञान ब्रह्मा, आचार्य या ऋत्विजों को होना चाहिए।

वृष्टि-यज्ञों के बारे में आधारभूत निम्न बातों का ज्ञान यज्ञकर्त्ताओं को होना आवश्यक है।

(१) वृष्टि-यज्ञ की सफलया उतनी ही मात्रा और क्षेत्र में प्रधान रूप से होगी जितनी मात्रा और क्षेत्र में उसके अन्तरिक्ष प्रदेश में जलीय वाष्प का संचय या संग्रह होगा।

(२) जिस क्षेत्र के अन्तरिक्ष प्रदेश में जलीय संग्रह विद्यमान होगा उस क्षेत्र में यज्ञ से बादलों का निर्माण शीघ्र होगा और शीघ्र वर्षा होगी। चाहे वह क्षेत्र यज्ञ किये जाने वाले क्षेत्र से सीधा सम्बन्धित हो या उसके समीप का क्षेत्र हो।

(३) यज्ञ-स्थल के अन्तरिक्ष के प्रदेश में जलीय वाष्प के न होने पर या न्यून होने पर सर्वप्रथम यज्ञ से जलीय तत्त्व की वृद्धि अन्तरिक्ष में प्रारम्भ होगी तत्पश्चात् बादलों का भी निर्माण प्रारम्भ होगा।

(४) यज्ञ से जलीय तत्त्व की वृद्धि का प्रमाण अन्तरिक्ष में श्वेत बादलों (अभ्र) की उत्पत्ति के रूप में दृष्टिगोचर होगा। ये जलीय गर्भ-स्थापन की प्रारम्भिक स्थिति के सूचक हैं। इन अपक्व श्वेत बादलों का बरस जाना अन्तरिक्ष के जल का गर्भस्राव एवं गर्भपात है। इसके कारण पुन: अन्तरिक्ष को गर्भधारण कराने का कार्य भी यज्ञ से ही होता है।

(५) यज्ञ द्वारा अभ्र उत्पन्न होने पर यदि यज्ञ से उत्तरोत्तर जलीय भार की वृद्धि के लक्षण, बादलों की स्थिरता दृढ़ता, संचय, उपचय, श्यामलता एवं स्निग्धता आदि नहीं प्रकट होते हैं या वे बादल (अभ्र) शीघ्र अदृश्य हो जाते हैं, या दिन में विद्यमान रहकर रात्रि में विलीन हो जाते हैं, तो यह समझना चाहिए कि आसपास का अन्तरिक्ष जलीय अंश से रिक्त है अत: वह बुभुक्षित अन्तरिक्ष, यज्ञ से उत्पन्न एवं संगृहीत जलीय वाष्प को आत्मसात् कर रहा है।

(६) वारम्वार जलीय वाष्प को अन्तरिक्ष के आत्मसात् करने के उपरान्त ही अन्तरिक्ष में समुद्र का उद्भव होने पर ही बादलों का विशाल क्षेत्र में उद्भव होता है और वे बादल स्थिरता को प्राप्त होकर यज्ञ में आहुति पड़े हुए पदार्थों के धूम के प्रभाव से स्थूल भाव, भार रूप एवं शीतलता को

प्राप्त कर वर्षण की स्थिति में हो जाते हैं।

(७) यदि यज्ञ-कार्य के मध्य में अपने क्षेत्र के अन्तरिक्ष में जलीय वाष्प का संचय हो गया हो या बादलों का अच्छा संग्रह और उपचय हो गया हो और तभी साथ ही किसी दूसरे क्षेत्र में वर्षा हो जाये तो वर्षा होने वाले क्षेत्र की ओर हवा का दबाव, प्रवाह और वेग हो जायगा जिससे अपने क्षेत्र की बादलों की स्थिति तुरन्त क्षीण होना प्रारम्भ हो जायेगी और परिणामतः अन्तरिक्ष स्वच्छ हो जायगा—बादल नहीं रहेंगे। पुनः वायु की सम स्थिति होने पर अन्तरिक्ष में जलीय गर्भ-धारण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकेगी। उस दशा में प्रथम रूप में अति पतली झिल्ली बादलों की आकाश में कहीं-कहीं निर्मित दृष्टि-गोचर होंगी। पुनः बादलों के आकार और परिमाण में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी और विलम्ब से वर्षा होगी।

(८) यज्ञ का वर्षा के लिए परिणाम यज्ञ-समय में भी हो सकता है, यज्ञ के पूर्ण होने पर भी हो सकता है। यज्ञ के पूर्ण होने के कुछ दिनों के बाद भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि यज्ञ के दिनों में ही वर्षा हो या यज्ञ की पूर्णाहुति पर ही वर्षा हो। यह सब अन्तरिक्ष की जलीय स्थिति एवं तात्कालिक ऋतु की स्थिति पर निर्भर रहता है। यज्ञ, अन्तरिक्ष को प्रभावित करता है। परन्तु प्रकृति के बलवत्तर अनुकूल या प्रतिकूल कारणों के उपस्थित हो जाने पर प्रभाव में शीघ्रता या विलम्ब हो जाता है।

(९) यज्ञ का प्रभाव शीघ्र या विलम्ब से अवश्य होता है। अपूर्ण प्रभाव से मध्य के परिणाम प्राप्त होते हैं।

(१०) यज्ञों में व्यय सदा एक समान नहीं होता है। ऋतु, देश, काल की स्थिति के कारण न्यूनाधिक व्यय होता है और प्रभाव क्षेत्र की सीमा भी सदा एक-सी नहीं होती।

(११) वृष्टि कराने में निम्न तीन शक्तियां प्रधान हैं—

(१) मानसिक शक्ति (संकल्प या इच्छा शक्ति) (२) वाचिक (ध्वनि) शक्ति (३) आहुति (पदार्थ) शक्ति।

इनमें आहुति (पदार्थ) की शक्ति सर्वाधिक सुलभ, सुगम और सामान्य जनों के लिए प्रत्यक्ष विश्वासजनक है। ध्वनि-शक्ति भी अपना पूर्ण स्वतन्त्र प्रभाव रखती है। एक सदृश ध्वनि के निरन्तर कम्प से जलीय वाष्प को संगठित होने की सामर्थ्य विशेष रूप से प्राप्त होती है। मानसिक शक्ति सर्वाधिक प्रभावकारी होती है परन्तु सर्वसाधारण प्रायः उसका पूर्ण प्रभावयुक्त प्रयोग करने में असमर्थ होते हैं। अतः प्रायः उसका सामान्य लाभ ही प्राप्त हो पाता है। मेघ मल्हार राग से मेघों का संचय और बरसने की लोकश्रुतियां ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही प्रचलित हुई हैं जो कि ध्वनि एवं मानसिक शक्ति द्वारा वृष्टि की संभावना की पुष्टि करती हैं।

(१२) यज्ञ में उपरोक्त तीनों शक्तियों का प्रयोग होता है। अतः यज्ञ की प्रक्रिया से वृष्टि कार्य अवश्य होता है यह प्राचीन काल से अनुभव सिद्ध मान्यता अब भी सत्य ही है।

(१३) यदि कभी यज्ञ से वर्षा का प्रभाव दृष्टिगोचर न हो तो उसमें यज्ञ की असफलता नहीं है अपितु अपने प्रयोग की न्यूनता ही कारण है ऐसा मानकर अपनी न्यूनता पर दृष्टिपात करके उसको पूर्ण करना चाहिए।

(१४) यज्ञ में सामूहिक रूप से एक मन से भाग लेने से मानसिक शक्ति का सहयोग प्राप्त होता है। यज्ञ में एक मन से ही भाग लेना चाहिए विरोधी भाव से नहीं।

(१५) यज्ञ में मन्त्र-ध्वनि करने वाले व्यक्ति अधिक होने चाहिएं जिससे वाचिक या ध्वनि-शक्ति का भी अन्तरिक्ष पर प्रभाव पड़ सके। अधिक व्यक्तियों की सामूहिक उच्च ध्वनि का भी अच्छा प्रभाव देखा गया है। यज्ञ में 'स्वाहा' की ध्वनि भी सब उपस्थित जनों को अति उच्च स्वर से करनी चाहिए।

(१६) यज्ञ में ध्वनि-विस्तारक यन्त्र (लाउड स्पीकर) का उपयोग करना चाहिए और उसके हार्न का मुख ऊपर आकाश की ओर रखना चाहिए। इससे बादल होने की स्थिति में बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(१७) यदि अन्तरिक्ष में जल-संचय पूर्व से नहीं होगा तो यज्ञ की सफलता में विलम्ब होगा।

(१८) यदि यज्ञ में तीव्र वायु चलती रहेगी तो यज्ञ का प्रभाव स्थानीय अन्तरिक्ष पर सीधा नहीं पड़ सकेगा और विलम्ब से न्यून प्रभाव होगा।

(१९) वृष्टि-यज्ञ मध्याह्न में भी अवश्य करना चाहिए। यह समय मेघ-निर्माण कार्य के लिए बहुत उपयुक्त एवं लाभकारी होता है। प्रातः एवं सायंकाल के यज्ञ से समुद्रिय मानसून यज्ञस्थान की ओर आकृष्ट होने में सहायक होती है। आहुति ऊपर अन्तरिक्ष में शीघ्र पहुंचती है और अन्तरिक्ष को विशेष रूप से प्रभावित करके मेघ निर्माण करती है।

(२०) यज्ञ के अवसरों पर बादल का भिन्न-भिन्न स्थानों में निर्माण आहुति के अन्तरिक्ष में पहुंचकर स्थान विशेष को प्रभावित करने से होता है। आहुति का धूम जब अन्दर अन्तरिक्ष के जल को आत्मसात् कर लेता है तब वह पृथक्-पृथक् ताप का हो जाता है और उसका उतना-उतना क्षेत्र बादल के रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है।

(२१) अन्तरिक्ष में जलीय गर्भ को धारण, पोषण, पुष्ट और प्रसव कराने में घृत सर्वाधिक समर्थ है। घृत के अतिरिक्त दूध, दही, जल आदि द्रव पदार्थ, आर्द्र द्रव्य, स्नेहयुक्त हविद्रव्य, अन्नादि वनस्पति, इनका धूम मेघ-निर्माण में तथा वर्षा कराने में परम सहायक है यदि घृत के साथ इनका प्रयोग हो। घृत गौ का ही सर्वाधिक उपयोगी है। द्रव्य पदार्थों में जल से दूध, दूध से दही, दही से घृत उत्तरोतर सहस्रगुना क्रियाशील, प्रभावकारी और व्याप्त होने वाले हैं। अन्य द्रव्यों में वनस्पतियों से उनके पुष्प व फल, मेवा आदि और इन फल व मेवादि से अन्न की आहुति बलवत्तर है। अन्नादि से कई सहस्र गुणा घृत यज्ञ के लिए बलवत्तर है अतः यज्ञ की समिधा, सामग्री, होम-द्रव्य, अन्नादि को घृत सिक्त करने से उनकी सामर्थ्य बहुत बढ़ जाती हैं।

(२२) वर्षा ऋतु के पश्चात् ही जब अन्तरिक्ष जलीय गर्भ से रिक्त हो उस समय यज्ञ के प्रभाव से यदि समुद्रिय मानसून उत्पन्न हो जावे तो उसका प्रभाव एवं बल यज्ञ स्थल तक आने पर न्यून हो जाता है क्योंकि वह स्थान उस दिशा के आकर्षण का अन्तिम केन्द्र होता है और उससे विपरीत दिशा का भी वही अन्तिम आकर्षण केन्द्र होता है। एक ही स्थान पर चारों दिशाओं का आकर्षण विपरीत दिशाओं के प्रभाव को रोकने में समर्थ हो जाता है ऐसी स्थिति में यज्ञ से उत्तरोत्तर दूर के स्थान वर्षा से अधिक प्रभावित होते हैं और यज्ञस्थल सब से कम प्रभावित होता है। यदि स्थानीय मानसून का सहयोग मिल जावे तो वहां पर भी वृष्टि अच्छी हो जायेगी। ऐसी स्थिति हो जाने पर इच्छित प्रदेश के समीप के एक-दो अन्य क्षेत्रों में भी यज्ञ करना श्रेयस्कर होगा।

(२३) यज्ञवेदी का मध्यभाग ऊपर से खुला हुआ रखना चाहिए जिससे यज्ञ का धूम वेग से अन्तरिक्ष में जा सके। वर्षा होने पर उसके आच्छादन की व्यवस्था करनी चाहिए।

वृष्टि-यज्ञों के अनेक परीक्षण हमने किये हैं और उसी आधार पर हमें यह विश्वास है कि वर्तमान समय की अवर्षण की स्थिति को दूर करने में यज्ञ समर्थ है। इससे वृष्टि की समस्या हल होगी, अन्न होगा—जल होगा—विद्युत् होगी और देश समृद्ध बनेगा।

यज्ञ द्वारा वायु को निर्विष करना

जिस प्रकार से विष-भक्षण करने वाले व्यक्ति को घृत का प्रयोग कराकर निर्विष किया जाता है उसी प्रकार अन्तरिक्ष को भी निर्विष करने के लिए यज्ञ में घृत की आहुतियों से श्रेष्ठ, सस्ता, सुगम और प्रभावशाली उपाय अन्य कोई नहीं है। इसी प्रकार से अन्य द्रव्य भी जो होम के हैं, वे आरोग्यता एवं पुष्टि करने वाले होते हैं।

विषाक्त अन्तरिक्ष प्राणघातक

संसार के वैज्ञानिकों के सम्मुख अन्तरिक्ष में बढ़ते हुए विषयुक्त प्रभाव ने एक चिन्ता उत्पन्न कर दी है। उनका यह अनुमान है कि यदि अन्तरिक्ष को शुद्ध एवं निर्विष करने का उपाय न किया तो शीघ्र ही कुछ वर्षों में ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जायगी कि प्राणी जीवित नहीं रह सकेंगे। अतः इस समस्या का हल शीघ्र निकालना मानव-जीवन के अस्तित्व के लिए परमावश्यक है। इस निमित्त वैज्ञानिकों की अनेक बार विचार-गोष्ठियां भी हुईं परन्तु अभी इस समस्या का समुचित हल सम्मुख नहीं आया।

समस्या का हल यज्ञ से होगा

प्राचीन समय में भी भारत के महान् वैज्ञानिक ऋषि-मुनियों के सम्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई थी और उन्होंने वैदिक विज्ञान के आधार पर उसका एक सर्वोत्तम हल निकाला था—और वह था—यज्ञ ! आज की परिस्थिति में भी यह उपाय है—और एक मात्र यही सरल उपाय है। इसीलिए वैदिक विज्ञान की भाषा में—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म—(शतपथ १।५।४।५) कहा गया है। अर्थात् यज्ञ निश्चय से सबसे श्रेष्ठ कर्म है। अतः इसको करना धर्म माना गया।

रोग और असुर

शरीर में मलों-विषों के संचय से उत्पन्न विकार को रोग कहा जाता है उसी प्रकार अन्तरिक्ष या वायु में मलों या विषों के संचय से उत्पन्न विकारों एवं प्राणघातक तत्त्वों को वैदिकविज्ञान की परिभाषा में असुर, राक्षस कहा जाता है। वातावरण में प्राणघातक तत्त्वों की प्रधानता ही असुर, राक्षसतत्त्वों की वृद्धि या विजय है। यज्ञ ही असुर, राक्षसों का निवारक है। प्राचीन काल में ऐसे असुर, राक्षसों के वध=विनाश के लिए एक मात्र उपाय यज्ञ का ही प्रचलित था।

असुरों के नाश का उपाय

यजुर्वेद २।२९ में कहा है—अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा—सोमाय पितृमते स्वाहा—अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः—अर्थात् कव्य अन्नादि की आहुति का वहन करने वाली अग्नि के लिए आहुति दें—पितृ-पालक शक्तियुक्त सोम के लिए आहुति प्रदान करें। इससे पृथिवी एवं अन्तरिक्ष में जो प्राणघातक, पीड़ा देने वाले असुर और राक्षस गुण वाले तत्त्व हैं वे विनष्ट होते हैं। अथर्ववेद में भी अग्नि को यज्ञ द्वारा दूत बनाकर असुर राक्षसों को नष्ट करने का प्रयोग करने को निम्न शब्दों में कहा है—दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् विलापय—(अथर्व १।७।६) इस प्रकार वेद ने अन्तरिक्ष को विनाशक तत्त्वों से शोधित करने के लिए यज्ञ का ही मार्ग बताया है।

असुरों का स्वभाव

अन्तरिक्षस्थ असुर=राक्षस तत्त्वों का अनियत परिमाण व आयतन होता है अतः अनिश्चित रूप के या विविध प्रकार के परिमाण, आयतन एवं स्वरूप के असुर=राक्षस होते हैं। ये वायुरूप पृथिवी एवं अन्तरिक्ष में अनेक रूपों में विचरण करते हैं। अतः ये मायावी भी माने जाते हैं। प्रिय प्रतीत होते हुए भी प्राणपीड़क, प्राणघातक, विषयुक्त, रोगजनक एवं दुःख देने वाले होते हैं। हमारे पोषक तत्त्वों वायु, जल अन्नादि के साथ प्रिय रूप में होकर हमसे निकट सम्पर्क भी करते हैं और अन्तरिक्ष के दूरस्थ स्थानों में भी विचरण करते हैं अतः इनका विनाश ही हमारा जीवन है और इनकी वृद्धि ही हमारा विनाश है।

असुरनाशक अग्नि

ऐसी स्थिति का वर्णन करते हुए उसका उपाय भी वेद ने निम्न शब्दों में प्रतिपादित किया है—

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात्॥ (यजुः २।३०)

अर्थात् उपरोक्त रूप में जो असुरतत्त्व हैं उनको अग्नि ही इस लोक से भगाता है या दूर करता है। हमारा लोक यही है जिसके आधार पर हमारा जीवन व्यवहार चलता है। इस पृथिवी और अन्तरिक्ष में से असुर=राक्षस तत्त्वों के यज्ञ द्वारा नष्ट होने पर पितृशक्तियां—पालन करने वाली शक्तियों या गुणों की प्राधान्यता होने लगती है। अतः वेद कहता है कि इस प्रक्रिया से—अत्र पितरो मादयध्वम्—(यजुः २।३१) जब असुर=राक्षस तत्त्व दूर हो जावेंगे तो यहां हमारे समीप पितृशक्तियाँ, पालनकर्ता तत्त्व प्रसन्न विकसित, प्रहर्षित हो विचरण करेंगी। हमारी 'सोमाय स्वाहा' की आहुति से वे आनन्द और वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी एवं अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर हमें जीवन देती रहेंगी। तभी हमारा सम्यक् रूप से निर्विघ्न जीवन-यापन अन्तरिक्ष से भी हो सकेगा अन्यथा अन्तरिक्ष उत्तरोत्तर असुर=राक्षसों अर्थात् प्राणघातक विषाक्त वायुओं से परिपूर्ण हो जायगा।

अन्तरिक्ष को मलरहित करें

प्राणियों के शरीरों में रोगों का प्रादुर्भाव मलों, दोषों के संचय से ही होता है अतः अन्तरिक्ष में मलों, दोषों के संचय से क्यों न समस्त प्राणियों का जीवन—मृत्यु के पंजे से पकड़ा जाए? जिस प्रकार शरीर के रोगों को दूर करने के लिए शरीर से मलों का निर्गमन अत्यन्त आवश्यक है उसी प्रकार प्राणियों के जीवन के लिए और अकाल मृत्यु के पंजे से छुड़ाने के लिए अन्तरिक्ष को भी मल, दोष एवं विषादि से रहित करना आवश्यक ही है। अग्नि, वायु और जल के द्वारा शरीर के अधिकांश मलों का हमारे शरीर से निःसरण प्रश्वास, अपानवायु, मल, मूत्र, स्वेद आदि के द्वारा स्वाभाविक रूप से होता रहता है जिससे शरीर स्वस्थ, नीरोग एवं दीर्घजीवी बनता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष को भी अग्नि, वायु और जल द्वारा शुद्ध किया जा सकता है।

प्राण शरीर के मलों का शोधक है

यदि शरीर में मलों, दोषों एवं विषों का संचय अधिक हो जाता है और शरीर की स्वाभाविक क्रियाएँ उन सब मलों को निकालने में असमर्थ हो जाती हैं तो वे मल शरीर में उपद्रव रूप में अनेक प्रकार के रोग-बीमारी के रूप में प्रकट होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में उन उपद्रवों का शमन, दमन,

भेदन, निवारण या विनाश करने के लिए शरीर की प्राणशक्ति हमें बाहर के कार्यों से विरत कर विश्राम लेने के लिए बाधित कर देती है और वह प्राणशक्ति शरीर से मलों को बाहर निकालने के लिए तीव्र गति से एवं शक्ति के साथ कार्य करने लगती है। परिणामस्वरूप श्वास-प्रश्वास की क्रिया विशेष गतिशील हो जाती है।

ताप भी मलों का शोधक है--

श्वास-प्रश्वास की तीव्रता के कारण शरीर के ताप में वृद्धि हो जाती है। श्वास-प्रश्वास की तीव्रता, बहुलता और तापवृद्धि से मलों या विकारों का प्रश्वास एवं स्वेदादि द्वारा शीघ्रता से बहिर्गमन होने लगता है और अग्नि के ताप की वृद्धि से मल भी विनष्ट होने लगते हैं जिससे शरीर स्वस्थ होने लगता है। यदि कोई बड़ा मल अवरोधक रूप में निकलने में असमर्थ होता है तो उसको निकालने या पचाने के लिए बाहर से किसी पदार्थ, औषधि आदि का उपचार व क्रिया आदि की एवं अन्य व्यक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार दोषों, मलों विकारों या विषों के पच जाने या बाहर निकल जाने से शरीर स्वस्थ स्थिति को प्राप्त कर लेता हैं।

चिकित्सक और देवभिषक्

देह की स्थिति के अनुसार ही विश्व की स्थिति है शरीर की चिकित्सा करने वाला चिकित्सक, वैद्य, डाक्टर आदि कहा जाता है। विश्व की—पृथिवी एवं अन्तरिक्ष की यज्ञ द्वारा चिकित्सा, उसका शोधन करने वाला पुरोहित, देव, ऋत्विज्, होता आदि कहा जाता है। विश्व की चिकित्सा यज्ञ के द्वारा होती है। यज्ञ अग्नि से ही होता है अतः ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में अग्नि को पुरोहित, ऋत्विज् होता, देव आदि विशेषणों से वर्णित किया गया है। अतः अन्तरिक्ष की चिकित्सा, उसके शोधन का कार्य यज्ञाग्नि के माध्यम से वेद-विज्ञानवेत्ता पुरोहित, होता, ऋत्विज् आदि ही कर सकेंगें ये देवभिषक् हैं। इसके अतिरिक्त, अग्नि, जल, वायु, पृथिवी आदि भी देव-भिषक हैं।

विश्व के पदार्थों में सहयोग

जिस प्रकार शरीर के अंग-प्रत्यंग और उनकी क्रियाएँ शारीरिक जीवन का संचालन करती हैं, उसी प्रकार विश्व के पदार्थ एवं शक्तियां अपना-अपना कार्य सम्पादन कर एक दूसरे के पूरक, सहयोगी एवं समानधर्मा या विरोधी एवं प्रतिस्पर्धी बनकर कार्य करते हुए विश्व का जीवन हमारे लिए उपयोगी बनाते हैं।

अन्तरिक्ष-शोधक मातरिश्वा वायु

अन्तरिक्ष में विचरण करने वाला मातरिश्वा नामक वायु सूर्य के घर्म=ताप से अन्तरिक्ष में श्वास-प्रश्वास की क्रिया शरीरस्थ प्राणवत् करते हुए पृथिवी मण्डल की कक्षा के दोष एवं मलमिश्रित वायु को ऊपर अन्तरिक्ष में शोधनार्थ फेंक देता है और ऊपर के शुद्ध वायु को नीचे पृथिवीमण्डल में आकर्षित कर देता है।

वायु पवमान है

अन्तरिक्ष के ऊपर या मध्य के क्षत्र में गया अशुद्ध वायु ऊपर के शुद्ध एवं शोधक पदार्थों तत्त्वों और ताप के प्रभाव से घर्षित, मिश्रित, विभाजित एवं सूक्ष्मावस्था को प्राप्त कर, परिमार्जित होकर मल-रहित और शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार अशुद्ध वायु का एक शोधन-कार्य पृथिवीस्थ वृक्षादि के अतिरिक्त

अन्तरिक्ष में भी चलता रहता है और वायु पवित्र बनकर पृथिवी मण्डल में बहते हुए या विचरण करते हुए सबको जीवन देती रहती है तथा सबको पवित्र करती रहती है। इसलिए वेद ने इस वायु को पवमान अर्थात् बहने वाला एवं पवित्र करने वाला कहा है। शतपथ ब्राह्मण में—अयं वै पवित्रो योऽयं पवते—कहकर इस वायु को पवित्र=पवित्रकर्ता कहा है। अतः वायु के इन गुणों के कारण वायु को विशेष क्रियाशील करके अन्तरिक्ष के शोधन का कार्य सरलता से हो सकता है।

अन्तरिक्ष शोधक जल

अन्तरिक्ष को और अन्तरिक्षस्थ वायु को शुद्ध करने वाला दूसरा पदार्थ जल है। सूर्य के ताप एवं पृथिवी की ऊष्मा से जल वाष्प रूप होकर वायु के आश्रय से अन्तरिक्षस्थ मलों को जो जल में विलय हो सकते हैं उनको अपने में विलय कर लेता है तथा अन्य विलय न होने वालों को बहा ले जाता है। यजुर्वेद ६।१७ में कहा है— इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्—यह जल जो कुछ भी दोष और मल है उनको बहा ले जाने वाला, दूर करने वाला है। वे दोष या मल यदि शरीर के भीतर हैं तो शरीर के अन्दर जल-ग्रहण करने से मूत्र एवं स्वेदादि द्वारा बहा ले जाते हैं। यदि शरीर के बाहर मलादि हैं तो मार्जन स्नानादि द्वारा बाहर के मलों को दूर कर देते हैं। यदि पृथिवी पर मल दोषादि होंगे तो वहां जल की धारा के बहाने से दूर हो जाते हैं और यदि अन्तरिक्ष में भी मल होंगे तो अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म जल मेघ, वर्षा आदि के द्वारा अन्तरिक्ष को मलरहित और शोधित कर देते हैं। वेद ने कहा—विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति। (यजुः ४।२) जल सब प्रकार के दोषों को दूर करने वाले हैं अतः अन्तरिक्ष के भी समस्त दोष इससे दूर होंगे।

वेद ने इन दोनों पदार्थों से अदृष्ट दोष जो हमारे कर्मों, व्यवहारों के कारण स्वतः जाने-अनजाने होते रहने से अन्तरिक्ष को दूषित करते रहते हैं और परिणामस्वरूप पाप स्थिति को उत्पन्न कर हमें दुःखदायी हो जाते हैं, उनसे मुक्ति पाने के लिए कहा कि—आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु—(यजुः ६।७)– अर्थात् जल और वायु उन अदृष्ट दोषों से हम को दूर करें।

जल धातु संघात अर्थ में है। अर्थात् जल में संघात, संघ, पिण्डीभूत बनने-बनाने की सामर्थ्य है अतः जल अन्तरिक्ष में पहुंचकर वहां के मल, दोष, विषादि को अपने में आत्मसात् या विलय करके उसकी विस्तृति, व्यापकता या फैलाव को उत्तरोत्तर संकुचित एवं केन्द्रित करेगा और जब वह जल वर्षा के द्वारा पृथिवी पर बरसकर आयेगा तो अन्तरिक्ष का वह केन्द्रित विषाक्त भाग पृथिवी पर और भी संकुचित, घनीभूत एवं केन्द्रित होकर उन विषों के केन्द्रभूत पदार्थ एवं वनस्पतियों की ओर आकर्षित होकर और भी घनीभूत स्थिति को प्राप्त कर लेगा। अन्तरिक्ष में जो पदार्थ फैल जाता है, पृथिवी पर वह उससे आकुंचित अवस्था, घनीभूतस्थिति, मूल रूप एवं बीजात्मक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जल से अन्तरिक्ष शुद्ध और निर्विष होता रहता है।

दोनों पदार्थों का संचालक ताप

वायु और जल इन दोनों को गतिशील और शोधन के लिए क्रियाशील करने में सूर्य ताप नियमित रूप से प्रातः, मध्याह्न, सायं, अहोरात्र एवं ऋतुचक्रों के विविध परिवर्त्तित ताप के कारणों से विविध रूप से विश्व को प्रभावित करता है। प्रकृति स्वाभाविक रूप से उत्पन्न प्राणियों के मलों का शोधन करने में सक्षम रहती है ऐसी स्थिति में भी अपने द्वारा उत्पन्न मलों से दूषित वायु को शुद्ध और पुष्ट करने की आवश्यकता हमें नीरोग रहने एवं दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक रहती है। वेद कहता है—

अन्तरिक्षं शान्तिः—(यजु० ३६।१७) अन्तरिक्ष हमारे लिए शान्त, क्षोभ रहित निर्विष एवं सुख-कारक हो—इस कामना के साथ मानवकृत प्रयत्नों को भी करना होगा।

अन्तरिक्ष में अपवित्रता की वृद्धि और प्राचीन उपाय—यज्ञ

यदि हमारे प्राकृतिक मलों से दूषित अन्तरिक्ष की वायु को हम शुद्ध करने का प्रयत्न न करें और उससे कई गुना अधिक मल कल-कारखानों के ईंधनों, पेट्रोल, डीजल, गैस, सिगरेट, गोला बारूद आदि अनेक प्रकार से उत्पन्न करके इस अन्तरिक्ष को दूषित करेंगे तो अन्तरिक्षस्थ वायु जो प्राण एवं जीवन को देने वाला हमारे लिए था वह अनेक प्रकार के मलों और विषों से मिश्रित होकर हमारे लिए घातक बनता जायगा। उत्तरोत्तर निरन्तर मलों की विशेष वृद्धि के परिणामस्वरूप आज के वैज्ञानिकों का ध्यान अन्तरिक्ष शोधन पर गया है जबकि हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसको परम कर्त्तव्य मानकर अन्तरिक्षस्थ वायु के शोधन के लिए नित्य प्रातः एवं सायंकाल अग्नि में कम से कम १६घृत की आहुति देने के लिए आदेश दिया है। यही परम विज्ञान है। ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। ओं भुवर्वायवे अपानाय स्वाहा। ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। आदि आहुतियां पृथिवी, अन्तरिक्ष और आदित्य मण्डल के लिए तथा उनसे उत्पन्न होने वाले प्राण, अपान और व्यानादि के लिए, इनकी शुद्धि, पुष्टि और समृद्धि के लिए ही हैं जिससे विश्व का जीवन समृद्ध हो और आयु की वृद्धि हो। इसीलिए वेद में यज्ञ को—सा विश्वायुः (यजुः १।४) यह यज्ञ विश्व की आयु है। सब को आयु देने वाला है, यह कहा गया। यह इसीलिए वेद ने कहा क्योंकि—वसोः पवित्रमसि। हे यज्ञ, तू पवित्र करने वाला है—मातरिश्वनो घर्मोऽसि। तू वायु को शुद्ध करने वाला है। विश्वधा असि। (यजुः १।२) और विश्व का धारण करने वाला भी है। अतः अन्तरिक्ष को निर्विष एवं दोषरहित करके प्राणप्रद बनाए रखने के लिए यज्ञ द्वारा मानवकृत प्रयत्नों की अत्यन्त आवश्यकता है।

पवित्रकर्ता यज्ञ

यज्ञ की प्रक्रिया ही हमारी वर्त्तमान समस्या का—अन्तरिक्ष को शोधित करने का हल करने वाली है। यजुः १।३ में कहा है—

वसो पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।

अर्थात्—हे यज्ञ, तू सैंकड़ों परिमित प्रकारों से इस समस्त विश्व को पवित्र करने वाला है। केवल मात्र एक-दो या कतिपय सीमित प्रकारों से ही यह विश्व को पवित्र नहीं करता है। अपितु अनेक प्रकार से क्रियाशील होता है। अतः अन्तरिक्ष को, इस समस्त विश्व को शोधित करने में यह अवश्य समर्थ है। दूसरे वाक्य में पुनः वेद ने कहा कि—हे यज्ञ! तू सहस्रों प्रकार से अर्थात् अपरिमित प्रकार से इस समस्त विश्व को पवित्र एवं शुद्ध करता है। अतः वैदिक विज्ञान के अनुसार अन्तरिक्ष को शुद्ध करने का यही सर्वश्रेष्ठ प्रकार है।

जल-द्वारा शोधन की विशेषता

अन्तरिक्ष शोधन के बारे में जल द्वारा शोधन क्रिया पर निम्न प्रकार तीन महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सन्देश यजु० ४।२ में दिये गये हैं—

(१) आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु।
(२) घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
(३) विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवी।

अर्थात् माताएँ जिस प्रकार अपनी सन्तान को मल, दोष, दुर्गुणादि से पृथक् करती हुई उनको शुद्ध करती रहती हैं, उसी प्रकार जल भी हमारे लिए मातृवत् शोधनकर्त्ता हैं, अतः वे हमारे लिए सर्वत्र शोधन कार्य करें। घृत से पवित्रता को प्राप्त हुए वे जल घृत की सामर्थ्य से और अधिक पवित्र करने वाले विष-मलादि दोषों को नष्ट करके पवित्रकर्त्ता हो जाते हैं। ऐसे दिव्य गुणयुक्त जल समस्त प्रकार के दोषों को अन्तरिक्ष से भी दूर करने वाले हो जाते हैं। अतः यज्ञ द्वारा घृत से पवित्र हुए वायु और जल भी समस्त प्रकार के दोषों वा विषयुक्त वायुमण्डल को शुद्ध कर सकेंगे।

यज्ञ महान् शोधक है

यज्ञ की दोषनाशक शक्ति के बारे में यजुर्वेद १।८ में कहा है—धूरसि—तू नाशक है अतः—धूर्व धूर्वन्तम्—हिंसकतत्त्वों का नाश कर—धूर्व तं योस्मान् धूर्वति—उन प्राणघातक दोषों का नाश कर जो हमारा नाश करते हैं– तं धूर्व यं वयं धूर्वामः—और उनका भी विनाश कर जिन प्राणघातक तत्त्वों का हम विनाश करना चाहते हैं—देवानामसि वह्नितमम्—हे यज्ञ ! तू देवों का सबसे बड़ा श्रेष्ठ वहन का साधन है तथा—सस्नितमम्—सबसे अधिक शोधनकर्त्ता है। इन शोधक गुणों के कारण अन्तरिक्ष शोधन के लिए यज्ञ ही एक मात्र एवं सु-निश्चित उपाय है।

यज्ञ कार्य में अग्नि की प्रधानता

जिस प्रकार से सृष्टि में सूर्य के ताप के मान से वायु एवं जल में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं एवं गतियां प्रारम्भ होती हैं उसी प्रकार उन्हीं क्रियाओं एवं गतियों को शीघ्र तथा अधिक क्रियाशील एवं वेगवान् बनाने के लिए हमें भी अग्नि के माध्यम से अन्तरिक्ष-शोधनक्रिया को विशेष सक्षम बनाना होगा। इस निमित्त जो प्रक्रिया हमारे ऋषि-मुनियों ने अंगीकार की थी वैदिक विज्ञान की परिभाषा में उसे यज्ञ कहा गया है। यज्ञ द्वारा अन्तरिक्ष का शोधन होने से वह हमारे हित के लिए सुदृढ़ एवं सक्षम होता है अतः वेद ने कहा—अन्तरिक्षं दृंहस्व—(यजुः १।१८) हे यज्ञ ! तू अन्तरिक्ष को हमारे लिए सुदृढ़, लाभकारी, प्राणप्रद एवं रक्षक बना।

गन्धर्व और अप्सरा

यज्ञविज्ञान के अनुसार अग्नि और वायु दोनों गन्धर्व हैं। गन्धर्वसंज्ञक पदार्थ अपने में अन्य पदार्थों को धारण करके इतस्ततः गति किया करते हैं। जिन पदार्थों को वे धारण करके इतस्ततः विचरण करते हैं वे अप्सरासंज्ञक हैं। चेतन सृष्टि में जिनकी पुरुष एवं स्त्री संज्ञा होती है जड़ जगत् में ऐसे तत्त्व गन्धर्व एवं अप्सरासंज्ञक होते हैं। अतः गन्धर्व और अप्सरा पदार्थ परस्पर एक दूसरे के प्रिय अनुकूल प्रकृतिवाले और संयोग योग्य होते हैं। इनसे सुख, समृद्धि एवं आनन्द का विश्व में संचार होता है।

घृताहुति से गन्धर्वों की क्रियाशीलता

अग्नि और वायु दोनों गन्धर्व अर्थात् वाहक पदार्थ होने से गन्ध, ताप, ध्वनि एवं जल आदि के वाहक हैं। अग्नि को क्रियाशील करने से वायु भी विशेष क्रियाशील एवं गतिशील होती है। इस अग्नि में दोषशामक, शोधक, आरोग्यप्रद, जीवन-शक्तिदाता, सुगन्धित और पुष्टिकारक पदार्थों की हवि देनी चाहिए। ये समस्त गुण गोघृत में विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् गुणवाली जो वनस्पति, ओषधि, अन्नादि द्रव्य हैं उनकी भी हवि अग्नि में प्रदान करनी चाहिए। इससे अन्तरिक्ष में शोधनादि कार्य विशेष रूप से होगा और इच्छित पदार्थों की गन्ध, सूक्ष्म जल, ताप और यज्ञ में प्रयुक्त

मन्त्रों की ध्वनि की भी व्याप्ति अग्नि, वायु एवं जल के माध्यम से जिस-जिस तत्त्व की अन्तरिक्ष में जहां-जहां तक व्याप्ति, गति एवं क्रियाशीलता होगी उस-उस प्रदेश तक उन हव्य पदार्थों की व्याप्ति या प्रसारण हो सकेगा और उस क्षेत्र के अन्दर जो विष, मल या दोष संचित होंगे उनका भेदन, छेदन एवं विनाश आदि उन सूक्ष्म पदार्थों से सम्पन्न हो अन्तरिक्ष शुद्ध एवं निर्विष होकर उनमें जीवनीय तत्त्वों का प्राधान्य हो सकेगा।

यज्ञ से देवों की वृद्धि और असुरों का नाश

यज्ञ से सदा देवतत्त्व, दानशील, प्राण-जीवन देने वाले तत्त्वों की पुष्टि होती है और असुर तत्त्वों का अवश्य संहार होता ही है। इसीलिए वेद ने यज्ञ के लिए कहा—देवानामसि जुष्टतमं देवहूतमम् (यजुः १।८)—तू देवों का सबसे अधिक प्रिय है और देवों का सबसे बड़ा आह्वान करने वाला है। अर्थात् यज्ञ देवों को अत्यन्त प्रिय है और जहां यज्ञ होता है वहां देव तत्त्वों का सबसे प्रबल रूप से आहूति के द्वारा आह्वान किया जाता है अतः यज्ञ में—विश्वे देवाः यजमानश्च सीदत (यजुः १५।५४)—समस्त देवतत्त्व तथा यजमान विराजें यह कहा जाता है। ये देव और असुर देहधारी जीव नहीं हैं—अपितु सृष्टि के ही शुभाशुभ गुण दोषयुक्त पदार्थ हैं। दिव्यगुणयुक्त पदार्थ हमारे लिए लाभदायक हैं और अनिष्ट दोषयुक्त पदार्थ हमारे लिए घातक हैं। ये ही देव और असुर संज्ञक हैं।

यज्ञ से असुर तत्त्वों का संहार इतनी ही सरलता से होता है जैसे प्रकाश से अन्धकार का विनाश होता है। यजुर्वेद १।२४ में यज्ञ के इस गुण का वर्णन निम्न शब्दों में है—सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः। अर्थात् हे यज्ञ, तू सहस्रों दोषों को भूनने वाला, सैकड़ों तेजोंवाला, वायु के समान व्याप्त होनेवाला, वज्र के समान तेजस्वी और विपरीत, विनाशक तत्त्वों का नाश करने वाला है। यज्ञ का यह प्रभाव अन्तरिक्ष पर ही सर्वप्रथम और सर्वाधिक होता है। अतः यज्ञ-प्रक्रिया से अन्तरिक्ष-शोधनकार्य पूर्ण सम्भव है।

विष दूर करने में घृत का महत्त्व

जनसाधारण एवं चिकित्सकों का यह प्राचीन काल से ही अनुभव है कि शरीर में व्याप्त अनेक प्रकार के विषों को दूर करने के लिए गो-घृत का प्रयोग एक सरल एवं सफल चिकित्सा है। सर्पविष को भी मानव शरीर से दूर करने के लिए गोघृत परम उपयोगी है। जिस प्रकार यह शरीर के विषों को नष्ट करता है उसी प्रकार अन्तरिक्ष के भी समस्त विषों, विकारों या दोषों को दूर करने में समर्थ है।

अन्तरिक्ष को घृत से पूर्ण करें

शरीर के विषों को दूर करने के लिए जठराग्नि में घृत की आहुति देनी पड़ती है उसी प्रकार अन्तरिक्ष के विषों को दूर करने के लिए अन्नाद-अग्नि (यजुः ३।५) में इस घृत की आहुति देनी चाहिए। इसलिए वेद ने कहा—सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। (यजुः ३।२)—यज्ञ की प्रदीप्त, प्रकाशमान अग्नि के लिए हम तप्त, विशुद्ध घृत की आहुतियां दें। इस प्रकार घृताहुति देते हुए—घृतेन द्यावा पृथिवी प्रोर्णुवाथाम् (यजुः ६।१६) द्युलोक से पृथिवी पर्यन्त के प्रदेश को घृत से पूर्ण कर दें। इस प्रकार अन्तरिक्ष में घृताहुति का धूम पहुंचकर अन्तरिक्ष को शुद्ध एवं निर्विष करेगा।

डरें नहीं यज्ञ को अपनायें

अन्तरिक्ष में विषमय, असुर-राक्षस तत्त्वों की वृद्धि, भय का विषय है ही और जो यज्ञ-विज्ञान

को नहीं जानते और उस पर श्रद्धा भी नहीं रखते उनको वह भय चिन्तित करेगा ही। ऐसी भयावह स्थिति में वेद का निम्न मन्त्र संसार के लोगों में आशा का संचार करने के लिए कहता है—

मा भेर्मा सं विक्था अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् ।

त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥ (यजुः १।२३)

अर्थात् हे संसार के लोगो ! मत डरो। विचलित मत होओ, घबराओ मत। यह यज्ञ, प्रक्रिया ग्लानि करने योग्य, उपेक्षणीय या त्याज्य नहीं है। यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रजा ग्लानि रहित—अर्थात् यज्ञ पर पूर्ण श्रद्धा करने वाली हो। यज्ञ का अनुष्ठान तीन अग्नियों के लिए अर्थात् त्रिस्थानीय अग्नियों के लिए करो, दो अग्नियों के लिए अर्थात् दो स्थानों की अग्नियों के लिए और एक अग्नि के लिए अर्थात् एक स्थान की अग्नि के लिए करो। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये ही तीन स्थान अग्नियों के हैं। पृथिवी पर यज्ञ करने से ही ऊपर की दोनों अग्नियों में आहुतियां क्रियाशील हो जाती हैं। अतः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में यज्ञ व्याप्त हो जाता है। वेद ने अग्नि को—शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः। (यजुः ५।३२) कहा है। अर्थात् अग्नि शुद्ध है और सबको शोधित करने वाली है। अतः व्याप्तिशील यज्ञाग्नि समस्त अन्तरिक्ष को अवश्य शुद्ध करेगी।

गोघृत की आहुति का महत्त्व

आयुर्वै घृतम्। तेजो वै घृतम्—ये वेदानुवचन घृत को आयुर्दाता एवं तेजवर्धक प्रतिपादित करते हैं। आयुर्वेद में गन्धक तथा कुचला आदि अनेक विषों के शोधन के लिए गोघृत, गोदुग्ध आदि का विधान किया है जिससे शोधित द्रव्य एवं विष भी दोष रहित होकर, विकार रहित, रोगशामक एवं जीवनदाता बन जाता है। अर्थात् घृत से सम्पृक्त पदार्थ के विकार एवं विष की तीक्ष्णता भी नष्ट हो जाती है और उसमें जीवनीय तत्त्व तेजस्वी हो जाता है तथा विष भी अमृत समान लाभदायक बन जाता है। अतः यज्ञ में प्रयुक्त गोघृत की आहुति विशेष रूप से अन्तरिक्ष के विषों का शमन करने में समर्थ है तथा आयु-जीवन देने वाली है।

यज्ञ की अन्य हवि में घृत का सिंचन

यज्ञ में घृत के अतिरिक्त अन्य सुगन्धित, पौष्टिक, रोगशामक पदार्थ या अपने इच्छित परिणाम को प्राप्त करने के लिए जो पदार्थ हविद्रव्य रूप में प्रयुक्त किये जावें उनको भी गोघृत के साथ मिलाकर प्रयुक्त करने से उनका विषाक्त प्रभाव या हानिकारक प्रभाव क्षीण एवं नष्ट होकर जीवनीय, पौष्टिक, शोधक, आरोग्यवर्धक गुण अधिक क्रियाशील हो जाता है। इसलिए वेद ने कहा—घृतेन स्वाहा—(यजुः १७।७९) यज्ञ में घृत से स्वाहा—आहुति प्रदान करना चाहिए। इसी प्रकार—घृतं मिमिक्षे (यजुः १७।८८) यज्ञ में घृत का सिंचन करता हूं। सेचन-कर्म घृत की धारा से ही होता है। अतः अन्य हवि द्रव्यों में भी घृत का सेचन करके प्रयोग करना चाहिए।

घृत का तीनों लोकों से सम्बन्ध

घृत का सम्बन्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से है। इसके निर्माण में तीनों लोकों का समान अंश है ऐसा यजुर्वेद १७।९२ में बताया है। अतः पार्थिव अग्नि में घृत की आहुति देने से पार्थिव भाग पृथिवी को, अन्तरिक्ष का भाग अन्तरिक्ष को और आदित्यलोक का भाग आदित्य मण्डल या द्युलोक को—अपने अपने मूल स्थानों को प्राप्त हो जाता है। यज्ञ प्रक्रिया से घृत की आहुति का सोम रूप में परिवर्त्तन होकर अन्तरिक्ष में व्याप्ति हो जाती है और अन्तरिक्षस्थ अग्नियों से उस सोम की

सौर अग्नियों में आहुति होने लगती है। अतः घृताहुति की व्याप्ति का विशाल क्षेत्र द्यावा पृथिवी एवं मध्य का अन्तराल होने से अन्तरिक्ष-शोधन के लिए यह सर्वाधिक प्रभावशाली है।

ज्ञात एवं अज्ञात सभी विषों का नाशक घृत है

वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर अनेक प्रकार के विषाक्त द्रव्यों की अन्तरिक्ष में उपस्थिति घोषित की जा सकती है और कालान्तर में कतिपय अन्य विषों की भी वायु में वृद्धि ज्ञात की जा सकती है। परन्तु उन सब विषों की सामान्य रूप से चिकित्सा या दूर करने का उपाय अग्नि में घृत की आहुतियों का प्रयोग ही है। यह उपाय सामान्य और विशेष भी है। इसी के साथ सुगन्धित पौष्टिक, दोषनाशक और जीवनीय ओषधियों को घृत में मिलाकर विशेष आहुति देने से और भी अधिक लाभ होता है।

धान्य भी हवि द्रव्य है

घृत के अतिरिक्त अन्य हविद्रव्यों में धान्य-चावल आदि अन्न भी प्रधान भूत द्रव्य हैं। यजु० १।२० में इस हवि द्रव्य के बारे में कहा है—धान्यमसि। हे हवि! तू धान्य, चावल आदि है। अतः धिनुहि देवान्। देव तत्त्वों को अर्थात् जो हमारे अनुकूल तत्त्व हैं, हमें प्राणादि देनेवाले रक्षक और आनन्द देनेवाले हैं उन देवतत्त्वों को तू प्रसन्न अर्थात् विकसित, समृद्ध और पुष्ट कर। इस निमित्त प्राणाय त्वा, उदानाय त्वा, व्यानाय त्वा, दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धाम्। तुझको प्राणशक्ति-वर्धन के लिए, उदान और व्यान प्राणों के वर्धन एवं पुष्टि के लिए, दीर्घतम वितान और आयु के लिए हवि रूप में ग्रहण करता हूं। अतः वेद के उपरोक्त मन्त्र से ज्ञात होता है कि यज्ञ में अन्नादि पदार्थों की हवि से प्राणादि शक्तियों की अन्तरिक्ष में वृद्धि तथा पुष्टि होती है और अन्तरिक्ष में इन प्राणों की वृद्धि तथा पुष्टि से प्रणियों के प्राणों की तथा आयुष्य की वृद्धि होती है।

अन्न घृत जनक है

अन्न में प्राणों की वृद्धि का उपरोक्त गुण क्यों है इसका कुछ रहस्यमय विज्ञान यजु० १७।९२ में छिपा हुआ है। जैसा पूर्व कहा जा चुका है कि घृत की उत्पत्ति में ३ स्थानों की शक्तियों का सहयोग या भाग है। उनमें पृथिवीस्थ भाग में अन्न का भाग है। अन्न से घृत का १।३ भाग उत्पन्न होता है। अतः अन्नादि की हवि देने से वह भी घृत की आहुति के समान लाभदायक होकर प्राण, उदान और व्यान की अन्तरिक्षमण्डल में वृद्धि करता है और अन्तरिक्ष को निर्विष करने में सहयोग प्रदान करता है। अन्नादि की हवि का महत्त्व न समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ऋषि-मुनियों ने विश्व की स्थिति को जानकर और यज्ञ द्वारा उसके उपाय को प्राप्त कर दैनिक यज्ञ, पक्षयज्ञ, चातुर्मास्य यज्ञ, अयन यज्ञ एवं संवत्सर यज्ञों का क्रम हमें दिया है। उसका अनुष्ठान करने से ही कल्याण है।

हवि द्रव्य गिलोय

अन्नों के अतिरिक्त ओषधि वनस्पतियों की हवि में गिलोय एक प्रमुख वनस्पति है। गिलोय का नाम सोमलता और अमृता भी है। सोम का सम्बन्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से है। तीनों स्थानों में उत्तरोत्तर सूक्ष्म रूप से यह विद्यमान है और यह तीनों स्थानों में स्थित देवतत्त्वों का प्रिय तत्त्व है। सोमतत्त्व ओषधियों का परमश्रेष्ठ, तेजस्वी एवं जीवनदायी तत्त्व है। इसलिए सोम को ओष-धियों का राजा या अधिपति—सोम ओषधीनामधिपतिः। वैदिक विज्ञान की परिभाषा में कहा गया

है। समस्त श्रोषधियों का राजा या स्वामी होने से यह सर्व रोगनाशक बलदाता, जीवन और आनन्द देने वाला है।

गिलोय अमृता है

इसी गिलोय का अमृता नाम होने से उसके अन्दर अमृत-जीवनदायी तत्त्व भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। इसी गुण को ऋषि मुनियों ने अनुभूत करके इसकी—अमृता—संज्ञा प्रदान की है। अ+मृत=मरण, मृत्यु, विनाश भाव आदि से रहित तत्त्व ही अमृत संज्ञक है। अमृत गुणप्रधान लता गिलोय निस्सन्देह अमृता संज्ञक है। इसी को गडूची, गिलोय, नीम गिलोय, गुडवेल भी कहते हैं। अमृता सत्त्व नाम से बिकने वाला सत्त्व रूप में पदार्थ इसी गिलोय का सत्त्व—सत है। हवि पदार्थों में इसकी प्रधानता होनी आवश्यक है। इसमें सोम तत्त्व जीवनीय तत्त्व प्रधान है। अतः अन्तरिक्ष को निर्विष, रोग-रहित एवं जीवनप्रदाता बनाने के लिए यज्ञ में इसका प्रयोग आवश्यक है।

हवि द्रव्य सोमराजी

इसी प्रकार सोमतत्त्व प्रधान एक अन्य ओषधि सोमराज्ञी है जिसे सोमराजी—बावची आदि कहते हैं। सोमराजा और सोमराज्ञी शब्द पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग वाची होने से यह प्रकट करते हैं कि पदार्थों में, वृक्ष—वनस्पतियों में स्त्री-शक्तिप्रधान और पुंशक्तिप्रधान तत्त्व होते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों के संयोग से उस शक्ति की वृद्धि, समृद्धि, प्रभूति, विशालता तथा व्यापकता आदि विशेष होती है न कि उनके परस्पर मिलने से दोनों के गुणों का विनाश होता है। जिस प्रकार ऋण और धन (नेगेटिव और पाजीटिव) मिलकर ही शक्ति, उत्पादन, गति आदि उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार से यज्ञ में भी हवि पदार्थों के संयोग से उस गुण विशिष्ट शक्ति को अग्नि के माध्यम से समृद्ध होने में महान् सामर्थ्य प्राप्त होती है। अतः सोमराजी का हव्य रूप में प्रयोग गिलोय के साथ और भी लाभकारी हो जाता है। दो समानधर्मा तत्त्व अग्नि एवं घृत सामर्थ्य से एकरूपता को सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार से अन्य भी अनेक ओषधियां इस प्रकार की हैं जो सब प्रकार के दोषों का शमन करने में समर्थ हैं, उनका उपयोग यज्ञप्रक्रिया द्वारा अन्तरिक्ष-शोधन के लिए निस्संकोच किया जा सकता है।

हवि द्रव्य गूगल

अथर्ववेद (१९।३८।१) में गूगल के बारे में उल्लेख है कि जो गूगल की गन्ध का सेवन करता है उसे यक्ष्मा रोग आक्रान्त करने में समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार अनेक ओषधियों के धूम्रों के पृथक्-पृथक् गुण और उपयोग हैं। अतः पदार्थों के गुणों का ज्ञान प्राप्त कर उनका प्रयोग यज्ञ-प्रक्रिया से करने से अन्तरिक्ष निर्विष, शुद्ध एवं जीवनोपयोगी बनाया जा सकता है।

यज्ञ से कृषि-उत्पादन में वृद्धि

यज्ञ से वायु एवं वृष्टि-जल के शोधन एवं गुणकारी होने से कृषि को बहुत लाभ होता है। यज्ञ से उत्तम तथा विविध गुणों से युक्त वृष्टि-जल का निर्माण होने से वह जल कृषि-उत्पादन में विशेष गुणों की वृद्धि करता है। परन्तु इन लाभों के अतिरिक्त यज्ञ द्वारा खाद की उत्पत्ति की समस्या एवं खाद के प्रसारण की समस्या का भी उत्तम रीति से समाधान होता है।

कृत्रिम खाद-प्रणाली में व्यय की अधिकता

आज देश में खाद की उत्पत्ति के लिए बड़े बड़े कारखाने खोले गये हैं। बहुत बड़ा भू-भाग इनके लिए रोकना पड़ता है। उन खादों को कृषकों को खरीदना पड़ता है। अपनी क्रय-सामर्थ्य के

अनुसार ही कृषक क्रय करने में समर्थ होते हैं। खादों को कारखानों से देश के कोने-कोने में भेजने के लिए अनेक वाहनों की आवश्यकता एवं समय अपेक्षित होता है। इस प्रकार खाद के प्रसारण में भी व्ययभार बढ़ता है। समस्त कृषि-योग्य भू-भाग पर खाद का प्रसारण करने के लिए कितना भारी व्यय होता है इसकी भी कल्पना कीजिए।

कृत्रिम खादों से कालान्तर में उत्पादन-सामर्थ्य की कमी

क्या एक बार के खाद के देने से पृथिवी की उत्पादन-सामर्थ्य अनेक वर्षों के लिए बढ़ जायेगी?—नहीं। खाद का प्रयोग बार बार करना पड़ता है। बार-बार खाद देने से पृथिवी की उत्पादन-शक्ति भी शीघ्र ही ३-४ वर्ष में क्षीण हो जाती है। कृत्रिम खादों के तत्त्वों से जो दोष उत्पन्न होते हैं उनका निवारण करने के लिए दूसरे प्रकार का खाद देना पड़ता है। इस प्रकार खादों का चक्र किसानों के लिए परिणाम में हानिकारक हो जाता है। कृत्रिम खाद-प्रणाली को वर्तमान विज्ञान ने व्यापारिक दृष्टिकोण से जन्म देकर कृषकों को अनेक उलझनों में डाल दिया है।

यज्ञ-प्रणाली से द्रव्य, समय एवं भूमि का लाभ

परन्तु यज्ञ की खाद-प्रणाली ऐसी है कि उससे खाद-निर्माण के कारखानों की आवश्यकता ही नहीं रहती है और खाद के एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने का खर्च भी बच जाता है तथा जो खाद क्रय न कर सके उसको भी यज्ञीय खाद का शीघ्र वितरण हो जाता है। इस प्रकार खाद प्रसारण का समय, खाद-क्रय करने के द्रव्य और कारखानों और इनके संग्रहालयों में लगी भूमि की बचत होने का लाभ होता है।

यज्ञीय खाद क्या है

यज्ञीय खाद यज्ञ से बनता है। कृषि की उत्पत्ति में सहायक वनस्पति एवं अन्नादिकों की तथा घृत, मधु आदि की यज्ञों में जब आहुति दी जाती है तो वे सूक्ष्म एवं शक्तिशाली होकर वायु में प्रसारित हो जाते हैं। वायु में प्रसारित वह खाद वृक्ष वनस्पतियों को सर्वत्र प्राप्त हो जाता है। एक छोटे से स्थान में किये गये यज्ञ से उत्पन्न धूम्र वायु में मिलकर पृथिवीमण्डल में विचरण करता है। इस प्रकार वायु के माध्यम से कृषि को लाभ मिलता है। वायु में मिले उस अंश का मेघमण्डल से सम्पर्क होता है और मेघों से बर्षने वाले जलों में घुलकर वह जल के साथ पृथिवी पर तथा पृथिवी के भीतर भी पहुंचता है। इस प्रकार यज्ञीय खाद वायु एवं वृष्टि-जल के साथ सर्वत्र प्रसारित हो जाता है। इस यज्ञ प्रणाली से खाद-निर्माण और वितरण में बहुत कम खर्च, बहुत कम समय, बहुत कम परिश्रम और बहुत कम भूमि की आवश्यकता पड़ती है और लाभ अधिक होता है।

वायव्य खाद अधिक क्रियाशील एवं सामर्थ्य-युक्त है

खाद की उपयोगिता एवं सामर्थ्य तभी अधिक क्रियाशील होती है जब कि वह सूक्ष्म एवं विलय होकर पृथिवी में प्रसारित हो सके। कल-कारखानों द्वारा निर्मित खाद यज्ञ से उत्पन्न धूम्र एवं वाष्प से अधिक स्थूल होते हैं अतः वे बहुत थोड़े क्षेत्र में प्रयत्न से ही प्रसारित हो सकते हैं। अतः उनकी सामर्थ्य भी कम होती है। वायव्य खाद-प्रणाली का जन्म भी अभी विज्ञान ने नहीं किया है। परन्तु वैदिक विज्ञान इस कार्य में प्राचीन समय से ही समर्थ है। इस प्रणाली को अपना कर कृषि की उत्पत्ति में निश्चित समृद्धि एवं पुष्टि की प्राप्ति वर्तमान प्रणाली से कहीं अधिक होगी। जिन व्यक्तियों ने इस प्रणाली से अपनी कृषि को वायव्य खाद दिये हैं उनकी कृषि की उत्पत्ति में माधुर्य एवं पुष्टि का अपूर्व गुण आया है। कृषि में लगने वाले कृमियों की भी इससे रक्षा होती देखी गई है।

ध्वनि का खाद

कृषि में ध्वनि का महत्त्व है। वैज्ञानिकों ने परीक्षण करके संगीत का कृषि पर अनुकूल प्रभाव उत्पत्ति की वृद्धि में अनुभूत किया है। यज्ञ के द्वारा जहां आहुति द्रव्यों के खाद का प्रसारण होता है वहां वेद-मन्त्रों की ध्वनि का भी प्रसारण कृषि पर होता है। ध्वनि एवं आहुति के प्रसारण में वायु ही क्रिया-शील होती है और दोनों एक साथ मिलकर अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं।

यज्ञ में प्रयुक्त पदार्थ नष्ट नहीं होते, अपितु शक्तिशाली हो जाते हैं

जो लोग यज्ञ में घृतादि की आहुति देने को व्यर्थ तथा घत का दुरुपयोग कहते हैं, वे वेद के विज्ञान को नहीं समझते हैं। जो एक छटांक घृत एक व्यक्ति के ही भोजन के उपयोग में लिया जाये तो वह केवल एक व्यक्ति के ही पेट में पहुंचता है। परन्तु जब वही एक छटांक घृत यज्ञ के द्वारा अन्त-रिक्ष में प्रसारित कर दिया जाता है तो वह विशेष शक्तिशाली एवं सूक्ष्म होकर अन्तरिक्ष के विशाल क्षेत्र की वायु को निर्विष करके मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी जीवधारियों के आयु की वृद्धि एवं पुष्टि करता है।

इस रहस्य की पुष्टि वेद का निम्न मन्त्र कर रहा है—

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥ (यजु० २।३४)

अर्थात् यज्ञ में प्रयुक्त किये गये घृत, दूध, मधु, अन्नादि के सूक्ष्म अंश वृष्टि-जल के साथ परिस्रुत होकर इस पृथिवी पर वायु, जल एवं अन्न के माध्यम से प्राप्त होते हैं तो वे बल एवं पराक्रम के वहन करने वाले हो जाते हैं। उनके सेवन से हम में विशेष बल-पराक्रम उत्पन्न होता है और उससे हमारी पितृ-शक्तियां, पालक एवं उत्पादक-शक्तियों की जो सृष्टियाँ होती हैं उनकी भी तृप्ति एवं पुष्टि होती है। अतः यज्ञ में प्रयुक्त घृत, दूध, अन्नादि निरुपयोगी नहीं जाते हैं अपितु उनसे महान् लाभ प्राप्त होता है।

परिणाम

इस प्रकार जल-समस्या को हल करने के लिए ज्ञात होता है कि—

१. जल अन्तरिक्ष में और उससे परे के क्षेत्र द्युमण्डल में भी है।

२. अन्तरिक्षस्थ एवं द्युमण्डलस्थ जलों को यज्ञ द्वारा पृथिवी पर लाया जा सकता है।

३. यज्ञ द्वारा मेघों का निर्माण अवश्यम्भावी है।

४. यज्ञ द्वारा मेघों में वर्षण-क्रिया होना अनिवार्य है।

५. वृष्टि-जल का भी शोधन-कार्य होना आवश्यक है अतः प्राकृतिक कारणों से वर्षा होने पर भी यज्ञ करना चाहिए।

६. यज्ञ द्वारा वृष्टि-जल को प्रभावशाली बनाया जा सकता है जिससे पुष्टिकारक अन्न जल की प्राप्ति होती है और अधिक उत्पादन होता है।

७. यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से पेय जल की समस्या का हल तथा बांधों में जल की वृद्धि होने से विद्युत् की न्यूनता की समस्या का भी हल होता है।

८. यज्ञ द्वारा वायु का उत्तम रीति से शोधन होता है।

९. यज्ञ की प्रक्रिया पूर्ण वैज्ञानिक है।

उपसंहार

(धर्म)

जीवन के लिए धर्म की आवश्यकता

जीवन की कामना प्रत्येक में होती है। परन्तु उस जीवन को कैसे व्यतीत किया जावे, यही जीवन की कला है। जीवन-यापन करने के लिए जो श्रेष्ठतम कला है वही धर्म है। इस कला में जो जितना असफल होता जाता है वह उतना ही, परिणाम में दुःखों को भोगता है। वेद ने जीवन की कामना को निम्न प्रकार प्रकट किया है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ (यजुः २५।२१)

हे विद्वानो, हे यजनशील देवो ! हम सब कानों से कल्याणकारक शब्दों को सुनें और आंखों से भी कल्याणकारक दृश्यों को देखें। अपने दृढ़ अंगों तथा शरीर से हम परमात्मा की स्तुति पुनः पुनः करते हुए देवों के लिए हितकर आयु को व्यतीत करें। इस मन्त्र में देवों की श्रेष्ठ आयु प्राप्त करने की प्रार्थना है। उन देवों को यजत्राः—यजनशील कहा गया है। अर्थात् हमारा जीवन भी यज्ञमय हो और यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली भद्रा वाणी—देव-वाणी का श्रवण करें तथा यज्ञों के विविध अनुष्ठानों के स्वरूपों का दर्शन करना चाहिए। इसी से देवों की आयु हमें भी प्राप्त हो सकती है। मनुष्य को देव बनाना ही धर्म है। इसी का दिग्दर्शन वेद से प्राप्त होता है।

धर्म का कर्म एवं विचारों से सम्बन्ध

धर्म का सम्बन्ध कर्मों से ही नहीं है, अपितु विचारों से भी है। विशिष्ट विचारों से प्रभावित कर्म विशेष जिनका सम्बन्ध किसी अदृश्य या परोक्ष फल से होता है, उसकी गणना धर्म के अन्तर्गत आज कल ग्राह्य की जाती है। परन्तु धर्म का सम्बन्ध मानव-जीवन के सम्पूर्ण व्यवहार से ही सम्बन्धित है। यदि जीवन की प्रत्येक क्रिया के साथ शुभ संकल्प है तो वह धर्म ही है। परन्तु जीवन में यदि एक ही प्रकार के केवल मात्र शरीर सम्बन्धी कर्मों का ही विकास हुआ और आन्तरिक शक्तियों के एवं आत्मिक गुणों के विकास का कर्म नहीं हुआ तो हमारे कर्म अपूर्ण ही रहेंगे। इसलिए हमें केवल स्वार्थयुक्त, सीमित कर्मों के बारे में ही विचार नहीं करना चाहिए अपितु व्यापक दृष्टि से सर्वहितकारी कर्मों तथा आत्मोन्नति के भी कर्मों पर विचार करना चाहिए।

प्रश्नों की त्रिसूत्री

जब हम गम्भीर दृष्टि से विचार करते हैं तो समस्त विचार एवं कर्मों को तीन प्रकार के ३-३ प्रश्नों में समाविष्ट देखते हैं और उन प्रश्नों की त्रिसूत्री निम्न प्रकार उपस्थित हो जाती है—

(१) हम क्या हैं ? ईश्वर क्या है ? और सृष्टि क्या है ?

(२) हमारा ईश्वर से क्या सम्बन्ध है ? हमारा विश्व के प्राणियों के साथ क्या सम्बन्ध है ? और हमारा प्रकृति के साथ या सृष्टि के साथ क्या सम्बन्ध है ?

(३) हमारा ईश्वर के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? हमारा जीवों के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? और हमारा प्रकृति के प्रति क्या कर्त्तव्य है ?

कर्मों पर विचारों का प्रभाव

इन प्रश्नों में समस्त प्रश्न समाविष्ट हो जाते हैं, चाहे वे सांसारिक हों या पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक। इन्हीं की पूर्ति में हमारे जीवन का व्यवहार सम्पन्न होता रहता है। यदि मानव के मस्तिष्क में ये प्रश्न जाग्रत् न होते तो उसका व्यवहार सामान्य पशुवत् ही चलता रहता। परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान की और उस बुद्धि की सामीप्यता आत्मा एवं शरीर इन दोनों से तथा दोनों के मध्य में स्थापित की है अतः यह मनुष्य के कर्म एवं आत्मा को प्रभावित करती है।

मनुष्य इस विशिष्टता के कारण चिन्तन करने एवं कर्म करने में स्वतन्त्र होकर जीवन-यापन करने के विविध मार्गों, दर्शनों या विचार-सरणियों का सर्जन करता रहता है। वह विचारशून्य एवं कर्मशून्य, निश्चेष्ट नहीं बन सकता है। अतः इच्छा और प्रयत्नों से उसका जीवन-व्यवहार सम्पन्न होता है। अपने इच्छा और प्रयत्न से जिस प्रकार की भावनाओं से प्रभावित होकर मनुष्य कार्यरत होगा उसी प्रकार के कर्म उसके द्वारा सम्पन्न होंगे।

त्रिसूत्री प्रश्नों का उत्तर ही ग्रन्थ में प्रस्तुत है

उपरोक्त प्रश्नों में से—हम क्या हैं ? ईश्वर क्या है ? ईश्वर के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ? और ईश्वर के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है ? इन प्रश्नों का उत्तर इस ग्रन्थ का अध्यात्मविज्ञान-प्रकरण उपस्थित करता है।

हमारा प्राणियों के साथ एवं मनुष्यों के साथ क्या सम्बन्ध है तथा उनके प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है ? इन प्रश्नों का उत्तर इस ग्रन्थ का समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति-प्रकरण उपस्थित करता है और—

हमारा प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है और प्रकृति का हम कैसे क्या उपयोग लें, इसका उत्तर इस ग्रन्थ का शिक्षा एवं तदन्तर्गत वैदिक विज्ञान-प्रकरण उपस्थित करता है। यद्यपि इन प्रकरणों में जितना प्रतिपादन करना चाहिए उतना प्रतिपादन नहीं हो सका है तथापि यह उसका प्रतीक मात्र प्रारम्भ रूप ही है। इसका विशद रूप से प्रतिपादन अनेक विशाल ग्रन्थों के निर्माण की स्थिति की अपेक्षा करता है। समयाभाव से अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकरण, दर्शन, सृष्टि-विज्ञान, भूतत्त्व-विज्ञान आदि को हम लिख भी न सके।

धर्म की जीवन से अभिन्नता

इस ग्रन्थ के उपरोक्त प्रकरण जो उपरोक्त त्रिसूत्री प्रश्नों के ही उत्तर रूप से जिस जीवन-व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं वह धर्म ही है। धर्म का अस्तित्व जीवन-व्यवहार के साथ ही है। वह जीवन के कर्मों से पृथक् नहीं है। धर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, समाज की प्रत्येक क्रिया में, सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक स्पन्दन एवं भावना में प्रस्फुटित होता है। धर्मरहित जीवन, अविवेकपूर्ण विचारों से

प्रभावित होने के कारण पतन का कारण हो जाता है।

धर्म के लिए हमारे कर्म कैसे हों

क्या पशु-पक्षियों के धर्म एवं गुणों का मनुष्य अनुसरण करे या विद्वानों के शिव संकल्पमय विचारों एवं कर्मों का तथा देवों—सृष्टि-तत्त्वों के गुण एवं नियमों का अनुसरण करे ? यदि मनुष्य पशुओं के धर्म को अंगीकार करेगा तो वह पशुवत् हो जाएगा। पशु अपने धर्म से कर्म की एक सीमा में बंधे हुए हैं। उससे न्यूनाधिक प्रयत्न करने में असमर्थ हैं। परन्तु मनुष्य में ऐसी शक्ति है कि वह स्व-धर्म का निर्माण करने एवं तदनुसार कर्म करने में तो स्वतन्त्र है परन्तु फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है, अपितु परतन्त्र ही है। अतः उसे कुछ सोचना पड़ता है और संभलना पड़ता है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र होते हुए भी ऐसे कौन से कर्म करे जिनका फल हमारे लिए तो श्रेष्ठ, सुखकारक एवं हितकारक हो तथा दूसरों के लिए वह अहितकारक न हो। ऐसे कर्म करने से मनुष्य की आत्मा को वास्तविक रूप से सुख शान्ति एवं सन्तोष प्राप्त होता है। ऐसा कर्म करने वाला व्यक्ति सोचता है कि मैंने किसी की हानि नहीं की है। मुझसे कोई अपराध नहीं हुआ है अतः वह कहता है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा।

अर्थात् मुझसे सब प्राणियों को अभय प्राप्त हो जिससे—

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (अथर्व० १९।१५।६)

सर्वत्र सभी मेरे मित्र ही हों। ऐसी उच्च विचार एवं व्यवहार की स्थिति वेद के द्वारा ही जीवन में साधना के लिए प्राप्त होती है। परन्तु जिन कर्मों के करने से अपना लाभ हो और दूसरे की हानि हो ऐसा कर्म अपने लिए किसी अंश में हितकर होते हुए भी श्रेष्ठ श्रेणी में परिगणित नहीं किया जा सकता। दूसरे की हानिरूपी जो अपराध होता है उसकी निवृत्ति निमित कर्म विशेष भी आवश्यक हो जाता है। जिन कर्मों से अपना कोई लाभ न हो और केवल दूसरों की ही हानि हो ऐसे कर्म तो अत्यन्त निन्दनीय तथा त्याज्य कोटि के हैं।

श्रेष्ठतम कर्म

परन्तु जो कर्म ऐसे हों कि अपने लाभ के साथ दूसरे का भी लाभ करने वाले हों या जिन कर्मों से सबका अत्यन्त लाभ हो वे श्रेष्ठतम कर्म हैं। वेद कहता है—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। (यजुः १।१)

अर्थात् सकलैश्वर्य का उत्पादक सविता देव श्रेष्ठतम कर्म के लिए हम सबको अच्छी प्रकार संयुक्त करे। मनुष्य के लिए श्रेष्ठतम कर्म ही धर्म के रूप में मान्य किये जाते हैं और निकृष्ट कर्म ही अधर्म एवं त्याज्य हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि एवं प्रयत्न से कर्मों के सन्तान-वितान से अपना प्रारब्ध स्वयं निर्मित करता है और पुनः उसके वशीभूत होकर उसे विवश होकर फल भोगना पड़ता है। अधर्मयुक्त कर्मों का फल दुःखयुक्त एवं धर्म-कर्मों का फल सुखयुक्त होना न्यायसिद्ध है। अतः धर्महीन जीवन-व्यवहार निःसन्देह दुःख का हेतु है और धर्मयुक्त जीवन-व्यवहार पुण्यप्रद होने से सुख का हेतु है। यह स्वीकार करना ही पड़ता है।

धर्म के त्याग से हानि

धर्म को यदि जीवन के किसी भी क्षेत्र में से जहां पृथक् कर देंगे वहीं धर्म की हानि से अधर्म की वृद्धि होती है। समाज से यदि धर्म की विचारधारा को त्याग देंगे तो वहां अधर्म फलित होने

लगेगा। विद्या में से धर्म के पृथक् हो जाने पर अविद्या एवं अन्धकार का ही साम्राज्य रह जायेगा। विज्ञान में से धर्म को पृथक् कर देंगे तो वह अज्ञान रूप ही रह जावेगा। सदाचार में से यदि धर्म को पृथक् कर देंगे तो दुराचार का ही दर्शन होगा। राजनीति में से धर्म के पृथक् हो जाने पर धोखा एवं प्रपंच मात्र रह जाता है। अर्थ में से धर्म की भावना पृथक् हो जाने से वह अनर्थकारक ही रह जाता है।

अर्थात् जीवन के किसी भी क्षेत्र से धर्म के पृथक् हो जाने पर वहां विनाश का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। जिस प्रकार शरीर से आत्मा के पृथक् हो जाने पर शरीर मृत हो जाता है उसी प्रकार धर्म के जीवन-व्यवहार से पृथक् हो जाने पर जीवन अशोभनीय हो जाता है। अतः इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सभी विषय मिलकर धर्म का ही प्रतिपादन एवं निर्माण करते हैं और उनकी मानव जाति की विविध प्रमुख समस्याओं के हल प्रस्तुत करने में प्राधान्यता है और रहेगी। वे सब मानव धर्म के विविध अंग ही हैं।

धर्म-कर्मों का प्रदर्शक वेद

ऐसी स्थिति में जीवन के लिए कर्त्तव्यमय उपदेश जो धर्मबोधक होते हैं वे ही ग्राह्य किये जाने योग्य हैं। वेद में जीवन की उन्नति एवं मार्गदर्शन के लिए पद-पद पर उपदेशात्मक ज्ञान भरा पड़ा है। अतः वेद धर्म ग्रन्थ हैं। वेद मनुष्य के लिए कहता है—

व्रतं कृणुत (यजुः ४।११)

अर्थात् व्रत करो। जीवन के प्रत्येक कार्य को करते हुए व्रत की भावना रहनी चाहिए। कर्म को जिस निष्ठा एवं श्रद्धा से करने की भावना से हम अपने में धारण करते हैं वही हो जाता है। कर्त्तव्य की ओर प्रेरित कराने के लिए, कर्त्तव्य में पूर्ण निमग्न करा देने के लिए व्रत का धर्म के साथ अर्थात् जीवन के व्यवहार-क्षेत्र के साथ अभिन्न सम्बन्ध है।

कर्मों को शुभ संकल्प से करें

जब हम जीवन के व्यवहार को विविध प्रकार के कर्त्तव्यों की भावना से संयुक्त करके करते हैं तो हमें उसमें रस प्रतीत होता है, भावनारहित कर्म नीरस होते हैं। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति अपना भोजन बनाता है परन्तु भोजन क्षुधा की आवश्यकता से अधिक बन जाता है। वह अपनी क्षुधानुसार भोजन कर लेता है और शेष बचे हुए भोजन को फेंक देता है। उसे गौ, कुत्ते, कौवे, चींटी एवं भिखारी खाने लगते हैं। उसके कर्म का संकल्प अपने पेट भरने मात्र भोजन बनाने का था। अन्यों को खिलाने का उसका उद्देश्य नहीं था। परन्तु जब वह इसी उद्देश्य से कुछ अधिक भोजन बनाता है कि मुझे गौ, कुत्ता, कौवे, चींटी एवं भिखारियों को भी कुछ न कुछ देना है और अपने भोजन से पूर्व उनको देना है, तो ऐसी शुभ भावनायुक्त कर्म को धर्म का स्थान प्राप्त होता है क्योंकि उसके साथ उसकी एक परोपकार की विशेष भावना है।

अर्थात् जीवन में हम प्रत्येक क्रिया को यदि उच्च भावना से, कल्याण की भावना से प्रेरित होकर करते हैं तो वह धर्ममूलक हो जाती है। किसी व्यक्ति को पीड़ा देना अधर्म है। किसी व्यक्ति को मार डालना अधर्म है। परन्तु न्याय की भावना से दण्ड रूपी जो पीड़ा दी जाती है या न्याय की भावना से जो मृत्यु-दण्ड दिया जाता है उसमें अधर्म नहीं होता अपितु धर्म की भावना होने से वही धर्म कहा जाता है। मृत्यु, हत्या और फांसी यद्यपि तीनों एक ही परिणाम को उत्पन्न करते हैं पुनरपि

प्रत्येक की भावना एवं क्रिया में भेद है। हत्या करने वाले को दण्ड होता है और फांसी देने वाले को द्रव्य मिलता है। इस प्रकार कर्त्तव्य की विविध भावनाओं से धर्म के रूप का विकास होता है।

धर्म सब के लिए है

धर्म को संकुचित मर्यादाओं में बांधने से वह परस्पर में भेद उत्पन्न करने वाला हो जाता है। अतः धर्म में से संकुचित भावनाओं को पृथक् कर देना चाहिए। धर्म सबके लिए है। यदि एक व्यक्ति धर्म का आचरण करे और उसके चारों ओर अधार्मिक बसते होंगे तो उसका धर्म पर चलना भी कठिन हो जायगा। अतः धर्मानुकूल आचरण करना सब मनुष्यों का कर्त्तव्य है न कि किसी व्यक्ति विशेष का। मानव जाति धर्म के आश्रय से ही उन्नति कर सकती है तथा धर्म को त्यागने से मानव जाति की अवनति ही होगी।

धर्म के अंगों का सर्वांगीण विकास कर

धर्म के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिए सदा प्रयत्न होता रहा है और समय-समय पर जब जिस विचारधारा की प्रधानता हुई या जो विचारधारा समयानुसार महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक प्रतीत हुई, धर्म के उसी अंग की प्रधानता उस समय के जनसमाज में हो जाती है। इस प्रकार धर्म के कुछ तत्त्व लोक-जीवन में उभरते जाते हैं और कुछ तत्त्व अविकसित रह जाते हैं।

वेद में अहिंसा का स्वरूप

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में अघ्न्या शब्द आता है जिसका अर्थ अहिंसनीय है। पुनः इसी मन्त्र में प्रजावती शब्द आता है। अर्थात् अघ्न्या के साथ प्रजावान्, सन्तानवान्, उत्पत्तिशील, वृद्धिशील होने का भी प्रयत्न होना चाहिए। रक्षा और वृद्धि दोनों ही होनी चाहिएं। रक्षा कैसी हो इसके लिए इसी मन्त्र में अयक्ष्मा=राजयक्ष्मादि बड़े रोग रहित, अनमीवा=अत्यन्त सूक्ष्म रोग कीटाणुओं से भी रहित, मा वस्तेन ईशत=चोरों की चोरवृत्ति से भी रक्षा और माघशंसः=पापियों की पापवृत्ति से भी रक्षा।

इस प्रकार इस मन्त्र के द्वारा गौ आदि प्राणियों की रक्षा और समृद्धि के लिए वेद ने केवल मात्र अहिंसा तक ही विचार को सीमित नहीं किया है अपितु अहिंसा का एक पूर्ण क्रम प्रकट किया है। उदाहरणार्थ गोहत्या बन्द हो—इतना मात्र कर लेने से अहिंसा धर्म की पूर्ति नहीं होती अपितु उन गौओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महाव्याधियों से रक्षा, चोर और पापियों से रक्षा, उनके स्वास्थ्य की उन्नति, उनकी सन्तति का विस्तार, समृद्धि एवं पालन आदि कार्य करने से अहिंसा धर्म का पालन होगा। अन्यथा अहिंसा का एकांगी रूप ही उभर आवेगा और अहिंसा धर्म अपने वास्तविक रूप में विकसित नहीं होगा।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं ब्रह्मचर्य

वेद मानव जाति के लिए धर्म को पदे-पदे प्रकट करता है। इसी मन्त्र में अघ्न्या शब्द से अहिंसा का प्रतिपादन किया है और 'मा वस्तेन ईशत' शब्दों से अस्तेय-धर्म का प्रतिपादन किया है। 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' शब्दों से जहां यज्ञ का ग्रहण है वहां उस यज्ञ के लिए सर्वप्रथम व्रत धारण करते हुए—इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि—(यजुः १।५) द्वारा सत्यधर्म का वेद ने उपदेश किया। व्रताचरण का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य के द्वारा ऊर्ज-प्राप्ति से भी है अतः मन्त्र के 'ऊर्जे त्वा' पद ब्रह्मचर्य की प्रेरणा दे रहे हैं जिसके महत्त्व के बारे में अन्यत्र कहा गया है—ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। (अथर्ववेद, ११।५।३)

अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। इस प्रकार धर्म के ब्रह्मचर्य रूप का वेद प्रतिपादन करता है। आज के लोकजीवन या राष्ट्र-जीवन में ब्रह्मचर्य का कोई महत्त्व नहीं है अतः अनेक प्रकार से चारित्रिक पतन हो गया है। चरित्र के पतन से ही चोरी, हिंसा, पाप, असत्यभाषण एवं असत्यव्यवहार का साम्राज्य छा जाता है।

अपरिग्रह

लोभ की वृत्ति समाज के परस्पर के व्यवहार को बिगाड़ने वाली है। उसके लिए वेद ने—तेन त्येक्तेन भुञ्जीथाः। (यजुः ४०।१) का मार्ग स्पष्ट कहा है। अपरिग्रह का स्वरूप भी इसी से प्रकट होता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन के आधारभूत धर्मों का वेद में स्पष्ट उल्लेख अनेक स्थानों पर है। इन्हीं को योगदर्शन में यम नाम से कहा है। इसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के आधार भूत धर्मतत्त्वों का भी वेद में उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें योगदर्शन में नियम नाम से कहा है। जीवन का यम नियमों पर आचरण ही धर्म का उत्तम स्वरूप है।

शौच

नियमों में सर्वप्रथम शौच ही है। शौच, शुचिता, पवित्रता को कहते हैं। पवित्रता बाह्य और आन्तरिक दोनों आवश्यक हैं। मन, वाक् एवं काया से अपवित्रता का त्याग कर पवित्राचरण करना शौच है। इसके अन्तर्गत बाह्य देश, शरीर, प्राण, मन, आत्मा सभी की शुद्धि आ जाती है। पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। (यजु० १९।३९) वेद मन्त्र के ये पद जिस पवित्रता का सन्देश-दे रहे हैं वह परम दैवी पवित्रता है। वाचं ते शुन्धामि, प्राणं ते शुन्धामि, चक्षुस्ते शुन्धामि, श्रोत्रं ते शुन्धामि, चरित्राँस्ते शुन्धामि। (यजुः ६।१४) यह मन्त्र विविध प्रकार की जीवन-व्यवहार की पवित्रताओं का प्रतिपादन कर रहे हैं।

सन्तोष एवं तप

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (यजुः ४०।१) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः (यजुः ४०।२) इत्यादि मन्त्र जीवन में सन्तोष की भावना को उद्दीप्त करते हैं। दीक्षातपसोस्तनूरसि। (यजुः ४।२) तपसे स्वाहा। तप्यते स्वाहा। तप्यमानाय स्वाहा।(यजुः ३९।१२)दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा (यजुः ४।७) आदि मन्त्र विविध प्रकार से तप की साधना करने का प्रतिपादन करते हैं।

स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान

देवस्य पश्य काव्यम्। (ऋग्वेद, १०।५५।५) पावमानीर्यो अध्येति०। (ऋ० ९।६७।३१) आदि मन्त्र स्वाध्याय की प्रेरणा देते हैं। ईशावास्यमिदं सर्वम्। (यजुः ४०।१) कस्मै देवाय हविषा विधेम। (यजुः २५।१०) तमेव विदित्वाति मृत्युमेति। (यजुः ३१।१८) तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। (अथर्व० १०।८।१) इत्यादि मन्त्र ईश्वर की आराधना, भक्ति या ईश्वर-प्रणिधान के कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं।

मनुष्य अपने कर्मों का कर्त्ता है

इस प्रकार धर्म के बाह्य एवं अन्तरंग स्वरूपों का जिनके द्वारा हमारा जीवन-व्यवहार चलना चाहिए उनका वेद में अनेक रूप से प्रतिपादन है। मनुष्य को यदि बुद्धि और उसके निमित्त वेद का ज्ञान परमात्मा ने न दिया होता और वाणी की अद्भुत सामर्थ्य न प्रदान की होती तो मनुष्य भी एक पशु की भाँति भोगयोनि में ही परिगणित किया जाता और उसका स्वतन्त्र कर्तृत्व न होता।

परन्तु परमात्मा ने मनुष्य को ज्ञान की महान् सामर्थ्य एवं वाणी की महान् शक्ति तथा

पुरुषार्थ करने की महान् शक्ति प्रदान करके इस संसार का अतुल साम्राज्य उसको दे दिया है, और वह देखता है कि मनुष्य वेदज्ञान का अपनी बुद्धि से कितना और कैसा उपयोग लेता है। परमात्मा ने अत्यन्त कुशलता से इस मानव देह की रचना करके इसको विविध कला एवं विद्याओं से युक्त करके सब प्राणियों का मूर्धन्य बनाकर भेज दिया है और परमात्मा देख रहा है कि यह अपने साम्राज्य में सुशासन, सुव्यवस्था, न्याय, सुनीति को किस सीमा तक प्रयोग में लाता है।

मनुष्य-देह में अद्भुत कर्म-सामर्थ्य है

मानव देह की अपूर्व रचना ब्रह्माण्ड के रहस्यों के अध्ययन एवं ज्ञान-प्राप्ति का महान् साधन है एवं उसका विविध प्रकार से उपयोग लेने की कलाओं का सर्जक है। इस मानव देह में सृष्टि का विविध प्रकार से भोग करने की क्षमता है। यह देह इस महान् विश्व का सजीव, चैतन्य कोश है। इसके मुखमण्डल पर एक सजीव भाषा का सचित्र प्रकाश होता रहता है। इसकी आकृति पर मूक भाषा की भाव-भंगी, शान्त और अव्यक्त ध्वनि रूप में प्रकट होने पर भी वह महान् व्यक्त ध्वनि को प्रकट कर रही है। मानव देह की भ्रू-विलासिता, इन भृकुटियों के मध्य का संकोच और विकास, न जाने कितनी सृष्टियों के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संचालक रहा है।

इसकी आँखों की पलकों में जीवन एवं मृत्यु का इतिहास गुंथा हुआ है। इसके दिव्य नेत्रों में प्रेम एवं क्रोध का, उपेक्षा एवं आकर्षण का सागर भरा हुआ है। नेत्रों की उस मौन भाषा में जो भाव बड़े-बड़े वाक्यों और विस्तृत ग्रन्थों में भी पूर्णतया प्रकट नहीं किये जा सकते, वे एक क्षण में इन जादूभरे नेत्रों से बिजली की तरह स्फुरित होकर हृदय के अन्तस्तल पर अमिट अंकित हो जाते हैं। मूक और बधिर प्राणियों का चीत्कार एवं करुण क्रन्दन, उनका विनय एवं प्रेम नेत्र की भाषाओं से झरता रहता है। मानव का प्राण अपनी विविध स्पन्दन-क्रिया से हर्ष, शोक, क्रोध, भय, चिन्ता एवं मृत्यु का बोध कराता हुआ, मुख, नेत्र, ध्वनि एवं वर्ण आदि को भी विविध रूप में प्रभावित करता रहता है।

मानव के मुख से निकली व्यक्त एवं अव्यक्त ध्वनियां तथा उसके स्पन्दित ओष्ठ विश्व के इतिहास का संचालन कर रहे हैं। उसकी मौन मुद्रा से भी महान् रोष एवं आक्रोश, विधि एवं निषेध, स्वीकृति एवं अस्वीकृति की सजीव तुमुल ध्वनि एक रस प्रकट होती है जो श्रोत्र से नहीं अपितु मन से निदिध्यासितव्य एवं साक्षात्कृत होती है। इस देह के कंधों में, इसके वक्ष एवं उदर की विविध प्रकार की स्थितियों में जीवन के उत्थान एवं पतन का, विजय एवं पराजय का अनेक सृष्टियों का इतिहास रचा गया है। इसके बाहुओं में, इसके हस्त एवं करांगुलि-चालन में, जीवन एवं मृत्यु, दान और अपहरण, लास्य और ताण्डव तथा निर्माण एवं प्रलय ग्रथित हैं।

मानव की इस लघु मुट्ठी में विश्व का भविष्य रखा हुआ है और इसकी हस्त की रेखाओं में भूत और भविष्य एक छोटी सी अस्पष्ट रेखा में विधाता ने लिखा हुआ है जिसको सहस्रों मानव भी नहीं लिख सकते। इसकी कमर पर और इसकी श्रोणी पर, इसके अंक में जीवन के इतिहास का सर्जन होता रहा है और इसका पालन-पोषण होता रहा है। संसार में सजीव, समान प्रसवात्मक कार्य का यह अजस्र प्रवाह बना हुआ है। इसके पैरों ने पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ को अपनी गति से विष्णु के विराट् स्वरूप की तरह व्याप्त कर रखा है।

मानव देह में दैवी शक्तियों का विकास

इस अपूर्व मानव देह की अद्भुत छवि में विश्व का समस्त सौन्दर्य समाया हुआ है और इसी

में ब्रह्म का तेज एवं उसकी छवि भी प्रकट होने लगती है। इसकी वाणी में से दैवी वाणी भी प्रकट होने लगती है। इसके कर्मों में से भी दिव्यता प्रकट होने लगती है। ब्रह्म की अपार, अनन्त रहस्यमय शक्ति इसमें से अनेक रूप में निर्झरित होने लगती है। परन्तु इस रहस्यमय अद्भुत मानव शरीर का रहस्य और भी गूढ़ है। इस स्थूल शरीर के अन्दर भी शरीर है और उसके भी अन्दर और शरीर है एवं उसके मध्य में एक दिव्य चैतन्य तत्त्व विराजमान है तथा उस चैतन्य तत्व के साथ महाचैतन्य प्रभु भी विराजमान हैं। मनुष्य के अन्दर और बाहर ये अपूर्व कोश विद्यमान हैं। मनुष्य जिस प्रकार के कोश का उपयोग लेगा उसको उसी प्रकार की सामर्थ्य उसके द्वारा प्राप्त होगी और तदनुकूल कर्मों का सन्तान-वितान चलेगा। वेद कहता है—

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥ (यजुः ८।५२)

यह जीवन का सत्र चलता रहता है। इसमें ऋद्धि भी है। मैं ज्योति को प्राप्त करूं और परमज्योतिस्वरूप महाचैतन्य प्रभु को भी प्राप्त कर अमृतत्व का लाभ प्राप्त करूं। जरा, व्याधिरहित, सांसारिक सुख-दुःखों से परे, अमृतमय, परम आनन्दमय, मोक्ष को प्राप्त करूं।

जीवन-मुक्ति प्राप्ति के लिए है

मनुष्य के लिए इस निमित्त कर्त्तव्य ही धर्म रूप से पालनीय है। यही गन्तव्य मार्ग है। मानव देह हमें इसी साधना के लिए प्राप्त हुई है और लक्ष्य की पूर्ति में जो बाधाएं हमारे पूर्वजन्म के कर्मों की हैं उनका भोग सुगमता एवं बुद्धिमत्ता से भुक्त करके भव-बन्धनों से मुक्त हो जाने के लिए है।

जीवन में द्विविध प्रयत्नों की आवश्यकता

पूर्व जन्म के कर्मों के भोगों से मुक्त करने एवं भविष्य के लिए मोक्ष-सुख प्राप्त करने के लिए जिन द्विविध प्रयत्नों को करना पड़ता है वे ही लौकिक एवं पारलौकिक कर्म माने जाते हैं। लौकिक कर्मों का फल यहां सुगमता से दृष्ट एवं अनुगम्य किया जा सकता है, परन्तु पारलौकिक कर्म, जिनका फल से प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्ट नहीं होता और सुगमता से, सर्वसाधारण के लिए अनुभव एवं अनुमानगम्य नहीं होता, वे अदृष्ट-फलप्रदाता कर्म माने जाते हैं। हम मानव जीवन को प्राप्त करके भव-बन्धनों से मुक्त होने का प्रयास नहीं करते हैं तथा भव-बन्धनों में आबद्ध होने का प्रयत्न अपनी अज्ञानता से एवं सांसारिक प्रलोभनों में फंसकर करने लगते हैं।

लक्ष्य से विपरीत कर्मों से बन्ध-स्थिति

दृष्ट एवं अदृष्ट-फलप्रदाता कर्मों की श्रेणी में मनुष्य पाप और पुण्य दोनों ही कर सकता है। अपने लक्ष्य के विपरीत, जब मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत होकर कर्म करने में उद्यत हो जाता है तो उसके कार्य उसको बन्धन में—डालने लगते हैं और उनके अत्यन्त वशीभूत होकर दूसरों की हानि भी करने लगता है। ऐसी अवस्था में उसके कर्म पतित श्रेणी में परिगणित किये जाते हैं और उसको उन कर्मों के विविध पाश, बन्ध-अवस्था के चक्र में घुमाते रहते हैं।

बन्ध-मुक्ति का मार्ग

ऐसी विषम स्थिति में मानव जीवन अपने लक्ष्य से भटक जाता है। संसार के प्रलोभनों की ओर हमारी वृत्तियाँ दौड़ने लगती हैं और हम कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी विवेक न रखकर जीवन संग्राम रूपी महासागर में अपनी जीवन-नौका अनिश्चित स्थिति में भटके हुए नाविक की भांति डाल

देते हैं। संसार की वासनाओं की आंधी में वह जीवन-नौका डगमगाती हुई काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार रूपी भंवरों तथा झंझावातों के चक्रवातों से कालचक्र के वशीभूत हो जाती है। जो मनुष्य इस जीवन में अपना आश्रय तथा अपना नेता जगन्नियन्ता परमात्मा को मानकर उसके ही अर्पण अपनी जीवन-नौका कर देते हैं, परमात्मा उनकी जीवन-नौका को इन भयंकर चक्रवातों एवं भंवरों से सुरक्षित रख कर, उन्हें मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का सुअवसर प्रदान करता है और उस भक्त के लिए वह उसका गुरु बनकर भी पथ-प्रदर्शन करता है। वेद ने इस रहस्य का प्रकटीकरण निम्न मन्त्रों से किया है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ (यजुः ७।४३)

हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! आप हमें इस जीवन में सुपथ पर ले चलिए। आप ही हमारे शुभाशुभ कर्मों के ज्ञाता हैं। हममें इतना विवेक नहीं है कि शुभ प्रतीयमान एवं अशुभ प्रतीयमान कर्मों में से परिणाम में कौन वास्तव में शुभ हैं। ऐसी स्थिति में आप ही हमारे अशुभाचरणयुक्त पाप रूप कर्मों को हमसे दूर कीजिए। यह आपकी ही सामर्थ्य से होगा। अतः हम बार-बार श्रद्धा से, भक्तिपूर्ण होकर आपकी स्तुति करते हैं।

अपने जीवन को परमात्मा में समर्पित करक उसके ही आदेश के अनुसार चलने से हमारा कल्याण होगा। क्योंकि वही सर्वसामर्थ्यवान्, सब ऐश्वर्यों का दाता है। वही संसार-सागर से पार कराने के मार्ग एवं स्थानों को जानता है और वही हमारा परम मित्र, सखा, भ्राता, पिता-माता, धाता और गुरु बनकर सर्व प्रकार से सहायक होता है। उसको भुलाकर हम जीवन में भटक जावेंगे और अपनी जीवन-नैया को वासनाओं की अनेक चट्टानों से टकराकर चकनाचूर कर देंगे। वेद स्पष्ट कह रहा है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ (यजुः ३२।१०)

हे मनुष्यो! वह परमात्मा अपने लोगों को भ्राता के समान सुखदायक, सकल जगत् का उत्पादक, वह सब कामों का पूर्ण करनेहारा, सम्पूर्ण लोक मात्र और नाम, स्थान, जन्मों को जानता है और जिस सांसारिक सुख-दुःख से रहित, नित्यानन्द युक्त, मोक्षस्वरूप, धारण करनेहारे परमात्मा में मोक्ष को प्राप्त होकर विद्वान् लोग स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है। अतः हम सब उसकी मिल करके सदा भक्ति किया करें। जो अपने मित्र, भ्राता, पिता, गुरु आचार्य, राजा का कहना नहीं मानेगा वह क्यों न ठोकरें खाता और भटकता फिरेगा?

वर्तमान समय में धर्म के प्रति उपेक्षा

परन्तु आज के मनुष्य ने धर्म को एक हेय कोटि में रखा हुआ है। वह अपने ऊपर धर्म का कोई अंकुश नहीं रखना चाहता। वह प्रत्येक क्षेत्र में स्वच्छन्द, पूर्ण स्वच्छन्द होकर ही विचरना चाहता है। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति को ही प्रमुख मानता है और उसकी पूर्ति के प्रत्येक प्रयत्न को वह उचित मानता है। आज वही न्याय का दाता और वक्ता है। जो चाहे और जैसा न्याय देवे। उसका कथन ही धर्म है। वही कर्म है।

धर्म का सनातनत्व एवं त्रैतवाद

इस प्रकार की अव्यवस्था का नाम वास्तव में उन्नति नहीं है, अपितु अवनति है। धर्म सत्य

एवं सनातन है। अतः सत्य एवं सनातन के अनुसार ही हमें अपनी विचारधारा, अपने कर्म और अपना जीवन-व्यवहार भी बनाना चाहिए।

सनातन क्या है ? यह प्रश्न जब उपस्थित होता है तो वेद कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ (ऋग्वेद १।१६४।२०)

दो तत्त्व एक समान परस्पर मित्र भाववाले हैं और दोनों एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें एक वृक्ष के फलों को भोगता है और दूसरा द्रष्टा मात्र है। इस प्रकार मन्त्र द्रष्टा, भोक्ता और भोग्य इन तीन की शाश्वत, सनातन सत्ता प्रतिपादित करता है। ये ही तत्त्व ईश्वर, जीव एवं प्रकृति हैं। जीव एवं ईश्वर ये दोनों चेतन सत्ताएं सनातन हैं परन्तु इनमें जीव सृष्टि के भोगों का भोक्ता है और ईश्वर भोक्ता नहीं है अपितु न्यायाधीश रूप से जीव के कर्मों को देखता रहता है। जैसा कि—विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। (यजुः ७।४३) मन्त्र में कहा है और वही यथावत् पाप-पुण्य फलों का दाता है।

ईश्वर है

इस विश्व में ये ही तीन सत्ताएँ सनातन हैं। अन्य सब जो कार्य रूप जगत् है वह सब नाशवान् है। जैसा कि 'पादोऽस्येहाभवत्पुनः' (यजुः ३१।३) में कहा गया है। जिस प्रकार से इस देह में हम कर्त्ता रूप में बैठकर कार्य कर रहे हैं और हम अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हैं तभी वे पूर्ण होती हैं, विना प्रयत्न के वे पूर्ण नहीं होती। उसी प्रकार सृष्टि का निर्माण एवं संचालन भी एक महान् शक्ति से होता है, अन्यथा नहीं हो सकता है, यह मानना ही होगा। ईश्वर है—अवश्य है। जब हमें छोटे-छोटे कार्य के लिए प्रयत्न करने पड़ते हैं तो इतनी महान् रचना स्वयं कैसे बन जाएगी ? वेद कहता है—

द्यावाभूमी जनयन्देव एकः। (यजुः १७।१९)

द्युलोक, पृथिवीलोक उसी एक देव ने बनाये हैं। अर्थात् विश्व का रचयिता परमात्मा है। वह इस रचना के पहले भी था, जैसा कि निम्न मन्त्र में कहा है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः १३।४)

जो प्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रसिद्ध स्वामी था। जो सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्तमान था जो इस भूमि और सूर्यादि को धारण कर रहा है। हम लोग उस सुख स्वरूप शुद्ध परमात्मा के लिए ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से विशेष भक्ति किया करें। इस प्रकार वेद शतशः स्थानों पर उस परमात्मा के अस्तित्व की विविध प्रकार से घोषणा कर रहा है और उसे जानने के लिए तथा उसको प्राप्त करने के लिए भी उपदेश दे रहा है। वेद का वैशिष्ट्य अदृष्ट तत्त्व का, जिसका साक्षात्कार बाह्य रूप से नहीं कर सकते, उस गूढ़ तत्त्व का ज्ञान कराना है। परन्तु मूढ़ गूढ़ को समझ नहीं पाते। वे तो स्थूल में ही रमण करते हैं।

ऐसे लोग सोचते हैं कि सृष्टि बनाने वाला आज तक सामने नहीं आया। इतनी महान् सृष्टि का रचने वाला कभी आकाश में वर्ष भर में एक बार, १२ वर्ष में ही १ बार या शताब्दी में ही एक बार तो दर्शन देता तो हम उसकी आकृति एवं रूप को देख लेते। उसकी वाणी को तो सुन लेते। परन्तु वह

आज तक न तो पृथिवी पर आया, न आकाश में मेघों के समान आया, न सूर्य चन्द्र के समान आकर चमका, न विजुली सदृश दमका और कड़का। एक क्षण के लिए भी उसकी झलक दिखाई नहीं दी और न भूतप्रेत की तरह आया। ऐसी अवस्था में उसके अस्तित्व को कैसे स्वीकार करें?

ईश्वर प्रकृति का पदार्थ न होने से इन्द्रियगम्य नहीं है

परन्तु ऐसे लोगों ने नहीं सोचा कि परमात्मा सृष्टि का तत्त्व अथवा प्रकृति का पदार्थ नहीं है। यदि परमात्मा सृष्टि का तत्त्व होता तो वह सृष्टि के तत्त्वों के रूप में प्रकट होता और दर्शन देता। सृष्टि के तत्त्व अपने गुण धर्म को नहीं छोड़ सकते। सनातन सत्ताएं भी सनातन गुणों के कारण ही सनातन हैं। वे भी अपने सनातन गुणों को कैसे छोड़ सकती हैं? यदि वे अपने गुणों को छोड़ दें तो उनका सनातनत्व धर्म भी नष्ट हो जायगा।

क्या सूर्य को शीतल किसी ने अनुभव किया है? क्या चन्द्रमा को किसी ने उष्ण पाया है? क्या वायु को स्पर्शरहित किसी ने ज्ञात किया है? क्या अग्नि को हिम समान किसी ने देखा है? जब सृष्टि के किसी भी पदार्थ को हमने स्व-स्वधर्म, गुणादि को छोड़ते हुए नहीं पाया है तो परमात्मा भी अपना धर्म या गुण निराकारत्व एवं सर्वव्यापकत्व को छोड़कर साकार एवं एकदेशी कैसे हो सकता है। परमात्मा तो सब का नियामक है। यदि नियामक ही नियमों का उल्लंघन करेगा तो उसकी सृष्टि में अन्य सब पदार्थ भी नियमों का उल्लंघन करेंगे। यदि न्यायाधीश ही न्याय का उल्लंघन करेगा तो सर्वत्र अन्याय का प्रसार हो जायेगा। इसी प्रकार यदि परमात्मा भी अपना धर्म छोड़ देगा तो सृष्टि के किसी भी पदार्थ का धर्म स्थिर नहीं रह सकेगा। अतः सृष्टि का रचयिता अपने सनातन धर्म पर, नियमों पर एवं गुणों पर स्थिर है। इसी कारण से उसकी रची सृष्टि में भी सत्य, सनातन रूप से मिलेगा। ईश्वर एवं सृष्टि के नियम एवं कार्य ही सत्य सनातन धर्म के प्रदर्शक हैं। वेद ने सत्य सनातन की सृष्टि में स्थापना के लिए कहा—

यथापूर्वमकल्पयत्॥ (ऋग्वेद १०।१९०।३)

जैसा पहले बनाया था वैसा ही अब भी बनाया है। यथापूर्व स्थिति ही सनातनत्व की ज्ञापिका है। महान् सृष्टि का बनाने वाला, उसको अन्दर बाहर से देखने वाला एवं नियन्त्रित करने वाला, घट-घट में रहने वाला यदि स्थूल होता तो सृष्टि के कार्य के लिए उसे अपने सहायक भी रखने पड़ते और वे भी स्थूल होते। जो स्थूल है वह परिमित सामर्थ्य का होता है। परिमित सामर्थ्य वाले का कार्य कभी पूर्ण नहीं होता। उसमें अपूर्णता एवं त्रुटि रहती है। अतः परमात्मा के स्थूल रूप में होने पर सृष्टि का कार्य अव्यवस्थित एवं अन्यायपूर्ण हो जाता। ऐसी महान् शक्ति तो सबसे सूक्ष्म, सर्वव्यापक, एवं निराकार में ही होनी चाहिए और ऐसा ही वह है भी। यह सृष्टि ही उसका प्रमाण दे रही है कि यह बनाई गई है। विना बनाये कुछ बनता ही नहीं है। अतः इसका बनाने वाला है और वह इन स्थूल आंखों से नहीं दीख रहा है इसलिए अवश्यमेव वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म और सर्वत्र व्यापक ही होना चाहिए।

इन्द्रियों का ज्ञान अपूर्ण ह

यह बात स्थूल नेत्रों की परिमित दर्शन-शक्ति के आधार पर बुद्धि रूपी ज्ञान-नेत्र से ज्ञात हो जाती है। प्रत्यक्ष चर्म चक्षुओं से दर्शन कतिपय पदार्थों का न होने पर भी बुद्धि से—ज्ञान-नेत्र से, पूर्ण दृढ़ता से स्वीकार की जाती है और कभी कभी तो बाह्य दर्शन की बात को यदि वह बुद्धिगम्य नहीं होतो तो वह अग्राह्य एवं असत्य भी घोषित कर दी जाती है। अतः वास्तव में दर्शन की शक्ति का

आधार बुद्धि है। इन्द्रियां तो साधन मात्र हैं और केवल एक नियत सीमा तक ही साधन मात्र हैं। सर्वत्र ये साधन रूप से भी कार्य नहीं कर सकती हैं।

नेत्र देखते हुए भी मन-बुद्धि आदि पर निर्भर हैं। कान सुनकर भी मन-बुद्धि आदि पर निर्भर हैं। नासिका सूंघने पर भी मन एवं बुद्धि आदि पर निर्भर है। स्पर्श एवं रसना शक्तियां अपने-अपने विषय के साथ होते हुए भी मन एवं बुद्धि पर आश्रित हैं। मन, बुद्धि एवं चित्तादि—नेत्र, श्रोत्र, नासिका, त्वचा एवं जिह्वा के निष्क्रिय होने पर भी कार्य करते हैं। परन्तु ये सब इन्द्रियां मन, बुद्धि आदि के अभाव में व्यर्थ हो जाती हैं।

आधारभूत तत्त्वों का ज्ञान एवं उसके लिए प्रयत्न ही धर्म है

परन्तु जब और भी ध्यान से देखते हैं या विचारते हैं तो मन, बुद्धि चित्तादि भी जड़ प्रतीत होते हैं। मन स्थिर हो जाता है। बुद्धि की गति रुक जाती है। उस दशा में इस शरीर का संचालक इन सबसे परे कोई है ऐसा अनुभव होता है। वास्तव में इस देह का अधिष्ठाता आत्मा ही है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादि उसके साधन हैं और इनके भी साधन हमारी इन्द्रियां हैं। परन्तु इस मनोबुद्धिमय प्रकृति एवं आत्मा का भी अधिष्ठाता, नियामक एवं साक्षी ईश्वर है। अतः ईश्वर, जीव एवं प्रकृति का ही ज्ञान प्राप्त कर जीवन-व्यवहार का संचालन करना धर्म है।

कर्म-फलों से पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का अस्तित्व ज्ञान

जब व्यक्ति ईश्वर, जीव एवं प्रकृति इन तीनों की सत्ता को सनातन स्वीकार कर लेता है तो उसको इन तीनों में द्रष्टा, भोक्ता एवं भोग्य की स्थिति का ज्ञान होता है। सृष्टि भोग्य पदार्थों से पूर्ण है। उसका भोक्ता जीव है। भोक्ता के व्यवहार का द्रष्टा परमात्मा है। यह ज्ञात होने लगता है। भोक्ताओं की विविधता और उनके विविध सुख-दुःखों के भोगों को देखकर ज्ञात होता है कि सुख-दुःख का मूल हमारे ही कर्म हैं। अच्छे कर्मों का अच्छा एवं सुखमय फल हमें प्राप्त होता है और बुरे कर्मों का दुःखमय फल होता है। कर्म ही सुख-दुःखात्मक फलों के बीज हैं। यहां संसार में हम कर्मों को करते हैं। उनमें से कतिपय कर्मों के फलों को प्रत्यक्ष देखते ही हैं। इससे फल का सम्बन्ध कर्म से ज्ञात हो जाता है। परन्तु कई फल ऐसे भी होते हैं जिनके कर्म रूपी बीज का साक्षात् सम्बन्ध इस जीवन के कर्म से ज्ञात नहीं होता। परन्तु विना कर्म रूपी बीज के फल की या भोग की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः ऐसे फलों को देखकर अनुमान हो जाता है कि चाहे इस जीवन में इस फल का कर्म नहीं किया है, परन्तु यह हमारे किसी कर्म का ही परिणाम है अतः पूर्वजन्म के कर्म का फल होना चाहिए। इस प्रकार पूर्वजन्म का प्रत्यक्ष आभास होने लगता है। यदि कर्म का फल नहीं होता तो वेद कर्म करने का आदेश क्यों देता ? वेद ने स्पष्ट कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजु० ४०।२)

इस जीवन में, इस संसार में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो।

प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। (यजु० १।१)

सविता देव, श्रेष्ठतम कर्म के लिए हम सब को संयुक्त करें।

माह्वाः। (यजु० १।२)

यज्ञ कर्म का त्याग मत करो।

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति
कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ (यजु० १।६)

तुझे कर्म के लिए कौन नियुक्त करता है ? वह प्रजापति परमात्मा नियुक्त करता है। किस निमित्त नियोजित करता है ? उसी प्रयोजन के लिए अर्थात् कर्मणे=शुभ कर्मों के लिए और वेषाय= उनकी व्याप्ति करने के लिए परमात्मा ने यह जीवन दिया है। अतः जीवन कर्म के लिए ही है। उन कर्मों का फल भी होता है। एतदर्थ विधि निषेधात्मक वाक्य वेद में कहे गये हैं।

कुछ कर्म जो हम जीवन में करते हैं उनका फल इस जीवन में दृष्ट नहीं होता परन्तु उसका फल अवश्य प्राप्त होगा। इससे पुनर्जन्म की बात भी ग्राह्य करनी पड़ती है। पूर्वजन्म की स्थिति मान लेने पर पुनर्जन्म की स्थिति स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के कारण जन्म-मरण का जीवात्मा के साथ कर्मों के कारण चक्र चलता रहता है। इन कारणों से इस जीवन और पुनर्जन्म में उत्तम भोगों की प्राप्ति के लिए हमें अपने कर्मों को वेद के विधि-निषेध के नियन्त्रण में रखना पड़ता है। विहित कर्म करना ही धर्म है अर्थात् ग्राह्य है और निषिद्ध कर्म करना ही अधर्म है, पाप है अर्थात् त्याज्य है। इस प्रकार वेद-विहित कर्मों के साथ धर्म का स्वरूप ज्ञात हो जाता है और उससे हम अपने जीवन-व्यवहार का निर्माण करते हैं।

आत्मज्ञान की आवश्यकता

जीवन-व्यवहार की दिशा के निर्णय करने में मनुष्य की आन्तरिक चेतना-शक्ति या आत्मा ही सर्वाधिक, सर्वप्रथम निर्णायक है। अतः धर्म-शास्त्रज्ञ ऋषि मुनियों को धर्म का सार रूप सूत्र— आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्—यह घोषित करना पड़ा। अर्थात् अपनी आत्मा के प्रतिकूल जो व्यवहार प्रतीत हो उसको दूसरे के साथ न करे। इसी स्थिति की जागृति के लिए वेद ने कहा—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्न्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ (यजु० ४०।६)

जो सब प्राणियों को अपनी आत्मा में ही देखता है। आत्मरूप से ही देखता है और सब भूतों में अपने को देखता है उसको उस स्थिति की प्राप्ति हो जाने पर अन्य कुछ ज्ञान प्राप्त करने को नहीं रहता। अर्थात् धर्म की जिज्ञासा के लिए यही स्थिति—आत्मवत् सर्वभूतेषु—को प्राप्त करनी चाहिए।

जीवन-कार्य में वर्णों की आवश्यकता

इस प्रकार के व्यवहार की साधना के लिए मनुष्य को जीवन में अनेक प्रकार की साधनाओं को करना होगा। ज्ञान की साधना करनी होगी। कर्म की भी साधना करनी होगी। बाह्य कर्मों की साधना भी करनी होगी। बाह्य कर्मों की साधना से बाह्य संसार का निर्माण करना होगा और आन्तरिक साधना द्वारा शरीर, मन, बुद्धि, चित्त आदि को भी साधना होगा और यदि वह परमानन्द का भी अभिलाषी होना चाहेगा तो उसकी भी साधना करनी होगी।

जीवन-व्यवहार के प्रदर्शन के लिए परमात्मा ने अपने विराट् स्वरूप का चतुर्धा विभाग करके बताया कि तुम भी इसी प्रकार गुण कर्मानुसार समाज का निर्माण करके उन्नति करो। जैसा कि—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत ॥ (यजु० ३१।११)

विराट् पुरुष में ज्ञानी ब्राह्मण पुरुष मुखवत् हैं। क्षत्रिय बाहू तुल्य हैं। वैश्य जंघा तुल्य हैं और

पैर शूद्रवत् हैं। इस प्रकार जो स्थिति विराट् में बताई है वही विराट् मानव समाज में भी घटित होती है। जिस प्रकार से शरीर के उपरोक्त चारों अंग शरीर के कार्य का संचालन करते हैं और उनका लक्ष्य एक ही है उसी प्रकार मानव समाज के गुण कर्मानुसार चारों बर्ण रूपी अंग समाज के जीवन व्यवहार को अपने एक ही लक्ष्य की पूर्त्ति में अग्रसर करते हैं। इसी प्रकार जीवन की आयु के भी चारों विभागों से क्रमशः अपने लक्ष्य की साधना करनी चाहिए।

जीवन में आश्रमों की आवश्यकता

उपरोक्त रूप से समाज एवं उसका जीवन वर्ण एवं आश्रमों में विभक्त हो जाता है। ज्ञान-साधनकाल ब्रह्मचर्य-काल है। बाह्य व्यवहार का संचालन-काल गृहस्थाश्रम है। आन्तरिक साधना का कार्यकाल वानप्रस्थाश्रम है एवं परमानन्द, मोक्ष-प्राप्ति की साधना का काल संन्यास-आश्रम है।

वर्णाश्रम धर्म से जीवन की उन्नति

असंयमित ज्ञान, असंयमित व्यवहार, असंयमित आन्तरिक साधना और असंयमित मोक्ष-साधना से असंयमित कर्मों का उदय समाज में होगा, और उससे समाज अव्यवस्थित ज्ञान एवं कर्मों वाला हो जाता है और उन्नति नहीं कर पाता है असंयमित ज्ञान, ध्येय की पूर्ति नहीं कर सकता। असंयमित व्यवहार से भी लक्ष्य-प्राप्ति नहीं होती। असंयमित साधना से भी लक्ष्य-प्राप्ति नहीं होती। असंयमित एवं अविवेकपूर्ण आन्तरिक साधना जीवन के बहुमूल्य क्षणों को नष्ट करने वाली ही रहेगी और अविवेकपूर्ण मोक्ष-प्राप्ति के कार्य भी महादुःख एवं बन्ध के कारण ही हो जावेंगे।

इसलिए जीवन को संयमित बनाने के लिए वर्णाश्रम का आधार ग्रहण करना पड़ता है। मानव स्वभाव की विभिन्नता से ज्ञानप्रधान ब्राह्मण, रक्षण, प्रजा-पालन एवं न्याय आदि कार्य में निपुण क्षत्रिय, कृषि एवं व्यापारादि द्वारा ऐश्वर्य की समृद्धि करने वाले वैश्य एवं उपरोक्त योग्यताओं के अभाव में इन तीनों वर्णों को अपने-अपने कार्य में ही संलग्न रखने के लिए जो सेवा द्वारा सहयोग प्रदान कर सकें वे शूद्र हैं। जीवन को वर्णाश्रम की मर्यादा के अनुकूल चलाने से समाज में धर्म का यथावत् पालन एवं प्रचलन होता है।

वेद ही पथ-प्रदर्शक हैं

इस ग्रन्थ के पूर्व प्रकरणों में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि वेद में मानव जीवन की प्रमुख समस्याओं का हल विद्यमान है। वेद में अनेक विद्याओं का समादेश है और उसके आश्रय से अनेक विद्याओं का विकास मनुष्य कर सकता है। अनेक गम्भीर एवं सूक्ष्म ज्ञान भी उससे उपलब्ध होते हैं। दर्शन, विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि-आदि समस्त सत्य-विद्याओं का वेद बीज रूप से भण्डार है। मानव जीवन को जिस प्रकार के लौकिक, पारलौकिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता सांसारिक सुख एवं शान्ति के लिए है तथा आत्मा के लिए शान्ति और आनन्द-प्राप्ति की भी है उनको वेद से उत्तमता से प्राप्त किया जा सकता है। यही मानव जीवन का व्यवहार-दर्शन है।

आदर्श जीवन-व्यवहार ही धर्म है

मानव जीवन का व्यवहार-दर्शन ही धर्म है। अपने जीवन में मनुष्य अपने साथ, परिवार के साथ, समाज के साथ, जाति के साथ, राष्ट्र के साथ, प्राणिमात्र के साथ सृष्टि के साहचर्य से कैसा वर्त्ताव करे, इसका पथ प्रदर्शक ज्ञान ही धर्म का तत्त्व है। जीवन व्यवहार से पृथक् धर्म की कोई स्थिति नहीं है। अतः हमें अपने जीवन में, प्रत्येक कार्य बहुत संतुलित ज्ञान के साथ करना चाहिए।

अज्ञान एवं आवेश से कार्य करने में उच्च, शान्त एवं सर्वजनहितकारी विचारधारा का, कार्य के साथ साहचर्य नहीं रह पाता है अतः ऐसे कर्म त्याज्य ही हैं।

श्रेष्ठ विचारों से श्रेष्ठ कर्म-निर्माण

मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों के साथ किन्हीं विशेष विचारों को सम्बद्ध करना पड़ता है। विना विचार का कर्म अविवेकपूर्ण हो जाता है। विचार के साथ किया गया कर्म उत्तरोत्तर उत्तम फल प्रदान करता है। अतः जितने ही अधिक श्रेष्ठ विचारों से युक्त मनुष्य का मन होगा उतने ही श्रेष्ठ कर्म उसके द्वारा होंगे। यदि समाज, राष्ट्र या सम्पूर्ण मानव जाति का मन श्रेष्ठ होगा और विचार श्रेष्ठ होंगे तो प्राणिमात्र को सर्वत्र सुख और आनन्द ही प्राप्त होगा। उस समय मानव अनुभव करेगा और सबके कल्याण के लिए कहेगा—

मधुमय विश्व

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमान्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ (अथर्व० २०।१४३।८)

यह सम्पूर्ण पृथिवी, इस पर उत्पन्न होने वाली ओषधियां, अन्न, फल, मूल, कन्दादि, यह प्रकाशमान द्युलोक, पृथिवी के अन्दर, ऊपर तथा इस सृष्टि के अन्दर वर्त्तमान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा स्थूल जल और समस्त अन्तरिक्ष मधु से युक्त हों। प्रत्येक कार्यक्षेत्र के पति भी मधुरता से युक्त हमारे लिए हों और हम भी विश्व की मधुरता को अहिंसित करते हुए, उसको अपने लोभ, क्रोध एवं अहंकारादि स्वार्थमय कारणों से नष्ट न करते हुए, उसके अनुकूल ही वर्ताव करें—जिससे हमारा व्यवहार भी मधुमय सबके लिए बन सके। ऐसे शुभ विचारवान् व्यक्ति की यही भावना रहेगी।

सज्जन-प्रियता

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्व० १९।६२।१)

मुझे विद्वान् ब्राह्मणों में प्रिय बनाओ, मुझे राज्य का न्याय से परिपालन करने वाले क्षत्रियों में प्रिय बनाओ और अवशिष्ट जितने भी वैश्य एवं शूद्रजन हैं उनका भी मैं प्रेमभाजन बनूं।

अपने चारों ओर का वातावरण मधुर बनाने का एवं उसकी भावना के उद्दीपन का उपरोक्त मन्त्र है। यदि इस मन्त्र का मानव जाति जप करे और उसके अनुकूल अपने विचारों को जाग्रत् करे तो मानव जाति का जो वर्तमान विषाक्त वातावरण है वह सर्वथा समाप्त हो जावे। ऐसी शुभ वैदिक भावनाओं से अपने मन को भावित करके और तदनुसार कर्त्तव्य पर अग्रसर होता हुआ मानव कहेगा—

प्रियो देवानां भूयासम्॥ (अथर्व० १७।१।१)
प्रियः प्रजानां भूयासम्॥ („ „ २)
प्रियः पशूनां भूयासम्॥ („ „ ३)
प्रियः समानानां भूयासम् („ „ ४)

मैं देवों में, विद्वान् जनों में, श्रेष्ठ कर्म करने वालों में अपने श्रेष्ठ विचार एवं विद्वत्ता से प्रिय बनूं। मैं समस्त प्रजाजनों में अपने शुभ कर्मों से प्रिय होऊं। मैं विविध प्रकार से, पशु-पक्षियों के पालन-पोषणादि कार्यों से, उनके प्रति अद्वेष्टा रहकर उनमें भी प्रिय बनूं और मेरे समान जो विद्या, बुद्धि, कर्मादि के द्वारा सब के प्रिय बने हुए हैं उनमें भी मैं प्रिय बनूं।

सर्वत्र मित्रता

जिस मनुष्य या समाज के ऐसे उत्तम विचार एवं कर्म होंगे वह स्वयं यही प्रयत्न करेगा—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ (यजुः ३६।१८)

मैं समस्त प्राणियों को मित्र की प्रेमभरी दृष्टि से देखूं और मैं भी सब के द्वारा प्रेम की दृष्टि से देखा जाऊं। इस प्रकार प्रेम की मधुमय तरंगें एक दूसरे में से जब प्रवाहित होने लगेंगी उस समय—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । (यजुः १३।२७)

सर्वत्र मधुरता का वातावरण गतिशील होगा और प्रेम की नदियाँ-- अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना । (यजुः १७।९४) हृदय और मन को पवित्र करती हुई बहने लगेंगी और प्रेम रस से पूर्ण वे नदियां प्रेम, मधुरता के विशाल समुद्र में अपने अस्तित्व को विलीन करती हुई अपने लक्ष्य को प्राप्त करेंगी । इस प्रकार मानव की विविध प्रेमधाराएं विशाल मधुर, प्रेममय समुद्र को उत्पन्न करेंगी । उस स्थिति में मनुष्य वास्तव में अनुभव सहित दृढ़ता से उच्चारण कर सकेगा ।

सर्वत्र शान्ति

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ (यजुः ३६।१७)

मेरी स्थूल एवं सूक्ष्म ज्ञान दृष्टि, मेरे ऊपर चमकते हुए सूर्य, चन्द्र, तारे, ग्रह, उपग्रहों पर जहां तक पड़ेगी वहां तक मुझे विश्व की विशाल रचना में, समस्त लोकलोकान्तरों में शान्ति ही दृष्टिगोचर होगी । यह विशाल अन्तरिक्ष, शान्त, परम शान्त प्रतीत होगा जिसको विक्षुब्ध करके आज का जन्तु महाविनाश के अवतरण कराने के विविध प्रयत्न सोच रहा है । यदि हमारे शरीर के शिर रूपी द्युलोक में—द्यौ शान्तिः—की भावना प्रबल हो जावे और हमारे हृदयरूपी अन्तरिक्ष में 'अन्तरिक्षं शान्तिः'—का वास हो जावे तो सर्वत्र द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, वनस्पतियों में शान्ति ही शान्ति दृष्टिगोचर होगी। सब प्राणी शान्त एवं सुखी हो सकेंगे । उस समय सब की शान्ति एवं सुख से मुझ में भी—सा मा शान्तिरेधि—शान्ति व्याप्त हो सकेगी । प्रत्येक के हृदय में व्याप्त शान्ति से सर्वत्र शान्ति एवं सुख का प्रसार होगा ।

क्या शान्ति के इस मन्त्र से बढ़कर विश्व के पास और कोई उत्तम मन्त्र है ? नहीं—नहीं—यही हृदय कहेगा । मानव-जाति के लिए वेदमन्त्रों का एक-एक शब्द दैवी प्रेरणाओं का महान् कोश है उसमें से वह मन्त्रों को चुन-चुनकर अपने द्युस्थानी शिर को देवकोश बना सकता है । उस द्युरूप शर से पुनः ज्ञान एवं आनन्द की सहस्रों रश्मियां प्रस्फुटित होंगी । आज के मानव को जब कि प्रतिक्षण, अहर्निश दूसरों के आक्रमण का भय, दसों दिशाओं में से होता रहता है, ऐसे समय में वेद के उपरोक्त आदर्श एवं प्रेरणाप्रद मन्त्र हमारे अन्दर उत्तम विचारों की जागृति करके हमें वास्तविक सुख एवं शान्ति की ओर ले जाने वाले सिद्ध होते हैं । मनुष्य वेद के उपरोक्त आदर्शों पर आरूढ़ होकर ही कह सकेगा—

सर्वत्र-निर्भयता

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।

अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ (यजुः १९।२५ ६)

मुझे मित्रों से भय नहीं और अमित्रों से भी कोई भय नहीं है। प्रत्यक्ष, ज्ञात तथा अदृष्ट, अज्ञात गुप्त व्यक्तियों से भी कोई भय नहीं है। ऐसी स्थिति में मुझे रात्रि में तथा सोते हुए भी किसी प्रकार का भय नहीं है। जब स्वप्न में भी भय नहीं तो दिन में भी किसी से भय नहीं होगा और समस्त दिशाएं भी मेरी मित्र ही होंगी। एक परम शान्ति, परम मित्रता, परम प्रेम एवं परम सुख को देने वाला यह मन्त्र है। मानव समाज इस मन्त्र का जाप करके मित्रता का साम्राज्य सर्वत्र स्थापित कर सकता है। वास्तव में शान्ति, मित्रता, प्रेम आदि का मूल केन्द्र शिर ही है। बुद्धि और हृदय ही इसके जनक हैं। यदि इनमें शान्ति, प्रेम और मित्रता की भावना जाग्रत् हो जावे तो सर्वत्र शान्ति, प्रेम और मित्रता के आनन्द का सरोवर लहरें लेने लगेगा।

दैवी विचार एवं कर्मों के अनुसार आचरण करें

यदि मानव अपने प्रत्येक कर्म को वेद के शुभ विचारों से प्रभावित करके करे तो मानव धर्म का उदय हो सकता है और धर्म पर समाज आरूढ़ हो सकेगा। इस प्रकार धर्माचरण करके मनुष्य स्वर्ग को, सुख विशेष को प्राप्त कर सकता है। हमारा जन्म किस प्रयोजन के लिए है, यह जानकर मानव-जाति उन विचारों से प्रभावित होकर यदि अपने कर्मों को करे तो वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है। मनुष्य की मनुष्यता उसके विचार एवं तदनुकूल कार्यों से ही ज्ञात होती है। वेद कहता है कि —

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। (यजुः १।१)

जगदुत्पादक सविता देव हम सबको श्रेष्ठतम कर्म के लिए अच्छी प्रकार संयुक्त करें। अर्थात् मनुष्य को इस जीवन में सर्वश्रेष्ठ कर्म ही करने चाहिएं। सर्वोत्तम कर्म के लिए सर्वोत्तम विचारों की आवश्यकता है। मनुष्य विचारों से ही उन्नत एवं अवनत हो जाता है। पाशविक बुद्धि मनुष्य में उत्पन्न हो जाने से मनुष्य पशुवत् व्यवहार करने लगता है। अमानवोचित कार्यों से मनुष्य पतित हो जाता है। मानवोचित विचारों से मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करके अपने नाम को सार्थक करता है। परन्तु यदि मनुष्य में देवों की बुद्धि एवं विचार प्रवेश कर जावें तो मनुष्य अत्युत्तम देवस्थिति को प्राप्त कर श्रेष्ठतम कर्म भी करने लगता है। अतः मनुष्य की उन्नति उसके श्रेष्ठ विचारों के ही आश्रय से है। वेद मनुष्यों को श्रेष्ठतम विचारों को प्रदान करता है। मन्त्र शब्द का अर्थ ही विचार है। परमात्मा की मन्त्रणा हमें वेद-मन्त्रों से ही प्राप्त होती है। वेद कहता—

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्। (यजुः २५।१५)

देवों की—श्रेष्ठतम सरल स्वभावयुक्त, विद्वानों की—जो कल्याणकारिणी सुमति है वह हमें प्राप्त हो। वह बुद्धि तभी प्राप्त होगी जब हम श्रेष्ठ कर्मों को करेंगे। अतः मन्त्र पुनः कहता है—

देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम्।

अर्थात् देवों की जो दानशील, परहितकारी एवं उदार वृत्तियां हैं वे सर्व प्रकार से सदा हमारी बुद्धि में आती रहें—प्रवेश करती रहें। और जब वे दैवी वृत्तियां हमारी मति को, दैवी सुमति के अनुरूप बना देंगी तो हमें दुष्ट जनों की या दुष्ट वृत्तियों की कुसंगति त्याज्य ही प्रतीत होगी और उस स्थिति में—

देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्।

हम देवताओं की श्रेष्ठ मित्रता को भी प्राप्त कर सकेंगे—अन्यथा नहीं। ऐसी स्थिति में

हमारा जीवन दैवी जीवन हो जाएगा। श्रेष्ठतम कर्म यज्ञादि ही हमसे सम्पन्न होंगे और—

देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।

सब देव हमारी आयु को श्रेष्ठ एवं दीर्घ जीवन के लिए बढ़ायेंगे। यह कार्य सब देवों की भद्रा सुमति से ही सम्पन्न होगा। उसी से हमारे विचार उत्तम बनेंगे। उसी से हमारे कर्म भी उत्तम बनेंगे। उसी से हमारी मित्रता, समाज एवं उसका व्यवहार भी उत्तम बनेगा और हमारा जीवन भी श्रेष्ठ तथा दीर्घजीवी बनेगा। उस स्थिति में—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥ (यजुः २५।१४)

विविध प्रकार के कल्याणकारी, श्रेष्ठ यज्ञ अर्थात् कर्म एवं विचार सब ओर से निर्विघ्न एवं अबाध गति से उन्नति की ओर हमें अग्रसर करते हुए अच्छी प्रकार प्राप्त होंगे जिससे कि सब देव, विद्वान् जन सदा ही हमारी वृद्धि एवं उन्नति के लिए जागरूक होकर रक्षा करने वाले प्रतिदिन बने रहेंगे। अर्थात् उत्तम यज्ञ कर्मों को इस जीवन में अंगीकार करने से हमारी सब प्रकार से सब ओर से, अशुभ विचार एवं कर्मों से रक्षा होती है और हम अशुभ आचरण रूप अवनति के गर्त्त में गिर नहीं पाते तथा उन्नति के शिखर पर निरन्तर आरोहण करते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

जीवन की कामनाओं की वेद में सफलता

इस जीवन में वेदमन्त्रों से दैवी शुभ विचार एवं कर्मों की साधना से जो उत्तम फल प्राप्त होते हैं उसका वर्णन निम्न वेद में प्राप्त होता है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ (अथर्व० १९।७१।१)

ज्ञान, विज्ञान, प्रेरणा तथा श्रेष्ठ कर्मों की यह वेदवाणी माता स्वरूपा है। इसकी सेवा निष्फल नहीं होती क्योंकि यह वरदाता है। अतः इसकी स्तुति, इसकी आराधना, इसके सरस्वती रूपी ज्ञानामृत का पान करना चाहिए। यह अपने ज्ञानामृत से वेद का अभ्यास करने वालों को पवित्र करने वाली है। ज्ञान एवं कर्म से अनेक रूप में पवित्र करती है। इसके ज्ञानामृत के पान से तेजस्वी जीवन एवं दीर्घायु की प्राप्ति होती है। वेदवाणी के साथ प्राणों के संचार होने से दैवी विचारों के साथ प्राण एवं मन संयुक्त होकर दैवीकर्म करने में उत्साहित होकर संलग्न हो जाते हैं। जीवन "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्" —मन्त्र से युक्त हो जाता है। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास—"प्राणो यज्ञेन कल्पताम्"—का साधक बन जाता है।

दैवी-प्राण एवं दैवी-जीवन से संयुक्त हो जाने से हमारी वैचारिक प्रजा अर्थात् चिन्तन-कार्य और शारीरिक प्रजा—सन्तानादि भी उत्तम, श्रेष्ठ ही होंगी। इस प्रकार हम उत्तम प्रजा-युक्त भी होंगे। इसी वेद माता की साधना से पशुओं का भी पालन, रक्षणादि करके अपने पशु रूपी धन एवं ऐश्वर्य को भी प्राप्त कर सकेंगे। वेद ने कहा है—'गां मा हिंसीः, अविं मा हिंसीः, पशून्पाहि'—अर्थात् गौ, भेड़, बकरी आदि पशुओं को मत मारो। उनका पालन, पोषण करो। उनकी रक्षा करो। उनकी रक्षा एवं पालन किये विना पशुओं की प्राप्ति भी कैसे हो सकेगी ?

वेद-माता की सेवा से जब हमारे कर्म श्रेष्ठतम, यज्ञमय होंगे तो सब के लिए लाभकारी

होंगे, जिससे कीर्ति प्राप्त होगी। चारों दिशाओं में ऐसे व्यक्ति का यश व्याप्त होगा। ऐसे व्यक्ति को द्रविण, अर्थात् सब प्रकार का बल एवं ऐश्वर्य, धनादि भी प्राप्त होंगे। इस प्रकार जितनी भी कामनाएँ हैं वे सब वेदमाता की आराधना करने वाले को निश्चय से प्राप्त होती हैं क्योंकि वेदमाता वरदा है। जो उसके ज्ञान की साधना करता है। उसको अवश्यमेव पूर्वोक्त शुभफलों को देनेवाली है। इस प्रकार वेद की साधना से जीवन संसार में सफल हो जाता है और इसके अतिरिक्त उसको ब्रह्मवर्चस् तेज प्राप्त होता है जिसके द्वारा वह वेद माता उसको जीवन का जो परम लक्ष्य मोक्ष है उसको भी प्रदान कराती है।

सम्पूर्ण कामनाओं का चार में अन्तर्भाव

वेद ने इस मन्त्र में लौकिक एवं पारलौकिक कामनाओं के मूलाधार निम्न तत्त्वों का प्रतिपादन किया है—(१) आयु, (२) प्राण, (३) प्रजा, (४) पशु (५) कीर्ति, (६) धन (७) ब्रह्मवर्चस्=तेज (८) मोक्ष। इन ८ कामनाओं में मनुष्यों की सब कामनाएं समाविष्ट हो जाती हैं। कोई दीर्घ जीवन चाहता है, कोई धन ऐश्वर्य चाहता है कोई सन्तान चाहता है, और कोई सांसारिक ऐश्वर्यों से परे मोक्ष की कामना करता है। वेद से वे सब प्राप्त होती हैं। अर्थात् वेद मानवजीवन की सब समस्याओं का हल प्रस्तुत करता है यह स्वयं वेद कहता है। धर्मशास्त्रज्ञ महर्षियों ने इन्हीं को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार में विभक्त किया है। इनमें अर्थ का फल काम है और धर्म का फल मोक्ष है।

धर्म-कार्य की ही प्रधानता

इस दृष्टि से देखने पर दो ही कर्त्तव्य हैं धर्म और अर्थ की प्राप्ति। यदि इसको और विचारें तो अर्थप्राप्ति के साथ भी धर्म की आवश्यकता है। विना धर्म का अर्थ, अनर्थमूलक है अतः जीवन में धर्म की ही प्रधानता है। धर्म से ही अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिए। धर्मपूर्वक अर्थ से जो कामनाओं की पूर्ति एवं सुख-प्राप्ति होती है उसके साथ भी धर्म का संयोग रहना चाहिए।

जीवन के कर्मों का वेद-मन्त्र से साहचर्य आवश्यक

इसी भावना से वेद में विवाह, गर्भाधान, जातकर्म, उपनयनादि कर्म, शाला निर्माण आदि सब कार्यों में यज्ञ का साहचर्य किया हुआ है। अर्थात् जीवन की कामनाओं की पूर्ति के साथ धर्म का सहयोग होना चाहिए। ऐसा काम, वासनाओं में लिप्त करके पाप की ओर प्रवृत्त नहीं होता। वेद इसी प्रकार से समस्त जीवन में साधना करने के लिए उपदेश देता है। जैसा कि निम्न मन्त्र में कहा है—

> तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
> पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ
> शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत-
> मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ (यजु० ३६। २४)

उस ज्ञान-प्रकाशक परब्रह्म के दर्शन कराने के लिए वेद माता ही —तच्चक्षुः—चक्षु रूप से है जो कि वेद माता, देवहितं—विद्वानों के लिए हितकारी है। वह 'पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' सृष्टि के प्रारंभ काल में सदा से बीज रूप से तथा शुद्ध ज्ञानप्रकाश रूप से उदित होती है, प्रकट होती है। उस देवहितं चक्षु के द्वारा अर्थात् वेद-ज्ञान के द्वारा हम "शरदः शतं पश्येम" सौ शरद् ऋतु पर्यन्त अपने कर्तव्याकर्त्तव्य का दर्शन करते रहें और उस विवेकपूर्ण दर्शन से—"जीवेम शरदः शतम्", सौ वर्ष पर्यन्त, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। वेदानुकूल कर्मों को ही करते हुए जीवन व्यतीत करें। जब हमारे विचार एवं कर्म समस्त आयु पर्यन्त वेद के अनुसार होंगे तो—"शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम्"—हमारा सुनना-सुनाना, बोलना भी वेद का ही हो सकेगा। इस प्रकार हम—"अदीनाः स्याम शरदः शतम्—

इस जीवन में जन्म-मरण के बन्धनों को काटते हुए अदीन बनते चले जावेंगे और पुनरपि जन्म प्राप्त होने पर—"भूयश्च शरदः शतात्"—उस पुनः प्राप्त आयु को भी इसी प्रकार वेद के पथ-प्रदर्शन के अनुसार व्यतीत करके पूर्ण रूप से अदीन बनकर—सर्व बन्धनों से मुक्त होकर—मोक्ष भी प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार हमें अपने जीवन में वेद की परम आवश्यकता है और सदा बनी रहेगी।

काम एवं कामना का मूल

मनुष्य जीवन अनेक कामनाओं से पूर्ण है। कामना रहित जीवन-जीवन ही नहीं होता है। कामनाओं से ही प्रयत्न प्रारम्भ होते हैं। अतः समस्त कामनाओं को ही वैदिक मन्त्रों से प्रभावित करना चाहिए। यही सबसे बड़ी सफलता है एवं जीवन की कामनाओं पर विजय है। कामनाओं का मूल सूक्ष्म शरीर में काम रूप से विराजमान है। काम से विविध कामनाएं मन में उत्पन्न होती हैं। वही काम और भी स्थूल भाव को प्राप्त कर स्थूल देह में रेतः रूप से प्राणियों की उत्पत्ति के बीज रूप में उपस्थित हो जाता है। जैसा कि निम्न वेद मन्त्र में बताया है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स कामकामेन बृहता स योनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ (अथर्व० १६। ५२। १)

मन का रेत रूप से जो प्रथम परिणाम हुआ वही काम रूप में प्रथम था। वही विविध कामनाओं से, विविध कार्यों का कारण एवं उत्पत्ति स्थान है। वह यज्ञ के अनुष्ठाता को सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं पुरुषार्थ का दाता है। अर्थात् मन के संकल्प और शरीर के पुरुषार्थ के विना मनुष्य को अभीष्ट फल-प्राप्ति संभव नहीं है। इसी बात को वेद का निम्न मन्त्र भी कह रहा है—

कोऽदात्ऽकस्मा अदात् कामोऽदात् कामायाऽदात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते॥ (यजुः ७। ४८)

किसने दिया, किसके लिए दिया यह प्रश्न विचारणीय है। कोई भी फल या परिणाम जो प्राप्त होता है उसको देने वाला कौन है? और किसके लिए देता है? यह भी विचारणीय है। मन्त्र इसका उत्तर भी दार्शनिक रूप से देता है—काम ने ही दिया है और काम के लिए ही दिया है क्योंकि ये सब तेरा काम है वही काम ही दाता है और वही काम ही उसका प्राप्त करने वाला है।

अर्थात् हम अपने संकल्प विकल्पों द्वारा जो कर्म करते हैं उसकी उत्पत्ति का कारण कामनाएं ही हैं और उसका फल या परिणाम भी कामनाओं की पूर्ति रूप ही होता है। अतः कामनाएँ ही उसको प्राप्त करती हैं और वे कामनाएं ही उससे तृप्त होती हैं। ऐसी स्थिति में वही दाता और वही प्रतिग्रहीता हो जाता है। अतः हमारी कामना और पुरुषार्थ ही इस जीवन में सफलता और असफलता के देने वाले हैं।

विविध कामनाएं और अभ्युदय—निश्रेयस

यदि हम अपनी कामनाओं पर दृष्टिपात करें तो उनमें से कुछ कामनाएं स्थूल देहाश्रित हैं और कुछ सूक्ष्म देहाश्रित हैं। स्थूल देहाश्रित कामनाओं के कारण जो पुरुषार्थ किया जाता है उसके द्वारा स्थूल देहाश्रित परिणामों से हमारी तृप्ति होती है और सूक्ष्म देहाश्रित या आत्मादि की प्राप्ति के निमित जो कामनाएं होती हैं उनको भी इसी देह से करना पड़ता है। इस प्रकार हमारे कार्यों का विभाजन दो रूपों में हो जाता है। इन्हीं को लौकिक एवं पारलौकिक, आभ्युदयिक एवं नैश्रेयसिक, पितृयान एवं देवयान मार्ग, आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। परा और अपरा, संभूति और असंभूति, अविद्या और विद्या का सम्बन्ध इन्हीं से है।

शरीर यद्यपि नियत आयु वाला है एवं नश्वर है तथापि इसकी कामनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु यह भी उचित नहीं होगा कि जो आयु इस देह की प्राप्त हुई है उसको केवल शरीर की कामना की पूर्ति के प्रयत्नों में ही पूर्ण कर देवें और आत्मा की उन्नति या परब्रह्म की प्राप्ति का प्रयत्न न करें। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो उस दशा में जीवन की आयु का यह भाग मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति से विमुख होकर, आत्मा के बन्धनों को और अधिक दृढ़ करने में ही व्यतीत हो जाने से व्यर्थ ही नहीं जायगा अपितु हानिकारक भी होगा। अतः वेद स्पष्ट रूप से उपदेश करता है कि इस जीवन में दोनों प्रकार के कर्मों की साधना करनी चाहिए। जैसा कि—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ (यजु: ४०।११)

एक मार्ग संभूति का है जिसमें उत्तरोत्तर आध्यात्मिक ऐश्वर्य है। उस ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेने पर मरणभाव, जन्म मृत्यु का चक्र, जीवन-मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। वहाँ पहुंचने पर बन्धनों से पूर्ण मुक्ति है। अमृत को प्राप्त कर लेने पर मरण की स्थिति का वहाँ अभाव है। यहां अध्यात्मवाद का परम पद है। आत्म-पद एवं ब्रह्म-पद यहां ही प्राप्त होता है।

अभ्युदय मार्ग

दूसरा मार्ग विनाश भाव का है। इसमें प्रतिक्षण अस्थिरता, गति, परिवर्तन और विनाश है यही प्रकृति पर आश्रित भौतिकवाद का मार्ग है। दोनों की उपयोगिता है। दोनों ही सप्रयोजन हैं। जब तक यह विनाशधर्मा शरीर है तब तक इसके लिए असंभूति की भी आवश्यकता है और आत्मा के लिए संभूति की आवश्यकता है। अतः जीवन के लिए अध्यात्मवाद के साथ भौतिकवाद की भी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिए वेद ने कहा—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ (ऋ० १०।८५।४१)

इस जीवन में इस संसार के कार्यों में तत्पर रहो। इससे पृथक् मत होओ और जितनी आयु नियत की गई है उस नियत शतायु को अच्छी प्रकार व्यतीत करो तथा पुत्र और नातियों के साथ क्रीड़ा करते हुए उत्तम गृह वाले, आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो।

निश्रेयस मार्ग

इस प्रकार वेद ने असंभूति के इस मार्ग का बड़े बलपूर्वक समर्थन किया है। परन्तु इसी के साथ वेद ने संभूति के मार्ग के लिए भी कहा—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधम हविषा वयम्॥ (अथर्व० ६।४१।१)

मन, चित्त, बुद्धि अहंकार की हवि से हम ज्ञान, शक्ति, मति, श्रवण-शक्ति और दर्शन-शक्ति की उन्नति के लिए यज्ञादि कर्मों को करें। अन्तःकरण चतुष्टय की हवि से जो यज्ञ सम्पन्न होगा उसका ज्ञान, उसका शब्द, और उसका रूप भी आध्यात्मिक पक्ष का ही होगा। अध्यात्म यज्ञ का साधक असंभूति के मार्ग पर चलता हुआ भी—

मम त्वा सूर उदिते मम मध्यन्दिने दिवः।
मम प्रपित्वे अपि शर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत॥ (ऋ० ८।१।२९)

प्रातः सूर्य के उदित होने पर, मध्याह्न के समय, सायं समय और रात्रि में भी वह परमात्मा

को अपनी भक्ति भावमयी स्तुतियों से अपने अन्दर बुलाता रहता है और कहता है—

महे चन त्वामद्रिवः पराशुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ।। (ऋ० ८ । १ । ५)

अर्थात् हे प्रभु ! मैं तुमको बड़े से बड़े धनादि लोभ के कारण विस्मृत न करूं। परन्तु इस संसार के विविध प्रकार के प्रलोभन जब मानव को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं तो वह आत्मिक उन्नति से विमुख हो जाता है और सांसारिक कार्यों में ही रम जाता है। ऐसी अवस्था में संसार में रमण करते हुए भी आध्यात्मिक मार्ग की साधना हो सकती है। इस निमित्त वेदवाणी के ज्ञाता के द्वारा उद्बोधन कराने की आवश्यकता हो जाती है और उससे निवेदन करना पड़ता है—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय ।। (अथर्व० १९ । ६३ । १)

हे वेद के ज्ञाता ब्रह्मणस्पति ! आप उठिये और विद्वानों को यज्ञ के द्वारा जाग्रत् कीजिए। यज्ञ के द्वारा आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्त्ति एव यज्ञानुष्ठाता की वृद्धि कीजिए।

यजमानों की वृद्धि से यज्ञादि द्वारा सांसारिक कामनाओं की भी पूर्ति होती है। इस प्रकार यज्ञ द्वारा सांसारिक कामना-पूर्त्ति के निमित्त यज्ञों से आध्यात्मिक साधना भी साथ-साथ हो जाती है। अर्थात् जीवन के प्रत्येक व्यवहार के साथ यज्ञ करने से परमात्मा का स्मरण एवं आराधना भी सम्पन्न होती जायगी और संभूति एवं असंभूति के पथ पर जीवन अग्रसर होता रहेगा।

आयुर्यज्ञेन कल्पताम् । (यजु० १८ । २९)

इस मन्त्र में दैहिक साधनाओं के द्वारा क्रमशः ज्योति, स्वः एवं 'अमृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम'—तक पहुंचने को बताया है। यह अवस्था उच्च आध्यात्मिक स्थिति की है। वहां पहुंचने का यत्न करने के लिए वेद कहता है—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ।। ऋ० ९ । ११३ । ११ ।

हे सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर ! जिस आप में सम्पूर्ण समृद्धि और सम्पूर्ण हर्ष, सम्पूर्ण प्रसन्नता स्थित हैं, जिस आप में अभिलाषी पुरुष की सब कामना प्राप्त होती हैं, उसी अपने स्वरूप में परमैश्वर्य के लिए मुझको जन्म-मृत्यु के दुःख से रहित मोक्ष-प्राप्ति युक्त, कि जिससे मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़े उस मुक्ति की प्राप्ति वाला कीजिये और इसी प्रकार सब जीवों को सब ओर से प्राप्त होइए। इस प्रकार वेद बाह्य यज्ञों के द्वारा लौकिक कामनाओं को देने वाला है और आध्यात्मिक योग यज्ञों के द्वारा मोक्ष एवं परमात्मा की भी प्राप्ति कराता है।

मानव जीवन की प्रमुख समस्याओं के हल प्रस्तुतकर्त्ता वेदों के उपसंहारात्मक मन्त्र

वेदों का अध्ययन करने से जीवन की प्रत्येक समस्या के लिए उच्च से उच्च हल प्राप्त होता है अतः वेद की उपयोगिता मानव जाति के लिए अत्यधिक है। इस उपसंहार प्रकरण को भी हम वेद के ही उपसंहार से पूर्ण करना चाहते हैं।

वैदिक समाजवाद एवं साम्यवाद का आदर्श

ऋग्वेद का अन्तिम भाग दशम मण्डल का है। उसके अन्त के सूक्त में साम्मनस्य सूक्त है जिसमें निम्न चार मन्त्र हैं—

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ।।१।।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ।।२।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।३।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ।।४।। (ऋ० १ । १६१)

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में परमात्मा को विविध विशेषणों से सम्बोधित करते हुए बताया है कि इस संसार में जो गति, क्रिया एवं जीवन है उसके तुम्हीं आदि मूल हो तथा वेदवाणी के तुम्हीं दाता हो—आप हमें सब प्रकार के ऐश्वर्यों को अच्छी प्रकार धारण कराइए।

अर्थात् मन्त्र यह संकेत करता है कि अपने जीवन में सबसे प्रथम परमात्मा को मानो, जानो और सब ऐश्वर्यों का दाता भी उसी को जानो। पुनः संगच्छध्वं संवदध्वं—पर आचरण करो। अपना व्यवहार प्रेम-पूर्वक बनाओ कि तुम सब इस संसार में परस्पर द्वेष, क्लेश, विवाद, युद्ध आदि न करते हुए प्रेम से एक-दूसरे के सहायक एवं पूरक रूप में बन के सुख एवं शान्ति की वृद्धि कर सको। सब ज्ञानी बनें और विद्वान् पूर्वज तथा देवों का जो इस प्रकार का प्रेमपूर्वक आचरण है या था उसको अपनावें।

हमारे सबके विचार, मन, चित्त एक हों क्योंकि परमात्मा ने सबके लिए भोग पदार्थ दिये हैं अतः उनका भी वितरण समान करना चाहिए। इन कार्यों में सबकी शक्ति, हृदय एवं मन एक होने चाहिएं। इसी से सुख-सम्पदा बढ़ेगी। ऋग्वेद के उपसंहारात्मक इन मन्त्रों में परमात्मा के अस्तित्व को भलीभांति ज्ञात कर आदर्श समाजवाद एवं साम्यवाद का जो प्रतिपादन किया गया है वही सर्वश्रेष्ठ है। संसार में समाजवाद या साम्यवाद के इन विचारों से बढ़कर अन्यत्र कहीं विचार नहीं मिल सकेंगे। समाजशास्त्र के प्रकरण में इन मन्त्रों का विस्तृत रूप से विवेचन हमने किया है।

अतः संसार की ज्वलंत समस्या को ये हल करने में पूर्ण समर्थ हैं।

ईश्वर के अस्तित्व की सर्वत्र उपस्थिति की मान्यता

यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय चालीसवां अध्याय है जो कि ईशोपनिषद् के रूप में अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। यही यजुर्वेद का उपसंहार है। यही वेदान्त है। इसमें मानव जाति के लिए वेद का सार दिया हुआ है। इस अध्याय के प्रथम मन्त्र—ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्—में बताया गया है कि यह जगत् परमात्मा से व्याप्त है।

सन्तोष

परमात्मा के अस्तित्व के सिद्धान्त को सर्वप्रथम मानकर इस जीवन का व्यवहार करो और वह व्यवहार—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः—के विचार से करो कि जो कुछ परमात्मा ने हमें अपने पुरुषार्थ के अनन्तर प्रदान किया है उसी के भोग करने के हम अधिकारी हैं अतएव—मा गृधः कस्यस्विद्धनम्—किसी दूसरे के धन, ऐश्वर्य या भोग्य पदार्थ को प्राप्त करने की लालसा एवं प्रयत्न हमें नहीं करने चाहिएं।

इस मन्त्र में अध्यात्मवाद, समाजवाद, अर्थशास्त्र, राजनीति, जीवनशास्त्र एवं धर्म का रहस्य सूत्र रूप में, बीज रूप में भरा हुआ है जिसका विवेचन मानव जाति के व्यवहार से होना चाहिए। आज के समय में मानव जाति इस मन्त्र को भूल गई है। वह—ईशावास्यम्—के सिद्धान्त को भुला ही नहीं बैठी है अपितु बलात् निष्कासित किये बैठी है। उसकी सम्पूर्ण शिक्षा एवं दीक्षा में, उसके सम्पूर्ण व्यवहार

में उसे ईश्वर का यत्किञ्चित् नाम एवं अस्तित्व भी सह्य नहीं है। जिस सर्वजगदुत्पादक परमात्मा से "भर्गो धीमहि—के लिए प्रयत्न करते थे और उससे 'धियो यो नः प्रचोदयात्—' की कामना करते थे उस ज्ञान-विज्ञान के एवं परमश्रेष्ठ बुद्धि तथा मेधा के केन्द्र से मानव जाति की बुद्धि का सम्पर्क पृथक् कर दिया गया है। मनुष्य का मनुष्य की बुद्धि से सम्पर्क कर देने से संसार में—'दुरितानि परासुव—' की क्रियाशीलता स्थगित हो गई और संसार अशान्ति, भय, युद्ध, अज्ञान के दुःखों में अनेक प्रकार से ग्रसित हो गया है।

ऐ संसार के लोगो! ध्यान से सुनो और समझ लो कि तुम्हारे दुःखों का अन्त—दुरितानि परासुव—करने की सामर्थ्य उस परमात्मा में है उसको तुम स्वीकार करो और जानने का प्रयत्न करो। अन्यथा सदा भटकते एवं दुःखी तथा अनेक प्रकार से दास बनकर पाशों में बद्ध पड़े रहोगे। ईशावास्यम्—परमात्मा है और वह सर्वत्र व्याप्त है इस पहले ही महामन्त्र को अवश्य धारण करो। इसी से कल्याण का मार्ग तुम्हें प्राप्त होगा।

परमात्मा की इसी स्थिति को इसी अध्याय का अर्थात् वेद का अन्तिम पद—ओ३म् खं ब्रह्म—प्रकट कर रहा है। अध्याय का प्रारम्भ भी ईश्वर की सर्वत्र सत्ता का प्रतिपादन कर रहा है अन्त भी ईश्वर को सबसे महान् एवं सर्वत्र व्याप्त प्रकट कर रहा है। अर्थात् जीवन-व्यवहार के प्रारम्भ एवं अन्त में परमात्मा का ही स्मरण रखते हुए कर्मों को करना चाहिए और उनसे प्राप्त फल में उसी की महान् व्यापक सामर्थ्य का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार से अपना सम्पूर्ण जीवन-यापन करने के लिए दूसरा मन्त्र उपदेश कर रहा है।

जीवन भर कर्म-परिश्रम करते रहो

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजु: ४०।२)

उपरोक्त प्रथम मन्त्र के अनुसार जीवन-व्यवहार का संचालन करने से दोषयुक्त कर्म, जो बन्धनों में बांधने वाले हैं उनसे पृथक् रहा जा सकता है। आज मानव जाति कर्म तो कर रही है। दिन और रात कारखाने चल रहे हैं। परन्तु वासनाओं की क्षुधा शान्त नहीं होती और न हो सकती है। जब तक कि "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" के आदर्श पर आरूढ़ होकर फल में सन्तोष की वृत्ति की जागृति न होगी। इस जागृति को वेद मन्त्र ही करेगा। तभी—न कर्म लिप्यते—की स्थिति प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नहीं। इस स्थिति को प्रकट करने के लिए मन्त्र में स्पष्ट कहा है—"एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति"—इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। अनेक वादों के प्रपंचों में भटकने एवं भटकाने वाले लोगो! आओ वेद मार्ग पर। इसके विना तुम्हें वास्तविक सुख एवं शान्ति नहीं प्राप्त होगी।

परमात्मा को भी जानने का प्रयत्न करो

इस जीवन को प्राप्त करके यदि तुमने उस प्रभु की सत्ता को नहीं जाना और उसके बताए पूर्वोक्त मार्ग के अनुसार नहीं चलोगे तो तुम वास्तव में अपनी उन्नति के मार्ग से पथभ्रष्ट होकर आत्मघात के मार्ग का अनुसरण करोगे। उस अवस्था में तुम अन्तिम मन्त्र में कहे हुए—"योऽसाऽवादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।"—को कहने एवं समझने में भी असमर्थ रहोगे। इसलिए जीवन को—ईशावास्यम्—के मार्ग पर अनुसरण कराने के लिए जो इस मार्ग से पृथक् हैं उनकी गति या परिणाम का तीसरे मन्त्र—असुर्या नाम ते लोकाः—में वेद ने निर्देश किया है। इतना फल बताने के बाद भी जिसकी ज्ञान-दृष्टि नहीं खुलती वह हतभाग्य ही है। आज का हतभाग्य मानव—"ते प्रेत्यापि गच्छन्ति"—के रहस्य को नहीं

समझता। उसके सामने यही जीवन है। आत्मा, परमात्मा है ही नहीं तो पुनर्जन्मवाद को उसकी अज्ञान एवं वासनाओं से नष्ट हुई ज्ञान-दृष्टि ग्रहण नहीं कर पाती और वह इस—भस्मान्तं शरीरम्—(यजुः ४०।१४)—की ही साधना एवं तृप्ति में लगा हुआ है। वह भस्मान्तं शरीरं की स्थिति को देखता हुआ भी यह नहीं समझता कि—ओम् क्रतो स्मर (यजुः ४०।१५) मुझे उस प्रभु का स्मरण नित्य करना चाहिए।

परमात्म-प्राप्ति का मार्ग योग-साधन है

परमात्मा का स्मरण करके उसकी प्राप्ति का भी प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति नहीं होगी। इसलिए चतुर्थ मन्त्र में बताया है कि उस प्रभु को इन इन्द्रियों से प्राप्त नहीं किया जा सकता है अतः इनसे प्राप्ति का प्रयत्न मत करो। इनके द्वारों को बन्द करके ही जब तुम योगमार्ग के द्वारा उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करोगे तभी वह प्राप्त होगा। इस प्रकार इस मन्त्र के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए योगसाधना का उपदेश किया गया है। परन्तु आज जो लोग किसी प्रकार से ईश्वर को मानते भी हैं वे—नैनद्देवा आप्नुवन्—(यजुः ४०।४) इसको भूल बैठे हैं और उसको इन्द्रिय-गम्य बना बैठे। अतः संसार के लोगों का अज्ञान दूर करने के लिए वेद कहता है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियगम्य परमात्मा के स्वरूप की कल्पना अज्ञान ही है। वे भी तृतीय मन्त्र में बताए आत्महत्या की ही श्रेणी में हैं जो ईश्वर को रूपवान् बताते हैं।

परमात्मा भीतर और बाहर सर्वत्र है

ऐसे व्यक्तियों के साधना-मार्ग से वह परमात्मा—"तद्दूरे"—अत्यन्त दूर है और जो योग-मार्ग से उसकी साधना करते हैं—"तदु अन्तिके"—उनके समीप है। वह परमात्मा तो—तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः (यजुः ४०।५) सब के अन्दर और बाहर भी है। अतएव उसकी प्राप्ति के लिए बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है।

सर्वत्र परमात्मा की स्थिति देखने का लाभ

परमात्म-प्राप्ति की साधना के लिए पुनः छठा एवं सातवां मन्त्र कहता है कि—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (यजुः ४०।६-७)

पूर्व मन्त्र के अनुसार जो अन्दर बाहर सर्वत्र परमात्मा की स्थिति तथा तद्दूरे एवं तद्वन्तिके कहा है उसकी साधना किस प्रकार हो यह इन मन्त्रों में बताया है। सब भूतों को जो परमात्मा में ही देखता है और सब भूतों में उस प्रभु को देखता है उसको—तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः की स्थिति अनुभूत हो जाने से कुछ जानना शेष नहीं रहता। उस स्थिति में एक अखंड परमात्मा के आत्मा में दर्शन होने से शोक, मोहादि नहीं होते।

परमात्मा का स्वरूप

इसके पश्चात् आठवां मन्त्र परमात्मा का वर्णन करता है कि वह कैसा है। योग-मार्ग का साधक पूर्वोक्त साधना से जिसका दर्शन या प्राप्ति करता है वह—नैनद्देवा आप्नुवन्—इन्द्रियगम्य नहीं था तथापि योग-मार्ग से जब उसका साक्षात्कार हुआ तो वह—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः······॥ (यजुः ४०।८)

सर्वत्र प्रथित, तेजस्वी, शरीर रहित, नस नाड़ी के बन्धनों से रहित, शुद्ध, पापादि से रहित, सर्व विद्याओं का ज्ञाता, ज्ञानवान्, सर्वत्र व्याप्त, एवं स्वयंसिद्ध ज्ञात हुआ। इस प्रकार वेद ने जीवन व्यवहार के स्वरूप का निरूपण करते हुए परमात्मा तक पहुंचने का उपदेश किया।

मृत्यु को पार करके अमृत-प्राप्ति करें

इन सब मन्त्रों में जो मार्ग बताया है उसका मूल प्रथम मन्त्र—ईशावास्यं—में है। इस में पहली पंक्ति में ईश्वर एवं प्रकृति की सत्ता बताते हुए, ईश्वर को जानने और प्रकृति का भोग भी भोगने का आदेश है। परन्तु दोनों मार्गों में से हम किसी एक ही मार्ग पर न चलने लगें अतः उसका विवेचन आगे के ६ मन्त्र—अन्धन्तमः प्रविशन्ति से—विद्यां चाविद्यां च तक किया गया है। अर्थात् जो कोई दोनों में से किसी भी एक मार्ग पर आरुढ़ होगा वह अन्धकार में ही पड़ा रहेगा। वह इस अन्धकार को पार कर ज्ञान रूपी महान् प्रकाश को प्राप्त नहीं कर सकेगा। केवल विद्या में ही नहीं प्रवृत्त होना चाहिए और न केवल सांसारिक कार्य में लगे रहकर जीवन व्यतीत करना चाहिए। अपितु—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ (यजुः ४०।११, १४)

दोनो मार्गों पर चलना चाहिए। संसार में रहते हुए सांसारिक ऐश्वर्यों की भी प्राप्ति करके नश्वर वस्तुओं से जीवन-व्यवहार को अच्छी प्रकार सुसम्पन्न करके अपमृत्यु को पार करना चाहिए और अमृत पद अर्थात् परमात्मा के मोक्ष स्वरूप की प्राप्ति का भी प्रयत्न करना चाहिए। यही दोनों मार्ग असंभूति एवं संभूति हैं तथा अविद्या और विद्या हैं। परन्तु संभूति एवं विद्या के मार्ग की ओर जन-समाज की प्रवृत्ति सर्वसाधारण को सुगमता सें नहीं होती है। और असम्भूति के, अविद्या के सांसारिक मार्ग में ही अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं अतः पन्द्रहवें मन्त्र में वेद ने बताया—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतं स्मर॥ (यजुः ४०।१५)

इस शरीर के अन्दर निवास करने वाला आत्मा अमर है और यह शरीर नाशवान् है। इसलिए हे जीव! तू ओ३म् का स्मरण कर। तू अपनी उस महान् सामर्थ्य को स्मरण कर जिसके द्वारा तू भव-बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप पद को भी प्राप्त हो सकता है अतएव तू अपने किये हुए कर्मों को स्मरण कर कि तूने अभी तक कौन से कर्म किये हैं?

समर्पण

इतना सब उपसंहार रूप से इस अध्याय में मानव-जाति के पथ प्रदर्शनार्थ जीवन-व्यवहार का स्वरूप प्रकट करने के पश्चात् प्रार्थना एवं समर्पण रूप में वेद के निम्न दो मन्त्रों से यजुर्वेद की समाप्ति की गई है। उन्हीं को उद्धृत करके इस ग्रन्थ को भी हम समाप्त करते हैं—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।
ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजुः ४०।१६, १७)

अनुक्रमणिका

आ

इ

त

द

य

र

ल

व

श

स

ह

ओ३म्